भारत के संत–महात्मा

भारत के ११४ संत-महात्माओ के जीवन की रूपरेखा

लेखक

रामलाल

भूमिका

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

संपादक ' कल्याण

शुभवचन

माननीय श्री संपूर्णानंदजी

मुख्यमंत्री उ प्र

वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड

३, राउन्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रास्ता बम्बई २

- प्रथम संस्करण,
- नवम्बर, १९५[illegible]
- मूल्य रु. १०

प्रकाशक
मनहरलाल के. वोरा,
वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड,
३, राउन्ड बिल्डिंग,
बम्बई २

मुद्रक
पी. एच. रामन
असोसिएटेड ॲडव्हर्टायझर्स ॲन्ड प्रिंटर्स,
५०५, आर्थर रोड, ताडदेव, बम्बई ७.

समर्पण

अपने अध्यात्मजीवन के चिन्मय

आलोक - स्तम्भ

कलिन्दनन्दिनीतटस्थवृन्दावनचन्द्र

नवघनश्यामशरीर-आनन्दकन्द

नन्दनन्दन श्रीराधारमण

के

चरणदेश में

सादर

—रामलाल

शुभवचन

देश के कोने-कोने में अनेक लोगों के चरित्रों को एक जगह संग्रह करना छोटा काम नहीं है। इसके लिये मैं श्री [illegible] को बधाई देता हूँ। पुस्तक में केवल जीवनियाँ ही नहीं हैं प्रत्युत उपदेशों का भी संक्षिप्त संग्रह है। निश्चय ही पुस्तक उपयोगी होगी। ये महात्मा हमारे देश की स्मरणीय विभूति रहे हैं। हमारी संस्कृति के निर्माण में इनका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बहुत बड़ा हाथ रहा है। भारत के किसी कोने में कोई जाय, ऐसे महात्मा मिलते हैं, जिनके सामने आदर से सिर झुकता है। ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा परलोक आदि के सम्बन्ध में सिद्धान्तों में भले ही मतभेद हो पर उन सब भेदों के भीतर भारत की अमर आत्मा प्रतिध्वनित होती है। नानात्व है, वैषम्य है पर उस नानात्व और वैषम्य के भीतर एकता और समता, वैराग्य और परोपकार का सन्देश है। यह सन्देश किसी के मुख से किन्हीं शब्दों में हमारे सामने आया हो, हमको उसका स्वागत करना ही है। ...जहाँ तक इन चरित्रनायकों का सम्बन्ध है, मैं यही कह सकता हूँ

यत्र तत्र समये यथातथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतरागकलुषः स चेद्भवान्,
एक एव भगवन् नमोऽस्तु ते॥

बुकहिल हाउस,
नैनीताल
आषाढ़ कृष्ण १४, २०१४ वि०

सम्पूर्णानन्द,
(मुख्यमन्त्री)
उत्तर प्रदेश

दो शब्द

वंदउँ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोइ॥

सत और भगवान् में कोई अन्तर नही। भगवान् ही अपने विविध स्वरूपो को सतो के जीवन और वाणी के रूप मे प्रकट करते रहते है। सत सभी युगो में, सभी देशो में, सभी मत-मतान्तरो में, सदा से होते आये है और अब भी है और भविष्य मे भी होते रहेंगे। सत जाति-पाति, देश-विदेश आदि से सदा ऊपर उठे हुए होते है। जगत् के अनन्त विविध-सताप-सतप्त प्राणियों को विमल-सुख-शाति-सुधाका पान कराकर उन्हें आत्यान्तिक सुखमय सफल जीवन-प्रदान करनेवाले ये सत ही है। भारतवर्ष तो ऐसे संत-रत्नोका अमित आकर ही है। अनादिकालसे अबतक यहाँ अनत सतोने अपने प्रचण्ड, प्रखर, परन्तु निर्मल-शात-शीतल-सुधावर्षी प्रकाशसे जगत्के असख्य प्राणियोको आप्यायित किया है तथा भगवान्की मगलमयी प्रेरणा और अपने सहज सुहृद भावसे वे ऐसी अमर अमृतवाणी छोड़ गये है जो अनतकालतक सदा-सर्वदा सबको परम कल्याणके पथपर चढाकर उन्हें सुगमताके साथ प्रभुके पावन धाममें पहुँचाती रहेगी।

भारत की चिरन्तन चेतना

समस्त युगो मे सन्त-महात्मा की परम्परा ही भारत देश की अमूल्य निधि रही है। उदात्त सन्त-महात्माओं की जीवन-कथाये तथा उनकी उपदेशावलियाँ ही सबसे अधिक कीमती सम्पत्ति के रूप मे भारतीय जन-समाज को अपने पूर्वजो से प्राप्त हुई है। आज तक भारत के लम्बे इतिहास के प्रत्येक युग मे वेद, उपनिषद, महाकाव्य, पुराण, काव्य, रूपक, सगीत, स्थापत्य, चित्रकला, तथा लोक-गीत आदि अनेक रूप मे ऋषि, मुनि, योगी, भक्त, ज्ञानी और निष्काम कर्मी के ही तेजोमय जीवन तथा आध्यात्मिक अनुभूति से भारतीय सस्कृति के आत्माभिव्यञ्जन को प्रेरणा मिलती आयी है। भारत के सच्चे निर्माता वे ही हैं। भारत की चिरन्तन चेतना उनके ही जीवन मे साकार और सजीव हुई है। निस्सन्देह भारतवर्ष ने विभिन्न युगो मे बडे-बडे योद्धा, शासक, साम्राज्य-स्थापक और राजनीतिज्ञो को जन्म दिया है, उन्होने अपने समय के भारतीय इतिहास मे महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये है पर भारतीय स्मृतिपटल पर उन्हे गौण स्थान प्राप्त है और उनमे भी केवल उन्ही का जीवन स्थायी स्मृति का विषय बन सका जिन्होने व्यवहार में सन्तत्व प्राप्त कर लिया और अपने साथियो की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपनी सम्पत्ति और ज्ञान का सर्वोत्तम सदुपयोग किया। भूत की तरह भविष्य में भी सन्त-महात्माओ के जीवन तथा उपदेश भारत की समस्त जनता के लिये सदा ही ज्ञान, शक्ति, आशा और शान्ति के स्रोत बने रहेगे।

लगभग सहस्र पृष्ठ के इस एक ही ग्रन्थ मे प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन सौ से अधिक सत-महात्माओ का सक्षिप्त जीवन-परिचय सरल और रोचक हिंदी में प्रस्तुत कर वर्तमान काल के सत्यान्वेपियो की रामलाल जी ने बहुमूल्य सेवा की है। इस पवित्र भूमि के सभी धार्मिक सम्प्रदाय और दार्शनिक परम्पराओ के उदात्त सिद्ध महापुरुप और धर्माचार्यो के समूह में से उन्होनें जो नाम चुने है उनमे ज्ञानप्राप्त शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध, जैन, मुसलमान योगी, ज्ञानी, भक्त कर्मी, वैदिक, तान्त्रिक, द्वैतवादी, अद्वैतवादी और विशिष्टा-

श्रीरामलालजी धन्य है, जिनको भगवत्कृपासे ऐसे महान् सतोके विमल-चरित-सुधा-सागरमें डुबकी लगानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, और जगतके प्राणियोपर, खास करके भारतीय हिन्दी-भाषा भाषियोपर उनका असीम उपकार है जो इस सत-चरित-सुधा-सागरसे उन्होने अत्यन्त सुन्दर और बहुमूल्य विविध रत्नोको बड़ी चतुराईसे निकालकर और उन्हे इस ग्रन्थके रूपमे प्रस्तुत करके उनका पवित्र वितरण किया है। मुझे आशा है कि भारतीय नर-नारी इस ग्रन्थ-रत्नसे विशेष लाभ उठाकर अपने जीवनको सफल बनायेंगे।

श्रीरामलालजी अपने है। अत उनके किसी सत्कार्यकी प्रशसा करना अपनी ही प्रशसा करनेके समान है। अतएव विशेष कुछ न कहकर मै इस महान् पुण्यकार्य के लिये उनका अभिनदन करते हुए अपनेको गौरवान्वित मानता हूँ। भगवान् कृपापूर्वक सबको ऐसी बुद्धि दें, जिससे सभी लोग सत-चरित-सुधा सागरमे अवगाहन करके परम-पुण्य-जीवन प्राप्त करें।

सीता-नवमी
२०१४ वि०

हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक,
कल्याण, गोरखपुर

भारत की चिरन्तन चेतना

समस्त युगो में सन्त-महात्मा की परम्परा ही भारत देश की अमूल्य निधि रही है। उदात्त सन्त-महात्माओं की जीवन-कथाये तथा उनकी उपदेशावलियाँ ही सबसे अधिक कीमती सम्पत्ति के रूप मे भारतीय जन-समाज को अपने पूर्वजो से प्राप्त हुई हैं। आज तक भारत के लम्बे इतिहास के प्रत्येक युग मे वेद, उपनिषद, महाकाव्य, पुराण, काव्य, रूपक, सगीत, स्थापत्य, चित्रकला, तथा लोक-गीत आदि अनेक रूप मे ऋषि, मुनि, योगी, भक्त, ज्ञानी और निष्काम कर्मी के ही तेजोमय जीवन तथा आध्यात्मिक अनुभूति से भारतीय संस्कृति के आत्माभिव्यञ्जन को प्रेरणा मिलती आयी है। भारत के सच्चे निर्माता वे ही हैं। भारत की चिरन्तन चेतना उनके ही जीवन मे साकार और सजीव हुई है। निस्सन्देह भारतवर्ष ने विभिन्न युगों में बडे-बडे योद्धा, शासक, साम्राज्य-स्थापक और राजनीतिज्ञो को जन्म दिया है, उन्होने अपने समय के भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये हैं पर भारतीय स्मृतिपटल पर उन्हे गौण स्थान प्राप्त है और उनमें भी केवल उन्ही का जीवन स्थायी स्मृति का विषय बन सका जिन्होने व्यवहार में सन्तत्व प्राप्त कर लिया और अपने साथियो की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपनी सम्पत्ति और ज्ञान का सर्वोत्तम सदुपयोग किया। भूत की तरह भविष्य मे भी सन्त-महात्माओ के जीवन तथा उपदेश भारत की समस्त जनता के लिये सदा ही ज्ञान, शक्ति, आशा और शान्ति के स्रोत बने रहेगे।

लगभग सहस्र पृष्ठ के इस एक ही ग्रन्थ में प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन सौ से अधिक सत-महात्माओ का सक्षिप्त जीवन-परिचय सरल और रोचक हिंदी में प्रस्तुत कर वर्तमान काल के सत्यान्वेषियो की रामलाल जी ने बहुमूल्य सेवा की है। इस पवित्र भूमि के सभी धार्मिक सम्प्रदाय और दार्शनिक परम्पराओ के उदात्त सिद्ध महापुरुष और धर्माचार्यो के समूह मे से उन्होंने जो नाम चुने हैं उनमे ज्ञानप्राप्त शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध, जैन, मुसलमान योगी, ज्ञानी, भक्त कर्मी, वैदिक, तान्त्रिक, द्वैतवादी, अद्वैतवादी और विशिष्टा-

द्वैतवादी–सभी है। उनकी जीवनकथाओ तथा प्रमुख उपदेशों का जो निरूपंण लेखक ने किया है उसमें किसी विशेष दृष्टिकोण, किसी विशेष आध्यात्मिक साधन-प्रणाली अथवा किसी प्रान्त विशेष के प्रति पक्षपात का लेश भी नही है। किसी भी प्रकार के पक्षपात, प्राग्धारणा, दृष्टि, सकोच तथा हठधर्मी से उनका मस्तिष्क स्नुत्यरूप से निर्मुक्त है। पृथक्-पृथक् काल तथा पृथक्-पृथक् प्रान्तो के और वाहर से भिन्न दीखने वाले धार्मिक सम्प्रदायो के प्रतिनिधि सन्तो के इन सक्षिप्त परिचयो के विवेकपूर्ण अध्ययन से, जिसे दीक्षा नही मिली है ऐसे व्यक्ति को भी, यदि वह सत्यान्वेपी है, यह विदित हो जायेगा कि उन सतो के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन तथा प्रमुख उपदेश और आदर्शो का जिनको उन्होने उपस्थित किया है समान रूप से सार्वभौम और स्थायी मूल्य-महत्व है, उन सन्तो की आध्यात्मिक साधना की प्रणाली तथा वाह्य व्यवहार मे कही कही अतर भले ही हो पर सब सन्तो की चरम अनुभूति एक ही है। व्यक्तिगत रूप से सन्तो की जाति, राष्ट्रीयता और सम्प्रदाय अलग-अलग भले ही हो पर जब उनकी अन्तरात्मा दिव्य आलोक से प्रकाशित हो उठती है तव वे सार्वभौम पुरुष वन जाते है।

लेखक ने मरस्वती की साधना में सलग्न अपने अध्ययन पूर्ण जीवन के अधिकाश वर्षो का भारतीय सन्त महात्माओ से सम्बन्धित सस्कृत, हिंदी, प्रान्तीय भाषाओ और अग्रेजी में प्राप्त विशाल साहित्य के मनोयोगपूर्ण अध्ययन मे सदुपयोग किया है। भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिक आधार शिला तथा इस सस्कृति और सभ्यता को सदा विकासोन्मुख और अक्षुण्ण बनाये रखने मे विभिन्न काल और प्रान्त के सन्त-महात्माओ के सहयोगदान को उन्होने गहरी दृष्टि से परखा है। इन पृष्ठो में लेखक के अध्ययन की विशालता और आन्तरिक दृष्टि की गहनता का प्रचुर प्रमाण मिलता है। लेखक की यथार्थ धारणा है कि आध्यात्मिक नवजागरण से ही सम्भवत वर्तमान युग को उस ध्वसलीला मे मुक्ति मिल सकती है जिसकी ओर वह वढता चला जा रहा है।

यह ऐसा युग है जिसमे वैज्ञानिक अन्वेपणो और आविष्कारो ने उपकार-अपकार दोनो में ही समर्थ अपार शक्तियाँ मानव के हाथो में सौंप दी है, उनसे मनुष्य जाति का कल्याण भी हो सकता है तथा सम्पूर्ण सहार भी हो सकता है। जन-समाज के भाग्य से खिलवाड करने वाले सुपटु राजनीतिज्ञो और अर्थ-शास्त्रियो के हाथ में ये शक्तियाँ पहुँच गयी हैं। आध्यात्मिक ज्योति से विहीन

वे प्राय धन और शक्ति के मद से अन्धे हो रहे है, वे इन्ही दोनो को मानवजाति का सर्वस्व मान रहे है। विज्ञान की सफलताओ और प्रभावशाली व्यक्तियों के जडवादी दृष्टिकोण ने जिन जटिल समस्याओ का सृजन कर रखा है उनसे वर्तमान समय के बडे-बडे प्रमुखतम नेता किंकर्तव्यविमूढ और हतबुद्धि हो रहे हैं। यदि मानव-जाति पर दैवी ज्योति का अवतरण नही होता है तो मानवता का विनाश अवश्यम्भावी है। दिव्य ज्योति-अवतरण के माध्यम सन्त-महात्मा है जिनका अन्त करण आध्यात्मिक साधना तथा भगवत्कृपा से पवित्र और परिष्कृत बन जाता है। इस उथल-पुथल के युग मे रामलाल जी की रचना के समान ग्रन्थो का अपरिमित महत्व है। जन-समाज के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन तथा उसके लिये परमावश्यक मानव की नैतिक और आध्यात्मिक प्रकृति के प्रति प्रबल आग्रह मे ही वर्तमान युग के उद्धार की आशा स्थित है। पर सद्प्रेरणा केवल सन्त-महात्माओ के आलोकमय जीवन तथा उनके अमर उपदेशो के पथ से ही आ सकती है। सौभाग्य से आधुनिक ससार में भी भगवत्सदेशवाहको का अभाव नही है। भगवान करे, विज्ञान की सफलताओ तथा जडवादी स्वार्थो के सघर्ष से भ्रान्त जनसमाज का ध्यान मानवता के इन प्रबुद्ध शिक्षको द्वारा अवतरित होने वाली भागवत-दिव्य ज्योति की ओर जाय।

नागपञ्चमी, अक्षय कुमार बनरजी

सं २०१४ वि

सन्तोऽनपेक्षा मच्चिता प्रशान्ता समदर्शिन ।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहा ॥

(११।२६।२७)

× × ×

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्त विभावसुम् ।
शीत भय तमोऽप्येति साधून् ससेवतस्तया ॥

(११।२६।३१)

× × ×

निमज्जोन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविद शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥

(११।२६।३२)

× × ×

अन्न हि प्राणिना प्राण आर्ताना शरण त्वहम्
धर्मो वित नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥

(११।२६।३३)

× × ×

सन्तो दिशन्ति चक्षूषि बहिरर्क समुत्थित ।
देवता बान्धवा सन्त सन्त आत्माहमेव च ॥

(११।२६।३४)

श्रीमद्भागवत

☆

अनुक्रम

अपनी बात

सन्त अन्तरात्मा के प्राणधन हैं। उनकी चरण-धूलि के एक कण की कृपा से अनन्त कोटि लोकनायक परमात्मा की चिन्मय ज्योति-मन्दाकिनी मे स्नान करने पर जीवन धन्य और सफल हो जाता है। वेद आदि समस्त भागवत साहित्य मे सन्त की महिमा का अमित बरवान मिलता है। सन्त सनातन, अविनश्वर और अनादि आत्मा के अविकल प्रतीक है। सन्त निरन्तर राम में ही रमणशील रहते हैं। सन्त के शरणागत होने पर भवसागर का भय मिट जाता है। परमात्मा के अस्तित्व मे सन्त की अमिट आस्था रहती है परमात्मा और आत्मा—जीवात्मा की स्वरूपगत एकता में सन्त अविचल विश्वास करते हैं और आत्मा की नित्यता—सनातनता में सन्त की मति स्थिर होती है। सन्त ससार के मरुस्थल मे मरूद्यान है। वास्तव मे सन्त के जीवन, आचरण और दिव्य महिमा के बरवान का सौभाग्य, परमात्मा की कृपा से मिलता है। 'भारत के सन्त-महात्मा' पुस्तक के प्रणयन की मूलभूमि मे भागवती कृपा और सन्त की प्रसन्नता का ही हाथ है। जन्म-जन्म के पुण्य के उदयस्वरूप ही मै ऐसे पवित्र काम मे अपने समय का थोड़ा-बहुत सदुपयोग कर सका।

सन्त-पदरज में बचपन मे ही मेरी सहज रुचि रहती आयी है। सन्त के प्रति श्रद्धा मेरे लिये वशपरम्परागत है। मेरे कुल में आध्यात्मिकता के प्रति सदा अनुराग रहता आया है। अभी दो सौ साल पहले की बात है, मेरे पूर्वज स्वनामधन्य मेहरबान सिंह ने राम के प्रति अपनी प्रगाढ निष्ठा दिखायी थी। उनका एक पद है

'काहे एती देर लगइलो। गज की करुन पुकार सुनत ही नगे पॉयन आपु सिधइलो।
द्रुपद-सुता की लाज राखि के तैंसइ तुरतहि चीर बढइलो।
'मेहरबान' पगु ध्यान राम के हमरी बेर कहा सुति गइलो।'

इसी तरह मेरे परदादा पूज्य लालबिहारीजी उच्च कोटि के शैव थे और वृन्दावन-चन्द्र भगवान नन्दनन्दन में उनका अप्रतिम आत्मसमर्पण था। उनके जीवन-काल मे मुझे सन्त-चरण के प्रति बडी श्रद्धा-भक्ति मिली और अपनी वैष्णवहृदया मा की छत्रच्छाया मे यह निरन्तर बढती ही गयी। मेरा विनम्र विश्वास है कि यदि मै ऐसे वैष्णव कुल मे जन्म न लेता तो मेरी लेखनी 'भारत के सन्त महात्मा' ऐसे सन्त-साहित्य के निर्माण मे सफल न होती। भगवान की कृपा से मुझे सन्त-महात्मा और आध्यात्मिक जगत के महापुरुषो के सम्पर्क मे रहने का अवसर मिलता गया और उनके चरणदेश में स्थित और स्वस्थ रह कर मैंने समय-समय पर आध्यात्मिक जीवन का थोडा-

बहुत रसास्वादन किया है। इधर 'कल्याण' आध्यात्मिक पत्र के सम्पादन-विभाग मे बारह-तेरह साल से काम करने से आध्यात्मिकता के वातावरणमें मेरा विश्वास थोडा-बहुत बढता जा रहा है, यह भी मेरे पारलौकिक जीवन में किसी न किसी रूप में लाभ की ही बात कही जा सकती है। सन्त समर्थ पलकनिधि जी पथिक महाराज के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन मे मेरा जीवन परम सौभाग्यशाली ही है। यदि ऐसे वातावरण मे न रहता तो सन्त के चरण में मेरा अनुराग ही नही बढता और न मैं 'भारत के सन्त-महात्मा' पुस्तक लिखने का साहस ही करता।

'भारत के सन्त-महात्मा' पुस्तक लिखने की प्रेरणा मुझे वोरा और कम्पनी-प्रकाशन-सस्था बम्बई के सचालक से मिली। ऐसी पवित्र सन्तनिष्ठा और सहज तथा निष्काम लोकहित-कामना ने ही मुझे इस सत्प्रयत्न में कृतार्थ किया। इस पुस्तक में सम्पूर्ण भारत देश के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध प्रतिनिधि सन्तो का जीवन-चरित्र अकित है। उनके जीवन की वास्तविक घटनाओ का रोचक ढग से उल्लेख है तथा उनके सिद्धान्त, साधना-पद्धति और निष्पक्ष वाणी का मर्यादापूर्वक समावेश किया जा सका है। 'भारत के सन्त-महात्मा' पुस्तक देन है समग्र भारतीय सन्त-साहित्य की। उन लेखको और महात्माओ का मुझ पर अमित आभार है जिनकी कृतियो और वाणी से इस पुस्तक की समलकृति में थोडी-बहुत सहायता ली गयी है। ऐसे लोगो की चरण-धूलि का वन्दन ही मेरी कृतज्ञता का ज्ञापन है। 'कल्याण' के भक्तचरिताक मे अपने द्वारा लिखे 'सन्त-जीवन-चरित' में से भी कही-कही मैने थोडी-बहुत सहायता ली है। इस सदुपयोग के नाते मैं 'कल्याण' के सम्पादक के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

जिस सीमा तक इस पवित्र कृति की प्रस्तावना का सम्बन्ध है, उसमें मेरी बडी इच्छा थी कि भारत के आध्यात्मिक प्राण सन्त विनोबा भावे तथा 'कल्याण' के यशस्वी सम्पादक हनुमान प्रसादजी पोद्दार के आशीष मिले। परमात्मा की महती कृपा से यह सम्भव हो सका। इस ग्रन्थ को अपनी पुण्यसम्मति से सम्पन्न करने के नाते मैं दर्शन-जगत के विद्वान सन्त अक्षयकुमार बनरजी तथा श्री सम्पूर्णानन्दजी को धन्यवाद देता हूँ।

सन्त-चरण-देश में मेरा मस्तक सदा विनत रहे, यही मेरी निष्काम कामना है।

आनन्दसदन
गोरखपुर।

श्रीकृष्ण शरण मम
रामलाल

संत-असंत लक्षण

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥

× × × ×

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं॥
उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू॥
भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि ब्याधू॥
गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥

भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरताँ गरल सराहिअ मीचु॥

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥
तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥
भलेउ पोच सब बिधि उपजाए। गनि गुन दोष बेद बिलगाए॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥
दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती॥

× × × ×

पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिग्यान बिसारद॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भव भंजन भीरा॥
सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा।
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धरम गति परम प्रबीना॥

गुनागार ससार दुख रहित विगत सदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाही। पर गुन सुनत अधिक हरषाही॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम सजम नेमा। गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दभ मानमद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥
कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पकज गहे।
अस दीनवधु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे॥
सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गये।
ते धन्य तुलसीदास आस विहाइ जे हरि रग रँए॥

× × × ×

जोरि पानि कह तब हनुमता। सुनहु दीनदयाल भगवता॥
नाथ भरत कछु पूछन चहही। प्रस्न करत मन सकुचत अहही॥
तुम जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अतर काऊ॥
सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना॥
सत असत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥
सतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान विख्याता॥
सत असतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगध वसाई॥

ताते सुर सीसन्ह चढत जग वल्लभ श्रीखड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु वदन यह दड॥

विषय अलपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया॥
सवहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥

विगत काम मम नाम परायन। साति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथरत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोहबस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरे सुबेषा॥

ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥

× × × ×

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥
पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी ॥
भूर्ज तरू सम संत कृपाला। पर हित निति सह विपति बिसाला ॥
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढाइ विपति सहि मरई ॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं ॥
दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥

× × × ×

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी ॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

गिरजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥

—रामचरितमानस

देवर्षि नारद

'अहो ! देवर्षि नारद धन्य है जो वीणा बजाते, हरिगुण गाते और मस्त होते हुए आतुर जगत को आनन्दित करते रहते है।'

—श्रीमद् भागवत

देवर्षि नारद श्रीभगवान के नित्य पार्षद है, भगवान का स्मरण करते रहना ही उनका शाश्वत जीवन है, उनके नाम के स्मरण मात्र से हृदय में भगवान की भक्ति का सरस और गम्भीर सागर उमडने लगता है। भारतीय अध्यात्मवाङ्मय में उनके दिव्य और परम भगवदीय चरित्र का अमित विशेषता से चिन्तन किया गया है, श्रीभगवान से उनका नित्य सम्वन्ध है। निगम, आगम, पुराण दर्शन—समस्त शास्त्रो में उनकी वीणा का सरस रमण दीख पडता है। नारद श्रीभगवान के मानस-अवतार है। नवधा भक्ति के आचार्य है, लोकलोकान्तर में वीणा वजाकर घूमते रहते है। वे वैदिक ऋषियो में परिगणित है, विवाद उपस्थित होने पर मन्त्रो के अर्थ करने वाले ऋषि कहलाते है। ऋग्वेद के आठवे मण्डल के तेरहवे सूक्त के ऋषि नारद है।

नारद का स्वभाव देवकार्य के सरक्षण और आसुरी शक्ति के विनाश के लिये कलहकारी है। पुराणो में इस तथ्य की अभिव्यक्ति सर्वत्र स्पष्ट दीख पडती है। नारद का प्रधान कार्य श्री भगवान की भक्ति का प्रचार है। वे अपनी वीणा की झकार से प्राणियो में, लोक-लोकान्तर में भक्ति की चेतना भरते रहते है। जब वे वीणा वजाकर भगवान का स्तवन करते है तब श्रीपति विना वुलाये की तरह उनके सामने प्रकट होकर उन्हें धन्य कर देते है। सम्पूर्ण पृथ्वी पर, घर-घर में, जन-जन में भक्ति की स्थापना ही उनके जीवन का अक्षय ध्येय है। उनकी गणना भागवत-धर्म के वारह प्रधान आचार्यों में है, वे महा-भागवत है, कीर्तन के आचार्य है। समस्त जगत के कल्याण में वे नित्य-

निरन्तर लगे रहते हैं। देव-दैत्य समान रूप से उनके अभय दान मे विश्वास रखते है। निस्सन्देह नारद का व्यक्तित्व परम दिव्य, अमित विचित्र और असाधारण है।

नारद की जीवन-कथा किसी युगविशेष की सम्पत्ति नही है। वह तो सब युगो की दिव्य देन है। वे ब्रह्मा के घ्राणेन्द्रिय से प्रकट हुए हैं इसलिये देवयोनि से परे है, भगवान के मानस-अवतार है। उनका वर्ण ब्राह्मण कहा जा सकता है और उनके जीवन का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य और सन्यास—दोनो आश्रमो से निरूपित किया जा सकता है। ब्रह्मा ने पहले मरीचि, अत्रि, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार तथा नारद की सृष्टि की, नारद इस रूप में ब्रह्मा के मानस पुत्र है।

प्राचीन काल की वात है। नारद ने भगवान का नित्य सम्वन्ध अपने पूर्व जन्म के एक कर्म के फल रूप में प्राप्त किया था। वे पहले जन्म में उपबर्हण नामक गन्धर्व थे। सगीत में उनकी बडी रुचि थी। वे देखने में हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर थे। एक बार ब्रह्मा की सभा में भगवान का गुणगान करने के लिये बडे-बडे गन्धर्व, किन्नर आदि उपस्थित हुए। उस सभा में नारद भी थे। नारद अपने साथ स्त्रियों को ले गये थे। हरि गुणगान के समय नारद की दृष्टि उन रमणियो के चपल हाव-भाव और श्रृगार में उलझ गयी, वे अपने कर्तव्य का उचित पालन नहीं कर सके। ब्रह्मा ने उन्हे शूद्रयोनि में जन्म लेने का शाप दिया। ब्रह्मा का शाप उनके लिये वरदान सिद्ध हुआ। वे सयमी, सदाचारी, ब्रह्मनिष्ठ, वेदपाठी और शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों की सेवा करनेवाली एक शूद्र दासी के गर्भ से उत्पन्न हुए। ब्रह्मा की कृपा से उनमें सभी सद्गुण विद्यमान थे। माता का उन्हे असीम स्नेह प्राप्त था। माता के तपस्यापूर्ण, धर्मपरायण और सात्विक जीवन का उन पर विशेष प्रभाव पडा। माता की देखा-देखी वे भी साधु-सन्तो की सेवा में लगे रहते थे। एक बार कुछ सन्तों ने चातुर्मास्य-व्रत किया, अपनी माता के कहने से वे उन सन्तो की सेवा मे लग गये। सन्तो की उन पर सदा कृपा-दृष्टि रहती थी। नारद की अवस्था उस समय केवल पाँच साल की थी, सन्तों के सम्पर्क से उनका हृदय परम शुद्ध हो गया। सन्तो के मुख से वे नित्य भगवान की चर्चा सुनते थे। चातुर्मास्य समाप्त

होने पर सन्तो ने नारद को भगवान के ध्यान का आदेश दिया और उनके परम पावन नाम के जप की विधि वतायी। उनके चले जाने पर नारद भक्ति-साधना में लग गये। कुछ समय के वाद रात को गाय दुहते समय उनकी माता की साँप के काटने से मृत्यु हो गयी। मृत्यु नारद की दृष्टि में भगवान की परम कृपा थी। अभी तक वे माता के स्नेह-वन्धन में आवद्ध थे पर माता के मरने के वाद वे तप करने के लिये निकल पड़े। कुछ दूर जाने पर वे थक गये। रास्ते में एक सरोवर मे जल पीकर पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ गये। सन्तो की वतायी हुई विधि के अनुसार भगवान का ध्यान करने लगे। क्षण-क्षण में उनकी आकुलता बढने लगी। अचानक उनके हृदय में थोडी देर के लिये नारायणी ज्योति प्रकट हुई और अदृश्य हो गयी। वे वार-वार चेष्टा करने पर भी दूसरी वार उस ज्योति का दर्शन न कर सके। आकाशवाणी हुई कि जिनका हृदय परम निर्मल है वे ही ज्योति-दर्शन के सत्पात्र है। इस घटना के वाद वे नारायण के ही स्मरण-चिन्तन में लग गये तथा शरीरान्त होने के वाद वे कल्पान्तर में ब्रह्मा के मानस पुत्र हुए। श्री भगवान के पार्षद रूप में वे नित्य उनका गुण गान करते हुए तथा वीणा वजाते हुए घूमते रहते है। उनका आवास-स्थल हिमालय है, दक्ष प्रजापति के शाप से वे बालक-वृद्ध और युवा-अवस्था से सदा परे रहते है।

चारो युगो से उनकी जीवन-घटनाओ का सम्वन्ध है। प्रह्लाद की माता को नारद ने उपदेश दिया था, उनके उपदेश से गर्भस्थ शिशु प्रह्लाद भगवद्भक्ति के सस्कारो से सम्पन्न हुए थे। इसी प्रकार नारायण की खोज में निकले हुए वालक ध्रुव का भी उन्होने कृपा पूर्वक पथ-प्रदर्शन किया था।

एक समय की वात है कि भगवान विष्णु की सभा में नारद और तुम्वरू उपस्थित थे। तुम्बरू गान-विद्या के आचार्य थे। नारद सगीत-ज्ञान में उनसे आगे बढ जाना चाहते थे। भगवान विष्णु ने उनको उलूकेश्वर गन्धर्व से गान-विद्या सीखने का आदेश दिया। नारद ने उलूकेश्वर से सगीत-विद्या सीखी, तुम्वरू को पराजित करने गये। उन्होने स्त्री-पुरुष के रूप में तुम्वरू के घर के निकट ही राग-रागिनियो को देखा।

राग-रागिनियो ने नारद से कहा कि अनिपुण गायको के गान से हमारे अंग-भंग हो जाते है, तुम्बरू प्रवीण गायक है, उनके संगीत से हमारे विकृत रूप ठीक हो जाते है। नारद को अपनी अधूरी जानकारी पर बडी लज्जा आयी और वे भगवान विष्णु के पास गये। नारायण ने उन्हे आश्वासन दिया कि जब व्रज में मेरा कृष्ण-अवतार होगा तब मै तुम्हे गान-विद्या सिखाऊँगा। ऐसी कथा है कि द्वापर में नारद ने द्वारकाधीश कृष्ण से तथा सत्यभामा, जाम्बवती, रूक्मिणी आदि पट-रानियो से संगीत-विद्या सीखी थी। उनके लिये संगीत विद्या भागवती कृपा की प्रतीक है। उनको कृष्ण से संगीत सीखने में चार साल लगे थे।

वाल्मीकि रामायण की रचना की मूलभूमि में नारद की ही प्रेरणा का दर्शन होता है। त्रेता युग मे वाल्मीकि को रामायण की रचना करने और भगवान राम के ऐश्वर्य का वर्णन करने का प्रोत्साहन देवर्षि नारद से ही मिला था। मूलरामायण नारद की आत्मा की स्वर-लहरी है। मूलरामायण मे वर्णित रामचरित्र का विस्तार ब्रह्मा की प्रेरणा और आदेश से वाल्मीकि ने अपने रामायण महाकाव्य में किया है। वाल्मीकि के आश्रम पर एक बार नारद का आगमन हुआ, देवर्षि ने उनको संक्षेप में रामचरित्र सुनाया। वाल्मीकि ने शिष्यों सहित उनका पूजन किया, वे आकाशमार्ग से चले गये। उनके देवलोक जाने के थोडी ही देर बाद तमसा तट पर विचरते हुए वाल्मीकि का क्रौंच-वध से उत्पन्न शोक श्लोक में रूपान्तरित हो गया। आश्रम में आने पर ब्रह्मा ने उन्हे नारद के रामचरित्र के आधार वाल्मीकि-रामायण लिखने के लिये प्रेरणा दी।

रामायण की तरह भागवत की रचना के लिये व्यास को प्रेरणा देने का श्रेय नारद को ही है। नारद द्वारा कथित मूलभागवत के आधार पर महर्षि व्यास ने द्वादश स्कन्धो मे श्री भागवत ऐसे अक्षर-वाङमय का विस्तार किया था। वेदो के विभाजन, ब्रह्मसूत्र-रचना, महाभारत तथा पुराणों की समाप्ति पर भी व्यास को वास्तविक शान्ति न मिली। उनका मन बहुत खिन्न था। वे सरस्वती नदी के तट पर बैठ कर इन्हीं बातो का चिन्तन कर रहे थे कि नारद जी आ पहुँचे। व्यास ने उनका विधिपूर्वक पूजन किया, उसके बाद नारद से आत्मशान्ति का मार्ग पूछा।

नारद ने कहा कि आप ने भगवान वासुदेव के निर्मल यश का पूर्ण वर्णन नही किया है इसी से आपका चित्र अशान्त है। वह कविता व्यर्थ है जिसमें भगवान की लीला का चिन्तन न किया गया हो, वह वाणी वन्ध्या और निष्फल है जो रस-कल्पतरु नन्दनन्दन का यश नही गाती है। भगवान का चरित्र ही गेय है। नारद ने व्यास को भागवत रचना के लिये प्रेरणा दी। भागवत भाव और भागवत रति अथवा परम शुद्ध भक्ति का दान कर नारद चले गये। उन्ही की प्रेरणा का फल भागवत पुराण अथवा शुक-शास्त्र है। पूर्वजन्म में भगवान विष्णु ने उन्हे जो गुह्यतम ज्ञान दिया था उसका वर्णन नारद ने व्यास से किया और भक्ति की महिमा वढायी। युधिष्ठिर आदि राजाओ को भी वे समय-समय पर सचेत करते रहते थे। नारद ने शुकदेव को ज्ञानोपदेश दिया था। जिस समय व्यास को वात्सल्य के सागर में सराबोर कर शुकदेव तपोवन में गये उस समय नारद ने उनको आत्मकल्याण का पथ दिखलाया था। नारद ने कहा था कि विद्या सर्वोत्तम प्रकाश है, सत्य-पालन परम तप है, त्याग में शान्ति और सुख है, राग दुख का मूल है। अपने वर्णाश्रम के अनुकूल सदाचार में लगे रहना ही धर्म है। आत्मविजय ही परम ज्ञान है, परमात्मा सर्वदा और सर्वथा सत्स्वरूप है।

नारद गृहस्थो के कल्याण की चिन्ता में सदा तत्पर रहते है। भागवत धर्म का प्रचार ही उनके जीवन का प्रमुख कार्य है। प्राणियों को भगवान की भक्ति में लगाना ही उनकी आत्मशान्ति का स्वरूप है। नारद के पाचरात्र का भागवत धर्म के उपासको में वडा समादर है। मन्त्र-सिद्धान्त, आगम-सिद्धान्त, तत्व-सिद्धान्त और तन्त्र-सिद्धान्त में यह विभाजित है। इसी के अन्तर्गत सात्वत सहिता है जिसको मलय पर्वत पर नारद ने महर्षियो को सुनाया था। इसको नारद पाचरात्र अथवा महोपनिषद भी कहा जाता है।

शिवपुराण में उनके स्वयम्वर का वर्णन है। राजा शीलनिधि की कन्या श्रीमती से विवाह करने की बात आती है। नारद ने हिमालय की गुफा में गगा तट पर एक परम दिव्य आश्रम में घोर तप करना आरम्भ किया। यद्यपि तप भगवान को प्रसन्न करने के लिये था तो भी इन्द्र बहुत सतप्त हुए। इन्द्र ने तप में विघ्न डालने के लिये कामदेव को भेजा पर

भगवान शकर की कृपा से कामदेव पराजित हो गया। नारद को अभिमान हो गया कि मैंने शिव की तरह काम को जीत लिया, उन्होने शिव और ब्रह्मा से काम-विजय की वात कही। विष्णुलोक में भगवान विष्णु से भी निवेदन किया। वे विष्णुलोक से लौट रहे थे कि विष्णु ने मार्ग में एक माया नगर का निर्माण किया। वह रमणीय था, उसमें भोग विलास की सामग्री की अधिकता थी, नर-नारी विहार कर रहे थे। उस नगर के राजा शीलनिधि की कन्या का स्वयम्वर होने वाला था, देश-देश के नरेश उपस्थित थे। कन्या श्रीमती परम लावण्यमयी थी। उसने नारद को प्रणाम किया। नारद उसको देखते ही कामविह्वल हो गये। स्वयम्वर में सम्मिलित होने के लिये वे नारायण के पास उन्ही का रूप माँगने गये। नारायण ने उनका मुँह बन्दर की आकृति का वना दिया। . स्वयम्वर में आते ही श्रीमती उनका रूप देख कर क्रुद्ध हो गयी। . उसने भगवान विष्णु के गले में जयमाला डाल दी। नारद ने दर्पण और जल में अपना रूप देखा, उन्होने विष्णु को शाप दिया कि तुम्हें स्त्री का वियोग सहना पडेगा और मेरी ही मुखाकृति वाले वानर (हरि) तुम्हारी सहायता करेगे। नारायण ने अपनी माया दूर हटा ली, नारद को अपनी करनी पर वडी लज्जा हुई, उन्होने क्षमा मागी उनके चरणो में गिर पडे।

नारद का शाप परम पुण्यदायक होता है। श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध में कुवेर के पुत्र मणिग्रीव और नलकूबर के शाप की बात का उल्लेख है। एक बार वे दोनो मन्दाकिनी के तट पर कैलास के रमणीय उपवन में वारुणी मदिरा पीकर मदोन्मत्त थे, पुष्पो से लदे थे। स्त्रियो के साथ जल में प्रवेश कर क्रीडा कर रहे थे। वे मदान्ध हो गये थे। सहसा उसी ओर देवर्षि नारद का आगमन हुआ। वस्त्रहीन अप्सराओं ने शाप के भय से वस्त्र पहन लिये पर यक्षों ने कपडे नहीं पहने। उन पर अनुग्रह करने के लिये देवर्षि नारद ने उनको वृक्षयोनि में जाने का शाप दिया और कहा कि देवो के सौ वर्ष वीतने के वाद द्वापर में व्रज में श्री कृष्ण का अवतार होने पर उन दोनो का उद्धार होगा तथा भगवान के साक्षात् दर्शन से वे अपना जीवन सफल करेंगे। नारद के शाप के फल स्वरूप ही भगवान कृष्ण ने अपनी ऊखल-बन्धन-लीला में यमलार्जुन

का उद्धार किया था।

देवर्षि नारद परम भागवत हैं, नित्यजीवी हैं, भगवान के परम प्रियपात्र हैं।

रचना

नारद पाचरात्र, भक्ति सूत्र, मूल रामायण, मूल भागवत आदि उनकी कृति हैं। ज्योतिष आदि शास्त्रो में उनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

वाणी

जो परसे भी परे परम प्रकाशस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण कार्यकारण रूप जगत मे अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं तथा जो सगुण और निर्गुण रूप हैं उनको नमस्कार है। जो माया से रहित हैं, परमात्मा जिनका नाम है, माया जिनकी शक्ति है, सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, योगियो के ईश्वर, योगरूप तथा योगगम्य हैं, उन सर्वव्यापी भगवान विष्णु को नमस्कार है।

जो ब्रह्मा जी का रूप धारण कर ससार की सृष्टि और विष्णु रूप से जगत का पालन करते हैं तथा कल्प का अन्त होने पर जो रुद्र रूप धारण कर सहार में प्रवृत होते है और एकार्णव के जल में अक्षयवट के पत्र पर शिशुरूप से अपने चरणारविंद का रसपान करते हुए शयन करते हैं उन अजन्मा परमेश्वर का भजन करता हूँ।

जो आकाश आदि तत्वो से विभूषित, परमात्मा नाम से प्रसिद्ध, निरजन, नित्य, अमेय तत्व तथा कर्मरहित है उन विश्वविधाता पुराण पुरुष परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूप है। अमृतस्वरूपिणी है, इसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, तृप्त हो जाता है, न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है। भक्ति को जान कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।

प्रेमभक्ति कामनायुक्त नही है, वह निरोध-स्वरूप है।

अपने प्रियतम भगवान को छोड कर दूसरे आश्रयो के त्याग का नाम ही अनन्यता है।

सव कर्म भगवान के अर्पण करना चाहिये और भगवान का थोडा-सा भी विस्मरण होने पर व्रजगोपियो की तरह परम व्याकुल होना चाहिये।

प्रेमरूप भक्ति, कर्म, ज्ञान योग से श्रेष्ठ है, वह फल रूप है, ससार के वन्धन से मुक्त होने की इच्छा रखनेवाले को भक्ति ग्रहण करनी चाहिये। भगवान की कृपा से ही महापुरुषो का सग मिलता है जो दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। भगवान और भक्त में भेद का अभाव है।

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है किसी विरले योग्य पात्र में ऐसा प्रेम प्रकट होता है। यह प्रेम गुण रहित, कामना रहित, प्रतिक्षण वढता हुआ, विच्छेद रहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप है। इस प्रेम को पाकर प्रेमी प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिंतन करता है।

भक्ति सुलभ है, शान्तिरूप और परम आनन्दरूप है। भक्ति के साधक को अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारों का पालन करना चाहिये।

सव समय सर्वभाव से निश्चिन्त होकर भगवान का ही भजन करना चाहिये।

यावद् भ्रियेत जठर तावन् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

मनुष्यो का स्वत्व केवल उतने ही धन पर है जितने से उनका पेट भर जाय। इससे अधिक सम्पति को अपनी मानने वाला चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये। श्रीमद्भा ७-१४-८

नैष्कर्म्यमप्यचुत भाववर्जित न शोभते ज्ञानमल निरञ्जनम्।
कुत पुन शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पित कर्म यदप्यकारणम्॥

वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन है, यदि भगवान की भक्ति से रहित हो तो उसकी उतनी शोभा

नही होती, फिर जो साधन और सिद्धि दोनो ही दशाओ में सदा अमगलरूप है वह काम्य कर्म और भगवान को असमर्पित निष्काम कर्म किस प्रकार शोभित हो सकता है। श्रीमद्भा. १-५-१२

अथातो भक्ति व्याख्यास्याम सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा।
अमृतस्वरूपा च।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।

अब हम भक्ति की व्याख्या करेगे। वह ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा है। अमृतस्वरूपा भी है। उसको प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। नारदभक्तिसूत्र १-४

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। तदेव साध्यता तदेव साध्यताम्।

महापुरुषों का मग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। भगवान की कृपा से ही उनका सग मिलता है। भगवान और उनके भक्त में भेद नही है। इसलिये महत्सग की ही साधना करो।

नारदभक्तिसूत्र ३९-४२

अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।
प्रकाशते क्वापि पात्रे।

गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण वर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनु-भवरूपम्।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव
शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह गूगे के स्वाद की तरह (अकथ-नीय) है। किसी विरले पात्र में ही ऐसा प्रेम प्रकट होता है। यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण वढता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप है। इसे पाकर प्रेमी इसी को देखता है, सुनता और वर्णन करता है, इसी का चिंतन करता है।

नारदभक्तिसूत्र ५१-५५

महात्मा जड़भरत

'देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो धीरे-धीरे बहुत दिनो में पवित्र करते है, पर महात्मा अपनी दृष्टि से ही पवित्र कर देते हैं।'

—श्रीमद् भागवत

आत्मराज्य में रहने वाले परम शान्त, सुखी और स्वस्थ होते है। आत्मानन्द स्वाश्रित है, अक्षय और देश काल से परे है। देह में रह कर जो प्राणी देह से परे होकर आत्मा का चिंतन करते है वे धन्य है, सफल मनोरथ और परम भाग्यशाली हैं। आत्मोपासना का सौभाग्य असख्य पुण्यों के उदयस्वरूप मिलता है। महात्मा जडभरत आत्मोपासक, परमहस और असाधारण अवधूत थे। वे महायोगी थे, आत्मा के योग-माध्यम से अपने सत्स्वरूप का अनुसधान करते रहना ही उनके जीवन का उद्देश्य था।

महात्मा जडभरत पूर्व जन्म में राजर्षि भरत थे। राजर्षि भरत के नाम से हमारा देश 'भारतवर्ष' या 'भरतखण्ड' नाम से प्रसिद्ध है। राजर्षि भरत भगवान के परम भक्त थे, वे भक्तियोगी थे, तपोनिष्ठ और विरक्त थे। अगणित वर्षों तक राज्य-सुख भोगने और प्रजा का यथोचित पालन करने के वाद उन्होंने वैराग्य ले लिया और पुलह ऋषि के आश्रम हरिक्षेत्र में आकर रहने लगे। गण्डकी नदी के तट पर इस पवित्र आश्रम में रहकर वे श्रीभगवान की आराधना करने लगे। एक दिन वे गण्डकी के तट पर बैठ कर नित्य-नैमित्तिक कर्म समाप्त कर प्रणव का जप कर रहे थे। उन्होंने एक हरिणी को नदी के तट पर जल पीते देखा, वह अपनी टोली से विछुड कर उस स्थान पर आ गयी थी। सिंह के दहाडने से भयभीत होकर एक ही छलाग के सहारे वह उस पार जाने की चेष्टा कर रही थी कि उसके गर्भ का वच्चा गिर पडा, नदी के प्रवाह में आ गया, हरिणी

ने एक गुफा में जाकर प्राण त्याग दिया। राजर्षि भरत का हृदय इन दृश्यों से द्रवित हो गया। उन्होंने मृग के बच्चे को गोद में उठा लिया और आश्रम में लाकर बड़े स्नेह से उसका पालन-पोषण किया। मृग-शावक में उनकी इतनी आसक्ति बढ गयी कि वे रात-दिन उसी के सुख की बात सोचते थे। एक दिन वह मृगछौना अदृश्य हो गया। मृग की भावना मन में विशेष रूप से परिपुष्ट होने पर राजर्षि भरत दूसरे जन्म में मृगयोनि में प्रकट हुए। उन्हे पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण था इसलिये मृग-आसक्ति की बात से उनके मन में वैराग्य का उदय हुआ। शालग्राम-क्षेत्र में ही आकर निवास किया, मृत्यु-काल उपस्थित होने पर गण्डकी में स्नान कर उन्होंने मृगशरीर छोड दिया और अगले जन्म में जडभरत के रूप में एक पवित्र ब्राह्मण कुल में शरीर धारण किया। उनका जन्म आगिरस गोत्र में हुआ। उनके पिता उन्हें बहुत मानते थे। जड-भरत जन्मजात विरक्त थे। स्वजनो के सग से वे अपने आपको बहुत दूर रखते थे। उन्हें पूर्वजन्म की आसक्ति का स्मरण था इसलिये दूसरों की दृष्टि में अपने आपको पागल सिद्ध करने में तथा उन्मत्त की तरह रहने में ही उन्होने आत्मकल्याण समझा। असगता को उन्होंने अपने जीवन का अलकार बना लिया। उनके पिता उनमें आत्मा की तरह अनुराग करते थे। वे शम, दम, तप, संतोष, क्षमा, धर्माचरण आदि में रत थे, उन्होने अपने पुत्र का यज्ञो-पवीत-संस्कार सम्पन्न करने का निश्चय किया। यथासमय जडभरत का उपनयन-सस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ पर वे आत्मनिष्ठ थे इसलिये जान-बूझकर पिता की शिक्षा के विपरीत आचरण किया करते थे। ब्राह्मण ने अपने पुत्र को वेदाध्ययन कराना चाहा पर जडभरत दीर्घकाल तक स्वर सहित गायत्री मन्त्र का उच्चारण तक न कर सके। कुछ समय के बाद जडभरत के पिता का देहान्त हो गया और उसके बाद ही जडभरत तथा उनकी बहिन को सौतेली माता को सौंप कर उनकी माता ने स्वर्ग की यात्रा की।

माता-पिता के परलोक-गमन के बाद जडभरत को अपना आत्म-ज्ञान परिपक्व करने का सुन्दर अवसर मिल सका। वे पूर्ण रूप से

शारीरिक सम्बन्ध से निर्बन्ध हो गये, सदा आत्मचिंतन और स्व के परिशीलन में ही लगे रहते थे। ससार का नश्वर और मायिक रूप उन्हे अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। वे सदा मौन रहते थे। यदि कोई व्यक्ति उनसे कुछ पूछता था तो गवारो की तरह उत्तर दे दिया करते थे। वे अपने शरीर को जान-बूझकर साज-शृगार से बहुत दूर रखते थे। सदा मैले-कुचैले वस्त्र पहना करते थे इससे लोग उन्हे अपने पास तक बैठाने में सकोच करते थे। वे सम्मान को विष और अपमान को अमृत मानते थे। उनकी दृढ धारणा थी कि ऐसा करने से वे निर्विघ्न योगसाधना और आत्मोपासना कर सकेगे। वे जन-साधारण में अपने आपको उन्मत्त और जड-सा प्रकट करते थे। भीगे हुए चने, उडद, साग, जगली फल और सामयिक अन्न के दाने से अपनी भूख शान्त कर लिया करते थे। माता-पिता की मृत्यु के बाद उनके भाइयो तथा अन्य परिवारवालो ने उनसे खेती-बारी का काम कराना आरम्भ किया और उनके दिये हुए सडे-गले अन्न से वे अपने शरीर का पोषण करते थे। वे डट कर मोटे बैल की तरह खेती का काम किया करते थे, भोजन मात्र ही उनका वेतन था। लोग थोडी ही मजदूरी में उनसे अपना काम निकलवा लिया करते थे। लोगों के काम तुरन्त कर दिया करते थे। वे आत्मानन्द में ही सदा मग्न रहते थे, किसी की निन्दा, स्तुति और गाली-प्रशसा की तनिक भी चिंता नही करते थे। प्रकृति से उत्पन्न किसी भी वस्तु में उनका राग अथवा द्वेष नही था। भूमि पर सोते थे, कई दिनो के बाद कभी-कभी स्नान कर लिया करते थे, देह पर मैल जमे रहने की ओर उनका ध्यान नही था, एक मैला वस्त्र पहनते थे, मैला यज्ञोपवीत धारण करते थे। सिर और दाढी के बाल सदा बढ़े रहते थे, पागल और उन्मत्त की तरह उनके समस्त आचरण थे। उनके भाइयों ने उन्हें खेत की क्यारी ठीक करने के काम पर लगा दिया। वे अपनी स्थिति में सतुष्ट रहते थे। आत्मचिंतन ही उनका परम धन था।

एक दिन दस्युओ और लुटेरों के सरदार ने सन्तान की कामना से भद्रकाली को नरबलि देने का सकल्प किया। जो मनुष्य इस कार्य

के लिये पकडा गया था वह भाग गया। लुटेरे उस आदमी को बडी तत्परता से खोज रहे थे कि उन्होने अधेरी रात में खेत की रखवाली करते हुए जडभरत को देखा। वे हृष्ट-पुष्ट और वलि के सर्वथा योग्य थे, एक पैर पर खडे होकर हरिन, सूअर आदि जानवरो से खेत की रखवाली कर रहे थे। लुटेरों ने जडभरत से 'चलो' कहा, उन्मत्त अवधूत ने 'चलो' उन्हो की वात दोहरायी। वे वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने निश्चित स्थान पर जडभरत को ले जाकर स्नान कराया, धूप-दीप-गन्ध से उनकी पूजा की, पुप्पो की माला पहनायी, मस्तक में तिलक-रचना की। अनेक प्रकार के मृदग आदि वाजे वजाते हुए उन्होने जडभरत को भद्रकाली के सामने विठा दिया। पुरोहित ने उनकी रक्तरूपी वारुणी से देवी को तृप्त करने के लिए नगी तलवार खीच ली। वलि का समय उपस्थित ही था कि देह की आसक्ति से परे जडभरत के आत्मतेज के रूप में भद्रकाली मूर्ति में साकार हो उठी, उन्होंने भयकर शब्दो में गरज कर पुरोहित के हाथ से तलवार छीन ली, क्षणमात्र में दुष्टो का सहार कर भद्रकाली ने परमहस जडभरत के प्राणो की रक्षा की। जडभरत को तो ऐसा लगा कि कुछ हुआ ही नही। वे पहले की तरह अपने काम में लग गये, आत्मोपासक को देह-वल से किसी भी स्थिति में पराजित नहीं किया जा सकता हैं। आत्मवल की ही सदा विजय होती है, आत्मा में सत्य का अधिवास रहता है, सत्यसम्वलित आत्मा का पतन नितान्त असम्भव है।

सिन्धु सौवीर नरेश रहूगण आत्मज्ञान की पिपासा शान्त करने के लिये एक वार कपिल मुनि के आश्रम में जा रहे थे। वे वडे शान्त और उदार प्रकृति के पुरुप थे। पालकी में चढ कर जा रहे थे कि इक्षुमती नदी के तट पर पहुँचते-पहुँचते पालकी ढोने के लिये एक नये कहार की आवश्यकता पड गयी। अवधूत जडभरत दैवयोग से आ पहुँचे। कहारो ने उनको स्वस्थ और मोटा-ताजा देख कर पालकी ढोने में लगा दिया। जडभरत आत्मज्ञानी महात्मा थे, उन्होंने सोचा कि किसी प्रारव्ध के भोग के लिये मुझे पालकी में लगाया गया है। वे वडी प्रसन्नता से पालकी ढोने लगे। वे छोटे-छोटे जीवो की, चीटी

यह मायामय मन ससार-चक्र में छलने वाला है। यही अपनी देह के अभिमानी जीव से मिल कर उसे कालक्रम से प्राप्त हुए सुख-दुख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलो की अभिव्यक्ति करता है।

श्रीमद्भा ५-११-६

गुणानुरक्त व्यसनाय जन्तो क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मन स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्त्तिमश्नन् शिखा सधूमा भजति ह्यन्यदा सदा॥

विषयासक्त मन जीव को ससार-सकट मे डाल देता है, विषयहीन होने पर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त कराता है। जिस प्रकार घी से भीगी बत्ती को खाने वाले दीपक से तो धूमवाली शिखा निकलती रहती है और जब घी समाप्त हो जाता है तब वह अपने कारण अग्नितत्व में लीन हो जाता है, इसी प्रकार विषय और कर्मों से आसक्त हुआ मन तरह-तरह की वृत्तियो का आश्रय लिये रहता है और इनसे मुक्त होने पर वह अपने तत्व में लीन हो जाता है।

श्रीमद्भा. ५-११-८

ज्ञान विशुद्ध परमार्थमेक मनन्तरत्व बहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्त भगवच्छब्दसज्ञ यद् वासुदेव कवयो वदन्ति॥
रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसानैव जलाग्निसूर्यै विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

विशुद्ध, परमार्थ रूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहर के भेद से रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तिर्वर्ती और सर्वथा निर्विकार है। वही भगवान है, वासुदेव है।

महापुरुषों की चरण-धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथि-सेवा, दीन-सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि, या सूर्य की उपासना या किसी भी साधना से यह परमात्मज्ञान प्राप्त नही हो सकता।

श्रीमद्भा. ५-१२-११, १२

परम भागवत शुकदेव

'जिन महापुरुषो के चित्त में उत्तमश्लोक हरि के पादपद्मो की छाया ने संसार के तुच्छ भोगो से विरक्ति उत्पन्न कर दी है, उनमें कुटुम्बी होने की स्पृहा नहीं होती।'

--श्रीमद् भागवत

परम भागवत शुकदेव का नाम भगवद्भक्ति के इतिहास में अमर है, वे उच्च कोटि के ज्ञानी भक्त थे, उन्होंने मृत्यु पर अमरता की विजयिनी भागवत पताका फहरायी, आत्मा का परमात्मा के भक्ति राज्य में प्रवेश कराने में ही उन्होंने अपनी आत्मशान्ति स्थिर की। द्वापर और कलियुग की सीमा पर उन्होने भगवद्भक्ति की स्वर्णिम दीवार उठा कर मानवता की पाप और अज्ञान के तामस राज्य में जाने से रक्षा की। उन्होने विश्व को भागवत साहित्य सुनाया, भागवती कथा का दान किया। भक्ति के बारह आचार्यो में उनकी गणना होती है। वे भक्त परमहस थे। उन्होंने परम शुद्ध, अत्यन्त गोपनीय भागवत धर्म का मर्म समझा कर प्राणियो को भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराया।

उनके प्राकट्य के कुछ समय पहले ही भगवान श्री कृष्णने महाभारत के युद्ध के फलस्वरूप दुर्योधन के प्रवृति-राज्य को मिटा कर युधिष्ठिर की धर्ममूलक निवृत्ति-सत्ता की स्थापना करायी थी। महाभागवत शुकदेव ने भरतश्रेष्ठ परीक्षित् को गगा के परम पवित्र तट पर श्रीभागवत की कथा सुनाकर तक्षक के दशन-भय की ज्वाला शान्त कर उन्हें वैकुण्ठ में निश्चित जाने का साधन बताया था। उस समय पाप और पुण्य, असत्य और सत्य तथा अधर्म और धर्म में विकट सघर्ष हो रहा था। चारो ओर कलि का प्रभाव स्पष्ट दीख पडता था। द्वापर और कलियुग के सन्धिकाल में शुकदेव ने लोगों

को भागवतधर्म समझाया। भागवत विधान की रक्षा कर वैदिक और शास्त्रीय मर्यादा अक्षुण्ण रखी। शुकदेव ने आत्मारमण को भगवदाकारता के अलकार से समलङ्कृत किया। भगवद्भक्ति के असीम रससागर में वे मग्न हो गये। शुकदेव जी नितान्त भगवत्स्वरूप और भागवताचार्य थे।

शुकदेव के जन्म और कर्म दिव्य तथा असाधारण थे। श्रीमद् भागवत तथा अन्य पुराणो में कल्पभेद के अनुक्रम से उनके जन्म की कथायें विभिन्न रूप में मिलती है। वे भगवान के लीलाचिन्तको में अत्यन्त मौलिक और महत्वशाली भागवत यन्त्र स्वीकार किये जाते है।

शुक का पृथ्वी पर प्राकटच उनके पिता महर्षि व्यास के तप-स्वरूप शकर जी की प्रसन्नता से हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि व्रज में भगवान श्रीकृष्ण के लीलाविग्रह धारण करने पर गोलोक से लीलाशुक का अवतरण हुआ। कैलास पर शकर पार्वती को भग-वान की अमरत्वप्रदायिनी लीला सुना रहे थे। शुक उसी स्थान पर समासीन होकर भागवती कथा का रसास्वादन कर रहे थे। पार्वती कथा में आत्मविभोर हो गयी थी और आशका थी कि हुँकारी के अभाव में शकर कथा बन्द कर देते इसलिये कथा के प्रवाह-क्रम को अक्षुण्ण रखने के लिये शुकदेव हुँकारी भरते गये। शकर को जब यह ज्ञात हुआ कि कथा एक ऐसे पक्षी, देहधारी ने सुन ली है जो श्रवण-अधिकारी नही था, वे त्रिशूल लेकर मारने दौडे। शुक उडते हुए व्यास के आश्रम में पहुँच गये और उनकी पत्नी के मुख से उदर मे प्रवेश किया, लीलाशुक के जन्म-ग्रहण की यह दिव्य कथा है। ऐसा भी उल्लेख है कि महर्षि व्यास पुत्र के अभाव से दुखी थे। यद्यपि वे वीतरागी महात्मा थे तो भी सन्तान-प्राप्ति में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। उन्होने सौ वर्ष तक शकर की प्रसन्नता से पुत्रप्राप्ति करने के लिये सुमेरु-शिखर पर तप किया। शकर और पार्वती ने अपनी विहार-स्थली मे प्रकट होकर उन्हे सन्तान-प्राप्ति का वरदान दिया। इसी प्रकार ऐसा भी कहा जाता है कि एक वार व्यास अरणिमन्थन कर रहे थे। महाभारत में ऐसी कथा है कि अरणिमन्थन के समय उनकी दृष्टि घृताची अप्सरा पर पड गयी।

उसके सौन्दर्य ने व्यास का मन मुग्ध कर लिया । अरणी के काष्ठ पर उनका वीर्य स्खलित हुआ। पर मन्थन का क्रम चलता रहा। इस वीर्यस्खलन के रूप में शुकदेव का जन्म हुआ।

शुकदेव बारह साल तक गर्भस्थ रहे। उनका दृढ विश्वास था कि जब तक जीव गर्भस्थ रहता है तब तक ज्ञान प्रकाशित रहता है और गर्भ से बाहर आते ही उसे माया-मोह आदि घेर लेते है। वह सत्य भलकर असत्य के भ्रम में पड जाता है। उसके लिये ससार मे आते ही सगे-सम्बन्धी आत्मविस्मरण का पथ प्रशस्त कर देते है। देवर्षि नारद के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण से आश्वस्त होकर शुकदेव गर्भ से बाहर आये। उनका शरीर दिव्य वर्ण का था। गगा ने प्रकट होकर उनका अभिषेक किया। तुम्बरू और नारद आदि उनकी स्तुति करने लगे। वायुदेवता ने पुष्प-वृष्टि की। शुकदेव तत्काल सन्यास-ग्रहण के लिये वन की ओर चल पडे। परम कोमल सुकुमार सन्तान को वन की ओर जाते देख कर महर्षि व्यास विरह से व्याकुल हो उठे। वे शुकदेव के पीछे-पीछे 'पुत्र-पुत्र' पुकारते चल पडे। उन्होने विह्वल होकर कहा कि यह तो बालक्रीडा का समय है, सन्यास का समय तो बहुत दिनों के बाद आता है। शुकदेव आत्ममय थे, वृक्षो ने उनकी ओर से व्यास के वचनो का उत्तर दिया।

व्यास शुकदेव के पीछे चले जा रहे थे कि एक विलक्षण घटना से वे आश्चर्य चकित हो गये। वन में एकान्त सरोवर में कुछ देवाङ्गनायें स्नान कर रही थी। व्यास जी को आते देख कर उन्होने शीघ्रता से वस्त्र पहन लिये। व्यास जी ने कहा कि मेरा पुत्र युवक है, दिगम्बर है, इसी मार्ग से अभी-अभी गया है। तुम लोगो ने जलक्रीडा का क्रम प्रचलित रखा पर मुझ वृद्ध के प्रति इस प्रकार का लज्जाभाव मुझे उत्तरोत्तर विस्मित कर रहा है।

देवाङ्गनाओ ने कहा कि महर्षि, आप में अभी स्त्री-पुरुष का भेद है पर आपके आत्मज्ञानी पुत्र शुकदेव की दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भाव नही है, वे सर्वात्मबोधस्वरूप है। उनके सम्मुख वस्त्र का पहिनना या न पहिनना दोनो समान है।

व्यास लौट आये। वे आत्मज्ञानी और परमदार्शनिक तथा भगवत्त्व के ज्ञाता थे इसलिये उनके मन को पिता-पुत्र का सम्बन्ध विक्षुब्ध न कर सका। व्यास जी की बडी अभिलाषा थी कि वे शुकदेव को शास्त्रीय ज्ञान दें। यद्यपि शुकदेव आत्माराम-ब्रह्मनिष्ठ थे तो भी व्यास उनको श्रोत्रिय बनाना चाहते थे। एक बार वन में व्यास के शिष्य भगवान की लीला का एक श्लोक गा रहे थे। आत्माराम शुक को यह श्लोक बहुत अच्छा लगा। श्लोक तो व्यास ने शुक को अपने पास बुलाने के लिये ही रचा था, शुक ने उनके पास आकर भगवल्लीला का ज्ञान प्राप्त किया।

व्यास के रमणीय आश्रम में रह कर जातविरक्त शुकदेव ने अध्ययन आरम्भ किया, स्वाध्याय के रसास्वादन में आत्मोपासना करने लगे। थोडे ही समय में उन्होने मोक्ष के मार्ग की जानकारी प्राप्त कर ली। शुकदेव को आत्मशान्ति की परमावश्यकता थी। आत्मशान्ति की खोज में वे अपने पिता महर्षि व्यास के आदेश से मिथिलानरेश जनक से मोक्ष का स्वरूप समझने गये। जनक आत्मदर्शन के बहुत बडे ज्ञाता और परम योगनिष्ठ थे। शुकदेव आत्मा के राज्य में विचरण करने वाले विषय-सुख, मानापमान से परे उच्च कोटि के महात्मा थे। उन्होने मिथिला में प्रवेश किया। नगर में प्रवेश करते ही उनकी परीक्षा आरम्भ हुई। पहले राजद्वार पर पहुँचते ही द्वारपालो ने उन्हे भीतर जाने से रोक दिया। शुकदेव के मन में इससे कोई आत्मग्लानि नही हुई। महायोगी शुक भूख-प्यास से रहित होकर धूप में बैठ गये और ध्यानावस्थित हो गये। थोडे समय में दूसरे द्वारपाल ने सम्मानपूर्वक राजमहल के दूसरे कक्ष में उनका प्रवेश कराया। अन्त पुर से सम्बन्धित चैत्ररथ वन के समान एक रमणीय उपवन में एक सुन्दर आसन पर बैठ गये। राजा जनक ने आगमन की सूचना पाकर उनके हार्दिक भाव को समझने के लिये अनेक रमणियो को सेवाकार्य में नियुक्त किया, शुकदेव कामिनी-कचन से अतीत थे। उनके वेश परम रमणीय और मनोहर थे, वे पूर्ण तरुणी थी। उनके वस्त्र लाल रग के थे, मनोहर और चित्ताकर्षक थे। उनके शरीर पर सोने के आभूषण चमक रहे थे, उनकी कान्ति प्रतिक्षण बढती जा रही थी। उन्होने

शुकदेव के लिये पाद्य और अर्घ्य आदि प्रस्तुत किये। भोजन आदि से तृप्त किया। एक युवती ने उनको अपने साथ ले जाकर अन्त-पुर का वन दिखलाया। शुकदेव परम वैराग्यसम्पन्न थे, इन सब वातो का उनके मन पर तनिक भी प्रभाव नही पडा। दूसरे दिन राजा जनक मन्त्रियो सहित शुकदेव का स्वागत करने आये, उन्होंने अमित विनम्रता, श्रद्धा और सहृदयता से अवधूत का स्वागत किया। उनकी यथोचित पूजा कर बैठने के लिये रत्नसिंहासन प्रदान किया। शुभागमन का कारण पूछा। शुकदेव ने कहा कि मै अपने पिता की आज्ञा से आप से मोक्षतत्व समझने आया हूँ। मुझे कर्तव्य का प्रकाश दीजिये। राजा जनक ने कहा कि ज्ञान-विज्ञान के विना मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। गुरु ससार सागर से अपनी ज्ञान-नौका द्वारा पार उतार देते हैं। सत्कर्मो का अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ अकर्मो की आसक्ति का त्याग हो जाने पर मोक्ष मिलता है। आत्मज्योति का प्रकाश भीतर ही है। यह सम्पूर्ण प्राणियो के भीतर समान रूप से स्थित है, समाधिस्थ होने पर उसका दर्शन होता है। जिनसे दूसरा कोई प्राणी नही डरता है, जो स्वय किसी दूसरे प्राणी से भयभीत नही होते है तथा इच्छा-द्वेप से रहित हो गये है वे ब्रह्मभावापन्न हैं। जो प्राणी, मन, वाणी और क्रिया से किसी की भी बुराई नही करते हैं वे ब्रह्मरूप हैं। मोह में डालने वाले काम, ईर्ष्या और लोभ का त्याग कर जो तप में लग जाते हैं वे ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार अन्धकार से व्याप्त घर दीपक के प्रकाश से प्रकाशित होता है उसी प्रकार बुद्धिरूपी दीपक की सहायता से आत्मा का दर्शन होता है। जनक ने शुकदेव से कहा कि आप की स्थिति मोक्ष में है, आप ज्ञान-विज्ञान के ऐश्वर्य से पूर्ण सम्पन्न हैं। शुकदेव बुद्धि-द्वारा आत्मसाक्षात्कार कर ब्रह्मानन्द में मग्न हो गये। उन्हें परम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव हुआ। जनक से अध्यात्म-विद्या का उपदेश पाकर वे अपने पिता के आश्रम को लक्ष्य कर हिमालय की ओर चल पडे। उन्होंने पिता को आदरपूर्वक प्रणाम किया। व्यास ने उनका प्रेमालिंगन किया। शुकदेव ने लम्बे समय तक अपने पिता के पास रह कर वेदों का अध्ययन किया। उन्होंने दिव्यदृष्टि प्राप्त की। व्यास ने शुकदेव को परम रसमय भागवत-

शास्त्र पढाया। वे भागवतरस के समुद्र में मग्न हो उठे। आत्म-ज्ञान की गगा में व्यास की सरस्वती ने प्रेम की कालिन्दी उत्पन्न कर शुकदेव को भगवद्भक्ति प्रदान की।

शुकदेव ने गगा के तट पर मृत्युशापग्रस्त परीक्षित् को भागवत सप्ताह सुनाकर अमरता का सन्देश दिया था। परीक्षित् अर्जुन के पौत्र थे। पाण्डवो के महाप्रस्थान के वाद वे पृथ्वी का शासन करने लगे। उन्होंने कलियुग का दमन किया। एक वार वन में मृगया खेलते समय उन्हे प्यास लगी। उन्होने शमीक ऋषि के आश्रम में पहुँच कर पानी मागा, ऋषि ने मौनव्रत लिया था इसलिये राजा ने अज्ञानपूर्वक उनके गले में एक मृतक साँप लटका दिया। राजधानी में लौट आये। शमीक के पुत्र ने राजा को सातवे दिन तक्षक द्वारा डसे जाने का शाप दे दिया। राजा परीक्षित् शाप की सूचना पाते ही राज्य जन्मेजय को सौंप कर गगातट पर चले गये। उन्होने आमरण अनशनव्रत लेकर श्रीकृष्ण में ध्यान लगाया। वडे-वडे ऋषि-महर्षि उनकी मृत्यु-लीला देखने के लिये उपस्थित थे। अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, अगिरा, पराशर, गौतम आदि का आगमन वातावरण में पवित्रता और दिव्यता का सचार कर रहा था। उसी समय गगातट पर परमभागवत शुकदेव का आगमन हुआ। शुकदेव ने परम वैष्णव परीक्षित् पर वडी कृपा की। शुकदेव वर्णाश्रम के बाह्य चिह्नों से रहित थे, आत्मानुभूति में सतुष्ट थे, सोलह साल की अवस्था थी, शरीर की श्याम कान्ति वडी मादक और दिव्य थी। लोगो ने उन्हें यथेष्ट सम्मान दिखाया, परीक्षित् ने प्रणाम किया, उनके सुकुमार अग की मृदुता और घुँघराले वालो की श्यामता से लोग विमुग्ध थे। परम आत्मतेज में वे रमणशील थे। परीक्षित् ने उनसे पूछा कि जो मरणासन्न है उसे क्या करना चाहिये। ब्रह्मस्वरूप शुकदेव ने परीक्षित् के प्रश्नों का उचित उत्तर दिया, उनकी शकाओ का आत्मज्ञान और भागवत रस के प्रकाश में समाधान किया। अमरता का सन्देश सुनाया। सात दिनो में सम्पूर्ण भागवत पुराण सुनाकर उन्हे मृत्यु से अभय कर भगवान की भक्ति से सचेत और सावधान कर दिया। यद्यपि शुकदेव जी किसी गृहस्थ के घर उतनी देर से अधिक

नही ठहरते थे जितनी देर में गाय दुही जाती है तो भी उन्होने परीक्षित् पर सात दिनों तक अहैतुकी कृपा की। निस्सन्देह गगातट पर सुनाये गये भागवत के श्लोक मृत्यु पर विजय पाने के ब्रह्मास्त्र है, अमोघ साधन है। श्रीभागवत पुराण अमरता का साहित्य है, परमयोगी शुकदेव की साधनाकल्पलता का अमर फल है।

उन्होने भागवत शास्त्र का प्रचार किया। निस्सन्देह भागवत वेदरूपी कल्पवृक्ष का सरस फल है। शुकदेव रूपी शुक के मुखसम्वन्ध से यह परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण मूर्तिमान् रस है। परम भागवत शुकदेव की यह वहुत वडी देन है।

व्यास के आकाशगगा के तट पर चले जाने पर एक वार शुकदेव ने नारद से कल्याण का मार्ग पूछा; उन्होंने कहा कि ऐसा उपाय वताइये कि ससार मे न आना पडे। नारद ने समाधान किया। शुकदेव कैलास पर्वत पर गये। पूर्व दिशा की ओर मुख करके वैठ गये। सूर्योदय काल था, वे सूर्य मण्डल में लीन हो गये, उन्होने परम गति प्राप्त की। व्यास इस दृश्य से विह्वल हो गये। भगवान शकर की कृपा से उन्होने शुकदेव का छाया-दर्शन किया। शकर ने साक्षात् प्रकट होकर व्यास को आश्वासन दिया कि जव तक जगत में समुद्र और पर्वत की सत्ता है, तव तक उनकी कीर्ति अमर रहेगी। शुकदेव के प्राकट्य और परमगति-प्राप्ति—दोनो-के-दोनों दिव्य और रहस्य पूर्ण है।

वाणी

एतावान् साख्ययोगाभ्या स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभ पर पुसामन्ते नारायणस्मृति ॥

मनुष्य के जन्म का यही, इतना ही लाभ है कि चाहे जैसे हो, ज्ञान से, भक्ति से अथवा अपने धर्म की निष्ठा से जीवन को ऐसा वना लिया जाय कि मृत्यु के समय भगवान की स्मृति अवश्य वनी रहे।

श्रीमद्भा. २-१-६

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वस ।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहा देहेऽनु ये च तम् ॥

मृत्यु का समय आने पर मनुष्य घबडाये नही। उसे चाहिये कि वैराग्य के शस्त्र से शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वालों के प्रति ममता को काट दे—आसक्ति मिटा दे। **श्रीमद्भा २-१-१५**

न ह्यतोऽन्य शिव पन्था विशत ससृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥

ससार-चक्र में पडे हुए मनुष्य के लिये, जिस साधन के द्वारा उसे भगवान श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाय, उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नही है। **श्रीमद्भा. २-२-३३**

पिबन्ति ये भगवत आत्मन सता कथामृत श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशय व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥

सन्त पुरुष आत्मस्वरूप भगवान की कथा का मधुर अमृत बाँटते ही रहते है। जो अपने कान के दोनों में भर कर उसका पान करते है, उनके हृदय से विषयो का विषैला प्रभाव जाता रहता है, शुद्ध हो जाता है, वे भगवान के चरणकमलो की सनिधि प्राप्त कर लेते है। **श्रीमद्भा २-२-३७**

श्रुत सकीर्तितो ध्यात पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणा धुनोति भगवान् हृतस्थो जन्मायुताशुभम्॥

भगवान के रूप, गुण, लीला, धाम और नाम के श्रवण, सकीर्तन, ध्यान, पूजन और आदर से वे मनुष्य के हृदय में आकर विराजमान हो जाते है। असख्य जन्म के पाप के ढेर-के-ढेर भी क्षण भर में भस्म कर देते है। **श्रीमद्भा १२-३-४६**

ससारसिन्धुमतिदुस्तर मुत्तितीर्षो
र्नान्य प्लवो भगवत पुरुपोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुसो भवेद् विविधदु खदवार्दितस्य॥

जो लोग अत्यन्त दुस्तर ससार-सागर से पार जाना चाहते है अथवा जो लोग अनेक प्रकार के दुखदावानल से दग्ध हो रहे है, उनके लिये पुरुपोत्तम भगवान के लीलाकथारूपरस के सेवन के अतिरिक्त और कोई साधन-नौका नही है। केवल लीलारसायन के सेवन से ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते है। **श्रीमद्भा १२-४-४०**

महात्मा बुद्ध

'धर्म-दान सब दानों से श्रेष्ठ है, धर्म-रस सर्वोतम रस है। धर्म-रति परम रति है। तृष्णा-क्षय समस्त दुखों पर विजयी होता है।'

—धम्मपद

महात्मा और सन्त सदा सत्य और आत्मा का चिन्तन करते है, वे नश्वर ससार में रहते है पर ससार को अपने मन में नही भरते है। वे आत्मदान को ही परम शान्ति और लोक-कल्याण का महान साधन मानते है। वे प्रत्यक्ष—ससार के स्वरूप को जानते है और अप्रत्यक्ष—आत्मा अथवा परमात्मा से सम्बन्ध जोड कर विश्वासपूर्वक सच्चिदानन्द में रमण करते है। लगभग ढाई हजार साल पहले की बात है कि हिमालय की तलहटी मे कपिलवस्तु में महात्मा गौतम बुद्ध का अवतरण हुआ। उन्होंने अपने आत्मज्ञान अथवा सबोधि से केवल कोशल, मगध और, काशी के जनसमूह का ही कल्याण नही किया, समस्त विश्व को ससार की नश्वरता और परम शान्ति की आवश्य-कता का पाठ पढाया। उनका आत्मसन्देश सनातन, चिरन्तन और अमिट है। उनके जीवन-काल में वडे-वडे सम्राटो और शासको ने, वडे-वडे ज्ञानमहारथी और दार्शनिको ने तथा वडे-वडे महात्माओ और सन्तों ने उनके सत्य-धर्म का वरण किया। विलक्षणता तो यह है कि उनके महानिर्वाण से लेकर आज तक धरती उनके आत्मज्ञान से हरीभरी है। चीन, जापान, ब्रह्मदेश, सीरिया तथा अन्य भूभागो में बौद्ध धर्म फूलता-फलता आ रहा है, अशोक ऐसे शक्तिशाली सम्राट ने, हर्ष ऐसे महाराजाधिराज ने, समुद्रगुप्त ऐसे दिग्विजयी महाशासक ने इसके प्रति पूर्ण रुचि, सहानुभूति और उदारता दिखायी, अश्व-घोष ऐसे महाकवि ने, वसुवन्धु, असग, नागार्जुन ऐसे महादार्शनिको ने इसका चिन्तन किया। फाहियान, व्हेनसाग तथा इत्सिग ऐसे धर्म-

प्रेमी विदेशी यात्रियो ने बौद्ध धर्म के महासागर के सारनाथ, कुसीनगर, लुम्बिनी, नालन्दा आदि तटों पर अपने जीवन के जहाज़ स्थित किये। विचित्रता तो यह है कि वैराग्यरागरसिक परम सन्त व्यास ने अपने भागवत पुराण में महात्मा बुद्ध को भगवान का अवतार स्वीकार किया। बारहवी शती में रसिक सन्त कवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द काव्य में भगवान बुद्ध का भागवत अवतार के रूप में स्तवन किया। पृथ्वी से अविद्या-अन्धकार का अन्त करने के लिये तथा प्राणियों में सत्य, शान्ति और कल्याण की प्रतिष्ठा करने के लिये ही महात्मा बुद्ध ने जन्म लिया था।

महात्मा बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु राज्य के लुम्बिनीउपवन में विक्रमीय सम्वत से ५०० साल पहले महारानी मायावती के गर्भ मे हुआ था। उस समय महारानी अपने नैहर जा रही थी। मार्ग केले के स्तम्भ, बन्दनवार, जलपूर्ण कलश और गगन चूमने वाली ध्वजा-पताकाओं से शोभित था। महारानी रत्नजटित सोने की पालकी में थी, लुम्बिनीउपवन में प्रवेश करते ही शालतरु के नीचे उनके गर्भ से बुद्ध प्रकट हुए। वे सर्वथा शुद्ध और चिन्मय थे। महाब्रह्मा ने सोने के जाल में उन्हें ग्रहण किया, कोमल मृगचर्म मे रखा, रेशमी वस्त्र में लपेट कर मनुष्य के हाथ में दिया। शिशुरूप में बुद्ध पृथ्वी पर खडे हो गये, उत्तर दिशा की ओर सात बार गमन कर उन्होंने कहा

मै ससार में अग्रणी हूँ।
मैं ससार में श्रेष्ठ हूँ।
मै ससार में अतुल हूँ।
मै ससार के लोगों को बोधिज्ञान दूँगा।
मै ससार के लोगो को मुक्त करूँगा।
मै ससार के लोगों का उद्धार करूँगा।
मै अपना उद्धार करूँगा।

उनके पिता महाराजा शुद्धोदन ने असख्य द्रव्य-दान किया, बडे-बडे उत्सव किये। बुद्ध के उत्पन्न होते ही दिशायें दिव्य हो उठी, चारों ओर मगल का साम्राज्य छा गया। उनके जन्म के पहले ही

ज्योतिषियो ने घोषणा की थी कि गर्भस्थ कुमार बडे तेजस्वी और प्रतापी होगे, बडे-बडे चक्रवर्ती सम्राट और धर्म-गुरु उनके चरणो में विनत होगे और समस्त ससार उनका आदर करेगा। सात दिन के बाद कुमार की माता का परलोकवास हो गया। उनके लालन-पालन और भरण-पोषण का भार सौतेली माता प्रजावती ने सम्हाला। कुमार का नाम सिद्धार्थ रखा गया।

सिद्धार्थ शुक्ल पक्ष की चन्द्रमा के समान धीरे-धीरे बढने लगे पर वे साधारण बालको की तरह क्रीडासक्त नही थे। उनका मन खेल आदि में नही लगता था। उनके खेलने के लिये बहुमूल्य चन्दन और औषधि से भरे रत्नहार, मृगयुक्त छोटे-छोटे स्वर्णरथ, स्वर्ण के हाथी, छोटे-छोटे घोडे और स्वर्ण पुतली तथा अन्य सामान थे पर उनका मन इनमें लगता ही नही था। पाच साल की ही अवस्था से उन्हे अक्षरज्ञान का अभ्यास कराया जाने लगा। युद्धविद्या, बाणविद्या और घोडे की सवारी की कला में उन्होने अल्प वयस मे ही निपुणता प्राप्त कर ली थी। उनमें बचपन से ही दैवी गुणो का पोषण आरम्भ हो गया। जीवो के प्रति दया का भाव दृढ हो गया। उनके बचपन का साथी देवदत्त उनसे जलता था। एक बार खेल-ही-खेल में देवदत्त के बाण से घायल होकर एक हस पृथ्वी पर गिर पडा। सिद्धार्थ का हृदय उसकी पीडा से द्रवित हो उठा, उन्होने हस को गोद में रख कर बडे प्यार से बाण निकाल कर बाहर किया। लहू पोछ कर उसका शरीर अपनी कोमल अगुलियों से सहलाया। देवदत्त द्वारा हस मागने पर उन्होने निर्भयतापूर्वक कहा कि यह हस हमारा हो गया, मैंने इसकी रक्षा की है। जीव मारने वाले की अपेक्षा जीव की रक्षा करने वाले का अधिकार जीव पर अधिक होता है।

कुमार को राग-रग में अनासक्त होते देखकर महाराज शुद्धोदन की चिन्ता बढने लगी। उन्होने कुमार का विवाह करने का निश्चय कर लिया, उन्हे भय था कि कही ऐसा न हो कि सिद्धार्थ सन्यास ले ले। देवदह की राजकुमारी यशोधरा से उनका विवाह कर दिया। राग-रग और भोग-विलास में जीवन बीतते देखकर उन्होने सोचा कि मै ससार में किसी असाधारण कार्य के लिये आया हूँ। विनश्वर

वस्तु से सम्बन्ध होना तो राग है—अविद्या है। कभी-कभी वे एकान्त में बैठ कर गम्भीर चिन्तन किया करते थे कि मेरे ही समान ससार के दूसरे लोग सुखी और भोगी तथा विलासी नही है। मेरा कर्तव्य है कि मै सबको सुखी और आनन्दित करूँ।

एक दिन कुमार ने नगर-उद्यान देखने का विचार किया। शुद्धोदन ने प्रयत्न किया कि नगर में कोई भी भूखा न दीख पडे, कोई बूढा कुमार के सामने न आये और न कोई दुखद घटना ही घटे जिससे कुमार के मन में वैराग्य का उदय हो। कुमार ने सारथी को रथ लाने का आदेश दिया। उत्तम स्वर्ण रथ अलकारो से सजाया गया, श्वेत कमलपत्र के समान चार मगल-सिन्धुदेशीय घोडे जोते गये। कुमार रथ पर आरूढ होकर चल पडे। मार्ग पर श्वेत पुष्प बिखरे थे, वन्दनवार और चचल पताकायें पथ की शोभा बढा रहे थे। स्त्रिया प्रकोष्ठो में स्थित होकर उनके दिव्य सौन्दर्य से अपने नेत्र शीतल कर रही थी। कुमार के सबोधि-लाभ मे ये राग-रग बहुत बाधक थे। देव-प्रेरणा से उन्हे इस विहार-काल मे विचित्र शकुन दीख पडे।

कुमार ने मार्ग में जरा से आक्रान्त पुरुष देखा, उसके दाँत टूटे हुए थे, केश श्वेत थे, हाथ में लकडी थी, शरीर अवनत था। सिर काँप रहा था। कुमार ने ऐसा पुरुष पहले नही देखा था। सारथी ने कुमार का समाधान किया। वे सोचने लगे कि जन्म लेने वाले को धिक्कार है जिसे ऐसी बुढापा सताती है। वे चिंतित होकर लौट आये। दूसरे दिन उद्यान-विहार के लिये जाते समय कुमार ने रोगी पुरुष देखा। तीसरे दिन मृत व्यक्ति को देखा। मन ग्लानि और शोक से सविग्न हो उठा। चौथे दिन चीवरयुक्त एक प्रव्रजित सन्यासी को देखा। उनकी प्रव्रज्या में रुचि बढ गयी। सन्यास के प्रति मन में अनुराग उत्पन्न हुआ। उनके अभिनिष्क्रमण का समय निकट था। उद्यान-विहार में राग-रग के सब सामान थे पर वे उन्हे बन्धन के समान दीख पडे। कुमार नगर से राजप्रासाद में प्रवेश ही कर रहे थे कि कृशा गौतमी ने उनको पुत्र-जन्म का सन्देश दिया। परम शात स्थिति का निरूपण किया। 'पुत्र राहु है, बन्धन है',—कुमार की अनासक्ति बढती गयी। उन्होने सोचा कि परमशात पिता-माता-नारी-

पति की स्थिति का सन्देश मेरे लिये मगलमय है। रागरूपी अग्नि के शात होने से दोष-अग्नि शात होती है। दोषाग्नि के शात होने पर मोह शात होता है, मोह के शात होने पर अभिमान मिटता है, अभिमान मिटने पर परमशाति मिलती है। उन्होने एक कीमती हार कृशा गौतमी को उपहार दिया।

उनका मन खिन्न था। उन्होने पिता से सन्यास लेने की बात कही कि यदि आप मुझे विश्वास दें कि मै कभी मरूँ नही, बूढा न होऊँ, रोगी और दरिद्र न होऊँ तो गृहत्याग का सकल्प छोड सकता हूँ। शुद्धोदन निरुत्तर थे। कुमार ने कहा कि मै उस बोधि-ज्ञान को प्राप्त करूँगा जिससे जरा-मत्यु-व्याधि से ग्रस्त दु:खित जीवो का उद्धार कर सकू।

कुमार अपने शयनकक्ष में जाकर पलग पर लेट गये। यौवन-मद से मत्त युवतिया अनेक राग-रग से उनका मन बहलाने के लिये उपस्थित थी। कुमार सो गये। स्त्रियो ने सोचा कि जिनका मनोरञ्जन हमारा कर्तव्य है वे सो गये। वे भी सो गयी। कुमार सचेत हो उठे। उन्होने युवतियो के नश्वर रूप का निरीक्षण किया। किन्ही के मुख से कफ निकल रहा था, किन्ही के शरीर लार से प्लावित थे। कुमार की विरक्ति और भी दृढ हो गयी।

कुमार ने छन्दक को घोडा लाने का आदेश दिया और कहा कि मै महाभिनिष्क्रमण करूँगा। राजप्रासाद के नश्वर शृगार, वैभव और मद काँप उठे। कुमार ने यशोधरा के शयन-कक्ष में प्रवेश किया, अनासक्ति और वैराग्य उनके साथी थे। प्रिय वस्तु से वियोग की घडी आ गयी। दीप जल रहे थे। राजरानी यशोधरा बेली-चमेली की शय्या पर सो रही थी। सात दिन के नवजात राहुल के मस्तक पर रानी के हाथ थे। कुमार ने सोचा कि यदि राहुल को अकस्य कर प्यार दूँगा तो रानी जाग जायेंगी, इसलिये प्रव्रज्या के बाद ही नवजात का मुख देखूँगा। वे चौखट पर ही थे। नीचे उतर आये, छन्दक कन्थक घोडे को सजा कर प्रतीक्षा कर रहा था।

'तात कन्थक, मै तेरी सहायता से बुद्ध होकर देवता समेत समस्त लोको को तारूँगा।' वे घोडे की पीठ पर सवार हो गये। वह अठारह

क्लेश है। दुख का मूल कारण सासारिक पदार्थों में आसक्ति है। मोक्ष-प्राप्ति का उपाय आत्मसयम और इन्द्रिय-निरोध है। निर्वाण-प्राप्ति के लिये सत्य-व्यवहार, मृदु-भाषण, उच्च उद्देश्य, सत्य-विश्वास, सत्य-सेवा, सत्कर्म में दृढता, बुद्धि का सदुपयोग, सत्य-ध्यान ही उपाय अथवा साधन है। उरुवेला से चारिका के लिये वे वाराणसी की ओर चल पडे।

महात्मा बुद्ध ने ऋषिपत्तन में अपने प्रथम पाच शिष्यो को सत्य-ज्ञान का उपदेश दिया। काशी में सघ स्थापित किया। उन्होंने शिष्यो को आदेश दिया कि हे भिक्षुओ, ससार के हित और प्राणियों के दुखमोचन के लिये तुम लोग आदि, मध्य और अन्त में कल्याण करने वाले मेरे अश्रुतपूर्व निर्वाण धर्म का चारो ओर प्रचार करो। उनके पाच शिष्यो ने बडे आदर से स्वागत किया। उनके पाच शिष्य कौण्डिन्य, महानाम, वाष्प, अश्वजित और भद्रजित थे। बुद्ध ने सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। उन्होने धर्म की दुन्दुभी बजायी। उन्होने घोषणा की कि मेरा गुरु कोई नही है। मैंने निर्वाण प्राप्त किया है। मैंने धर्म को पूरा-पूरा समझ लिया है। मै बुद्ध हूँ। मै शान्तिमय और शोकमुक्त हूँ। तप और भोग को छोड कर मैंने मध्यम मार्ग पाया है। दुख की पहिचान करनी चाहिये। कारण का त्याग, निरोध का अनुभव और मार्ग की भावना करनी चाहिये। उन्होने भिक्षुसघ को समझाया कि शील से परिशोभित समाधि, समाधि से परिशोभित प्रज्ञा, प्रज्ञा से परिशोभित चित्त में दुखो से मुक्ति का महाफल—महालाभ होता है। उन्होंने गृहस्थो से लोकभाषा में कहा कि सुशील गृहस्थ जीवित दशा में ही महासुख का भोग करते है, उनका सुयश चारो ओर फैलता है, प्रसन्नता से समाज मे रहते है, मरने के समय चित्त उद्विग्न नही रहता है, मृत्यु के वाद स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर दिव्य सुख भोगते है। वे शिष्यो के साथ सत्य-ज्ञान के प्रचार में लग गये।

उन्होने कोशल और मगध का भ्रमण किया। गयशीर्ष पर्वत होते हुए बुद्ध ने राजगृह में प्रवेश किया। महाराज विम्वसार उनके शिष्य हो गये। राजगृह में ही बुद्ध ने सारिपुत्र और

मौद्गलायन को दीक्षा दी। कुछ दिन तक वेणुवन में विहार कर वे कपिलवस्तु आये। बुद्ध ने पीत चीवर धारण कर शिष्यो और भिक्षुओं सहित अपने पिता की राजधानी में भिक्षा मागना आरम्भ किया। महाराजा शुद्धोदन के नयन अश्रुपूर्ण हो उठे, नगर-निवासियो के शरीर रोमाञ्चित हो उठे, वैभव और विलास के महा-नगर ने वैराग्य लिया। शुद्धोदन ने कहा कि भिक्षा मागना क्षत्रिय का धर्म नही है। बुद्ध ने कहा कि हमारे बुद्ध-कुल में भिक्षा की रीति सनातन है। उन्होंने कहा कि निर्वाण-सुख ही परम सुख है, आन्तरिक अध्यात्म-आनन्द ही परमानन्द है। यह जगत विनश्वर है, जन्म-मृत्यु-दुख और श्रम से परे शाश्वत पद की खोज ही प्राणी का कर्तव्य है। सद्धर्म का आचरण ही सर्वश्रेष्ठ है। महाराज शुद्धो-दन ने महात्मा बुद्ध का भिक्षापात्र अपने हाथ में लेकर राजप्रासाद में प्रवेश कराया। बुद्ध ने शिष्यो के ससेत भोजन करने के वाद धर्मामृत का दान किया। सारिपुत्र और मौद्गलायन के साथ उन्होंने राजरानी यशोधरा के महल में प्रवेश किया। रानी ने पति की चरणधूलि मस्तक पर चढायी, वे वैराग्य के हिमालय की तरह अडिग थे। एक वार राजप्रासाद में फिर आने पर राजरानी ने राहुल को सम्बोधन कर कहा कि दिव्य तेजस्वी भिक्षुराजराजेश्वर से पैतृक सत्व मागो। बुद्ध ने राहुल को दीक्षा दी। कपिलवस्तु से बुद्ध ने कोशल राज्य में विहार किया। प्रसेनजित की राजधानी और कोशल मल्लिका को अपनी पवित्र उपस्थिति से धन्य किया। उन्होने जन-भाषा मे लोगो को सत्य के धार्मिक स्वरूप का परिज्ञान करा कर आध्यात्मिक क्रान्ति की। समस्त देश मे उनके सबोधि-ज्ञान का स्वागत हुआ। धर्म-प्रचार-काल में उनके जीवन मे विशेष घटनायें घटी थी। देवदत्त उनका जन्मजात शत्रु था। एक वार महाराजा अजातशत्रु से कुमत्रणा कर उसने बुद्ध के ऊपर नौ मन मदिरा पिला कर नीलागिरि नामक हाथी छुडवा दिया। बुद्ध भिक्षा माँगने निकले थे। हाथी वडे वेग से दौड रहा था, लोग भयभीत थे। उन्होंने रास्ते मे हटने की प्रार्थना की पर बुद्ध ने कहा कि हाथी तो हमारा मित्र है, डरने की वात ही नही है। हाथी अपनी सूँड से उनकी चरणधूलि लेकर सिर पर

चढाने लगा। वुद्ध ने उसके दाहिने गण्ड स्थल का स्पर्श किया, अभय दान दिया। वह लौट गया।

इसी प्रकार डाकू अगुलिमाल की कथा है। महाराज प्रसेनजित की राजधानी डाकू अगुलिमाल के आतक से भयभीत थी। वह यात्रियो को मार कर उनकी अगुलियो की माला पहनता था। एक बार आवस्ती मे भोजन कर बुद्ध वन के रास्ते से जा रहे थे। लोगो ने उधर जाने से रोका। डाकू ने उनको आते देखा, वे आगे वढते जा रहे थे, डाकू अपनी उपेक्षा से चिढ कर उनको मारने के लिये दौड पडा पर वह वुद्ध तक न पहुँच सका। उसे वडा आश्चर्य हुआ। उसने ठहरने का सकेत किया।

वुद्ध ने चलते-चलते कहा 'मै स्थित हूँ।' डाकू ने ठहर कर कहा कि मै अस्थित किस तरह हूँ ?

वुद्ध ने कहा कि समस्त प्राणियो के प्रति दण्ड-भाव का त्याग करने से मै स्थित हूँ। डाकू को ज्ञान हो गया। वह सुगत के चरणो पर गिर पडा। प्रव्रज्या ली। बुद्ध जेतवन में विहार कर रहे थे कि प्रसेन जित दर्शन करने गये। हो-हल्ला हो रहा था। कारण पूछने पर राजा ने कहा कि मै डाकू अगुलिमाल को दण्ड देने जा रहा हूँ, लोग उत्पीडित है। तथागत ने डाकू को सन्यासी रूप में दिखलाया। राजा आश्चर्यचकित हो गये। डाकू नगर में भिक्षा मागने जाता था, लोगों का भय जाता रहा।

एक वार श्रावस्ती में भिक्षा मागते समय नगर में एक कुए पर आनन्द ने एक तरुणी से पीने के लिये जल मागा। चाण्डाल-कन्या प्रकृति ने विवशता प्रकट की। गौतम वुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द ने कहा कि मै जाति नही पूँछता हूँ, पानी मागता हूँ। उसने पानी पिला दिया। वुद्ध ने उसे प्रव्रज्या दी, सघ में सम्मिलित कर ली गयी। श्रावस्ती के उच्च वर्ग को यह वात सहन न हो सकी। लोगो ने राजा प्रसेनजित को उत्तेजित किया। राजा से वुद्ध ने कहा कि उच्च वर्ग आसमान से नही आता है और न नीच वर्ग की विशेप जाति है। प्राणी समान है। राजा को ज्ञान हो गया।

एक बार बुद्ध भिक्षाटन कर रहे थे कि उन्हे दूर से एक स्त्री के रोने की आवाज़ सुनायी पडी। वह स्त्री किसा गौतमी थी। साँप काटने से उसका एकलौता लडका मर गया था। वह उसका शव अचल में रख कर सजीवनी खोज रही थी, वह बुद्ध के चरण पर गिर कर पुत्र का जीवन मागने लगी। तथागत ने कहा कि मै तेरे पुत्र को जिला दूँगा' यदि तू एक मुठ्ठी सरसो उस घर से ला दे जिसमे कभी किसी की मृत्यु न हुई हो। वह असफल रही। उसे जीवन की क्षणभगुरता का पता चल गया। मृत पुत्र का शव-दाह कर वह तथागत के पास लौट आयी। उमे ज्ञान हो गया कि एक-न-एक दिन सब मरेगे। महात्मा बुद्ध ने उसको भिक्षुणी-सघ में स्वीकार कर लिया।

एक बार महात्मा बुद्ध वैशाली मे अपने शिष्यों सहित अम्बपाली उपवन में विहार कर रहे थे। वैशाली की प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली यह सुनकर कि तथागत मेरे उपवन को धन्य कर रहे है, आनन्द विभोर हो उठी। वह सुगत के दर्शन के लिये श्वेत परिधान धारण कर तथा रथारूढ होकर गयी। उसने उनको शिष्यो समेत भोजन पर आमन्त्रित किया। वुद्ध ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। तथागत ने उसे धर्ममार्ग में समुत्तेजित कर कहा कि तुम्हारा चित्त आन्तरिक शुद्धि द्वारा स्थिर है पर रूपवती तरुणी में धर्मपिपासा दुर्लभ है। धर्म सर्वोत्तम मार्ग है। अम्बपाली को वैराग्य हो गया। उसने अपना रम्य अम्बपाली—उपवन तथागत के चरणो में समर्पित कर दिया। सुगत बुद्ध ने उसके वैराग्य की बडी प्रशसा की।

तथागत ने अपने परिनिर्वाण का समय सन्निकट जान कर आनन्द से कुशी नगर चलने की इच्छा प्रकट की। आनन्द ने कहा कि देव कुशीनगर छोटा स्थान है, आपको राजगृह, श्रावस्ती, काशी ऐसे प्रसिद्ध महानगर मे परिनिर्वाण प्राप्त करना चाहिये। तथागत ने समाधान किया कि कुशीनगर प्राचीन काल से ही एक बडा नगर परिगणित होता आ रहा है, इसका पहला नाम कुशावती है, मेरे निर्वाण के लिये सर्वोत्तम स्थान कुशीनगर ही है। आनन्द परि-निर्वाण की बात सुनकर दुखी हुए। वुद्ध ने आनन्द को समझाया कि अस्सी साल की मेरी आयु हो गयी है, तुम आत्मदीप, आत्मशरण,

अनन्यशरण, धर्मदीप–धर्मशरण होकर विहार करो। वैशाली मे कुछ दिन रह कर वे कुशीनगर के लिये चल पडे। मार्ग में पावा पहुँचने पर उन्होने चुन्द कर्मकार–सुनार के आम्रवन में विहार किया। चुन्द ने तथागत को शिष्यो सहित दूसरे दिन भोजन पर आमन्त्रित किया, तथागत ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। तथागत ने चुन्द के घर भोजन पाया, यह उनका अन्तिम भोजन था। चुन्द ने तथागत के लिये शकर मार्दव–एक प्रकार के नर्म चावल का मीठा खीर विशेष रूप से प्रस्तुत किया, भोजन उनके अनुकूल न पडा। खून गिरने का रोग आरम्भ हो गया। वे सूर्यास्त होते-होते पावा से कुशीनगर पहुँच गये। उन्होने आनन्द से कहा कि कुशीनगर के उपवत्तन शालवन के जोडे शाल वृक्ष के नीचे महानिर्वाण करूँगा। उन्होने भगवती हिरण्यवती नदी के तट पर शालवन में अन्तिम शय्या अपनायी। उन्होने आनन्द को सत्पदार्थ के लिये प्रयत्न करने का आदेश दिया और चक्रवर्ती सम्राट की तरह अपने शवदाह का विधान वताया। उन्होने भिक्षुओ से कहा कि प्रिय वस्तु का वियोग निश्चित है। उन्होने मल्लो को सूचित करने के लिये कि रात के पिछले प्रहर तथागत का परिनिर्वाण होगा आनन्द को भेजा। तथागत सिंहासन से शय्या पर लेटे हुए थे, चारो ओर शान्ति का साम्राज्य था। वृक्षो से विवर्ण पीले पत्ते गिर रहे थे। मल्ल उपस्थित थे। तथागत शान्त थे, चन्द्रमा रात के पिछले पहर में अपनी शीतल किरण विखेर रहा था। सर्वज्ञ बुद्ध ने अन्तिम सान्त्वना दी कि मोक्ष ही मूल पदार्थ है, शील का सार है। क्षमा सवसे वडा तप है। इच्छा दुख का मूल है, सतोप से सच्चा सुख मिलता है। सतोप परम धर्म है, आसक्ति दुख का वृक्ष है। दुख का कारण दुख है, उसके निरोध से मुक्ति मिलती है। चराचर विनाशशील है।' सयोग-वियोग से प्राप्त वस्तुओ का नाश होकर ही रहता है।

परिनिर्वाण होने पर पृथ्वी काप उठी। आकाश से भीषण उल्कापात हुआ। चन्द्रमा का प्रकाश क्षीण हो गया। नदी का जल शोक से सतप्त हो उठा। शाल वृक्ष नत हो गये। सातवे दिन उनके शिष्य महाकाश्यप के पधारने पर दाह-सस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ।

तथागत ने विक्रमीय सम्वत् से ४२० साल पहले वैशाख पूर्णिमा को रात के पिछले पहर परिनिर्वाण प्राप्त किया। मगध के अजात शत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पावा के मल्ल, कुशीनगर के मल्ल और पिप्पलीवन के मौर्य आदि ने स्तूप बनवाये।

जन्मरूपी दुख के नाश के लिये ही बुद्ध का पृथ्वी पर अवतरण हुआ था। शान्ति के लिये ससार ने उनकी शरण ली। उन्होने लोगो को श्रेय का मार्ग बताया। उन्होने आत्मा के सत्य की खोज की और उसको पाया।

उन्होने धर्म के तीन सिद्धान्तो—सब अनित्य है, सब अनात्म है, निर्वाण शान्त है—की खोज की। उन्होने कहा कि जगत परिणाम-शाली है, जगत सत्ताशून्य है, परिणाम ही सत्ता है। महात्मा बुद्ध ने पाप-नाश, पुण्य सचय और चित्त-शुद्धि पर विशेष प्रकाश डाला। वे निस्सन्देह महात्मा थे।

संकलन

महात्मा बुद्ध के उपदेशो का सकलन तिपिटक है। सूत्त, विनय और अभिधम्म तीन भागो में इसका विभाजन है। सूत्त दीघनिकाय, मज्झिम, सयुत, अगुत्तर और खुद्दक निकाय मे विभाजित है।

विनय पटिक के सूत्तविभग, खन्धक और परिवार तीन भाग है।

अभिधम्म में धम्म सगनी, विभग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञति, कथा-वत्थु, यमक, पठ्ठान सात ग्रन्थ है।

वाणी

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीघ कुदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनतनो॥

कभी शत्रुता से शत्रुता पर विजय नही होती है, वह तो मित्रता से जीती जाती है, यही सनातन धर्म (नियम) है। धम्मपद १।५।

गामे वा यदि वारञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति त भूमि रमणेय्यकम्॥

चाहे ग्राम हो, चाहे वन हो, चाहे जलमय या सूखा स्थल हो, वह स्थान आनन्दमय है जिसमें सन्त निवास करते हैं। **धम्मपद ७।९.**

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतान विवर पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्यदेसो यत्ट्ठित नप्पसहेय्य मच्चू॥

आकाश, समुद्र, गिरिकन्दरा—कही भी, पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थान नही है जिस में अवस्थित होने पर मनुष्य मृत्यु से मुक्त हो सके। **धम्मपद ९।१३.**

किच्छो मनुस्सपटि लाभो किच्छ मच्चान जीवित।
किच्छ सद्धम्म सवण किच्छो बुद्धानमुप्पादो॥

मनुष्य योनि का लाभ कठिन है, मनुष्य का जीवन दुर्लभ है, सद्धर्म-श्रवण कठिन है, बुद्धो का जन्म कठिन है। **धम्मपद १४।४**

नत्थि राग समो अग्गि नत्थि दोससमो कली।
नत्थि खन्धादिसा दुक्खा नत्थि सन्ति पर सुखम्॥

राग ही आग है, दोष-घृणा ही पाप है, अहकार-भौतिक अस्तित्व ही दुख है, शान्ति ही परम सुख है। **धम्मपद १५।६.**

अक्कोधेन जिने कोध असाधु साधुना जिने।
जिने कदरिय दानेन सच्चेन अलिकवादिन॥

अक्रोध से क्रोध, साधु से असाधु, दान से कृपण, सत्य से असत्य पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। **धम्मपद १७।३.**

एकासन एकसेय्य एको चरमतन्दितो।
एको दमयमत्तान वनन्ते रमितो सिया॥

एक ही आसन रखने वाला, एक शय्या रखने वाला, अकेला विचरने वाला, आलस्यरहित हो अपने को दमन कर अकेला ही वनान्त में रमण करे। **धम्मपद २१।१६.**

हत्थसयतो पादसयतो वाचाय सयतो सयतुत्तमो।
अज्झ तरतो समाहितो एको सतुसितो तमाहु भिक्खू॥

वह भिक्खू—भिक्षु है जो अपने हाथ-पैर और वचन सयत रखता है, जो स्वय सयत है, अपने आप में ही सुखी और सावधान है तथा एकाकी और सतुष्ट है। **धम्मपद २५।३.**

संत तिरुवल्लुवर

'प्रभो! आपने मेरे कर्म की बेड़ियो को काट दिया और मुझे अपना जन बना लिया। आप के दर्शन से मेरा जन्म सफल हो गया।'

—तिरुप्पन्नालवार

सत तिरुवल्लुवर का नाम तमिल साहित्य के इतिहास में अमर हैं, तमिल साहित्य माधुर्य का पर्याय स्वीकार किया जाता है। सन्त तिरुवल्लुवर ने अपनी मधुर वाणी से तमिल वेद 'कुरल' की रचना की। वे सत कबीर के आदि सस्करण थे। उनकी भारती ने जड-चेतन व्यष्टि और समष्टि तथा पापी और पुण्यात्मा में समान रूप से भागवती चेतना की परिव्याप्ति की अनुभूति की। सत तिरवल्लु-वर की रचना में उच्चाति-उच्च तमिल सस्कृति का परिचय मिलता हैं। कम-से-कम तीन हजार साल पहले मे ही विश्व के लोगो को तमिल सस्कृति, समाज और साहित्य की जानकारी थी। उस समय तमिल चोल और पाण्डच राज्यो का विश्व के बडे-बडे देशो से व्यापार-सम्बन्ध था और विशेषता तो यह है कि मत तिरुवल्लुवर के सम्पर्क से वाहर से आने वाले व्यापारी, राजदूत तथा विदेशी नागरिक आदि सास्कृतिक और साहित्यिक लाभ उठाते थे। तमिल सास्कृतिक समृद्धि का विवरण सम्राट अशोक के शिलालेखो में मिलता है तमिल महादेश बौद्ध विचार-धारा से प्रभावित था। मत तिरुवल्लुवर ने इन समस्त आदिकालीन सास्कृतिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक चेतनाओ का अपनी अमर रचना-कुरल के माध्यम से प्रतिनिधित्व किया, यह उनके चरित्र की बहुत बडी मौलिकता है। सत तिरुवल्लुवर के कुरल ने घोषणा की कि जन्म से सब लोग समान हैं पर कर्म की योग्यता के विचार से वे असमान हैं, कर्म के प्रभाव से मानव का स्तर दिव्य, दिव्यतर और दिव्यतम बन सकता है। सत तिरुवल्लुवर अथवा वल्लुवर ने मानवता के दिव्यीकरण पर विशेष जोर दिया।

तिरुवल्लुवर सन्त कवि थे। वे मानवता के दिव्य काव्यकार थे। उनकी प्रसिद्धि अमर है। सन्त तिरुवल्लुवर ने मद्रास-मैलापुर मे जन्म लिया था। वे हीन जाति में पैदा हुए थे पर कर्म वडे दिव्य थे। ऐसा कहा जाता है कि उनके पिता ब्राह्मण थे, माता अछूत थी। ऐसी भी मान्यता है कि जन्म तो उनका मदुरा मे हुआ था पर वे मैलापुर-मद्रास मे आकर वस गये थे। मैलापुर मे एक रमणीय उद्यान में उनका समाधिमन्दिर है, जिसमे दिव्य गुरु के रूप में सत वल्लुवर की पूजा होती है।

सत वल्लुवर गृहस्थ सन्त थे। उन्होने एक वल्लालमहिला वासुकि से विवाह किया था। उनकी पत्नी वडी सती-साध्वी और भगवद्-भक्त थी। उन्होंने सन्त वल्लुवर के आध्यात्मिक जीवन की समृद्धि-वृद्धि में महान योग दिया। थोडे ही समय के वाद पत्नी का देहान्त हो गया। सन्त वल्लुवर अपनी पत्नी के सद्गुणो पर वडे मुग्ध रहते थे। वे उनकी प्रेममधुरता, आज्ञाकारिता, शिष्टता और सेवा-भावना से वडे पसन्न थे। पत्नी के देहावसान के वाद उनके वैराग्य और भगवद्प्रेम वढ गये। वे आत्मान्वेषण और भगवान के चिंतन में लग गये। मदुरा के पाण्ड्य नरेश उनकी आध्यात्मिकता और भगवद्-भक्ति को वडी आदर-दृष्टि से देखते थे। समग्र राज्य सन्त वल्लुवर का भक्त था।

सन्त तिरुवल्लुवर की साधना उच्च कोटि की थी। सहनशीलता उनके तपोमय जीवन की सजीवनी थी। उन्होंने अपने समग्र जीवन को तपस्या की आग में तपा कर स्वर्ण के सदृश परम पवित्र वना लिया था। उन्होंने दुख सहे, कभी किसी प्राणी को भूल कर भी दुख नही दिये। उनकी एक स्थल पर उक्ति है कि जिस प्रकार आग में तपाये जाने पर सोना निखर उठता है, उसी प्रकार वडे-से-वडा दुख आने पर सन्त के सन्तत्व की पहिचान होती है।

सन्त तिरुवल्लुवर ने जीवन में सत्य को वडा महत्व दिया। उन्होने कहा कि सन्त का प्राण सत्य है। असत्य और अन्याय से कमाये गये धन का, चाहे उससे वडे-से-वडा लाभ क्यो न प्राप्त होता हो, त्याग

कर देना चाहिये–ऐसी उनकी शिक्षा है। धर्मसहत अर्थ और काम मे उन्होने मानव जीवन का श्रेय स्थिर किया। दूसरो पर कृपा करना ही परम धन है, भौतिक धन तो पापी और अन्यायी तथा व्यभिचारी के पास भी होता है, मनुष्य में परहित की भावना रहनी चाहिये –सन्त वल्लुवर की ऐसी दृढ मान्यता थी। उन्होने अपने जीवन में उदारता, परहित, सहनशीलता तथा सदाचार के भाव परिपुष्ट किये।

सत तिरुवल्लुवर का दृढ सिद्धान्त था कि आत्मनियन्त्रण–सयम से मानव स्वर्ग प्राप्त करता है, इसका अभाव उसे नरक में झोक देता है। वे भगवत्प्रेम मे सदा निमग्न रहते थे। प्रेम को वे परम पवित्र और दिव्य भाव मानते थे। उनकी कुरल मे एक स्थल पर उक्ति है कि प्रेम कुसुम से भी मृदु होता है, उसके पूर्णतम आनन्द का रसास्वादन विरले ही कर पाते है। भगवच्चिंतन के सम्बन्ध मे उनकी उक्ति है कि जिस प्रकार अक्षरो मे 'अ' है उसी प्रकार जगत में भगवान है। वे भगवत्कृपा के पूर्ण पात्र थे। उन्होने भगवान के चरणारविंद पर मस्तक नत करने को ही विद्या का सदुपयोग बतलाया। वे निष्काम भाव से भगवच्चिन्तन करते थे। सुख और दुख मे अतीत होकर भगवान के आनन्दराज्य में विचरण किया करते थे। वे पाप-पुण्य से परे होकर भगवान का मधुर नाम-कीर्तन किया करते थे। भगवान की कृपा में डूबे रहते थे। मानसिक चिंता उन्हे तनिक भी नही सताती थी। उनकी भगवत्प्रेम के सम्बन्ध में विलक्षण उक्ति है कि कल्याण स्वरूप करुणा-सागर भगवान की कृपा के बिना अपार ससार-सागर को पार करना कठिन है, जो सिर परमेश्वर के सम्मुख विनत नही होता है वह चेतनाशून्य इन्द्रिय की तरह व्यर्थ है, जो लोग हमारे स्वामी परमेश्वर की कृपा-ज्योति नही प्राप्त करते है, वे जन्म-मरण के सागर के पार नही जा सकते है। सत तिरुवल्लुवर की वाणी भगवद्रस से सम्प्लावित है। उनके श्वास-श्वास में भगवान के दिव्य प्रेम का निवास था। निस्सन्देह महात्मा वल्लुवर परम भागवत थे। उनके समस्त कर्म भगवान के चरण में समर्पित थे।

साहित्य जगत में–विशेष रूप से सन्त-साहित्य में तिरुवल्लुवर की अमर कृति कुरल को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसकी रचना लगभग

वाइस सौ साल पहले हुई थी पर यह नित्य नवीन और सब समय के लिये उपादेय है। 'कुरल' तमिल भाषा का वेद स्वीकार किया जाता है। दक्षिण भारत में ऐसी मान्यता है कि तिरुवल्लुवर के रूप में ब्रह्मा ने ही अवतार लेकर धर्म, अर्थ, काम पर कुरल में विचार किया। तिरुवल्लुवर हीन जाति के थे। उन्होने अपनी रचना—कुरल विद्वानो की सभा-सगम मे रखी पर पण्डितो ने मान्यता नही दी। मदुरा के पण्डितो की मन स्थिति से वे तनिक भी विचलित न हुए। उन्होने पण्डितो को कुरल-श्रवण के लिये आमन्त्रित किया। मन्दिर के रमणीय तडाग मे एक छोटी-सी नौका पर पुस्तक रख दी गयी, दूसरी ओर मदुरा की पण्डित मण्डली बैठी हुई थी। इसी समय एक आश्चर्यमयी घटना हुई। नाव-बेडे का वह भाग जिस पर पण्डित बैठे थे पानी में डूबने लगा और जिस भाग पर कुरल रखा गया था, जल उसका स्पर्श तक नही कर सका। पण्डितो ने ग्रन्थ का महत्व समझ लिया। वे सत तिरुवल्लुवर की विद्वत्ता के चरणो पर नत हो गये। उन्हे विश्वास हो गया कि ऊँच-नीच समस्त वर्ग को भगवच्चिंतन का समान अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक पण्डित ने कुरल और उसके रचयिता तिरुवल्लुवर का एक-एक पद से स्तवन किया। इन पदो की तिरुवल्लुवर-मालिका-नाम से प्रसिद्धि है। कुरल में सत तिरुवल्लुवर ने ज्ञान का सागर भर दिया है, एक बिंदु में भगवद्ज्ञान का सप्तसिंधु समा गया है। कुरल मानवता का सफल वाङमय है।

तिरुवल्लुवर ने जनता की भाषा में जनता के लाभ की वात वतायी। आत्मविश्वास और भगवद् भक्ति की सीख दी। वे सरल जीवन पसन्द करते थे। उनके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति दया थी, वे अहिंसा-व्रत का आचरण करते थे। वे एकमात्र परमेश्वर की सत्ता मे ही रमण करते थे, उन्होंने आत्माराम की उपासना की। वे निर्गुण, निराकार परमात्मा के उपासक थे। परमेश्वर जड-चेतन, लोक-लोकान्तर में परिव्याप्त है—ऐसा उन्होंने अनुभव किया। वे किसी सम्प्रदाय में आबद्ध नही थे, सर्वथा निरपेक्ष और सब के थे। छल, प्रपच से दूर रहने वाले सात्विक भावापन्न सन्त थे। उन्होने परमात्मा मे भक्ति मागी मुक्ति की कामना नही की। मैलापुर—मद्रास में उनका समाधि-मन्दिर अवस्थित है। सन्त—साहित्य में उनका नाम अमर है।

रचना

तिरुवल्लुवर ने तमिल वेद 'कुरल' की रचना की।

वाणी

सदाचार ही वास्तविक महत्ता है। जीवन से भी अधिक मूल्यवान है। अपने चरित्र का ध्यान रखना चाहिये, इससे अच्छा सहायक दूसरा कुछ भी नही है। महात्मा सदाचार मे कभी नही चूकते है, वे अच्छी तरह जानते है कि सदाचार की विफलता का कितना वडा दुष्परिणाम होता है। सदाचार अच्छाई का वीज है, कुत्सित जीवन अनन्त बुराइयो का सृजन करता है। जो यह नही जानते है कि किस प्रकार सदाचारपूर्ण जीवन विताया जाय, वे, भले ही उनकी शिक्षा उच्च कोटि की है, अज्ञानी है।

यह सोचना कि अमुक वस्तु सदा वनी रहेगी सवसे वडा अज्ञान है। पक्षी अपना घोसला छोडकर उड जाता है, इसी प्रकार देह और आत्मा का सम्बन्ध विनश्वर है, आत्मा देह को छोडकर चला जाता है। मृत्यु नीद है और जन्म नीद के पश्चात् जागने का नाम है।

मन की दीनता ही परम दीनता है। ज्ञानी धन की कमी को दीनता नही मानते है। मूर्खता—अरे यह क्या है! यह अहकार—अभिमान 'हम लोग ही ज्ञानी है' परम मूर्खता है।

दुख आने पर मुसकराना चाहिये। दुख पर विजय पाने का इससे वढ कर कोई दूसरा उपाय नही है। ज्ञानी की दृष्टि में दुख का स्वरूप-ज्ञान होने पर दुख की वाढ समाप्त हो जाती है। जो दुख में अ-दुखी रहते है, वे दुख के लिये दुखस्वरूप हो जाते है। यद्यपि दुख अचानक ही आ जाय तो भी ज्ञानी और भयरहित जीवात्मा के लिये दुख स्वय दुखी हो उठता है। जो प्राणी सुख में सुख की खोज नही करता है, वही दुख में दुखी नही होता है।

तमिल वेद—कुरल

महावीर स्वामी

'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये—यही ज्ञानियो के ज्ञान का सार है। अहिंसा—समता—जीवो के प्रति आत्मभाव ही शाश्वत धर्म है।'

—सूत्र कृतागसूत्र

महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी विक्रमीय सम्वत से पाच सौ साल पहले के भारत की बहुत वडी ऐतिहासिक आवश्यकता थे। उन्होने सुख-दुख के वन्धन में जकडे जीव के लिये शाश्वत दिव्य शान्ति और परम मोक्ष का विधान किया। सासारिक परिताप से उत्पीडित मानवता ने उनकी वाणी की कल्पलता की शीतल छाया में आश्वासन का श्वास लिया। महावीर स्वामी जैन धर्म के चौबीसवे तीर्थंकर थे। जैन धर्म की स्थापना ऋषभदेव ने की थी, महावीर तीर्थंकर ने उसके विकास में महान योग दिया। उन्होने जैन धर्म को पूर्ण तपोमय बना दिया।

वैशाली राज्य की सीमा पर भगवती गण्डकी नदी के तट पर क्षत्रियकुण्डनपुर नगर के राजा सिद्धार्थ थे। उनकी रानी का नाम त्रिशला था। वह विदेह प्रान्त के अन्तर्गत वैशाली नरेश चेटक की पुत्री थी। महावीर ने उन्ही दोनो को अपने पिता-माता के रूप में धन्य किया था। उनके प्राकट्य से पहले माता ने चौदह विचित्र स्वप्न देखे थे। रानी ने राजसभा में पधार कर सिद्धार्थ से एकान्त में स्वप्न-निरूपण किया। उन्होने कहा कि मैंने स्वप्न मे श्वेत हाथी देखा है, उसके चार दॉत थे। एक हृष्ट-पुष्ट साड और सिंह भी दीख पडे थे। मैंने कमल के फूल पर आसनस्थ लक्ष्मी देखी। उन्होने कहा कि मन्दार पुष्प के हार, पूर्णिमा के चन्द्र, प्रकाशित सूर्य, मछली के जोडे, जलपूर्ण स्वर्ण कलश, जलाशय, कमल के फूल, अथाह सागर,

राजसिंहासन, दिव्य रथ, नागलोक, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि का दर्शन हुआ था। राजा सिद्धार्थ ने रानी के स्वप्न की अमित सराहना की। उन्होने कहा कि यह शुभ स्वप्न है, अमित ऐश्वर्यशाली पुत्र के जन्म का परिचायक है। एक महान आत्मा के आगमन की शुभ सूचना है जो तीर्थकर है, ससार के प्राणियो का उद्धार करेगे। धर्म का प्रचार करेगे। ऐश्वर्य, शक्ति और दिव्यता मे युक्त होगे, अज्ञान-अन्धकार का नाश कर तथा अनन्त सुख का भोग कर धर्म रूपी साम्राज्य में कर्म के अशुभ परिणाम का नाश कर अपनी उपदेश-ज्योत्सना से प्राणिमात्र के परम मोक्ष-निर्वाण का विधान करेगे। स्वप्न के अनुरूप ही विक्रमीय सम्वत से पाँच सौ बयालिस साल पहले चैत मास की शुक्ला त्रयोदशी को सोमवार को उपाकाल में महावीर स्वामी ने शिशु वर्द्धमान अथवा वीर के नामरूप में जन्म लिया। शिशु का रग तपे सोने के समान था, शान्ति और कान्ति मे शरीर शोभित और गठित था। ऐसा उल्लेख है कि उनका जन्म होते ही इन्द्र ने उन्हे सुमेरु पहाड पर ले जाकर पाण्डूक नामक स्वर्गीय उपवन में शिला पर रख कर क्षीरसागर के पवित्र जल से स्नान कराया। देवो ने उन्हे दिव्य आभूपण पहनाये, मगल गीत गाये, इस प्रकार उनके दिव्य सस्कार सम्पन्न कर इन्द्र उन्हे राजप्रासाद मे रख गये। यह उनके जन्म लेने की सात्विक विचित्रता है। धीरे-धीरे वे वडे होने लगे। माता-पिता ने वडी सावधानी से उनका पालन-पोपण किया, रानी त्रिशला अत्यन्त गुणवती और सुन्दरी थी। सिद्धार्थ और त्रिशला —दोनो जैन धर्म के अनुयायी थे, उनके पवित्र सस्कारो का वर्द्धमान के विकास पर अमित प्रभाव पडा। वर्द्धमान वडे सौम्य, तेजस्वी और सुलक्षण थे। उनकी बाल्यावस्था वैभव और विलास से परिपूर्ण थी। बचपन से ही उनमें वैराग्य तप, अनासक्ति और धर्म के भाव बढने लगे, उनका मन सासारिक अनित्य पदार्थो और विपय-सुखो में तनिक भी रस नही लेता था। उनमें नित्य प्रति दिव्य गुणो की वृद्धि होने लगी।

कुमार वर्द्धमान आठ साल की अवस्था मे आमल की क्रीडा किया करते थे। नगर के बाहर अपने साथियो के साथ जाकर आम के

ससार की अनित्यता का परिज्ञान कर मन, वचन और काया पर अधिकार रखा। वे समभाव मे रहते थे। ससार को आधि-व्याधि और जन्म-मरण से जलते देख कर उसके उद्धार का रास्ता सोचा, शान्ति की खोज की। तपोमय जीवन के तेरहवे वर्ष में जमिय ग्राम नगर के वाहर भगवती ऋजुवालिका के उत्तरी तट पर वैशाख शुक्ल दशमी को शाल वृक्ष के नीचे महावीर ने कैवल्य पद—आत्मज्ञान प्राप्त किया, ससार को तारने की शक्ति पायी, वे तीर्थंकर हो उठे। उनका तप सफल और सिद्ध हुआ। केवली अथवा कैवल्य पद की प्राप्ति में काया सूख गयी, वे क्षीण हो गये पर दिव्य तेज उनके रोम-रोम में परिव्याप्त हो उठा। वे जमिय ग्राम से रात-ही-रात बारह योजन पैदल चलकर पावा आये, पावा में यज्ञ चल रहा था। सोमिल ब्राह्मण के यज्ञ मण्डप में बडे-बडे शास्त्रज्ञ और विद्वान यज्ञ-सम्पादन कर रहे थे। महावीर का आगमन सुनकर असख्य लोग उनके उपदेश सुनने जा रहे थे। यज्ञ के होता पण्डित इन्द्रभूति, अग्निभति, वायुभूति आदि ग्यारह विद्वान जिनेश्वर महावीर का प्रवचन सुनने गये। बडी-वडी शकाओ का समुचित समाधान पाकर उनके प्रख्यात शिष्य हो गये। महावीर स्वामी ने उनसे कहा कि ससार शून्य नही है, वास्तविक है, जो प्रत्यक्ष चैतन्य ज्ञान से जानी जाती है वह आत्मा है। जड कर्म चेतन आत्मा से भिन्न है, आत्मा के परि-णामो से युक्त होकर फल देते हैं। परलोक मे आत्मा का प्रवेश स्वाभाविक और सहज सिद्ध है। पुण्य और पाप शुभ-अशुभ कर्मों के सुख-दुख के परिणाम हैं। महावीर स्वामी ने प्रथम धर्मोपदेशक दिया, पण्डितो ने प्रव्रज्या ली, सघ की स्थापना हुई। उन्होंने आठ तत्त्वो को सघ-विनिमय के मूल आधार स्थिर किये। वे तत्व आत्म-जय, अहिंसा, व्रत, विनय, शील, मैत्री, समभाव और प्रमोद है। उन्होने पूर्ण व्रती अनुयायियो को श्रमण और स्थूल व्रती लोगो को श्रावक या उपासक घोपित किया। वे ग्राम-ग्राम मे पैदल घम कर अपने कैवल्य ज्ञान का प्रचार करने लगे। शिष्यो की सख्या वढने लगी। श्रेणिक, चेटक, वारिसेन, जीवनवर, अभयकुमार आदि वडे-वडे राजा-महाराजा उनके शिष्य हो गये। उन्होने उज्जयिनी, कौशाम्बी आदि महानगरों का भ्रमण किया। एक वार भ्रमण करते-करते वे

उज्जयिनी के महाभयकर श्मशान में आधी रात को पहुँच गये। वे बडे कष्टसहिष्णु थे। एक वार चण्ड कौशिक नाग के काटने पर उन्हे अमित वेदना हुई पर वे उसे सह गये और नाग को अपने आपको समझने का उपदेश दिया। नाग का मोह दूर हो गया, उसे आत्मज्ञान हो गया।

एक वार महावीर कौशाम्वी में विहार कर रहे थे। असत्य जनता उनके दर्शन और उपदेश के लिये एकत्र हो गयी। कुमार उदयन, उनकी माता मृगावती और वुआ जयन्ती भी दर्शन के लिये उपस्थित थे। सवके चले जाने पर जयन्ती ने प्रश्न किया कि सव जीव मोक्ष के अधिकारी हैं या नही। महावीर स्वामी ने समाधान की भाषा मे कहा कि मोक्ष-सुख के अधिकारी समस्त जीव है। जयन्ती ने दीक्षा ली और श्राविका हो गयी। कौशाम्वी में ही महावीर स्वामी ने एक दिन धनवान सेठ के आँगन को पवित्र किया। उस परिवार की एक सदस्या चन्दना ने निवेदन किया कि तीन दिन के उपवास के पारण के लिये उडद के वाकुले रख छोडे है, मेरा परम भाग्य होगा यदि उनमे से आप कुछ ग्रहण कर ले। महावीर स्वामी विशेप व्रत का पालन कर रहे थे, उन्होने असमर्थता प्रकट की, चन्दना रोने लगी। उनका हृदय दया से द्रवित हो उठा, उसके हित और शान्ति के लिये महावीर स्वामी ने कुछ वाकुले ले लिये, चन्दना ने उनकी कृपा से परम मोक्ष का सुख पाया।

इसी प्रकार अपनी जन्मभूमि में विहार करते समय उन्होंने गृहपति आनन्द को जो भोग-विलास में आपादमस्तक निमग्न था उपदेश देकर मोक्ष-सुख का अधिकारी वनाया। महावीर स्वामी गण्डकी के तट पर वाणिज्यग्राम के द्विपलास्य मन्दिर मे विहार कर रहे थे। आनन्द गृहपति ने श्रावक होने की इच्छा प्रकट की। महावीर स्वामी ने उसे विपय-भोग की अनित्यता और जीवन की क्षणभगुरता का ज्ञान करा कर कैवल्यज्ञान का सदेश दिया।

महावीर स्वामी ने क्षमा, विनयशीलता, सत्य, सतोप, इन्द्रियदमन, तप, आत्मज्ञान और ससार के प्रति अनासक्ति को अपने धर्म का प्रमुख स्तम्भ घोपित किया। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् विश्वास और सम्यक् आचार उनके धर्म के प्राण हैं। उन्होने अहिसा—प्राणिमात्र के हित को सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया। उन्होंने आत्मधर्म को कैवल्यज्ञान, कैवल्य दर्शन, अनन्त वीर्य, सम्यकत्व, अव्यावाधता, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व

और अगुरुलघुत्व में प्रतिष्ठित किया। उन्होने कहा कि जीव शरीर नही है, यह आत्मा है, आत्मजीवन है। सुख और दुख हेतु से होते है। चेतना आत्मधर्म है, यह नितान्त आन्तरिक और सूक्ष्माति-सूक्ष्म है। जन्म की प्राप्ति व्यक्ति के कर्म का परिणाम है, हिंसा से अशुभ कर्म और अहिंसा से शुभ कर्म की उत्पत्ति होती है। जीव का नाश नही होता है, उसका रूपान्तर होता है, आत्मा अपने सदाचरण से परमात्मा हो जाता है, यही आत्मसिद्धि है। महावीर ने लोकभाषा में दीक्षा दी।

महावीर स्वामी बहत्तर साल की आयु तक जीवित रहे। एक वार श्रावस्ती नगरी के मेढिय ग्राम में वे निवास कर रहे थे, रक्तस्राव आरम्भ हो गया, उनका शरीर निर्वल और क्षीण होने लगा। वे अन्तिम चातुर्मास्य मध्यम पावा में विता रहे थे। कार्तिक की अमावास्या को आधीरात को महावीर परमगति को प्राप्त हुए, सिद्ध पद पाया। विक्रमीय सम्वत् से चार सौ सत्तर साल पहले उन्होंने देहत्याग किया। अपने प्रमुख शिष्य गौतम के प्रति उनके अन्तिम वाक्य थे कि आत्मा के प्रति मोह अथवा ममता का व्यच्छेद ही आत्मज्ञान है, रागभाव से दूर रह कर प्रबुद्ध होकर सयम और तप के मार्ग पर चलना ही श्रेय है, मेरा उपदिष्ट मार्ग ही पथ-प्रदर्शक होगा, शान्ति और अहिंसा का मार्ग ही धर्म-मार्ग है। महावीर स्वामी ने धर्म को जीवन का वास्तविक अग सिद्ध किया। जनता को उन्होने आत्मधर्म का पवित्रतम सन्देश दिया।

संकलन

आचाराग, उत्तराध्ययन, उववाइय, दसवैकालिक, दसवैकालिक चूलिका दसाश्रुत स्कन्धसूत्र, सूत्रकृताग, ज्ञात धर्मकथा सूत्र में महावीर के प्रवचन मिलते है। शिष्यो ने उनके उपदेश अग, उपाग, प्रकीर्ण, सूत्र और मूल सूत्र में विभाजित किये है। आवश्यक दसवैकालिक, उत्तराध्ययन, पिण्ड, निर्युक्ति मूल सूत्र के अग है। सामायिक, चौवीसथ्यो, वन्दनाका, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्यख्यान आवश्यक सूत्र के छ अग है।

वाणी

दुमपत्तए पडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय, समय गोयम मा पमायए॥

जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते पीले पडते हुए समय आने पर पृथ्वी पर

झड जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य-जीवन भी आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है। हे जीव, क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करो।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-१

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य॥

अपने आपको जीतो। अपने आपको जीतना ही वास्तव में दुर्जय है। अपनी आत्मा को दमन करने वाला इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

—उत्तराध्ययन सूत्र १-१५

पुरिसा! तुममेव तुम—मित्त, किं बहिया
मित्तमिच्छसी? पुरिसा! अत्ताणमेव
अभिनिगज्झ एव दुक्खा पमोक्खसि।

हे पुरुष, तू ही अपना मित्र है, मित्र बाहर क्यो खोजता है? हे पुरुष, अपनी आत्मा को ही वश मे करो। ऐसा करने से तू सब दुखो से मुक्त होगा।

—आचाराग सूत्र ३-३ ११७-८

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूल।
अप्पियवहा पियजीवणो, जीविउ कामा सव्वेंसि जीविय पिय।

सभी प्राणियो को अपनी-अपनी आयु प्रिय हैं। सुख अनुकूल है, दुख प्रतिकल है, वध अप्रिय हैं। जीना प्रिय हैं। सब जीव दीर्घायु चाहते है। सबको जीवन प्रिय है।

—आचारांग सूत्र १,२-३:७

आउक्खय चेव अवुज्झमाणे, ममाइ से साहसकारिमदे।
अहो यराओ परितप्पमाणे, अट्टे सु मूढे अजरामरे व्व॥

आयु पल-पल क्षीण हो रहा है, यह न समझ कर मूर्ख मनुष्य बिना विचारे ममता करता रहता है। धन में आसक्त होकर अजर-अमर पुरुष की तरह रात-दिन उसके लिये परिताप करता हैं। यह कितना वडा दुस्साहस है।

—सूत्र कृतांगसूत्र १,१०:१८

गुणेहिं साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहिसाहू गुणमुञ्चऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएण, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

गुणो से मनुष्य साधु होता है, अगुणो से असाधु होता हैं। सद्‌गुणो को ग्रहण करो, दुर्गुणो को छोडो। जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेष में समभाव रखता है वह पूज्य है।

—दसवैकालिक सूत्र ९-३:११

आचार्य शंकर

'महात्माओ का यह स्वभाव ही है कि वे स्वत दूसरों का श्रम दूर करने में लगे रहते हैं। सूर्य के प्रचड तेज से सन्तप्त पृथ्वीतल को चन्द्रमा स्वय ही शान्त कर देते है।'

—विवेकचूडामणि

आचार्य शकर आत्मज्ञान के महापण्डित, वैराग्य के परम रसिक, सन्यास के महासिद्ध और ब्रह्मानन्द के परम भक्त थे। निस्सन्देह वे मन्त्रदृष्टा वैदिक ऋषि, महाकाव्यकार वाल्मीकि और व्यास, औपनिषद और दार्शनिक रहस्यवेत्ता तथा स्मृतिकारो के सरस समन्वय थे। भारतीय ज्ञान-क्षेत्र के अलौकिक पुरुष थे। उन्होने अपनी उपस्थिति से केवल विक्रमीय आठवी शताब्दी को ही नही गौरवान्वित किया, आने वाले समय की अविच्छिन्न ज्ञानपरम्परा को भी सफल कर दिया। वे महात्मा थे। उन्होने बौद्ध अनात्मवाद का खण्डन कर भारतीय धर्मशास्त्र के आधार पर शुद्ध आत्मवाद की प्राण-प्रतिष्ठा की। वे तत्वचिन्तक ही नही, धर्माचार्य और राष्ट्र-निर्माता भी थे। उन्होने वैदिक धर्म और औपनिषद आत्मदर्शन का पुनरुत्थान किया। वे 'दार्शनिक सार्वभौम थे।' वे ज्ञानी भक्त और भक्त सन्यासी थे।

आचार्य शकर के प्रमुख शिष्य पद्मपाद ने अपने 'विजयडिण्डिम' ग्रन्थ में उनका चरित्र वर्णन किया था पर वह ग्रन्थ अप्राप्य है। आचार्य शकर के जीवन-चरित्र का अधिकाश आनन्दगिरि के शकर दिग्विजय, चिद्विलासयति के शकरविजय, माधवाचार्य के सक्षेप शकरविजय तथा लघुशकरविजय, तिरुमल्ल दीक्षित के शकराभ्युदय और पुरुषोत्तम भारती कृत शकरविजय में मिलता है।

केरल प्रदेश के पूर्णानदी के तट पर कालटी—कलान्दी अथवा कलादी ग्राम में विक्रमीय ८४५ सम्वत् के लगभग शकर आचार्य

आचार्य गकर

का जन्म वैशाख शुक्ल पचमी को हुआ था। उनके माता-पिता आर्याम्मा –विशिष्टा अथवा सुभद्रा और शिवगुरु भगवान शकर के बडे भक्त थे। भगवान शकर के कृपास्वरूप पुत्र होने पर उन्होने शकर नाम रखा। शकर बचपन से ही अलौकिक प्रतिभासम्पन्न थे। तीन वर्ष की ही अवस्था में उन्होने मातृभाषा मलयालम् सीख ली, माता की कृपा से और पिता की धर्मनिष्ठा से अल्प आयु में ही उन्होने पुराणादि के विशिष्ट आख्यान कठस्थ कर लिये। उनके जन्म के तीन वर्ष बाद ही शिवगुरु का देहान्त हो गया।

पाच वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत सस्कार हो जाने के बाद उन्हे विद्याध्ययन के लिये पाठशाला भेज दिया गया और सात साल के होते-होते वे समस्त शास्त्रो में पारगत हो गये। वेद-वेदान्त और वेदाङ्गो का उन्होने पूर्ण रूप से अध्ययन किया। अध्ययन-काल में ही एक विचित्र घटना से उनके आचार्य आदि आश्चर्यचकित हो गये। ब्रह्मचारी शकर के हाथ पर एक दरिद्र ब्राह्मण ने एक आँवला रख कर अपनी दरिद्रता का परिचय दिया। शकर का हृदय दया से द्रवित हो गया। उन्होंने माता लक्ष्मी की स्तुति की और दूसरे दिन ब्राह्मण के घर में सोने के आँवले-ही-आँवले दीखने लगे। शिक्षा समाप्त कर शकर घर गये, उनके मन में वैराग्य और संन्यास की तरगें उमड रही थी। ओठो पर आत्मज्ञान की पिपासा रमणशील थी।

शिक्षा समाप्त कर घर लौटने पर उन्होंने सन्यास लेने का सकल्प किया। एक दिन विलक्षण बात हुई। शकर बडे मातृभक्त थे। वे अपनी माता को सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। उनकी माता पूर्णानदी मे स्नान करने गयी थी। वे लौटते समय थकावट और श्रम से मूर्छित होकर रास्ते में ही रह गयी थी कि शकर की चिन्ता बढ गयी, उन्हे विलम्ब खटकने लगा। वे माता को लेने चल पडे और उनकी थकावट देख कर उन्होने सोचा कि ऐसा भी तो हो सकता है कि नदी हमारे घर के निकट बहने लगे। उन्होने भगवान से भक्तिपूर्वक प्रार्थना की और नदी उनके घर के निकट बहने लगी, माता को आने-जाने के श्रम से अवकाश मिल गया, वे अपनी सुविधा से स्नान कर नित्य देवपूजन कर लिया करती थी। उनकी मातृभक्ति ने ईश्वरभक्ति की सिद्धि में सहायता दी।

शकर ने माता से सन्यास-सकल्प की बात कही पर माता ने अपने प्रंाणप्रिय पुत्र को वहुत दिनो तक अनुमति न दी। शकर का समय घर पर शास्त्रचर्चा और आध्यात्मिक परिशीलन में बीतने लगा। उन्हे इस प्रकार के जीवन से सतोष न मिल सका, एक आन्तरिक शक्ति ने उन्हे क्षण-क्षण वैराग्य की प्रेरणा दी। उनको इस बात का आभास मिलने लगा कि उनको अपने क्षणभगुर जीवन में वहुत बडा कार्य करना है, दैवयोग से उन्हें भगवान की कृपा ने शुभ अवसर प्रदान किया। एक दिन माता के साथ नदी में स्नान करने गये। माता तट पर खडी थी, शकर अपने कन्धे तक पानी में खडे थे। उनका पैर मगर ने पकड लिया। उन्होंने माता से कहा कि जब तक सन्यास लेने की अनुमति तुम से न मिलेगी, मगर मेरा पैर नही छोडेगा। वहुत-से लोग नदी तट पर एकत्र हो गये। वात्सल्यमयी माता की ममता जाग उठी। उन्होंने कलेजा कडा कर पुत्र को सन्यास की अनुमति दी। शकर नदी के वाहर आ गये। आठ वर्ष के बालक ने मातृ-बन्धन से मुक्त होकर वैराग्य के राज्य में प्रवेश किया। चलते समय उन्होंने माता को आश्वासन दिया कि तुम्हारे अन्तिम समय में मै अवश्य आऊँगा। वे गुरु की खोज में निकल पडे। उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया। ओंकारनाथ में नर्मदा तट पर शकर ने गोविन्द भगवत्पाद से सन्यास की दीक्षा ली। थोडे ही दिनो में वे एक सिद्ध योगी हो गये। गोविन्द भगवत्पाद ने उन्हे ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की प्रेरणा देकर काशी जाने का आदेश दिया। वे काशी गये। काशी में पद्माचार्य उनके शिष्य हो गये। शकर विद्यार्थियो को पढाने के साथ-ही-साथ नित्य ग्रन्थ-रचना भी किया करते थे।

काशी-निवास काल में एक दिन दोपहर को शकर ने एक चाण्डाल देखा, वह चार कुत्तों से घिरा हुआ था। वह शकर का रास्ता रोक कर खडा हो गया। आचार्य ने दूर हटने का आदेश दिया।

चाण्डाल ने वडी विनम्रता से कहा कि महाराज, आप अद्वैत तत्व के ज्ञाता हैं। समस्त जगत में शुद्ध सच्चिदानन्द भगवान व्याप्त हैं, आश्चर्य है कि आप ऐसे वेदान्तज्ञानी स्पर्शास्पर्श का विचार करते हैं। शकर ने चाण्डाल की उक्ति की वडी सराहना की। उन्होने कहा

कि छोटे-वडे सभी जीव में, चराचर में आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति का ज्ञान रखने वाला चाण्डाल भी मेरा गुरु है। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने चाण्डाल के स्थान पर साक्षात् भगवान विश्वनाथ का दर्शन किया। भगवान शिव ने अपना दिव्य शरीर प्रकट किया। आचार्य शकर को ब्रह्मसूत्र-भाष्य में अद्वैत ब्रह्मतत्व के प्रतिपादन का आदेश दिया और कहा कि वैदिक धर्म का प्रचार कर मानव जाति को अनात्मवाद के वन्धन से मुक्त करो। वे अन्तर्धान हो गये।

उन्होंने दिग्विजय का समारभ किया। अनन्तशयन, अयोध्या, इन्द्रप्रस्थपुर, उज्जयिनी, कर्नाटक, काची, चिदम्वर, वदरी, प्रयाग आदि तीर्थक्षेत्रो और महानगरो में आत्मज्ञान और धर्म का प्रचार किया। प्रयाग में कुमारिल भट्ट से भी उनकी भेंट हुई थी। उस समय कुमारिल अपने हाथ से चिता वना कर देह अग्नि को समर्पित कर रहे थे, शकर ने कुमारिल की स्तुति की, उन्होंने शकर को माहिष्मती नगरी में जाकर मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ करने का आदेश दिया-शकर माहिष्मती गये। मण्डन मिश्र की पत्नी भारती ने शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का कार्य किया, मण्डन की पराजय हो गयी। वे शकर के शिष्य हो गये। उनकी पत्नी भारती महाविदुषी थी, उसने शकर को कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा, वे वाल-ब्रह्मचारी थे, अमरु नामक मृत राजा की काया में प्रवेश कर उन्होंने काम, शास्त्र का अध्ययन किया और उसके वाद भारती से शास्त्रार्थ करने के योग्य हो सके। मण्डन ने शकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के वाद अपना नाम सुरेश्वराचार्य रखा। शकर ने औपनिषद शिक्षा-दीक्षा का प्रचार आरम्भ किया। भारतीय धर्मशास्त्र के हिमालय से शकर के ज्ञान की गगा ने प्रकट होकर चारो ओर ईश्वर-भक्ति के पुण्य की खेती हरी-भरी कर दी। उन्होंने प्रचार किया कि ब्रह्म सत्य है। जगत मिथ्या है, इस सिद्धान्त का नाम केवलाद्वैतवाद है। उन्होंने जीव और ब्रह्म की अभिन्नता दिखायी। उनका ब्रह्म चिन्मात्र होने पर भी पूर्ण और सत्य ज्ञानानन्दस्वरूप है। विभु है। शकर के मत से ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है, निर्विशेष है, सविशेष-सगुण ब्रह्म

को भी उन्होने अस्वीकार नही किया है। उन्होंने सगुण ब्रह्म को मायिक बताया, सगुण ब्रह्म में ही उन्होने शक्ति और गुण का अस्तित्व स्वीकार किया। उन्होनें घोषणा की कि आत्मा ज्ञानस्वरूप और अनन्त है, जीव को यह ज्ञान नही रहता है, जीव का ज्ञान देह में सीमावद्ध रहता है, जीव कृतकर्म के फल से सुकृति-दुष्कृति कमाता है इसीलिये जीव को सुख-दुख का भोग करना पडता है, जन्म-मरण की यातना सहता है। 'तत्वमसि' के अनुष्ठान से जीव और ब्रह्म का भिन्न ज्ञान तिरोहित होने पर जीव मुक्ति-लाभ कर स्वरूपस्थ होता है। आचार्य ने अन्त करण की शुद्धि को विशेष महत्व दिया। अन्त करण शुद्ध होनें पर ही वास्तविकता का वोघ होता है, सच्चा ज्ञान पाना ही परम कल्याण है। भक्ति को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना है पर वे स्वय भक्त थे। भगवान श्रीकृष्ण की लीला में वे विशेष अनुरक्त थे। उन्होंने कल्पवृक्ष के पुष्पों की गन्ध से युक्त वायु से सेवित परमानन्द स्वरूप का ध्यान किया है जिनके चरणो से गगा बहती है। उन्होंने यमुना तट पर विहार करने वाले श्यामसुन्दर की लीला का अपने प्रवोघसुधाकर ग्रन्थ में बडी भक्ति से स्मरण किया है।

शकराचार्य ने शास्त्र-ग्रन्थों का उद्धार किया, उन्होंने कई एक मौलिक रचनायें लिखीं तथा उपनिषद आदि पर टीकायें प्रस्तुत की। उन्होंने वारह वर्ष से सोलह वर्ष तक की अवस्था में अपने सारे ग्रन्थ लिख डाले। महाराष्ट्र के शैव और कापालिको को परास्त किया, काश्मीर के पण्डितो पर विजय की स्थापना की। काश्मीर से रामेश्वर तक की विद्वन्मण्डली ने उनकी विद्वत्ताका लोहा मान लिया। उन्होंने दक्षिण में शृ गेरी, जगन्नाथपुरी में गोवर्धन, द्वारका में शारदा और वदरिका-श्रम में ज्योतिर्मठ की स्थापना की, अपनी स्थापना के समय से ही ये मठ शाकर सिद्धान्तों के प्रधान गढ होते चले आ रहे है। आचार्य ने धर्म-प्रचार की दृष्टि से नासिक, उज्जैन, प्रयाग और हरिद्वार में वारह साल के क्रम से कुम्भ का आयोजन किया, कुम्भमेला की परपरा आज तक जीवित है, भारतीय सस्कृति को यह कुम्भ-योजना आचार्य की वहुत वडी देन है।

आचार्य शकर की शास्त्रो के प्रति वडी मान्यता थी, वे ब्रह्म-जीव

के सम्वन्ध की ज्ञान-प्राप्ति की मूल-भूमि धर्मशास्त्रो को ही स्वीकार करते थे। उन्होने ज्ञान को मोक्ष का सवसे वडा साधन माना है। उनके सिद्धान्त से मोक्ष तपस्याप्रधान नही है, अनुभूतिगम्य है। उन्होने समस्त जगत को ब्रह्मय स्वीकार किया, ब्रह्म और जगत की अभिन्नता में विश्वास प्रकट किया। आचार्य शकर ने भारत के धार्मिक जीवन में युगान्तर उपस्थित किया। वौद्ध अनात्मवाद के अन्धकार से भ्रमित भारत को उन्होने ब्रह्म, जीव और जगत की वास्तविकता समझायी कि निर्विकल्प, निरुपाधि और निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है, उपासना के लिये निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ईश्वर उपकारक है, जीव उपकार्य है, शरीर और इन्द्रिय पर शासन करने वाला तथा कर्म-फल भोगने वाला जीव है। जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है पर जगत मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है।

मठो की स्थापना, दिग्विजय और धर्म-प्रचार का शुभ कार्य पूरा कर वे अपनी माता का दर्शन करने के लिये केरल गये। उनकी माता रोगशय्या पर थी। पुत्र को देख लेने पर माता ने देहत्याग किया, सन्यासी शकर को दाह-सस्कार के लिये प्रस्तुत देख कर ब्राह्मणो ने वहिष्कार किया। आचार्य शकर ने अपनेआप माता का अन्तिम सस्कार किया।

आचार्य शकर पृथ्वी पर केवल बत्तीस साल तक रहे। केदार क्षेत्र की ओर जाते हुए कैलाश के निकट उन्होने ब्रह्मलोक प्राप्त किया। सम्वत् ८७७ वि में उन्होने महाप्रयाण किया।

रचना

भाष्य ग्रन्थो में—ब्रह्मसूत्र भाष्य, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरिय छान्दोग्य, वृहदारण्यक, नृसिहपूर्वतापनी, श्वेताश्वतर, आदि के भाष्य तथा गीता-भाष्य, विष्णु सहस्त्रनाम भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य, हस्तामलक भाष्य, ललितात्रिशती भाष्य आदि प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार विवेकचूडामणि, प्रवोधसुधाकर, उपदेशसाहस्त्री, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, दशश्लोकी, सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार सग्रह, वाक्य सुधा, पञ्चीकरण, प्रपञ्चसार, आत्मवोध, मनीषापञ्चक, आनन्द-लहरी तथा विविध स्तोत्र आदि आचार्य शकर के प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

वाणी

न हि प्रिपञ्चो न हि भूतजात न चेन्द्रिय प्राणगणो न देह :।
न बुद्धिचित्तं न मनो न कर्ता ब्रह्मैव सत्य परमात्मरूपम् ।।

यह जगत (सत्य) नहीं है, प्राणिसमूह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, देह नहीं है, बुद्धि-चित्त नहीं है, मन नहीं है, अहकार नहीं है, परमात्मरूप ब्रह्म ही सत्य है।

—स्वात्मप्रकाशिका १७

कन्दर्पकोटिसुभग वाञ्छितफलद दयार्णव कृष्णम् ।
त्यक्त्वा कमन्यविषय नेत्रयुग द्रष्टुमुत्सहते ।।
पुण्यतमामतिसुरसा मनोऽभिरामा हरे कथा त्यक्त्वा ।
श्रोतु श्रवणद्वन्द्व ग्राम्य कथमादर वहति ।।
दौर्भाग्यमिन्द्रियाणा कृष्णे विषये हि शाश्वतिके।
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु ।।

जो करोडो कामदेवो से भी सुन्दर है, वाछित फल देते है, उन दयासागर श्रीकृष्ण को छोडकर ये युगल नेत्र और किस विषय का दर्शन करने को उत्सुक है? अति पवित्र, अति सुन्दर, और सरस हरिकथा को छोडकर ये कर्ण युगल सासारिक विषयो की चर्चा सुनने को क्यों श्रद्धा प्रकट करते है? सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषय के रहते हुए भी पाप के साधन अन्य क्षणिक विषयो में जो इन्द्रिया आसक्त होती है, वह इनका दुर्भाग्य ही है।

—प्रबोधसुधाकर १९१-९३

चेतश्चञ्चलता विहाय पुरत सधाय कोटिद्वय
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम् ।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यता
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम् ।।

अरे चित्त, चञ्चलता को छोडकर सामने तराजू के दोनों पलडो मे से एक मे सब विषयो को और दूसरे में भगवान श्रीपति को रख और उसका विचार कर कि दोनो के बीच में विश्राम और हित किस में है? फिर युक्ति और अनुभव से जहा परमानन्द मिले, उसी का सेवन कर।

—प्रबोधसुधाकर २४८

नित्यमात्मस्वरूप हि दृश्य तद्विपरीतगम्।
एव यो निश्चय सम्यग्विवेको वस्तुन स वै।

आत्मा का स्वरूप नित्य है और दृश्य उसके विपरीत अनित्य है —ऐसा दृढ निश्चय ही आत्मवस्तु का विवेक है।

—अपरोक्षानुभूति ५

ब्रह्मण सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मन ।
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीत्यवधारयेत्॥

सम्पूर्ण भूत परमात्मा ब्रह्म से ही उत्पन्न होते है, अतएव ये सब ब्रह्म ही है,—ऐसा निश्चय कहना चाहिये।

—अपरोक्षानुभूति ४९

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवता ।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।

भले ही कोई शास्त्रो की व्याख्या करे, देवताओं का यजन करें, अनेक शुभ कर्म करे, देवताओ का भजन करे, जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का वोध नही होता तब तक सौ ब्रह्माओं के वीत जाने पर भी मुक्ति नही हो सकती।

—विवेकचूडामणि ६

वाच नियच्छात्मनि त नियच्छ वुद्धौ धिय यच्छ च वुद्धिसाक्षिणी ।
त चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शान्ति परमां भजस्व ॥

वाणी को मन में लय करो, मन को वुद्धि में, वुद्धि को वुद्धि के साक्षी आत्मा में तथा वुद्धि-साक्षी को निर्विकल्प पूर्ण ब्रह्म में लय कर परम शान्ति का अनुभव करो।

—विवेकचूड़ामणि ३७०

आचार्य निम्बार्क

हे देव, यदि नर मनुष्य-जन्म पाकर आपके पदपंकज की भक्ति नहीं करता है तो उसके जन्म, कुल और यौवन को धिक्कार है।'

—कृष्णस्तवराज

आचार्य निम्बार्क परम वैष्णव थे, उन्होंने कृष्ण के सौन्दर्य-रस में शुद्ध सच्चिदानन्द-ब्रह्म-तत्व का सफल अन्वेषण किया। उनका आविर्भाव दक्षिण भारत की भक्तिमयी पवित्र भूमि में हुआ था। उन्हे भगवान के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है, उनको चक्रराज और सुदर्शन नाम से विभूषित किया जाता है, उनका एक नाम आरुणि भी है। उन्होंने द्वैताद्वैत मत का प्रचार किया।

निम्बार्क का समय निश्चित करना कठिन है। ऐसी मान्यता है कि वे त्रेता के अन्त और द्वापर युग के पहले चरण में प्रकट हुए थे। उनके पाँचवी शताब्दी में प्रकट होने का मत भी प्रचलित है। ऐसा समझा जाता है कि वे विक्रम की ग्यारहवी अथवा वारहवी शती में दक्षिण भारत के बिलारी जिले के निम्बापुर ग्राम में पैदा हुए थे। मान्यता यह है कि उनका जन्म दक्षिण काशी-वैदूर्यपत्तन मे हुआ था। उनके पिता का नाम अरुणिमुनि था और माता का नाम जयन्ती था। माता-पिता के पवित्र आध्यात्मिक जीवन का उनके विकास पर अमित प्रभाव पडा था, शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था भी आध्यात्मिक रूचि के ही अनुकूल थी। उनका वचपन का नाम नियमानन्द था। उनके उपनयन-सस्कार के समय स्वय नारद जी ने प्रकट होकर उनको गोपाल-मन्त्र की दीक्षा दी थी। वे अलौकिक थे। नारद ने उनको श्रीकृष्ण की उपासना का उपदेश किया था।

उन्होंने व्रजक्षेत्र में गोवर्धन के निकट ध्रुवक्षेत्र में तपस्या और साधना की। भगवान की भक्ति तो उनके लिये सहज सिद्ध थी।

धीरे-धीरे उनकी ख्याति चारो ओर फैलने लगी। एक दिन विचित्र घटना हुई। उनके आश्रम में एक दण्डी सन्यासी उनसे सत्सग करने लगे, शास्त्रचर्चा में शाम हो गयी। सूर्यास्त के वाद सन्यासी भिक्षा नही ग्रहण करते थे। आचार्य ने अद्‌भुत चमत्कार दिखाया, वे इस वात को नही सह सकते थे कि उनके आश्रम में सन्यासी उपवास करे इसलिये उन्होने अपने आश्रम के निकट ही नीम के वृक्ष पर सूर्य को अवस्थित कर दिव्य प्रभा प्रकट कर दी, सन्यासी के भिक्षा ग्रहण करने पर सूर्य-मण्डल अदृश्य हो गया। उसी दिन से आचार्य निम्बार्क नाम से प्रसिद्ध हुए।

वे भगवद्‌भक्ति के प्रचार में तत्पर हो गये, राधाकृष्ण की उपासना पर विशेष जोर दिया और श्रीमद्‌भागवत ग्रन्थ को पूर्ण मान्यता दी। उनका मत था कि भगवान की कृपा से उनकी शरण मिलने पर भक्त भक्तिरस का आस्वादन करता है। नवधा भक्ति के अभ्यास से भगवान् की रति मिलती है, उनका प्रेम प्राप्त होता है। उन्होने शान्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल भावों से समवेत्त प्रेम-भक्ति का प्रचार किया।

आचार्य निम्वार्क ने नैमिपारण्य, गोवर्धन और वदरिकाश्रम को अपनी उपस्थित्ति से धन्य किया था। इन तीर्थों में उन्होने विशेप रूप से अपने भक्ति-सिद्धान्त का उपदेश दिया। आचार्य निम्वार्क का मत था कि व्रह्म, जीव और जड–(चेतन-अचेतन से)–अत्यन्त पृथक और अपृथक है। जीव और जगत दोनो व्रह्म के परिणाम है। जीव व्रह्म से अत्यन्त भिन्न और अभिन्न है। जगत भी उसी प्रकार भिन्न और अभिन्न है। कर्म-मीमासा के वाद भक्ति का उदय होने पर व्रह्म-मीमासा का अधिकार प्राप्त होता है। शास्त्र द्वारा व्रह्मज्ञान होता है, भगवान की प्रसन्नता और दर्शन से दुख-निवृत्ति होती है। व्रह्म का सगुण भाव ही मुख्य है, जगतरूप में परिणत होने पर भी वह निर्विकार है। जगत से अतीत रूप में वह निर्गुण है। जीव अश है, व्रह्म अशी है। दोनो भिन्न और अभिन्न है। जीव अल्पज्ञ है, मुक्तावस्था में भी वह अणु ही है, विभु नही है। मुक्तावस्था में जीव अपने आपको और जगत को व्रह्मरूप में देखता है। भक्ति-उपासना से

आण्डाल रंगनायकी

'मैं पूर्ण यौवनमयी हूँ, श्रीकृष्ण ही एक मात्र मेरे स्वामी हैं, उनके अतिरिक्त मैं किसी और को पति नहीं बना सकती।'

—तिरुप्पावै

विक्रम की आठवी शती में आण्डाल का प्रादुर्भाव हुआ। आण्डाल रगनायकी निस्सन्देह गिरिधर गोपाल की प्रेमागना राजरानी मीरा की पूर्वस्मृति-प्रतीक थी। गोपी-प्रेम की मध्यकालीन रास-नायिका थी। उन्होंने प्रेम के योगरूप में भगवान और उनकी आह्लादिनी महाभाव-रूपिणी चिन्मय शक्ति की प्रसन्नता में आत्मा के सौन्दर्य को सगीत और काव्य के स्तर पर प्रतिष्ठित कर यह सिद्ध कर दिया कि प्रेम साक्षात् भगवान का मधुरतम-सुन्दरतम रूप है, सत्य है, शिव है। आण्डाल रगनायकी ने भगवान श्रीरग की प्राणप्रियतमा के रूप में प्रेम की दिव्य ज्योति से चिरन्तन वस्तुतत्व की अनुभूति की। वे प्रेमसाधिका थी, भगवान की आराधिका थी। प्रेमलक्षणा भक्ति की देन थी। उनकी प्रेमभक्ति-परम्परा दक्षिण भारत के वैष्णव आलवार सन्तो की उपासना की अभिव्यक्ति थी। आलवारो ने विष्णु को पूर्ण प्रेममय स्वीकार किया, वे नारायण से ही प्रेम करते थे। आण्डाल को नारायण और जगत में प्रेम की ही सत्ता परिव्याप्त दीख पडी। उन्होंने भगवान रगनाथ के चरणो में सर्वस्व समर्पित कर दिया था। श्रीमद्भागवत में वर्णित गोपीप्रेम ही उनकी उपासना का प्राण है। उन्होंने गोपीभाव को ही भागवत प्रेम का सर्वोत्तम रूप स्वीकार किया।

आलवारों की परम्परा में विष्णुचित्त का नाम सबसे पहले लिया जाता है, उन्हे पेरि आलवार भी कहा जाता है। पुण्यसलिला भगवती कावेरी के परम पवित्र तट पर एक रमणीय गाव में रह कर वे श्री भगवान की भक्ति किया करते थे। एक दिन प्रातःकाल वे उपवन

में तुलसी के बिरवे को जल दे रहे थे कि उन्होने एक नवजात दिव्य कन्या देखी। उन्होने बालिका को बडे स्नेह और वात्सल्य से गोद में उठा लिया, नारायण के चरणकमलो मे समर्पित कर कहा कि प्रभु, यह आपकी सम्पत्ति है, स्वीकार करे। श्रीभगवान की कृपा के अवतरणस्वरूप बालिका का आण्डाल नाम 'कोदई' प्रसिद्ध हो गया। नारायण की मूर्ति ने विष्णुचित्त को स्पष्ट आदेश दिया कि बालिका को अपनी पुत्री के रूप में ग्रहण कर पालन-पोषण करो। कोदई का अर्थ 'फूलो के हार के समान कमनीय' है। आण्डाल ने धीरे-धीरे अपने पवित्र हृदय-देश में भगवान विष्णु के प्रेम-विग्रह की स्थापना कर भक्ति का वरण कर लिया, वे एकमात्र उन्ही की हो गयी, उन्ही के पूजा-शृगार के लिये कुसुम-चयन करना, दिव्य दर्शन करना उनका दैनिक कार्यक्रम हो चला, वे रात-दिन अपने प्राणेश्वर श्रीरग के चिन्तनसागर-अमृत में सराबोर रहने लगी, उनके मुख से सदा विष्णु के ही पवित्र नाम का उच्चारण होने लगा। आण्डाल ने अपना 'कोदई'—फूलो का हार—नाम विष्णु के गले की माला बनकर चरितार्थ कर दिया। अवस्था में कुछ बडी होने पर उन्होने विष्णु को रिझाने के लिये प्रेमगीतो का गान आरम्भ किया। उनके गीतो में प्रेम मूर्तिमान भक्ति-विग्रह होकर प्रकट हो गया। भगवान श्रीरग के प्रेम में अपने आपको इस तरह खो देती थी कि उनके लिये परिश्रम से गूथे गये पुष्पहार को स्वय पहन कर मन्दिर में भेजती थी। भगवान की उन्होने पति के रूप में उपासना की। दो-चार बार पुजारी को सन्देह हुआ और उसने पेरि आलवार से शिकायत की कि हार पहले से किसी और के गले का अलकार हो जाता है। विष्णुचित्त को अपनी कन्या की भगवद्भक्ति और हृदय की पवित्रता पर पूरा भरोसा था, वे सपने में भी नही सोच सकते थे कि प्रेमदीवानी रगनायकी उन हारो को पहन लिया करती है। यद्यपि आण्डाल पर सन्देह नही किया जा सकता था तो भी विष्णु-चित्त ने माला मुरझाने का कारण समझने में—रहस्योद्घाटन करने में कुछ भी उठा न रखा।

आण्डाल अपने हाथ से गूथे हुए हार को पहन कर दर्पण में

सौन्दर्य देख कर मन-ही मन सोचा करती थी कि क्या यह सौन्दर्य मेरे प्राणेश्वर श्रीरग के चरणदेश में समर्पित होने योग्य है। एक दिन पुजारी ने माला यह कह कर लौटा दी कि उस में किसी के सिर का वाल लगा हुआ है, आण्डाल के पिता वडे दुखी हुए पर ताजे चुने पुष्पों की माला दी। पुजारी ने मुरझायी हुई कह कर उसको भी लौटा दिया। विष्णुचित्त को रहस्य का पता चल गया, उन्होने देखा कि आण्डाल परदे में खडी है, गले में माला पहन ली है, मन-ही-मन अपने प्राणप्रियतम श्रीरग से बाते कर रही है। उन्होंने भविष्य में आण्डाल को ऐसा करने से रोका। श्रीरग पर दूसरी नयी माला चढायी गयी पर प्रेम-देवता ने उसको स्वीकार ही नही किया। भगवान ने विष्णुचित्त को स्वप्न में आदेश दिया कि मुझे आण्डाल की पहनी माला ही प्रिय है—रुचिकर है। रीझ ही तो है, भगवान जिनके हो जाते है उनके सौभाग्य का वर्णन नही किया जा सकता है। इस घटना के वाद तो आण्डाल के लिये श्रीरग का एक क्षण का विस्मरण कोटि-कोटि मरण के तुल्य हो गया। वे रात-दिन उन्ही के ध्यान और चिन्तन में अपने जीवन का अमूल्य समय बिताने लगी। रहती तो थी वे विष्णुचित्त के आश्रम और उपवन में पर उनका हृदय कालिन्दी के रमणीय तट पर स्थित वृन्दावन के मधुमय निकुञ्जों की सरस झाकी में सरावोर रहता था। उनके नयनों में सदा वसन्त शृगार का आलिंगन कर कृष्ण के प्रेम-माधुर्य का आलोडन भरता रहता था। वे कोयल के मधुर स्वर में अपने रगनाथ का प्रेम-सन्देश पाती थी। मतवाली कोयल से उनका पता पूछा करती थी।

आण्डाल प्रेमराज्य में विदेह हो उठीं। एक वार वे इतनी विरह-कातर हो चली कि भगवान रगनाथ ने पुजारियों को स्वप्न दिया कि मेरी प्राणेश्वरी आण्डाल को मेरे पास यथाशीघ्र लाओ, मैं उनका पाणिग्रहण करूँगा। उन्होने उसी समय आण्डाल के धर्मपिता विष्णुचित्त पेरि आलवार को भी मन्दिर में आण्डाल को सजा कर लाने का आदेश दिया और प्रेममयी आण्डाल को स्वप्न में दीख पडा कि श्रीरगनाथ के साथ धूमधाम से उनका परिणय सम्पन्न हो रहा है। दूसरे दिन अरुणो-दयकाल में ही मन्दिर से पालकी लेकर भक्त लोग विष्णुचित्त के

आश्रम पर श्री भगवान की वधू को ले जाने के लिये उपस्थित हुए। बाजे बजने लगे, शखध्वनि से वातावरण के कण-कण में आनन्द और उल्लास मूर्तिमान हो उठे, वेदऋचाओं की मीठी-मीठी उच्चारण-ध्वनि से भक्ति-रूपिणी आण्डाल का स्वागत किया गया। उन्होने मन्दिर मे प्रवेश किया, चारों ओर दिव्य प्रकाश छा गया, रगनाथकी शेषशय्या पर चढ गयी, प्रेमी और प्रेमिका एक हो गये, भगवान श्रीरग ने उनकी दिव्य ज्योति का आलिगन किया, आत्मा का परमात्मा से विवाह हो गया, आण्डाल अपने भौतिक शरीर से वाहर होकर प्रियतम के अक मे सो गयी।

आण्डाल के विवाहोत्सव की जयन्ती दक्षिण भारत के मन्दिरो में प्रत्येक वर्ष साज-शृगार से मनायी जाती है। आण्डाल ने विषय-सुख और जागतिक भोग को तिलाञ्जलि देकर प्रेमयोग का वरण किया। राधा-कृष्ण की लीला का रसास्वादन करोडों जन्मों के पुण्योदयस्वरूप मिलता है तो मिल जाता है। आण्डाल ने उनकी लीला-माधुरी के गान और आचरण से अपने आप को धन्य कर लिया।

आण्डाल भूदेवी का अवतार मानी जाती हैं। वे मधुर भाव की चरम सीमा पर पहुँच गयी, उनके लिये विरह और प्रेम—सव के सव श्रीरगमय हो गये थे। आण्डाल की प्रेम-उपासना ने कावेरी सरिता के दक्षिण तट—श्रीरगनाथ की लीलाभूमि की दिव्यता वढा दी।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल का पहला चरण पेरिआलवार और मधुर रस की उपासिका आण्डाल रंगनायकी की उपस्थिति से धन्य हो गया। भक्तिमती आण्डाल के गीतों के रूप में दक्षिण भारत ने कृष्ण-प्रेम की काव्यभूमिका प्रस्तुत की, आण्डाल की कृष्ण भक्ति की ऐति-हासिक प्रगति में यह वहुत वडी देन थी। श्रीरग से अपने दिव्य सम्वन्ध की रक्षा में उनके कोकिलकठ से मधुर प्रेम-वाणी प्रस्फुटित हो उठी। आण्डाल की प्रेम-साधना श्रीरग के शाश्वत, सनातन दिव्य सम्वन्ध से धन्य हो उठी। उनके चरित्र की विचित्रता और अलौकिकता का विवरण-दान लेखनी के वश की वात ही नही है। विजयनगर के महामहिम शासक महाराज कृष्णदेवराय ने उनके सम्वन्ध में एक सरस नाटक 'आमुक्तमाल्यदम्' की रचना की थी। श्रीरगक्षेत्र आण्डाल की उप-

स्थिति से परम पवित्र हो गया, पुण्यसलिला कावेरी के तट पर रासेश्वर नन्दनन्दन का वृन्दावन उतर आया। आण्डाल गोपीप्रेम की पूर्णतम अभिव्यक्ति थी।

रचना

आण्डाल ने तीन विन्यासो में 'तिरुप्पावै' नामक दिव्य प्रेम-काव्य की रचना की। उस को भगवत्प्राप्ति के साधन का रूप प्रदान किया। इस काव्य का मूल विषय यह है कि आत्मा जब तक परमात्मा को प्रेम से वशीभूत नही कर लेता है, वह स्थायी शान्ति नही पा सकता है।

वाणी

जब प्रेम के दिव्य राज्य में अगणित कठो से सामध्वनि फूट पडती है, अमृतसिक्त अधरो पर स्वर प्रेम-केलि में लीन हो जाते है, फूलो की पवित्र माला पूजा में चढने के लिये लालायित हो जाती है, उस समय व्रज में सौभाग्यवती कालिन्दी के तट पर श्री भगवान का दिव्य रूप उतर आता है।

अरी कोयल! मेरे प्राणवल्लभ, मेरे सामने क्यो नही आते है! वे मेरे हृदय में प्रवेश कर अपने विरह से मुझे दुखी करते है, मै तो उनके लिये तडप रही हूँ और वे इसे खिलवाड समझते है।

गोविन्द! आपका सौन्दर्य कितना अद्भुत और रमणीय है! मृदग बजा-बजा कर आप की लीला का सरस सगीत गाने पर कितना दिव्य आनन्द मिलता है! अनेक राग-रग, विषय-सुख, अलकार-परिधान से शोभित रहने पर जो सुख मिलता है उससे अगणित बार उत्तम दिव्य आनन्द की अनुभूति आप के सग में होती है।

यामुनाचार्य

'प्रभो, आप के दास्यभाव में ही सुखका अनुभव करने वाले सज्जनों के घर में मुझे कीडे की भी योनि मिले पर दूसरो के घर में ब्रह्मा की भी योनि न मिले।' —आलवन्दारस्तोत्र

निस्सन्देह भक्ति की आदिभूमि दक्षिण भारत है, यह शास्त्रसम्मत तथ्य है। बडे-बडे दार्शनिको, आचार्यों, ज्ञानियो और भक्तो ने दक्षिण भारत में ही आत्मा और परमात्मा का योगानुभव प्राप्त किया। यामुनाचार्य ने दक्षिण भारत को ही धन्य किया था, वे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के सफल प्रचारक थे, भगवान के वहुत वडे भक्त थे।

यामुनाचार्य का जन्म सम्वत् १०१० विक्रमीय मे मदुरा में हुआ था। श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के आचार्य नाथमुनि के पुत्र ईश्वर मुनि उनके पिता थे। पवित्र भागवत वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ तथा वचपन में ही उनके मन मे यह वात समा गयी कि भगवान की भक्ति ही नित्य वस्तु है, जीव उसी की प्राप्ति के लिये देवदुर्लभ मनुष्य-योनि में आता है।—जव वे केवल दस साल के थे, उनके पिता का देहावसान हो गया। पालन-पोषण का भार उनकी दादी और माता ने सम्हाला क्योकि पितामह नाथमुनि ने सन्यास ले लिया था। भाष्याचार्य उनके शिक्षागुरु थे। स्वाध्यायकाल में लोगो को उनकी अद्भुत प्रतिभा, अलौकिक विचार-धारा और प्रगाढ विद्वत्ता का पता चल गया। उनके स्वभाव में उदारता और मृदुता, कोमलता और विनम्रता तथा आत्मनिर्भरता और सहृदयता का सरस समन्वय था।

पाण्डयराज्य में एक वडे पण्डित कोलाहल थे। वे अपनी विद्वत्ता के लिये वहुत प्रसिद्ध थे। यामुनाचार्य ने उनको शास्त्रार्थ में हराकर रानी की प्रसन्नता प्राप्त की। रानी ने उनके विजयी होने पर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आधा राज्य दे दिया और साथ ही-साथ 'आलवन्दार' की उपाधि दी।

यामुनाचार्य जब पैंतीस साल के हुए तब उनके पितामह नाथमुनि का देहावसान हो गया। नाथमुनि ने मरते समय अपने शिष्य से कहा था कि ऐसा न हो कि यामुनाचार्य की सारी आयु राज्यभोग और विषय-सुख में ही बीत जाय और वे आत्मलाभ और भगवान की भक्ति से वचित रहे।

नाथमुनि के शिष्य राममिश्र यामुन को उनकी सम्पत्ति का अधिकार सौंपने के लिये ले जा रहे थे। रास्ते में श्रीरग का मन्दिर था, मन्दिर को देखते ही उनका हृदय भगवान रग के दर्शन के लिये तडप उठा, उन्होंने सोचा कि परमानन्द और शान्ति तो रग भगवान से मिल सकती है, ससार के अनित्य पदार्थों में अधिकार मानना मन का मोह है। उन्हे आत्मज्ञान हो गया। भगवान का दर्शन करते ही उनके हृदय में भक्ति का स्रोत फूट पडा, अखण्ड और पूर्ण वैराग्य का उदय हुआ, माया और राज्यभोग की वासना का नाश हो गया। उन्होंने भगवान श्रीरग की स्तुति की—'परम पुरुष, मुझ अपवित्र, उद्दण्ड, निष्ठुर और निर्लज्ज को धिक्कार है जो स्वेच्छाचारी होकर भी आपका पार्षद होने की इच्छा करता है। आपके पार्षद भाव बडे-बडे योगीश्वरों के अग्रगण्य तथा ब्रह्मा, शिव और सनकादि भी—पाना तो दूर रहा—मन में सोच नही सकते है।' राजमद का पूर्ण परित्याग कर वे श्रीरग के भक्त हो गये।

उन्होने विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया। उन्होंने भगवान को पूर्ण पुरुषोत्तम माना। जीव को अश और ईश्वर को अशी सिद्ध किया। उन्होने कहा कि जगत ब्रह्म का परिणाम है, ब्रह्म ही जगत के रूप में परिणत है। जगत ब्रह्म का शरीर है, ब्रह्म जगत का आत्मा है। आत्मा और शरीर अभिन्न है इसलिये जगत ब्रह्मात्मक है। उन्होंने सिद्ध किया कि ब्रह्म सविशेष सगुण अशेष, कल्याण गुणगणसागर सर्व नियन्ता है। जीव स्वभाव से उसका दास है, भक्त है, भक्ति जीव का स्वधर्म है। उन्होंने कहा कि विशिष्ट का अभिप्राय है चेतन और अचेतन विशिष्ट ब्रह्म और अद्वैत का आशय है अभेदता अथवा एकता। चेतना-चेतन विशिष्ट ब्रह्म के अभेदत्व या एकत्व का निरूपण करने वाला सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत है। उन्होंने ज्ञान को आत्मा का धर्म स्वीकार

किया। उन्होंने तीन मौलिक पदार्थ चित् (जीव), अचित् (जगत) और पुरुषोत्तम (ब्रह्म) की स्थिति मानी। भगवान को उन्होने जीव के लिये परमाश्रय स्थिर किया।

यामुनाचार्य ने आजीवन भगवान से भक्ति का ही वरदान मागा। वे अपने समय के महान दार्शनिक, अनन्य भक्त और विचारक थे।

आचार्य रामानुज उनके शिष्य थे। यामुनाचार्य के तिरोधान-काल में एक विचित्र बात हुई। उन्होने अन्तिम समय में रामानुज का स्मरण किया पर उनके पहुँचने के पहले ही वे ब्रह्मलीन हो गये। उनकी तीन अगुलियाँ उठी रह गयी, वे ही उनकी तीन कामनायें थी। रामानुज के आते ही और प्रणाम करते ही तीनो अगुलियाँ सीधी हो गयी। रामानुज ने गुरु आलवन्दार यामुनाचार्य की कामना-पूर्ति के रूप में कहा कि मैं, ब्रह्मसूत्र, विष्णु सहस्रनाम और 'दिव्य प्रवन्धम्' की टीका अवश्य लिखूगा और लिखवाऊँगा। आलवन्दार की आत्मा ने शान्ति पायी।

रचना

स्तोत्ररत्न, सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य, गीतार्थसग्रह उनके ग्रन्थ है। आलवन्दारस्तोत्र अमित मधुर और दिव्य रचना है।

वाणी

किञ्चैष शक्त्यतिशयेन न तेऽनुकम्प्य स्तोतापि तु स्तुतिकृतेन परिश्रमेण।
तत्र श्रमस्तु सुलभो मम मन्दबुद्धे रित्युद्यमोऽयमुचितो मम चाब्जनेत्र॥

हे कमलनयन! कोई भी स्तुति करनेवाला अपनी शक्ति की अधिकता से आपकी दया का पात्र नही होता, स्तुति करते-करते जब थक जाता है तब उसकी थकावट के कारण आप उस पर दया करते है। ऐसी दशा में ब्रह्मादि तो अधिक शक्ति सम्पन्न होने के कारण शीघ्र ही नही थक सकते, पर मै तो मन्दबुद्धि हूँ, मेरा शीघ्र ही थकना सम्भव है, इसलिये ब्रह्मादि से पहले ही मै आपका कृपापात्र बनूँगा।

वशी वदान्यो गुणवानृजु. शुचि मृदुर्दयालुर्मधुर स्थिर समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावत समस्तकल्याणगुणामृतोदधि.॥

हे प्रभो! आप सब को वश में रखनेवाले, उदार, गुणनिधि, सरल, पवित्र, मृदुल स्वभाव वाले, दयालु, मधुर, अविचल, समदर्शी,

कृतकृत्य, और कृतज्ञ हैं, इस प्रकार स्वभाव से ही आप कल्याणमय गुणरूप अमृत के सागर हैं।

न मृषा परमार्थमेव मे शृणु विज्ञापनमेकमग्रत ।
यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तव नाथ दुर्लभ ॥

हे प्रभो, नाथ ! मेरे इस विज्ञापन को पहले सुन लीजिये, यह झूठी बात नही है, सत्य ही है—यदि आप मुझ पर दया नही करेगे तो फिर आपको दयापात्र मिलना कठिन ही है।

सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभि ।
महात्मभिर्मामवलोक्यता नय क्षणोऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सह ॥

जिन्होने आप के स्वरूप को एक बार देखने की इच्छा से उत्तमोत्तम भोग और मुक्ति को भी तृण के समान त्याग दिया है तथा जिनका क्षण भर का भी वियोग आप को अत्यन्त असह्य है, ऐसे महात्माओ के दृष्टिपथ में मुझे डाल दीजिये।

न देह न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषित
न चात्मान नान्यत्किमपि तवशेषत्वविभवात् ।
वहिर्भूत नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाश तत्सत्य मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥

हे नाथ ! आप की दासता के वैभव से रहित होने वाले देह प्राण, सुख, सर्वकामनायें, आत्मा तथा अन्य सब कुछ भी क्षण भर नही सह सकता हूँ, चाहे ये सैकडों प्रकार से नष्ट हो जायें,, हे मधुसूदन, यह मेरा विज्ञापन सत्य है।

ननु प्रपन्न सकृदेव नाथ तवाहमस्तीति च याचमान ।
तवानुकम्प्य स्मरत प्रतिज्ञा मदेकवर्ज किमिद व्रत ते ॥

हे नाथ ! एक वार भी जो आप की शरण में आकर 'मै तुम्हारा हूँ' ऐसा कह कर याचना करता है वह अपनी प्रतिज्ञा को सदा स्मरण रखनेवाले आपका कृपापात्र वन जाता है, पर क्या आपकी यह प्रतिज्ञा एक मात्र मुझको ही छोड कर प्रवृत्त होती है। —आलवन्दारस्तोत्र

आचार्य रामानुज

'हे श्रीरंग, मुझे अपनी वह दासता प्रदान कीजिये जिसका हेतु आप के स्वरूपज्ञान से उत्पन्न हुई प्रीति के अतिरिक्त और कुछ न हो। आप के दास्य के अतिरिक्त मैं किसी और गति को नहीं जानता हूँ। हे कमलनयन, आप मुझे ऐसा बना दें कि मेरी आप में ही अनन्य प्रीति रहे और सभी अवस्थाओं में आप ही मेरे एकमात्र सेव्य बने रहे।'

—श्रीरंगगद्य

आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैतमत का प्रचार किया। वे भक्ति के महान आचार्य थे, परम भागवत महात्मा थे। उनके सत्प्रयत्न से भारतभूमि में भक्ति का सागर उमड पडा। उन्होंने राजनैतिक अशान्ति से पीडित देश में धार्मिक एकता स्थापित कर परमात्मा के प्रति जीव की सहज भक्ति सिद्ध की। वे आलवन्दार के प्रधान शिष्यो में से एक थे।

आचार्य रामानुज का जन्म सम्वत् १०९४ वि में दक्षिण भारत के तिरुकुदूर क्षेत्र में हुआ था। उनके पिता का नाम केशवभट्ट सोमयाजी था और माता का नाम कान्तिमती था। जब वे छोटे थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। रामानुज ने काची में यादव प्रकाश गुरु से वेदाध्ययन आरम्भ किया। उनकी प्रतिभा इतनी दिव्य और प्रखर थी कि गुरु की व्याख्या में दोष निकाल दिया करते थे। यादव प्रकाश उनसे चिढ गये और इतने ईर्ष्यालु हो गये कि उनके प्राण लेने का षडयन्त्र कर बैठे। उन्होंने रामानुज के सहपाठी और चचेरे भाई को उकसाया कि काशी-यात्रा के बहाने ले जाकर किसी घने वन में उनका प्राण ले लेना चाहिये। गोविन्द ने ऐसा ही किया। रामानुज को दैव कृपा से इस बात का पता लग गया, उन्होंने वरदराज का स्तवन किया, वरदराज ने लक्ष्मी के साथ प्रकट होकर उनको दर्शन दिया, रात का समय था। उन्हें काची तक पहुँचा आये। वरदराज मे उनकी निष्ठा बढ गयी। हृदय में भक्ति प्रबल हो उठी।

वेदाध्ययन के बाद रामानुज ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। वैवाहिक जीवन सुखद नही था, उनके मन में वैराग्य का भाव जाग चुका था। वे सन्यास लेकर नित्यवस्तु से अपना सम्बन्ध जोडना चाहते थे इसी बीच में एक विचित्र घटना ने उनका जीवन भगवान के सम्मुख कर दिया। आलवन्दार यामुनाचार्य का अन्तिम समय उपस्थित था, आचार्य ने रामानुज का स्मरण किया पर उनके श्रीरगम् पहुँचने के पहले ही आचार्य यामुन ब्रह्मलीन हो चुके थे, आश्चर्य की बात तो यह थी कि यामुनाचार्य की तीन अगुलिया मुडी हुई थी। रामानुज ने समझ लिया कि उनकी तीन कामनायें अधूरी रह गयी है, मृत शरीर के सम्मुख विनत होकर रामानुज ने प्रतिज्ञा की कि मै ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और दिव्य प्रबन्धम् की टीका लिखूगा और लिखवाऊँगा। अगुलियाँ सीधी हो गयी। रामानुज ने आलवन्दार के प्रधान शिष्य पेरियनीम्ब से विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा लेकर भक्ति मार्ग, अपनाया। गृहस्थाश्रम में उनका मन अधिक दिनो तक नही लगा। उन्होने गृहस्थाश्रम का त्याग कर श्रीरगम् के यतिराज सन्यासी से सन्यास की दीक्षा ली।

उनके गुरुने अष्टाक्षर मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' को बहुत गुप्त रखने का आदेश दिया था। उनको पता लग गया कि इस मन्त्र के श्रवणमात्र से जीव मुक्त हो जाते है। वे तो करुणा के समुद्र थे। उन्होंने मन्दिर के शिखर पर खडे होकर सव वर्णवालों को अष्टाक्षर मन्त्र सुना दिया। मन में सद्‌भावना थी कि इस शुभ कार्य से असख्य प्राणी भवसिन्धु से तर जायेंगे पर गुरु ने उनसे कहा कि इस अपराध के लिये नरक भोगना पडेगा, यम-यातना सहनी पडेगी। रामानुज ने असाधारण विनम्रता से कहा कि यदि मेरे उच्चारण-मात्र से असख्य प्राणी भगवान के भक्त होकर ससारसागर से तर जायेंगे तो कोटि-कोटि नरक-भोग और जन्म-जन्म की यम-यातना सहने के लिये मै प्रस्तुत हूँ। गुरु ने रामानुज की आत्मा की आवाज जान ली, वे उनकी उदारता पर मुग्ध हो गये। गुरु ने उनको गले लगा कर आशीर्वाद दिया।

श्रीरामानुज का यश दिन-दूना, रात-चौगुना वढने लगा। उनकी प्रसिद्धि से वहुत लोग जल उठे। एक वार श्रीरगम् के मन्दिर के पुजारी ने ही उनको विप देकर समाप्त कर डालना चाहा था पर

उसकी पत्नी ने षड्यन्त्र प्रकट कर दिया और पुजारी की योजना विफल रही। श्रीरामानुज ने आलवन्दार के मृत शरीर के सम्मुख की गयी प्रतिज्ञा पूरी की। उन्होन ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीभाष्य' लिखा। अपने प्रधान शिष्य कूरेश के दो पुत्रो—पराशर और पिल्लन् द्वारा विष्णु सहस्र-नाम और 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका लिखवायी। उन्होने भक्ति के प्रचार के लिये समस्त भारत की यात्रा की। उन्होने अपने 'श्रीसम्प्रदाय' के सिद्धान्तों का वडी निष्ठा से प्रचार किया।

श्रीरंगम् क्षेत्र पर चोल नरेश कुलोत्तुग का अधिकार था। वे कट्टर शैव थे, श्रीरग मन्दिर पर एक ध्वजा टँगवा दी थी कि शिव से बढ कर कोई दूसरा नही है। उनके प्रकोप से वैष्णवो को वडा कष्ट था। रामानुज मैसूर राज्य के शालग्राम नामक स्थान में रहने लगे। मैसूर नरेश परम वैष्णव भिट्टि देव उनका वडा सम्मान करते थे। रामानुज ने उस राज्य में वारह साल तक वैष्णव धर्म का प्रचार किया। नम्मले नामक स्थान के एक मन्दिर का उद्धार किया और राजा भिट्टि देव की सहायता से पुनर्निर्माण कराया। मन्दिर के रामविग्रह को दिल्ली-पति की कन्या वहुत चाहती थी। रामानुज ने अपने योगवल से मूर्ति प्राप्त कर मन्दिर में स्थापित की। राजा कुलोत्तृग का देहान्त हो जाने पर रामानुज श्रीरगम् में रहने लगे। उन्होंने श्रीरगम् क्षेत्र में एक मन्दिर वनवाया, उसमें प्रसिद्ध आलवार सन्तो की प्रतिमायें स्थापित करायी। तिरुपति के मन्दिर में गोविन्दराज पेरुमल की स्थापना करायी।

वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये उन्होने समस्त देश का भ्रमण किया। उनके सिद्धान्त के अनुसार भगवान ही पुरुषोत्तम है, वे प्रत्येक शरीर में साक्षी-रूप मे विद्यमान है। उन्होने सिद्ध किया कि भगवान जगत के नियन्ता, शेषी और स्वामी है तथा जीव उनका नियम्य, शेष और सेवक है। भगवान की शरणागति ही जीव का परम पुरुषार्थ है। भगवान नारायण सत् है, लक्ष्मी चित् है और जगत उनके आनन्द का विलास है। उन्होंने घोषणा की कि ज्ञान, सत्य और सविशेष विषयक है। नित्य और अपौरुषेय वेद-वाक्य ही प्रमाण है, उपासना द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर जीव का अज्ञान मिट जाता है। जीव और जगत ब्रह्म के शरीर है। उन्होने भगवान के अवतार का हेतु इच्छा

को माना, इस सम्बन्ध में कर्म-प्रयोजन को महत्व नही दिया। ब्रह्म को ईश्वर और जीव तथा मुक्त जीव दोनो को ही ईश्वर का दास स्वीकार किया। जीव कार्य है, ईश्वर कारण है पर दोनो चेतन, स्वय-प्रकाश, ज्ञानाश्रय और आत्मस्वरूप है— रामानुज की ऐसी मान्यता थी। उन्होने भगवान के दास्य को ही मुक्ति-लाभ माना। उन्होने कहा कि भगवान के साथ जीव अभिन्न नही हो सकता है, जीव अणु है, अणु कभी विभु नही हो सकता है। भगवान में आत्मसमर्पण ही उनके मत से पूर्ण प्रपत्ति है। रामानुज ने एक सौ बीस साल की अवस्था में देहत्याग किया।

रचना

उन्होने वेदान्त सूत्र पर 'श्रीभाष्य' लिखा। गीता-भाष्य भी किया। श्रीरगगद्य, शरणागति गद्य और वैकुण्ठ गद्य आदि प्रकीर्ण रचना है। वेदार्थ-सग्रह और वेदान्तदीप का भी उन्होने निर्माण किया।

वाणी

सत्यकाम सत्यसकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते श्रीनारायण वैकुण्ठनाथ अपारकारुण्य सौशील्य वात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे, अनालोचित विशेषाविशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रित वात्सल्यैकजलधे, अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूत निखिल नियमाशेष चिद्वस्तुशेषीभूत निखिल जगदाधाराखिल जगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख श्रीमन्नारायण, अशरणशरण्य, अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलशरणमह प्रपद्ये।

हे पूर्णकाम, सत्यसकल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम, हे महान ऐश्वर्य से युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ, आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणो के महासागर है, छोटे-बडे का विचार न कर सामान्यरूप से सभी लोगो को आप शरण देते है, प्रणत जनो की पीडा हर लेते है। शरणागतो के लिये तो आप वत्सलता के समुद्र ही है। आप सदा ही समस्त भूतो की यथार्थता का ज्ञान रखते है। सम्पूर्ण चराचर भूतो के सारे नियमों और समस्त जड-चेतन वस्तुओ के आप अवयवी है। आप समस्त ससार के आधार

हैं, अखिल जगत तथा हम सभी लोगो के स्वामी है। आप पूर्ण काम और सत्यसकल्प है। समस्त प्रपच से भिन्न और विलक्षण है। याचकों के लिये आप कल्पवृक्ष है, विपित्ति में पड़े हुए लोगो के सहायक हैं। ऐसी महिमा वाले तथा आश्रयहीनों को आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्ना-रायण, मैं आपके चरणारविन्द युगल की शरण में हूँ, उनके सिवा मेरे लिये कही भी शरण नही है।

—शरणागति गद्य

पितर मातर दारान्पुत्रान्बन्धून्सखीन्गुरून।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामाश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरण तेऽव्रज विभो॥

प्रभो, पिता, माता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, गुरु, रत्न, धन, धान्य, क्षेत्र, गृह, सम्पूर्ण धर्म, समस्त कामनाओं और अक्षरतत्व को भी छोडकर मैं सम्पूर्ण जगत को लाघने वाले आपके युगल चरणो की शरण में आया हूँ।

—शरणागति गद्य

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम्।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा॥
सर्वावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिस्तव।
भवेय पुण्डरीकाक्ष त्वमेवैव कुरुष्व माम्॥

नाथ, आपके स्वरूप के अनुभव से प्रकट हुई प्रीति द्वारा उत्पादित दास्यभाव मुझे कृपापूर्वक प्रदान करे। इसके सिवा दूसरी कोई गति मैं नही जानता। कमलनयन! मैं सभी अवस्थाओ में उचित आपके प्रति सम्पूर्ण दास्यभाव विषयक अनन्य अनुराग से युक्त होऊँ। आप मुझे ऐसा ही दास बना दीजिये।

—श्रीरगगद्य

ततश्चानुभूयमानभावविशेषो निरतिशयप्रीत्यान्यत किञ्चित्कर्तुंद्रष्टु स्मर्तु-मशक्त पुनरपि शेषभावमेव याचमानो भगवन्तमेवाविच्छिन्नस्रोतोरूपेणाव-लोकयन्नासीत ततो भगवता स्वयमेवात्मसंजीवनेनावलोकनेनावलोक्य सस्मि-

तमाहूय समस्तक्लेशापह निरतिशय सुखावहमात्मीय श्रीमत्पादारविन्दयुगल शिरसि कृत ध्यात्वामृतसागरान्तर्निमग्न सर्वावयवः सुखमासीत ॥

तब भावविशेष का अनुभव होने पर सर्वाधिक प्रीति प्राप्त होती है। साधक दूसरा कुछ भी करने, देखने और चिन्तन करने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह पुन दासभाव की ही याचना करते हुए निरन्तर अविच्छिन्न प्रवाह रूप से भगवान की ही ओर देखता रहे। उसके बाद भगवान स्वय ही भक्त को जीवनदान करनेवाली कृपा-दृष्टि से देखकर मद मुसकान के साथ बुलाकर समस्त क्लेश दूर करने वाले निरतिसय सुख देने वाले युगल चरणारविन्दो को मेरे मस्तक पर रख रहे है, ऐसा ध्यान कर आनन्दामृतमहासागर में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाय।

—वैकुण्ठ गद्य

महायोगी गोरखनाथ

'बिनु गुरु पन्थ न पाइअ भूलै सो जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सो भेंट।।'

—पद्मावत

गोरखनाथ महायोगी थे, उन्होंने आत्मा में शिवैक्य सिद्ध किया। जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में व्यास के बाद आचार्य शकर ने वेदान्त का रहस्य समझाया उसी प्रकार योग के क्षेत्र में पतजलि के बाद गोरखनाथ ने हठयोग और सत्य के शिवरूप का बोध सिद्ध किया। निस्सन्देह गोरखनाथ बहुत बडे योगानुभवी और सिद्ध महात्मा थे, शकराचार्य के बाद भारत भूमि पर उतरने वाले महात्माओ में गोरखनाथ बडे सिद्ध पुरुष और आत्मज्ञानी स्वीकार किये जा सकते हैं। गोरखनाथ शिवयोगी थे। नैपाल से सिंहल और कामरूप से पजाब तक के विशाल भूमिखण्ड को उन्होंने अपनी अपूर्व योग-साधना से प्रभावित किया। उन्होने शिव प्रवर्तित योगमार्ग का अनुसरण किया। चौरासी सिद्धो में उनकी गणना है। वे नाथपन्थ के प्रवर्तक थे, उन पर बौद्ध धर्म के योगमार्ग-सिद्धान्तो का भी विशेष प्रभाव था, उन्होने अधिकाश बौद्ध योग-सिद्धान्तों को शैव रूप प्रदान किया, यह उनकी साधना-पद्धति की मौलिकता है। गोरखनाथ ने अपने योगसिद्धान्तों से भारतीय सस्कृति और साहित्य के विकास में अमित सहयोग दिया। गोरखनाथ के आविर्भाव के समय भारतीय राजनीति, धर्म और समाज तथा सस्कृति में एक विचित्र उथल-पुथल का आभास-सा दीख पडा। उनके समय का निश्चय करना कठिन काम है, ऐसा विश्वास किया जाता है कि गोरखनाथ आदि पुरुप शिव के अभिव्यक्त रूप थे और विक्रम की पहली शती में उपस्थित थे। ऐतिहासिक छान-बीन करने पर उनका समय नववी से ग्यारहवी शती ठहरता है। उस समय बौद्धो में अनेक सम्प्रदाय उठ खडे हुए तथा यवनों का प्रवेश आरभ हो गया था,

हिन्दू धर्म की स्थिति मे परिवर्तन उपस्थित था। ऐसे समय में गोरखनाथ ने देश का नेतृत्व कर आध्यात्मिक चेतना और सास्कृतिक एकता, सामाजिक अविच्छिन्नता और धार्मिकता की रक्षा की। ऐसा सम्भव है कि वे विक्रमीय ग्यारहवी शताब्दी में उपस्थित थे। सन्त ज्ञानेश्वर के गुरु-परम्परा-वर्णन में गोरखनाथ का नाम आता है, ज्ञानेश्वर के पहले निवृत्तिनाथ, निवृत्तिनाथ के पहले गैनीनाथ और गैनीनाथ के पहले गोरखनाथ थे। इस क्रम से ज्ञानेश्वर और गोरखनाथ के बीच में ढाई सौ साल का अन्तर पडता है, सन्त ज्ञानेश्वर का समय विक्रमीय सम्वत् तेरह सौ बावन है इसलिये यह मत समीचीन-सा ही है कि गोरखनाथ ग्यारहवी शताब्दी में रहे होंगे। उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे भी अनेक मत है। ऐसा कहा जाता है कि गोदावरी-गगा के प्रदेश में चन्द्रगिरि नामक स्थान में उनका जन्म हुआ था, योगि-सम्प्रदायाविष्कृति ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख भी है। इस सम्बन्ध में विशेष खोज करने पर अयोध्या के निकट भगवती सरयू के पवित्र तट से थोडी दूर पर जयश्री या जायस नामक स्थान में उनका जन्म लेना अधिकाधिक सगत दीख पडता है। यह साहित्य-सिद्ध तथ्य है कि जायस नगर धर्मस्थान था, महाकवि जायसी ने अपने पद्मावत में ऐसा स्वीकार किया है।

गोरखनाथ का जन्म परम योगी श्री मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से] हुआ। वे ही उनके योग-गुरु हुए और उन्ही की कृपा से गोरखनाथ ने अमरपद प्राप्त किया। जनश्रुति है कि अवधक्षेत्र में अलख जगाते तथा भिक्षाटन करते हुए मत्स्येन्द्र ने जायस नगर में प्रवेश किया। एक निस्सन्तान ब्राह्मणी को उन्होंने झोली की भभूति दी और कहा कि तुम्हें पुत्र होगा। लोकलज्जा के भय से ब्राह्मणी ने भभूति सूखे गोबर के ढेर में (भिटउर) छोड दी। बारह साल के बाद मत्स्येन्द्रनाथ फिर जायस आये, ब्राह्मणी ने उनसे सही-सही बात बता दी, वे ढेर के निकट गये, उनकी अभिमन्त्रित भभूति ने बारह साल के तेजपूर्ण बालक का आकार धारण कर लिया था। वे बालक को अपने साथ ले गये, गोरखनाथ नाम रखा, शिष्यरूप में स्वीकार किया। गोरखनाथ के प्राकट्य अथवा जन्म की यह दिव्यता है, योगसिद्ध रहस्य है।

गुरु से योग-दीक्षा प्राप्त कर गोरख ने साधना में प्रवेश किया, उन्होंने कठिन-से-कठिन तप का पवित्र आचरण अपनाया। मत्स्येन्द्र ने कहा कि अपने आपको देखना चाहिये और अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्दर्य से सम्पन्न चिन्मय शिवतत्व का विचार करना चाहिये। ज्ञान-प्राप्ति से ही चेतन का रहस्य जाना जाता है। परम ज्योति मे ही जीव सदा निवास करता है। शिव और शक्ति की कृपा-प्राप्ति ही योगी की पूर्ण सिद्धि है। गोरखनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ के उपदेशो और योगसिद्धान्तो के अनुरूप ही अपना जीवन परिष्कृत किया। गोरखनाथ ने माया पर विजय पायी, घर-बार छोड दिया, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया। आशा, तृष्णा और इच्छा का परित्याग कर दिया। देवलोक की अप्सराओ, मृत्युलोक की नवरमणियो और पाताल की नागकन्याओं का उन्होने विस्मरण कर दिया। वे पहाडी गुफाओ और सघन वनो तथा हिमालय की शीतल कन्दराओ में तप करने लगे। उन्होंने उस जीवात्मा की गहरी खोज की जो जगत में शरीर के साथ आता है पर अकेले जाता है। गोरख ने प्राण-पुरुष का अन्वेषण कर जगत में जन्म-मरण के बन्धन से छूटने का रास्ता समझ लिया। उनकी वाणी है कि ज्ञान ही सबसे बडा गुरु है, चित्त ही सबसे बडा चेला है, इसलिये ज्ञान और चित्त का योग सिद्ध कर जीव को जगत में अकेला रहना चाहिये, यही श्रेय अथवा आत्मकल्याण का पथ है। उन्हे एकान्त जीवन परम प्रिय था। उन्होने घट-घट में अपने आप को ही व्याप्त पाया, मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से उन्हे कैवल्यपद की प्राप्ति हुई। वे निन्दा-स्तुति से ऊपर उठ गये। उनकी समस्त वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी। उन्होने आत्मसाक्षात्कार की भाषा में कहा कि मैंने पिंड में ब्रह्माण्ड को ढूढ कर सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली है। देव, देवालय, तीर्थ, आदि इसी शरीर में है। मैंने शरीर के भीतर अविनाशी परमात्मा—अलखनिरञ्जन की अनुभूति की है। कायागढ को जीतना किसी वीर का ही काम है। उनकी उक्ति है कि मै अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से इडा-पिंगला—गगा, यमुना के मध्य—सुषुम्ना में समाधिस्थ होकर ब्रह्मज्ञान में रमणशील रहता हूँ। गोरखनाथ ने ईश्वर-प्राप्ति का सहारा लेकर योग-मार्ग का प्रचार किया, पतजलि के सिद्धान्तों का अनुसरण किया। शिव के साथ जीवन-सधि का योग ही गोरखद्वारा

प्रचारित साधन-पथ है। उन्होंने धौति, बस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति—हठयोग के छ अगों पर विशेष जोर दिया। उन्होंने हठयोग की साधना को सुगम बना दिया। उन्होंने नाथ, जीव, गुरु, शिव—सबके सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। समस्त श्रेयो का मूल उन्होंने गुरु को ही ठहराया। 'नाथ-रूप की प्राप्ति ही मोक्ष है, अद्वैत अवस्था सदानन्द देती है। शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते है, काल संहार करता है और नाथ मुक्ति देते है। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा है, शेष बद्ध जीव है, नाथ सगुण-निर्गुण से अतीत और परात्पर है, ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्दमूर्ति है।'—गोरख का मत था। गोरखनाथ ने कारणरहित अमृतमय स्वप्रकाश ब्रह्म का दर्शन किया। साधनाकाल में ब्रह्मसाक्षात्कार ही गोरखनाथ का सबसे बडा परमार्थ था, इसी के लिये गोरखने योगपथ का प्रश्रय लिया। उन्होंने शिव से एकता पायी; आत्मा को परतत्व शिव स्वीकार किया। गोरखनाथ ने बताया कि आत्मा ही परम पूज्य है, शिव है। उन्होने कहा कि शरीर के नवों द्वारो में नवनाथ है, त्रिवेणी में जगन्नाथ सोपाधिक ईश्वर है और दशवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में केदारनाथ शिव स्वय पर-ब्रह्म है, योग की सारमयी युक्ति ही ससार-मुक्ति है, शून्य का साक्षात्कार होते ही विरल कैवल्यपद में समाकर मेरा द्वैत भाव नष्ट हो गया, मुझे शून्य अथवा ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव हो गया। माया को उन्होंने अविद्या—बन्धनकारिणी और विद्या मुक्तिदायिनी का रूप माना है। गोरखनाथ ने आत्मबोध प्राप्त किया कि शिव ही जीव के रूप में परिणत होते है, जीव से जगत की सृष्टि होती है—शिव जीव, और जगत में अभिन्न हो जाना ही शिवैक्य है।

गोरखनाथ अद्वितीय हठयोगी थे। उन्होंने हठयोग का प्रचार किया और उसके अनुसार अपने जीवन में निष्कल-सकल तत्व से परे शुद्ध चिन्मय परम शिव की अनुभूति की। उन्होंने अपने मन को समझाया कि तुम परब्रह्म होकर निर्द्वन्द्व हो जाओ, मूलाधारचक्र में रहनेवाले सूर्य को सहस्रार में चन्द्रमा से युक्त कर लो, त्रिकुटी में अनाहत-भ्रमर गूज रहा है, ब्रह्मरन्ध्र का कपाट खोल कर महारस—अमृत का पान कर लो। जीवात्मा का मैल छुडा कर तथा सदोष नाडियो से

वायु को शुद्ध कर वक नालि सुषुम्ना में वायु भर कर मुक्त हो जाओ; महारस-पान से मत्त होने पर ही योगीन्द्र-पद मिलता है। गोरख के सिद्धान्तानुसार इड़ा और पिंगला-सूर्य और चन्द्रमा को रोक कर सुषुम्ना से प्राणवायु संचारित करना ही हठयोग है, इससे सिद्धि मिल जाती है। हठयोग से जडता अथवा अविद्या का नाश होता है, आत्मा और परमात्मा की एकता सिद्ध होती है। कुण्डलिनी शक्ति को शिव से समरस करना ही सिद्धि है। वायु, मन और बिन्दु में से किसी एक को वश में करने पर सिद्धि मिलने लगती है। गोरखनाथ के हठयोग ने ज्ञान, कर्म और भक्ति, यज्ञ तप और जप के समन्वय से भारतीय अध्यात्मजीवन को समृद्ध किया। गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के वड़े भक्त और पट्ट शिष्य थे। वे गुरु-परम्परा में वडा विश्वास रखते थे। योग-सिद्धि के लिये मत्स्येन्द्रनाथ ने सिंहल की यात्रा की, सिंहल में पद्मिनी रमणी पर विजय पाना योगसिद्धि का लक्षण है। नैपाली अनु-श्रुति के अनुसार मत्स्येन्द्र अवलोकितेश्वर के अवतार थे। वे कौल थे। वे ब्राह्मण थे। मीनपाद, मच्छेन्द्रपाद, मच्छिन्द्रनाथ आदि उनके नाम थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्हे साक्षात् शिव ने कामरूप नामक महापीठ में योग सिखाया था। उन्होंने कामरूप में साधना की थी। वे बगाल प्रान्त के वारणा ग्राम के ब्राह्मण थे। नववीं से ग्यारहवी सदी को प्रभावित करने वालों में, अध्यात्मक्षेत्र में, जालन्धरपाद, कृष्णपाद, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। एक बार मत्स्येन्द्रनाथ सिहल देश की महारानी मगला और कमला के रमणी-राज्य में पहुँच गये और शिवपार्वती के शापस्वरूप पूर्व ज्ञान को भूल कर विहार करने लगे। गोरखनाथ ने कदली वन में जाकर उनको स्त्री-राज्य से मुक्त कर पूर्व आत्मज्ञान का स्मरण दिलाया। ऐसा कहा जाता है कि एक वार गोरखनाथ वकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे, आकाश-मार्ग से सिद्ध कृष्णपाद कहीं जा रहे थे, गोरखनाथ ने खड़ाऊँ फेंक कर योगवल से उन्हें नीचे गिरा दिया। कृष्णपाद ने कहा कि तुम्हारे गुरु कदली वन में सोलह सौ सेविकाओं द्वारा सेवित महारानी मगला और कमला के साथ महाज्ञान भूलकर कामभोग में व्यस्त है, आयु के केवल तीन दिन शेष है। गोरखनाथ ने कहा कि तुम्हारे गुरु को गौड बगाल के अधीश्वर गोपीचन्द ने मिट्टी में गड़वा

दिया है। दोनो अपने गुरु को मुक्त करने के लिये चल पडे। गोरखनाथ ने लग और महालग नामक दो शिष्यो को लेकर ब्राह्मणवेष में कदली बन में प्रवेश किया। लोगो ने ब्राह्मणवेष वाले गोरखनाथ से आशीष माँगे, सिद्ध की वाणी थी, फलवती होने लगी। उन्होंने योगी का वेष धारण किया, कदली वन के एक सरोवर के किनारे बैठी एक नवरमणी उनके दिव्य सौन्दर्य से मुग्ध हो गयी, उसने उन्हें मत्स्येन्द्र का पता बताकर कहा कि मगला और कमला के राज्य में योगी का प्रवेश निषिद्ध है, केवल नर्तकी जा सकती है। गोरख ने नर्तकी का वेष धारण किया और राजद्वार पर जाकर मर्दल-ध्वनि की, मर्दल से शब्द उठने लगे कि हे गुरुदेव, ऐसा कर्म न करो, इससे महारस अमृत क्षीण होता है। स्त्री के साथ रहने वाले पुरुष की अवस्था नदी तट के वृक्ष के समान होती है, उसके जीवन की कम आशा रहती है। माया नारी मन मोहती है, शुक्रस्खलन से अमृत का सरोवर सूख जाता है। मन में काम विकार होते ही सुषुम्ना के ऊर्ध्व मुख ब्रह्मरन्ध्र से अमृत नीचे गिर पडता है, शरीर क्षीण होता है, मन का घोर मन्थन करनेवाली माया बाघिनी जब महारस को सोख लेती है तब पैर डगमगाने लगते हैं, पेट ढीला हो जाता है और सिर के बाल बगुले के पखों की तरह श्वेत हो जाते है। रूप और कुरूप दोनों में माया-नारी बाघिनी विद्यमान रहती है। जिस माता ने ससार दिखाया, जन्म दिया उसी को गोद में चिपका कर सोना भयकर पतन है। मुक्त होकर भी बन्धन में पड गये। हे मत्स्येन्द्र, तुम आदिनाथ शिव के शिष्य हो, बिन्दु की रक्षा करने वाला ही सच्चा अवधूत है। मत्स्येन्द्रनाथ को महाज्ञान का स्मरण हो आया, वे कदली वन से बाहर आ गये, इस प्रकार गोरखनाथ ने अपनी गुरुनिष्ठा चरितार्थ की।

नैपाल में गोरखनाथ शिव के अवतार स्वीकार किये जाते है, गोरखा-राज्य उनके प्रति प्रगाढ भक्ति का प्रतीक है। एक बार नव नागों को समेट कर वे बैठ गये, नैपाल के राजा ने मत्स्येन्द्र के अनुयायियों पर अत्याचार किया था, गोरखनाथ ने बारह साल का अकाल उत्पन्न किया, नैपाल नरेश ने मत्स्येन्द्र-यात्रा-उत्सव किया, मत्स्येन्द्र की कृपा से गोरखनाथ ने नैपाल को अकाल से मुक्त किया। नैपाली जनश्रुति-परम्परा

में वे बौद्ध साधक अनगवज्र अथवा रमणवज्र भी स्वीकार किये गये है पर यह बात नितान्त निश्चित हो गयी है कि वे शैव योगी थे।

एक बार गोरख हिमालय के चरण देश–सिहल में भ्रमण कर रहे थे। उज्जैन नरेश चन्द्रसेन के पुत्र महाराजा भर्तृहरि उस देश में अपनी रानी पिंगला के साथ विहार कर रहे थे। उनमें वैराग्य की वृत्ति पहले से ही जागृत थी। महाराजा भर्तृहरि मृग मार कर लौट रहे थे, मृगी करुण विलाप कर रही थी। राजा के कोमल हृदय से उसका विलाप सहा न गया। महायोगी गोरखनाथ ने अपने योगबल से मृग को प्राण-दान दिया, महाराजा भर्तृहरि उनके शिष्य हो गये।

गौड बगाल के शासक गोपीचन्द की माता मयनामती भर्तृहरि की बहिन थी। गोपीचन्द्र के योग-ग्रहण-काल में गोरखनाथ उनके राज-प्रासाद में उपस्थित थे। वे फूल के रथ पर आरूढ़ होकर आये थे, गोपीचन्द को उन्होने आशीर्वाद दिया था।

स्यालकोट के राजा पूरण गोरखनाथ के शिष्य थे। उनकी राजधानी गजवनी या गजपुर थी। वे सालिवाहन के पुत्र थे। उनकी विमाता, जो नवयुवती थी, उनपर मोहित होकर काम-प्रस्ताव कर बैठी, पूरण ने अस्वीकार कर दिया, उनके हाथ-पैर काट कर उन्हे कुएँ में डाल दिया गया। पूरण की सगी माता रोते-रोते अन्धी हो गयी, गोरखनाथ ने पूरण का उद्धार किया, योग-दीक्षा दी, वे चौरगी नाथ के नाम से प्रसिद्ध योगी हुए।

पजाबी प्रेम-कथा में हीर और राझा के नाम अमर है। भगवती झेलम के पवित्र तट पर गोरख-टीला राझा की योग-साधना का प्रतीक है। राझा को गोरखनाथ ने स्वय योग-दीक्षा दी थी। राझा और हीर दोनो एक-दूसरे से प्रेम करते थे, हीर का विवाह दूसरे से हो गया, राझा ने वैराग्य ले लिया। गोरखनाथ ने राझा से कहा कि तुम को आजीवन भिक्षा मॉगना पडेगा, गुरु का चितन करना पडेगा। ससार को सपना समझना पडेगा, नवयुवतियो को बहिन और बूढी स्त्रियो को माता कहना होगा। राझा अपनी परीक्षा में खरे उतरे। वे योगीवेष मे नदी के दूसरे किनारे रहा करते थे। हीर और राझा दोनो एक-दूसरे से मिला करते थे। एक रात को सयोग से नदी की मध्य धारा मे

पहुँचते-पहुँचते हीर डूब गयी, राझा ने उसको बचाना चाहा पर वे भी मध्य धारा में अदृश्य हो गये।

मेवाड राज्य के सस्थापक बापा रावल की भी गोरखनाथ से भेंट हुई थी। गोरखनाथ ने उन्हें तलवार दी थी और उसी तलवार के बल से बापा रावल ने चित्तौड राज्य अथवा मेवाड राज्य की स्थापना की।

गोरखनाथ ने अपनी योग-साधना से शिवैक्य लाभ किया। भारत के विभिन्न प्रान्तों में उनके सिद्ध पीठ है। गोरखपुर जनपद में राप्ती के तट पर गोरखपुर नगर में उनका एक प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के सन्निकट ही वन-प्रदेश में उन्होंने मानसरोवर स्थान पर तप भी किया था, ऐसा कहा जाता है।

गोरखनाथ अमर हैं। यदुनाथप्रणीत वल्लभदिग्विजय ग्रन्थ में गोरखनाथ की महिमा का पता लगता है। गिरिनार पर्वत के गोरख्य शिखर पर गोरखनाथ के सहसा प्रकट होने की कथा इस ग्रन्थ में मिलती है। गोरखनाथ ने शास्त्र-सम्मत वैदिक योग-पद्धति के ज्ञान से जनता को जागृत कर सत्य और शिव का महाज्ञान दिया। वे महायोगी थे, महासिद्ध और महात्मा थे।

रचना

गोरखनाथ केवल महायोगी ही नही थे, वे उच्च कोटि के विद्वान और कवि थे। उन्होंने सस्कृत और भाषा दोनों में ग्रन्थ-रचना की। उनकी वाणी का निम्नलिखित रचनाओ में अच्छा सकलन मिलता है, वे रचनायें गोरक्ष-कल्प, गोरक्षसहिता, गोरक्ष सहस्रनाम, गोरक्ष शतक, गोरक्ष पिष्टिका, गोरक्षगीता, विवेकमार्तण्ड, गोरक्षशास्त्र, ज्ञानप्रकाश शतक, ज्ञानशतक, ज्ञानामृत योग, नाडीज्ञान प्रदीपिका, महार्थमञ्जरी, योगचिन्तामणि, योग-मार्तण्ड, योगवीज, योगशास्त्र, योगसिद्धासनपद्धति, श्रीनाथसूत्र, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, हठयोग, हठसहिता तथा सिष्यादर्शन, प्राणसकली, नृपतिवोध, आत्मवोध, पन्द्रह तिथि, मच्छिन्द्र-गोरख-वोध, ज्ञानतिलक, पचमात्रा, गोरख-गणेश गोष्ठी, ज्ञानदीपवोध और दयावोध तथा अनेक पद आदि है।

वाणी

धन जोवन की करैं न आस, चित्त न राखै कामिनि पास।
नाद-विंद जाके घट जरै ताकी सेवा पारवती करै॥
अहनिसि मन लै उन्मन रहै, गम की छाडि अगम की कहै।
छाडै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास॥
मन में रहिणा भेद न कहिणा, बोलिवा अमृत वाणी।
आगिला अगनी होइवा अवधू, तौ आपण होइवा पाणी॥
पवन ही जोग पवन ही भोग, पवनइ हरै छतीसो रोग।
या पवन कोइ जाणे भेव, सो आपै करता आपै देव॥
ग्यान सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया, तार्थं गोरख फिरै अकेला॥
सवद हमारा खरतर खाडा, रहनि हमारी साची।
लेखै लिखी न कागद माडी, सो पत्री हम वाची॥

आवै संगै जाइ अकेला, तार्थं गोरख राम रमेला॥
काया हंस संगिह्वै आवा, जाता जोगी किनहूँ न पावा।
जीवन जग में मूआ मसाण। प्राण पुरिस कत कीया पयाण।
जामणमरणा वहुरि वियोगी, तार्थं गोरख भैला जोगी॥

नाथ निरञ्जन आरती साजै, गुरु के सवदूँ झालरि वाजै।
अनहद नाद गगन में गाजै, परम जोति तहाँ आप विराजै।
दीपक जोति अखण्डित वाती, परम जोति जागै दिन-राती।
सकल भवन उजियारा होई, देव निरञ्जन और न कोई।
अनत कला जाके पार न पावै, संख मृदंग धुनि वेनु वजावै।
स्वाति बूंद लै कलश वदाऊँ, निरति सुरति ले पुहप चढाऊँ।
निज तत नाव अमूरति मूरति, सव देवा सिर उदवुदि सूरति।
आदि नाथ-नाती, मछेन्द्रनाथ-पूता, आरती करै गोरख अवधूता॥

सुनि ज माई सुनि ज बाप, सुनि निरजन आपै आप।
सुनि के परचै माया सथीर, निहचल जोगी गहर गमीर॥

आऊँ नही जाऊँ निरञ्जन नाथ की दुहाई।
प्यण्ड ब्रह्मण्डै खोजता, अम्हे सब सिधि पाई॥
कायागढ भीतर नव लख खाई। दसवै द्वारि अवधू ताली लाई॥
कायागढ भीतर देव देहुरा कासी। सहज सुभाइ मिले अविनासी॥
बदन्त गोरखनाथ सुणौ नर लोइ। काया गढ जीतेगा बिरला कोई॥

मन रे! राजाराम होइले निरदद। भूलै कमलै साजि लै रविचन्द॥
अनहद भोरौ भवे त्रिवेणी के घाट। पीयलै महारस फाटिलै कपाट॥
चन्दा करिले षूटा, सूरज करिलै पाट। नित उठि धोबी धोवै त्रिवेणी के घाट।
भरिले नाडी षोडी, पूरिलै बक नालि। बदन्त गोरखनाथ अवधू इमि उतरिबो पारि।

योगी भर्तृहरि

'विषय-भोग में रोग, कुल में च्युति, धन में राजा, मौन में दैन्य, बल में शत्रु, रूप में बुढ़ापा, शास्त्र में वाद, गुण में खल, शरीर में मृत्यु का भय है, समस्त वस्तु भय उत्पन्न करने वाली है, केवल वैराग्य ही अभय है।'

—वैराग्यशतक

योगी भर्तृहरि वैराग्य के मूर्त रूप थे। उनके नाम का स्मरण होते ही मन में ससार के प्रति अनासक्ति का भाव पैदा होता है। उन्होने स्वर्गीय भोगो पर लात मार कर शिव के चरणदेश में अपने आपको समर्पित कर दिया, योग और वैराग्य के माध्यम से अमर पद प्राप्त किया। उन्हे राजप्रासाद के वैभव, पिंगला ऐसी परम रूपमयी के सौन्दर्य और नित्य नवीन यौवन, चक्रवर्ती सम्राट के अधिकार अपनी ओर आकृष्ट न कर सके। उन्होने आत्मसाक्षात्कार कर पूर्ण परमानन्द, पद प्राप्त कर लिया। योगिराज भर्तृहरि का पवित्र नाम वैराग्य का ज्वलन्त प्रतीक है, वे त्याग, वैराग्य और तप के प्रतिनिधि थे। हिमालय से कन्या अन्तरीप तक के भूमिभाग मे उनकी पद्यवद्ध जीवन-गाथा भिन्न-भिन्न भाषाओ में योगियो और वैरागियो द्वारा एक अनिश्चित काल से गायी जा रही है और भविष्य में भी यही क्रम वहुत दिनो तक चलता रहेगा। उन्होने विषय-सुख का पूर्ण भोग करने के वाद वैराग्य के असीम राज्य में प्रवेश किया था। उनकी कथनी-करनी समान थी, उन्होंने अनुभव की वाते कही है। भर्तृहरि ने गोरखद्वारा प्रवर्तित वैराग्य-पथ के विकास में वड़ा योग दिया। भर्तृहरि विक्रमीय सम्वत् की दसवी या ग्यारहवी शती में विद्यमान थे। भर्तृहरि नाम से कई एक महापुरुष हो गये है, उनमें से एक विक्रमीय सम्वत् से सौ साल के पहले के भी हो सकते है, दूसरे सातवी या आठवी शताब्दी के हो सकते है पर उज्जयिनीपति योगी भर्तृहरि दसवी या ग्यारहवी शताब्दी में थे, वे गोरखनाथ के योगसम्प्रदाय में उन्ही के द्वारा दीक्षित थे। मालव प्रदेश

में भगवती शिप्रा के अचल में, कविता-कला-सगीत की पवित्र दिव्यभूमि-उज्जयिनी में महाराजा भर्तृहरि ने जन्म ग्रहण किया था। उनके पिता गन्धर्वसेन अथवा चन्द्रसेन थे, उन्होंने दो विवाह किये थे, पहली पत्नी से भर्तृहरि और दूसरी से महाराजा विक्रमादित्य थे। महाराजा भर्तृहरि चक्रवर्ती नरेश थे, एक सौ आठ राजा और अधिराजा उनके चरण में नतमस्तक थे। छोटे भाई विक्रम से राजकार्य-सचालन में उन्हे बडी सहायता मिलती थी। विक्रम के सबल कन्धों पर शासन का भार रख कर वे निश्चिन्त हो कर भोगविलास में निमग्न थे। वे अपनी पटरानी सिंहल देश की रमणी परम रूपमयी सामदेवी अथवा पिंगला के सौन्दर्य पर रीझ कर पूर्ण विलासी हो गये थे। राज्य पर शत्रुओं के आक्रमण का भय उत्पन्न होने पर भी वे अपनी विलास-प्रियता से क्षणमात्र के लिये भी विमुख न हो सके। वे पिंगला को प्राणों से भी अधिक चाहते थे।

उनके छोटे भाई विक्रमादित्य कभी नही चाहते थे कि पिंगला के वश में रह कर भर्तृहरि राज्यकार्य से उदासीन रहे। उन्होंने मनाने का प्रयत्न किया पर भर्तृहरि ने उनकी बात अनसुनी कर दी। विक्रम ने उनकी विलासी मनोवृत्ति के प्रति विद्रोह किया। इसी बीच में एक विचित्र घटना का उन्हे पता लगा कि पिंगला अश्वशाला के अध्यक्ष में आसक्त है, उन्होने भर्तृहरि को सचेत करना चाहा पर पिंगला के कहने पर उन्होंने विक्रम को राज्य के बाहर कर दिया।

नित्य प्रति भर्तृहरि की आसक्ति पिंगला में बढती ही गयी, यौवन के वसन्त का विहार चलता ही गया। महाराजा भर्तृहरि की शृगार-पिपासा में किसी प्रकार का अभाव नही था पर कभी-कभी उनका मन चिंतित हो उठता था कि ससार नश्वर है, अनित्य है, दुखालय है, इसके समस्त पदार्थ बन्धनकारी हैं, निस्सन्देह ससार और उसके पदार्थों से परे भी किसी की सत्ता है जो शाश्वत शान्ति और परमानन्द की निधि है, जीव का परम ध्येय वही है।

भर्तृहरि के जीवन पर अमरफलवाली घटना का असाधारण प्रभाव पडा। एक बार घोर तप के परिणामस्वरूप एक योगी ने दैवकृपा से अमरफल की प्राप्ति की, उस फल को खाने पर शरीर में यौवन का

कभी क्षय नही होता और शरीर अमर हो जाता। योगी ने सोचा कि इस फल के एक मात्र अधिकारी महाराजा भर्तृहरि हैं, उनके अमर जीवन से प्रजा शाश्वत-शान्तिपूर्ण राज्य-सुरक्षा का अनुभव करेगी। .. योगी ने राजप्रासाद में प्रवेश किया, उसके हाथ में अमरफल था, शृंगार और भोग, विलास तथा वैभव के वातावरण में वैराग्य, तप और त्याग के मूर्त रूप योगी को देख कर राजा विस्मित हो उठे, उनका विवेक जाग उठा, योगी ने अमरफल दिया। योगी के जाने पर राजा ने सोचा कि पिंगला तो मेरे लिये प्राण से भी प्रिय है इसलिये इस फल के पात्र वे ही हैं। रानी ने अमरफल लेने पर मन में विचार किया कि अश्वशाला का अध्यक्ष मुझे बहुत चाहता है, उसके अमर होने पर मुझे विशेष सुख और शान्ति की प्राप्ति होगी। अश्वशाला के अध्यक्ष को पिंगला ने छिपे रूप से अमर फल दे दिया। अश्वशाला का अध्यक्ष एक वेश्या में आसक्त था, उसने वेश्या को अमर फल दे दिया। वेश्या ने विचार किया कि मेरा शरीर वैषयिक सुख में आबद्ध है, मैंने आज तक पाप-ही पाप किये हैं, दूसरो की कामवासना की शान्ति में मै आज तक सहायक बनी रही, मेरे अमर फल खा लेने से असख्य जीव पतित होगे, अगणित जन पाप के भागी होगे। महाराजा भर्तृहरि प्रजापालक हैं, उनके राज्य में सुख और शान्ति है, अमर फल खाने के अधिकारी वे ही हैं। वह राजप्रासाद की ओर चल पडी। राजसभा में उपस्थित होते ही स्तब्धता छा गयी।

'महाराज, यह अमर फल है।' वेश्या ने स्वाभाविक ढग से निवेदन किया।

राजा ने अमर फल पहचान लिया। उन्होंने वस्तुस्थिति का पता लगाया। पिंगला रूपी नागिन का भीषण रूप उनके नयनो में नाच उठा। राजप्रासाद के वैभव उन्हे काटने लगे। शरीर के रोम-रोम में भयानक वेदना होने लगी। आँखों के सामने अन्धकार छा गया। पिंगला के प्रति अनासक्ति हो गयी। उन्होने कहा कि वास्तविक शान्ति का पथ वैराग्य है। मैंने आज तक नश्वर सुखो और वस्तुओ में अपना जीवन खो दिया, मैंने वह कार्य नही किया जिसके लिये ससार में जन्म लिया था। मैंने पिंगला को अपने प्राणो से भी प्रिय समझा पर वे मुझसे

अनासक्त होकर दूसरे के प्रेम पाश मे आबद्ध हो गयी। विचित्र तो यह है कि वह दूसरा किसी और में आसक्त था। पिंगला को धिक्कार है, मुझे धिक्कार है, उस दूसरे पुरुष को धिक्कार है, काम को धिक्कार है। उन्होंने वैराग्य लेने का निश्चय कर लिया। राजप्रासाद में हाहाकार मच गया। बडे-बडे विद्वानो और राजनीतिज्ञो ने वैराग्य की ओर से उनका मन फेरने का यत्न किया पर भर्तृहरि अपने सकल्प में ध्रुव थे।

"प्राणनाथ, मै आपके बिना जीवित नही रह सकती।" पिंगला लज्जा और विषाद से काँप रही थी।

"माता, तू मेरी माता है, मेरे वैराग्य में सहायक होना तेरा धर्म है, पुनीत कर्तव्य है, शुभ कार्य में बाधा नही उपस्थित करनी चाहिये।" भर्तृहरि ने समझाया। राजा इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि स्त्री सबसे बडा बन्धन है योग और वैराग्य के पथ में।

वे स्वर्णिम राजप्रासाद से बाहर निकल पडे। राजा ने योग-मार्ग पर यात्रा की। उन्होने महाकाल का स्तवन किया, भगवती शिप्रा के तट पर 'शिव-शिव' करते हुए वे अपने राज्य की सीमा से बाहर हो गये। उन्होने महायोगी सिद्ध गोरखनाथ से दीक्षा ली। शिवयोगी हो गये। स्वर्ण अलकारो से परिशोभित होने वाले शरीर ने जटा, भस्म, मेखला, शृगी, रुद्राक्ष, कन्था और कुण्डल से अपना शृगार किया। वे पवित्र क्षेत्रो, गिरिकन्दराओ और सघन वनो में रमने लगे, उनकी रसना शिव के पवित्र नाम-उच्चारण से धन्य हो गयी। अधरो पर शिवनामामृत-तरगिणी का नृत्य होने लगा। उन्होने अपनी आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति पायी। ब्रह्मानुभूति की, वेदान्त के सत्य का वरण किया। उन्होने अपने आपको धिक्कारा कि विषयो को हमने नही भोगा है, उन्होने हमें ही भोग डाला है, हमने तप नही किया है तपो ने ही हमें तपा डाला है, काल का अन्त नही हुआ, उसी ने हमारा अन्त कर डाला है। हम जीर्ण हो चले पर तृष्णा का अभाव नही हुआ। उन्होने शिवतत्व की प्राप्ति की। ज्ञानोदय ने शिव के रूप में उन्हे शान्ति का अधिकारी बनाया। ससार के आघात-प्रतिघात से दूर रह कर उन्होने ब्रह्म के शिवरूप की साधना की, वैराग्य का अद्भुत सागर उढेल

कर आध्यात्मिक चेतना को नया जीवन दिया। उन्होंने दसो दिशाओ और तीनों कालो में परिपूर्ण, अनन्त, चैतन्यस्वरूप, अनुभवगम्य, शान्त और तेजोमय ब्रह्म की उपासना की। विरक्ति उनकी सगिनी हो चली। महादेव ही उनके एकमात्र देव थे। वे आशा की कर्मनासा से पार होकर भक्ति की भागीरथी में गोते लगाने लगे। वे शब्द-विद्या के भी आचार्य थे। शिवभक्त होने के साथ-ही-साथ शब्द-भक्त भी थे। वे शब्द-ब्रह्म के योगी थे। उनका वैराग्य-दर्शन परमात्मा के साक्षात्कार का पर्याय है।

उनकी समाधि अलवर राज्य के एक सघन वन में अब भी विद्यमान है। उसके सातवे दरवाजे पर एक अखण्ड दीपक जलता रहता है। उसे 'भर्तृहरि' की ज्योति स्वीकार किया जाता है। वे महान शिव-भक्त और सिद्ध योगी थे। ऐसी मान्यता है कि वे अमर हैं।

रचना

भर्तृहरि ने शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक की रचना की। सम्भवत व्याकरण शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' भी उन्ही की रचना है। निस्सन्देह वे महायोगी होने के साथ-ही-साथ बहुत बड़े साहित्यमर्मज्ञ भी थे।

वाणी

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता.।
कालो न यातो वयमेव याता
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।

हमने भोगो को नहीं भोगा, भोगों ने ही हमें भोग लिया: हमने तप नहीं किया, स्वय तप्त हो गये; काल व्यतीत नहीं हुआ, हम ही व्यतीत हो गये; तृष्णा नहीं जीर्ण हुई, हम ही जीर्ण हो गये।

—वैराग्यशतक

भोगे रोगभय कुले च्युतिभय वित्तेनृपालाद्भय
मौने दैन्य भय वले रिपुभय रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभय गुणे खलभय काये कृतान्ताद्भयम्
सर्वं वस्तु भयावह भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम् ॥

भोगों में रोग का भय है, ऊँचे कुल में पतन का भय है, धन में राजा का, मौन में दीनता का, बल में शत्रु का, रूप में वृद्धावस्था का भय है। शास्त्र में वादविवाद का, गुण में दुष्ट जन का तथा शरीर में काल का भय है, इस प्रकार ससार में मनुष्यों के लिये सभी वस्तु भयपूर्ण हैं, भय से रहित तो केवल वैराग्य ही है। —वैराग्यशतक

आदित्यस्य गतागतै रहरहस्सक्षीयते जीवित
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभि कालो न विज्ञायते।
दृष्टवा जन्मजराविपत्तिमरण त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूत जगत् ॥

सूर्य के उदय और अस्त से जीवन क्षीण हो रहा है, विविध कार्यों के भार से गुरुतर प्रतीत होनेवाले अनेक व्यापारों से समय जाता जान नही पडता, जन्म, जरा, मरण की विपत्ति को देख कर भी चित्त में भय नही होता। ससार मोहमयी प्रमाद-मदिरा पीकर उन्मत्त हो गया है। —वैराग्यशतक

रे कन्दर्प कर कदर्थयसि किं कोदण्डटकारितै
रे रे कोकिल कोमलै कलरवै किं त्व वृथा जल्पसि।
बाले स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलै कटाक्षैरल
चेतश्चुम्बित चन्द्रचूडचरणध्यानामृत वर्त्तते ॥

रे काम! अपने धनुष के टकार से हाथों को क्यो थकाता है? अरी कोयल! अपने कोमल कलरवो से वृथा बक-बक क्यो कर रही है? बाले, तुम्हारे इन अतिस्निग्ध, चातुर्यपूर्ण, भोलेभाले, मधुर और चचल कटाक्षों से भी अब कुछ नही हो सकता। अब तो मेरा चित्त चन्द्रशेखर शकर के चरणकमल के ध्यानरूप अमृत का आस्वादन कर चुका है। —शृगारशतक

जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य
मानोन्नतिं दिशति पापमपा करोति।
चेत. प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति
सत्सगति कथय किं न करोति पुसाम् ॥

सत्सगति क्या उपकार नहीं करती, बुद्धि की जडता हरती है, वाणी में सत्य का सचार करती है, सम्मान बढाती है, पाप दूर करती है, चित्त को आनन्दित करती है और समस्त दिशाओ में कीर्ति का विस्तार करती है। —नीतिशतक

सन्त वसवेश्वर

'पुरुष, स्त्री या अन्यान्य जाति और आश्रम आदि भजन में कारण नहीं है, केवल भक्ति ही एक कारण है।' —अध्यात्म रामायण

सन्त वसवेश्वर वारहवी शताब्दी के भारत देश की अमित दिव्य विभूति थे। उन्होने वीरशैव धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार कर मानवीय जीवन को समरस वनाने का पूरा-पूरा यत्न किया। वे महान शैव सन्त थे। दक्षिण भारत में जैन, वैष्णव और शैव धर्म का ही समय-समय पर विशेष प्रभाव रहता आया है। वसवेश्वर के पहले जैन धर्म का वोलवाला था, उसके वाद कहीं-कही वैष्णव आलवार सन्तो द्वारा प्रचारित तथा रामानुज आचार्य द्वारा समर्थित वैष्णव धर्म का प्रभाव था। सन्त वसवेश्वर ने शैवधर्म का अभ्युत्थान तो किया ही, साथ-ही-साथ उन्होने उसका वैष्णव धर्म से समन्वय भी किया। समन्वय वाहर-ही-वाहर था, भीतर दोनों का सैद्धान्तिक मतभेद वना रहा और दोनो का सघर्ष वहुत दिनों तक चलता रहा।

कन्नड साहित्य तथा आन्ध्र साहित्य में सन्त वसवेश्वर का वडा नाम है। कन्नड में उन्हे वसवन्ना या वसव भी कहा जाता है। उनके प्रभाव से लोगो ने कर्ममार्ग को छोड़ कर भक्तिमार्ग अपना लिया, प्रत्येक प्राणी में शिवभक्ति की लहर उमड़ने लगी। वसवेश्वर ने साहित्य और धर्म के माध्यम से जीवन-क्रान्ति की, उन्होने वीरशैव धर्म के सफल आन्दोलन से शिव को जनप्रिय अथवा लोकप्रिय वनाया, कन्नड भाषा-भाषियो के अधरो पर शिव के परम पावन नाम का विहार होने लगा। वीरशैव धर्म लोकधर्म हो गया, घर-घर में सन्त वसवेश्वर के वचनो का पाठ आरम्भ हो गया, जैन और वौद्ध धर्म को वडा धक्का लगा। कर्णाटक के महान सन्त वसवेश्वर जनता के वहुत वड़े शिक्षक थे। उन्होने शिव की प्रसन्नता के लिये सर्वस्व स्वाहा कर दिया,

महामहिम शासक बिज्जल का प्रधान मन्त्रित्व उनकी साधना को खण्डित न कर सका, कल्याण नगर के विशाल राज्य का अधिकारमद उन्हे ससार के मायाजाल में न फँसा सका। उन्होने मानव जीवन को नया प्रवाह दिया, नयी चेतना दी, आध्यात्मिक क्रान्ति की। आत्मा में स्थित सत्य को ही उन्होने शिव स्वीकार किया। कामिनी और कचन उन्हे अपने बन्धन मे मुग्ध न कर सके। सन्त वसवेश्वर ने शिव की शरणागति को ही शाश्वत आत्मधर्म माना। ससार में रह कर भी वे कभी ससार की वस्तुओं में आसक्त न हो सके, जल में कमल के समान निष्पक्ष ही बनेरहे, यही उनकी विशेषता है।

लगभग आठ सौ साल पहले की बात है। कर्णाटक प्रान्त के श्री शैल के समीप इगलेश्वर गाँव में एक समृद्ध ब्राह्मण परिवार था। उसी कुल में एक राजा मादिराजा थे। उनकी पत्नी का नाम मादलाम्बिका था। दोनो भगवान शिव के बडे भक्त थे। वे वैभव और विलास में डूबे हुए थे पर वे निस्सन्तान थे। केवल इसी बात से वे चिंतित रहते थे। दोनों ने सन्तान-प्राप्ति के लिये शिव की श्रद्धापूर्वक भक्ति की, शिव प्रसन्न हुए। सम्वत् ११८९ वि में वैशाख शुक्ल चौथ को श्री नन्दीश्वर की प्रसन्नता से उन्हे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, उन्होंने सन्तान का नाम वसवन्ना अथवा वसवेश्वर रखा। वसवेश्वर का पालन-पोषण सुदर ढग से हुआ, उन्हे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी गयी। किसी भी प्रकार के अभाव का दुख उनको लेशमात्र भी नही था पर विचित्र वात यह थी कि अपने माता-पिता की देखा-देखी वे वडी रुचि और निष्ठा से शिव के नाम का अनवरत उच्चारण करते रहते थे, माता-पिता ने शिवभक्त सन्तान पाकर अपने सौभाग्य की सराहना की। शैव-सिद्धान्तों के अनुरूप सगमनाथ नामक संन्यासी ने उनके लिङ्गधारण आदि सस्कार सम्पन्न कराये। वसवेश्वर का मन खेलने में कम लगता था। वे जन्मजात शिवभक्त थे, अपने सहपाठियो और मित्रो से दूर भाग कर एकान्त में कुछ-न-कुछ सोचा करते थे। ससार की क्षणभगुरता देख कर विचार करते थे कि जीव की स्वाभाविक गति शिवमुखी है, शिव का ध्यान करने से उन्हे वडी शान्ति मिलती थी। उनका स्वभाव मधुर और मृदुल था। दीन-हीन और असहायों को देख कर दया से द्रवित हो जाते थे। शिव की लीलाओं के चिंतन में अधिक समय लगाते थे।

जब वसवेश्वर आठ साल के हुए तब माता-पिता ने उनके उपनयन-सस्कार की बात सोची। शुभ तिथि निश्चित की गयी। उत्सव-मण्डप में दूर-दूर से आये हुए सगे-सम्बन्धी उपस्थित थे। कल्याण के अधिराज विज्जल के दण्डनायक बलदेव भी समारोह में सम्मिलित हुए। वे वसवेश्वर के मामा लगते थे। वे वसवेश्वर के मधुर स्वभाव और कोमल सौन्दर्य से विशेष आकृष्ट हुए। इसी बीच में वसवेश्वर की चित्त-वृत्ति बदल गयी। उन्होने मन में सोचा कि सदाशिव की आराधना ही प्राणी का एक मात्र कर्तव्य-धर्म है, ऐसी स्थिति में उपनयन आदि बाह्य सस्कार तो निरे बन्धन है, उनका हृदय यह सोच कर काप उठा कि सदाशिव की प्राप्ति के मार्ग में जीवन एक बन्धन स्वीकार कर रहा है। बलदेव सोच रहे थे कि उपनयन-सस्कार सम्पन्न होने पर मै वसवेश्वर को अपना जामाता बनाने का प्रस्ताव रखूगा। वसवेश्वर ने उपनयन-सस्कार में विघ्न डाला, उन्होने कहा कि वीर-माहेश्वर लोग मेरे पिता है, माता है, मुझे उनसे ही शान्ति मिलेगी, ये बाह्य सस्कार मुझे मान्य नही है। अन्तकरण की शुद्धि ही उपवीत है। आचार्य गण विस्मित हुए। शास्त्रमहारथी स्तव्ध हो गये। माता-पिता ने पुत्र को समझाने का यत्न किया पर वसवेश्वर अपने निश्चय पर दृढ रहे। बलदेव की बात मन में ही रह गयी। इस प्रकार उप-नयन-सस्कार में विघ्न डाल कर वसवेश्वर अपनी बहिन नागलाम्बिका के साथ उसके घर कूडल सगमेश्वर क्षेत्र चले आये। एक तपस्वी शिवशरण शैव सन्त ने उनको शिवतत्व का रहस्य समझाया, वे सगमे-श्वर शिव की आराधना करने लगे। बलदेव ने अपनी कन्या नीला-म्बिका अथवा गागाम्बिका के विवाह की बात वसवेश्वर से चलायी, शिवशरण तपस्वी को इस शुभ कार्य में उन्होने मध्यस्थ बनाया। विवाह की बात पक्की हो गयी। धूमधाम से विवाह-सस्कार सम्पन्न हुआ, समस्त जगत को शिवरूप समझने वाले आत्मज्ञानी सन्त वसवेश्वर इस कार्य में तनिक भी आसक्त न थे, उन्होने इसको शिव की कृपा समझ कर गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया। विवाह के बाद वे अपनी पत्नी के साथ कल्याण से कूडल सगमेश्वर चले आये, शिवशरणो ने उनका स्वागत किया। वे अपने इष्ट देव सगमेश्वर की आराधना में

तत्पर हो गये। दूर-दूर तक उनकी शिवभक्ति की ख्याति फैलने लगी। वडे-वडे सन्त और महात्मा उनसे सत्सग करने के लिये आने लगे। वसवेश्वर ने सगमेश्वर शिव की कृपा-दृष्टि प्राप्त की। ससार में उन्हें शिव-ही-शिव दीखने लगे। वसवेश्वर के विवाह के कुछ ही दिनो वाद वलदेव का स्वर्गवास हो गया। कल्याण-नरेश विज्जल ने वसवेश्वर को अपना प्रधान मन्त्री वनाने का प्रस्ताव रखा। उस समय वसवेश्वर लोकप्रिय थे, उन्होंने सोचा कि वीरशैव सिद्धान्त के प्रचार के लिये सगमेश्वर शिव ने अच्छा अवसर प्रदान किया है। इसका उपयोग कर लेना ही श्रेयस्कर है, उन्होंने प्रधान मन्त्री का पद स्वीकार कर लिया। कल्याण में ही निवास करने लगे। कल्याण शिवशरणों और शैव सन्त-महात्माओ के सत्सग का अखाडा हो गया। नित्य प्रति शिव की भक्ति समृद्ध होने लगी। शिवभक्त दूर-दूर से आकर वसवेश्वर से दीक्षा लेने लगे। प्रसिद्ध शिवोपासक अक्कमहादेवी, सिद्धरामेश्वर, साकलेश मादरस आदि उनके परिचय से अपने-आपको धन्य मानने लगे। प्रसिद्ध शैव अल्लामा प्रभु उनसे मिलने कल्याण गये, वसवेश्वर ने उनकी बडी आवभगत की, अल्लामा प्रभु अपने समय के वहुत वडे सिद्ध थे।

विज्जल को वसवेश्वर की प्रसिद्धि से ईर्ष्या हो गयी। वे उनसे जलने लगे। उनको नीचे गिराने का उन्होने प्रयत्न किया। एक वार उन्होने मिट्टी और काठ की दो शिवशरण-प्रतिमायें वनवायी। उन्होंने वसवेश्वर से कहा कि दो शिव के भक्त आपका दर्शन करना चाहते है। राजा विज्जल की वुद्धि आश्चर्य में पड गयी, उन्होने देखा कि प्रतिमायें वास्तव में प्राणमय शिवशरणो में रूपान्तरित हो गयी। इस घटना ने आग में घी का काम किया, उनका रोष वढ गया, वे उनको वात-की-वात में अपमानित करने के लिये कटिवद्ध हो गये। सन्त वसवेश्वर के लिये तो वे शिव के रूप ही थे, सन्त मित्रता और शत्रुता से परे होकर समस्त चराचर में समान भाव रखता है। वसवेश्वर के लिये न तो कोई वडा था, न छोटा था, न तो कोई धनी था, न गरीव था, न तो कोई व्राह्मण था, न शूद्र था। उनके लिये समस्त विश्व में, समस्त रूप में शिव ही अभिव्यक्त थे। सन्त वसवेश्वर ने मधुवय्या व्राह्मणकन्या से नीच जाति के हरलय्या का विवाह करवाया। सन्त की लीला विचित्र

होती है, उनका ध्येय या दृष्टिकोण साधारण मानव नही समझ सकते हैं। समाज के अनेक लोग सन्त वसवेश्वर के कट्टर शत्रु हो गये, विज्जल की क्रोधाग्नि भडक उठी। सन्त वसवेश्वर आत्मा की आवाज को सबसे वडा प्रमाण मानते थे। शिवशरणो और शैव सन्तो की कल्याण में जमघट देखकर विज्जल ने सोचा कि वसवेश्वर पडयन्त्र से राज्य हडपना चाहते हैं। मधुवय्या और हरलय्या के विवाह से वे विशेष क्रुद्ध हो उठे, उन्होने दोनों को समाज के प्रति दोषी और अपराधी ठहरा कर उनके परिवार वालो को असहनीय दण्ड दिया, वसवेश्वर ने वहुत कहा पर उनकी बात पर राजा ने ध्यान नही दिया। वसवेश्वर ने प्रधान-मन्त्री का पद त्याग दिया, कूडल सगमेश्वर मे शिव की आराधना करने लगे।

वसवेश्वर ने शक्तिविशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया। वीरशैव धर्म के प्रचार में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। लिंगधारण वीरशैव धर्म का सवसे कडा नियम था, यह शिवभक्तो और शिवशरणो के लिये अनिवार्य था। उन्होने जनता को शिवभक्ति और साधना का सीधा-सादा मार्ग बताया। उन्होने 'सर्वम् शिवमय जगत्' की घोपणा की। उन्होने शिवतत्व को सजीवता दी, समाज से कहा कि स्त्रियो को आत्मविचार का पूरा-पूरा अधिकार है। अपने शिवभक्तिसम्बन्धी वचनो से उन्होंने एक ही साथ धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक क्रान्ति कर आत्माभ्युदय का प्रकाश दिखाया। शिव-साहित्य लोकभाषा का प्राण वन गया।

सन्त वसवेश्वर शिवधर्म की निन्दा कभी नही सह सकते थे।.. जगदेव नामक दण्ड-नायक द्वारा विज्जल की हत्या होने पर विज्जल के पुत्रो ने अपराध का उत्तरदायित्व सन्त वसवेश्वर पर रखा। राजपुत्रो ने सन्त वसवेश्वर के जीवन का अन्त करवा दिया। ऐसा कहा जाता है कि सांसारिक प्रपञ्चों से ऊव कर उन्होंने एक तालाव में डूव कर आत्महत्या कर ली। स १२२७ वि में वे शिव में लीन हो गये, लिंगैकम हुआ। वसवेश्वर के समाधिस्थ होने के वाद उनके अनुयायियो ने उन्हे अनादि भक्त और शिव का अवतार माना। कूडल सगमेश्वर क्षेत्र में ही उनका लिंगैक्य हुआ था।

सन्त वसवेश्वर ने भोग के वातावरण में रह कर भी वैराग्य-रस का अनुभव किया। उन्होंने आत्मगत सत्य में शिव का सौन्दर्य उरेहा, वे शिव के बहुत बडे भक्त थे। शैवधर्म के उत्कर्ष में—विशेषता से वीर शैवधर्म अथवा शिवाचार या लिंगायत-सम्प्रदाय के उत्कर्ष में उन्होने अभूतपूर्व योग दिया, वे आत्मविजयी सन्त थे। उन्होंने आत्मा का शिव की भक्ति से विवाह कर शुद्ध सच्चिदानन्द रसघन ब्रह्म की चिन्मय ज्योति से मानवता का भव्य शृगार किया।

रचना

उनकी रचना 'वसवेश्वर के वचन' के नाम से प्रसिद्ध है, उन्होंने कन्नड को वचन-साहित्य दिया।

वाणी

एक ईश्वर 'शिव' ही पूज्य है, अहिंसा ही धर्म है। अधर्म से प्राप्त वस्तु को अस्वीकार करना ही व्रत है। इच्छाओं को वश में रखना सयम है। शान्ति ही तप है। किसी से कपट न करना ही भक्ति है।

देवलोक और मर्त्यलोक कही अलग-अलग नही है। सच बोलना देवलोक है, झूठ बोलना मर्त्यलोक है। सदाचार स्वर्ग है, अनाचार नरक है।

जो मनुष्य यह कहता है कि ईश्वर ही मेरे आश्रय है उसके सब दिन एक समान है।

मनुष्य को अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, आत्मज्ञान ही गुरु है।

चकोर चन्द्रमा का प्रकाश खोजता है, कमल सूर्योदय की चिंता करता है। भौंरा गन्ध चाहता है। मुझे परमात्मा के नाम-स्मरण की चिंता है।

सच्चा भक्त वह है जो अपने से मिलने वाले सब भक्तो को प्रणाम करता है।

ब्रह्मा की पदवी मुझे नही चाहिये, विष्णु और शिव की पदवी की भी इच्छा नहीं है। मुझे यह पदवी चाहिये कि मै शिवभक्तों की महानता जान सकूँ।

धनवान ईश्वर का मन्दिर वनवाते है पर मै तो गरीव हूँ। मेरी टाँगें ही स्तम्भ है, शरीर देवमन्दिर है, सिर सोने का कलश है। एक स्थान पर स्थापित मन्दिर को लोग अपवित्र कर सकते है पर चलता-फिरता मन्दिर सदा पवित्र रहता है।

न मुझसे अधिक कोई तुच्छ है और न शिवभक्त से अधिक कोई वडा है। हे शिव! आपके चरण इसके साक्षी है, मेरा मन ही इस तथ्य को जानता है।

हे शिव! आप स्वामी हो, नित्य हो। .. 'महादेव' के अतिरिक्त दूसरा शब्द ही नही है। पशुपति! समस्त ससार के देव हो। स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल के आप ही स्वामी हो।

सन्त फरीद

'मेरे पीर पवित्रात्मा मौलाना फरीद हैं। परमेश्वर ने इस लोक में उनके समान किसी दूसरे की रचना नहीं की।'

—निजामुद्दीन औलिया

सन्त की चरण-धूलि ही परम वदनीय है, सत्य ही आचरणीय है, भगवान ही उपास्य है। सन्त के लोकोत्तर और चमत्कारपूर्ण जीवन में असाधारण सत्य की ही अभिव्यक्ति होती रहती है। सन्त की महिमा का बखान पूरे रूप से नहीं किया जा सकता है, उनका जीवन लोककल्याण का परमाश्रय होता है। सन्त फरीद एक बडे सिद्ध महात्मा थे, दरवेश के पथ पर चलने वाले असाधारण प्राणी थे। वे विक्रम की तेरहवी शताब्दी के दूसरे चरण में उपस्थित थे। वे सूफी सन्त थे, उनकी रहनी और करनी वडी ऊँची थी। तत्कालीन वडे-बडे औलिया, सिद्ध, फकीर और सन्त उनके दर्शन प्राप्त कर अपना जीवन परम धन्य और सफल समझते थे।

शाह अथवा सन्त फरीद के पूर्वज कावुल के निवासी थे। आध्यात्मिक जीवन और उच्च विचार तथा चिन्तन के लिये उनके परिवार वाले वडे प्रसिद्ध थे। सम्वत् ११८७ वि की वात है। सन्त फरीद के पूर्वज कावुल से पञ्जाव चले आये, वे सैनिक जीवन बिताते थे। पञ्जाव में ही सदा के लिये बस गये। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति वडी विचित्र थी। चारों ओर लूटपाट और अशान्ति का बोलबाला था, कुछ दिनो पहले किये गये आक्रमणो से भारतीय जनता भयभीत थी, विदेश के रहने वालों पर उसका विश्वास नही था, ऐसी स्थिति में ऐसे दरवेशों और महात्माओं की आवश्यकता थी जो विदेश और भारत में पारस्परिक विश्वास से जनता को शान्ति का अभय सन्देश सुनाते। सन्त फरीद उसी ऐतिहासिक आवश्यकता की एक वहुत वडी पूर्ति थे, उन्होने शान्ति और प्रेम का सदेश दिया। सन्त फरीद दीपालपुर के

सन्निकट कोठीवाल में सम्वत् १२३० वि में पैदा हुए थे। उनके माता-पिता दोनो वडे ईश्वर-विश्वासी थे, वे सदाचार और सयम से रह कर गृहस्थी के सारे कार्य करते थे। सन्तों और महात्माओ का समय-समय पर दर्शन करते थे और घर पर भोजन के लिये आमन्त्रित करते थे। उनके ईश्वरविश्वासी पवित्र जीवन के सस्कारों ने सन्त फरीद के विकास और शिक्षा-दीक्षा पर वडा प्रभाव डाला था। एक वार फरीद जव वच्चे थे तो उन्होंने अपनी माता से पूछा था कि ईश्वर की प्रार्थना करने से क्या मिलता है। माताने आश्चर्यचकित होकर वालक के मुख की ओर देखा। उन्होंने वडे प्रेम से उनको गोद में वैठा कर कहा कि ईश्वर वडे दयालु और सुन्दर है, उनमें वडे मीठे-मीठे गुण है, जो उनका नाम लेता है वह ससार में किसी से भी नही डरता है। उन्हे प्यार करना चाहिये, उनकी पूजा करने से वडा सुख मिलता है। फरीद माता की वात वडे ध्यान से सुन रहे थे। उन्होने कहा कि मै ईश्वर की प्रार्थना अवश्य करूँगा, मै उनका नाम-स्मरण कर ससार के प्राणियो को अभय करूँगा। वे ही मेरे एक मात्र प्रियतम है, मैं केवल उन्हे ही प्यार करूँगा, मै उनके मीठे-मीठे गुणो को पाने का यत्न करूँगा। इतना कहते-कहते वे प्रेमविभोर हो गये, उनके मुख पर दिव्यता चमकने लगी, रोमरोम में आनन्द छा गया। मा को वालक की अवस्था से विस्मय हुआ, वे परम भगवद्भक्त थी, उन्होने ईश्वर से प्रार्थना की कि फरीद के सव वचन सच हों। माता ने फरीद से कहा कि ईश्वर की प्रार्थना से शक्कर मिलता है। फरीद इस वात को सुनकर भगवान की प्रार्थना के लिये विशेष उत्सुक हो उठे। वे नित्य प्रति सच्चे भाव से, शुद्ध अन्तकरण और श्रद्धा-भक्ति से भगवान के नाम का स्मरण करने लगे। लोग उन्हे शकर-गज--शक्कर की निधि कह कर पुकारने लगे। उनका स्वभाव प्रेममय, मधुर, उदार और कोमल था।

प्रारम्भिक अवस्था में सन्त फरीद को कुरान की शिक्षा दी गयी, कुरान पढने से उनके आध्यात्मिक भाव की परिपुष्टि हुई पर उनकी विचार-धारा कुरान में ही सीमित नही रह सकी, वह तो समस्त मानवो के कल्याण-चिन्तन की प्रतीक थी। सन्त फरीद ने अपने शिक्षा-गुरु के साथ मक्का और मदीना की यात्रा की। इस यात्रा ने उनकी ईश्वर-

भक्ति के बढने और फलने-फूलने में बडी सहायता की। मक्का-मदीना से लौटने पर उनकी भेंट प्रसिद्ध सन्त कुतुबुद्दीन से हुई। वे उनके सत्सग और तप तथा आध्यात्मिक जीवन से वहुत प्रभावित हुए। फरीद कुतुवुद्दीन के शिष्य हो गये, उन्होंने प्रगाढ निष्ठा और गुरु-भक्ति का परिचय दिया। फरीद कुछ दिनो के लिये वुखारा चले गये। वापस आने पर सन्त कुतुवुद्दीन ने उन्हे सीख दी कि सोना कम चाहिये, वहुत ही कम खाना चाहिये, थोडा बोलना चाहिये और लोगो से कम मिलना चाहिये, अधिक परिचय वढाने से ईश्वर की भक्ति पूरी-पूरी नहीं हो पाती है, आध्यात्मिक उन्नति एकान्तवास में ही होती है। सन्त फरीद ने इन्ही सिद्धान्तो के अनुरूप अपना जीवन सयमित कर लिया। फरीद ने वारह साल तक जगल में घोर तप किया, चारो ओर उनकी प्रसिद्धि बढ गयी। लोग दूर-दूर से उनका दर्शन करने के लिये आने लगे। वे प्रेममार्गी सूफी सन्त के रूप में प्रसिद्ध हो गये, उनके दर्शन और वचन मे बडा आकर्षण था। सन्त फरीद ने अपने जीवन के कुछ दिन हाँसी में बिताये। उन्होने दिल्ली की भी यात्रा की थी। तत्कालीन प्रसिद्ध सूफी साधक निजामुद्दीन औलिया से भी उनकी भेंट हुई थी। दोनो एक दूसरे के पवित्र और दिव्य प्रेमपूर्ण जीवन से अमित प्रभावित हुए थे। सन्त फरीद की सात्विकता से तत्कालीन बादशाह की कन्या विशेष आकृष्ट हुई थी। वह उनकी दिव्य ईश्वरीय प्रेम-साधना से उन्मत्त होकर उनके पीछे-पीछे फकीर की तरह घूमा करती थी। सन्त के राज्य में भौतिक वैभव और सुखने पराजित होकर आत्मसमर्पण कर दिया। निजामुद्दीन औलिया तो सन्त फरीद से इतने प्रभावित थे कि एक बार आत्मविभोर होकर उन्होने कहा था कि मेरे पीर पवित्र आत्मा मौलाना फरीद है। उनके समान ईश्वरीय सृष्टि में कोई दूसरा नही है।

सन्त फरीद कहा करते थे कि जीवात्मा और परमात्मा का सम्वन्ध पत्नी और पति का है, जीवात्मा को ईश्वर के विना कही वास्तविक आनन्द मिल ही नही सकता है इसलिये ईश्वर ही एक मात्र प्रेमास्पद है। सन्त फरीद निस्सन्देह सिद्ध फकीर थे, पूरे समदर्शी थे। उनकी कथनी और करनी समान थी।

रचना

फरीद की वाणी का पञ्जाव में बडा सम्मान है। सन्त साहित्य में उनकी वाणी का महत्वपूर्ण स्थान है। गुरुग्रन्थ साहव मे उनकी वाणी का अधिकाश सग्रहीत है।

वाणी

अल्लाह-भगवान से प्रीति जोड लो। यह शरीर तो खाक हो जायेगा। इसका घर निगोडी कब्र मे बनेगा।

धर्म से सच बोलो, झूठ कभी नही बोलना चाहिये।

जो तुमको मुक्के से मारता है उसको वदले मे मत मारो। उसके चरण की धूलि चूम कर शान्तिपूर्वक अपने घर चले जाओ।

जीवात्मा दुलहिन है, मृत्यु दूल्हा है। मृत्यु से उसका विवाह होता है और वह मृत्यु के घर चली जाती है।

मै डरता हूँ कि मेरी पगडी मिट्टी से मैली न हो जाय। पर मेरा वावला जी यह नही जानता है कि पगडी ही नही, मेरे सिर को भी एक दिन मिट्टी सडा-गला कर खा जायेगी।

ऐसे विरले ही है जो दरवेश के रास्ते पर चलते है।

एक भी अप्रिय वात मत वोलो, सच्चे मालिक—परमेश्वर प्रत्येक प्राणी मे विद्यमान है।

धूलि का भी अपमान न करो। इसके समान महत्वशील दूसरा कुछ भी नही है। जव तक शरीर में प्राण है तव तक तो यह धूलि चरण के नीचे रहती है, शरीर से प्राण निकलते ही धूलि शरीर के ऊपर आ जाती है।

जो नयन ईश्वर का स्वरूप नही देखते है वे फूट जायें, जो रसना ईश्वर के मधुर नाम का जप नही करती है वह गूगी हो जाय, जो कान ईश्वर के गुणानुवाद नही सुनते है उनका वहरा हो जाना ही अच्छा है।

मेरा शरीर तन्दूर की तरह तप रहा है, मेरी हड्डी ईधन की लकडी की तरह जल रही है, पैर थक जाने पर भी अपने प्रियतम से मिलने के लिये सिर के वल चल कर जाऊँगा।

आचार्य मध्व

'वही जन्म सफल जन्म है, वे ही कर्म ठीक कर्म हैं, वही आयु आयु है, वही मन मन है और वही वाणी वाणी है जिनके द्वारा मनुष्य सर्वसमर्थ विश्वात्मा हरि की सेवा करते हैं।' **—श्रीमद्भागवत**

मध्व आचार्य ने द्वैत भक्ति का प्रचार किया, वे द्वैतवाद के महा-पण्डित, भगवान के परम भक्त और आत्मनिष्ठ महात्मा थे। उन्होंने घोषणा की कि दुख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति ही प्रयोजन है वैकुण्ठ की प्राप्ति और वैकुण्ठ में जाकर नारायण की सेवा ही मुक्ति और आनन्द है। आचार्य मध्व ने शुद्ध द्वैत भक्ति के माध्यम से परम निगूढ, चिन्मय और आनन्दमय भगवत्तत्व का रहस्य समझाया। उन्होंने सेवक-सेव्य-भाव का मर्म बताया। उन्होने विष्णु भक्ति के प्रचार में बडा योग दिया। आचार्य शकर के मायावाद और अद्वैत मत का खण्डन किया। वे भक्तिपथ के बहुत बडे आचार्य थे।

लगभग आठ सौ साल पहले की बात है। दक्षिण भारत के मद्रास प्रान्त में मगलूर जनपद के उडीपी क्षेत्र से दो-तीन मील दूर वेलिल ग्राम में भार्गव गोत्रीय ब्राह्मणपरिवार रहता था। इस परिवार में सदाचार-सम्पन्न नारायण भट्ट वडे ज्ञानी और विष्णु भक्त थे। उनकी पत्नी वेदवती ने सन्तान प्राप्ति के लिये वडी तपस्या की, दम्पति ने वडे-वडे अनुष्ठान किये, उन दोनो के तप और अनुष्ठान के फलस्वरूप सम्वत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमी को आचार्य मध्व का जन्म हुआ।

यद्यपि माता-पिता ने वचपन में अपने प्राणप्रिय वालक को सुचारु रूप से शिक्षा देने का यत्न किया तो भी उनका मन पढने-लिखने में कम लगता था, उनका समय खेल-कूद, कुश्ती आदि में ही वीतता था। वे समवयस्क लडको को साथ लेकर इधर-उधर ऊधम मचाते रहते थे। वचपन का नाम वासुदेव था पर उनमें इतनी अलौकिक शक्ति थी कि

लोग उन्हे भीम कह कर पुकारा करते थे। कुछ दिनो तक पाठशाला में विद्यार्जन करने के वाद वे घर पर ही शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन करने लगे। ज्यों-ज्यों वे शास्त्रो का अध्ययन करते जाते थे त्यों-त्यों उनका विवेक वढता जाता था, उन्हे ससार के नश्वर स्वरूप का ज्ञान होने लगा। ग्यारह साल की अवस्था में उन्होने शास्त्रो का अध्ययन समाप्त कर दिया। उनका मन घर से उचटने लगा। अनासक्ति और वैराग्य के भाव दिन-प्रति-दिन वढने लगे। एक दिन उन्होंने अपने पिता-माता के सामने सन्यास लेने का प्रस्ताव रखा। नारायण दम्पति ने पुत्र के सन्यास-ग्रहण-मार्ग में वडी अड़चने डाली। उन्होने माता-पिता को समझा-बुझा कर तथा कुछ आश्चर्य-घटनायें दिखा कर मार्ग के समस्त विघ्न नष्ट कर दिये। उन्होंने अद्वैत मत के सन्यासी अच्युतपक्षाचार्य से सन्यास की दीक्षा ली। गुरुदेव ने सन्यास का नाम पूर्णप्रज्ञ रखा। पूर्णप्रज्ञ ने गुरु के समीप रहकर वेदान्त का अध्ययन किया। कभी-कभी वे गुरु की व्याख्या का प्रतिवाद कर बैठते थे। धीरे-धीरे दक्षिण भारत में उनकी प्रसिद्धि वढने लगी। वे आनन्दतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

अच्युतपक्षाचार्य उन्हें प्राण से भी प्रिय समझते थे। एक दिन आनन्दतीर्थ ने गगास्नान और दिग्विजय के लिये गुरु का आदेश मागा। गुरु उनके वियोग की आशका से चिंतित हो उठे। वे चाहते थे कि आनन्दतीर्थ सदा उनके सामने रहें। उनकी चिंता देखकर अनन्तेश्वर जी ने समाधान किया कि एक दिन के वाद गगा जी सामनेवाले सरोवर में स्वय प्रकट होगी, इस प्राकट्य का फल यह होगा कि आनन्दतीर्थ की यात्रा रुक जायेगी। तीसरे दिन सरोवर का हरा जल श्वेत हो गया, आनन्दतीर्थ यात्रा न कर सके। अच्युतपक्षाचार्य इस घटना से परम सतुष्ट हुए।

आचार्य मध्व ने भागवत धर्म के प्रचार के लिये भारतवर्ष के प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में वडे-वडे शास्त्रज्ञो और विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने द्वैत मत का पूर्ण प्रचार किया। रामेश्वर, त्रिवेन्द्र, उडीपी आदि क्षेत्रों में अपनी विजय की विजयिनी पताका फहरायी। उन्होंने अपने यात्रा-काल में भक्ति का प्रचार किया, वेदों की प्रामाणिकता पुष्ट की, मायावाद का खण्डन किया। वदरीनारायण

मे आचार्य मध्व को व्यास का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था। उन्होने महर्षि व्यास को अपना वेदान्त भाष्य दिखाया था। व्यास ने उनको शालग्राम की तीन मूर्तियाँ दी थी जिनको आचार्य ने सुब्रह्मण्य, उडीपी और मध्यतल में पधराया था।

आचार्य मध्व योगसिद्ध महात्मा थे उनकी सिद्धियों से लोग आश्चर्यचकित हो गये। एक बार किसी व्यापारी का जहाज द्वारका से मालाबार जा रहा था। तुलुव के निकट वह डूब गया। उसमें गोपीचन्दन से ढकी श्रीकृष्ण की एक मूर्ति थी। आचार्य मध्व ने मूर्ति का उद्धार किया, उडीपी में उसकी स्थापना की। आचार्य मध्व भगवान के अनन्य भक्त थे। एक बार एक व्यापारी का जहाज डूब रहा था, आचार्य को उस पर दया आ गयी, उन्होने जहाज को बचा लिया। व्यापारी ने अपनी आधी सम्पत्ति देकर आचार्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की कामना की पर मध्व ने अस्वीकार कर दी उसकी सम्पत्ति, वे तो भगवान को ही अपना परम धन समझते थे। आचार्य मध्व की प्रसिद्धि से बहुत-से लोग जलने लगे। उनके ग्रन्थ चुरा लिये और बडे-बडे अनिष्ट करने चाहे। उनके पकडे जाने पर आचार्य ने क्षमा-दान दिया। वे निरन्तर भगवान के स्मरण, ध्यान और चिंतन में लीन रहते थे। उनके समस्त कर्म भगवत्सम्बन्ध की पुष्टि के लिये थे। उन्होने उडीपी में अनेक मन्दिरों की स्थापना कर उनमें सीताराम, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि की प्रतिष्ठा की।

आचार्य ने यज्ञ में पशुहिंसा वन्द कर दी। पशु के स्थान पर चावल की वलिका प्रचलन हुआ, निस्सन्देह तत्कालीन समाज में यह एक वहुत वडा सुधार था।

आचार्य मध्व ने ब्रह्म को सगुण और सविशेष वताया। उन्होने वेदों की अपौरुषेयता की घोपणा की। आचार्य मध्व ने कहा कि जीव अणु है, भगवान का दास है, भगवान के प्रति सदा सेव्यभाव अक्षुण्ण रखने में ही उसकी मुक्ति है। उन्होने पूर्ण रूप से द्वैतवाद का ही प्रश्रय लेने पर जोर डाला, पाञ्चरात्र शास्त्र को आचार्य ने विशेष मान्यता प्रदान की। उन्होने कहा कि जीव को ब्रह्म की समता कभी नही करनी चाहिये, उसे 'मैं ब्रह्म हूँ'–ऐसा कहने का अधिकार ही नही है, भगवान

ं प्रति ऐसा करना जीव का अक्षम्य अपराध है, इससे जीव को पतित
ोना पडता है।

आचार्य मध्व ने ज्ञान को सविकल्प माना। सत्य और दृश्य वस्तु में
न्होने भेद नही स्वीकार किया। उन्होने उनकी अभिन्नता-अभेदता सिद्ध
ी। आचार्य ने कहा कि सत्य का ज्ञान हुए विना असत्य का ज्ञान
ही होता है। असत्य तो ज्ञान का विषय ही नही है। वस्तु के साथ
स्तु का भेद है, वस्तु के साथ वस्तु का सम्बन्ध है। सम्वन्ध से ही
रापर भेद है। इसी भेद पर आचार्य मध्व का द्वैत मत प्रतिष्ठित है।
ध्व ने असीम सद्गुणसम्पन्न विष्णु को प्रतिपाद्य माना, विष्णु को स्वतन्त्र
ौर जीव को परतन्त्र सिद्ध कर उन्होने द्वैत भक्ति का शिलान्यास
किया। आचार्य ने बतलाया कि जीव (भाव) चेतन है, जगत (अभाव)
अचेतन है, दोनों-के-दोनो भगवान के अधीन है। आचार्य ने भक्ति को
मुक्ति का साधन बतलाया। सत्य वोलना, हित के वाक्य कहना, प्रिय-
भाषण, स्वाध्याय, सत्यपात्र को दान, विपन्न का उपकार, शरणागत
की रक्षा, दया, स्पृहा, श्रद्धा आदि ही मध्व के द्वैत मत से भजन है।
मध्व ने विहित, निषिद्ध और उदासीन तीन प्रकार के कर्म माने।
भगवान के प्रति अखण्ड प्रेम को भक्ति की सज्ञा से अलकृत किया।
आचार्य ने सन्देश दिया कि भगवान के अनुग्रह तथा प्रेम से जीव
दुखरूप ससार से मुक्त होकर परमात्मा के लोक में—अपने स्वरूप मे
पहुँचता है। जीव, जगत और ईश्वर के सम्वन्ध में उन्होने मौलिक
सिद्धान्त स्थिर किया कि जीव ईश्वर से तथा ईश्वर जीव से नित्य
भिन्न है, जड ईश्वर से तथा ईश्वर जड से नित्य भिन्न है, जीव जड से
तथा जड जीव से नित्य भिन्न है, एक जीव अपर जीव से भिन्न है,
एक जड दूसरे जड से भिन्न है। मध्व ने कर्मक्षय, उत्क्रान्ति लय,
अर्चिरादि मार्ग और भोग—(सालोक्य-सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य)
चार प्रकार की मुक्ति मानी।

जीवन के अन्तिम दिन आचार्य मध्व ने सरिदन्तर नामक स्थान में
बिताये। सरिदन्तर में ही उन्होंने महाप्रयाण किया। देहावसान-काल में
उन्होंने पद्मनाभतीर्थ को श्रीराम की मूर्ति और व्यास प्रदत्त शालग्राम
देकर अपने मत का प्रचार करने का आदेश दिया। सम्वत् १३७४ वि

किया। जयदेव भगवदीय लीलारस के साहित्य-आचार्य थे। उन्होंने शाकर सिद्धान्त से प्रेरित आत्मा और मायावाद मे उलझे भारतीय मस्तिष्क को हृदय की भावुकता और सरसता से अभिमन्त्रित कर राधाकृष्ण की रसमयी लीला से वैष्णव भारत का चित्तानुरञ्जन किया। अलकारशेखर ने उनको गौडाधिप लक्ष्मणसेन का सभाकवि न मानकर किसी उत्कलनरेश का सभाकवि माना है। वे वीरभूमि जिले के केन्दुली अथवा केन्दुविल्वगाँव के निवासी थे।

जयदेव के पिता का नाम भोजदेव था और माता का नाम राधा देवी था। जव जयदेव वहुत छोटे थे तभी उन दोनो का देहान्त हो गया। जयदेव वचपन से ही विद्याव्यसनी थे इसलिये अपने पूर्वजन्म के सस्कारो और पुण्यों के फलस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण के सहज-स्वाभाविक प्रेम में वे रात-दिन डूबे रहते थे। वे ससार के प्रति अनासक्त और उदासीन रहा करते थे।

पिता का देहान्त हो जाने के वाद उनके हृदय में राधाकृष्ण की प्रगाढ भक्ति का उदय शीघ्रता से होने लगा। केन्दुविल्व गाँव के निवासी निरञ्जन नामक ब्राह्मण से उनके पिता ने ऋण लिया था जिसकी भरपायी वे न कर सके थे। एक दिन ब्राह्मण ने जयदेव जी से ऋण माँगा, जयदेव ने उसकी रुचि के अनुकूल ऋणपत्र पर हस्ताक्षर कर दिया, कहा कि मै तो केवल राधाकृष्ण को जानता हूँ, वे ही मेरे सर्वस्व है, शेष धन तथा घर से अपना ऋण पूरा कर लो। ब्राह्मण निरञ्जन उनकी भक्ति से लाभ उठा कर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था कि उसकी छोटी कन्या ने घर में आग लग जाने की सूचना दी। निरञ्जन को अपने घर की ओर दौडते देखकर राग-द्वेष से रहित निष्कपट जयदेव भी चल पडे। जयदेव ने निरञ्जन के घर में प्रवेश ही किया था कि क्षणमात्र में आग ठन्डी हो गयी, घर जलने से वच गया, सारे सामान सुरक्षित थे। जयदेव के इस असाधारण और अद्भुत चमत्कार से ब्राह्मण के मन में वडी आत्मग्लानि हुई, उसने वनावटी ऋणपत्र फाड डाला और जयदेव के चरणो में गिर कर क्षमा माँगी, अपने पाप का प्रायश्चित किया। जयदेव के लिये तो यह सव कुछ सपना था, जयदेव का मन तो निरन्तर भगवान श्रीकृष्ण के चरणो में अनुरक्त था।

जगन्नाथपुरी वग और उत्कल प्रदेश का वृन्दावन हैं। जयदेव के नयन जगन्नाथ के दर्शन के लिये वहुत प्यासे थे। वे अपने गाँव से पराशर नामक ब्राह्मण को साथ लेकर पुरुषोत्तम क्षेत्र के लिये चल पड़े। वे भगवान का कीर्तन करते हुए जा रहे थे। एक दिन मार्ग में उन्हे वडी प्यास लगी, वहुत दूर तक जाने पर भी उन्हें जल न मिल सका, अघरो पर भगवद्रस का समुद्र लहरा उठा, करुणासागर भगवान ने साक्षात् प्रकट होकर जयदेव और उनके साथी को जल पिलाया। मार्ग में ही थे कि उनके मानस क्षेत्र में भाव-वृन्दावन उतर आया, उन्होने अपनी चारो ओर नीली पर्वतश्रेणी देखी, कदम्ब-विचुम्बित कलिन्दनन्दिनी का कलकल जल-प्रवाह देखा, उन्होने अपने प्रसिद्ध काव्य गीतगोविन्द की रचना का चित्र नयनो में उतार लिया, भगवान ने इस प्रकार उनको गीतगोविन्द की भूमिका दी। गीतगोविन्द का समारम्भ जयदेव ने इसी मानस-चित्र की दिव्यता के आधार पर किया। पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँच कर उन्होने जगन्नाथ का दर्शन किया। एक विरक्त सन्यासी की तरह वृक्ष के नीचे रह कर अपने समय का भगवान के स्तवन-कीर्तन में उपयोग करने लगे। भिक्षा माँग कर जीवन-निर्वाह करते थे और निश्चित होकर भगवान का भजन करते थे। भगवान के सौन्दर्य-रस के सामने समस्त जागातिक विषय-भोग और सुख नीरस हो उठे। पुरी-यात्रा के समय उन्हें विष्णु के दस अवतारो का दर्शन भी हुआ था।

उनके वैराग्य और भगवद्भक्ति की प्रसिद्धि पुरी में अनवरत वढने लगी। वडे-वडे रसिक महात्मा और सन्त जन उनके सरस सत्सग और कीर्तन से अपने आपको धन्य मानने लगे।

पुरी में एक सुदेव नामक ब्राह्मण रहते थे। उनकी कन्या पद्मावती सौन्दर्य में दूसरी लक्ष्मी थी। वे निस्पृह और भगवान के भक्त थे। उन्होने अपनी कन्या का सौन्दर्य जगन्नाथदेव के चरणो में समर्पित करना चाहा, उनका विश्वास था कि पद्मावती का दिव्य सौन्दर्य केवल भगवान का भोग्य हैं। भगवान ने ब्राह्मण को दर्शन दिया और जयदेव के साथ पद्मावती का विवाह करने का आदेश दिया। पहले तो जयदेव ने यह सम्वन्ध अस्वीकार कर दिया पर वाद में जगन्नाथ की प्रसन्नता

के लिये उन्होने पद्मावती को अपनी जीवनसगिनी के रूप में स्वीकार किया। जयदेवदम्पति की भगवान के चरणारविंद में प्रीति बढती गयी, जगन्नाथक्षेत्र में रह कर वे आनन्दपूर्वक भजन करते रहे।

कुछ दिनो तक पुरुषोत्तमक्षेत्र में निवास कर वे अपनी जन्मभूमि—केन्दुबिल्व चले आये। घर पर वे अपनी पत्नी के साथ भगवान की उपासना में लग गये। श्रीराधाकृष्ण की विग्रह-स्थापना कर वे आनन्द-पूर्वक भजन करने लगे।

जयदेव ने अपने एक अत्यन्त श्रद्धालु शिष्य के आग्रह पर उसके गाँव की यात्रा की। शिष्य अत्यन्त समृद्ध और उदार था। उसने सन्त जयदेव की बडी आवभगत की। वह जानता था कि विदा के अवसर पर चलते समय जयदेव धन नही स्वीकार करेगे, उनके परम धन तो भगवान नन्दनन्दन है। उसने आग्रह किया कि वे अपनी पत्नी की सेवा के लिये कुछ स्वीकार कर ले। सन्त जयदेव ने शिष्य की बात मान ली। गाडी पर बहुत-सा धन रख दिया गया, जयदेव जी आनन्द-मग्न होकर कीर्तन करते और राधाकृष्ण की निराली झाकी का स्मरण करते चले जा रहे थे। शिष्य ने उनके साथ दो रक्षक भेजे थे, वे घर लौट गये। जयदेव सहसा एक सघन और भीषण वन मे पहुँच गये। चोरो ने उनका पीछा किया, उन्होने धन लूट लिया, और जयदेव के हाथ-पैर काट कर एक कुएँ में डाल दिया। भक्त जयदेव इस घटना को भगवान का परम मगलमय विधान समझकर भगवन्नाम-कीर्तन से वनप्रान्त को पवित्र करने लगे। उनकी स्वरमयी सरस कठध्वनि की मन्दाकिनी में स्नान कर वन के कण-कण भगवदीय चेतना में आनन्दमग्न हो उठे। गौडेश्वर महाराज लक्ष्मणसेन का उसी मार्ग से आगमन हो रहा था। उन्होने कुएँ में बैठे जयदेव का राधाकृष्ण-नामोच्चारण सुना, वे विस्मित हुए। उन्होने विनम्रतापूर्वक जयदेव का परिचय जानना चाहा, स्वाभाविक रूप से जयदेव ने कहा कि मुझे भगवान ने ऐसा ही बनाया है, इसी में मेरी प्रसन्नता है, मै शरीर से नितान्त भिन्न हूँ। महाराजा लक्ष्मणसेन उनकी बात से आकृष्ट हुए, उन्हे लेकर वे अपनी राजधानी में लौट आये, उचित चिकित्सा होने पर जयदेव के घाव सूख गये। लक्ष्मणसेन उनकी कृष्णभक्ति से प्रभावित हुए, उन्होने जयदेव

को अपना गुरु स्वीकार किया और अपनी कवि-सभा के अध्यक्ष-पद से उनके प्रति सम्मान दिखाया। जयदेव लक्ष्मणसेन की राजधानी में निवास कर राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने लगे। . . लक्ष्मण-सेन के राजप्रासाद में नित्य सन्तो और भक्तो की भीड बढने लगी। महाराजा उन्हें यथोचित सम्मान देकर विदा किया करते थे, जयदेव को प्रसन्न रखने के लिये महाराजा लक्ष्मणसेन साधुसन्तो की सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि नही होने देते थे। एक दिन राजप्रासाद में साधुओ का सहभोज था, दूर-दूर से सन्तो की मण्डली कीर्तन करती चली आ रही थी। उत्सव के अध्यक्ष जयदेव थे। उन्ही साधुओ में वे दोनो चोर भी साधुवेष मे थे जिन्होने जयदेव के हाथ-पैर काट कर कुएँ में डाल दिया था और धन छीन लिया था। जयदेव की दृष्टि में साधु-असाधु सब परमात्मा के रूप थे। वैर और द्वेष से वे वहुत ऊपर उठे हुए थे। उन्होने अपने अपराधियो को पहिचान लिया और उनके प्रति पर्याप्त आदर दिखाया, राजा ने उनके सकेत पर उन दोनो साधुवेषधारी चोरों को वहुत-सा धन देकर विदा किया। जयदेव ने उनकी रक्षा के लिये चार कर्मचारी साथ कर दिये। रास्ते में उन कर्मचारियो ने उन साधुवेष वाले ठगो से जयदेव के सम्वन्ध में वात की और यह जानना चाहा कि जयदेव ने उनके प्रति इतना आदर क्यो दिखाया। सन्त तो दूसरे के उपकार में रातदिन दत्तचित्त रहते है पर दुष्ट अपनी दुष्टता का ही परिचय देते है। ठगो ने कहा कि जयदेव कुछ दिन पहले एक राजा के मन्त्री थे। राजा ने जयदेव के एक वडे अपराध से चिढ कर प्राण-दण्ड दिया पर हम लोगो ने केवल हाथ-पैर काट कर कुएँ में डाल दिया, इस तरह उनके प्राण वच गये, जयदेव हमारे आभारी है इस-लिये उन्होने विदा के समय हम दोनों को पुष्कल धनराशि दी। ठगो ने इतना कहा ही था कि पृथ्वी फट गयी और वे उसमें समा गये। कर्मचारियों ने महाराजा लक्ष्मणसेन को जव इस घटना का विवरण दिया तो जयदेव ने सही-सही वात वता दी। उन्होने निष्कपट होकर कहा कि मै कितना अपराधी हूँ कि मेरे कारण उन विचारो के प्राण चले गये, उन्होने पश्चाताप किया कि अपने समृद्ध शिष्य का थोडा-सा धन स्वीकार करने का इतना वडा दुष्परिणाम हुआ। राजा लक्ष्मणसेन जयदेव के दयापूर्ण चरित्र से अमित प्रभावित हुए, जयदेव ने उनसे

कहा कि इस मायामोहपूर्ण ससार में केवल कृष्ण-प्रेम ही सारतत्व है, वे निस्सन्देह परम अभागे है जो अखिल सौन्दर्यसारसर्वस्व वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण से प्रेम नही करते है। जयदेव के हाथ-पैर ठीक हो गये, भगवत्सेवा ही उनके जीवन की अक्षय निधि हो गयी।

जयदेव ने राजा लक्ष्मण सेन के विशेष आग्रह पर अपनी पत्नी पद्मावती को राजधानी में ही बुला लिया। वे उच्च कोटि के गृहस्थ सन्त थे। उनकी पत्नी साध्वी, सती और सुशीला थी। राजप्रासाद से राजपरिवार की स्त्रियाँ और राजरानियाँ पद्मावती से सत्सग करने आया करती थी। एक बार सत्सग में सतीत्व की चर्चा छिडने पर पद्मावती ने कहा कि सती वह नही है जो पति का परलोकगमन सुनकर चिता बना कर सती हो जाती है, सती तो वह है जो पति के स्वर्गवास का समाचार सुनते ही प्राण-त्याग देती है। राजरानी ने पद्मावती को जयदेव की मृत्यु का झूठा समाचार सुनाया, सती पद्मावती ने देहत्याग दिया, जयदेव ने राजपरिवार को आश्वासन दिया और भगवान का कीर्तन करने लगे तथा अपनी रचना 'राधाविनोद' का पाठ किया। पद्मावती के प्राण लौट आये, जयदेवदम्पति की भगवन्निष्ठा विलक्षण थी। दोनो-के-दोनो राधामाधव के प्रेमामृतसागर में डूबे रहते थे। .कुछ दिनो तक श्रद्धालु लक्ष्मणसेन के आतिथ्य में रह कर वे राधामाधव के विग्रह को लेकर केन्दुविल्व ग्राम में चले आये और अनन्य भाव से सपत्नीक वे भजनानन्द के महासागर में निमग्न हो उठे, उनका जीवन वैराग्यपूर्ण, परम सात्विक और अनन्य प्रेममय हो उठा। दूर-दूर तक उनका यश फैल गया, केन्दुबिल्व में असख्य सन्तों का समागम होने लगा। केन्दुविल्व-निवास-काल में उनके जीवन में वडे-बडे चमत्कारो का दर्शन हुआ। एक दिन वे छप्पर छा रहे थे, श्रम करते-करते शरीर शिथिल हो गया, थकावट का अनुभव कर रहे थे। राधामाधव ने फूस और खर उठा-उठा कर देना आरम्भ किया। जयदेव तो भगवद्भक्ति में मग्न थे, वे वाह्य ज्ञान से शून्य होकर छप्पर छाने में लगे हुए थे, उन्होने समझा कि इस काम में उनकी पत्नी ने सहायता की है। काम समाप्त होने पर जव वे राधामाधव के श्रीविग्रह की सेवा करने गये तो सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा, वे

प्रभु की ओर एकटक निहारने लगे, प्रभु ने उनके लिये श्रम किया था, हाथ में कालिख लगी थी, जयदेव के नयनो से अश्रु की धारा प्रवाहित हो उठी, भगवान को उनके लिये कष्ट करना पडा, उनका भक्तहृदय मार्मिक वेदना से घायल हो गया, वे दयामय कृष्ण के नाम का कीर्तन करने लगे।

जयदेव भगवती गगा के भी बडे भक्त थे। गगा उनके गॉव से दूर थी। वे नित्यप्रति पैदल चल कर स्नान करने जाया करते थे एक दिन वे गगा-स्नान के लिये न जा सके, उनका मन पुण्यसलिला भगवती भागीरथी के दर्शन के लिये आकुल हो उठा, वे सोचने लगे कि मै कितना अभागा हूँ कि गगा माता की शीतल गोद में बैठकर भगवद्भक्ति का अमृत न पी सका। वे रह-रह कर पछिताने लगे। गगा तो साक्षात् करुणामय भगवान की चरणामृत-प्रतीक है, भक्त की भावना से वे प्रसन्न हो गयी और जयदेव के ग्राम केन्दुविल्व के सन्निकट वहने लगीं।

भक्ति-जगत के लिये गीतगोविन्द उनकी बहुत बडी देन है। वह नितान्त अपार्थिव तथा दिव्य पदार्थ है। वे वेद, पुराण, दर्शन तथा अन्य शास्त्रो के पूर्ण मर्मज्ञ थे, उन्होने अपनी विद्वत्ता को भगवान की भवित रो समलकृत किया।

जयदेव ने राधाकृष्ण की शृगारजा भक्ति का प्रचार किया। वे नन्दनन्दन और उनकी प्राणप्रियतमा के प्रति माधुर्य-रसासवत थे। उन्होने अपने उपास्य के प्रेम और विरह की लीला का जो चित्रण किया है उसके आधार श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा हरिवश और गर्गसहिता विशेप रूप से है। जयदेव के राधाकृष्ण सर्वदा और सर्वथा अपार्थिव ही है, वे शाश्वत चैतन्य-सौन्दर्य की सत्य-अभिव्यक्ति है। जयदेव ने राधाकृष्ण की प्रकट और अप्रकट दोनो लीलाओ से अपनी वाणी की दिव्यता समृद्ध की है। निस्सन्देह वे परम रसज्ञ थे, रसिक महात्मा अथवा सन्त थे। जयदेव के गीतगोविन्द में उद्दीपनगत प्रकृति नितान्त दिव्य और चिन्मय है। राधाकृष्ण के आल-म्बन के पूर्ण स्पर्श की अधिकारिणी जयदेव के काव्य की उद्दीपनगत दिव्य प्रकृति है। जयदेव ने गीतगोविन्द में भागवत शृगार का वर्णन

जनकसुताकृतभूषण जितदूषण ए। समरशमित दसकंठ जय जय देव हरे॥
अभिनवजलधरसुन्दर धृतमन्दर ए। श्रीमुखचन्द्रचकोर जय जय देव हरे॥
तव चरणे प्रणता वयमिति भावय ए। कुरुकुशल प्रणतेषु जय जय देव हरे॥
श्रीजयदेवकवेरुदितमिद कुरुते मुदम्। मंगलमंजुलगीत जयजय देव हरे॥

लक्ष्मी जी के कुचकुम्भो का आश्रय करने वाले कुण्डलधारी और अति मनोहर वनमालाधारी, हे देव, हरे, आपकी जय हो। सूर्यमण्डल को सुशोभित करने वाले, भवभय के नाशक और मुनियो के मनरूप सरोवर के हस, हे देव, आपकी जय हो। कालियनाग का दमन करने वाले, भक्तो को आनन्दित करने वाले और यदुकुल कमल दिवाकर, आपकी जय हो। मधुमुर और नरकासुर के सहारक, गरुडवाहन, देवक्रीडा के आश्रय, हे देव, आपकी जय हो। निर्मल कमलदल लोचन वाले, भवबन्धन को छुडाने वाले और त्रिभुवन के आश्रयभूत, हे देव, आपकी जय हो। सीता के साथ शोभित, दूषण दैत्य को जीतने वाले और युद्ध में रावण को मारने वाले, हे देव! आपकी जय हो। नवीन मेघ के समान श्यामसुदर, मन्दराचल धारण करने वाले, लक्ष्मी के मुखचन्द्रचकोर, हे देव, आपकी जय हो। आपके चरणों की हम शरण लेते है, आप दयादृष्टि कीजिये, कल्याण कीजिये। हे देव, हे हरे, आपकी जय हो, जय हो। इस प्रकार जयदेव कविरचित यह मगलगीत आनन्द प्रदान करे। हे देव, आपकी जय हो, जय हो।

—गीतगोविन्द

सान्द्रानन्दपुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा
दानम्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभि सन्दर्शितेन्दीवरम्।
स्वच्छन्द मकरन्दसुदरगलन्मन्दाकिनीमेदुर
श्री गोविन्दपदारविन्दमशुभस्यन्दाय वन्दामहे।

अत्यन्त आदर से साष्टाग प्रणाम करते हुए, घनआनन्द में निमग्न इन्द्रादि देवगणों के द्वारा उनके मुकुट के नीलम की प्रभा से जो नील-कमल के समान दीखते है, तथा मकरन्द समान गगा से भीगे रहते है उन गोविन्द के चरणारविन्दो को अपने अशुभ के नाश के लिये हम स्वेच्छा से प्रणाम करते है। —गीतगोविन्द

राधामुग्धमुखारविन्दमधुपस्त्रैलोक्यमौलिस्थली नेपथ्योचितनीलरत्न
मवनीभारावतारक्षम ।
स्वच्छदव्रजसुन्दरीजनमनस्तोषप्रदोषश्चिरकसध्वसनधूमकेतुरवतु त्वा
देवकीनन्दन ॥

जो तीनो लोको के मस्तक की आभूषणोचित नीलमणि, भूमिभार को हटाने में समर्थ, स्वच्छन्द व्रजबालाओं के मन को सतोष देनेवाले प्रदोषरूप और कस का नाश करने में अग्नि रूप है वे देवकीनन्दन रक्षा करे। —गीतगोविन्द

वृष्टिव्याकुलगोकुलावनरसादुद्धृत्य गोवर्धन-विभ्रद-
वल्लववल्लभाभिरधिकानन्दाच्चिरचुम्बित ।
दर्पेणैव तदर्पिताधरतटीसिन्दूर मुद्राकितो-बाहुर्गोप-
तनोस्तनोतु भवता श्रेयासि कसद्विष ॥

देवेन्द्र की कोपरूपी मूसलाधार वृष्टि से व्याकुल गोकुलवासियो की रक्षा के आवेश में गोवर्धन पर्वत उठाकर कसनिषूदन नन्दनन्दन का बाहुदण्ड उसे धारण कर स्थित था, आनन्दोन्माद से गोपाङ्गनायें उसे चिरकाल तक चूमती रही, उनके अधररागरूपी सिन्दूर से लाछित होकर वह ऐसा दीख पडा मानो गोवर्धन धारण के दर्प से उसमें स्वाभाविक लालिमा आ गयी हो, ऐसा बाहुदण्ड कल्याण करे। —गीतगोविन्द

स्वामी विद्यारण्य

'ब्रह्मवित् परमाप्नोति, शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्मरस लब्ध्वानन्दी भवति नान्यथा॥'

ब्रह्मज्ञानी परको पा लेता है, आत्मज्ञानी शोक को तर जाता है। रस ब्रह्म ही है। रस को पाकर ही आनन्द का अनुभव करता है, दूसरी तरह आनन्द की उपलब्धि नहीं होती है।

—पचदशी

छ सौ साल पहले की बात है। विक्रम की चौदहवी शती में दक्षिण भारत ने महामुनि स्वामी विद्यारण्य और वेदभाष्यकार सायण आचार्य के रूप में अपने राष्ट्र-सरक्षक का दर्शन किया, दोनो सहोदर भाई थे, स्वधर्म, स्वदेश और स्वराज्य के सस्थापक ही नही, अध्यात्म-जगत के महान आचार्य थे। दोनो ने यावनीय सस्कृति के प्रवाह को दक्षिण की ओर बढने से रोकने में असाधारण साहस दिखाया। माधवाचार्य-विद्यारण्य ने हरिहर और बुक्का के द्वारा तुगभद्रा के विशाल तटदेश में विजयनगर राज्य की स्थापना का कार्य सम्पादन कर सनातम धर्म-वैदिक सस्कृति की मर्यादा अक्षुण्ण रखी। हरिहर ने अपने एक लेख में माधवाचार्य का 'परमज्योति' के रूप में स्मरण किया है। सायण ने माधवाचार्य विद्यारण्य का एक स्थल पर स्तवन किया है।

'अनन्तभोगससक्तो द्विजपुङ्गवसेवित ।
सचिव सर्वलोकाना भ्राता जयति माघव ॥'

विद्यारण्य स्वामी ने विजयनगर राज्य के मन्त्रित्व-पद का त्याग करने के वाद पूर्ण वैराग्य के राज्य में प्रवेश किया। वे शाकर सन्यासी-सम्प्रदाय के ग्यारहवे गुरु थे। वे महान शास्त्रज्ञ परम आत्मज्ञानी और विलक्षण सन्यासी थे।

पुण्यसलिला तुगभद्रा नदी के तट पर अवस्थित हाम्पी नगर के निकट एक स्थान में एक गरीव ब्राह्मण—परिवार रहता था। वौधायन

सूत्र, यजुर्वेदीय शाखा तथा भारद्वाज कुल वाले उस ब्राह्मण-परिवार में मायण नाम के एक व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम श्रीमती था। घर में धन का अभाव था पर ब्राह्मणदम्पति वडी प्रसन्नता और सतोष से कालयापन करता था। सम्वत् १३२४ वि में ब्राह्ण दम्पति ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया जिनकी माधव नाम से प्रसिद्धि हुई। माधव के दो भाई सायण और भोगनाथ थे। तीनो ने वडे परिश्रम से विद्यार्जन किया, थोडे ही समय में शास्त्रो में उनका अच्छा प्रवेश हो गया। सायण वेदभाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हुए, भोगनाथ ने सन्यास ले लिया। माधव अपनी गरीवी को रात-दिन कोसते रहते थे। उन्होंने स्वदेश और स्वधर्म को विदेशियो के आक्रमण से वचाने के लिये धन-प्राप्ति की ओर विशेष घ्यान दिया, उन्होंने इसके लिये दैवी शक्ति का आश्रय लिया। उनकी रुचि तो अध्यात्म-परक थी ही, इसलिये दैवी शक्ति की प्रसन्नता को ही अपनी ध्येयपूर्ति का प्रतीक स्वीकार किया। उनका आध्यात्मिक वल उत्तरोत्तर वढता गया। वेद-वेदाङ्गों के अध्ययन के वाद उन्होंने ग्रन्थ-प्रणयन में मन लगाया, अनेक ग्रन्थो की रचना की। धन का अभाव सदा खटकता रहता था।

दीक्षा लेने के वाद माधवाचार्य नित्य तुगभद्रा में स्नान कर तथा आह्निक समाप्त कर हाम्पी के प्रसिद्ध देवी मन्दिर में भुवनेश्वरी का दर्शन करने जाया करते थे। धीरे-धीरे उनकी भक्ति भुवनेश्वरी देवी के चरणों में वढने लगी। वे नितान्त कातर होकर माता के चरणों में निवेदन किया करते थे कि हे जगदीश्वरी, मुझे सम्पत्ति चाहिये, मैं ऐश्वर्य प्राप्त कर लोक-कल्याण में लगना चाहता हूँ। एक दिन देवी ने मन्दिर में उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे मा के चरणो से लिपट गये। देवी ने कहा कि मै तुम्हारी श्रद्धा और भक्ति से वहुत प्रसन्न हूँ पर इस जन्म में तुम्हें धन की प्राप्ति न होगी। यह तो दूसरे जन्म में ही सम्भव है। विद्यारण्य को अपने दर्शन से ही भुवनेश्वरी ने धन्य कर दिया। धन-याचना का प्रस्ताव समाप्त हो गया। उन्होने अपने आपको वहुत धिक्कारा कि तुच्छ पदार्थ के लिये मा को व्यर्थ कष्ट दिया। उनके मन में जगत के प्रति वैराग्य भर उठा। उन्होने देवी को नमस्कार किया और संन्यास-ग्रहण के लिये शृंगेरी मठ की ओर चल पडे।

सम्वत् १३८८ वि में उन्होने शृ गेरी मठ के तत्कालीन अध्यक्ष विद्या-शकर तीर्थ से सन्यास-दीक्षा ली, शिष्यरूप में स्वीकृति होने पर उन्होने वडी प्रसन्नता का अनुभव किया। विद्यारण्य कठोर तप में प्रवृत होकर आत्मचिंतन करने लगे। वे रात-दिन ब्रह्मानन्द के सागर में मग्न रहने लगे। गुरु में उनकी वडी निष्ठा थी। उन्होने पचदशी के तत्व-विवेक प्रकरण में अपने गुरु का स्मरण किया है

'नम श्रीशकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने।
सविलास महामोहग्राहग्रासैक कर्मणे ॥'

विलास सहित जो महामोह रूपी, महादुखदायी ग्राह है उसको ग्रस लेना ही जिस का काम है, गुरु शकरानन्द के उस चरण-कमल को नमस्कार है। गुरु चरणकी श्रद्धा-ज्योति में महात्मा विद्यारण्य ने आत्म-दर्शन किया, परम ज्ञान का बोध प्राप्त किया।

सन्यास-धर्म में दीक्षित होने के बाद माधवाचार्य विद्यारण्य तुगभद्रा के तट पर एक गुफा में निवास कर तप करने लगे। वे नित्य भुवने-श्वरी देवी का दर्शन करने के लिये जाया करते थे। इन दिनों दक्षिण-भारत पर मुसलमानो के नये-नये आक्रमण हो रहे थे। दिल्लीश्वर मुहम्मद तुगलक ने सम्वत् १३९१ वि में अनगुण्डी पर आक्रमण किया, अनगुण्डी-नरेश जम्बुकेश्वर मारे गये। सचिव देवराय अनगुण्डी के शासक नियुक्त हुए। यावनीय आक्रमण से पीडित देश की दुर्दशा से विद्यारण्य वहुत खिन्न थे। एक दिन तुगभद्रातट पर आखेट खेलते समय देवराय को विद्यारण्य का दर्शन हुआ। सन्यासी के आदेश से देवराय ने विद्यानगर राज्य की स्थापना की। इधर भुवनेश्वरी के मन्दिर में एक विचित्र घटना ने विद्यारण्य को नया जीवन प्रदान किया। देवी ने साक्षात् दर्शन देकर विद्यारण्य से कहा कि सन्यासग्रहण के वाद तुम्हारा दूसरा जन्म हो गया। मैंने तुम्हे धनप्राप्ति का आशीर्वाद दिया। तुम्हें अपार धन की प्राप्ति होगी। देवी की कृपा से स्वर्ण-वृष्टि हुई। महात्मा विद्यारण्य के प्रसिद्ध शिष्य हरिहर और वुक्कराय थे। दोनो वारगल नरेश प्रतापरुद्र देव के कोपाध्यक्ष थे। महात्मा विद्यारण्य के ही पास वे शृगेरी मठ में निवास कर ज्ञानार्जन कर रहे थे। विद्यारण्य ने उनकी

सहायता तथा महती स्वर्णराशि से विद्यानगर–विजयनगर राज्य को समृद्ध कर स्वधर्म और स्वदेश का सरक्षण किया। हरिहर और वुक्क दोनों भाई विद्यारण्य के परामर्श से राजकार्य-सम्पादन करते थे। इस प्रकार विषय-सुख से सर्वथा निर्लिप्त रहकर विद्यारण्य ने राजनीति का अध्यात्मीकरण किया, आत्मज्ञान का प्रकाश फैलाया।

शृगेरी मठ के अध्यक्ष भारती कृष्णतीर्थ सम्वत् १४३७ वि में ब्रह्मलीन हो गये। उनके उत्तराधिकारी रूप में स्वामी विद्यारण्य शकराचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए। कभी-कभी परामर्श देने के लिये वे विजयनगर आया करते थे।

स्वामी विद्यारण्य उत्तर मीमासा-दर्शन के वहुत वडे पण्डित थे। आचार्य आद्य शकर के बाद अद्वैत ब्रह्मचिंतन के विशेषज्ञो में उनका नाम अमित गौरवान्वित स्वीकार किया जाता है। उन्होने अपनी पचदशी पुस्तक में श्रीमद्भगवद्गीता आदि से पुष्ट प्रमाण देकर ब्रह्म, जीव और जगत का समीचीन विश्लेषण कर ब्रह्म की सत्यता और जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। उन्होने पचदशी के चित्रदीप प्रकरण में स्वीकार किया है

'अचिन्त्या खुल ये भावा न तास्तर्केण योजयेत्।
अचिन्त्य रचनारूप मनसापि जगत् खलु॥'

जो भाव अचिन्त्य है, उन्हे तर्क की कसौटी पर कभी नही कसना चाहिये। इस जगत की रचना तो ऐसी है कि मन से भी उसका चिंतन नही हो सकता है। आशय यह है कि वेदान्त प्रतिपाद्य, ब्रह्म और जीव तो न जाने, कितने अचित्य है। उनकी उक्ति है, पचदशी साक्षी है :

'इयमात्मा परानन्द परप्रेमास्पद यत ।
मा न भूव हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥ '

यह ज्ञान ही आत्मा है और यह परमानन्द स्वरूप भी है, यह परम प्रेम का स्थान है। मै न रहूँ ऐसा कभी न हो, मै सदा वना रहूँ,—ऐसा प्रेम आत्मा से सभी करते है। उन्होने भगवच्चिंतन के माध्यम से स्वीकार किया कि सव भूतो में एक ही भूतात्मा व्यवस्थित है। वह

महात्मा रामानन्द स्वामी

बहुत काल वपु धारि के प्रनत जनन को पार दियो।
श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो॥'

—भक्तमाल

मध्यकालीन भारत के आध्यात्मिक इतिहास की महात्मा रामानन्द बहुत बडी आवश्यकता थे, वे अपने समय के महान सन्त और अद्भुत शिक्षक तथा धार्मिक जन-आन्दोलन के अद्वितीय नेता थे। वे क्रान्तदर्शी महात्मा थे, उन्होने तत्कालीन भारतीय समाज में आध्यात्मिक क्रान्ति उपस्थित कर जनता को घट-घट-व्यापी राम की भक्ति का उपदेश दिया। वे निर्गुण और सगुण भक्ति के समन्वय के सूत्रधार थे, उन्होंने ज्ञान और भक्ति का सरस समन्वय कर भगवान को जनसाधारण का उपास्य वना दिया, विदेशी सत्ता से उत्पीडित भारत ने उनकी भक्तिमयी शिक्षा और दीक्षापद्धति में आत्मशान्ति की ज्योति देखी।

उनके प्राकट्य ने सन्तयुग का अवतरण सम्भव किया, रैदास, कवीर, पीपा, अनन्तानन्द, सेन से लेकर सन्त तुलसीदास आदि की भक्ति-परम्परा उनके सिद्धान्तों से प्रभावित हुई। रामानद ने यवन शासक गयासुद्दीन तुगलक आदि की धार्मिक कट्टरता से भारतवर्ष की सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और भक्तिमूलक आध्यात्मिक मर्यादा की रक्षा की। उनके समकालीन भारत ने तैमूर के आक्रमण का भी भयानक दृश्य देखा था पर उनके सन्तमत के सरक्षण में वह नितान्त अभय रहा।

रामानन्द का जन्म प्रयाग में सम्वत् १३५६ वि में हुआ था। उनके पिता पुण्यसदन कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, वे वडे आचारनिष्ठ और धार्मिक पुरुष थे। रामानन्द की माता का नाम सुशीला था। उन्होने वचपन में वडे-वडे चमत्कार दिखाये, चमत्कार सन्तो के जीवन के दिव्य अलकार होते हैं। . कुलपुरोहित वाराणसी अवस्थी ने शिशु रामानन्द को

तीन साल तक घर से बाहर निकालने का निषेध किया था, साथ-ही-साथ यह भी आदेश दिया था कि न तो उन्हे दर्पण दिखाया जाय और न दूध के सिवा कुछ अन्य पदार्थ खाने के लिये दिया जाय। माता-पिता ने पुरोहित की आज्ञा का बडी सावधानी से पालन किया।

रामानन्द चार साल से अधिक के हो गये थे। एक दिन उनके पिता जो वेद, पुराण तथा अन्य शास्त्रो में परम मर्मज्ञ थे रामायण पाठ का अनुष्ठान कर रहे थे। रामानन्द उन्ही के पास बैठे थे, उन्होने पाठ कठस्थ कर लिया और उसको सस्वर गाने लगे। लोग इस घटना से आश्चर्यचकित हो गये, उन्हे विश्वास हो गया कि रामानन्द के रूप में किसी असाधारण महात्मा ने पुण्यसदन और सुशीला के सौभाग्य को धन्य किया है। आठ साल के होते-होते उन्होने अनेक शास्त्र कठस्थ कर लिये।

उपनयन-सस्कार के बाद रामानद विद्या पढ़ने के लिये काशी गये, घर और परिवार के प्रति इतने अनासक्त हो गये कि आचार्य तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों के कहने पर भी वे काशी से न लौट सके, माता-पिता उनकी देख-रेख के लिये स्वय काशी गये। वे अपने माता-पिता के साथ ओकारेश्वर के यहाँ काशी में विद्याध्ययन करने लगे। बारह वर्ष की अवस्था में वे समस्त शास्त्रो में पारगत हो गये।

विवाह का प्रस्ताव उपस्थित होने पर उन्होने उसे अस्वीकार किया, वे जन्मजात तपस्वी थे, अखण्ड ब्रह्मचर्य का सवरण कर वे ब्रह्मानन्द-शुद्ध सच्चिदानन्द की खोज में लग गये। वे एक त्रिदण्डी सन्यासी के सम्पर्क में आये, सन्यासी वेदान्ती थे, शाकर मायावादी दर्शन से प्रभावित थे, रामानन्द ने उनके साथ में रह कर आत्मज्ञान की प्यास बढायी।

काशी में राघवानन्द नाम के एक परम वैष्णव सन्यासी रहते थे, वे रामानुज आचार्य की गद्दी के चौथे उत्तराधिकारी थे, काशी में ही नही, दूर-दूर के तीर्थ-क्षेत्रो और नगरों में उनकी भक्ति की प्रसिद्धि थी, वे रसिक महात्मा थे, राम के उपासक थे। एक दिन अचानक उनकी भेंट रामानन्द से हो गयी, उन्होंने रामानन्द पर कृपा-दृष्टि की, कहा कि तुम्हारी आयु के तीन दिन शेष रह गये हैं, तुमने अभी तक पूर्णरूप से

हरि की शरण नही ली। सन्त के शब्द थे, हृदय में तीर की तरह लग गये, उनके हृदय में भागवती चेतना का स्पन्दन जाग उठा, उन्होने त्रिदण्डी सन्यासी से राघवानद के मिलने की बात वतायी और सन्यासी के आदेश से वे राघवानद से गुरु-दीक्षा की भिक्षा माँगने चले आये। उन्होंने राघवानन्द के श्रीचरणो में वडी विनम्रता से आत्मनिवेदन किया और उन्होने रामानद को अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। वे राघवानन्द से दीक्षित होकर पचगगा घाट पर एक झोपडी में तप करने लगे। लोग दूर-दूर से उनके दर्शन के लिये एकत्र होने लगे। अनेक ऊँचे-ऊँचे सन्तों और महात्माओ ने महात्मा रामानन्द के चरण में बैठ कर आत्मज्ञान की जिज्ञासा-निवृति से परम शान्ति की आत्मानुभूति की। उनके पास सारे धर्मों और सिद्धान्तों के लोग आकर अपनी शकाओं का समाधान करते थे।

एक समय की वात है। काशी में उनके सत्सग में देश के कोने-कोने से श्रद्धालु और जिज्ञासु भक्त तथा प्रेमी एकत्र हुए। उन लोगों ने स्वामी रामानन्द से धर्म का सरक्षण करने की प्रार्थना की। उनको वताया गया कि इस्लामेतर धर्म के अनुयायियो पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये जाते है, उनसे धार्मिक कर लिया जाता है, मन्दिर आदि बनाने पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है, शख बजाने का निषेध किया जाता है। रामानन्द ने लोगो को समझाया कि ईश्वर में आस्था रखने वालो पर ससार का कोई भी प्राणी अत्याचार नही कर सकता है, भगवान के भक्त का कभी नाश नही होता है, भगवान की कृपा भक्तों की रक्षा में सदा तत्पर रहती है।

उनकी तपस्या के प्रभाव से जनता ने इन अत्याचारो से मुक्ति की सास ली। रामानन्द स्वामी से तत्कालीन दिल्लीश्वर गयासुद्दीन तुगलक वहुत प्रभावित था। उसने प्रान्तीय शासको को आदेश दिया कि प्रजा पर और विशेषतया हिन्दुओ पर किसी भी प्रकार की धर्मान्धता का वर्ताव न किया जाय। रामानन्द ने समझाया कि हिन्दू-मुसलमान दोनों के ईश्वर एक है, नितान्त अभिन्न है। ऐसी स्थिति में वुद्धिमानी और सावधानी से भक्तिपूर्वक हरि का भजन करने वाला निस्सन्देह हरि के ही अच्युत गोत्र का हो जाता है। रामानन्दकालीन भारत में इस

तरह की सीख बहुत बडी आध्यात्मिक क्रान्ति की आधारशिला थी। अयोध्या के तत्कालीन शासक महाराजा गर्जसिंह मोहम्मद तुगलक के भय से तराई के वन में भगवद्भजन करने चले गये, अवधक्षेत्र की प्रजा विशेष पीडित थी, उनके भाई हरिसिंह देवजी के निवेदन पर स्वामी रामानन्द ने अयोध्या जाकर लोगो को अभयदान दिया। जनता ने अपने महान रक्षक के रूप में उनका स्वागत किया।

श्रीराम की परम विमल भक्ति के प्रचार के लिये स्वामी रामानन्द ने यात्रा आरम्भ की। वे जगन्नाथक्षेत्र गये, उसके बाद वे विजयनगर गये। विजयनगर में उस समय गोब्राह्मण प्रतिपालक, वैदिक धर्म के महान रक्षक श्री बुक्काराय राज करते थे। विजयनगर-राज्य तत्कालीन भारत का सास्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से महान संरक्षक था। वे नव दिनों तक विजयनगर में राजा और प्रजा को धर्माचरण और सदाचार तथा भगवद्भक्ति का उपदेश देते रहे। उन्होने एक लोकरक्षक की तरह बुक्काराय को समझाया कि प्रजा का पालन ही राजा का सनातन धर्म है, राजा ईश्वर का अश होता है, यदि वह भोगविलास में लग कर अपना राजधर्म भूल जाता है तो उसका राज्य यथाशीघ्र नष्ट हो जाता है। उन्होंने महाराजा बुक्काराय को रामराज्य के पुनीत आदर्श के अनुसार राज करने की सीख दी। बुक्काराय ने स्वामी रामानन्द की आवभगत मे धरती-पाताल एक कर दिया, ऐसा लगता था कि विजय नगर आध्यात्मिक उन्नति का नन्दनवन है। विजयनगर से स्वामी रामानन्द रामेश्वर गये, काची, श्रीरगक्षेत्र, जनार्दन, द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, मायापुरी, चित्रकूट, प्रयाग आदि तीर्थों को धन्य कर वे काशी लौट आये। इस प्रकार स्वामी रामानन्द ने समग्र भारत में रामभक्ति की विजयदुन्दुभी बजायी, लोककल्याण की साधना की।

स्वामी रामानन्द ने भव-अन्धकार में उलझे प्राणियो को ज्ञान-प्रकाश दिया, उन्होंने जीवमात्र को बिना किसी भेद-भाव के राम की उपासना और भक्ति का अधिकारी घोषित किया। उन्होने भक्ति की प्रगति के इतिहास में एक विशेष युग का प्रवर्तन किया।

यात्रा के पश्चात कुछ विशेष दृष्टिकोण के कारण राघवानन्द के आदेश से उन्हे श्रीसम्प्रदाय छोडना पडा, श्रीसम्प्रदाय में भगवान विष्णु

और लक्ष्मी की उपासना होती है। रामानन्द ने रामावत या रामात सम्प्रदाय चलाया, उन्होंने विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर राम और सीता की उपासना को मान्यता दी। रामावत सम्प्रदाय रामानन्दी सम्प्रदाय भी कहलाता है। सीता, राम, लक्ष्मण और हनुमान चारो उपास्य हैं। पर इष्ट श्रीरामचन्द्र ही है। रामानन्द ने रामानुजीय विशिष्टाद्वैत के अनेक वन्धन शिथिल कर जनता को लोकभाषा में राम की भक्ति की पद्धति समझायी। उन्होंने आध्यात्मिक साधना में विनम्रता की सीख दी, बिना विनम्र हुए, लघु हुए जीव परमात्मा के दास्य का अधिकारी ही नही हो सकता है। ईश्वर के प्रति प्रगाढ अनुरक्ति अथवा प्रीति ही भक्ति है, हरि के भजने वाले सब समान है, अच्युत गोत्रीय है—ऐसा उनका सिद्धान्त था। उन्होने अपने अनुयायियों को अवधूत कहा क्योकि जातिगत, सम्प्रदायगत या उपासनागत भेद-भाव से वे ऊपर उठ कर हरि के शरणागत थे। रामायण के चरित्र-नायक राम के प्रति पूर्णरूप से समर्पण कर जीव ससार-सागर से पार हो जाता है—यह उनका अभयदान अथवा महामन्त्र था। निस्सन्देह वे श्रीराम के सिद्ध भक्त थे। रामानन्द स्वामी ने ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर सभी लोगों को तारकमन्त्र की दीक्षा दी। उन्होने जनसाधारण के लिये अध्यात्म का पट खोल दिया। ईश्वर की दृष्टि मे उन्होने जीवमात्र की समता स्वीकार की। उन्होने कहा कि प्रेम करने की वस्तु केवल परमात्मा ही हैं। वे चराचर के पिता है, पालक है, उनके दास्य में जीव परमानन्द की अनुभूति करता है।

रामानन्द योगी थे। वैष्णवों के सर्वमान्य आचार्य थे। परमात्मतत्व के पूर्ण ज्ञाता थे। उनके असख्य शिष्य थे। उनमें वारह शिष्य अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, पीपा, रैदास, कवीर, सेन, धन्ना, पद्मावती, सुरसरि प्रधान थे। उन्होंने स्त्री और पुरुष सबको दीक्षा दी।

वे लगभग एक सौ अडतालीस साल तक पृथ्वी पर विद्यमान थे। माघ कृष्ण सप्तमी को वे प्रकट हुए थे और रामनवमी की शुभ तिथि को अपनी कुटी में काशी में ही वे सम्वत् १५०५ विक्रमीय में अन्तर्धान हुए थे। चैत शुक्ल अष्टमी को ही उन्होने अपने शिष्यों को

एकत्र कर बता दिया था कि कल रामनवमी है, मैं अकेला अयोध्या जाऊँगा और भविष्य में मेरा दर्शन न हो सकेगा। अपने पूर्वकथन के अनुसार ही उन्होंने साकेत धाम की महायात्रा की। स्वामी रामानन्द परम आत्मदर्शी रामभक्त महात्मा थे।

रचना

उन्होंने देववाणी और हिंदी में समान रूप से उपदेश दिये, उनकी वाणी का सकलन शिष्यों ने उनके सिद्धान्त सम्वन्धी ग्रन्थो में किया है। गुरुग्रन्थ साहव में भी उनका पद मिलता है।

पद

कतजाइये रे घर लागो रगु। मेरा चित न चले, मन भयो पगु।
एक दिवस मन भयी उमग, घसि चन्दन-चोवा-वहु सुगन्ध,
पूजन चाले ब्रह्म मठाहि। सो ब्रह्म वतायो गुर मनहि माहि।
जहाँ जाइये तहाँ जल-परवान, तत पूरि रह्यो है सव समान।
वेद-पुरान सव देखे जोय, उहाँ त जाइये, जहाँ न होय।
सतगुर मैं वलिहारी तोर, जिन सकल विकल भ्रम काटे मोर।
'रामानन्द स्वामी' रमत ब्रह्म, गुर का सवद काटै कोटि करम।

हरि विन जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बडाई, धनमद अध मति सोयो रे।
अति उत्तग तरु देखि सुहायो, सैवल कुसुम सूवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र-कलत्र विषै-सुख, अति सीस धुनि-धुनि रोयो रे।
सुमिरन-भजन-साधु की सगति, अतरि मन मैल न धोयो रे।
'रामानन्द' रतन जम त्रासै, श्रीपति पद काहे न जोयो रे।

सन्त नामदेव

'प्यारे हरि के दास उदास नामदेव ! हृषीकेश से तुम्हारी बडी प्रीति है। हरि के दासों में तुम निराले कहलाओगे, तुम प्रेम की प्रतिमा हो। विट्ठल भगवान के लाड़ले हो, हम लोगो पर तुम्हारी बडी कृपा है।'

—सन्त ज्ञानेश्वर

सन्त नामदेव उच्च कोटि के सन्त थे, भगवान् के बहुत बडे भक्त और अनन्य प्रेमी थे, वे सिद्ध महात्मा थे। उनका सम्पूर्ण जीवन विट्ठल भगवान के चरणों में समर्पित था।

नामदेव का समय स १३२७ वि से स १४०७ वि है, इस पवित्र अवधि में उन्होने दक्षिण और उत्तर भारत में सन्तमत की जिस प्रगाढ़ भगवद्भक्ति से परिपुष्टि की उसकी मौलिकता और अपूर्वता में तनिक भी सन्देह नही किया जा सकता है। सिखों के 'आदि ग्रन्थ' में उनकी अगणित रचनाओं का सकलन नामदेव की महत्ता और परम साधुता का परिचायक है। उनके इष्ट विट्ठल थे। महाराष्ट्र के पाच प्रमुख सन्तों में उनकी गणना होती है, ज्ञानदेव, एकनाथ, रामदास और सन्त तुकाराम की श्रेणी में वे परिगणित है। वे केवल महाराष्ट्र ही नही, समस्त भारत देश के तत्कालीन सन्तों के एक विशिष्ट प्रतीक अथवा आदर्श थे। यवनों की राजसत्ता से उत्पीडित भारत में उन्होंने शान्ति की निर्झरिणी वहायी। उन्होंने जनता को सरस भगवद्भक्ति का दान दिया, सन्तमत के सरक्षण में उसे अभय किया।

सन्त नामदेव का जन्म परम वैष्णव कुल में हुआ था, उनके पूर्वज भगवान की भक्ति में वडे दृढनिष्ठ थे। उनके एक पूर्वज यदुसेठ विट्ठल के अनन्य भक्त थे। वे हैदरावाद में सतारा जिले के कन्हाड के निकट नरसी ब्राह्मणी गॉव में रहते थे। उनका कुल भगवद्भक्ति आचार-निष्ठा और सन्तसेवा से परम पवित्र हो गया। इसी भागवत परिवार

में स १३२७ वि. मे कार्तिक शुक्ल एकादशी अथवा प्रतिपदा को सन्त नामदेव ने जन्म लिया। उनके माता-पिता गोणाई और दामासेठ भी वडे भगवदीय थे, शिशुनामदेव में अलौकिक तेज और दिव्य गुण देख कर उन्होने अपने आपको परम धन्य समझा। नामदेव का लालन-पालन उन्होने उचित ढग से किया और इस वात को दोनों ने सदा ध्यान में रखा कि वे भगवान के भक्त वनें तथा उन्हे सदा सन्तों और ज्ञानियो का सग मिलता रहे।

गाँव के वाहर केशिराज शिव का एक मन्दिर था। दामासेठ नित्य शिव की पूजा करने आया करते थे, वे प्रति वर्ष विट्ठल भगवान के दर्शन के लिये पण्ढरपुर आया करते थे और भगवान के प्रति आसक्ति वढने पर वे पण्ढरपुर में ही वस गये। पिता के आचरण का नामदेव के विकास पर वडा प्रभाव पडा।

नामदेव के शैशव-काल में एक दिन एक विचित्र घटना हुई। उनके घर में श्री विट्ठल का विग्रह था, नामदेव के पिता विधिपूर्वक नित्य-प्रति उनकी उपासना और पूजा करते थे। एक वार दामासेठ को किसी विशेष आवश्यक कार्य से वाहर जाना पडा, वे विट्ठल को नित्य दूध समर्पित किया करते थे, उन्होने अपने भागवत पुत्र नामदेव को दूध अर्पण करने का भार सौंपा था, नामदेव विट्ठल का नाम सुनते ही आनन्द से 'जय विट्ठल' कहते-कहते विट्ठलमय हो जाया करते थे, जव पिता ने उनसे भगवान को दूध अर्पित करने की वात कही, वे वहुत प्रसन्न हुए। पिता की अनुपस्थिति में वे कटोरे में दूध लेकर विट्ठल के विग्रह के सामने वैठ गये, नयन वन्द कर धीरे से कहा 'दूध पीलो' मन में उत्सुकता वढ रही थी कि विट्ठल ने दूध पीया होगा। वालक नामदेव ने नयन खोले, वे सहम गये, भगवान ने दूध नही पीया। नामदेव ने सोचा कि मेरी सेवा में कोई अपवित्रता आ गयी इसलिये करुणामय ने कटोरे की ओर देखा तक नही। उन्होंने कहा, 'विट्ठल, पिता तो वडी पवित्रता से दूध पिलाते हैं, मैं तो अभी वच्चा हूँ, मुझसे अवश्य सेवा में भूल हो गयी है, इसलिये दूध पडा रह गया, ठीक है, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ यदि दूध पडा रहेगा तो मैं भी दूध नही पीऊँगा। वे विट्ठल की ओर व्यग्र होकर देखने लगे। उनके

मन मे बडा दुख था कि विट्ठल ने दूध नही पीया। भगवान को भाव चाहिये, वे दयामय नामदेव के सामने प्रगट हो गये, दूध पीने लगे। वातावरण धन्य हो गया। इसी प्रकार जब तक दामासेठ नही आ गये, नामदेव सदा दूध पिलाते रहे। पिता ने लौट कर जब वास्तविकता का पता लगाया तब उनका शरीर रोमाञ्चित हो उठा, उन्होंने नामदेव को गले लगा लिया, कहा कि तुमने मेरा घर ही नही पवित्र किया, समस्त पण्ढरपुर की धरती और भरतखण्ड के कण-कण तुम्हारी भक्ति से धन्य हो गये। नामदेव की विट्ठल में भक्ति बढने लगी। आठ साल की अवस्था में गोविन्द सेठ की कन्या राजाई के साथ नामदेव का विवाह कर दिया गया। कुछ दिनो में पिता का देहान्त हो गया। घर-गृहस्थी सभालने का भार नामदेव के कन्धो पर आ पडा। उनकी माता और स्त्री की बडी इच्छा थी कि नामदेव व्यापार में लगें, घर की उन्नति करे पर विट्ठल के राज्य का प्रवेशपत्र तो उन्हे परिवार वालो के ऐसा सोचने के पहले मिल गया था। नामदेव तो विट्ठल के कीर्तन, भजन और चिन्तन में मग्न थे, उनके लिये तो चन्द्रभागा में स्नान, पुण्डलीक के दर्शन और पण्ढरीनाथ के स्मरण से बढ़ कर ससार में कोई दूसरा व्यापार था ही नही, ससार उन्हे फीका लगता था, वे पण्ढरपुर में ही रह कर दिन-रात श्री विट्ठल के नामामृत का रसास्वादन करने लगे। वे सरस अभगो की रचना कर रुक्मिणी और विट्ठल को रिझाने लगे। पण्ढरपुर में उन दिनो गोरा कुम्हार और सॉवता माली ऐसे सन्तो का समागम नामदेव महाराज के लिये परम सुगम और सुलभ थी। वे उनके सत्सग से अपने जीवन को पूर्ण रूप से विट्ठलमय बनाने मे सफल हुए।

नामदेव की भक्ति श्रीविट्ठल में इतनी बढ गयी कि दयामय प्रभु उनसे एक क्षण के लिये भी अलग नही रह सकते थे, वे नामदेव के सामने प्रकट रूप से माया-मनुष्य हरि के रूप में प्रत्येक आचरण करते थे, अपने भक्त की प्रत्येक कामना की पूर्ति में लगे रहते थे, इधर नामदेव भी बिना प्रभु के दर्शन के एक क्षण भी सुखपूर्वक नही रह पाते थे। प्रीति का पथ निराला होता है, विट्ठल और नामदेव दोनो-के-दोनो की एक-दूसरे में प्रगाढ अनुरक्ति थी, कितने सौभाग्यशाली

थे सन्त नामदेव। नामदेव के समकालीन सन्तो में महात्मा ज्ञानदेव—सन्त ज्ञानेश्वर की वडी प्रसिद्धि थी। वे नामदेव से मिलने पण्ढरपुर आये थे। उनके मन की वडी इच्छा थी कि नामदेव तीर्थयात्रा मे उनके साथ रहें। दोनो एक-दूसरे के सत्सग और पारस्परिक सम्पर्क से प्रभावित थे। ज्ञानदेव ने नामदेव से तीर्थयात्रा में साथ देने की वात कही। नामदेव ने वडी सरलता और कोमलता से उत्तर दिया कि मैं श्री पाण्डुरग भगवान को देखे विना एक क्षण भी नही जीवित रह सकता पर आप सन्त हैं, उन्ही के साक्षात् स्वरूप है, यदि वे प्रभु आप के साथ जाने की आज्ञा प्रदान कर दें तो मुझे आपत्ति नही हो सकती है। यह तो मेरा परम सौभाग्य है कि आप सरीखे उच्च सन्त मुझे अपने सम्पर्क से धन्य करने की वात सोच रहे है, नामदेव के रोम-रोम में आनन्द छा गया। भक्त की वात थी, ज्ञानदेव ऐसे महात्मा की वकालत थी, पाण्डुरग का न्यायालय था। ज्ञानेश्वर ने प्रभु के सामने नामदेव के मन की वात रखी। पाण्डुरग ने सन्त ज्ञानेश्वर से कहा कि नामदेव मेरे परम प्रिय हैं। मैं उन्हे अपने पास से क्षण भर के लिये भी दूर नही करना चाहता हूँ। यदि ले ही जाने की इच्छा है तो रास्ते में उनके विषय में पूरा ध्यान रखना चाहिये। नामदेव का जीवन धन्य हो गया, करुणामय पण्डरीनाथ की उन पर इस रूप में कृपा थी, कितनी सफल और पुण्यमय रहनी थी सन्त नामदेव की।

सन्त नामदेव विट्ठल भगवान के आदेश से महात्मा ज्ञानदेव के साथ तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। ज्ञानेश्वर ने उन्हे परमात्मा के सर्व-व्यापक होने का ज्ञान समझाया पर उनका मन तो सगुण भक्ति में सरावोर था। उन्होने ज्ञानेश्वर से कहा कि विट्ठल प्रभु ही पूजनीय है, प्राणी को उन्ही के भजन, चिन्तन और स्मरण में लगे रहना चाहिये, श्रीकृष्ण का प्रेम ही जीवन का श्रेय है, पाण्डुरग ही मेरे प्राणधन है। सन्त ज्ञानेश्वर का निर्गुण ज्ञान उनके लिये सर्वथा नीरस था, वे तो अनवरत विट्ठल का सरस नाम स्मरण करते हुए चले जा रहे थे। प्रभास, द्वारका आदि तीर्थो से लौटते समय वीकानेर के निकट मार्ग में एक विचित्र घटना हुई। नामदेव और ज्ञानेश्वर दोनो-के-दोनो वडे प्यासे थे, कौलावत गॉव में एक कुआँ दीख पडा। ज्ञानेश्वर सिद्धयोगी

थे, लघिमासिद्धि के प्रयोग से वे कुएँ में पहुँच गये, पानी पीकर नामदेव के लिये जल लेकर बाहर आ गये। सन्त नामदेव भक्त थे उन्होने जल पीना अस्वीकार कर दिया और विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि विट्ठल को मेरे जलग्रहण की चिन्ता अवश्य होगी। उनका इतना कहना था कि पानी कुएँ के ऊपर आ गया और उन्होने पीकर प्यास शान्त की। भक्त के लिये भगवान की सेवा का रूप ही यही है, वे अशरणशरण अपने प्रेमियो को रिझाने के लिये लघुत्तम से भी लघुत्तम काम के लिये कटिबद्ध रहते है। काशी से पण्ढरपुर लौटते समय यात्रा-मण्डली विश्राम के लिये गृहस्थ सन्त गोराकुम्हार के घर पर तेरढोकी स्थान में ठहर गयी। गोराकुम्हार उच्च कोटि के ज्ञानी सन्त थे, ज्ञानेश्वर, उनकी बहिन मुक्ताबाई, आदि के हृदय में उनके लिये उच्च-कोटि की श्रद्धा थी। इस यात्रा में ज्ञानेश्वर के साथ मुक्तावाई भी थी। गोरा कुम्हार की प्रसिद्धि 'चाचा' नाम से थी। गोरा कुम्हार के घर पर सत्सग हो रहा था, थोडी दूर पर एक थापी दीख पडी। मुक्तावाई ने विनोद के स्वर में कहा कि चाचा जी, यह क्या है। गोरा ने कहा कि यह थापी है, इससे घडे के कच्चे और पक्के होने की बात जानी जाती है। मुक्ताबाई ने कहा कि हम लोग भी तो मिट्टी के घडे के ही समान है। गोरा ने कहा कि ठीक है और उन्होंने थापी से एक-एक के सिर पर थापना आरम्भ किया। सन्त नामदेव को यह बात अच्छी न लगी। गोरा ने उनके सिर पर थापी रख कर कहा कि नामदेव अभी तुम कच्चे घडे हो, तुमने अभी तक गुरु नही किया। नामदेव को बडा दुख हुआ। पण्ढरपुर लौटने पर उन्होने विट्ठल के समक्ष वात रखी। भगवान ने गोरा की वात का समर्थन किया, नामदेव से कहा कि यद्यपि तुम मेरे परम भक्त हो तथापि जव तक गुरु की शरण में जाकर उनके चरणों पर अपना अहकार नही चढाओगे तव तक कच्चे रहोगे। भगवान के आदेश से सन्त नामदेव ने विसोवा खेचर को अपना गुरु वनाया। विसोवा खेचर पहुँचे हुए महात्मा थे, नामदेव ने उनसे पूर्ण तत्वज्ञान का वोघ प्राप्त किया। उनके गुरुमुख होने के सम्वन्ध में एक विचित्र घटना का उल्लेख मिलता है। विट्ठल ने स्वप्न में उन्हें आदेश दिया था विसोवा खेचर को गुरु वनाने का। नामदेव उनकी खोज में चल पडे, एक शिवमन्दिर में उनका पता लग

गया, नामदेव ने एक बूढे व्यक्ति को शिवलिंग पर पैर फैलाये देखा। व्यक्ति ने कहा कि मेरे पैर ऐसे स्थान पर रख दो जहाँ शिवलिंग न हो। नामदेव ने पैर हटाये ही थे कि दूसरे स्थान पर भी शिवलिंग प्रगट हो गया। नामदेव ने समझ लिया कि वे ही विसोबा खेचर हैं उन्होंने उनसे दीक्षा ली। अपने अभगो में नामदेव महाराज ने अपने गुरु की वडी महिमा गायी है। उन्होने एक अभग में कहा है कि मेरा मन सूई है, तन धागा है, मैने खेचर जी का चरण पकड लिया है। गुरु ने मेरा जन्म सफल कर दिया, मै दुख भूल गया, मेरा अन्तरदेश आनन्दमय हो उठा। गुरु ने मेरे नयनो में ज्ञान का अजन लगाया, विना रामनाम के मेरा जीवन मणिहीन था। मैंने गुरु की कृपा से भगवान का स्मरण किया, और भगवद्मय हो गया। नामदेव की गुरुनिष्ठा परम सराहनीय है। इस प्रकार नामदेव की सन्त ज्ञानेश्वर के साथ तीर्थयात्रा सफल हुई, वे पण्ढरपुर लौट कर पाण्डुरग के प्रेमरग में रग गये। सन्त नामदेव ने कुछ दिनों तक पजाव प्रान्त में भी रह कर कृष्णभक्ति का प्रचार किया था। गुरुदासपुर जिले के घोमनगाव में उन्होंने असख्य जीवों का अपने सत्सग और पाण्डुरग की भक्ति से कल्याण किया। उन्होने घोमनगाव के निवासकाल में अनेक पद हिंदी भाषा में वनाये जिनमें से अधिकाश गुरुग्रत्न्थ साहव में सग्रहीत हैं। उनके जीवन के पूर्वार्ध का अधिकाश पण्ढरपुर में वीता और उत्तरार्ध के अधिकाश का सदुपयोग उन्होने उत्तर भारत में किया, नामदेव वारकरी सम्प्रदाय के आदि सन्तो में से एक थे, महाराष्ट्र में उन्होने विष्णुभक्ति और सन्त-मत का सगम उतार लिया। उन्होने सर्वत्र भगवान का विट्ठल रूप में दर्शन किया। वे सन्त थे, पूर्ण निरपेक्ष और निष्पक्ष थे, सम्प्रदाय और जाति के भेदभाव से ऊपर उठे हुए थे। वे समदर्शी महात्मा थे। उन्होने उस परम तत्व को प्रणाम किया जिसका विवेचन उन्होंने अपने सद्गुरु से प्राप्त किया था। उनके गुरु ने उन्हें परम तत्व का दर्शन कराया था, उनकी उक्ति है कि मै उस परमतत्व को प्रणाम करता हूँ जिसको मुझे गुरु ने दिखाया था। नामदेव ने अत्यन्त दीन और विनम्र भाव से भगवान की शरणागति-याचना की। उन्होंने अपने एक पद में कहा है कि राम मेरे स्वामी है, मै उन्ही का शृगार करता हूँ। ससार मेरी निंदा भले करे पर मेरे

तन-मन तो राम के ही योग्य है। मैं किसी से विवाद नही करता हूँ। मेरी रसना निरन्तर रामरसायन पीती रहती है। मै तो स्तुति-निंदा से परे हो कर श्रीरग विट्ठल को भेंटना चाहता हूँ। मै उनसे डके की चोट मिलना चाहता हूँ। वे ही मेरे प्राणधन हैं—सर्वस्व है।

सन्त नामदेव के जीवन में विलक्षण और अद्भुत घटनाओ का समावेश पाया जाता है। एक बार सन्त नामदेव आलावती स्थान पर गये, भगवान के प्रेम में आत्मविभोर होकर वे मन्दिर के सामने बैठ कर कीर्तन करने लगे। पण्डों ने शूद्र जानकर उन्हें उस स्थान से उठा दिया, वे मन्दिर के पीछे जाकर कीर्तन करने लगे। मन्दिर का दरवाजा पूर्व से पश्चिम हो गया, भगवान अपने भक्तों का अपमान नही सह सकते है, वे प्रत्येक स्थिति में उनका सम्मान सुरक्षित रखते है। प्रभु ने नामदेव की प्रसन्नता के लिये मन्दिर का दरवाजा ही घुमा दिया।

एक बार सन्त नामदेव की कुटिया में आग लग गयी, एक ओर की वस्तुएँ जलती देख कर उन्होने दूसरी ओर की वस्तुओ को आग मे फेंकना आरम्भ किया। लाल-लाल लपटो में उन्हें अग्निवेष में विट्ठल का दर्शन हुआ, उन्होंने कहा कि प्रभु इस अग्नियज्ञ में मै अपनी वस्तुओं की आहुति दे रहा हूँ, अज्ञान से मैंने इनको अपना मान रखा था, अव इनको स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करें। आग ने भयकर रूप धारण कर लिया, सारी कुटी जल गयी। नामदेव को इसकी तनिक भी चिंता नही थी। प्रभु ने मजदूर के वेष मे प्रकट होकर उनकी छान-कुटी छा दी।

अपनी भावना के अनुरूप ही भगवान का दर्शन होता है। एक वार सन्त नामदेव एक गाँव के सूने मकान में ठहरने लगे। गाँव वालों ने कहा कि इस मकान में ठहरने से प्राण सकट में पड जायेगा, इसमें एक ब्रह्म-राक्षस रहता है। नामदेव ने कहा कि प्रत्येक स्थान में विट्ठल ही है, वे भूत के रूप में भी रह सकते है, आधी रात को भूत प्रकट हो गया, उसका शरीर लम्बा था, वह देखने में विकराल और भयकर था। नामदेव ने भूत के रूप में विट्ठल की स्तुति की, उन्होंने कहा कि मेरे लम्वकनाथ, आज तो आपका रूप कुछ विचित्र ही है। आपका सिर स्वर्ग तक है और पैर धरती पर है, अनेक साज में

आप के इस विचित्र रूप का पार शिव-सनकादि भी नही पा सकते है। आप मेरे स्वामी हैं, प्रभु मुझे सफलमनोरथ करे। नामदेव ने देखा कि उनके नयनों के सामने शख-चक्र-गदा-पद्म धारण करने वाले साक्षात् पाण्डुरग ही खडे है। प्रभु की मन्द-मन्द मुसकान ने नामदेव का मन मोहित कर लिया।

एक वार नामदेव ने एक जगल में पेड के नीचे कुछ रोटियाँ वनायी, वे लघुशका करने जा रहे थे कि एक कुत्ते ने रोटियाँ लेकर भागना आरम्भ किया, नामदेव घी की कटोरी हाथ में लेकर उसके पीछे दौड पडे। उन्होने वडी व्यग्रता से कहा कि प्रभु, मुझे पहले रोटियो में घी लगा देने दीजिये, रूखी रोटियाँ आप के योग्य नही है। भगवान तो भाव के भूखे हैं, कुत्ते में पाण्डुरग अभिव्यक्त हो उठे, नामदेव ने चतुर्भुज रूप में विट्ठल का दर्शन किया, वे प्रभु के चरणों पर गिर पडे, भगवान ने उनको गले लगाया।

सन्त नामदेव ने असी साल की अवस्था में देह-त्याग किया। सम्वत् १४०७ वि में श्रावण कृष्ण द्वादशी को विट्ठल मन्दिर के महाद्वार पर पाण्डुरग के सामने ही प्राण ने शरीर छोड कर भगवदीय ज्योति में प्रवेश किया। उनकी अवसान-तिथि आश्विन कृष्ण त्रयोदशी भी मानी जाती है। सन्त नामदेव की समाधि पण्ढरपुर में है। नामदेव का जीवन परम धन्य हो गया, भगवान ने उन्हे अनेक वार दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया, नामदेव ने अपनी रसमयी वाणी से भक्तिपति विट्ठल का गुणानुवाद कर इहलोक-परलोक ही नही वनाये, असख्य प्राणियों को ससार-सागर से पार होने का महामन्त्र वताया।

रचना

सन्त नामदेव ने मराठी और हिंदी में समान गति से अभग और पद लिखे। उनके पद 'गुरुग्रन्थसाहव' में सकलित है। इनकी रचना 'तीर्थावली' वहुत प्रसिद्ध है।

पद

हमरो करता राम सनेही।
काहे रे नर गरव करत है, विनसि जाइ झूठी देही।

मेरी कौरव करते दुरजोधन सौ भाई।
बारह जोजन छत्र चलै था, देही गिरझन खाई।
सब सोने की लका होती, रावन से अधिकाई।
कहा भयो दर बाधे हाथी, रवन महि भई पराई।
दुरबासा सु करत ठगौरी, जादव वे फल पाये।
किरपा करी जन अपने ऊपर, नामा हरिगुन गाये।
भाई रे इन नैननि हरि देखौ।
हरि की भगति साध की सगति, सोई दिन धनि लेखौ।
चरन सोइ जे नचत प्रेम सू, कर सोई जे पूजा।
सीस सोइ जो नवै साध कू, रसना अवर न दूजा।
यह ससार हाट का लेखा, सब कोई बनिजहि आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया।
आतमराम देह धरि आया, तामे हरि कू देखौ।
कहत 'नामदेव' बलि-बलि जैहो, हरि भजि और न लेखौं।
बदहु किन होड माधव, मोसू।
ठाकुर ते जन जन ते ठाकुर ख्याल पर्यो है तोसू।
आपन देव, देहुरा आपन, आप लगावै पूजा।
जल ते तरग तरग ते है जल, कहन-सुनन को दूजा।
आपहि गावै आपहि नाचै, आप बजावै तूरा।
कहत 'नामदेव' तू मेरो ठाकुर, जन ऊरा तू पूरा॥
मै बौरी मेरा राम भतार।
रचि-रचि ताको करौं सिंगार।
भले निन्दो, भले निन्दो, भले निन्दो लोग।
तन-मन मेरा राम प्यारे जोग।
वादविवाद काहू सू न कीजै,
रसना राम रसायन पीजै।
अब जिय जानि ऐसी बनि आई।
मिलौं गुपाल नीसान बजाई।
अस्तुति-निन्दा करै न कोई।
'नामा' श्रीरग भेंटल सोई।

सन्त ज्ञानेश्वर

'हे ज्ञानियों के गुरु, राजाओं के महाराजा! आप ज्ञानदेव कहलाते हैं, इस महत्ता को मैं पामर क्या समझूं। पैरों की जूती का पैरो में ही रहना ठीक है। ब्रह्मा आदि भी जब आप पर बलि जाते हैं तब दूसरे आप की तुलना में कितना ठहरेंगे? ....मैं योग का घर नहीं जानता हूँ, इसलिये चरणों पर मस्तक रखता हूँ।' —तुकाराम

ज्ञानदेव मराठी सन्त-साहित्य क्षेत्र के सम्राट स्वीकार किये जा सकते हैं। वे ज्ञान के सन्तरूप थे। उन्होने मध्यकालीन भारत के द्वितीय चरण में ज्ञान और भक्ति की एकता-सिद्धि से भागवतधर्म की उपासना की। उनकी ज्ञानेश्वरी भागवतधर्म की अनुपम व्याख्या-निधि है। उनके रूप में भगवान ने महाराष्ट्र की परम-पवित्र भूमि में ज्ञान-अवतार लिया, वे उच्च कोटि के महात्मा, परम ज्ञानयोगी और सिद्ध सन्त थे। यावनीय सत्ता से आक्रान्त भरतखण्ड में सन्त ज्ञानेश्वर ने आत्मज्ञान का अस्त्र सम्हाला। महाराष्ट्र के हृदय-देश देवगिरि में रामदेव का शासन था। दिल्ली की केन्द्रीय शासन सत्ता अराजकता, अशान्ति और अनीति के दृश्य उपस्थित कर रही थी। ऐसे समय में सन्त ज्ञानेश्वर ने विक्रम की चौदहवी शती के दूसरे चरण में जन्म लिया। वे महान ऐतिहासिक विभूति थे। देश और काल को उनकी उपस्थिति की बडी आवश्यकता थी। असार ससार-सिन्धु से असख्य जीवो को तारने के लिये उन्होने श्रीभगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी-व्याख्या प्रदान की, निस्सन्देह उनकी ज्ञानेश्वरी ज्ञान-नौका है, साक्षात् मुक्ति है। वे धर्मसरक्षक थे, ईश्वर के अपूर्व भक्त और दिव्य लेखक थे। उन्होने तत्वज्ञान की खोज से आत्मशान्ति की प्राप्ति की। सन्त ज्ञानेश्वर की जीवन-कथा असाधारण, अद्भुत और अनुपम है। विलक्षण घटना-चक्र में उनका जन्म हुआ, विचित्र परिस्थिति में उनका पालन हुआ और आश्चर्यजनक रूप से उन्होंने आत्मयात्रा का पथ प्रशस्त किया। सन्त

ज्ञानेश्वर के पूर्वज पैठण से चार कोस की दूरी पर भगवती गोदावरी के पवित्र तट पर—आपेगाँव में रहते थे। वे कुलकर्णी अथवा पटवारी का काम करते थे। उनका कुल परम भागवत था, ज्ञानेश्वर के पितामह गोविन्द पन्त अपने समय के एक प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनके पुत्र विट्ठल पन्त बडे शास्त्रज्ञ थे, उन्होने वेदोंका विस्तार से अध्ययन किया था, वे ज्ञानी, विरक्त और ईश्वरभक्त थे। एक बार वे तीर्थयात्रा करते-करते पूना के निकट आलन्दीगाँव में पहुँच गये। उन्होने भगवान के आदेश से, सिद्धेश्वर महादेव की कृपा से आलन्दी निवासी सिंधो पन्त की कन्या रुक्मिणी से विवाह कर लिया, भगवान ने स्वप्न में प्रकट होकर विट्ठल पन्त से कहा -था कि रुक्मिणी के गर्भ से एक महान अवतारी पुरुष प्रकट होंगे। विट्ठल पन्त ने कुछ दिनो तक आलन्दी में निवास किया, उसके बाद वे सासु-ससुर और पत्नी को साथ लेकर पण्ढरपुर होते हुए आपेगाँव आये। इसी बीच में उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। वे पत्नी से अनुमति लेकर काशी चले आये। उन्होने स्वामी रामानन्द से दीक्षा ली, वे चैतन्याश्रम के नाम से विख्यात हुए। इधर सती-साध्वी रुक्मिणी ने पति के सन्यास लेने से अपना जीवन पूर्ण तपोमय और व्रतनिष्ठ वना लिया। बारह साल के वाद स्वामी रामानन्द आलन्दी होते हुए रामेश्वर जा रहे थे। आलन्दी के मारुति-मन्दिर में ठहरे हुए थे। रुक्मिणी हनुमान के दर्शन के लिये आया करती थी। रामानन्द स्वामी ने उन्हे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया, रुक्मिणी को हँसी आ गयी, उन्होने रामानन्द से अपने पति के सन्यास-ग्रहण की वात वतायी, वे साध्वी रुक्मिणी को साथ लेकर काशी लौट आये। उन्होने चैतन्याश्रम को गृहस्थधर्म अपनाने का आदेश दिया। वे पत्नी सहित आलन्दी चले आये। समाज सन्यासी के गृहस्थाश्रम-प्रवेश से तिलमिला उठा। समाज ने उनका वहिष्कार कर दिया। वे वडे शान्त, गम्भीर और सहनशील थे, उन्होंने अनेक कष्ट सहकर जीवन विताना आरम्भ किया। उन्होने तीन पुत्र और एक कन्या को जन्म दिया। उनके पुत्र निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर और सोपानदेव थे, पुत्री मुक्तावाई थी। ज्ञानेश्वर का जन्म स १३३२ वि भाद्र-कृष्णाष्टमी की मध्य रात में हुआ था, वे विट्ठल पन्त के दूसरे पुत्र थे। उन्होने सन्यासी पिता को धन्य किया, कितनी असाधारण वात है। विट्ठल पन्त ने ज्ञानेश्वर तथा अन्य सन्तानों

का पालन भिक्षा माँग कर किया, कभी-कभी तो उन्हे भिक्षा भी नही मिलती थी, उन्होंने पुत्रो को सतोषजनक शिक्षा दिलाने का यत्न किया। समाज का विरोध देख कर वे त्र्यम्बकेश्वर में आकर अनुष्ठान करने लगे। रात में कुशावती में स्नान कर ब्रह्मगिरि की सपरिवार परिक्रमा करते थे। ज्ञानदेव के चरित्र पर पिता और माता तथा भाइयों और बहिन के तपस्यापूर्ण पवित्र आचरण का बडा प्रभाव पडा। निवृत्तिनाथ ने इसी स्थान पर योगी गहिनीनाथ से 'रामकृष्ण' मन्त्र की दीक्षा लेकर कृष्णभक्ति के प्रचार का सकल्प किया। कुछ दिनो के बाद विट्ठल पन्त आपेगाँव चले आये। ब्राह्मणों ने उनके पुत्रो के उपनयन-सस्कार की स्वीकृति न दी। जिस समय ज्ञानेश्वर पाच साल के थे, उनके माता-पिता उन्हे तथा अन्य सन्तानो को छोड कर प्रयाग आ गये और त्रिवेणी सगम पर शरीर छोड कर स्वर्ग चले गये।

ज्ञानेश्वर तथा उनके भाई और बहिन सब-के-सब अनाथ और असहाय हो गये। वे इधर-उधर भटकते हुए भिक्षा माँग कर जीवन बिताने लगे। ज्ञानेश्वर के मन में वैराग्य और ससार के प्रति अनासक्ति के भाव निरन्तर परिपुष्ट होने लगे। गाँव के लोगो ने ज्ञानेश्वर को भाइयो के साथ उपनयन की स्वीकृति के लिये पैठण जाने की सम्मति दी। पैठण के ब्राह्मणों ने उपनयन की स्वीकृति नही दी पर शुद्धि का उपाय बताया कि वे चारो लोकलज्जा का परित्याग कर कुत्ते, चाण्डाल और गौ समेत सबको भूमिपर लेट कर प्रणाम करे तथा ईश्वर की अनन्य भक्ति करे। ज्ञानेश्वर आदि ने इस निर्णय को मान लिया। जिस समय पैठण की ब्राह्मण-मण्डली प्रायश्चित और शुद्धि के उपाय पर विचार कर रही थी, ज्ञानेश्वर के बडे भाई निवृत्तिनाथ ने कहा कि मैं तो निवृत्त हूँ, प्रवृत्ति में मेरी तनिक भी आसक्ति नही है। छोटे भाई सोपानदेव ने कहा कि लोगों को भजन के मार्ग मे लगाना तो मेरा कर्तव्य है, मुक्ताबाई ने कहा कि मैं तो सर्वथा मुक्त ही हूँ और सबके लिये मुक्ति का द्वार खोलती हूँ। ज्ञानेश्वर ने कहा कि मैं तो समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हूँ। लोग उन चारो की बात सुन कर हँस पडे। शुद्धि-निर्णय की समाप्ति पर कुछ दुष्टो ने सन्त ज्ञानदेव-ज्ञानेश्वर को छेडा, एक भैंस को निकट देख कर उन्होंने कहा कि इस

भैंसे का नाम भी ज्ञानदेव है, दिन-रात ज्ञान का बोझा ढोता रहता है। ज्ञानदेव ने कहा कि निस्सन्देह यह तो मेरा ही आत्मा है। इसमें और मुझमें तनिक भी भेद नही है। ज्ञानेश्वर का इतना कहना था कि किसी ने भैंसे की पीठ पर दो-तीन साटे मारे, लोगो ने व्यङ्ग किया कि ज्ञानेश्वर को अवश्य चोट आयी होगी। ज्ञानदेव ने अपनी पीठ खोल कर दिखा दी। लोग पीठ पर साटो के चिह्न देख कर आश्चर्य-चकित हो गये। उनमें से एक ने व्यङ्ग कसा कि यदि भैंसे और तुममें कुछ भेद नही है तो अपनी ही तरह इससे भी ज्ञान कहला सकते हो। ज्ञानेश्वर ने भैंसे की पीठ पर हाथ रखा, उसने ॐ का उच्चारण किया और उसके मुख से वेदमन्त्रों का पाठ सुन कर पैठण की विद्वन्मण्डली आश्चर्यचकित हो गयी। ज्ञानदेव के महात्मापन में लोगो का विश्वास बढ़ गया, वे उनके चरणो पर नत होकर आत्मज्ञान और भगवद्भक्ति का उपदेश लेने लगे। ज्ञानेश्वर अपने भाइयों और बहिन के साथ अपने पिता के मामा कृष्णपन्त देवकुले के घर पर ठहरे हुए थे। उन्होंने पैठणनिवास-काल में शास्त्रो और आर्षग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन किया। एक दिन पैठण निवास-काल में ही लोग उनके चमत्कार से स्तम्भित हो गये। एक ब्राह्मण ने पितरो के श्राद्ध में ज्ञानेश्वर को निमन्त्रित किया। उन्होने उसके पितरो का आह्वाहन किया, वे सशरीर आसन पर आकर श्राद्ध का अन्न ग्रहण करने लगे। लोग उनकी ज्ञान-निष्ठा और सिद्धि से मुग्ध हो गये और उनके मुख से भगवान के नाम का कीर्तन सुनकर तथा भागवत कथामृत का रसास्वादन कर अपने आपको धन्य करने लगे। पैठण-निवासियो का जीवन उनके पुनीत सत्सग से सफल हो गया। पैठण से ज्ञानेश्वर ने आले नामक स्थान पर होते हुए नेवासे की यात्रा की। आले में ही उन्होने वेदपाठी भैंसे को समाधि दी। नेवासे प्रवरा नदी के तट पर एक परम पुनीत स्थान है। नेवासे में पहुँचते ही उन्होने एक स्त्री को अपने पति का मृत शरीर गोद में लेकर विलाप करते देखा। उन्होने पति का नाम पूछा, लोगों ने मृत का नाम सच्चिदानन्द वताया, ज्ञानेश्वर ने कहा कि सत्-चित्-आनन्द तो मृत्यु से परे है, उन्होंने सच्चिदानन्द के शरीर पर हाथ फेरा, प्राण लौट आया, लोगों ने सन्त ज्ञानेश्वर का जयनाद किया, सच्चिदानन्द ने ही ज्ञानेश्वरी लिपिवद्ध की थी। कुछ दिनों के वाद

ज्ञानेश्वर आलन्दी चले आये, लोगो ने उनका अच्छी तरह स्वागत किया। आलन्दी से नेवासे वापस आने पर ज्ञानेश्वर ने पन्द्रह वर्ष की आयु में स ' १३४७ वि में 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ पूरा किया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने तीर्थ-यात्रा आरम्भ की। उनके साथ निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्तावाई, नरहरिसोनार, चोखामेला आदि तत्कालीन प्रसिद्ध सन्त थे। वे पण्ढरपुर गये। उन्होने विट्ठल के आदेश से सन्त नामदेव को अपने साथ लिया। विट्ठल ने स्वय नामदेव का हाथ उन्हें पकडा कर कहा था कि ये हमारे परम प्रिय हैं, इनको सम्हाल कर अपने पास रखियेगा। उन्होंने सन्त मण्डली के साथ उज्जैन, प्रयाग, काशी, अयोध्या, गया, गोकुल, वृन्दावन, गिरनार आदि तीर्थक्षेत्रो की यात्रा की। लोगो को अपने सत्सग से सचेत कर जागरण-सन्देश दिया, भवसागर से पार उतरने का सुगम और सुलभ मार्ग वताया, स्थान-स्थान पर हरिभक्ति सुधा का वितरण किया। सन्त ज्ञानेश्वर के जीवन में इस ऐतिहासिक यात्रा का वडा महत्त्व था। समस्त भारत देश में सन्त ज्ञानेश्वर और उनके साथियों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। वे मारवाड और पजाव की ओर भी गये थे। तीर्थयात्रा से लौटने पर पण्ढरपुर में सन्त नामदेव ने इस यज्ञ की पूर्ति के रूप में एक विशाल उत्सव का आयोजन किया था। पण्ढरपुर के उत्सव में सम्मिलित होकर सन्त ज्ञानेश्वर आलन्दी चले आये। विदा होते समय नामदेव उनके चरण पर गिर पडे, सन्त ज्ञानदेव ने उनको अक में भर कर कहा कि तुम भक्तकुलशिरोमणि हो, तुमने समस्त भरत-खण्ड को अपनी उपस्थिति से धन्य कर दिया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने वडे भाई निवृत्तिनाथ को अपना पथ-प्रदर्शक वनाया, वे उनके सद्गुरु थे। ज्ञानेश्वर की गुरुभक्ति उच्च कोटि की थी। उन्होंने एक स्थल पर कहा है कि इस शरीर की मिट्टी मैं उस भूमि में मिला दूँगा जिस पर मेरे गुरुदेव के श्रीचरण अकित होंगे। मेरे स्वामी जिस जल का आनन्दपूर्वक स्पर्श करेगे उसमें मै अपने शरीर का रस मिला दूँगा। निवृत्तिनाथ गोरखनाथ की योगपरम्परा में दीक्षित थे इसलिये ज्ञानेश्वर की साधना योगपद्धति और विशेपता से नाथसम्प्रदाय के सिद्धान्तो द्वारा प्रभावित थी, उन्होने अपनी तीर्थयात्रा

के समय अनेक यौगिक चमत्कार भी दिखलाये थे, वे जन्मजात योगी थे। सन्त ज्ञानेश्वर ने एक बार विचित्र यौगिक चमत्कार दिखाया। खानदेश में तापी नदी के तट पर चागदेव नाम के एक प्रसिद्ध योगी थे। वे चर्मचक्षुओं को वन्द कर शकर की उपासना कर रहे थे। उन्होंने किसी से भैंसे द्वारा वेदमन्त्र पढने की बात सुनकर ज्ञानेश्वर से मिलने की उत्सुकता प्रकट की। पत्र भेजा, ज्ञानेश्वर ने प्रेमपूर्ण उत्तर दिया। वे सायकाल योगबल से सिंह पर सवार होकर और हाथ में साँप का चाबुक लेकर ज्ञानेश्वर से मिलने आये। सन्त ज्ञानदेव अपने घर की दीवार पर बैठ कर निवृत्तिनाथ से बाते कर रहे थे। चागदेव का आगमन सुनकर वे भीत पर बैठे-बैठे ही मिलने चल पडे, दीवार उनकी आज्ञा से चलने लगी। चार सौ साल के तपस्वी योगी बालयोगी ज्ञानेश्वर के यौगिक चमत्कार से चकित हो गये, उनका मद-ज्वर उतर गया। ज्ञानेश्वर ने उनसे प्रेमपूर्वक बात की।

नारायणी भक्ति—विष्णु-उपासना का निर्गुण ज्ञानधारा के माध्यम से प्रचार करना ही सन्त ज्ञानेश्वर के जीवन का सबसे उत्तम कार्य था। उन्होने कहा है कि शास्त्र का प्रमाण है, श्रुति का वचन है कि नारायण ही जपो के सार है, वस्तुतत्व है। ज्ञानेश्वर ने नारायण के नामस्मरण का राजमार्ग दिखाया। भागवत धर्म के प्रचार के साथ-ही-साथ योग मार्ग की परम्परा का भी उन्होंने सरक्षण किया। वे समस्त भूतसृष्टि को एक स्वरूप मानते थे। उन्होने प्राणीमात्र को समान रूप से विना किसी भेदभाव के मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी घोषित किया। उन्होने भूत मात्र में पारस्परिक मैत्रीभाव उत्पन्न करने के लिये लोगो को अनुप्रेरणा दी। उन्होने पापरूपी अन्धकार का नाश कर निर्मल ज्ञान-प्रकाश में प्राणियो को आत्मदर्शन कराया।

ज्ञानेश्वर ने इकीस साल, तीन मास, पाँच दिन तक पृथ्वी पर रह कर मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी को सम्वत् १३५३ वि में जीवित समाधि ली। समाधि का दृश्य विलक्षण था। उनकी समाधि लेने के वाद एक साल के भीतर ही सोपानदेव, मुक्तावाई और निवृत्तिनाथ ने भी महाप्रयाण किया। सन्त ज्ञानेश्वर ने दोपहर को उक्ततिथि पर आलन्दी में समाधि ली। नामदेव उनकी समाधि के अवसर पर उपस्थित थे। उन्होने समाधि

का आँखो देखा वर्णन ढाई सौ अभगों में किया है, उन अभगो पर किसी भी स्थिति में अविश्वास नही किया जा सकता है, सन्त की वाणी है, सन्त की वाणी में तनिक भी सन्देह करना महापाप है। समाधि लेने के पहले एकादशी को सन्त ज्ञानेश्वर पण्ढरपुर गये। निवृत्तिनाथ, मुक्तावाई, सोपानदेव आदि साथ थे। नामदेव का कथन है कि सन्त ज्ञानेश्वर ने चन्द्रभागा में स्नान किया, भक्त पुण्डलीक का दर्शन कर वे विट्ठल मन्दिर में आये, उन्होंने सन्त-मण्डली के समक्ष समाधि की वात कही। नामदेव समाधि की वात सुन कर सिहर उठे, सन्तो का मन उदास हो गया। विट्ठल ने प्रकट होकर ज्ञानेश्वर को दर्शन दिया, भगवान ने कहा कि तुम ज्ञान की मूर्ति हो। विट्ठल ने उनको गले लगाया। सन्तमण्डली ज्ञानेश्वर के साथ आलन्दी आ गयी, पण्ढरीनाथ उनके साथ आये, समाधि का शुभकार्य विट्ठल ने अपने हाथ से सम्पन्न किया। सन्तों और भक्तों ने इन्द्रायणी में स्नान कर विट्ठल का पूजन किया। कीर्तन होने लगा। चारो ओर भगवान् के नाम की रसमयी ध्वनि छा गयी। भगवान प्रत्यक्ष रूप से भक्तों और सन्तों को साथ लेकर सिद्धेश्वर शकर के मन्दिर में आये। सोपान-देव पाण्डुरग के चरणों से लिपट गये। निवृत्तिनाथ उन्मनी अवस्था में थे, ज्ञानेश्वर गुरु निवृत्तिनाथ के चरण पकड़ कर आत्मचितन में निमग्न थे। नामदेव और सन्त जन ज्ञानदेव के वियोग की आशका से सन्तप्त थे। नामदेव का शरीर विलाप करते-करते सुन्न हो गया था। निवृत्ति-नाथ की थोडी देर के लिये समाधि भग हुई। उन्होने सन्त ज्ञानेश्वर के मुख पर हाथ फेरा, मगलमय प्रयाण का आशीर्वाद दिया। उनका वडे स्नेह और अपूर्व आत्मीयता से आलिगन किया। विट्ठलभगवान ने ज्ञानेश्वर के ललाट पर केशरयुक्त चन्दन लगाया, गले में माला पहनायी, सिद्धेश्वर मन्दिर की वायी ओर अजान वृक्ष की छाया में गुफा में ले गये। ज्ञानेश्वर का एक हाथ निवृत्तिनाथ ने पकडा था और दूसरा साक्षात् पण्ढरी-नाथ पकड कर चल रहे थे। करुण और परम दिव्य दृश्य था। गुफा से पाण्डुरग और निवृत्तिनाथ वाहर आ गये, द्वार शिलाखण्ड से वन्द कर दिया गया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने ज्ञान, भक्ति और तप-कर्म का पवित्र समन्वय किया, वे आत्मज्ञानी, दिव्य योगी और सन्त भक्त थे।

रचना

सन्त ज्ञानेश्वर की प्रसिद्ध रचनायें भावार्थदीपिका—ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठ के अभग, चागदेव पासठी प्रसिद्ध है। उन्होंने योगवासिष्ठ पर अभगात्मक टीका लिखी थी।

वाणी

जिस प्रकार एक ही पहाड के भीतर देवता, देवालय और भक्त-परिवार का निर्माण खोद कर किया जा सकता है उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार एकत्र रहते हुए सर्वथा सम्भव है।

चारों वेद, छ शास्त्र और अठारह पुराण हरि के ही गीत गाते है।

निस्सन्देह गीता वाग्विलास-शास्त्र नही है, ससार-विजय का शस्त्र है। इसके अक्षर वे मन्त्र है जिनसे आत्मा का अवतार होता है।

हरि के नाम का उच्चारण करने से अनन्त पापसमूह पलभर में भस्म हो जाते है।

भक्ति के बिना तीर्थ, व्रत, नियम, और अनेक सिद्धि लोगों के लिये व्यर्थ की उपाधि है।

राम-कृष्ण का नाम अनन्त राशितप है, पाप उसके सामने भाग जाते है।

हरि के बिना यह ससार व्यर्थ है। झूठा व्यवहार है। आना-जाना व्यर्थ है।

निरन्तर हरि का ध्यान करने से सब कर्मों के बन्धन कट जाते है। राम-कृष्ण के नाम के उच्चारण से समस्त दोष दिगन्त में भाग जाते है।

सोने का सारा पृथ्वीतल ढाला जा सकता है, चिन्तामणियों का मेरु के समान पहाड बनाया जा सकता है। सातों समुद्र अमृतरस से लबालब भरे जा सकते है, छोटे-छोटे नक्षत्र चन्द्रमा बन सकते है, कल्पवृक्ष लगाये जा सकते है पर गीता का रहस्य सहज में स्पष्ट नही किया जा सकता है।

परमेश्वर मेरे ज्ञानेश्वरी यज्ञ से सतुष्ठ होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद दें कि दुष्टो की कुदृष्टि सीधी हो जाय, उनके हृदय में सत्कर्मों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो। भूतमात्र में मैत्री हो। पाप का अन्धकार नष्ट हो, आत्मज्ञान के प्रकाश से विश्व उज्ज्वल हो, प्रत्येक प्राणी इच्छित वस्तु पाये।

योगिनी लल्लेश्वरी

'जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

—भगवद्गीता

काश्मीरी शैव-साहित्य में योगिनी लल्लेश्वरी का नाम अमर है, उन्होने शिव की प्रियतम-भाव से उपासना की और आत्मा को शिव के सौन्दर्य से समलकृत किया। वे अवधूत थी, परमहस थी। नृत्य-गान और भ्रमण उनके उपासना-मार्ग के साधन थे, वे नाच-नाच और गा-गा कर अपने प्रियतम शिव की महिमा का प्रचार करती थी। काश्मीर के प्रत्येक व्यक्ति के अधरो पर उनके सरस गीतों और रचनाओ का रमण अनवरत होता रहता है। उन्होने काश्मीरी भक्ति-साधना में एकता को जन्म दिया, शिव-भक्ति का प्रेमद्वार ऊँच-नीच, पुण्यात्मा और पापी, ब्राह्मण और चाण्डाल सबके लिये समान रूप से खोल दिया। लल्लेश्वरी प्रसिद्ध सूफी सन्त सैय्यदअली हमदानी की समकालीन थी, वे काश्मीर में इस्लामी प्रेमधारा का प्रचार करने के लिये सम्वत् १४३७ वि में आये थे, वे छ साल तक अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे, इसी अवधि में उनकी योगिनी लल्लेश्वरी से भेंट हुई थी, दोनों एक-दूसरे की साधना और शिक्षा से अमित प्रभावित और आकृष्ट थे। जिस समय मध्यभारत में नामदेव पण्ढरीनाथ के सामीप्य-सुख का रसास्वादन कर रहे थे और कबीर उत्तर भारत में निर्गुण ज्ञान-धारा के अतल सिन्धु में गोते लगा रहे थे, लल्लेश्वरी ने काश्मीर में कैलासपति महादेव की आत्मा के रगमच पर प्राणप्रतिष्ठा की।

लल्लेश्वरी सत्य के शिव की माधुर्य-गायिका थी। उन्होने आत्मगत शिव की मधुर उपासना से केवल उत्तरी भारत को ही नही—अरब, फारस आदि देशों को भी प्रभावित किया, उनकी वाणी में दिव्य ओज और स्निग्ध माधुर्य का समन्वय था। उन्होने दिव्य प्रेमतत्व का विवेचन करते रहने में ही अपने समस्त जीवन का सदुपयोग किया। उन्होंने सच्चिदानन्द का शिव-दर्शन किया।

ल्लेश्वरी का जन्म एक परम पवित्र ब्राह्मण कुल में काश्मीर के पामपुर ग्राम में सम्वत् १४०० वि के लगभग हुआ था। इस समय काश्मीर और उत्तर भारत में राजनैतिक षडयन्त्रों और अराजकता तथा अशान्ति का बोलवाला था। ल्लेश्वरी के बचपन का जीवन चमत्कारपूर्ण था, उन्हें प्रेम का आवेश हो आया करता था, वे रह-रह कर किसी दिव्यतम चिन्मय पदार्थ के वियोग में तडप उठती थी, उन्होंने अपने जीवन में किसी प्रकार का आडम्बर नही आने दिया। उनका जीवन सरल और सात्विक था। बारह साल की अवस्था में उनका विवाह कर दिया गया। ससुराल का जीवन उनके लिये अमित कष्टप्रद था, सासु ने उनके गृह-प्रवेश के बाद ही अनेक यातनाये देना आरम्भ कर दिया पर ल्लेश्वरी ने उनका तनिक भी विरोध नही किया, उन्होंने सहनशीलता की वृत्ति अपनायी, कण्टक उनके लिये फूल हो गये, दुख ने सुख का रूप ग्रहण कर लिया। उन्होंने घर में किसी भी प्रकार की अपवित्र स्थिति नही पैदा होने दी। सासु उन्हे कम भोजन देती थी, एक बडे कटोरे में गोल पत्थर रख कर भात (चावल) परोसती थी, ल्लेश्वरी ने कभी आपत्ति नही की, जो कुछ भी उन्हे खाने के लिये मिल जाता था उसी में सन्तोष करती थी। उनका मन धीरे-धीरे घर के प्रति अनासक्त होने लगा। कभी-कभी घर त्याग की बात सोचने पर उनके रोम-रोम सिहर उठते थे। एक बार ल्लेश्वरी नदी के तट पर बर्तन साफ कर रही थी, एक पडोसिन-सहेली ने कहा कि आज तो पाँचों अगुली घी में है। घर में किसी विशेष उत्सव के उपलक्ष्य में बढिया भोजन बन रहा था। उन्होंने कहा कि 'बकरा मरे या भेड, मुझे तो गोल पत्थर पर रखे चावल से ही सतोष करना है।' ल्लेश्वरी ने पडोसिन से सारी बाते बता दी। उनका ससुर पास में ही खडा था, उसने सारी बाते सुनी, अपनी पत्नी को कुल-वधू के साथ बुरा बर्ताव कभी न करने के लिये सावधान किया। इस फटकार का परिणाम यह हुआ कि ल्लेश्वरी का घर में रहना कठिन हो गया, सासु ने अपने बेटे को भी उभाडा, ल्लेश्वरी का पति भी विरोधी हो गया। घरवालों ने मिथ्या प्रचार किया कि ल्लेश्वरी जादूगरनी और डाकिनी है, वे आधी रात को सिंह की पीठ पर सवार होकर नरमास खाने जाती है। ल्लेश्वरी के कोमल हृदय पर इन

प्रचारो से विषम आघात हुआ, उन्होंने शिव की शरणागति को ही जीवन का सम्बल समझकर घर-त्याग का निश्चय कर लिया।

उन्होंने घर त्याग दिया। वे वनो में, नगरो के राजपथों पर और उपनगरो की गलियो में तथा गाँवो में शिवभक्ति से मदोन्मत्त होकर आत्मसगीत छेड़ने लगी, हजारो की भीड़ उनकी मधुर पदावली में शिवतत्व का विवेचन सुनने के लिये पीछे-पीछे दौड़ने लगी, उनके दिव्य सम्पर्क और आत्मा की प्रेममयी शिव-ज्योति से विमुग्ध होकर लोग उनके अनुयायी बनने लगे, वे परमहस-वृत्ति से अवधूत की तरह रहने लगी। वे आधे शरीर से नगी होकर शिव के गीत नाच-नाच कर गाने लगी, कोई पत्थर मारता, कोई पगली कह कर पुकारता, कोई गाली देता, कोई यातना देता, पर उनके लिये तो सबके भीतर—निन्दको और प्रशसकों में शिव ही विद्यमान थे, उन्होंने सबको अपने आराध्य रूप मे शिव-रूप में देखा, दिव्य दृष्टि और लोककल्याणमयी चेतना की मल भूमि पर उन्होने शिव की साधना की। उनका द्वैत भाव मिट गया, उन्होंने शिव की अद्वैत-अनुभूति की, लल्लेश्वरी ने समस्त सृष्टि मे शिव को अभिव्यक्त देखा। उन्होने एक प्रसिद्ध शैवसन्त से दीक्षा ली। एक पद में उन्होने अपनी गुरुनिष्ठा का परिचय देते हुए कहा है कि मेरे गुरु ने मुझे केवल एक ही उपदेश दिया है कि बाहर की अपेक्षा अन्तर्मुखी होने में ही श्रेय की सहज प्राप्ति होती है। यह उपदेश मेरे साधना-जीवन का मूलाधार हो गया, अब मै नगी होकर नाचती-गाती हूँ, अपने अन्तरस्थ शिव प्रियतम को रिझाती रहती हूँ।

लल्लेश्वरी का प्रसिद्ध, सूफीसन्त शाह हमदानी से भी कुछ दिनो तक सम्पर्क रहा, वे काश्मीर में इस्लामी प्रेम-साधना का प्रचार करने आये थे। योगिनी लल्लेश्वरी की दृष्टि में कोई पुरुष नही था, वे सबको शिव की उपासिका के रूप में देखती थी। एक दिन उन्होने प्रसिद्ध सत शाह हमदानी को देखा, वे 'पुरुष' कह कर चौंक उठी। वे दौड़ कर एक धधकते तदूर में कूद पडी। सन्त हमदानी ने उनका पीछा किया। उन्होने तदूर वाले से पूछा पर कुछ पता न चल सका। तन्दूर वाले की दृष्टि में तो वे जलकर राख हो गयी थी। सन्त हमदानी ने खोज बन्द नही की। थोडी देर मे वे दिव्य स्वर्गीय हरे रग के

परिधान पहन कर सन्त हमदानी के आवाहन पर बाहर आ गयीं। दोनों ने एक दूसरे को देखा। सन्त हमदानी और योगिनी लल्लेश्वरी —दोनों की साधना-पद्धति पर एक-दूसरे का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है, दोनों ने उच्च कोटि की दिव्य प्रेम-साधना की अनुभूति में आत्मा का दर्शन किया।

लल्लेश्वरी ने शिव की प्रसन्नता के लिये निष्काम भाव से अगणित गीत गाये। उन्होंने काश्मीरी शैवयोग का अपने गीतों में अच्छा दिग्दर्शन कराया है। एक गीत में उनकी उक्ति है कि यह ठीक है कि मैंने अनेक बार सिन्ध नदी का जल पीया है, मैंने रम्य काश्मीर में अनेक जन्म बिताये हैं, अनेक मानवीय शरीर पाये हैं पर मैं लल्लेश्वरी की लल्लेश्वरी ही रह गयी। मेरे लिये तो अनेक जन्म पाने का परिणाम कुछ भी न हुआ। लल्लेश्वरी ने शिव की निष्काम भक्ति का प्रचार किया, शिव के प्रति आत्मसमर्पण को ही उन्होंने उपासना के क्षेत्र में महत्व दिया। शिव के नामस्मरण से ही उनकी कृपा सहज-सुलभ होती है— ऐसा उनका दृढ मत था। अपने एक गीत में उनकी स्वीकृति है कि सदा शिव का नाम-उच्चारण करते रहने से, मन में क्षीर-नीर-विवेकवाली हंसवृत्ति रखने से, चाहे दिन भर कार्य में भले ही व्यस्त रहना पड़े— निष्काम भाव से अद्वैत-अनुभूति प्राप्त करने पर शिव कृपा करते हैं। योगिनी लल्लेश्वरी निर्गुण शिवतत्व में पूर्ण अनुरक्त थी। वे मधुररस की उपासिका थीं। वे सदाशिव से यही कहा करती थी कि आप शिव, केशव, ब्रह्म—जो कुछ भी हो—मेरे जन्म-मरण का अन्त कर दीजिये। मैं आपको अपने भीतर पाकर आनन्दमग्न हो गयी। शिव-ज्ञान की प्राप्ति गुरु-कृपा पर ही उन्होंने निर्भर की। उन्होंने सीख दी है कि शिव तो सर्वत्र हैं, उनकी—किसी स्थल विशेष में—खोज असम्भव है। उन्होंने कुञ्ज-कुञ्ज में जाल बिछा कर आत्मा को उलझा रखा है, वे तो अपने भीतर ही विद्यमान हैं। वे माता के रूप में दूध पिलाते हैं, भार्या के रूप में विलास की अनुभूति कराते हैं, माया-रूप में जीव को मुग्ध करते हैं, मायावी शिव का ज्ञान गुरु ही करा सकते हैं। उनकी दृढ मान्यता थी, अटल विश्वास था कि शिव की भक्ति ही शाश्वत शान्ति की निधि है, पवित्रतम श्रद्धा है। योगिनी लल्लेश्वरी ने

काश्मीरी शैवसाधना को शिवतत्व की मौलिक व्याख्या प्रदान की। वे केवल आत्मज्ञानी ही नहीं, भक्त भी थी। काश्मीरी भक्ति-इतिहास में उनका नाम अमर है। वे शिव की उपासना करते-करते शिवमयी हो गयी। उन्होने आत्मनिवेदन की भाषा में एक गीत में कहा है कि मैंने अपने भीतर शिव की प्राप्ति की, शिवभक्ति के अमृतसरोवर में मैंने अपने को सरावोर कर दिया। मैं प्रेमाग्नि में उसी तरह पिघल गयी जिस तरह सूर्य में पाला समा जाता है। प्राणो की धौंकनी से मेरे अन्तरदेश का दीपक प्रज्वलित हो उठा। अन्धकार का नाश हो गया, मैंने आत्मप्रकाश में शिव का दर्शन किया। उन्होने मन को गदहा कहा है, गदहा जिस तरह केशर की क्यारी नष्ट कर देता है उसी तरह मन आत्मज्ञान की प्राप्ति में वाधा डालता है। उन्होंने शिव के विश्वरूप की झाँकी की। उनकी विज्ञप्ति है कि शीत से जल जमकर वर्फ हो जाता है और वही फिर हिम के रूप में दीख पडता है, एक ही वस्तु का दर्शन तीन रूपो में होता है, उनमें तनिक भी भेद नही है, परम चेतना के सूर्य-प्रकाश में तीनों एक रूप हो जाते है। इसी प्रकार जीव और जड–समस्त चराचर में एक शिवतत्व की ही परिव्याप्ति है।

ऐसा कहा जाता है कि उनकी निष्पक्ष निर्गुण शैव साधना से कवीर भी प्रभावित थे। विक्रम की चौदहवी और पन्द्रहवी शती में निर्गुण सन्तो और ज्ञानी भक्तो का समाज, धर्म और सस्कृति के क्षेत्र में वडा प्रभाव था। लल्लेश्वरी के आराध्य देव निर्गुण शिव थे, घट-घट में व्याप्त रहने वाले आत्मदेव परमात्मा थे। लल्लेश्वरी ने पूर्ण वृद्धावस्था में शरीर छोडा था। वे आजीवन शिव की होकर रही। काश्मीर के प्रकृति प्रदत्त रमणीय सौन्दर्य-क्षेत्र में उनके प्रेम-सगीत काश्मीरियो के अधरो पर वडी सरसता से छ सौ सालो से आलोडित होते आ रहे है। लल्लेश्वरी शिवयोगिनी, निष्काम उपासिका और प्रेमसाधिका थी। उनके गीतो में—वाक्यो में जो कोमल माधुर्य है, दिव्य भावराज्य है, पवित्र आत्मसौन्दर्य है उनसे उनकी उपासना-पद्धति की मौलिकता पर प्रकाश पडता है।

रचना

उनके वाक्यों और सरस गीतों का सग्रह काश्मीरी भाषा में 'लल्ल वाक्यानि

आपके हित की बात है। विल्वमगल की आँखें खुल गयी, कृष्ण प्रेम का महासागर उनके हृदय में उमड उठा। उन्होंने चिन्तामणि के चरण की धूलि सिर पर चढा ली, कहा कि आज मैंने तुम्हारे रूप में अपने गुरु का दर्शन किया है, तुम मेरी वैराग्य-गुरु हो, तुमने मेरे जीवन-पट के दृश्य बदल दिये। तुम धन्य हो, तुम्हारे सम्पर्क से मै पवित्र हो गया, मेरा भगवद्भक्त कुल धन्य हो गया। उन्होने चिन्तामणि को प्रणाम किया। चिन्तामणि ने वीणा बजा कर वृन्दावन के रासेश्वर की लीला का गान आरम्भ किया, कालिन्दी, वशीवट, राधा और कृष्ण के विहार आदि विल्वमगल के नयनो में सजीव हो उठे। वे अपने जीवन-नाटक की पहली यवनिका गिराकर कृष्ण के अलौकिक रसराज्य में प्रवेश करने के लिये चल पडे, चिन्तामणि ने कृष्णभक्ति दी। वे चिन्ता-मणि की जय बोलते-बोलते उसके घर से निकल पडे। चिन्तामणि उनके लिये मन्त्रराज हो गयी। वे वैराग्य-अनासक्ति में सराबोर हो उठे।

उनके गाव के समीप ही सोमगिरि नाम के एक महात्मा रहते थे, वे भगवान के परम भक्त थे। विल्वमगल प्रभु के प्रेम में इधर-उधर घूमने लगे, श्रीकृष्ण के सरस रूप की प्यास उनके नयनों में झूल रही थी। उन्होने सोमगिरि से दीक्षा ली, अपने वैराग्य-जीवन का गुरु स्वीकार किया। सोमगिरि ने विल्वमगल का नाम लीलाशुक रखा, उन्हे भगवान के लीलास्तवन का आदेश दिया। सन्त विल्वमगल के दार्शनिक और काव्यपूर्ण हृदय में नन्दनन्दन की लीला का स्फुरण होने लगा, वे रसिक भक्त हो उठे। वे भगवान कृष्ण के दिव्य और सरस प्रेमराज्य के नागरिक हो गये। सोमगिरि के समीप रहते हुए उन्हें लगभग एक साल हो गया पर उनकी लौकिक मोहमाया न गयी, वे ससार के विषय-भोगो और नश्वर हाड-मास के रूप के बन्धन से मुक्त न हो सके। उनके मन और हृदय—दोनो आपस में लड रहे थे, चचल मन विषयासक्ति की ओर ले जाता था, भावुक हृदय कृष्ण के रसराज्य की ओर खीचता था, इतना होने पर भी उनका प्रेम कृष्ण के प्रति अधिकाधिक बढता गया। वे पागल की तरह वनप्रान्त में, सरिता के तट पर, रमणीय प्राकृतिक दृश्यो में, जीवमात्र के रूप-सौन्दर्य मे अपने शोभाधाम कृष्ण की झाकी खोजने लगे।

एक दिन वे श्रीकृष्ण का नाम-उच्चारण करते हुए चले जा रहे थे। वे परम उन्मत्त हो रहे थे, उनका मन परम सुन्दर नन्दकुमार को देखने के लिये समुत्सुक था। रास्ते में उन्होने एक सुन्दरी रमणी देखी, वह युवती थी, उसके काले-काले केश कटिदेश में लहरा रहे थे, अग-अग में दिव्य कान्ति थी, उसने अभी-अभी स्नान किया था, विल्वमगल उसके रूप पर मुग्ध हो गये, उनके नयन उसकी रूपमाधुरी का पान करने के लिये चचल हो उठे, रमणी सन्तवेषधारी की दशा देखकर लज्जित हो उठी, उसने शील-सयम से काम लिया, शीघ्रता से घर में चली गयी। विल्वमगल उसके फिर वाहर निकलने की आशा में दरवाजे पर वैठ गये। रमणी का पति परम भागवत था, उसने विल्वमगल से सारी परिस्थिति समझ ली, विल्वमगल ने असत्य नही कहा था—यह सोच कर वह मुग्ध हो गया। उसने सोचा कि ये केवल मेरी पत्नी को देखना ही तो चाहते है, यदि उसे देखने मात्र से उनकी प्यास बुझती है तो उसके वाहर आने में तनिक भी आपत्ति नही है। उसने पत्नी को सज कर वाहर आने का आदेश दिया। इधर विल्वमगल के मन की दशा कुछ और थी। उन्होने निकट ही वेल का पेड देखा, दो काटे तोड लिये। गृहस्थ की पत्नी वाहर आयी, विल्वमगल ने उसके मादक रूप को अच्छी तरह देखा, अपने आपको मन की चचलता पर धिक्कार नेत्रो को दण्ड देना चाहा, उनकी दृष्टि में उनके नेत्र पापी थे, उन्होने नेत्रो में काटे चुभा लिये, खून की धारा वहने लगी, वे वहुत प्रसन्न थे, भगवान की भक्ति के मार्ग में वाधा उपस्थित करने वाले नेत्रो के लिये यही दण्ड उचित था। वे 'श्रीकृष्ण', 'श्रीकृष्ण' कह कर अपने आप को धन्य मानने लगे। उन्होने गृहस्थ दम्पति का समाधान किया। वे भगवान की खोज में निकल पडे। दृष्टि वदल गयी, जीवन में दिव्यता उतर आयी। ससार अन्धकारमय हो चला। उन्हे वृन्दावन की याद आयी और अन्धे-सूर विल्वमगल आनन्दविभोर होकर वृन्दावन की ओर चलने लगे।

विल्वमगल विना भूख-प्यास की चिन्ता किये श्रीकृष्ण के लीलाधाम की ओर चले जा रहे थे। वे श्रीकृष्ण के चरणारविंद से नाता जोडने के लिये विकल थे। उनके मन की सवसे वडी चाह यह थी कि प्राणा-

धार, किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण अपने प्रेममूर्ण, नित्यसुन्दर, प्रतिक्षण उत्फुल्ल नेत्र कमलो से मेरे हृदय को वश में कर ले। वे यही सोचते वृन्दावन की ओर बढ रहे थे कि परम कारुणिक नन्दनन्दन अपने लीलायुक्त विशाल, प्रेमरस से शीतल, कुछ-कुछ लाल, अद्भुत विलासमय कमल-नेत्रों से मुझे कब देखेंगे? एक दिन चलते-चलते शाम हो गयी, सन्त विल्वमगल एक जगल में थे, चारों ओर भयानक नीरवता थी, भख और प्यास से शरीर क्षीण हो रहा था पर उनका कृष्णप्रेम बढता जा रहा था। उन्होंने एक गोपबालक की आवाज सुनी, वह निकट आ गया, उसने विल्वमगल को वृक्ष के नीचे बैठा दिया। भोजन कराया, कहा कि मैं इसी प्रकार नित्य भोजन खिलाता रहूँगा।

बालक उन्हे नित्य प्रति भोजन कराता रहा। एक दिन सन्त विल्वमगल ने सोचा कि, जिनके लिये मैंने नेत्र फोडकर ससार से वैराग्य लिया वे मुझे मिल न सके और आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरा मन गोपवालक में आसक्त होता जा रहा है, मै कितना अधम, पतित और नीच हूँ कि वृन्दावन न पहुँच सका और न मुझे अव तक उज्ज्वल नीलमणि श्यामसुन्दर का दर्शन ही हुआ। वे इस प्रकार चिंतित हो रहे थे कि गोपबालक आ पहुँचा। उसने कहा कि सूरदास क्या वृन्दावन चलने की इच्छा है? विल्वमगल को चिरवाछित वस्तु मिल गयी। गोपबालक ने लाठी पकडा दी। विल्वमगल के मन में दृढ विश्वास था कि त्रिभुवन के पति सदा सरस, दिव्य आभूपणधारी, चिन्मय लीलाओ से पूर्ण भगवान कृष्ण वशी बजाते हुए मुझे अवश्य दर्शन देने आ रहे है। थोडी देर में गोपवालक ने कहा कि वावा, वृन्दावन आ गया। कालिन्दी धीरे-धीरे वह रही थी, शीतल समीर का सचरण हो रहा था। गोपवालक ने कहा कि मै जा रहा हूँ, सन्त विल्वमगल ने गोपवालक का हाथ कस कर पकड लिया, स्पर्श होते ही उन्हे दिव्य दृष्टि मिल गयी, उन्होने गोपवालक के रूप में अपने उपास्य श्रीकृष्ण को देखा। विल्वमगल ने कहा कि अव मै आपको नही छोड सकता। उनकी आँखो से अश्रुपात होने लगा, उन्होने अपने आराध्य को प्रणाम किया, कहा कि जिनकी वेपरचना के लिये मोरपख ही पर्याप्त है, जिनका मुख दातो की विशेप कान्तिमयी झिलमिलाहट

से सुशोभित अघरो से अलकृत है, अल्प बुद्धि से समझ में न आने वाले वैभव भरे चरित्रो से सम्पन्न श्रीकृष्ण का शृगारभगीमय तेज कितना अद्भुत है! वे प्रभु को देखने लगे तो देखते ही रह गये। प्रभु ने कहा कि सूरदास अब तो जाने दीजिये। विल्वमगल ने कहा कि असम्भव है। प्रभु हाथ छुडा कर चलने लगे तो दैन्य के मूर्तरूप विल्वमगल ने कहा कि हाथ छुडा कर जाते हैं तो जाइये, यदि हृदय से जाइये तो जानूगा कि कुछ शक्ति है। भगवान ने उनका बडे प्रेम से आलिगन किया, नेत्र खुल गये, भक्त ने भगवान को जी भर देखा, विल्वमगल धन्य हो गये। श्रीकृष्ण के लीलारस-माधुर्य में पूर्ण रूप से अवगाहन कर वे पदरचना करने लगे। उन्होने अपने रसग्रन्थ कृष्ण कर्णामृत में दिव्य माधुर्य भर दिया।

कृष्ण की भक्ति ही उनके जीवन की परम सम्पत्ति थी। मोरपख-धारी शृगाररस सर्वस्व, नराकार श्रीकृष्ण के सरस गान में ही सन्त विल्वमगल ने अपने शेष जीवन का सदुपयोग किया। उन्होने भगवान शिखिपच्छिमौलि का माधुर्य-उत्कर्ष गाया। आजीवन मधुर रस की उपासना की। श्रीकृष्ण को असीम मनोहरता के रूप में उन्होने देखा। उन्होंने गोपीभाव की सरस अनुभूति के राज्य की प्रजा होने में आत्म-गौरव समझा। उन्होने प्रेमभक्ति की साधना की। उन्होने श्रीकृष्ण की शृगारजा भक्ति में ही अपनी साधना अथवा उपासना की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होने गोपी वल्लभ कृष्ण का भजन किया। उनकी उक्ति है कि जिनका मुखचन्द्र विकसित कमल के समान है, जिनको मोरमुकुट अतिप्रिय है, जिन्होने वक्षस्थल पर श्रीवत्सचिह्न और कौस्तुभमणि को धारण किया है, जो पीताम्बरधारी और सुन्दर है, गोपाङ्गनाओ के नयनकमलो से जिनका शरीर सम्पूजित है, गो और गोपी के समूह से आवृत्त है उन मधुर वेणु बजाते हुए दिव्य भूषण से शोभित गोविंद का भजन करता हूँ। सन्त विल्वमगल कृष्ण के प्रेमसमुद्र में डूब गये। उन्होने चिन्तामणि की कृपा-दृष्टि से, सोमगिरि की प्रपन्नता से और श्रीकृष्ण के दिव्य दर्शन से रस-पद्धति का भक्तिमूलक रहस्य समझा। उन्होंने राधा-कृष्ण का चितन किया। वे पूर्ण रूप से राधा-कृष्णमय हो उठे। लीलाशुक–सन्त विल्वमगल का कथन है कि राधा के नयनो

से लालित श्रीकृष्ण के लीलामय कटाक्ष तथा गाढालिंगन और सग में अत्यन्त प्रेमासक्ति होने के कारण जो रीतियुक्त क्रीडा केलि से सोभित वशी की अमृतध्वनि से युक्त है उस मनोहर-मुसकान पूर्ण माधुर्य से सम्पन्न चन्द्रमुख-कमल में मेरा मन मग्न हो गया है। श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति की विवेचना में ही वे तत्पर रहते थे। वे विरह-रसिक सन्त थे। अन्तिम समय में वृन्दान में उनकी चिंतामणि वेश्या और गृहस्थ-पत्नी से भी भेंट हुई थी। उस समय उनके लिये सब कुछ श्रीकृष्ण का ही रूप था। उन्होने कन्धे तक लटकते हुए सुन्दर कुण्डल धारण करनेवाले, कोमल अगुलियो को फिराते हुए धीरे-धीरे वशी बजाने वाले त्रिभगललित जगन्मोहन श्याम सुन्दर का ही निरन्तर ध्यान किया। वे प्रभु से यही आत्मनिवेदन करते थे कि हे देव, जब तक किसी निमित्त को लेकर मनुष्य की दशवी दशा-मृत्यु आकर मेरे नेत्रों के सम्मुख समस्त पदार्थो का लोप न कर दे, उसके पहले ही आप अपने मुखचन्द्र का मुझे दर्शन दीजिये। जब तक मै शब्द सुनने तथा स्पर्श अनुभव करने की शक्ति से रहित न हो जाऊँ, उसके पहले ही अत्यन्त मधुर वशी बजाते हुए आप मुझे दर्शन दीजिये।

सन्त विल्वमगल ने सरस भोगानुभूति-सुख का दिव्यीकरण किया, उनके जीनव की यह अमित मौलिकता है कि वैषयिक सुख चिन्मय सरस आनन्द में रूपान्तरित हो गया। उन्होने?अपने जीवन में नन्द-नन्दन के स्वरूप भूत रस का साक्षात्कार किया। लीलाशुक विल्वमगल भगवदीय रस के महान काव्यकार थे, सौन्दर्य ब्रह्म श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाके गायक थे।

रचना

सन्त विल्वमगल की प्रसिद्ध रचनायें —कृष्णकर्णामृत, गोविन्ददामोदर स्तोत्र आदि है।

वाणी

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि वलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुष गणयामि ते।

हे कृष्ण, वलपूर्वक हाथ झिटक कर चले गये, इसमे क्या वडी वात हुई, आपका पौरुष तो मै तव समझूँगा जव आप हृदय में से चले जायेंगे।

प्रणयपरिणताभ्या प्रामवालम्वनाभ्या
प्रतिपदललिताभ्या प्रत्यह नूतनाभ्याम्।
प्रतिमुहुरधिकाभ्या प्रस्नुवल्लोचनाभ्या
प्रभवतु हृदये न प्राणनाथ किशोर ॥

प्राणाधार किशोर मूर्ति श्रीकृष्ण अपने प्रेमपूर्ण, आश्रयदाता, सदा सुदर नित्यनूतन, क्षण-क्षण खिलते हुए आनन्दवर्षी नेत्रो से हमारा हृदय वशीभूत कर ले।

वर्हं नाम विभूषण वहु मत वेपाय शेषैरल
वक्त्र दन्तविशेषकान्तिलहरीविन्यासधन्याधरम्।
शीलैरल्पधियामगम्यविभवै शृ गारभगीमय
चित्र चित्रमहो विचित्रमहहो चित्रविचित्र मह ॥

जिनकी वेपरचना के लिये मोरपख ही पर्याप्त है, जिनका मुख दातो की विशेष कान्तिमयी झिलमिलाहट से सुशोभित ओठोवाला है, अल्पवुद्धिद्वारा समझ में न आनेवाले वैभवभरे चरित्रो से युक्त उन भगवान का शृ गारभगीमय तेज क्या ही अद्भुत है।

लीलाटोपकटाक्षनिर्भरपरिष्वङ्गप्रसङ्गाधिक
प्रीते रीतिविभङ्गा सङ्गरलसद्वेणुप्रणादामृते।
राधालोचनलालितस्य ललितस्मेरे मुरारेर्मुदा
माधुर्यैकरसे मुखेन्दुकमले मग्न मदीय मन ॥

राधा के नयनो से ललित मुरारी के लीलामय कटाक्ष तथा गाढालिङ्गन और सग में अत्यन्त प्रेमासक्ति हो जाने के कारण जो रीतियुक्त क्रीडाकेलिसे शोभित वशी की अमृतध्वनि से युक्त है उस मनोहर मुसकानपूर्ण माधुर्यरस से भरे हुए चन्द्रमुखकमल में मेरा मन मग्न हो गया है।

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदन वर्हावतसप्रिय
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधर पीताम्वर सुन्दरम्।

गोपीना नयनोत्पलार्चिततनु गोगोपसघावृत्त
गोविन्द कलवेणुवादनपर दिव्याङ्गभूष भजे ॥

जिनका मुखचन्द्र विकसित कमल के समान है, जिनको मोर मुकुट अतिप्रिय है, जिन्होने वक्षस्थल पर श्रीवत्सचिह्न और सुदर कौस्तुभ-मणि धारण किये है, जो पीताम्बरधारी और सुदर है, गोपाङ्गनाओ के नयनकमलों से जिनका सुदर शरीर सम्पूजित है, गो और गोपी के समूह से आवृत है उन मधुर वेणु बजाते हुए दिव्य भषणभूषित गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

परमिममुपदेशमाद्रियध्व
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्ना ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥

उपनिषदों के बीहड जगलो में घूमते-घूमते नितान्त श्रान्त हुए लोगो! मेरे इस सर्वश्रेष्ठ उपदेश को आदरपूर्वक सुनो। उपनिषदो के सारतत्व-वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म की यदि खोज हो तो उसे ब्रजाङगनाओं के घरों में ऊखल से बधा देख लो।

यावन्न मे नरदशा दशमी दृशोऽपि
रन्ध्रादुदेति तिमिरीकृत सर्वभावा ।
लावण्यकेलिभवन तव तावदेतु
लक्ष्म्या समुत्क्वणितवेणुमुखेन्दुबिम्बम् ॥

प्रभो! इसके पूर्व ही कि मेरी अन्यान्य इन्द्रियो के साथ नयनरन्ध्रो से भी मनुष्य-शरीर की अन्तिम दशा—मरणावस्था प्रकट हो जाय—जिस अवस्था में सारी वस्तु अन्धकारमय—अदृश्य हो जाती है—ऐसी कृपा होनी चाहिये कि आपका गोल-गोल चाँद-सा मुखडा, जो लावण्य का क्रीडास्थल है, और जिसके अधरो मे लगी हुई बाँसुरी ऊँचे स्वर से बजती रहती है, अपनी समग्र शोभा के साथ उन नेत्ररन्ध्रो के सामने उपस्थित हो जाय।

—कृष्णकर्णामृत

सन्त रैदास

सदाचार श्रुति सास्त्र वचन अविरुद्ध उचार्यो।
नीर-खीर बिबरन्न परम हंसनि उर धार्यो॥
भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई।
राजसिंहासन बैठि ग्याति परतीति दिखाई॥
वरनाश्रम अभिमान तजि पदरज बदहि जास की।
सदेह ग्रंथि खण्डन निपुन वानि विमल रैदास की॥

—भक्तमाल

भगवान को अपना सर्वस्व मानने और जानने वाले व्यक्ति के सौभाग्य का वर्णन नही हो सकता है। भगवान के भक्त अच्युत गोत्रीय होते है, उनकी चरण-रज-वन्दना के लिये ऋद्धि-सिद्धि प्रतीक्षा किया करती है। सन्त रैदास भगवान के परम भक्त थे, उनकी वाणी ने भागवती मर्यादा का सरक्षण कर मानवता में आध्यात्मिक समता-एकता की भावना स्थापित की। वे सन्त कबीर के अग्रज थे, भगवान की कृपा ने उन्हे उच्च-से-उच्च पद प्रदान किया। रैदास को प्रभु की भक्ति ने नीच से ऊँच कर दिया। आचार्य रामानन्द के बारह प्रधान शिष्यो में उनकी गणना होती है। सन्त रैदास ने शकर के नीरस मायावाद से प्रभावित, बौद्धो के अनात्मवाद मे वचित और यवन-आक्रमण मे त्रस्त भारतीय चेतना को सामाजिक क्रान्ति मे समुत्तेजित कर सन्त मत की प्राण-प्रतिष्ठा की। भक्तिप्रधान हृदय मे निर्गुण ज्ञानराशि की अलौकिक दीपशिखा प्रज्वलित कर, अज्ञान-अन्धकार का नाश कर रामानन्द स्वामी के प्रधान शिष्य रैदास और कबीर ने ज्ञान और भक्ति के समन्वय को अपने सन्तमत का मूलाधार स्वीकार किया।

सन्त रैदास मध्यकालीन भारत की बहुत बडी ऐतिहासिक आवश्यकता थे। विदेशी शासक की धर्मान्धता ने उन्होने भारतीय सस्कृति की

आध्यात्मिक धारा का सरक्षण किया। विक्रम की चौदहवी और पन्द्रहवी शती के अधिकाश भाग को उन्होने अपनी साधना से धन्य किया था। उन्होने राजनैतिक निराशा में ईश्वर-विश्वास की परिपुष्टि की। परमात्मा की भक्ति से जन-कल्याण की साधना की। 'सन्तन में रैदास सन्त है'—कबीर की वाणी नितान्त सच है।

सन्त रैदास का जन्म काशी में हुआ था। वे चमार कुल में उत्पन्न हुए थे । उनके पिता का नाम रघ्घू था और माता का नाम घुरबिनिया था। दोनो के सस्कार बडे शुभ थे। वे परम भगवद्भक्त थे, इसलिये रैदास को उत्पन्न करने का श्रेय उन्ही दोनों को मिल सका। शिशु रैदास ने जन्म लेते ही माता का दूध पीना बन्द कर दिया। लोग आश्चर्य में पड गये। स्वामी रामानन्द रघ्घू के घर आये। उन्होने बालक को देखा, दूध पीने का आदेश दिया। ऐसा कहा जाता है कि पहले जन्म में भी रैदास रामानन्द के शिष्य थे, ब्राह्मण थे, गुरु की सेवा में कुछ भूल हो जाने से उन्हे शूद्र योनि में जन्म लेना पडा। रामानन्द स्वामी ने भागवत पुत्र उत्पन्न होने के कारण रघ्घू दम्पति की सराहना की, उनके पवित्र सौभाग्य का बखान किया, अपने मठ में चले आये।

रैदास का पालन-पोषण बडी सावधानी से होने लगा। उनमें दैवी गुण अपने आप विकसित होने लगे। बाल्यकाल से ही वे साधु-सन्तो के प्रति आकृष्ट होने लगे, किसी सन्त के आगमन की बात सुनकर वे आनन्द से नाच उठते थे। सन्तो की सेवा को परम सौभाग्य मानते थे। माता-पिता के आज्ञा-पालन और प्रसन्नता-वर्द्धन में वे किसी प्रकार की कमी नही आने देते थे। उनकी रुचि देखकर माता-पिता को चिन्ता होने लगी कि कही रैदास बाल्यावस्था में घर त्याग कर सन्यास न ले ले। उन्होने रैदास को विवाह-बन्धन में जकडने का निश्चय कर लिया।

रैदास का काम जूते सीना और भजन करना था। वे जूता सीते जाते थे और मस्ती से गाते रहते थे कि हे जीवात्मा यदि तुम गोपाल का गुण नही गाओगे तो तुम को वास्तविक सुख कभी नही मिलेगा। हरि की शरण आनेपर सत्यज्ञान का बोध होगा। जो राम के रग में रग जाता है उसे दूसरा रग अच्छा ही नही लगता है। वे जो कुछ भी जूते सी कर कमाते थे उसमें से अधिकाश साधु-सन्तो

की सेवा में लगा देते थे। सन्त रैंदास को यह विश्वास हो गया था कि हरि को छोड कर जो दूसरे की आशा करता है वह निस्सन्देह यम के राज्य में जाता है। रात-दिन ईश्वर की कृपा की अनुभूति करना ही उनका जीवन वन गया था। वे अपने चचल मन को भगवान के अचल चरण में बाँध कर अभय हो गये थे। यौवन के प्रथम कक्ष में प्रवेश करते ही रैंदास का विवाह कर दिया गया। उनकी स्त्री परम सती और साध्वी थी, पति की प्रत्येक रुचि की पूर्ति में ही उसे अपने दाम्पत्य की पूरी तृप्ति का अनुभव होता था। भगवान के भजन में लगे पति की प्रत्येक सुविधा का ध्यान रखना ही उसका पवित्र नित्य कर्म वन गया था, इसका परिणाम यह हुआ कि भगवद्‌भक्ति के मार्ग में विवाह सहायक सिद्ध हुआ, गृहस्थाश्रम रैंदास दम्पति के लिये वन्धन न वन सका। दोनों अपने कर्तव्य-पालन में सावधान थे । रैंदास के माता-पिता वहुत प्रसन्न थे। घर में सुख-सम्पत्ति की कमी नही थी पर सन्तो की सेवा में अधिक धन रैंदास द्वारा व्यय होते देखकर उनके माता-पिता चिढ गये। यद्यपि रैंदास गृहस्थी में अनासक्त थे, जल में कमल की तरह रहते थे तो भी उनके माता-पिता को यह वात अच्छी नही लगी कि वे मेहनत से पैसा पैदा करे और रैंदास उसे घर वैंठे साधु-सन्त की सेवा में उडा दिया करे। उन्होने रैंदास दम्पति को घर से वाहर निकाल दिया, अलग कर दिया। रैंदास अपने घर के पीछे ही एक वृक्ष के नीचे झोपडी डाल कर अपनी पत्नी के साथ रहने लगे। उन्होंने पिता और माता का तनिक भी विरोध नही किया। हरि-भजन में लग गये।

धीरे-धीरे उनकी ख्याति दूर-दूर तक सत-मण्डली में वढने लगी। वे पतित पावन हरि की भक्ति करने लगे। वे एकान्त में वैठ कर अपनी रसना को सम्वोधित कर कहा करते थे कि हे रसना, तुम राम-नाम का जप करो, इससे यम के वन्धन मे निस्सन्देह मुक्ति मिलेगी। वे रुपये-पैंसे के अभाव की तनिक भी चिन्ता नही करते थे। सन्त रैंदास परमात्मा के पूर्ण शरणागत हो गये। उन्होने प्रभु के पादपद्मो से चिर-सम्वन्ध जोड लिया। उनके निवासस्थान पर सतो का समागम होने लगा। कवीर आदि उनके वडे प्रशसक थे। रामानन्द के शिष्यो में उनके लिये विशेप आदर का भाव था, श्रद्धा और भक्ति थी। सन्त

रैदास की साधना पर सन्त गनी मामूर की वाणी का भी प्रभाव था। वे ऐसे नगर के अधिवासी हो गये जिसमें चिन्ता का नाम ही नही था। उनकी उक्ति है

> बेगमपुर शहर का नाम, फिकर अदेस नाहिं तेंहि ग्राम।
> कह 'रैदास' खलास चमारा, जो उस शहर सो मीत हमारा॥

वे निश्चित होकर सतो के सग में रहने को धन्य जीवन समझते थे। यथाशक्ति अपने आराध्य निर्गुण राम की पूजा में व्यस्त रहते थे, कहा करते थे कि प्रभु, आपकी पूजा किस प्रकार करूँ, अनूप फल-फूल नही मिलते है, गाय के बछडे ने दूध जूठा कर दिया है, ऐसी स्थिति में मन ही आपकी पूजा के लिये धूप-दीप है। वे सदा रामरस की मादकता में मत्त रहते थे। उनका विश्वास था कि उनके राम उन्हे भवसागर से अवश्य पार उतार देंगे।

रैदास को माता-पिता से एक कौडी भी नही मिलती थी। जो कुछ दिन भर में कमा लेते थे उसी से सतोष करते थे। वैष्णवो और सन्तो को बिना मूल्य लिये ही जूते पहना दिया करते थे। कभी-कभी रात में फाका करना पडता था। एक छोटी-सी झोपडी ही उनकी सम्पत्ति थी, उसमे भगवान की प्रतिमा प्रतिष्ठित थी, अपने आप तो वे पेड के नीचे पत्नी के साथ रहते थे।

एक दिन वे पेड के नीचे बैठ कर जूते सिल रहे थे। सत्सग हो रहा था। वहुत से सन्त एकत्र थे। सन्त रैदास ने साधुवेष में अपरिचित व्यक्ति को आते देखा, उन्होने अतिथि की चरणधूलि मस्तक पर चढा ली, भोजन कराया, यथाशक्ति सेवा की। अतिथि ने चलते समय उन्हे पारसमणि देना चाहा पर सन्त रैदास ने उसके प्रति तनिक भी उत्सुकता न दिखायी, लोहे को सोना वना कर प्रभावित करना चाहा पर रैदास का परम घन तो राम-नाम था। वे पारस रखना नही चाहते थे, अतिथि ने पारस झोपडी मे खोस दिया, कहा कि यदि आवश्यकता हो तो इसका उपयोग कर लीजियेगा। जन्म-मरण के वन्धन से मुक्ति चाहने वाले रैदास का मन पारस मे नही उलझ सका। उनके नयन तो सदा प्रभु को ही निहारा करते थे, भयानक दुख आने

पर वे हरिनाम का स्मरण करते थे, पारस का उन्हे सपने मे भी व्यान न रहा। कुछ दिनो के वाद साधुवेष वाले अतिथि ने आकर उनसे पारस के सम्वन्ध में वात की। रैदास ने कहा कि मुझे तो इतना भी व्यान न था कि झोपडी में पारस है, अच्छा हुआ, आप आ गये। उसे ले जाइये। अतिथि ने पारस लेकर वात-की-वात मे अपनी राह पकडी, रैदास को विस्मय हुआ कि वह कहाँ चला गया। उन्हे क्या पता था कि स्वय मायापति भगवान ही उनकी परख करने चल पडे थे पर लाभ की वात यह थी कि उनकी माया पराजित हो गयी और सन्त रैदास ने अपने उपास्य देव का दर्शन कर लिया।

परमात्मा की लीला विचित्र है, वे अपने भक्तो और सेवको की रक्षा में विशेप तत्पर रहते है, उन्हे इस तत्परता में आनन्द मिलता है। नित्य प्रात काल पूजा की पिटारी में उन्हे पाँच स्वर्ण मुद्राये मिलने लगी। रैदास ने आत्मनिवेदन की भाषा मे कहा कि प्रभु अपनी माया से मेरी रक्षा कीजिये, मै तो केवल आपके नाम का वनजारा हूँ, मुझे कुछ नही चाहिये। भगवान ने स्वप्न में आदेश दिया कि मै तुम्हारे निर्मल हृदय की वात जानता हूँ, मुझे ज्ञात है कि तुम्हे कुछ नही चाहिये पर मेरी रीझ और प्रसन्नता इसी में है। सन्त रैदास ने प्रभु से प्राप्त धन का सदुपयोग मन्दिर-निर्माण में किया, मन्दिर मे भगवान की पूजा के लिये एक पुजारी नियुक्त किया गया। सन्त रैदास मन्दिर के शिखर और ध्वजा का दर्शन पाकर नित्य प्रति अपने आपको वन्य मानने लगे।

एक वार एक धनी व्यक्ति उनके सत्सग मे आये। सत्सग समाप्त होने पर सन्तो ने भगवान का चरणामृतपान किया। धनी व्यक्ति ने चरणामृत की उपेक्षा कर दी। चरणामृत उन्होंने हाथ मे लिया अवश्य पर चमार के घर का जल न पीना पडे—इस दृष्टि से लोगो की आँख वचाकर चरणामृत फेंक दिया, उसकी कुछ वूदें कपडो पर पडी। घर आकर धनी व्यक्ति ने स्नान किया, नये कपडे पहने और जिन कपडो पर चरणामृत पडा था उनको भगी को सौंप दिया। भगी ने कपडे पहने, उसका शरीर नित्यप्रति दिव्य होने लगा और धनी व्यक्ति कोढ का शिकार हुआ। वे रैदास के निवासस्थान पर कोढ ठीक करने की चिन्ता में चरणामृत लेने आये, मन में श्रद्धा और आदर की कमी

थी। सन्त रैदास ने कहा कि अब जो चरणामृत मिलेगा वह तो निरा-पानी होगा। धनी व्यक्ति को अपनी करनी पर बडा पश्चात्ताप हुआ और क्षमा माँगी। सन्त रैदास की कृपा से तथा सत्सग की महिमा से कोढ ठीक हो गया।

रैदास की वाणी का प्रभाव राजरानी मीराबाई पर विशेष रूप से पडा था। मीरा ने उनको अपना गुरु स्वीकार किया है, उनके पदों में सन्त रैदास की महिमा का वर्णन मिलता है। राणा सागा के राजमहल को अपनी उपस्थिति से रैदास ने ही पवित्र किया था। रैदास की आयु बडी लम्बी थी, उनके सामने कबीर की इहलीला समाप्त हुई थी। यह निश्चित बात है कि राणा सागा की पुत्रवधू मीरा को उन्होंने शिष्य के रूप में स्वीकार किया था। चित्तौड की झाली रानी भी उनसे प्रभावित थी। काशी यात्रा के समय झाली रानी ने उनको चित्तौड आने का निमन्त्रण दिया था। वे चित्तौड आये थे। चित्तौड में रैदास न अनेक चमत्कार दिखाये थे। मीरा ने अपने एक पद मे 'गुरु रैदास मिले मोहि पूरे' कह कर उनके प्रति सम्मान प्रकट किया है।

रैदास ने कठवत के जल में गगा का दर्शन किया। एक ब्राह्मण किसी की ओर से गगा जी की पूजा करने नित्य जाया करता था। एक दिन रैदास ने उसे बिना मूल्य लिये जूते पहना दिये और निवेदन किया कि भगवती भागीरथी को मेरी ओर से एक सुपारी अर्पित कीजियेगा। उन्होंने सुपारी दी। ब्राह्मण ने गगा की यथाविधि पूजा की और चलते समय उपेक्षापूर्वक उसने रैदास की सुपारी दूर ही से गगा जल में फेंक दी पर वह यह देखकर आश्चर्यचकित हो गया कि गगाजी ने हाथ बढाकर सुपारी ली। वह सत रैदास की सराहना करने लगा कि उनकी कृपा से गगा का दर्शन हुआ। इस वात की प्रसिद्धि समस्त काशी में हो गयी। पर गगा जी ने रैदास पर साक्षात् कृपा की। सत्सग हो रहा था, रैदास को घेर कर सन्त मण्डली वैठी हुई थी, सामने कठवत में जल रखा हुआ था। रैदास और अन्य सन्तो ने देखा कि स्वय गगा जी कठवत के जल में प्रकट होकर ककण दे रही हैं। रैदास ने गगाजी को प्रणाम किया और उनकी कृपा के प्रतीकरूप में दिव्य ककण स्वीकार कर लिया।

रैदास केवल उच्च कोटि के सन्त ही नही महान कवि भी थे। उन्होंने भगवान के निरञ्जन, अलख और निर्गुण तत्व का वर्णन किया। उनकी सन्त-वाणी ने आध्यात्मिक और बौद्धिक क्रान्ति के साथ-ही-साथ सामाजिक क्रान्ति भी की। उन्होने अन्तरस्थ राम को ही परम ज्योति के रूप में स्वीकार किया। उन्होने कहा है कि मैं तो सर्वथा अपूज्य था, हरि की कृपा से मेरे ऐसे अधम भी पूज्य हो गये। उन्होने निर्गुण वस्तु-तत्व का अमित मौलिक निरूपण किया है। उनका सिद्धान्त था कि अच्छी करनी से भगवान की भक्ति मिलती है और भक्ति से मनुष्य भवसागर से पार उतर जाता है। सन्त रैदास रसिक कवि और राजयोगी थे। उनकी उक्ति है

'नरपति एक सेज सुख सूता सपने भयो भिखारी।
आछत राज बहुत दुख पायो—सो गति भयी हमारी।'

वे सस्कारी सन्त थे। लगभग सवा सौ साल की आयु में वे परम पद में लीन हुए।

रचना

इनकी वाणी का सकलन—'सन्त रैदास की वाणी' है।

वाणी

दरसन दीजै राम, दरसन दीजै। दरसन दीजै, विलम्ब न कीजै॥
दरसन तोरा जीवन मोरा। विन दरसन क्यो जीवै चकोरा॥
माधव सतगुरु सव जग चेला। अव के विछुरे मिलन दुहेला॥
धन-जोवन की झूठी आसा। सत-सत भाखै जन 'रैदासा'॥
जो तुम तोरो राम, मैं नहिं तोरों। तुम से तोरि कवन से जोरो॥
तीरथ-वरत न करों अदेसा। तुम्हरे चरन-कमल का भरोसा॥
जहँ-जहँ जाओ तुम्हरी पूजा। तुम-सा देव और नहिं दूजा॥
मैं अपना मन हरि सो जोर्‌यों। हरि से जोरि सवन से तोर्‌यो॥
सव ही पहर तुम्हारी आसा। मन-करम-वचन कहै 'रैदासा'॥
नरहरि चचल है मति मोरी। कैसे भगति करूँ मैं तोरी॥
तू मोहि देखै, हौं तोहि देखू। प्रीति परस्पर होई॥

तू मोहि देखै तोहि न देखूँ। यह मति सब बुधि खोई ॥
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर। मैं देखन नहिं जाना ॥
गुन सब तोर, मोर सब अवगुन। कृत उपकार न माना ॥
मैं तैं तोरि मोरि असमझ सौं। कैसे करि निस्तारा ॥
कह 'रैदास' कृस्न करुनामय। जय जय जगत अधारा ॥

प्रभुजी संगति सरन तिहारी। जगजीवन राम मुरारी ॥
गली-गली को जल बहि आयो। सुरसरि जाइ समायो ॥
संगति के परताप महातम। नाम गंगोदक पायो ॥
स्वाति बूंद बरसे फनि ऊपर। सीस बिषै होइ जाई ॥
ओही बूंद की मोती निपजै। संगति की अधिकाई ॥
तुम चन्दन हम रेंड़ बापुरे। निकट तुम्हारे आसा ॥
संगति के परताप महातम। आवै बास सुबासा ॥
जाति भी ओछी करम भी ओछा। ओछा किसब हमारा ॥
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है। कह 'रैदास' चमारा ॥

अब कैसे छूटै नाम रट लागी ॥
प्रभु जी, तुम चन्दन हम पानी। जाकी अंग अंग बास समानी ॥
प्रभु जी, तुम घन वन, हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा ॥
प्रभु जी, तुम दीपक, हम बाती। जाकी जोति बरै दिन-राती ॥
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभु जी, तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भगति करै 'रैदासा' ॥

राम मैं पूजा कहाँ चढाऊँ। फल अरु फूल अनूप न पाऊँ ॥
थनहर दूध जो बछरू जुठारी। पुहुप भवर, जल मीन बिगारी ॥
मलयागिरि बेधियो भुअंगा। विष अमरित दोउ एकै संगा ॥
मन ही पूजा, मन ही धूप। मन ही सेऊँ सहज सरूप ॥
पूजा-अरचा न जानू तेरी। कह 'रैदास' कवन गति मेरी ॥

सन्त कबीर

'मोरे पिया मिले सत ग्यानी।
ऐसन पिय हम कबहूँ न देखा,
देखत सुरत लुभानी।
आपन रूप जब चीन्हा बिरहिन,
तब पिय के मन मानी।
जब हसा चले मानसरोवर,
मुकति भरे जहँ पानी।
करम जलाइ के काजल कीन्हा
पढ़े प्रेमकी बानी।
'धरमदास' कबीर पिय पाये,
मिट गयो आवा-जानी।'

—धरमदास

सन्त कबीर मध्यकालीन सन्तमत के प्रवर्तको में एक स्वीकार किये जा सकते है। उन्होने परमात्मा को—राम को घट-घट में व्यापी बता कर लोक-कल्याण की साधना की, वे परम निरपेक्ष और निर्मल मति से सम्पन्न सन्त थे। कबीर ने समस्त चराचर को राम से परिपूर्ण देखा, आत्मरूप अथवा चेतनस्वरूप पाया। वे सन्त थे। सन्त वे होते है जिनके जीवन में सदा सत्य रहता है। उन्हे पहाड से नीचे गिराया जाता है, समुद्र में छोड दिया जाता है, हाथी के पैर के तले डाल दिया जाता है, विपपान कराया जाता है पर वे सत्य के लिये हँसते-हँसते प्राण पर खेल जाते है। सन्त पाप का नाश करते है, पुण्य बढाते है। पाँच-छ सौ साल पहले इसी तरह सन्त कबीर ने लोगो को सत्य का रास्ता बताया था। उस समय दिल्ली के राजसिंहासन पर बादशाह सिकन्दर लोदी आरूढ थे। चारो ओर अशान्ति और अराजकता की बढती हो रही थी, देश पर विदेशी आक्रमण की आशका

नित्य प्रति बढती रहती थी। ऐसी स्थिति मे सन्त कबीर ने सन्देश दिया कि यह नितान्त सच है कि राम को जपने से ही लोक का भला होगा। जब तक शरीर में श्वास है तब तक राम का भजन करते रहना चाहिये। उन्होने लोगो के हृदय में ईश्वर और सत्य के प्रति विश्वास प्रकट किया। ईश्वर-भक्ति में लोगो की आस्था स्थित की। असख्य जीवो को भवसागर से पार उतारने के लिये और परमार्थ के विकास के लिये गगन-मण्डल से कबीर के रूप मे सत्य-ज्योति का पृथ्वी पर अवतरण हुआ।

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथायें प्रचलित है। कुछ लोग भक्त प्रह्लाद के रूप में देवाङ्गना प्रतीचि से उनका प्राकट्य मानते है। सन्त कबीर काशी में प्रकट हुए थे। उस समय काशी में ही नही, समस्त भारतदेश में स्वामी रामानन्द के नाम की धूम मची हुई थी। वे बहुत बडे महात्मा थे। काशी में ही रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि एक समय अनजान में उन्होने अपने एक ब्राह्मण शिष्य की विधवा कन्या को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। महात्मा का वचन सफल हुआ। सम्वत् १४५५ वि की जेठ पूर्णिमा को उस कन्या ने एक बालक को जन्म दिया। लोकलज्जा और समाज के भय से उसने नवजात शिशु को काशी के लहरतारा तालाब में फेंक दिया। नवजात कमल के पत्ते पर खेलने लगा। आसमान में काले-काले बादल उमड रहे थे, बिजली चमक रही थी। लहर तारा तालाब के निकट से ही नीरू और नीमा जा रहे थे। नीमा को प्यास लगी थी। वह पानी पीने के लिये तालाब में उतर पडी। असहाय शिशु को देखते ही उसके मन में माता की ममता जाग उठी। उसने बच्चे को गोद में उठा लिया। नीरू जुलाहे ने कहा कि बच्चे को इस तरह घर ले जाने पर लोग हँसी उडायेंगे, समाज में निन्दा होगी। नीमा के सामने नीरू की एक न चली। दोनो ने बालक को घर लाकर पाल-पोष कर बडा किया, कबीर नाम रखा।

कबीर होनहार बालक थे। बचपन में लोगों ने उनमें अलौकिक और विलक्षण प्रतिभा देखी। सब लोग उन्हे प्यार करते थे। नीरू-नीमा अपने सौभाग्य पर फूले नही समाते थे। कबीर उन्हे कपडे बुनने और

ताना-बाना ठीक करने में सहायता देने लगे। घर के कामकाज मे हाथ बटाने लगे। साधु-सन्तो की सेवा करने में उनका मन बहुत लगता था। वे कभी-कभी कपडे बेचने के लिये अडोस-पड़ोस के बाजार मे भी जाया करते थे। एक दिन एक वैष्णव ने एक थान कपडा माँगा। कबीर ने बिना दाम लिये ही दे दिया। घर में भोजन के लिये एक पैसे का भी ठिकाना न था। माता-पिता कबीर की ही राह देख रहे थे। कबीर ने सच बात कह दी, फटकारे जाने पर रामनाम जपने लगे। दस साल की ही अवस्था में लोग उनमें सन्त का स्वभाव देखकर आश्चर्य मे पड गये। कबीर घर के छोटे-मोटे काम भी करते थे और लोगो को राह चलते ईश्वर-भजन का उपदेश भी देते थे। लोग 'निगुरा' कह कर उनको टाल देते थे। कबीर को भी यह बात खटकती थी कि बिना गुरु के सच्चा ज्ञान नही मिलता। वे स्वामी रामानन्द को अपना गुरु बनाना चाहते थे। कबीर ने स्वय कहा है

'गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै।
गुरु बिन यह जग कौन भरोसा, काके सग ह्वै रहिये।'

स्वामी रामानन्द ब्राह्मणो को छोडकर निम्न वर्ग के लोगों को शिष्य ही नही बनाते थे। कबीर को एक उपाय सूझ गया। स्वामी रामानन्द नित्य तडके ही गगा-स्नान के लिये जाया करते थे। कबीर पचगगा घाट की सीढियों पर मृतक की तरह पड गये। रामानन्द की खडाऊँ उनके सिर से टकरा गयी। स्वामी जी के मुख से सहसा 'राम' शब्द निकल पडा। कबीर ने रामनाम को ही गुरु-मन्त्र मान लिया। घर आकर कबीर ने माला और तिलक धारण कर लिये, अपने आपको रामानन्द का शिष्य प्रसिद्ध करना आरम्भ किया। नीमा ने स्वामी रामानद से जाकर शिकायत की पर उन्हे किसी भी बात का पता नही था। कबीर ने रामानन्द से सारी बाते कह दी। स्वामी रामानन्द उनकी श्रद्धा और भक्ति से बहुत प्रसन्न हुए। राम-नाम में कबीर की निष्ठा देखकर उनको गले लगा लिया, अपने शिष्य के रूप मे स्वीकार किया। कबीर का मन घर के कामकाज में कम लगा करता था। वे गुरु के पास अधिक समय तक रह कर ज्ञान और भक्ति का उपदेश सुनने लगे। परम पवित्र काशी नगरी में दूर-दूर से लोग आते

थे। वे अपने-अपने नगरो मे जाकर सन्त कबीर की महिमा का बखान करने लगे। भारत के कोने-कोने से लोग उनके दर्शन के लिये आने लगे। शिष्यो की सख्या बढने लगी। सन्त-मिलन कबीर के लिये परम धन था। उनके निवास पर उच्च कोटि के सन्तो का समय-समय पर सम्मिलन होता रहता था। कबीर और लोई का आजीवन सम्बन्ध रहा। ऐसा कहा जाता है कि वह कबीर की शिष्या थी और उसने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसके सम्बन्ध मे विचित्र कथा है कि एक समय कबीर गगा के उस पार गये। वे कुछ सन्तो के साथ एक जगल से निकल रहे थे। कि उन्हे एक कुटी दीख पडी। उसमें एक स्त्री रहती थी। वह जब बालिका थी तब घरवालों ने कपडे में लपेट कर उसको गगा में पौढा दिया था। साधु ने उसका पालन-पोषण किया और लोई नाम रखा। साधु के शरीरान्त के बाद भी वह उसी कुटी में रहती थी। उसने अभ्यागत सन्तो के लिये दूध से भरे सात प्याले लाये। कबीर ने एक प्याला रख लिया और कहा कि एक साधु और आ रहे है। लोई ने साधु के आने पर नाम पूछा, कबीर ने उत्तर दिया कि साधु का नाम कबीर है। लोई ने जाति पूछी, कबीर का उत्तर था—'कबीर'। स्त्री आश्चर्य में पड गयी। उसे स्वर्गीय साधु की बात याद आ गयी कि तुम्हे इस कुटी में अपने गुरु का दर्शन होगा। उसने कबीर को अपना गुरु मान लिया और उनके साथ हो गयी। कबीर और लोई दोनों के जीवन की शोभा सादगी थी। कबीर की मनोवृत्ति पूर्ण सात्विक थी। उन्हे आडम्बर और पाखण्ड से बडी चिढ थी।

सन्त कबीर की कीर्ति-गाथा बादशाह सिकन्दर लोदी के दरबार मे भी गायी जाने लगी। बादशाह जलन-रोग से पीडित थे। किसी ने उन्हे बताया कि सन्त कबीर के दर्शन से रोग चला जायेगा। वे काशी आये। ऐसा कहा जाता है कि कबीर का दर्शन करते ही उनके शरीर में शीतलता की लहर दौड गयी। उन्हे ऐसा लगा मानो किसी ने सारे शरीर में चन्दन पोत दिया हो। रोग चला गया। बादशाह दिल्ली लौट आये।

कबीर ने लोगो का ध्यान सामाजिक कुरीतियो और दोषो की ओर खीचा। काजी और मुल्लाओ ने बादशाह सिकन्दर लोदी का कान भर दिया कि कबीर इस्लाम के सिद्धान्तो का खण्डन कर रहे है। बादशाह

धर्मान्ध और कट्टर मुसलमान थे। ऐसा कहा जाता है कि प्रसिद्ध सूफी शेख तकी ने भी उनको कबीर के विरुद्ध उकसाया। कबीर को कडी-से-कडी यातना देने की बात सोची गयी। उन पर मिथ्या आरोप लगाया गया कि इस्लाम को छोडकर देवी-देवताओ की पूजा करने के साथ-ही-साथ वेश्याओ को साथ लेकर घूमते रहते है। बादशाह ने कबीर को दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया। कबीर दरबार में आये पर उन्होंने बादशाह का अभिवादन नही किया और पूछने पर कहा कि मै केवल ईश्वर के सामने सिर झुकाता हूँ। बादशाह ने उनको हथकडी-बेडी पहना कर नदी में डाल देने का आदेश दिया पर उनका बाल बाका न हुआ। कबीर ने कहा है .

'गगा गुसाइन गहिर गभीर, जजीर बाधि कर खरे कबीर।
गगा की लहर मेरी टूटी जजीर, मृगछाला पर बैठे कबीर।'

बादशाह कविहृदय के भावुक पुरुष थे। उन्होंने सन्त कबीर से क्षमा मागी। कबीर के अलौकिक चरित्र से सिकन्दर लोदी बहुत प्रभावित हुए। शेख तकी कबीर को नीचा दिखाना चाहते थे। नदी की मध्य धारा मे एक बालक का शव बहता जा रहा था। तकी ने बादशाह से कहा कि यदि कबीर इसे जीवित कर दे तो सच्चे महात्मा है। कबीर के कहने से बालक जी उठा। बादशाह के मुख से निकल पडा 'कमाल' और आगे चलकर वही बालक 'कमाल' के नाम से कबीर का पक्का शिष्य हो गया। इसी प्रकार शेख तकी की मृतक कन्या को भी कबीर ने जीवन-दान दिया था। वह कमाली के नाम से विख्यात हुई।

कबीर को विरोधियो के कारण काशी छोड देना पडा। उन्होंने मगहर को अपनी तपोभूमि चुना। वे मगहर चले आये और भजन करने लगे। मगहर उत्तर प्रदेश में गोरखपुर और बस्ती जनपद की सीमा पर आमी नदी के तट पर रमणीय उपनगर है। कबीर ने उसे धन्य कर दिया।

सन्त कबीर ने समाज के दोषो को दूर करने का यत्न किया। उन्होंने उन आचार-विचारो का विरोध किया जो भगवान की भक्ति में बाधक थे। भगवान का अखण्ड रूप से भजन ही उनके मत से सबसे बडा मानवधर्म था। उन्होंने प्राणीमात्र के हृदय में एक ईश्वरीय

सत्ता का दर्शन किया। वे भगवान के भजन को मुक्ति-प्राप्ति का सबसे बडा साधन मानते थे। वे कहा करते थे कि भजन के लिये ही भगवान मनुष्य का शरीर दिया करते है, साहब अथवा परमात्मा की दृष्टि में सब समान हैं। राम का नाम जपना ही पवित्रतम कर्म है। हाथी और चीटी दोनों परमात्मा के प्यारे हैं। वे ज्ञानी सन्त थे। उनकी उक्ति है

'साईं के सब जीव हैं, कीरी कुजर दोय।'

सन्त कबीर जनता के कवि थे। उन्होंने हृदय से निकली सीधी-सादी जन-भाषा में भगवान के प्रेम और सत्य-कर्म पर कविता लिखी। उन्होंने कविता के लिये कविता नही की। वे सत्य के गायक थे, सत्य उनके समस्त साहित्य में ओतप्रोत हैं। कबीर ने अपने काव्य-शरीर का प्राण राम को माना, उनके राम-घट-घट में व्यापी निर्गुण, निराकार, चिदघनानदमूर्ति हैं।

कबीर बालक के समान अत्यन्त सरल हृदय के सन्त थे। उन्होने परमात्मा को माता-पिता और अपने आपको बालक माना है। वे ज्ञानी भक्त थे, सत्यरूपी ईश्वर को प्रियतम मानते थे। राम ही उनके सर्वस्व थे। वे एकतावादी अथवा समन्वयवादी सन्त थे। अपने सुधार-वादी विचारो से उन्होंने समाज का बडा कल्याण किया। पाखण्ड और दिखावट का अन्त कर दिया। सबको मिल जुल कर रहने की सीख दी। उन्होंने सत्यरूपी परमतत्व का प्रकाश जनता में फैलाया। उन्होंने राम की अभय पद-नगरी का पता बताया, उन्होने बताया.

'मेरे राम की अभय पद नगरी, कहै 'कबीर' जुलाहा।'

कबीर ने ईश्वर की प्रियतम रूप में भी उपासना की थी। उन्होंने सत्य-ज्योति में अपनी पूरी-पूरी पहुँच का निवेदन किया है, उनकी सन्तमत-निष्ठा ने रहस्यमयी चिन्मय भगवदीय ज्योति का दर्शन किया।

कबीरो सन्त नदी गयौ, बहि रे।
ठाढी माइ करारे टेरे, है कोई ल्यावै गहि रे।
बादल पानी, रामघन उनया, बरखै अमरित धारा।
सखी नीरगग भरि आई, पीवै प्रान हमारा।
जह बहिं लागे सनक सनन्दन, रुद्र ध्यान धरि बैठे।
सूय प्रकास आनन्द बमक में, धनि कबीर ह्वै पैठे॥

सन्त कबीर ब्रह्मवादी सन्त थे। उन्होने समस्त जगत को ब्रह्म-मय देखा। उन्होने ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के मार्ग में माया को बाधक माना, माया का बन्धन काटने को ही उन्होने मुक्ति-पद स्वीकार किया।

नानक कबीर के समकालीन थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होने कबीर का दर्शन किया था। नानक कबीर की सत्य-साधना, एकतावाद और सन्तमत से बहुत प्रभावित थे। मगहरनिवास-काल में गोरखनाथ मठ के सिद्ध योगी और सन्त उनके सत्सग और दर्शन से अपने को धन्य मानते थे। सूफी सन्त शेख तकी पर कबीर का विशेष प्रभाव स्वीकार किया जाता है। कबीर की वाणी में कही-कही शेख तकी का नाम आया है। कबीर ने उन्हे ज्ञान की बाते समझायी और उपदेश दिया। कबीर के शिष्यो में धरमदास का नाम लिया जाता है। कबीर का दर्शन उन्हे मथुरा में यमुना नदी के तट पर हुआ था।

कबीर की साधना मे एक स्मरणीय बात यह है कि उन्होने स्वानु-भूति के बल पर एकरस अखण्ड तत्व को अपने भीतर स्वप्रकाशित देखा था—समझा था।

जीवन के अन्तिम दिनो मे कबीर मगहर में ही रहे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होने सम्वत् १५७५ वि में शरीर छोडा। अन्त काल मे भी वे राम ही के स्मरण में तत्पर थे।

'मुआ कबीर रमत श्रीराम।'

हिन्दू उनके शव को जलाना चाहते थे और मुसलमान स्मारक बनाना चाहते थे। चादर उठाने पर शव के स्थान पर फूल दीख पडा। दोनो ने आधा-आधा ले लिया। काशी नरेश वीरसिंह बघेल ने काशी में उनका अन्तिम सस्कार किया। गोरखपुर जनपद के नवाब बिजली खान पठान ने आमी नदी के तट पर मगहर में ही एक अच्छा-सा स्मारक बनवाया। मगहर ऐतिहासिक स्थान है, हिन्दुओ की ओर से कबीर की समाधि भी वही बनायी गयी। मगहर कबीर की तपोभूमि होने के नाते पवित्र तीर्थ है, उसके कण-कण मे सत्य, ज्ञान, तप, प्रेम और पुण्य का निवास है। कबीर जननायक थे, लोकसन्त थे, उन्होने लोक में अलौकिक आत्मज्योति की रामरूप मे अभिव्यक्ति सिद्ध की। वे उच्चकोटि के ज्ञानी सन्त थे।

रचना

कबीरदास ने जन-बोली में सन्त साहित्य प्रस्तुत किया। शिष्यों ने समय-समय पर उनकी वाणी का संकलन किया। साखी, शब्द, रमैनी, बीजक आदि उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
अपना मन सीतल करै, औरन को सुख होय॥
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजों आपना, मुझसा बुरा न कोय॥
बडा भया तो क्या भया, जैसे पेड खजूर।
पन्थी को छाया नही, फल लागै अति दूर॥
सुखिया सब संसार है, खावै, अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै॥
एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा, जाके राम अधारा॥
कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोय।
राम कहे तेरा भला होयगा, नहिं तेरा भला न होय॥
कबीर राम न छोडिये, तन-धन जाय तो जाय।
चरन कमल चित बोधिया, रामहि नाम समाय॥
लूटि सकै तो लूटियो, राम-नाम है लूट।
पीछे ही पछितावगे, यह तन जैहे छूट॥
तन को जोगी सब करै, मन को बिरला कोय।
सब विधि सहजे पाइये, जे मन जोगी होय॥
कबीर कहा गरवियो, काल गहे कर केस।
न जानें कहाँ मारसी, कै घर कै परदेस॥
तोकों पीव मिलेगे, घूँघट का पट खोल रे।
घट-घट में वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे॥
धन-जोबन का गरब न कीजै, झूठा पँच रंग चोल रे।
सुन्न महल में दीया बार ले, आसन सो मत डोल रे॥

जोग-जुगत मो रग-महल में, पिय पायो अनमोल रे।
कहै 'कबीर' आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

नैहरवा हमको न भावै।
साई की नगरी, परम अति सुदर, जहँ कोई जाय न आवै।
चाँद-सूरज जहँ पवन न पानी, को सदेस पहुँचावै।
दरद यह साई को सुनावै॥
आगे चले पन्थ नहिं सूझै, पीछे दोस लगावै।
केहि विधि ससुरे जाउ मेरी सजनी, विरहा जोर जनावै।
विषय-रस नाच नचावै॥
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई, जो यह राह बतावै।
कहत 'कबीर' सुनो भाई, साधो सपने न प्रीतम पावै।
तपन यह जिय की बुझावै॥

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहै के ताना, का है के भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इगला-पिंगला ताना-भरनी, सुखमन तारसे बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दस चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साइं के सियत मास दस लागे, ठोक-ठोक के बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढे, ओढि के मैली कीनी चदरिया।
दास 'कबीर' जतन से ओढी, ज्यो-की-त्यो धरि दीनी चदरिया॥

हमका ओढावै चदरिया, चलती बिरिया॥
प्रान राम जब निकसन लागे, उलट गई दोउ नैन पुतरिया।
भीतर से जब बाहर लाये, छूट गई सब महल अटरिया॥
चार जने मिलि खाट उठाइनि, रोवत ले चले डगर डगरिया,
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, सग चली वह सूखी लकरिया॥

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो॥
उठो सखी मोरी माँग सवारो, दुलहा मोसे रूठल हो।
आये जमराज पलग चढि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो॥
चारजने मिलि खाट उठाइनि, चहुँ दिसि धू-धू ऊठल हो।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, जग से नाता टूटल हो॥

सन्त पीपा

प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायो।
सत्य कहो तिहिं सक्ति सुदृढ़ हरि सरन बतायो॥
रामानन्द-पद पाइ भयो अति भक्ति की सीवा।
गुण असंख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवां॥
परसि प्रनाली सरस भइ सकल विस्व मगल कियो।
पीपा प्रताप जगवासना नाहर को उपदेश दियो॥

—भक्तमाल

सन्त-चरित्र की प्रधानता अलौकिकता, दिव्यता और सिद्धि-सम्पन्नता में है। सन्त-चरित्र का वर्णन अद्भुत कार्य है, भगवान की प्रसन्नता और कृपा से सन्त-चरित्र का बखान करने की क्षमता मिलती है। सन्त पीपा एक विलक्षण सन्त थे। उनका चरित्र परम अद्भुत है। वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे, सिद्ध और परम भगवद्विश्वासी महात्मा थे। रैदास और कबीर के समकालीन थे, वे सन्त पीपा की भगवद्भक्ति और निर्मल श्रद्धा के बडे प्रशसक थे। सन्त पीपा ने रैदास और कबीर की ही तरह अपने आराध्य राम की चराचर में अनुभूति की। स्वामी रामानन्द ने कबीर, रैदास, पीपा आदि सन्तो के अध्यात्मबल और साधना के सहारे समाज में आध्यात्मिक क्रान्ति की। सन्त पीपा की सबसे बडी मौलिकता यह है कि उन्होने विशाल राज्य और अधिकार पर लात मार कर, विषय और भोगसुख को तिलाञ्जलि देकर रामानद की चरणधूलि सिर पर चढा कर अन्तरव्यापी परमतत्व राम का भजन किया। वे गागरौन गढ के राजा थे। परम ऐश्वर्य-सम्पन्न थे। वे मेवाड के सीसौदिया कुल के महाराणा कुम्भ के सम्बन्धी थे। सन्त पीपा के वशज राजा अचलदास का विवाह राणा कुम्भ की वहिन से हुआ था। राजा पीपा खीची चौहान थे।

राजा पीपा का जन्म सम्वेत् १४४२ वि. के लगभग हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनमे भक्तिभावना अकुरित थी। वे देवी के परम भक्त होते हुए भी साधुओ और सन्तो की सेवा में सदा तत्पर रहते थे। राजसी ठाट-बाट मे उनका मन कम लगता, उनके बारह रानियाँ थीं। पर वे विपय-विलास में अनासक्त रहने थे।

एक बार गागरोन गढ में एक सन्त-मण्डली का आगमन हुआ। राजा ने सन्तो के भोजन आदि की पूरी-पूरी व्यवस्था करवा दी पर दर्शन के लिये स्वय न आये। सन्तों को राजा पीपा के आचरण से बडा विस्मय हुआ। सन्तों ने भगवान से राजा की बुद्धि सुधारने की प्रार्थना की। राजा पीपा रात को सो रहे थे। देवी ने उन्हे स्वप्न मे आदेश दिया कि काशी जाकर स्वामी रामानन्द से दीक्षा लो, इससे भगवान का दर्शन होगा। स्वप्न समाप्त होने पर आँखें खुल गयी। आधी रात का समय था। वे महामाया को प्रणाम करने के लिये चल पडे। काली मदिर से बाहर आने पर उन्होने काशी के लिये प्रस्थान किया। भगवान को पाने के लिये वे इतने उत्सुक थे कि उनके लिये परम सुलभ राजसुख और विनश्वर भोग्य पदार्थो मे नीरसता-ही-नीरसता दीखने लगी।

काशी में स्वामी रामानन्द के सामने उन्हे कडी-से-कडी परीक्षा का सामना करना पडा था। गगा में स्नान कर वे स्वामी रामानद की कुटी पर आये। रामानन्द ने अपने शिष्य से सन्देश भेजा कि मै राजाओ से नही मिलता। पीपा जी का मन तो सन्त के निवासस्थान के पवित्र वातावरण से प्रभावित हो चुका था, उनके हृदय में भगवान की भक्ति की तरगें लहरा रही थी। वे तो पूर्ण रूप से रामानन्द के पद-पकज पर सर्वस्व समर्पित करने के लिये ही काशी आये थे। उन्होने राजसी वस्त्र उतार दिये, पलमात्र में ही वे राजा से रंक हो गये। स्वामी रामानन्द उनके आचरण से बहुत प्रसन्न हुए। थोडी-सी परीक्षा शेप रह गयी, स्वामी ने कहा कि कुएँ में कूद पडो। पीपा कुएँ में कूदने ही जा रहे थे कि रामानन्द के शिष्यो ने उनको ऐसा करने से मना किया। स्वामी रामानन्द ने पीपा को दीक्षा दी। वे विरक्त वेप मे अपनी राजधानी मे लौट आये। साधु और सन्तों की सेवा में लग

गये। राजप्रासाद उनके लिये सन्यास-आश्रम बन गया। कुछ दिनो के बाद सन्त पीपा रामानन्द जी के दर्शन के लिये आकुल हो उठे। उन्होने गुरु को गागरौन पधारने का निमन्त्रण दिया। स्वामी रामानन्द अपने चालीस शिष्यों के साथ गागरोन गढ आये। इस यात्रा में सन्त कबीर और महात्मा रैदास भी स्वामी जी के साथ थे। सन्त पीपा ने गुरु के स्वागत में विशेष उत्सव किया, शोभा-यात्रा निकाली, अपने कन्धो पर उनकी पालकी उठाकर राजधानी में प्रवेश किया। रामानन्द के सत्सग और उपस्थिति से असख्य प्राणी धन्य हो गये।

कुछ दिनो तक गागरोन मे निवास करने के बाद रामानन्द ने द्वारका जाने की इच्छा प्रकट की। पीपा भी साथ जाना चाहते थे। उनकी बारह रानियो ने चलने की अनुमति माँगी। सन्त पीपा ने कहा कि सारे सुख को तिलाञ्जलि देकर, राजसी वेष का परित्याग कर, भूख-प्यास की चिंता किये बिना द्वारिका चलना होगा। रानियो ने साथ जाने का सकल्प छोड दिया। छोटी रानी सीता ने राजसी वेष उतार दिये, उनके हृदय में भक्ति के सस्कार थे, रामानन्द की अनुमति से वे द्वारका जाने का अवसर पा सकी। सन्त पीपा की आज्ञा साथ चलने के लिये उन्हे मिल गयी। द्वारका में सन्त पीपा का मन लग गया। रामानन्द स्वामी शिष्यो सहित काशी चले आये पर उनकी आज्ञा से पीपा द्वारका में रह गये। वे नित्य प्रति भगवान का दर्शन करने के लिये मन्दिर में जाया करते थे, उनका प्रेम भगवान के प्रति निरन्तर बढता गया। वे द्वारकापति के दर्शन को ही अपने जीवन का परम श्रेय समझते थे। वे अहू और काली सिंध नामक नदियो के सगम पर एक गुफा में ठहरा करते थे, नदी में स्नान कर पीपा गुफा के ही मार्ग से मन्दिर में जाया करते थे। वे एक बार कृष्ण-दर्शन के लिये इतने आकुल हुए कि भावावेश में समुद्र में कूद पडे। भगवान की कृपा से पीपा और उनकी पत्नी सीता का बाल बाका न हुआ। समुद्र में ही उन्हें रुक्मिणी-सहित कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ, वे भगवान के दिव्य धाम में सात दिनो तक रहे। उन्होंने प्रभु से निवेदन किया कि अब मै सदा पत्नी सहित यही रहना चाहता हूँ। भगवान ने सान्त्वना दी- कि यद्यपि आप का कथन उचित है तो भी लोक यह समझेगा कि

भगवान के विरह में समुद्र में कूदने वाले भक्त का प्राणान्त हो गया, ऐसी स्थिति में द्वारका नगर में आपका सीता सहित प्रकट होना नितान्त आवश्यक है, भागवती मर्यादा यही है। कृष्ण ने अपनी छाप दी। सन्त पीपा सीता सहचरी के साथ समुद्र से वाहर आ गये। द्वारका में उनकी जयध्वनि से चारो ओर आनन्द का समुद्र उमड आया। लोगो ने उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर चढा कर जीवन कृतार्थ किया। सन्त पीपा ने मन्दिर के पुजारी को भगवान की छाप दी, उन्होंने कहा–'जिनका इससे स्पर्श होगा वे भवसागर से पार उतर जायेंगे।' उनकी ख्याति दूर-दूर तक बढने लगी। लोग उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव रखने लगे। सन्त पीपा ने सम्मान-वृद्धि को अपनी साधना के मार्ग का वहुत वडा विघ्न समझा। उन्होने एकान्त स्थान में भगवद्भजन करने का निश्चय किया।

वे वन की ओर चल दिये। सघन जगल में पठानो ने सीता का हरण किया। पीपा भगवान के पादपद्म मे निश्चिंत होकर एकान्त में भजन करने लगे। भगवान कृष्ण ने सीता की पठानो के हाथ से रक्षा की। वे उनकी कृपा से पीपा के पास सुरक्षित चली आयी।

एक वार वे किसी सघन-वन में जा रहे थे। उन्हे एक सिंह दीख पडा। सन्त पीपा का दर्शन करते ही उसकी हिंसावृति का अन्त हो गया। उसने पीपा के चरणो में आत्मसमर्पण किया। सन्त पीपा ने सिंह को दीक्षा दी। इस घटना के वाद वे एक गाव में गये। उस गाव में उन्होने भगवान के शेषशायी विग्रह का दर्शन किया। लाठी वेचने वाले व्यक्ति से एक लाठी मागी। उसने पीपा से कहा हरे वास की लाठी काट लो। लाठी वेचने वाले की लाठियाँ जमीन में गड गयी, तत्काल उनको हरे वाँस के रूप में देखकर लाठी वेचने वाला आश्चर्य में पड गया। पीपा ने हरे वाँस से लाठी काट ली। उस व्यक्ति ने क्षमा माँगी। सन्त किसी का अपराध या दोष थोड़े ही देखते है। सन्त पीपा ने उसे गले लगा लिया।

पीपा के समकालीन चीघड—श्रीधर भक्त थे। यद्यपि वे परम कगाल थे तो भी उनका हृदय भगवान की भक्ति का धनी था। सन्त पीपा एक वार उनसे मिलने गये, साथ में सीता सहचरी भी थी।

भक्तराज ने उनका अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया। भोजन के समय चार पत्तल परोसे गये पर पीपा को आश्चर्य हुआ--श्रीधर की पत्नी की अनुपस्थिति से वे खिन्न हुए। उन्होने सीता को भक्तराज की पत्नी को लाने का आदेश दिया, कहा कि हम लोग एक ही साथ भोजन करेंगे। श्रीधर मौन थे। सीता ने भक्तराज के घर में प्रवेश किया, उन्होंने आवाज दी। श्रीधर की पत्नी ने कहा कि वहिन मै वस्त्र-हीन हूँ, लहगा बेच कर सन्त की सेवा में उसका उपयोग किया, बाहर नही आ सकती। सीता सहचरी ने अपना आधा वस्त्र फाड कर पहना दिया। सन्त पीपा ने भक्तराज और उनकी पत्नी की त्याग-वृत्ति की वडी सराहना की। उन्होने उनकी सहायता करने का निश्चय किया। राजपथ और बीच वाजार में पीपा दम्पति नाच-गाकर धन माँगने लगे। साध्वी सीता नाचती थीं और पीपा सारगी वजाते थे।

सन्त के जीवन की प्रत्येक घटना उपदेशप्रद और विचित्र होती है। सत के प्रत्येक आचरण में कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य रहता है। सन्त पीपा श्रीधर भक्त को कृतार्थ कर टोडे ग्राम आये। पोखरे पर स्नान करते समय कुछ मोहरें देखीं। उन्होने मोहरो की वाते सीता से कही। चोरो ने उनकी वाते सुनी। पीपा मोहरों के सम्बन्ध में यो ही बातें कर रहे थे, उनकी उनमें आसक्ति ही किस प्रकार होती! उन्होंने तो राजवैभव पर लात मार कर सन्यास लिया था। चोरो ने पोखरे के किनारे मोहरों के स्थान पर साँप-विच्छू का ढेर देखा, उन्हे वर्तन में भर कर चोरो ने सत पीपा के छप्पर पर छोड दिया, वे सब मोहरे हो गये। पीपा ने भगवान की कृपा समझ कर उनका उपयोग साधु-सन्तो की सेवा में किया।

टोडे के राजा सूरजसेन सत पीपा का दर्शन करने आये। उन्होने पीपा से दीक्षा ली, सारा राजपरिवार तथा धन उनके चरणों पर समर्पित कर दिया। सन्त पीपा ने कहा कि यद्यपि आपकी निष्ठा मेरे प्रति स्तुत्य है तो भी इन वस्तुओ को मेरी मानते हुए भी सत्कार्य में इनका उपयोग करना आपका कर्तव्य है। राजा सूरजसेन सन्त पीपा की अनासक्ति और निष्काम भगवद्भक्ति से वहुत प्रभावित हुए।

पीपा टोडे ग्राम में कुटी वना कर रहते थे। एक वनजारा बैल खरीदने आया। दुष्टो ने उसे वहका कर पीपा के स्थान पर भेज दिया। पीपा ने कहा, "कल दोपहर को बैल मिलेगे।' वनजारा रुपये रख कर चला गया। दूसरे दिन पीपा ने उन रुपयो का उपयोग सन्तो के भण्डारे में किया। वनजारा के आने पर उन्होने सन्तो की ओर सकेत किया कि भवसागर के खेप को उस पार ले जाने वाले मोटे-मोटे बैल हैं। वनजारा सन्त पीपा के चरणों पर गिर पडा। उन्होंने उसको दीक्षा दी।

पीपा सन्त-सेवा को वडा महत्व देते थे। सन्त को वे भगवान का रूप मानते थे। एक दिन वे किसी व्यक्ति के झगडे का पच वन कर सूरजसेन की राजसभा में गये थे। उनकी अनुपस्थिति में कुटी में कुछ सन्त आ गये। सीता सहचरी किसी वनिये के यहाँ से, रात को आने की वात कह कर भोजन का सामान लायी। पीपा सीता की सन्तभक्ति से वडे प्रसन्न हुए। वे अपने कन्धे पर सीता को विठा कर वनिये के घर रात को ले गये, पानी वरस रहा था। वनिये को वडा आश्चर्य हुआ, सीता के पैर तक भीगे न थे, उसे आत्मज्ञान हुआ, वह उनके चरणों पर गिर पडा, कहा कि माता मुझे क्षमा कर दो, मैं अनजान वालक हूँ। उसने पीपा से दीक्षा ली।

एक वार उनकी कुटी में एकादशी को कीर्तन हो रहा था, जागरण का व्रत चल रहा था। राजा सूरजसेन भी उपस्थित थे। पीपा उठकर खडे हो गये। हाथ मलने लगे। लोगो ने उनके हाथ में कालिख देखी। उन्होंने कहा कि द्वारका के मन्दिर में भगवान कृष्ण के चदोवे में आग लग गयी थी। मैं वुझा रहा था। राजा ने साडिनी-सवार भेज कर इस रहस्य का पता लगाया। वात ठीक थी। पुजारी ने कहा कि प्रत्येक एकादशी की रात को पीपा मन्दिर में उपस्थित रहते हैं, चदोवे में आग लग गयी थी। वे वुझा रहे थे।

एक वार एक रूपवती तेलिन 'तेल लो' कहती जा रही थी। पीपा ने कहा कि तुम्हारे मुख से 'सीताराम' का नाम अच्छा लगेगा। तेलिन ने कहा कि इस नाम का उच्चारण विधवा करती है। घर

लगभग छ सौ साल पहले की बात है। बघेलखण्ड का बान्धवगढ नगर अत्यन्त समृद्ध और समलकृत था। महाराजा वीरसिंह के राजकाल में इस नगर की प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी। बडे-बडे राजप्रासाद, भव्यभवन, रमणीय उपवन, स्वच्छ सरोवर और पवित्र देवमन्दिरो से बान्धवगढ नगर सुशोभित था। उसी के एक भाग में प्रकृति की हरी-भरी गोद में सेन नाई का निवास-स्थान था। वे बडे निस्पृह, उदार और सीधे-सादे व्यक्ति थे। राजा की सेवा में नियुक्त थे, वे निश्चित समय पर राजप्रसाद में राजा को तेल मलने तथा स्नान कराने के लिये नित्य प्रति जाया करते थे। अपने काम से काम रखते थे, जो कुछ मिल जाता था, सन्तोषपूर्वक उसी से अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। काम, क्रोध और लोभ आदि विकारों ने उनकी चित्तवृत्ति का स्पर्श तक नहीं किया था। वे भगवान के अटल विधान में पूरा विश्वास रखकर निश्चित रूप से जीवन का सदुपयोग करते थे। पूरे नगर में उनकी प्रशसा होती थी, वे सबको अपने परम आत्मीय के रूप में देखते थे। सब के प्रति समभाव रखते थे। राजा उनकी सेवा से सदा प्रसन्न रहते थे।. वे सतसेवा और हरिभजन में परमानद का अनुभव करते थें।

सत सेन नित्य प्रति बडे सबेरे शौच आदि से निवृत्त होकर भगवान की आराधना में लग जाते थे। भगवान की पूजा समाप्त करने के बाद ही वे राजा की सेवा के लिये राजप्रासाद में जाते थे। एक दिन उनके जीवन ने विचित्र घटना देखी। वे बाल बनाने के सामान की पेटी लेकर राजप्रासाद की ओर जा ही रहे थे कि रास्ते में उनको एक सन्त-मण्डली मिली, सन्त-दर्शन के आनन्द में वे आत्मविभोर हो गये। उन्हे इस बात की तनिक भी चिन्ता नही रही कि राजा की सेवा के लिये राजप्रासाद जाने का समय हो गया है। वे सन्तो को साथ लेकर अपने घर आये। उनका यथाशक्ति स्वागत-सत्कार किया। सत्सग होने लगा। सन्त सेन सत्सग और कीर्तन में लग गये। सन्त-मिलन के समान उनकी दृष्टि में उस समय कोई दूसरा सुख ही न था।

सन्त सेन को तनिक भी बाह्य ज्ञान नहीं था। अधिक धूप चढ चुकी थी। राजा के स्नान का समय हो गया था। वे बडी

उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे। भगवान अपने भक्त की मर्यादा की रक्षा करने के लिये सदा प्रस्तुत रहते है। जिनके ध्यान में ब्रह्मा, विष्णु और महेश, बडे-बडे देवता, महर्षि, मुनि और ज्ञानी रात-दिन निमग्न रहते है उन्होंने सन्त सेन के रूप में राजा को दर्शन दिया। भगवान ने भक्त की चिंता को दूर करने के लिये मोरपख का त्याग कर नाई की पगडी बाध ली, कुण्डल, वैजन्तीमाला, कौस्तुभ मणि उतार कर उन्होने तन ढकने के लिये सेन की तरह वेष बना लिया। शख, चक्र, गदा, पद्म का परित्याग कर जगत्पति ने कन्धे पर बाल बनाने की पेटी रख ली। जिनके चरणो की सेवा के लिये ऋद्धि-सिद्धि तरसती रहती है वे स्वय बान्धवगढ के राजपथ से राजप्रासाद में पहुँच गये।

सेन के रूप मे प्रभु का दर्शन कर राजा वीरसिंह को अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ, उनके अग-अग में अमृत प्रवाहित हो उठा। प्रभु ने राजा के शरीर में तेल मल कर स्नान कराया, नित्य के कार्य पूरे किये। उनके कोमल करो के स्पर्श से वीरसिंह परम मुग्ध हो उठे। राजा ने कहा कि सेन तुम यहीं रहो। मेरे राजप्रासाद में ही रहकर मुझे अपनी सेवा से तृप्त करते रहो। उन्हे क्या पता था कि जिनके चरणो के लालन के लिये लक्ष्मी सदा हाथ जोड कर खडी रहती है वे प्रभु स्वय राजप्रासाद में सामने खडे है। वीरसिंह ने ठीक ही कहा था, जीव प्रभु को पाने पर उनसे विलग नही हो सकता है, वह तो भगवत्मय जीवन को ही अपना स्वाभाविक धर्म समझता है। सन्त सेन के वेष में आनेवाले प्रभु ने नित्य सेवा पूरी की, बाल बनाने की पेटी रख कर वे क्षणमात्र में राजप्रासाद से बाहर हो गये। राजा वीरसिंह में लोगो ने बडा परिवर्तन पाया, वे सेन के वियोग से परम दुखी थे। भगवान और उनके भक्तो की प्रत्येक लीला विचित्र होती है।

इधर सन्त सेन की मानसिक स्थिति विचित्र थी। एक ओर तो उनके हृदय में सन्तसेवा और सत्सग तथा कीर्तन से उत्पन्न प्रसन्नता थी दूसरी ओर उनके मन मे राजा की सेवा में ठीक समय पर न पहुँचने की चिन्ता थी। सन्त-समागम के बाद उन्होने बाल बनाने की पेटी कन्धे पर रख कर राजभवन की ओर प्रस्थान किया। उन्हे राजपथ में जो लोग देखते थे वे ही उनकी प्रशसा करने लगते थे

कि राजा आज की सेवा से वहुत प्रसन्न हैं। सेन की समझ मे कुछ भी न आया, प्रतिपल उनका आश्चर्य बढता गया कि विलम्ब होने के नाते लोग मेरा मजाक उडा रहे है। सेन राजद्वार पर पहुँच गये।

सैनिक ने प्रसन्नतापूर्वक पूछा कि भीतर कुछ भूल तो नही गये।

सेन ने सोचा कि मैं तो भीतर गया ही नही था, वे चिंतित हो उठे। सैनिक ने कहा- कि राजा आज वहुत प्रसन्न हैं। सन्त सेन समझ गये कि प्रभु ने, जगन्नाथ मदनमोहन राघवेन्द्र ने—नन्दनन्दन कृष्ण ने राजा को दर्शन दिया। उनके अग-अग पुलकित हो उठे। प्रभु को मेरे कारण इतनी चिंता करनी पडी, पृथ्वी पर मुझसे वढकर अभागा दूसरा है नही, मै महापापी हूँ, भगवान को इतना कष्ट उठाना पडा। उनकी आँखो से अश्रुधारा वरसने लगी। उन्होने विचार किया कि राजा वीरसिंह कितने भाग्यशाली है, प्रभु ने उन्हे दर्शन दिया, उनका जन्म लेना कृतार्थ हो गया। सेन उनके दर्शन के लिये दौड पडे। राजा वीरसिंह के मुखमण्डल पर दिव्यता मुसकरा रही थी, हृदय में भक्ति की गगा वह रही थी, वे सेन को देखते ही दौड पडे। उन्होने सेन का आलिगन किया, कहा कि फिर तेल लगा दो। मै दोवारा स्नान करूँगा। उन्होने सेन की ओर देखा। सेन का अग-अग रोमाञ्चित था। उन्होने राजा की भाग्य-सराहना की कि लीलापति श्यामसुन्दर भुवनमोहन भगवान ने उनको धन्य कर दिया। राजा वीरसिंह विस्मित थे, उन्होने सेन की चरण-धूलि मस्तक पर चढा ली। राजा ने कहा कि आप मेरे गुरु है, आपकी भक्ति के प्रताप से भगवान के दर्शन से मै सपरिवार कृतार्थ हो उठा। यह राजवश जन्म-जन्म तक आप और आपके परिवार का ऋणी रहेगा। सेन को वैराग्य हो गया।

सन्त सेन ने कुछ दिन तक वान्धवगढ में निवास किया। उन्होने स्वामी रामानन्द से दीक्षा लेकर तीर्थयात्रा का कार्यक्रम पूरा किया। वे वान्धवगढ से पण्ढरपुर चले आये। विठ्ठल की भक्ति में सरावोर हो गये।

उन्होंने सन्त ज्ञानेश्वर का सत्सग किया। वे ज्ञानेश्वर की ज्ञान-भक्ति से वहुत प्रभावित थे। उन्होने सन्त ज्ञानेश्वर के स्तवन में अनेक अभगो की रचना की। वे ज्ञानेश्वर को अपना सखा मानते थे। उनकी

उक्ति है कि 'मेरे सखा ज्ञानेश्वर विष्णु के अवतार हैं। चलो, चलो, अलकापुरी इन्द्रायणी में स्नान करने से मुक्ति चरणो मे लिपटती है। सेन ज्ञानेश्वर के चरणो में लोटने आया है। वह भूमि धन्य है जिस पर ज्ञानेश्वर का निवास है। वे प्राणी धन्य है जो ज्ञानेश्वर का दर्शन करते है।'

सेन भक्त के साथ-ही-साथ ज्ञानी भी थे। उनके सन्तमत की नीव ज्ञान और भक्ति के समन्वय पर है। वे समस्त प्राणी मे अपने प्रियतम भगवान का दर्शन करते थे, वे रामानन्द के चरण-चिह्नो पर पूर्णरूप मे चलने वाले थे। अपने पण्ढरपुर-निवासकाल में उन्होने विट्ठल के सम्बन्ध में अनेक अभग लिखे जो भक्तिरस से परिपूर्ण है। वे विठ्ठल में पूर्ण अनुरक्त थे। उनकी उक्ति है 'विठ्ठल के दर्शन से मेरे मन की विषय-वासना का अन्त हो गया। राम-कृष्ण के प्रेमपूर्वक नाम-उच्चारण से काल दूर भाग जाता है। समस्त दोष मिट जाते हैं। उनके नाम का ऐसा प्रताप ही है। नाम से ताप नष्ट होते हैं। मुख से निरन्तर रामनाम का उच्चारण करते रहना चाहिये।' उनकी भगवन्नाम-भक्ति निस्सन्देह असाधारण कोटि की है। सेन की साधना में सकीर्तन और भजन मुख्य स्वीकार किये जा सकते हैं। सेन भजनानन्दी महात्मा थे। तत्कालीन सन्तसमाज ही भजनानन्दी था। रामानन्द के प्रमुख शिष्य भजन में तल्लीन थे, पण्ढरपुर कीर्तन और भजन का गढ था। सेन का कथन है कि कीर्तन प्रेम का सुखसाम्राज्य है। आनन्दपूर्वक हरि के गुणो का गान करना चाहिये। वैष्णवो का सग करना चाहिये। लोकलाज की तनिक भी चिन्ता न कर रामकृष्ण नारायण का ही मन्त्र निरन्तर सतो के सग मे रह कर जपना श्रेयस्कर है। उनका चित्त सदा विठ्ठल के चरण में लगा रहता था, अन्तर मे उन्ही का स्मरण होता रहता था। सन्त-समागम ही उनका प्राणधन था। सन्त सेन के नाम पर सेन-पथ का भी उल्लेख मिलता है।

सन्त सेन की कथनी-करनी की समानता उनके दिव्य जीवन की विशेषता थी। वे महान सन्त, परम ज्ञानी और प्रेमी-भक्त थे, महात्मा थे।

रचना

उनका पद गुरुग्रन्थ साहब में सग्रहीत है। मराठी में उन्होने लगभग एक सौ पचास अभगो की रचना की थी।

पद

धूप-दीप घ्रित साजि आरती, वारने जाउ कमलापती।
मगला, हरिमगला। नित मगल राजा राम राइ को।
उत्तम दीअरा निरमल बाती। तुही निरञ्जन कमलापती।
राम भगति रामानन्दु जानै, पूरन परमानन्द बखानै।
मदन मूरति भवतारि गोविन्दे, 'सेन' भनें भजु परमानन्दे।

सन्त वेमना

'सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वय भी वही है—जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।'

—भगवद्गीता

सन्त वेमना निर्गुण ज्ञानधारा के शिवयोगी थे, शैव सन्त थे, उन्हे दक्षिण भारत—विशेपरूप से आन्ध्र का कबीर स्वीकार किया जाता है। उन्होने समाज में आध्यात्मिक क्रान्ति की। उनके शिव का स्वरूप सर्वथा निराकार, अलख और अमूर्त है। यद्यपि वे वीरशैव धर्म में दीक्षित थे तो भी उन्होने साम्प्रदायिक सिद्धान्त से अतीत परम शिव तत्व की उपासना की। वेमना ने तत्कालीन समाज में प्रचलित कुरीतियो, अन्धविश्वास और रूढिगत जडता की कड़ी आलोचना की, उन्होने पन्द्रहवी और सोलहवी शती के दक्षिण भारत का आध्यात्मिक नेतृत्व किया, वे लोकसन्त थे। 'हरि को भजने वाला हरि का ही हो जाता है'—सिद्धान्त का नेतृत्व रामानन्द के शिष्य कबीर, रैदास और सेन आदि उत्तर भारत में कर रहे थे तथा, 'शिव को भजने वाला शिव का ही हो जाता है' इस उक्ति को शैव दक्षिण भारत में उसी समय वेमना आदि सन्त और महात्मा अपनी कथनी और करनी में चरितार्थ कर रहे थे, इस प्रकार का आन्दोलन निस्सन्देह अखिल भारतीय था। सन्त वेमना ने विक्रमीय पन्द्रहवी शती के दूसरे चरण से विक्रमीय सोलहवी शताब्दी के प्रथम चरण की अवधि को अपनी उपस्थिति से धन्य किया। वे स १४६९ से स १५३७ वि तक सम्भवत· विद्यमान थे। भारतीय अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में यह समय कर्ममार्ग के तिरस्कार और भक्तिमार्ग के अवलम्बन का था। उत्तर भारत में वैष्णवो और दक्षिण भारत में शैव सन्तो का सामाजिक चेतना पर पूरा-पूरा आधिपत्य था।

वेमना अपने समय की एक वहुत वडी आवश्यकता थे। समाज को सुधारवादी सन्तो की नितान्त अपेक्षा थी। साधना और उपासना का क्रम नित्य प्रति बिगड़ता जा रहा था। विष्णु और शिव का नृत्य-गान से मनोरजन करनेवाली देवदासियो और वसिवियो के कारण मन्दिर पाप और वासना तथा व्यभिचार के गढ वन गये थे। लोग विषय-वासना के नारकीय कीडे वन रहे थे। ऐसी स्थिति में सन्त वेमना ने शुद्ध आत्मस्वरूप शिव की उपासना का प्रचार किया। पाप और व्यभिचार की भावनाओं का खण्डन किया। वेमना सन्त कवि थे। निम्न रेड्डी वर्ग में जन्म लेकर भी उन्होने उच्च-से-उच्च आत्मज्ञान दिया। तेलुगु साहित्य में सन्त वेमना को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्होंने वेदान्तवेद्य परमात्मतत्त्व शिव की खोज की। वे वीरशैव सम्प्रदाय में पैदा हुए थे। सासारिक विषय-सुखो का अच्छी तरह भोग कर उन्होने योग-सिद्धि प्राप्त की थी, सक्षेप में यही उनकी जीवन-कथा है। शूद्र जाति के रेड्डी परिवार में जन्म लिया था। उनके पिता शिव के वडे भक्त थे। वे सन्तों और भक्तो की सेवा से वडे मुदित होते थे। वेमना के बचपन को उन्होने विशेष रूप से प्रभावित किया था। वेमना के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अनेक मत है। दत्तमण्डल के अन्तर्गत कटारू-पल्लि नामक ग्राम को कुछ लोग उनका जन्म-स्थान मानते हैं। वहुतों की मान्यता है कि गुण्टूर से बीस मील की दूरी पर एक बडे उपनगर में उनका जन्म हुआ था। वेमना के एक पद से पता चलता है कि नेल्लूर जिले के मूगचिन्तल गाव में उन्होने जन्म लिया था। यह वात असदिग्ध है कि वे मूगचिन्तल में ही पैदा हुए थे। वेमना प्रतिभा-सम्पन्न थे। वचपन से ही घर में उन्हें किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नही हुआ। उनके माता-पिता वडे सम्मानित और धनी थे इसलिये वेमना के पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा में किसी प्रकार की त्रुटि नही रह सकी। उनका जीवन विलासी और विषयी हो चला।

वेमना का जीवन पूर्ण सासारिक हो चला। वे घरवालो की तनिक भी चिन्ता किये विना सारा घन वेश्या के घर ले जाने लगे। तत्कालीन समाज के अधिकाश लोग वेश्यागामी और विलासी थे। इस वाता-वरण का प्रभाव वेमना के मन पर भी पडा था। वे अपने-आपकी

कामवासना और व्यभिचार की आग से रक्षा नही कर सके। भोग और विषय से उन्हे शान्ति न मिली। वे अपनी भाभी नरसम्मा में वडी श्रद्धा रखते थे, भाभी के साथ ही रहते थे। एक दिन उन्हे उदास देखकर नरसम्मा ने कहा कि भैया, अडोस-पडोस के लोग आपका मजाक उडाते है, धनी लोग आपको उजड्ड और आवारा कहते है, यदि आप विवाह कर ले तो समाज वाले आपकी इस तरह निन्दा नहीं करेगे। वेमना ने भाभी के कहने से विवाह कर लिया। उन्होने दाम्पत्य-जीवन में प्रवेश किया, वहुत दिनो तक सुखपूर्वक जीवन के अनेक वसन्त रागरंग और मस्ती मे विताये। यद्यपि उनकी पत्नी वहुत कडे स्वभाव की थी तो भी वे उसके प्रेम में रात-दिन डूबे रहते थे, उनकी आसक्ति इतनी वढ गयी कि एक पल के लिये भी पत्नी से अलग रह जीवित रहना उनके लिये कठिन हो गया। उन्होने नौकरी की पर उसमें भी उनका मन नही लगता था, परिवार वाले उनसे अप्रसन्न रहते थे, वेमना को अपने-आप पर घृणा लगी। वे सोचने लगे कि मुझे घिक्कार है, मैं तो आया था आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये, शिव की भक्ति के लिये और उलझ गया विषयवासना में, मैं कितना पापी हूँ कि जिस स्थान मे मैंने जन्म लिया उसी का भोग--दाम्पत्य-जीवन में प्रवेश कर--करने लगा, मैं कितना पतित हूँ कि वचपन में मैंने जिस स्थान से दूध पीया उससे स्त्री की प्रसन्नता के लिये आसक्त हो गया। वे भगवान शिव से प्रार्थना करने लगे कि देव, मुझे पापपक और व्यभिचार के रौरव तथा वासना के कुम्भीपाक से शीघ्र ही वाहर निकाल कर अपने भजन और प्रेम मे मग्न कर दीजिये। स्त्री के कलहकारी स्वभाव से खिन्न होकर ऐश्वर्य और भोग-विलास की क्षणमात्र में उपेक्षा कर वे सन्यास लेने के लिये प्रस्तुत हो गये। सन्यास के संस्कार तो उनमें विद्यमान थे ही। दस-ग्यारह साल की ही अवस्था मे वे वैराग्य-पूर्ण कविता भी लिखने लग गये थे, नरसम्मा के सम्पर्क मे उनकी चित्तवृत्ति में पहले से ही सन्यास के वीज अकुरित हो, रहे थे। गृहस्थी उनके लिये भार हो गयी, सन्यास उनके लिये परमानन्दरूप शिव की प्राप्ति का अचूक साधन वन गया। वे घर से निकल पडे।

उन्होंने लम्बिका शिवयोगी से शिवमन्त्र की दीक्षा ली। वे उनकी सेवा मे लग गये। लम्बिका योगी स्वर्णयोग में वडे निपुण

थे, वेमना ने स्वर्ण बनाने की कला सीखने के लिये उनसे दीक्षा ली पर थोडे ही समय में स्वर्णयोग की वात भूल गये, उन्होने हठयोग की साघना की। वे वहुत वडे आत्मज्ञानी—शिवयोगी हो गये। पूरे दिगम्वर हो गये, स्त्री-पुरुष के भेदभाव से परे वस्त्रहीन होकर इधर-उधर घूम कर शिवतत्व का प्रचार करने लगे। उन्होने लोगो को समझाया कि मा के गर्भ मे जन्म लेते समय मानव ने कपडा देखा तक नही और शरीर छोडते समय भी उसका वह अनुसरण नही करता है, इसलिये जन्म और मरण के मध्यन्तर में वस्त्रधारण करना हास्यास्पद है। योगी वेमना ने कहा 'मैंने अपने हृदय में कोई घण्टारव सुन लिया है, निर्मल ज्योति देखी है, उसी ज्योति के अनुसन्धान से मैंने परम शिव—ब्रह्म का दर्शन कर लिया है। यह मिथ्या भाषण नही है।' इस प्रकार योगी वेमना ने भोग के स्थान पर योग का वरण कर लिया, ससार के स्थान पर हृदय में शिव की प्रतिष्ठा की, लौकिक अशान्ति और चिन्ता को अलौकिक शान्ति और शिवभक्ति में रूपान्तरित किया, शिव-ज्योति देखी। लम्विका शिवयोगी के रूप में उन्हे योग्य गुरु की प्राप्ति हो गयी। उनकी दृढ मान्यता थी कि जब तक मुझे योग्य गुरु की प्राप्ति नही होगी, मेरे लिये ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। वे कहा करते थे कि जिस प्रकार अन्धकार के नाश के लिये दीपशिखा और रोग का अन्त करने के लिये चिकित्सा की आवश्यकता है उसी प्रकार भवरोग के अन्त के लिये गुरुचरणारविंद-मकरन्द और हृदय के अन्धकार के लिये शिवमन्त्र की अपेक्षा है। वेमना ने अपने हृदय में शिव की—परम ज्योति की खोज की, उन्होने अनुभव किया कि शिव को अपने आप में ही खोजना चाहिये, आत्मा ही शिव है। अपने वचन में उन्होने कहा है कि हाथ में मक्खन लेकर घी की खोज में निकलने वाले मूर्ख की तरह ससारी जीव हृदय मे भगवान को रखकर—भगवान होकर भी उनकी खोज किया करता है।

सन्त वेमना ने अपने अनुयायियों के लिये कई नियम वनाये जिनमें सात प्रमुख है। उन्होने अपने साथ चलने वालों को समझाया कि चोरी नही करनी चाहिये, दूसरो का हृदय नही दुखाना चाहिये, दूसरो की समृद्धि और उन्नति से नही जलना चाहिये, जीवमात्र पर

दया, ईश्वर का सदा चिन्तन करना चाहिये तथा क्रोध छोडना चाहिये और यथालाभ संतुष्ट रहना चाहिये।

वेमनाकालीन भारत में दो सिद्धान्तो—अद्वैत और वीरशैव की प्रधानता थी। वेमना वीर शैव सिद्धान्त के अनुयायी थे। इस सिद्धान्त के अनुसार शिवतत्व सहज शक्ति से लिंग और अंग के रूपों में परिणत हो जाता है। शक्ति, कला और भक्ति रूप में विभाजित हो जाती है। कला शिव में आत्मस्थ होकर सृष्टि में सहायता देती है और भक्ति जीव में रहकर मुक्ति का कारण बनती है। जीव शिव के साथ मुक्ति का अनुभव करता है। वीरशैव सिद्धान्त में इस मुक्ति के लिये योग का आश्रय लिया जाता है। वेमना ने शिव के साथ मुक्ति का अनुभव करने के लिये योग का आश्रय लिया। वेमना ने शिव-योगी होकर भी वीरशैव धर्म की कमजोरी को प्रकाशित करने का साहस किया, जो कार्य उत्तर भारत में सन्त कबीर ने किया उसी की पूर्ति वेमना ने दक्षिण भारत में की। उन्होने वैष्णव और शैव दोनों के पाखण्ड और दम्भ की कडी आलोचना की। उन्होने कहा कि वैष्णव नाममात्र से वैष्णव रह गये है, वे प्रजा को भ्रष्ट करते है, इसी प्रकार वीरशैव के सम्बन्ध में कहा कि वे लिङ्गधारी चोर है, ब्रह्म समस्त विश्व में व्याप्त है, अपने भीतर है, त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश ब्रह्म नही है। वेमना ने जो कुछ भी कहा उसके मूल में उनकी अनुभूति प्रधान है। उन्होने स्पष्ट कहा कि 'ब्रह्मा की लिखावट के विरुद्ध बोलने वाला, आदि विष्णु और शिव के विरोध में खडा होने वाला केवल वेमना है। माया में जन्म लेकर तथा पलकर जो माया को नही जानता है उसका जीवन व्यर्थ है, जो जानता है उसका जीवन धन्य है।'

वेमना ने अपने समकालीन समाज से कहा कि 'पोथो-के-पोथे पढ जाने मात्र से ही नीच व्यक्ति सभ्य और संस्कृत नहीं हो जाता है। उसके मन का ओछापन दूर नही होता है। भला अपनी पीठ पर इत्र आदि ढोने से कही गदहा गौरवान्वित होता है।' वेमना पार्वती-पति शिव नही—आत्मव्यापी निर्गुण शिव के उपासक और भक्त थे। वेमना कर्मबन्धन से मुक्त ज्ञानी थे। वेमना ने समस्त विश्व मे परमात्मा की व्याप्ति की अनुभूति की। उन्होने बताया कि परमात्मा का विश्व

से पृथक् अस्तित्व ही नही है, समस्त ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर है, वायु प्राण है, सूर्य, चन्द्र और अग्नि उनके नेत्र हैं, विश्व त्र्यम्बक का विराट् रूप है। परमात्मा की भक्ति का स्वरूप-विवेचन करते हुए वेमना ने कहा कि रति की इच्छा से जिस प्रकार पुरुष अपनी स्त्री को मनाता है, सच्चा योगी भी उसी तरह की उत्कठा और दीनता से परमगति पाने के लिये परमात्मा की उपासना करता है—उनको मनाता है। वे भगवद्भक्ति को पूर्वजन्म का फल मानते थे और शिव तथा विष्णु के मन्त्र में उनकी भेद-दृष्टि नही थी। उनका निश्चित मत था कि गगाधर शिव ही सच्चे देव है, सगीत ही कर्णमधुर अनाहत नाद है, ससार में स्वर्ण ही उपभोग्य है, अगज काम ही मृत्यु का कारण है, नैतिक पतन ही वास्तविक मृत्यु है।

वेमना ने नया पन्थ चलाया, उन्होने समाज में आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म देकर उसका नवीन चेतना से शृगार किया। उन्होने जीवन के अन्तिम दिनों में समस्त आन्ध्र देश की यात्रा की। दिगम्बर वेमना को पत्थर मार-मार कर पागल समझकर लोग नगर और गाँव से बाहर कर दिया करते थे पर वेमना तो शिव के सच्चे योगी थे इसलिये उनपर इस व्यवहार का तनिक भी प्रभाव नही पड सका। वे दिन-रात श्मशान में ही रहने लगे। धीरे-धीरे उनके शिष्यो की सख्या बढ गयी, वे पेड की छाया में बैठ कर उनकी जिज्ञासा की निवृत्ति और शका का समाधान करते थे।

निस्सन्देह सन्त वेमना दक्षिणी कबीर थे। उन्होने कहा कि शूद्रो की निंदा नही करनी चाहिये, उनके हृदय में निवास करने वाले परमात्मा की कोई जाति नही है, प्राणीमात्र परमात्मा के—शिव के ही रूप है। वेमना ने अभय होकर कहा कि झण्डा फहरा कर, ढिंढोरा पीट कर घोषणा करनी चाहिये कि परमात्मा एक है। प्रत्येक प्राणी के हृदय में उनका निवास है। साधनामार्ग पर चल कर दर्शन करने वाले को वे आनन्दसमुद्र में डुबा देते है, वे आनन्दस्वरूप है। वेमना उच्चकोटि के समाज-सुधारक थे। वे राष्ट्रीयता, एकता, समता और आध्यात्मिकता के देवदूत थे, भगवद्दूत थे।

वेमना ने अन्त समय में मौन धारण किया था, जूठन खाकर, जमीन पर सोकर जीवन विताते थे। सडसठ साल की अवस्था में उन्होंने पामूर नामक गाव के पास एक गुफा में प्रवेश कर समाधि ली। अनन्तपुर जनपद के कटारुपिल्ल गाँव में उनका एक मदिर है, वेमना की समाधि है। स १५३७ वि में वे शिव में लीन हो गये। सन्त वेमना महायोगी थे।

रचना

उनके पदो की सख्या लगभग तीन हजार है, आशुकवि थे। जनभाषा में अपने विचार प्रकट किये।

वाणी

वेमना का दृढ निश्चय है कि परतत्व—शिव का दर्शन करने वाला ही ब्राह्मण है। जब तक देहस्थ परमात्मा का ज्ञान नही प्राप्त हो जाता है, सध्या, वन्दन, जप और वेदाध्ययन आदि निष्फल है।

विच्छू के डक और साप के जबडे में विप होता है पर खल जनो के सिर से पैर तक विप-ही-विप भरा रहता है।

सोने का पहाड मेरु ही जिनका धनुष है, चादी का पहाड—रजताद्रि जिनका आवास है ऐसे भगवान शिव तक को भिक्षाटन करना पडा है। कर्म-बन्धन कौन पार कर सकता है ?

हे परमपिता, आपसे स्वतन्त्र मेरी सत्ता कुछ भी नही है, आप खेलते है तो मै खेलता हूँ, आप हँसते है तो मै हँसता हूँ, आप सोचते है तो मै सोचता हूँ। आप रहते है तो मै रहता हूँ। मेरे सभी व्यापार, आप की ही लीलायें है।

हे भगवान, बुढापे में जब वात, पित्त और कफ का प्रकोप बढ जाता है, चित्त स्थिरता खो बैठता है, नेत्रो की ज्योति क्षीण हो जाती है, मृत्यु समीप आ जाती है तब मूर्ख मानव आपका उस समय किस प्रकार अन्वेपण कर सकता है ?

नदी का जल चाहे जितना भी गन्दा हो, समुद्र में मिलने पर पवित्र माना जाता है; इसी प्रकार मानव की वुद्धि भी अन्त में ब्रह्म में लीन होने पर सार्थक और पवित्र बन जाती है।

भगवान की सृष्टि में पुरुष की जाति शर्म से रहित है। जिस स्थान (योनि) से वह जन्म लेता है वड़ा होकर उसी के प्रति रुचि दिखाता है, शैशव में जिनसे दुग्धपान करता है यौवन में उन्ही को पकडने की लालसा रखता है।

सन्तो की सगति में रह कर मनुष्य सभी नीच गुणों-अवगुणो से मुक्त हो जाता है। चन्दन के लेप से देह की गन्ध ढक जाती है। सज्जन -गोष्ठी से बढ कर दूसरा कोई उत्तम काम नहीं है।

परम वैष्णव नरसी मेहता

'जो अनन्य भाव से मेरे में स्थित हुए भक्त जन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामे भाव से भजते हैं, उन नित्य एकी भाव से मेरे में स्थितिवाले पुरुषो का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

—भगवद्गीता

नरसी मेहता परम भागवत थे, वे गृहस्थ सन्त थे। गुजरात की परम पवित्र भूमि का सौभाग्य सर्वथा सराहनीय है कि उसकी रमणीय गोद में, दिव्य धूलि में नरसी मेहता ऐसे महान भगवद्रसिक ने जन्म लेकर भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित की, वे मध्यकालीन भारत के भक्ति-भगीरथ थे, निस्सन्देह वैष्णवता उनसे कृतार्थ और धन्य हो गयी। नरसी मेहता गुजराती साहित्य के आदि कवि स्वीकार किये जाते हैं, वे गुजरात के जयदेव थे, उनकी कृष्णभक्ति-माधुरी से सराबोर वाणी गीतगोविन्द की दिव्यतम प्रतीक कही जा सकती है। वे परम वैष्णव और रसिक भक्त थे, उन्होंने गुजरात ही नहीं, समस्त भारत के कण-कण में निष्काम भगवद्भक्ति का सृजन किया, भगवान उनकी साधना से परम प्रसन्न होकर पूर्णरूप मे उनके हो गये।

नरसी मेहता ने जूनागढ क्षेत्र को अपनी उपस्थिति से पवित्र किया था। जूनागढ में रावमाण्डलीक का शासन था। वे दिल्लीपति हुमायू के अधीन थे। भारत की केन्द्रीय राजसत्ता शक्तिहीन-सी थी, हुमायू के लिये बावर ने व्यवस्थित राज्य नहीं छोडा था, चारो ओर अशान्ति, अराजकता और विद्रोह की आशंका थी, ऐसे समय में नरसी मेहता ने एक प्रतिष्ठित नागर ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। उनका परिवार रावमाण्डलीक की कृपा का पात्र था, उनके बडे भाई वंशीधर मेहता जूनागढ के नगर-कोटपाल थे। लोग उनके परिवार का

बडा आदर करते थे। ऐसे ऐतिहासिक अराजकतापूर्ण समय में नरसी मेहता ने भगवद्भक्ति का साम्राज्य स्थापित किया। उन्होने कहा –

'भरतखण्ड भूतल माँ जनमी जेणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एना मात-पिता ने, सफल करी ऐने काया रे।'

उन्होने घोषणा की कि 'इस पृथ्वीलोक मे भक्तिरूपी एक महान पदार्थ है, वह ब्रह्मलोक में नही है। जिन्होने पुण्यो के द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया, वे अन्त में चौरासी के चक्कर में गिर पडे। हरि के भक्त तो मुक्ति न माग कर बार-बार जन्म मागते है जिससे वे नित्य सेवा, नित्यकीर्तन और नित्य उत्सव में नन्दकुमार भगवान श्रीकृष्ण को देखते रहें। इस पृथ्वी में जिन्होने भरतखण्ड मे जन्म लेकर गोविंद का गुण-गान किया उनके माता-पिता धन्य है, उन्होंने अपना जीवन सफल कर लिया।' नरसी मेहता की उक्ति है कि जो प्राणी हरि का भक्त नही है उसकी माता व्यर्थ ही दस मास बोझ ढोती रही। नरसी मेहता ने समाज को जागरुकता प्रदान की, भगवद्भक्ति की चेतना-ज्योति से उन्होने ससार के अज्ञान-अन्धकार से ग्रसित जीवमात्र को सोते से जगाया।

नरसी मेहता का जन्म सौराष्ट्र प्रान्त के जूनागढ में सम्वत् १४७० वि. में हुआ था। उनके एक पद से पता चलता है कि वे जूनागढ के निकट तलाजा गाँव मे पैदा हुए थे। उनके पिता कृष्ण-दामोदर और माता लक्ष्मीगौरी–दोनो बडे ईश्वरभक्त और धर्म-परायण थे, नरसी ऐसे भागवत बालक को जन्म देना उन्ही के सौभाग्य की बात थी। जब नरसी केवल पाच साल के थे, उनके माता-पिता ने स्वर्ग की यात्रा की। पालन-पोषण का भार उनकी दादी जयकुवरि के कन्धो पर आ पडा। नरसी के बडे भाई बशीधर सम्मानित राजपद पर अधिष्ठित थे, नगर में तथा नागरकुल में उनकी विशेष प्रतिष्ठा थी। जयकुवरि के धार्मिक और भक्तिमूलक सस्कारो का प्रभाव नरसी मेहता के विकास पर पडा। वे जन्म मे गूगे थे। अपनी दादी के साथ कभी-कभी हाटकेश्वर मन्दिर में भगवान शिव का दर्शन करने जाया करते थे। एक समय वे अपनी दादी के साथ शिवमदिर जा रहे थे, उसी समय वे केवल आठ साल के बालक थे।

रास्ते में एक साधु की कृपा से उनका कण्ठ खुल गया। जयकुंवरि ने साधु से घर चलने का आग्रह किया पर साधु गिरनार चले गये। ऐसी मान्यता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने ही साधु-वेष में अपने भक्त नरसी मेहता पर कृपा की थी। वे लीलानायक सब कुछ कर सकते है, उनकी कृपा से सम्भव असम्भव और असम्भव सम्भव के रूप में बदल जाते है। चलते समय साधु नरसी मेहता को 'राधाकृष्ण' मन्त्र का उच्चारण करते रहने के लिये कह गये थे।

नव साल की अवस्था में नरसी मेहता का विवाह कर दिया गया। उनकी सौभाग्यवती पत्नी माणिकगौरी परम रूपवती और सुलक्षण थी, उनका आचरण पति के अनुकूल था, वे उस समय सात साल की थी। नरसी मेहता रात-दिन भगवान के नाम का संकीर्तन किया करते थे, उनके अधरो पर 'राधाकृष्ण' मन्त्र सदा स्पन्दित होता रहता था, गृहस्थी सुखपूर्वक बीत रही थी, घर मे किसी प्रकार का अभाव नही था, बडे भाई वशीधर के वे स्नेहपात्र थे पर उनकी पत्नी दुरितगौरी नरसी दम्पति से मन-ही-मन जलती थी, उनके प्रति कठोर व्यवहार करती थी। अनेक प्रकार की यातना देती थी।

नरसी मेहता पन्द्रह साल के हुए। उनकी दादी जयकुंवरि जीवित थी। नरसी का अधिकाश समय सन्त-सेवा मे बीतता था, वे रास देखते थे, भजन गाते थे और बडी सात्विक वृत्ति से रहते थे। नरसी मेहता को घास लाने का काम सौंपा गया था। वे घोडे के लिये शाम को घास लाया करते थे। कालान्तर मे दो सन्ताने हुई। पुत्री का नाम कुंवरिबाई था, पुत्र का नाम शामलदास था। दुरितगौरी के कडे स्वभाव से सहम कर जयकुँवरि ने अपने जीते जी वशीधर को अनुकूल बना कर नरसी मेहता की कन्या कुंवरिबाई का विवाह काठियावाड के ऊना नामक गाव के श्रीरगधर मेहता के पुत्र वसन्त-राय के साथ कर दिया। जयकुँवरि के देहान्त के बाद दुरित-गौरी का मन बढ गया। वह नरसी मेहता के परिवार से प्रकट रूप से जलने लगी पर नरसी मेहता सदा उसे प्रसन्न करने की ही चेष्टा में रहते थे। दुरितगौरी इस बात को कभी नही सह सकती थी कि नरसी मेहता का परिवार उनके पति द्वारा कमाये धन का उपयोग

करे। एक दिन शाम को वे घास लेकर आये, वंशीधर कहीं बाहर गये थे, दुरितगौरी ने नरसी मेहता को फटकारना आरम्भ किया और पति के आते ही उन्हे घर के बाहर कर दिया। वैशाख पूर्णिमा की रात थी, वे रात में घर के बाहर चबूतरे पर पडे रहे, दूसरे दिन घर से बारह कोस की दूरी पर एक जंगल में चले गये, शिवमन्दिर में लिंग के सामने उन्होने माथा टेका, सात दिनो के कठिन तप के बाद भगवान शंकर ने उनको दर्शन दिया। वे भगवान शंकर के साथ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के दिव्य दर्शन के लिये द्वारिका की ओर चल पडे। भगवान शंकर नरसी मेहता को साथ लेकर कृष्ण के दिव्य धाम में पहुँच गये। नरसी मेहता ने दिव्य धाम का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। उनकी उक्ति है कि भूमि सोने की थी, भगवत्प्रासाद में विद्रुम और मणि के स्तम्भ थे। कण-कण मे दिव्यता का रमण था। श्रीकृष्ण ने भक्तराज को स्वीकार किया। वे लीलापति के साथ उन्ही के दिव्य धाम में रहने लगे। . शरद पूर्णिमा की तिथि आ गयी। श्रीधाम में रासोत्सव आरंभ हुआ। नरसी मेहता ने सखी-भाव में निमग्न होकर राग छेड दिये। वे मसाल दिखला रहे थे। श्रीकृष्ण ने उनके प्रेम में विभोर होकर अपना पीताम्बर ओढा दिया। रास की समाप्ति पर श्रीकृष्ण तथा परिकर का ध्यान उनकी ओर गया, वे भगवल्लीला में इतने तन्मय हो गये थे कि मसाल से हाथ जल रहा था पर उन्हे इसका पता तक न था, भगवान ने उन्हे गले लगा लिया, रुक्मिणी ने उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर अपना हार दिया। श्रीधाम में इस प्रकार एक मास बीत गया। वे भगवान के आदेश से देवऋण, पितृऋण उतारने के लिये तथा भगवान की भक्ति का प्रचार करने के लिये वैष्णव वेश में घर लौट आये। श्रीकृष्ण ने उन्हे अपनी प्रतिमा दी, करताल, मोरपंख और पीतांबर दिया। नरसी मेहता वैष्णव रूप में घर आये, उनका जीवन भगवत्कृपा से सार्थक और सफल हो गया।

जिनके दृष्टि-परिवर्तन मात्र पर असंख्य लक्ष्मी सहम जाती हैं, ब्रह्मा का मद चूर हो जाता है, कोटि-कोटि शिव अपनी संहार की लीला भूल जाते हैं उन भगवान का चरित्र परम विचित्र है, उनका

स्वभाव कभी-कभी उन्ही की कृपा से केवल उनके उपासक और भक्त समझ लेते है। वैष्णव वेश मे नरसी मेहता को देख कर लोग आश्चर्य में पड गये। उनकी बात पर किसी को विश्वास ही न हुआ। दुरित-गौरी के कहने पर वशीधर ने नरसी मेहता को सपरिवार घर के बाहर कर दिया। भगवान की दी हुई प्रतिमा ही नरसी-परिवार की सम्पत्ति थी। वे परिवारसहित धर्मशाला मे चले आये, उनका दृढ विश्वास था कि मेरे श्रीकृष्ण की कृपा से जो कुछ भी हो रहा है, सब ठीक है। उन्हे अक्रूर का दर्शन हुआ, अक्रूर ने कहा कि भगवान कृष्ण के आदेश से मैंने आप के निवास तथा भोजन आदि की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी है। नरसी मेहता प्रभु की भक्ति में आत्मविभोर हो गये। वे समस्त विघ्न-बाधाओ से निश्चित होकर श्रीकृष्ण के सरस भजन में लग गये, उन्ही की तरह उनका परिवार भी परम भागवत था। श्रीकृष्ण भक्तराज के योगक्षेम की व्यवस्था करने लगे, 'प्रभु का भक्त दुखी रहे–' भगवान को यह बात कदापि सह्य नही है। श्रीकृष्ण ने भयानक-से-भयानक और सकटपूर्ण परिस्थिति में उनको अभय और निश्चिन्त किया। उनके जीवन में अनेक विलक्षण घटनाओ का घटना पाया जाता है।

एक बार कुँवरि बाई को विदा कराने के लिये श्रीरगवर मेहता के कुल पुरोहित आये, घर में एक पैसे का भी प्रबन्ध नही था, दूसरे ही दिन कन्या को विदा करना था, रात में वे सपरिवार भगवान की प्रतिमा के सामने कीर्तन करने लगे। प्रभु ने कृपापूर्वक आभूषण आदि की व्यवस्था कर दी और कुँवरिबाई को विदा कर पुरोहित ससुराल ले गये।

बडनगर के दीवान मदन मेहता की पुत्री जूठीबाई से उन्होने अपने पुत्र शामलदास के विवाह का वचन दिया। जूनागढ में मदन मेहता के परिचित सारगधर मेहता रहते थे। उन्होने मदन मेहता को पत्र लिखा कि पुरोहित ने नरसी मेहता के पुत्र से आपकी पुत्री का विवाह-सम्बन्ध भ्रम से निश्चित किया है, वे तो दरिद्र है, मजाक के लिये लोगो ने पुरोहित को उनके घर भेज दिया था। मदन मेहता ने नरसी मेहता को लिखा कि यदि आप मेरे सम्मान के अनुकूल बारात

लेकर न आयेंगे तो मै विवाह नही होने दूगा। नरसी मेहता ने उत्तर दिया कि मुझे तो भगवान का भरोसा है, वे जो कुछ भी करेगे उसमें मेरी हितभावना ही होगी। माघ शुक्ला पचमी को एक कीर्तन मण्डली के साथ पुत्र का विवाह रचाने भक्तराज निश्चित हो कर बडनगर की ओर चल पडे। गाँव के लोग बहुत प्रसन्न हुए कि नरसी मेहता पर बडनगर में खूब बीतेगी। इधर बडनगर की सीमा पर साक्षात् नन्द-नन्दन नारायणी वारात लेकर उपस्थित थे, प्रभु ने भक्तराज का आलिगन किया। मदन मेहता ने ऐसे भागवत परिवार में अपनी लडकी देने में बडे गौरव का अनुभव किया। भगवान ने मदन मेहता से कहा कि मै तो सदा नरसी मेहता के अधीन रहता हूँ, मै इनका दास हूँ, स्मरण करते ही उपस्थित हो जाता हूँ। मदन मेहता के रोम-रोम आनन्द से पुलकित हो उठे। नरसी मेहता के नयनो से प्रेमामृत की धारा बरसने लगी। बडे उत्साह से विवाह की शुभ विधि सम्पन्न हुई। विवाह के कुछ ही दिनो के बाद शामलदास बीमार हो गये। नरसी मेहता ने उनको बचाने के लिये अथक श्रम किया पर मृत्यु के हाथ से पुत्र को बचा न सके। पुत्र के देहान्त के वाद भक्तराज ने पत्नी को समझाते हुए कहा कि–

'भलु थयु भागी जजाल,
सुखे भजीशु श्री गोपाल।'

--वडा अच्छा हुआ, जजाल समाप्त हो गया, भगवान का भजन सुखपूर्वक करूँगा। वे भगवान के भजन में दूने उत्साह से लग गये।

नरसी मेहता भगवान के हाथ के यन्त्र थे, प्रभु जिस प्रकार उन्हे नचाते थे, उसी तरह वे नाचते थे। एक वार पिता की श्राद्ध-तिथि थी। वशीधर ने उनको अपने घर आने के लिये निमन्त्रित किया। उन्होने वडी विनम्रता से निवेदन किया कि भगवान की पूजा और कीर्तन समाप्त करने के वाद ही आना सम्भव है। वशीधर ने अपना अपमान समझा, उन्होने कहा कि यदि ऐसी वात है तो अपने घर पर ही पिता का श्राद्ध कर लेना चाहिये। नरसी मेहता ने कहा कि यदि आपकी यही इच्छा है तो मै चेष्टा करूँगा। उन्होने सती माणिक-गौरी के आभूपण वन्धक रख कर श्राद्ध का प्रवन्ध किया। सात सौ

नागरो को निमन्त्रित किया था। घी की कुछ कमी थी, उसे लेने वे मोदी की दूकान गये। लौटने में देर हुई, वे मोदी को भजन सुनाने लगे। भगवान ने अक्रूर द्वारा श्राद्ध की सारी व्यवस्था सम्पन्न करायी, वे नरसी मेहता के वेष मे स्वय प्रकट हो गये। ब्राह्मणो को अच्छी तरह भगवान ने भोजन कराया, दक्षिणा में स्वर्ण मुद्रायें दी। श्राद्ध की समाप्ति पर भोजन करने ही बैठे थे कि नरसी मेहता घी लेकर आ गये। भगवान अन्तर्धान हो गये। प्रभु अपने भक्त के लिये सब कुछ करते है, भक्त की हेठी नही होने देते है।

नरसी मेहता के जीवन में हुण्डी वाली कथा एक अमर घटना है। पत्नी की मृत्यु हो गयी। ब्राह्मणो ने एकादशाह और द्वादशाह श्राद्ध करने की सम्मति दी। पास में एक छदाम भी नही था। वे चबूतरे पर बैठे थे, चिंतित थे। थोडी देर में उन्होने अपने सामने चार साधु देखे, वे द्वारका जा रहे थे, उनके पास सात सौ रुपये थे। साधुओ ने नरसी मेहता से कहा कि गाव वालो ने आपके ही पास हम लोगो को भेजा है, आप बहुत बडे सेठ है, सात सौ रुपये लेकर हमें हुण्डी दे दीजिये, द्वारका में हम रुपये ले लेगे। भक्तराज ने सरलतापूर्वक अपने प्रियतम प्राणाधार कृष्ण शामलशाह सेठ के नाम पर हुण्डी लिख दी, उनका दृढ विश्वास था कि प्रभु ने ही रुपये भिजवाये है। और वे द्वारका में अवश्य रुपये दे देंगे। बात ऐसी ही हुई। द्वारकापति श्रीकृष्ण ने शामलशाह सेठ के रूप में प्रकट होकर सात सौ रुपये देने की लीला में रस लिया। नरसी मेहता ने पत्नी के श्राद्ध और सन्तसेवा में रुपयो का सदुपयोग किया।

पत्नी के स्वर्गवास के बाद वे पाँच साल तक जीवित रहे। उन्होने सारी चिन्ताओ से मुक्त होकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की रसमयी लीला का गान किया। वे पूर्ण विरक्त होकर लोगो को भगवद्भक्ति का उपदेश देने लगे। उन्होने राम-नाम से पूरा नाता जोड लिया। उन्होने आजीवन भगवान श्रीकृष्ण की शृंगारमयी सरस लीला का आस्वादन किया। उनकी एक पद में उक्ति है कि 'वृन्दावन धन्य है, वृन्दावन की लीलायें और व्रजवासी धन्य हैं। अष्टसिद्धियाँ व्रज-वासियो के आगन में खडी है और मुक्ति उनकी दासी है। इस

लीलारस का स्वाद भगवान शकर जानते हैं। योगी शुकदेव जानते हैं, व्रज की गोपियाँ जानती हैं।' नरसी ने स्वय इस परम रहस्यमय भागवत रस की अनुभूति की

'ए रसनो स्वाद शकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
कोई एक जाणे, व्रजनी गोपी, भणे 'नरसैंयो' भोगी रे।'

नरसी को व्रज-लीला का साक्षात्कार होता रहता था।

हे आज सखी रे श्रीवृन्दावनमा, मधराते मोरली वागी रे।
सुणता रे चित्त हर्यां मारी सजनी, भर निद्रामाथी हु जागी रे।
हे जाग्रत स्वप्न सषुपति तुरीया, ऊनमीयें ताली लागी रे।
त्रिगुण रहित थयु मन मारूँ, काम वासना ताहा भागी रे।
ई जम जम दृष्टि पडे मारी सजनी, तम तम ताणी मोहती रे।
नरसैंया चा स्वामिनी लीला, हरखे हीडु हु जोती जोती रे।

नरसैंया की चित्तवृत्ति आधी रात में मुरलीवादन मे अपने वश में नहीं रह गयी। वर्णन की कितनी पवित्रता है इस रसमयी कामवासना रहित भागवत वाणी मे। निस्सन्देह नरसी मेहता के भक्तिरसमाते नयन भगवान के लीला-दर्शन के अधिकारी थे। नरसी मेहता का जीवन भगवान के चरणो मे पूर्ण समर्पित था, उनकी भगवद्भक्ति ही उनकी साधना का फल थी। उन्होंने कहा है कि नारायण का नाम लेने मे जो रोकता है उसे छोड देना चाहिये। लक्ष्मीपति विष्णु का भजन ही सर्वोत्तम कार्य है, श्रेयस्कर है। उनकी कथनी-करनी में भगवद्भक्ति ही ओतप्रोत थी। वे हरि के पूर्ण शरणागत थे। उनकी सीख थी कि 'कराल कलिकाल मे श्री हरि का नाम ही रटना चाहिये। श्यामसुन्दर सदा भक्त के अधीन रहते है, वे समस्त कार्य स्वय सिद्ध कर दिया करते हैं। भगवान का भजन भवसागर से पार उतार देता है। जिसका चित्त श्रीकृष्ण के चरण में लग जाता है वह किसी का विरोध नही करता है।' नरसी मेहता भगवान से सदा यही आत्मनिवेदन करते थे कि हे मुरारी, पहले आपने अनेक भक्तो की रक्षा की है। उन्हे सहायता दी है। हे मेरे स्वामी, मेरे लिये आपकी शरण ही बहुत है। भगवान उनके सर्वस्व थे। नरसी मेहता ने भगवान से मुक्ति के स्थान पर भक्ति मागी।

एक वार जूनागढ के निवासियो ने नरसी मेहता की परीक्षा ली। सारगधर मेहता उनके बहुत वडे विरोधी थे। उन्होने षडयन्त्र रचा। भक्तराज की परीक्षा के लिये चचला वेश्या भेजी गयी। वेश्या ने अत्यन्त अद्भुत शृ गार किया, श्वेत साडी पहनी, स्वर्ण और रत्नो के आभूषण धारण किये, नयनो को नचाती हुई तथा मीठी-मीठी नूपुर-ध्वनि करती हुई वह भक्तराज की भजन-कुटी मे पहुँच गयी। नरसी मेहता भजन में लीन थे। आख खोलने पर उन्होने अपने सामने रूपवती स्त्री देखी। वेश्या ने कहा कि मै प्रभासक्षेत्र की रहनेवाली हूँ, श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिये द्वारका जा रही हूँ। एक रात आपकी कुटी में रहना चाहती हूँ। नरसी मेहता ने उसके ठहरने की व्यवस्था कर दी। आधी रात को वेश्या ने उनसे कामवासना तृप्ति की भीख मॉगी। नरसी मेहता ने कहा कि माता, हरि के चरणकमल के रस का आस्वादन आत्मतृप्ति का सबसे वडा साधन है। प्रभु के पवित्र नाम का कीर्तन कर आप भवसागर से पार उतरने का यत्न कीजिये। सन्त-वाणी ने वेश्या के मन पर प्रभाव डाला, वह गिडगिडा कर नरसी मेहता के चरणो पर गिर पडी, क्षमा मॉगी अपने घर जाकर भगवान के भजन में लग गयी। सारगधर मेहता समाचार जानने के लिये चचला के घर गये, वे उसकी स्थिति देखकर लौट पडे। रास्ते में उन्हे सॉप ने काट लिया। नरसी मेहता ने उन्हे भगवान का चरणामृत पिला कर जीवित कर दिया। उन्होने अपकार का बदला उपकार से दिया पर सारगधर तो उनको नीचा दिखाना चाहते थे। उन्होने रावमाण्डलीक को नरसी मेहता के विरुद्ध उकसाया कि वे अनाचारी और व्यभिचारी हैं। रावमाण्डलीक ने भक्तराज को राजसभा में उपस्थित होकर अभियोग अप्रमाणित करने का आदेश दिया। वे राजसभा में जा रहे थे कि रास्ते मे एक ब्राह्मण से भेंट हुई, ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाह में सहायता स्वरूप साठ रुपये मॉगे, भक्तराज को केदार राग अत्यन्त प्रिय था, वे उससे भगवान का आवाहन किया करते थे। उन्होने धरणीधर ब्राह्मण से साठ रुपये लेकर केदार राग बन्धक रख दिया। राजसभा में उपस्थित होने पर राव-माण्डलीक ने एक पुष्पहार दिया, राधा-दामोदर को पहनाने का आदेश दिया, कहा कि यदि यह हार कल प्रभात काल में आप के गले मे

भगवान पहना देंगे तो आप निर्दोष समझे जायेंगे। मन्दिर का पट वन्द कर दिया गया। भक्तराज चिंतित होकर मन्दिर के आगन में चबूतरे पर बैठ गये। रात कटना कठिन हो गया। भगवान ने नरसी मेहता के वेप में धरणीधर के घर जाकर रूपये देकर केदारराग छुडा लिया। भरपायी का प्राप्तिपत्र भगवान ने मन्दिर के आगन में गिरा दिया। नरसी मेहता ने प्रभु की लीला से मुग्ध होकर केदार राग गाया, भगवान का आवाहन किया, उन्होने गाया कि मुझे मृत्यु मे भय नही है, मुझे आप की अपकीर्ति से भय है कि भगवान अपने भक्त की रक्षा न कर सके। अरुणोदय हो रहा था, मन्दिर का पट अपने आप खुल गया। भगवान ने अपने गले का हार प्रत्यक्ष रूप से नरसी मेहता को पहना दिया। उनकी जयध्वनि मे दिशायें गूज उठी। रावमाण्डलीक ने क्षमा मागी।

नरसी मेहता ने इस धटना के वाद अपना अन्तिम जीवन द्वारका में विताना चाहा। वे द्वारका चले गये। प्रभु के स्तवन में असख्य पद लिखे। जीवन के अन्तिम पाच साल उन्होंने द्वारका में ही विताये। सम्वत् १५७७ वि में वे गोलोक गये। नरसी मेहता उच्चकोटि के भक्त सन्त थे, भागवत गृहस्थ और असाधारण महात्मा थे।

रचना

उन्होंने भागवत के दशमस्कन्ध और गीतगोविंद का अनुवाद किया। राससहस्रपदी और आत्मलक्षी पद आदि की रचना की।

वाणी

वैष्णव जन तो तेने कहीये, जे पीड पराई जाणे रे।
पर दुखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥
सकल लोकमा सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोहमाया व्यापे नहि जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमा रे।
राम नाम शु ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमा रे॥

वण लोभी ने कपट रहित छे, काम-क्रोध निवार्या रे।
भणे 'नरसैंयो' तेनु दरसन करता, कुल एकोतेर तार्या रे॥

हे आज सखी रे श्रीवृन्दावन मा, मधराते मोरली वागी रे।
सुणता रे चीत हर्या मारी सजनी, भर निद्रामाथी हुँ जागीरे॥
हे जाग्रत स्वप्न सपुपति तुरीया, ऊनमीये ताली लागी रे।
त्रिगुण रहित थयु मन मारूँ, काम वासना ताहा भागी रे॥
ई जम-जम दृष्टि पडे मारी सजनी, तम-तम ताणी मोहती रे।
नरसैंया चा स्वामिनी लीला, हरखे हीडू हुँ जोती जोती रे॥

भूतल भक्ति पदारथ मोटु, ब्रह्मलोकमा नाही रे।
पुण्य करी अमरापुरी पाम्या, अन्ते चौरासी माही रे॥
हरिना जन तो मुक्ति न मागे, मागे जन्मोजन्म अवतार रे।
नित्य सेवा नित्य कीरतन ओच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे॥
भरत खण्ड भूतलमा जन्मी, जेणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एना मातपिताने, सफल करी ऐने काया रे॥
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए व्रजना वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आगणिये रे ऊभी, मुक्ति छे एमनी दासी रे॥
ए रसनो स्वाद शकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
कोई एक जाणे व्रजनी गोपी, भणे 'नरसैंयो' भोगी रे॥

कृष्णजी कृष्णजी कहेता उठो रे प्राणी।
कृष्णजीना नाम विना जे बोलो तो मिथ्या रे वाणी॥
कृष्णजीए वास्यु रुडु, गोकुलीऊँ रे गाम।
कृष्णजीए पूरी, मारा मनडा केरी हाम॥
कृष्णजीए अहल्या तारी, गणका ओधारी।
कृष्णजीना नाम ऊपर, जाऊँ बलिहारी॥
कृष्णजी माता, कृष्णजी पिता, कृष्ण सहोदर भाई।
अन्त काले जावु एकलडा, साथे श्रीकृष्णजी सगाई॥
कृष्णजी कृष्णजी कहेता, कृष्ण नरीखा थाशो।
भणे रे 'नरसैंयो' सहेजे, तमे वैकुंठे जाशो॥

नारायणनु नाम ज लेता, वारे तेने तजिये रे।
मनसा वाचा कर्मणा करीने, लक्ष्मीवरने भजिये रे॥
कुलने तजिये, कुटुम्बने तजिये, तजिये माने बाप रे।
भगिनी सुत दाराने तजिये, जेम तजे कचुकी साप रे॥
प्रथम, पिता प्रह्लादे तजियो, नव तजियु हरिनु नाम रे।
भरत शत्रुघ्ने तजी जनेता, नव तजिया श्रीराम रे॥
ऋषि पत्नी श्रीहरिने काजे, तजिया निजभरथार रे।
तेमा तेनु काइये न गयु, पामी पदारथ चार रे॥
वृजवनिता विट्ठलने काजे, सरव तजी वन चाली रे।
भणे 'नरसैंयो' वृन्दावनमा, ते तो घणु माहली रे॥

सन्त धरमदास

'राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवन दुलभ है, मागै सीस कलाल॥'

—सन्त कबीर

रामरस पीना वास्तव मे अत्यन्त कठिन है, अहकार का सम्पूर्ण समर्पण किये विना यह रस पीया ही नही जाता है। सन्त धरमदास, रामरस पीने वाले एक उच्चकोटि के महात्मा थे। सन्त कबीर के प्रधान शिष्यो में से एक थे, उनकी साधना कबीर ऐसे ज्ञानी सन्त के चरणदेश में स्वस्थ होने पर सफल हो गयी। सन्त धरमदास का जीवन काल पन्द्रहवी शताब्दी के तृतीय चरण से पूरी सोलहवी शती की अवधि है। उस समय देश की राजनैतिक स्थिति विचित्र थी, केन्द्रीय शासनसत्ता में परिवर्तन होने की आशका सदा बनी रहती थी जो तलवार और सैनिक शक्ति का धनी होता था वह शासक बनने का सपना देखने लग जाता था। ऐसे राजनैतिक उथल-पुथलवाले समय मे सन्त कबीर के शरणागत धनी धरमदास ने निर्गुण, निराकार और अलख परमात्म तत्व का चिंतन कर सन्तमत की नीव दृढ की। जीवन की नश्वरता का रहस्य-उद्घाटन किया। प्रत्येक वर्ग का समन्वय कर आध्यात्मिक एकता और राष्ट्रीयता का सूत्रपात किया।

धनी धरमदास का जन्म बाधोगढ मे सम्वत् १४७५ वि के लगभग हुआ था। वे कसौधन बनिया थे। घर मे अपार सम्पत्ति थी। वे निश्चित होकर व्यापार करते थे और साथ-ही-साथ भगवान की पूजा-अर्चा भी करते रहते थे। वे बचपन मे ही भगवद्भक्त और सात्विक वृत्ति के थे। साधु और सन्तो की सेवा तथा शास्त्रो के श्रवण में उनका मन बहुत लगता था। भगवद्विग्रह के सम्मुख घटो बैठ कर वे विशुद्ध मन से हरि की आराधना किया करते थे। श्रीमद्भगवद्गीता

आदि में उनकी वडी श्रद्धा थी। 'अमरसुख निधान' ग्रन्थ में उनके सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है

> 'धरमदास वधो के वानी, प्रेमप्रीति भक्ति में जानी।
> सालिगराम की सेवा करई, दया-धरम वहुतै चित धरई।
>
> भगवत गीता वहुत कहाई, प्रेमभक्ति रस पीये अघाई।'

इस उद्धरण से उनके पूर्वाश्रम के भागवत जीवन का पता चलता है।

एक समय वे तीर्थयात्रा के लिये मथुरा गये हुए थे। सन्त कवीर से भेंट हुई, उनके सत्सग और उपदेश तथा आत्मज्ञान से धनी धरमदास वहुत प्रभावित हुए। कवीर के प्रति स्वाभाविक रूप से उनका आकर्षण वढ गया। कवीर ने धरमदास को ज्ञान दिया कि जव तक मन में सकाम भाव है तव तक नर-नारी नरक है, निष्काम भाव का मन मे उदय होते ही राम अपने हो जाते है। उन्होंने कहा कि आत्मतत्व का रहस्य जानना, निर्गुण का भेद पाना सरल नही है। गुरु की कृपा से ही निर्गुण परमात्मतत्व की जानकारी होती है। राम का किसी भी परिस्थिति में परित्याग नही करना चाहिये, जीवन भले ही चला जाय पर राम न जाने पाये। सन्त धरमदास कवीर के चरणो पर गिर पड़े, उन्होंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया भवसागर मे पार उतारने की प्रार्थना की। धरमदास ने कहा

> गुरु पैया लागो नाम लखा दीजो रे।
> जनम-जनम का सोया मनुवा, सवदन मार जगा दीजो रे।
> घट अधियार नैन नहि सूझे, ज्ञान की दीप जला दीजो रे।
> विष की लहर उठत घट-अन्तर अमरित वूद चुवा दीजो रे।
> गहरी नदिया अगम वहै धरवा, खेय के पार लगा दीजो रे।
> 'धरमदास' की अरज गुसाई, अव की खेप निभा दीजो रे।

मथुरा के सत्सग में उन्हे सन्त कवीर ने सोते मे जगाया, आत्मप्रकाश दिया। कुछ दिनो के वाद सन्त धनी धरमदास काशी गये। उनके निवासस्थान पर शास्त्र महारथियो की भीड लगी रहती थी। रात-दिन पूजा-पाठ का क्रम चलता रहता था। कवीर ने उन्हे

काशी में दर्शन दिया। इस दर्शन का आशय परम गूढ था। इस बार धरमदास कबीर के चरणों में समर्पित हो गये, मथुरा में मन और वाणी ने कबीर को गुरु माना था पर काशी में हृदय ने उनको अपना परम गुरु स्वीकार कर लिया। कबीर ने बोध दिया कि हरि के समान कोई दूसरा राजा नही है। तन, धन, परिवार और सगे-सम्बन्वी साथ छोड देते हैं पर हृदय में निरन्तर रमनेवाले राम कभी अपने आप से अलग नही होते हैं, वे ही परम धन हैं, प्रियतम और प्राणाधार हैं। जगत नश्वर है, उसका आत्मा मे सम्बन्ध ही नही हो सकता है। धरमदास के नयनो में जगत की विनश्वरता थिरक उठी, उन्हें जगत से वैराग्य हो गया, वे वैराग्य-रस के रसिक होकर कबीर के चरणो मे पूर्ण आत्मार्पण कर बैठे। सन्त कबीर ने उनका आलिंगन किया, धरमदास सत्यनाम के व्यापारी हो गये। गुरु ने शिष्य को और शिष्य ने गुरु को पहिचान लिया। वे समस्त सम्पत्ति का त्याग कर काशी में ही रहने लगे। उन्होंने कबीर मे अपने हृदय की पीडा कही। उन्होंने गुरु मे याचना की

साहब खेइ लगावो पारा।
असी कोस में झील अरु झाकर, असी कोस अधियारा।
असी कोस बैतरनी नदिया, जहवा हँस उतारा।
बडे-बडे सीकारी जोधा, आगे पग है डारा।
खाल खैंचि जम भूसा भरावै, ऐंचि लेहि जस आरा।
लेखा मागे जम फुरमावै, तीन लोक लै डारा।
उपजत विनसत जनम बीतिगे, चौरासी की धारा।
गगन मदिल में सतगुरु बोलै, सुनि लै सबद हमारा।
'धरमदास' चरनन पर विनवै, अब की अरज हमारा।

धनी धरमदास ने अपनी कथनी और करनी मे कबीर के सन्तमत–निर्गुण तत्वचिन्तन का भाष्य किया। गुरु के उपदेश के अनुकूल जीवन बिताना ही उनका सिद्धान्त था। उनकी उक्ति है -

'सद्गुरु चारिउ बरन से ऊँचे।'

उन्होने 'बन्दीछोर' सन्त कबीर साहब मे सदा यही निवेदन किया कि 'आप मेरी ओर देखते रहिये, मुझे केवल आपका भरोसा है। यदि

मुझसे भूल हो जाय तो आप ठीक कर दिया करे। आज तक मैं भूला हुआ था पर अब आप के निकट हूँ, मेरी ओर देखिये। मैं केवल आप की वन्दना करता हूँ। सारे दोषो को क्षमा कर मुझे अपनी भक्ति दीजिये। आप के विना मेरी पीडा दूसरा कोई नही हर सकता है। उन्होने गुरु की कृपा से प्रियतम की लालिमा का दर्शन उन्ही के स्वरूप में किया था, धरमदास का पद है कितनी ऊँची अनुभूति और रस-अभिव्यञ्जना है

'साहेब, तेरी देखौं सेजरिया हो।
लाल महल के लाल कगूरा, लालिनि लागि किवरिया हो।
लाल पलग के लाल विछौना, लालिनि लागि झलरिया हो।
लाल साहेब की लालनि मूरति, लालि लालि अनुहरिया हो।
'धरमदास' विनवै कर जोरी, गुरु के चरन वलिहरिया हो।'

धरमदास के गुरु सन्त कबीर ने साहब की जो लाल झाकी देखी थी उसी का वर्णन इस पद में हुआ है। कबीर ने कहा था

लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गयी लाल॥

सन्त धरमदास ने अपने नयनो में इसी दिव्य लालिमा का अमृत उतारा। इस 'लाली' का अनुभव ही उनके जीवन का साधनाक्रम था। उन्होंने योगी का वेष धारण कर प्रियतम की खोज की। वे अपने प्रियतम के विना वावले हो गये। 'प्रियतम के देश में सदा कबीर सन्त का आना-जाना होता है, उसका रहस्य वे ही जानते है'—ऐसी धरमदास की सुदृढ मान्यता थी। उनकी उक्ति है

'भूतल रहलौं मैं सखियाँ, तो विपकर आगर हो।
सतगुरु दिहलै जगाइ, पायौं सुख-सागर हो।'

कबीर रूपी प्रियतम की प्राप्ति से वे आवागमन के बन्धन से छूट गये।

सन्त धरमदास ने कबीर-पन्थ की छत्तीसगढी शाखा का उत्तरदायित्व सम्हाला था। उन्होंने कबीर की वाणी का सग्रह 'बीजक' के रूप में सुरक्षित किया। लोगों ने कबीर के देहत्याग के बाद धरमदास को

ही उत्तराधिकारी घोषित किया। उन्होंने सम्वत् १६०० वि के लगभग चोला छोडा। वे सदा कबीर के पुण्यमय दर्शन के लिये तरसते रहते थे। उनका विश्वास था कि सन्त कबीर से ही इस भवसागर से मेरा उद्धार हो सकता है। सन्त धरमदास भावुक सन्त थे, उनकी वाणी में मिठास और सरसता का दर्शन होता है।

रचना

'धरमदास की बानी'—उनका एक संग्रह प्रकाशित है। उन्होने जनभाषा में अपने भाव प्रकट किये।

वाणी

हमें एक अचरज जानि परै॥
जल भीतर इक वृच्छा उपजै, ता में अगिन जरै।
ठाडी साखा पवन झकोरे, दीपक जोति बरै॥
माथे पर तिरबेनी बहत हैं, चढि ऊपर असनान करै।
लरजै गरजै दामिनी दमकै, कामिनि कलस भरै॥
मट्टी का गढ कोट बना है, जामें फौज लरै।
सूरबीर कोऊ नजरि न आवै, नाहक रार करै॥
साहब अमर मरै न कबहूँ, नाहक सोच करै।
'धरमदास' या पद को गावै, फिर कबहूँ न टरै॥

कहो केते दिन जियबौ हो, का करत गुमान।
कच्चे बाँसन का पिंजरा हो, जामें पवन समान।
पछी का कौन भरोसा हो, छिन में उटि जान।
कच्ची माटी के घड़वा हो, रस-बूदन सान।
पानी बीच बतासा हो, छिन में गलि जान।
कागद की नैया बनी हो, डोरी साहेब हाथ।
जौने नाच नचैहै हो, नाचब वोही नाच।
'धरमदास' एक बनिया हो, करै झूठबजार।
साहेब कबीर बनजारा हो, करै सत बैपार॥

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपन बलम परदेस निकरि गैलो,
हमरा के कछुवो न गुन दै गैलो।
जोगिन होइ के मैं वन-वन ढूढौं
हमरा के विरह-वैराग दै गैलो।
संग की सखी सब पार उतरि गैली,
हम धन ठाढी अकेली रहि गैलो।
'धरमदास' यह अरज करतु है,
सार सबद सुमिरन दै गैलो।

चढि अमवा की डारि, अकेली धन कारे खडी।
चले जाव मुरुख गंवार, मोरि तोहि कारे पटी।
की तोरी सासू दारुनिया, की नैहर दूर बसै।
की तोरा पिय परदेस, जोहत वाकी बाट खडी।
ना मोरी सासू दारुनिया, न नैहर दूर बसै।
हमरे बलम परदेस, जोहत वाकी बाट खडी।
पचरंग पहिरि चुनरिया, ऊपर धरो आरसी।
सतगुरु संग सुजान, समुझै मोर पारसी।
यह मंगल सतलोक, हंस जन गावही।
कहै कबीर 'धरमदास' प्रेम पद पावही।

रसिक वैष्णव चण्डीदास

'कर धरू करू मोहे पारे, देब में अपरुब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चल गेली, न जानू कौन पय भेली, कन्हैया॥
हम न जाएब तुअ पासे, जाएब, औघट घाटे, कन्हैया।
विद्यापति एहो भाने, गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया॥'

—महाकवि विद्यापति

प्रेम-धर्मी चण्डीदास परम वैष्णव थे, रसिक सन्त और योगी थे। शस्य श्यामला वगभूमि में उन्होने जिस श्रद्धा से रावाकृष्ण के शृगार और प्रेम का चिन्तन किया उसकी मौलिकता सदिग्व नही है। वे वैष्णव सहज सम्प्रदाय के रसिक महात्मा थे, उन्होने आजीवन राधा-कृष्ण की लीला मे अपनी भक्तिमयी सरस वाणी का चिन्मय शृगार सम्पन्न किया। अपार्थिवता के धरातलपर अपनी प्रेम-साधना की परीक्षा की। चण्डीदास ने अपने सरस प्रेमपूर्ण लीलात्मक पदो से वगाल मे भागवतधर्म का बीजारोपण कर परम सुख—सुखराज, महा आनन्द की अनुभूति की, कृष्णभक्ति का दान किया। मध्यकालीन वगाल या भारत मे ही नही, समस्त विश्व मे साहित्य में मानवीय सम्बन्ध को लेकर एक ऐसे दिव्य प्रेम का उदय हुआ जो सर्वथा अभूतपूर्व, अलौकिक और पवित्र था, अपार्थिव था। इस दिशा में भारतीय परम्परा मे चण्डीदास का नाम अग्रगण्य है। विश्व वाङमय के हृदय ने चौदहवी से सोलहवी शताब्दी तक भगवदीय प्रेम का पार्थिवता और अपार्थिवता की समन्वय-भूमि पर रसास्वादन किया। भारतीय साहित्य मे राधा-कृष्ण के ही प्रेमगान की प्रधानता रही। वैष्णव सन्त चण्डीदास का समस्त जीवन भगवदीय प्रेम-साधना से परिपूर्ण था। उन्होने अपनी पदावली में सर्वत्र श्रीराधाकृष्ण के मधुर प्रेम-रस के गीत गाये है। चण्डीदास का नाम सुनते ही नयनो में प्रेम के अश्रु उमड पडते है।

मानो मधुकर कनक कमल में विलास कर रहे हो, रमणी का शरीर सौन्दर्य और सुषमा में ढला हुआ था, सिर से पैर तक सुन्दरता मूर्तिमान होकर उसकी प्रदक्षिणा कर रही थी। चण्डीदास के नेत्रो ने शृ गार की देवी का दर्शन किया, चिन्मय लावण्य के कठ-देश से उनकी वाणी ने अपने हृदय-देश में प्रेम की सजीव प्रतिमा का आवाहन किया, चण्डीदास के रसिक मन ने देवी का स्तवन किया शृ गार का गान गाया

'शृ गार रस बूझिवे के, सव रस सार शृ गार जे।
शृ गार रसेर मरम वूझे, मरम बूझिया शृ गार यजे।
सकल रसेर शृ गार सारा, रसिक भगत शृ गारे मरा।
किशोर किशोरी दुइ टी जन, शृ गार रसेर मूरति हन।
गुरुवस्तु एवे वलिव काय, विरिंचि भवादि सीमा ना पाय।
किशोर किशोरी जाहा के भजे, गुरु वस्तु से सदाइ यजे।
चण्डीदास कहे ना वूझे केह, जे जन रसिक वूझये सेह।'

रमणी ने उनकी ओर देखा। दोनों एक दूसरे की सात्विक प्रेम-भावना से विमुग्ध हो गये, आसक्त हो गये। चण्डीदास के निस्पन्द अधरो ने प्रेममयी रमणी के चरणो का सस्वर अभिवादन किया। उन्हे रामी के रूप में भागवत शृ गार की दिव्य प्रेरणा का दर्शन हुआ। इस दर्शन में वासना और कामासक्ति की गन्ध तक नही थी। रजक कन्या ब्राह्मण देवता की दूर से ही चरण धूलि लेकर मस्तक पर चढा सकती थी और चण्डीदास उसे केवल आशीर्वाद दे सकते थे। वे नित्य रजक-रमणी को देखने आते थे, दोनो विना एक दूसरे को देखे नही रह सकते थे। चण्डीदास की कठभारती ने रामी के पवित्र सौन्दर्य में अलौकिक और दिव्य प्रेम का दर्शन किया। वह उनकी सव कुछ हो चली। वाशुलीदेवी में उनकी निष्ठा घटने लगी। रामी के सौन्दर्य और प्रेम मे प्रेरणा पाकर वे राधाकृष्ण सम्बन्धी सरस प्रेमपूर्ण पदो की रचना करने लगे। उन्हे कण-कण में राधाकृष्ण के सौन्दर्य का दर्शन होने लगा। लोग उन्हें 'पगला चण्डी' कह कर पुकारने लगे पर उनकी वृत्ति तो राधाकृष्ण की भक्ति में अन्तर्मुखी हो उठी। . रामी का नाम रामिनी, राममणि, तारामणि आदि था पर वह साहित्य में

रामी नाम से ही प्रसिद्ध है। उसने वाशुलीदेवी के मदिर में परिचा-रिका का काम करना आरभ किया पर जब मन्दिर के अधिकारियो को पुजारी चण्डीदास से उसके प्रेम-सम्बन्ध का पता चला तो उन्होंने दोनो को मन्दिर से बाहर निकाल दिया। समाज वालो ने चण्डीदास को बहिष्कृत कर दिया। लोगो ने चण्डीदास के बडे भाई नकुल ठाकुर को समझाया कि यदि चण्डीदास प्रायश्चित करे तो जाति म लिये जा सकते हैं, चण्डीदास का रामी से शरीर-सम्बन्ध नाम मात्र को भी न था, दोनों प्रेम-राज्य में आत्मा के माध्यम से सम्बद्ध थे, दोनो पवित्र थे, इसलिये चण्डीदास ने कहा कि मै रामी के साथ ही कुल में आ सकता हूँ। प्रायश्चित स्थगित हो गया। रामी के प्रति चण्डी-दास की पवित्र भावना का दर्शन उनके पदो में होता है वे रामी के प्रति आत्मा के स्तर से पूर्ण समर्पित होकर भी राधाकृष्ण के ही भक्त बने रहे—यह उनके चरित्र की पवित्र मौलिकता है, दिव्य अलौकिकता है। इसी प्रकार रामी भी उनके पवित्र प्रेम-राज्य में निवास करती थी। प्रायश्चित का प्रश्न उठने पर रामी ने नकुल ठाकुर से निवेदन किया था

'चण्डीदास साथे धोबिनी सहिते
मिश्रित एकई प्राणे।'

रामी का प्राण चण्डीदास के प्राण में मिश्रित हो गया था। चण्डी-दास ने प्रायश्चित पर लात मार कर रामी के चरणो में अत्यन्त श्रद्धा और पवित्र भक्ति से अपार्थिव-दिव्य प्रेम के धरातल पर आत्म निवेदन किया था.

'एक निवेदन करि पुनि पुनि, शुनि रजकिनी रामि।
युगल चरण शीतल देखिया, शरण लइलाम आमि।
रजकिनी रूप, किशोरी स्वरूप, कामगध नाहि ताय।
ना देखिले मन करे उचाटन, देखिले पराण जुडाय॥
तुमि रजकिनी आमार रमणी, तुमि हउ मातृ-पितृ।
त्रिसध्या याजन, तोमारि भजन, तुमि वेदमाता गायत्री॥
तुमि वाग्वादिनी, हरेर घरणी, तुमि से गलार हारा।
तुमि स्वर्ग-मर्त्य, पाताल-पर्वत, तुमि से नयनेर तारा॥

तोमा विने मोर सकलि आधार, देखिले जुडाय आँखि।
' जे दिन ना देखि उचाँद वदन, मरमे मरिया थाकि॥
ओ रूप माधुरी, पासरिते नारि, कि दिये करिब वश।
तुमि से तन्त्र, तुमि से मन्त्र, तुमि उपासना रस॥
भेवे देख मने, ए तिन भुवने, के आछे आमार आर।
वाशुली आदेशे कहे चण्डीदासे, धोपानी चरण सार॥'

रामी के प्रति चण्डीदास के प्रत्येक भाव का चित्राकन इस पद में मिलता है। चण्डीदास ने रामी को प्रेम-रमणी, वेदमाता गायत्री, सरस्वती और साक्षात् माता-पिता के रूप में देखा। रामी को छोड कर उनको ससार में कोई अपना न दीख पडा जिसकी प्रेरणा से वे आध्यात्मिक साधना में, राधाकृष्ण की भक्ति में और प्रेम की चिन्मयी अनुभूति में गति करते। एक उच्च कोटि के वैष्णव भक्त कवि के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। वे निरन्तर राधाकृष्ण के सम्बन्ध में पद रचने लगे और विचित्रता तो यह थी कि उन्हे गा-गा कर अपनी स्वर-माधुरी से आराध्य राधाकृष्ण का मनोरञ्जन भी करते थे।

पदकल्पतरू से पता चलता है कि उनकी कृष्णभक्ति से आकृष्ट होकर परम कृष्णभक्त महाकवि विद्यापति ने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। उस समय चण्डीदास युवावस्था में थे और कवि रञ्जन विद्यापति की अवस्था अधिक हो चुकी थी। वे मिथिला के अधिपति शिवसिंह के परम मित्र थे, उन्हे उनका राजाश्रय प्राप्त था। एक बार शिवसिंह उनको साथ लेकर गौड राज्य का परिदर्शन कर रहे थे। विद्यापति चण्डीदास के निवासस्थान नन्नुरा ग्राम के लिये चल पडे। चण्डीदास को इस बात का पता नहीं था कि मैथिलि कोकिल उन्हें धन्य करने स्वय आ रहे है, उनको इस बात की जानकारी थी कि नान्नुरा के निकट ही शिवसिंह के साथ विद्यापति का आगमन हुआ है। वे बडे उल्लास और उत्साह से कविशेखर के दर्शन के लिये गौड बगाल की राजधानी मगल कोटि की ओर चल पडे। दोनो एक दूसरे से मिलने आ रहे थे। भगवती भागीरथी के तट पर वट वृक्ष के नीचे दोनो कृष्णभक्तिमर्मज्ञो का साक्षात्कार हुआ। चण्डीदास

ठाकुर ने महाकविकी चरण धूलि मस्तक पर चढा ली। कवि कण्ठहार विद्यापति ने उनका प्रेमपूर्वक आलिंगन किया और सराहना की कि शस्यश्यामला वंग भूमि ही नही समस्त भरत खण्ड की पृथ्वी आप की कृष्ण-भक्ति और राधाकृष्ण के प्रेम-काव्य से पवित्र और धन्य हो गयी हैं। आप भागवत कवि है, रसिक सन्त हैं। दोनो का मिलन अद्‌भुत था। चण्डीदास वैष्णव सहज सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय वज्रयान अथवा सहजयान से विशेष प्रभावित था। सहजयान में परमानद—महासुख अथवा सुखराज की प्राप्ति ही साधना का लक्ष्य है। सहज वैष्णव सम्प्रदाय में परमात्मा की प्रेमानन्द-प्राप्ति ही उपासना की मूलभूमि है। प्रेम-धर्म ही परमात्मा की भक्ति का पर्याय है। जीव भगवान का अंश है इसलिये प्रेमस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति ही उसकी सिद्धि की परमावस्था है। इसी परमावस्था की ओर चण्डीदास ने अपनी प्रेम-साधना प्रवाहित की। सहज वैष्णव भक्ति रागानुगा है। इस सम्प्रदाय में यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य में रूप और स्वरूप तत्व विद्यमान रहते है, श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक तत्व ही स्वरूप है, भौतिक तत्व रूप कहलाता है। इसके अनुसार प्रत्येक पुरुष और स्त्रीको अपने रूप में स्वरूप का आरोप कर रूपगत आसक्ति का प्रेम में दिव्यीकरण करना पडता है। रूपगत आसक्ति वासना है, स्वरूपगत अनुरक्ति ही कृष्णभक्ति अथवा प्रेम है, इस प्रेम की प्राप्ति के लिये साधक को परकीया भाव का आश्रय ग्रहण करना पडता है। रूप में स्वरूप का आरोप होने पर साधक सहज मानव की स्थिति में प्रवेश करता है। इसी सहज मानव को ओर लक्ष्य कर वैष्णव भक्त चण्डीदास ने कहा था।

> 'मानुष नाम विरल धाम, विरल ताहार प्रीति।
> चण्डीदास कहे मकलिविरल, के जाने ताहाररीति ॥'

चण्डीदास ने अनुभव किया कि सहज मानव की स्थिति में आने पर ही शुद्ध सात्विक गुण के उदय के बाद सौन्दर्य-माधुर्यनिधि राधा-कृष्ण की रसानुभूति होती है; चण्डीदास ने इन मार्ग को श्रेय दिया वे रागमार्गी वैष्णव थे। चण्डीदास ने सहज तत्व का दर्शन आनन्द, परमानद सहजानन्द और विरमानन्द के माध्यम से किया। विरमानन्द

पूर्णतम मुक्ति की स्थिति है। चण्डीदास ने अपने आत्मा-माध्यम से राधा-कृष्ण की सयोग-सुखराशिका अनुभव किया। राधा-भाव के स्तर से उन्होने कहा कि हे कृष्ण जन्म-जन्म से आप ही मेरे प्राणाधार प्रियतम हे उनकी उक्ति है

'चण्डीदास वले, शुनह नागर राधाय मिनति राख।
पीरिति रसेर चूडा मणि हये, सदाइ अन्तरे थाकि।'

चण्डीदास ने कहा कि 'सहज' 'सहज' सब लोग कहते हे पर सहज को विरले ही जान पाते है। जो अन्धकार को पार कर ज्योति के आनन्द-राज्य में प्रवेश करता है वही सहज तत्व समझ पाता है। चण्डीदास ने कहा

'निज देह दिया भजिते पारे, सहजे पीरिति वलिव तारे।
सहजे रसिक करये प्रीति, रागेर भजन एमन रीति।
एरवनि सेरवनि एक हैले, सहज पीरिति ना छाडे मैले।
सहज वुझिये जे हय रत, ताहार महिमा कहिवे कत।
चण्डीदास कहे सहज रीति, वुझिया नागरी करइ प्रीति।'

रामी और चण्डीदास दोनों सहज मतावलम्वी थे। रामी भी चण्डीदास की प्रेरणा से कविता करती थी। उसने कहा है कि चण्डीदास के विना मेरे लिये समस्त ससार अन्धकार पूर्ण है। चण्डीदास के नयनो के लिये रामी पवित्र प्रेममयी परकीया-भाव-साधना की चिन्मय प्रतीक थी। भाव की पवित्रता, भक्ति और आत्मगत सहज आसक्ति के कारण चण्डीदास की प्रेम-लीला भगवदीय लीला की रसभूमि हो गयी। चण्डीदास की रामी समाज के लिये श्रद्धा और पूजा की देवी हो गयी। रामी उनके लिये हाड-मास की रमणी नही थी, रसाकृति थी।

वाशुली देवी ने चण्डीदास को वेदान्त मे परे रस-समुद्र का मर्म समझाया था। साधन का वीज वताया था। वाशुली देवी की कृपा मे ही उन्होंने भागवत प्रेम-राज्य में प्रवेश किया। उनकी प्रेम-साधना उच्च कोटि की थी। राधा-कृष्ण के प्रेम में वे रात-दिन मग्न रहते थे। उनका भगवदीय प्रेम सर्वथा लोकोत्तर और चिन्मय था। उसमें सर्वत्र माधुर्य ही अभिव्यक्त दीख पडता है। उनके पद-गान में प्रेम और

विरह के अन्योनाश्रय सम्बन्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है। वे मिलन में विरह के दुख से सदा आशंकित रहते थे। उन्होंने आजीवन प्रीतिकी व्याधि का सामना किया, वे सदा प्रेम-बाण से विद्ध रहते थे। उन्हे भगवत्प्रेम की प्राप्ति करने में समाज का दोपारोपण तनिक भी रोक नही सका। उन्होंने कहा कि जो प्रीति करता है उसे किसी भी प्रकार के कलक से भयभीत नही होना चाहिये, प्रेम तो भगवान का भाव-विग्रह है, भक्ति-रूप है। प्रीति के मूक विरह की वेदना का अनुभव चण्डीदास ने लोक-मर्यादा और सामाजिक बन्धन को ताक पर रख कर किया, उनके लिये मानवीय प्रेम भी स्वर्गीय हो गया, मानवीय रूपस्थ आसक्ति को उन्होंने अपने अन्त करण की शुद्धता से भगवद्भक्ति में स्वस्थ कर लिया। उन्होंने प्रेम की मर्यादा गायी है-

'पीरिति बलिया, एकटी कमल, रसेर सायर माझे।
प्रेम-परिमल, लुबध भ्रमर, घायल, आपन काजे।।
भ्रमरा जानये कमल माधुरी, तेइ से ताहार वश।
रसिक जानये रसेर चातुरी, आने कहे अपयश।।
सइ ए कथा बूझिबे के।।
जे जन जानये, से जदिना कहे, केमने धरिबे दे।
धरम करमलोक-चरचा ते, ए कथा बूझिते नारे।।
एतिन आँखर जाहारमरमे, सेइ से बूझिते पारे।।
चण्डीदास कहे शुन लो सुदरि, पीरिति रसेर सार।
पीरिति रसेर रसिक नहिले, कि छार परान तार।।'

चण्डीदास के राधा-कृष्ण-प्रेम-गान ने पूर्वराग, दौत्य, अभिसार, सम्भोग, मिलन, आत्मनिवेदन आदि पर पूर्ण प्रकाश डाला है। चण्डी-दास ने राधाकृष्ण के रूप-सौन्दर्य-चितन की गहरी नीव पर अपना प्रेम-राजप्रासाद समस्थित किया। समस्त चराचर में उन्हे अपने प्रेम-देवता का ही सौन्दर्यदर्शन हुआ। चण्डीदास ने राधा-तत्व की परख अपने हृदय की कोमलतम भक्ति के सिंहासन पर की। वे नित्य कृष्ण-प्राणमयी के रूप में चण्डीदास द्वारा चित्रित की गयी है। वे श्रीकृष्ण की अनन्त सगिनी है। चण्डीदास ने ऐसी राधा की भक्ति की जिन्होंने अपना प्राण नन्दनन्दन में पूर्णरूप से समर्पित कर दिया।

चण्डीदास की राधा का मन पूर्ण रूप से यमुना किनारे कदम्ब के नीचे त्रिभंगी रूप में खड़े होने वाले व्रजनन्दन ने अपना लिया। उनकी वंशी में चण्डीदास ने सदा 'राधा-राधा' का ही स्वर सुना। श्याम-सुन्दर की प्रत्येक आज्ञा में रत रहने वाली राधा की ही लीलाभक्ति चण्डीदास ने गायी। एक पद में राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध का उन्होने अत्यन्त दिव्य चित्रण किया है उनका कथन है

'नागर चतुरमणि कहेन एक टिवाणी, शुन शुन सुकुमारी राधे।
दाँडाइते शिख आगे, तवसे भलाइ लागे, तवे वाशी शिखाइव साधे।।
धरह आमारवेश, आरोह चरण शेष, पदेर उपर देह पद।
त्रिभग हइया रउ वाशी सने कथा कउ, वाशी गाउ हइया आमोद।।
शुनिया आनन्द वडी से नव किशोरी गौरी, त्रिभगिम भागिम सुठाम।
धरियाराधार करे नागररसिकवरे, अगुलि धुराइ ते शिखान।।
रन्ध्रे-रन्ध्रे से अगुली, शिखाइ छे वनमाली, देह फुकु सुकुमारी राधा।
वाजाह मधुर तान, मन्द मन्द कर गान, तिले केउ नाहि कर वाधा।।
हासि कहे सुवदनी, एवे किशिखिबे आमि, अलपे अलपे जदि परि।
कहेन रसिकराज बूझितुमि पावे लाज, चण्डीदास जायवलिहारी।'

राधाकृष्ण की लीला का चिन्तन ही चण्डीदास का प्राणधन था, उनके रूप और सौन्दर्य की स्मृति ही चण्डीदास की भगवद्भक्ति थी। उन्होने राधाकृष्ण की मधुर रस की उपासना की। उन्होंने अध्यात्मपक्ष से परकीया भाव का वरण कर अपनी भगवद्भक्ति चरितार्थ की। उनका परकीया-भक्ति-भावसदा मनोगत ही रहा, देह सम्बन्ध में उसका कभी अवतरण नही हो सका। उन्होंने भगवद्भक्ति की प्राप्ति के लिये परकीया-भावगत दिव्य प्रेम की आग में शरीर को तृण के समान जला कर राख कर देने मे ही परम सुख का साक्षात्कार किया। वे श्यामसुन्दर का ही रात-दिन चिन्तन किया करते थे उनकी एक स्थल पर भक्तिपूर्ण मार्मिक उक्ति है

'ए तिन भुवने ईश्वरगति।
ईश्वर–छाडिते पारे शकति।।
ईश्वर छाडिते देह ना रय।
मानुष भजन केमने हय।।

साक्षाते नहिले किछुइ नइ॥
मने ते भाविले स्वरूप हये॥
कहे चण्डीदास बुझये के।
इहार अधिक पुछये जे॥'

चण्डीदास को सदा अपने प्रियतम के वियोग का भय बना रहता था। वे निरन्तर विरहोन्माद में उद्विग्न रहते थे। उन्होने अनुभव किया कि हसते-हसते तो मैंने प्रेम किया था और रोते-रोते समय बीत रहा है। उनकी उक्ति है कि कौन कहता है कि प्रीति अच्छी वस्तु है। प्रीति के कारण मेरी जो अवस्था हो गयी है उसे देख कर सशय होता है कि प्राण रहेगा या चला जायेगा। चण्डीदास ने भगवद् के वियोग-पक्ष की व्यथा का भी विशेप अनुभव किया' उनका कथन है

'एमन पीरिति कभु देखि नाइ शुनि,
पराणे पराणे वाघा आपना आपनि।
दुहु कोले दुहु कान्दे विच्छेद भाविया,
तिल आघ ना देखिले जाय जे मरिया।
जल विना मीन जेन कवहु ना जीये,
मानुप एमन प्रेम कभु ना शुनिये।
भानु कमल वलि सेह हेन नहे,
हिमे कमल मरे, भानु सुखे रहे।
चातक जलद कहि, से नहे तुलना,
समय ना हले सेह ना देय एक कणा।
कुसुम मधुपे कहि सेह नहे तुल,
ना एले भ्रमरा आपनि ना जाय फूल।
कि छार चकोर चाँद दुहु, सम नहे
त्रिभुवन हेन नाइ चण्डीदास कहे।'

चण्डीदास भगवान् के प्रेमी भक्त और विरह-योगी थे। उन्होने शास्त्र सम्मत, निगमागमगत भगवत्प्रेम की साधना की। चण्डीदास और उनकी रामी दोनों राधिका के रसराज्य की प्रजा थे। उन दोनो ने रूप में स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त कर तथा भगवदीय प्रेम-सरोवर में स्नान

कर राधाकृष्ण के चरण में आत्मार्पण कर दिया। चण्डीदास की सहज प्रेम-भक्ति राधाकृष्ण की शरणागति का दूसरा नाम है।

सम्वत् १५३४ वि में चण्डीदास ने देह का परित्याग कर भगवद् प्रेमराज्य में प्रवेश किया। उनकी अन्तिम जीवन-लीला की कथा अमित वेदनामयी है। वे किर्णहार ग्राम मे अपने एक मित्र के घर पर बैठ कर प्रेम-गान गा रहे थे, उनके नयनो में व्रजरमण और उनकी राधा की सौन्दर्य-माधुरी छलक रही थी, वे आत्मा के दिव्य स्वर से भगवान का आवाहन कर रहे थे कि ठीक उसी समय सहसा छत गिर जाने से उनके प्राण चल बसे। वे प्रेमी भक्त, रसिक सन्त और विरह-योगी थे।

रचना

चण्डीदास ने राधाकृष्ण के सम्बन्ध में अनेक सरस पद लिखे। रामी सम्बन्धी उनके पद उपलब्ध हैं।

पद

सखि कि बुके दारुणव्यथा, से देशे जाइब जे देशे ना शुनि।
पाप–पिरीतिर–कथा।
सइ के बले पीरिति भाल।
हॉसिते हॉसिते पीरिति करिया, कॉदिते जनम गेल।
कुलवती हइया कुले दॉडाइया, जे जन पीरीति करे।
तुषेर अनल से जन साजाइये, एमति पुडिया मरे।
हाम अभागिनी जनम दुखिनी, प्रेमे छल छल ऑखि।
'चण्डीदास' कहे जेमति हइल, पराण सशय देखि।

श्याम वामे बैठल किशोरी, मेघे जेन मिशये बिजुरी।
सोनार कमले मधुकर, तेमति माजल कलेवर।
दुहु रूप ना जार कथन, कोटि कोटि मुरछे मदन।
सहचरी कुंज निकेतने, केह करे चामर व्यजने।

केह वा चन्दन दिछे गाय, केह चुया ताम्बुल जोगाय।
केह करे पारवा मृदु वाय, 'चण्डीदास' दुहु गुण गाय।

सइ के वा सुनाइल श्याम-नाम।
कानर भीतर दिया मरमे पशिल गो आकुल करिल मोर प्रान।
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछेगो वदन छाडिते नाहि पारे।
जपिते जपिते नाम अवश करिल गो केमने पाइव सइ तारे।
नाम-परतापे आर ऐछन करिल गो अगेर परशे किवा हय।
जे खाने वसति तार नयने देखिया गो युवति घरम कैछे रय।
पाशरिते करि मने पाशारान जायगो, कि करिवो कि हवे उपाय।
कहे द्विज 'चण्डीदास' कुलवती कुल नाशेआपनार यौवन याचाय।

मानुष मानुष, सवाइ वलये, मानुष केमन जन।
मानुष रतन, मानुष जीवन, मानुष पराण धन।
भुवन भुलये, ए सव लोके, मरम नाहिक जाने।
मानुषेर प्रेमा, नाहिक जीव के, मानुष से प्रेमा जाने।
जे जन मानुष, से जाने मानुष, मानुषे मानुष चिने।
ए लोक मानुष, ए दुर्येरवल, मानुषे मानुष जाने।
मानुष जारा, जीयन्ते मरा, सेइ त मानुष सार।
मानुष लक्षण, महा भाग्यवान, मानुष सवार पर।
मानुष नाम विरल धाम, विरल ताहार प्रीति।
'चण्डीदास' कहे, सकलि विरल, के जाने ताहार रीति।

भी घर से वाहर निकलने पर लोग उनके लिये चितित हो उठते थे। वे स्वभाव के वडे चचल थे। दिन भर वागों में या सरोवर के किनारे अपने साथियो के साथ घूमा करते थे। ब्रह्मपुत्र सरिता में तैरा करते थे, वन में हरिणों के पीछे दौडते रहते थे। बारह साल के हो गये पर शिक्षा में उनका मन ही नही लगता था। एक दिन वे वाहर से खेल कर देर से आये, दादी भोजन परोसकर प्रतीक्षा कर रही थी, वे चितित और उदास थी। शकरवर ने उदासी और चिता का कारण पूछा। दादी ने कहा कि तुम्हारे कुल में वडे-वडे विद्वान होते आये है, उन्होंने तुम्हारे कुल की प्रतिष्ठा और ख्याति बढायी है पर तुम खेल-कूद में इतने आसक्त हो चले हो कि वश की मर्यादा की रक्षा होने में सन्देह है। शकरवर को दादी की वात लग गयी। उन्होने उनके चरण छूकर प्रतिज्ञा की कि मै अवश्य पढूगा और लोगों में अपने पाण्डित्य द्वारा भगवद्भक्ति का प्रचार कर जीवन सफल करूँगा। वे होनहार और सस्कारी थे, उनका मन खेल-कूद से उचट गया।

महान शास्त्रज्ञ और सस्कृत के अद्वितीय विद्वान् महेन्द्र कन्दलि की पाठशाला में वे अध्ययन करने लगे। शकरवर की प्रतिभा और गुरु-भक्ति से महेन्द्र कन्दलि वहुत प्रभावित थे। वारह-तेरह साल की ही आयु में वे काव्य-रचना करने लगे, उनके उच्चकोटि के काव्य-सृजन मे गुरु वहुत प्रसन्न हुए। एक दिन विचित्र घटना हुई। पाठशाला की छुट्टी हो गई थी। विद्यार्थी अपने-अपने घर के लिये चल पडे। केवल शकरवर रह गये। एकादशी की तिथि थी। पाठशाला के आहाते में ही एक वृक्ष के नीचे शकरवर विश्राम करने लगे। उनकी आँख लग गयी। धूप तेज थी। महेन्द्र कन्दलि कही जा रहे थे, उन्होने शकरवर को देखा और आश्चर्य में पड गये कि एक साँप उनके सिर पर फन की छाया डाल कर रक्षा कर रहा है। वे शास्त्रज्ञ थे, वे समझ गये कि शकरवर के रूप में धरती पर किसी दिव्य विभूति का अवतरण हुआ है। उन्होंने उन्हे 'देव' की उपाधि दी। शकरवर गुरु के आशीर्वाद मे शकरदेव हो गये। उनके पूर्व जीवन के पुण्य जाग उठे, मन में ममार के प्रति वैराग्य का भाव वढना आरम्भ हो गया। अध्ययन समाप्त कर वे घर आ गये, गुरु मे विदा ली। महेन्द्र कन्दलि ने

उनकी योग्यता और पौराणिक अध्ययन में निपुणता देख कर घोषणा की कि शकरदेव बहुत बडे ज्ञानी, ईश्वरभक्त और योगी है। घर आकर वे तटस्थ-से रहने लगे, योगाभ्यास करने लगे। उनके पिता कुसुमवर सशकित हो गये कि कही शकरदेव सन्यासी न हो जायें।

तेईस साल की अवस्था में एक प्रसिद्ध कायस्थ कुल की कन्या सूर्यवती से उनका विवाह कर दिया गया। गृहस्थाश्रम में उनका मन तनिक भी नही लगता था। वे रात-दिन भगवान कृष्ण की लीलाओं का चिन्तन किया करते थे, भागवत पुराण का पाठ करते थे और योगाभ्यास में अपने अधिकाश समय का सदुपयोग करते थे। थोड़े समय के वाद उनके पिता और पत्नी का देहान्त हो गया। पिता की मृत्यु से उनके कोमल हृदय को वडा धक्का लगा। उन्होने तीर्थयात्रा का निश्चय किया। अपनी कन्या मनु का विवाह-सस्कार सम्पन्न कर वे अपने कुलपुरोहित रामराम, शिक्षागुरु महेन्द्र कन्दलि और सत्रह अनुयायियो को साथ लेकर चौंतीस साल की अवस्था में तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। काशी, गया, वृन्दावन, मथुरा, वदरिकाश्रम, द्वारका और रामेश्वर आदि में उन्होने वैष्णवधर्म का विजय-केतन फहराया। अयोध्या, वाराहकुण्ड, सीताकुण्ड, और प्रयाग आदि को अपनी उपस्थिति से धन्य किया, सन्त और महात्माओ की चरणधूलि से ही तीर्थक्षेत्र की सार्थकता चरितार्थ होती है। अपने यात्राकाल में उन्होने विचार-क्रान्ति की, समाज का भागवतधर्म अथवा वैष्णव सिद्धान्त के माध्यम से आध्यात्मिक कायाकल्प किया। चारो ओर घूम-घूमकर कृष्णभक्ति का प्रचार किया। वृन्दावन में निवास कर उन्होने 'वडगीत' की रचना पूरी की। काशी में सन्त कवीर से उनका सत्सग हुआ था, दोनो एक दूसरे से प्रभावित थे। उन्होने अपनी ज्ञान-सचय प्रवृत्ति और भक्तिभावना से इस यात्रा काल में लोकजीवन विकसित और प्रभावित किया। उन्होने वदरिकाश्रम में मन को सम्वोधित करते हुए कहा

'मन, राम का चरण-चिंतन करो,
देखते नही हो, काल निकट आ रहा है,
प्रत्येक क्षण आयु समाप्त हो रही है

किसी समय भी प्राण निकल सकता है,
मन, काल रूपी साँप निगल रहा है,
जानते नही हो, मृत्यु बढती आ रही है।
मन, निस्सन्देह यह शरीर नष्ट होगा
इसलिये माया का वन्धन तोडकर राम का
चरण-चितन करो, तुम अन्धे हो,–
तुम देख कर भी नही देख पाते हो।
मन, तुम क्यो असावधान और निद्रित हो,
जागो और गोविन्द का चिंतन करो।
मन, शकर का यह दृढ विश्वास है
कि राम ही एकमात्र परमाश्रय है।'

इस यात्राकाल में उन्होने माधवदेव को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। माधव प्रतिभाशाली कायस्थ युवक थे। नवगाव जनपद के वन्दुका-ग्राम में पैदा हुए थे। माधव शाक्त थे। शकरदेव ने कहा कि देवी-देवता के प्रति की गयी भक्ति भी भगवान अच्युत नारायण की ही उपासना है, उन्होंने श्रीमद्भागवत का एक श्लोक प्रमाणरूप में रखा, माधव देवविवेकी और ज्ञानी थे, वे भागवत धर्म में दीक्षित हो गये। माधव देव के वाद दामोदर और हरिदेव दो विद्वान ब्राह्मणो ने शकरदेव से दीक्षा लेकर भगवद्भक्ति के प्रचार में अमित सहयोग दिया। आसाम का एक-एक कण कृष्णभक्ति की सरसता में सप्लावित हो उठा।

वारह साल के वाद अपने साथ अनुयायियो का एक समूह लेकर घर लौट आये। उन्होंने एकशरण सम्प्रदाय की नीव डाली। लोग दूर-दूर से आकर उनके शिष्य होने लगे। शकरदेव का समय भगवद्-भक्ति सम्वन्वी पदो की रचना और भजन तथा कीर्तन में वीतने लगा। तीर्थयात्रा की समाप्ति पर शकरदेव ने कामरूप जनपद के वरपेटा ग्राम में अपना निवासस्थान चुना, पतवांसी में रह कर श्रीकृष्ण की शुद्ध भक्ति का प्रचार किया। कालिन्दी नामक कन्या से लोगों के आग्रह पर दूसरा विवाह किया। इस नवीन गृहस्थाश्रम में भी भक्ति-साधना में कोई कमी नही आने दी। उनका भगवद्प्रेम वढता

गया, यश फैलता गया। तिरहुत में जगदीश मिश्र नाम के एक सात्विक और धर्मनिष्ठ तथा भगवद्भक्त ब्राह्मण रहते थे। वे पुरी में भगवान जगन्नाथ के सम्मुख श्रीमद्भागवत का पाठ करने गये। श्री जगन्नाथ ने उन्हे स्वप्न में शकर देव के पास जा कर पाठ सुनाने का आदेश दिया। वे शकरदेव के पास गये। उनके पवित्र दर्शन से अपने आप को सफल किया। इस घटना से महात्मा शकरदेव की भगवद्प्रियता का पता चलता है।

महात्मा शकर देव ने दूसरी तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान किया। पहले वे गोरखपुर जनपद में भगवती आमी नदी के तट पर मगहर में सन्त कबीर से मिलने आये। सन्त कबीर से भेंट कर उन्होंने पुरी की यात्रा की। उस समय गौराग कृष्ण चैतन्य महाप्रभु पुरी में ही थे। दोनो एक दूसरे से हृदय खोल कर मिलने चले। शकरदेव आसाम के चैतन्य थे। महाप्रभु कृष्ण चैतन्य ने उनका विशेष स्वागत किया, और कुछ दिनो तक दोनो एक दूसरे की भक्ति-माधुरी का आस्वादन करते रहे। सार्वभौम भट्टाचार्य जो चैतन्य महाप्रभु के विशेष प्रशसको में से एक थे शकरदेव के चरित्र और भक्तिमूलक आचरण से बहुत प्रभावित हुए। उन्होने शकर देव का चरित्र भी लिखा है। श्रीधर कन्दलि भी शकरदेव के प्रधान शिष्यो में से एक थे। दूसरी यात्रा में शकर देव नें दक्षिण भारत के अधिकाश तीर्थों का भ्रमण किया, इस समय उनकी अवस्था लगभग इक्यासी वर्ष की थी।

दूसरी यात्रा समाप्त कर लौटने पर आसाम-प्रान्त का राजसम्मान उनकी चरण-धूलि लेने के लिये दौड पडा। शकरदेव तो राजसम्मान और लोकप्रतिष्ठा की सीकचो से बाहर थे। राजा के भाई और सेनापति शीलराय शकरदेव के शिष्य हो गये। उनके भागवत धर्म के प्रचार को देखकर तथा उनकी सत्कार-वृद्धि से कुछ ब्राह्मण ईर्ष्या करने लगे। शास्त्रार्थ में महात्मा शकर देव को पराजित करने के लिये काशी ने विद्वान आये पर उन्होंने शकरदेव की भक्ति और सरलता तथा निष्कपट व्यवहार से प्रभावित होकर स्वय अपनी पराजय मान ली। कूच विहार के राजा नरनारायण इस घटना से बहुत प्रभा-वित हुए। उन्होंने अपनी राजसभा में पधारने के लिये शकर देव को

आमन्त्रित किया, उनके पधारने पर शिष्य होने की इच्छा प्रकट की। महात्मा शकरदेव ने राजा को दीक्षा देना उचित नही समझा। उन्होने स्पष्ट कह दिया कि आपको दीक्षा नही दी जा सकती है, राज प्रवन्ध मे आप को ऐसे कार्य करने पडते है जो वैष्णव धर्म के सिद्धान्तो के सर्वथा विपरीत है। पर राजा ने वार-वार दीक्षा के लिये आग्रह किया। शकर देव ने राजा से कहा कि आप रात भर उपवास-व्रत कीजिये और भगवान का नाम लीजिये। दूसरे दिन आप को दीक्षा दी जायेगी। ऐसा कह कर महात्मा शकरदेव अपने स्थान पर आ गये। उनका मन वहुत खिन्न था। वे यही सोच रहे थे कि राजा से हरि की भक्ति नही निभ सकेगी, वैष्णव धर्म कलकित होगा। उनकी दशा प्रत्येक क्षण शोचनीय होती गयी। उनके शिष्य माधवदेव पतबौसी मे थे। दूसरे दिन कूचविहार के राजा के कर्मचारी शकर देव को लेने आये। माधवदेव को शकरदेव ने अपना उत्तराधिकारी घोषित कर एक सौ वीस साल की आयु में कूचविहार में ही अपने घर में योग द्वारा सम्वत् १६२६ वि में देह में चन्दन आदि का लेप कर समाधि ली, उन्होने भगवद्विग्रह के सम्मुख अपनी जीवनलीला समाप्ति की। राजकर्मचारी दरवाजे पर वैठे रह गये। थोडे समय के वाद उन्हें इस दुखमयी घटना का पता चला। राजा स्वय वहुत दुखी हुए। इस प्रकार आसाम में वैष्णवधर्म का प्रवर्तन कर उन्होने लोक जीवन में भगवद्भक्ति की प्राणप्रतिष्ठा की।

भागवत धर्म का प्रचार ही महात्मा शकरदेव के जीवन का प्रधान कार्य था, भगवान का भजन ही उनके सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त था। महात्मा शकरदेव रामानुज आचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद मे अधिक प्रभावित थे। आसाम मे उन्होने तान्त्रिक प्रभाव का जडो-न्मूलन कर दिया। उनके द्वारा प्रचलित धर्म महाधर्म महापुरुपधर्म अथवा महापुरुपिया धर्म के नाम मे विख्यात है। उनकी एक उपाधि 'महापुरुप' की भी है। शकरदेव के महापुरुप धर्म में दीक्षा—शरण कहलाती है और दीक्षित व्यक्ति 'शरणिया' विशेपण से- समलकृत होते है। उन्होंने अपने धर्म के सिद्धान्तो का मूल आधार श्रीमद्-भगवद्गीता और भागवत पुराण को स्वीकार किया। 'श्रीकृष्ण' को ही

उन्होने परम आराध्य स्वीकार किया। कीर्तन घोष में शकरदेव की उक्ति है कि जिस प्रकार अग्नि में समस्त वस्तुएँ जल कर स्वाहा हो जाती हैं, वे चाहे या न चाहे उसी प्रकार हरि के नाम से असख्य पाप नष्ट हो जाते हैं। उन्होने कृष्ण के चरणारविंद पर अचल भक्ति की याचना की। उन्होने दास्य-भक्ति अपनायी, उनका निश्चय था कि मधुर भक्ति समाज के लिये उपादेय नही हो सकती है, वह तो विशिष्टतम साधना है, समाज के लिये दास्य भक्ति ही वरणीय है। उनकी उक्ति है.

'देव, मैं आपके चरण पर विनत हूँ
मैं आपसे ..प्रार्थना करता हूँ—
मेरी आत्मा सासारिक वस्तु के विषैले
नाग के जहर से सतप्त है,
इस धरती पर सब कुछ क्षणभगुर
और नश्वर है—धन, सगे-सम्बन्धी,
जीवन, यौवन, और ससार—सब-के-सब
नश्वर हैं। सन्तान, परिवार—सब
अनिश्चित हैं। किसी पर भी भरोसा
नही किया जा सकता है।'
कमल के पत्ते पर एक जल-बूंद के समान
मन चचल है, उसमें दृढता नही है,
आपकी कृपा-दृष्टि मे कुछ भी अनिश्चित
नही है, आपके चरण की शरण में भय नही है।
मैं—शकरदेव—आपके चरणो में प्रणत
होकर निवेदन करता हूँ, हृषीकेश,
मुझे दुखरूपी ससार-सागर से पार कर दीजिये।
मेरा हृदय अपनी ओर कर लीजिये,
मुझे अपना बना लीजिये, हे कृपामय,
मुझे सत्य का प्रकाश दिखलाइये, मेरा
पथ-प्रदर्शन कीजिये। आप मेरे
सौभाग्य हैं, सर्वस्व हैं, मुझे
दुख से मुक्ति दीजिये।'

उन्होंने चैतन्य महाप्रभु की तरह आसाम की जनता को बताया कि हरि के नाम का कीर्तन ही परम धर्म है। इसमें समस्त प्राणियों का अधिकार है, हरि का नाम सब धर्मों का राजा है–ऐसा शास्त्र का विचार है। शंकरदेव वास्तव में युगप्रवर्तक महात्मा थे, भक्तयोगी थे। आसाम के आदिकवि हेम सरस्वती और माधव कन्दलि के रामायण-अनुवाद और 'देवजित' काव्य से शंकरदेव अमित प्रभावित थे, भक्तिसिद्धान्त की स्थिरता में उन्हें इनसे बड़ी सहायता मिली थी। उन्होंने भक्तिप्रधान ग्रन्थों की रचना की। कूचबिहार के राजा नर-नारायण के सेनापति और भाई प्रथम शुक्ल ध्वज अथवा शीलराय के अनुरोध पर महात्मा शंकरदेव ने बहुत-से नाटकग्रन्थ लिखे। केलि-गोपाल नाटक, रामविजय नाटक आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने राम-विजय नाटक में स्वीकार किया है

'राम क परम भकति रस जाना,
श्री शुक्लध्वज नृपति-प्रधाना।
राम विजय जो करावत नाट
मिलह ता क वैकुण्ठ क बाट।'

महात्मा शंकरदेव आध्यात्मिक साधना में अद्वैतवादी थे पर व्यवहार पक्ष में उन्होंने भक्ति का प्रश्रय लिया। उन्होंने प्राणीमात्र को भगवान का अभिव्यक्त रूप बताया। जीव का सर्वश्रेष्ठ धर्म भगवान कृष्ण की भक्ति है–ऐसा उनका अटल सिद्धान्त था। उन्होंने संसार रूपी भयानक वन से काम-क्रोध रूपी कुत्तों और लोभ-मोह रूपी बाघों से आत्मोद्धार करने के लिये सदाशिव कल्याणमय परमात्मा की शरण ली। उनका वचन है

'ए भव गहन वन, अति मोह पाशे घन,
ताते हामो हरिण बेड़ाय।
फंदिलो मायार पाशे, काल व्याध धाया आशे,
काम-क्रोध कुत्ता खेदि खाय।
हराइल चेतन हरि, न जानी कियते तरि
गुणिते दगध भेल जीव।

लोभ-मोह दुहो वाघ, सतते न छाडे, लाग
राखु राखु राखु सदाशिव।'

उन्होने कहा कि भक्ति के मार्ग में प्रेम और विश्वास की परम आवश्यकता है। उनकी भक्ति-साधना में राधा का स्थान गौण है, राधा मधुर भक्ति की प्राण-सजीवनी है, दास्य भक्ति में रावा अन्य गोपियो की तरह गौण समझी जाती है। शकरदेव ने जीवो का परमाश्रय अपने भक्ति-सिद्धान्त में कृष्ण को ही माना। गोविन्द के नाम-जप और भजन-कीर्तन में शकरदेव ने परमानन्द की अनुभूति की। शकरदेव के आराध्य श्रीकृष्ण अपने आप में परिपूर्ण है, स्वरूपस्थ है। उन्होने कहा कि जीव को लक्ष्मी की तरह नारायण की सेवा, भक्ति और उपासना में निरन्तर सलग्न रहना चाहिये। राम और कृष्ण अभेद है, एकरूप और नितान्त अभिन्न है। राम और कृष्ण चराचर के उपास्य है। उनके कृष्ण वेदान्त प्रतिपाद्य निराकार-निर्गुण ब्रह्म है। कृष्ण पूर्ण ब्रह्म है। शकरदेव का दीक्षा-मन्त्र—'शरण मे जगन्नाथ श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम' है। उनका जीवन श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्ण समर्पित था। वैकुण्ठ से उन्होने धरती के जीवो के लिये भक्ति-सुधा का असीम सागर उतारा। वे सिद्धयोगी थे। उन्होने वहुत से लोकोत्तर कर्म किये। उनकी गर्वोक्ति थी कि ईश्वर प्राप्ति तर्क या पाण्डित्य से नही, भक्ति से होती है

'भाई मुखे बोला राम, हृदय धरा रूप,
एते के मुकुति पाइवा, कहिलो स्वरूप।
पाप सहारक हरिनाम महाबलि
यार ध्वनि मुनि कम्पि पलाय पाप कलि।'

शकरदेव ने तुलसी और सूर के अग्रज की तरह पूर्व भारत मे—आसाम में वैष्णव धर्म के सिद्धान्तो का समन्वय किया। वे आसामी साहित्य के पिता थे। उन्होने साहित्य को भक्ति-रूप प्रदान किया, राम और कृष्ण को साहित्य का प्रतिपाद्य स्वीकार कर श्रीमद्भागवत और रामायण के पौराणिक ब्रह्म की भक्ति सिद्ध की।

रचना

शंकरदेव ने संस्कृत और व्रज बोली में ग्रन्थ लिखे। भागवत पुराण के प्रथम, द्वितीय, अष्टम, एकादश, द्वादश स्कन्ध का भावानुवाद किया। रुक्मिणी-हरण, पारिजातहरण, केलिगोपाल नाटक, रामविजय नाटक, वैष्णवामृत, भक्तिरत्नाकर, उत्कलमाला, लीलामाला, कीर्तन घोष, वडगीत आदि उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

वोलहु राम नामे से मुकुतिनिदान।
भव वैतरणी तरणी सुख सरणी
नाहि नाहि नाम समान।
नाम पचानन नादे पलावत
पापदती भयभीत।
वुलिते एक सुनिते सत नितरे
नाम धरम विपरीत।
वचने वुलि राम धरम अरथ काम
मुकुति सुख सुखे पाइ।
सव कहु परमा सुहृद् हरिनामा,
छुटे अन्तकेरि दाइ।
नारद शुक मुनि राम नाम विनि
नाहि कहल गति आर।
'कृष्ण किंकर' कय छोड मायाभय
राम परम तत्वसार।

———

जादव हे, कैछन वात वेगारि।
सकल निगम तेरि अन्त न पावत,
हाम पामर गोपनारि।
तुहु परम गुरु निखिल निगम पति
मानुम भाव तोहारि।

चतुर वयन तेरि, माया विमोहित,
जाने नाहिं योग विचारि।
तेरा अइचन भाव न जानिए,
कयालु गरव नाथ तोइ।
राधा उचित वात, कहय माधव दिन
गति गोविन्द पद मोइ।

परम निर्मल धर्म हरिनाम कीर्तन
त समस्त प्राणीर अविकार।
एतेके से हरिनाम समस्त धर्मेर राजा,
एहि सार शास्त्रर विचार।

'कृष्ण किकर' कह विछोडि विसम कामा,
राम-चरण लेहु शरण, जप गोविन्द कु नामा।

सन्त नानक

'जिन लोगो ने सत्वगुणियों के परमाराध्य श्रीहरि को हृदय में धारण कर लिया है उन महात्मा साधुओ के लिये भला कौन-सा काम दुष्कर है और ऐसा कौन-सा त्याग है जिसे वे नहीं कर सकते है, वे सब कुछ त्यागने और करने में समर्थ है।'

—श्रीमद् भागवत

भारत देश आदि काल से तपोभूमि की सज्ञा से समलकृत होता चला आ रहा है। मध्यकालीन विश्व-इतिहास ने वहुत वडे-वडे सन्तो, दार्शनिको, कवियो और साहित्यकारो को जन्म दिया, उनमें सन्त नानक को एक विशिष्ट और परमोच्च स्थान प्राप्त है। वे सन्त कबीर के परम्परावादी तो नही थे पर निरकार, निरञ्जन, रोम-रोम में रमनेवाले और अलख सत्य-परमात्मा के स्मृतिकार थे। नानक ने हरि के नाम-जप को सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया। नानक ने सत्य का स्तवन किया। जीवमात्र की मौलिक एकता सिद्ध की। उन्होने सत्य और परमात्मा की अभिन्नता की ओर लक्ष्य किया। उनका आत्मवोध परमात्मा की ओर ले जाता है। उनकी आत्मा की वाणी का मीठा कठ कह सका

'तुमरी उस्तुति तुम ते होइ।
नानक और न जानमि कोइ।'

नानक ने सत्य श्री अकाल, परमेश्वर के भजन को ही जीवन का परम ध्येय वतलाया। उनकी भारतीय शास्त्र की भगवदीय परम्परा में पूरी-पूरी आस्था थी। भारतीय इतिहास की वे वहुत वडी आवश्यकता थे। दिल्ली की केन्द्रीय राजसत्ता नानक के प्राकटच-काल में वाहरी आक्रमणो से क्षुब्ध और त्रस्त थी। नानक ने भयभीत जनता को सत्यनाम की महत्ता वताकर समाज का मौलिक ढग से आध्यात्मिक

सगठन किया। वे निर्गुण ज्ञान-धारा के सन्त थे, सन्तमत की पुष्टि कर उन्होंने समाज मे चिन्मय सत्य—परम पुरुप परमात्मा की उपासना चलायी। सन्त नानक ने सम्वत् १५२६ वि में वैशाख शुक्ल तृतीया को लाहौर के सन्निकट तलवण्डी ग्राम में जन्म लिया था, उनके जन्म-स्थान को नानकाना साहब भी कहा जाता है। उनके पिता का नाम कालूचन्द था, वे पटवारी थे, माता का नाम तृप्ता था। नानक वचपन मे ही ईश्वरोन्मुख थे, उनके सस्कार दिव्य और शुभ थे। उनके पिता उन्हे सासारिक कार्यों में लगाना चाहते थे। उनकी शिक्षा का क्रम भी उन्होने कुछ सासारिक ढग पर ही रखना चाहा। वचपन में पाठशाला में उन्होंने अपने शिक्षागुरु से एक दिन कहा कि आप मुझे ऐसी शिक्षा दीजिये जिससे मेरा माया-बन्धन टूट जाय, मै भगवान का भजन कर सकू और सासारिक ज्वाला मुझे न सता सके। उनके शिक्षा-गुरु आश्चर्यचकित हो गये। नानक ईश्वर के चिन्तन, स्मरण और भजन में रात-दिन लगे रहते थे। घरवाले उन्हे ईश्वर से विमुख कर प्रपच में जकडने का साहस न कर सके। वे एकान्त में वैठ कर भगवान का ध्यान करते थे। एक दिन वे दोपहर तक घर न आ सके, लोग उनके लिये चिंतित हो उठे। पिता उनकी खोज में गये, ध्यान में लीन पाया, घर लाकर भोजन पर बिठाया पर उन्होने भोजन नही किया। उनकी वाह्य स्थिति विलक्षण देख कर पिता ने उन्हे स्वस्थ करने के लिये वैद्य बुलाया। कुछ चेत होने पर नानक ने वैद्य से कहा, "आप दवा देकर मुझे नीरोग तो करना चाहते हैं पर आपके भीतर काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर तथा लोभ आदि जो व्याधि हैं उनका उचित उपचार कर आपने अपने आपको स्वस्थ कर लिया है या नही।' वैद्य जी नानक की वात सुन कर अवाक हो गये। भवरोग के धन्वन्तरि के मध्यकालीन सस्करण के चरण पर मस्तक नत कर उन्होंने नानक के घरवालो से कहा कि आप लोगो ने इस समय मुझे यहाँ वुला कर मेरा परम उपकार किया है। मै जन्म-जन्म तक आप के आभार मे दवा रहूँगा। आपके घर में असाधारण व्यक्ति ने जन्म लिया है। प्राणीमात्र के दुख और कष्ट ने उन्हे चिंतित किया है। भगवान की उन पर महती कृपा है। मेरा तो उनके दर्शन मात्र से मोहान्धकार हट गया। नानक में असाधारण पुरुप के लक्षण देख कर भी

उनके पिता ने अपने प्यारे पुत्र को गृहस्थ के ही रूप में देखना चाहा। उनके मन ने कभी यह नही स्वीकार किया कि नानक घर त्याग कर सन्यासी हो जायें। उन्होने नानक को खेती करने की आज्ञा दी। नानक ने कहा कि मैंने जितनी धरती पर खेती की है वह तो बहुत लम्बी-चौडी है, उसमें मैंने अपने इष्ट मन्त्र—सत्य नाम का बीज बोया है। जो फसल होगी उसका भण्डार अक्षय होगा। मेरी खेती में जो रत्न फलेगे केवल उनकी प्राप्ति से ही जीवमात्र के इह लोक और परलोक दोनो सुधर जायेंगे। प्राणीमात्र अनन्त शान्तिमय जीवन के भागी होगे। , वे परमेश्वर की भक्ति-भागीरथी में स्नान कर ससार मे सत्य-दान की महिमा प्रतिष्ठित करेगे। नानक के कथन से पिता को विशेष सतोप न हुआ। वे यही चाहते थे कि पुत्र सासारिक यश और सम्पत्ति की अभिवृद्धि करे। उन्होने नानक को दूकानदारी की सीख दी और परदेश में सौदा खरीदने के लिये भेजना चाहा। नानक ने विनम्रता-पूर्वक कहा कि इस ससार में चारो ओर मेरी ही दूकानें है, सन्तजन स्थान-स्थान पर हरिनाम का सौदा कर रहे हैं। मेरी दूकान में सासा-रिक वस्तु नही मिलती है, उसमें तो मैंने यत्नपूर्वक सारवस्तु का सचय किया है। उसमें वस्तु खरीदने वाले स्वर्ग और परमात्मा का योग पाते हैं, आत्मतत्व समझने वाले ही सारवस्तु—सत्यतत्व के गाहक है। पिता के बार-बार अनुरोध करने पर नानक ने कुछ रुपये लेकर विदेश की यात्रा की। उन्होंने इस कार्य में परमेश्वर की पवित्र प्रेरणा का दर्शन किया। मगलविधान देखा। उनके साथ बाला नामक नौकर गया था। रास्ते में एक जगल में कुछ सन्तो की मण्डली देखी। नानक का नवनीत के समान हृदय पिघल गया। उन्होने सारे रुपये सन्तो की सेवा में लगा कर घर की राह ली। पिता उनके इस आचरण से खिन्न और अप्रसन्न हुए। नानक की बहन उन्हे ससुराल ले गयी। नवाब की राजसभा में उनकी नियुक्ति हुई। कुछ दिनो के बाद नानक ने नवाब की नौकरी छोड दी। उनके हृदय में तो परमात्मा के चरण-चिन्तन का भाव उदय हो चुका था। नवाब उनके उच्च चरित्र और आचार-विचार से बहुत प्रभावित था पर नानक ने परमेश्वर की राज-सभा को छोडना अपने लिये हितकर नहीं समझा। उन्नीस वर्ष की अवस्था में गुरदासपुर जनपद के मुलानामक व्यक्ति की कन्या

सुलक्खनी देवी के साथ उनका विवाह कर दिया गया, इस प्रकार नानक ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया, उनके दो पुत्र श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र हुए। श्रीचन्द्र उदासी महात्मा थे उन्होंने उदानी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की प्राणप्रतिष्ठा की। नानक दृढ सयमी, अध्यवसायी और मेधावी थे। उनका मन गृहस्थाश्रम में तनिक भी नही लगता था। उनमें घर के प्रति तनिक भी आसक्ति नही थी। वे अपने दो सेवक वाला और मरदाना को साथ लेकर प्रभु-भक्ति के प्रचार के लिये निकल पडे। वाला उनकी सेवा करता था और मरदाना ईश्वर के अत्यन्त मधुर गुणगान से उन्हे सदा प्रसन्न रखता था। नानक ने निराकार, निरञ्जन अलख ब्रह्म से नाता जोडा, उन्होने अमूर्त तथा निर्गुण ब्रह्म की भक्ति निभाने की सीख दी। उन्होने कहा कि निराकार प्रभु की पूजा से ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकनी है। नानक ने गोरख, नामदेव और कबीर की निराकार-उपासना की परम्परा को प्रगति दी। लोग उनके उपदेश और वेश से प्रभावित हुए। इस ऐति-हासिक यात्रा में उनके सिर पर कलन्दरी टोपी या पगडी रहती थी. ललाट पर केसर का तिलक लगाते थे, गले में माला सुशोभित रहती थी, शरीर पर लाल या नारगी रग का परिधान रहता था। वे इस यात्रा में अमर योगी भर्तृहरि के आश्रम पर भी गये थे। हठयोगी भर्तृहरि से नानक ने कहा कि मनुष्य की रक्षा के लिये भगवान ने भक्तियोग का विधान किया है। भक्ति-मार्ग पर चलने से प्राण सरस हो जाता है, भक्ति ईश्वरीय देन है, अमृतमयी गगा जी भी इसकी स्पर्धा के लिये प्रयत्नशील रहती है, जीवन समुज्ज्वल, सरस और मधुर हो जाता है, भगवान की भक्ति निरन्तर उनके नाम का चिंतन करने से मिलती है। इसकी प्राप्ति के लिये सचेष्ट रहना ही श्रेय मार्ग का अवलम्बन है। भर्तृहरि के आश्रम से वे विश्वम्भरपुर नगर में पहुँचे। इस स्थान का प्रसिद्ध व्यापारी उनका शिष्य हो गया। ऐसा कहा जाता है कि विश्वम्भरपुर में नानक के पास एक हीरा था। नानक ने वाला को उसका मूल्य लगाने के लिये बाजार भेज दिया। सालसराय नामक व्यापारी ने सौ रुपया बयाना देकर हीरे का मूल्य पूछा। नानक ने कहा कि सालसराय इसे नहीं खरीद सकता है और बयाना लौटा दिया। व्यापारी पर इन घटना का बडा प्रभाव पडा,

उनके पिता ने अपने प्यारे पुत्र को गृहस्थ के ही रूप में देखना चाहा। उनके मन ने कभी यह नही स्वीकार किया कि नानक घर त्याग कर सन्यासी हो जायें। उन्होने नानक को खेती करने की आज्ञा दी। नानक ने कहा कि मैंने जितनी धरती पर खेती की है वह तो बहुत लम्बी-चौडी है, उसमें मैंने अपने इष्ट मन्त्र—सत्य नाम का बीज बोया है। जो फसल होगी उसका भण्डार अक्षय होगा। मेरी खेती में जो रत्न फलेगे केवल उनकी प्राप्ति से ही जीवमात्र के इह लोक और परलोक दोनो सुधर जायेंगे। प्राणीमात्र अनन्त शान्तिमय जीवन के भागी होगे। , वे परमेश्वर की भक्ति-भागीरथी मे स्नान कर ससार में सत्य-दान की महिमा प्रतिष्ठित करेगें। नानक के कथन से पिता को विशेष सतोष न हुआ। वे यही चाहते थे कि पुत्र सासारिक यश और सम्पत्ति की अभिवृद्धि करे। उन्होने नानक को दूकानदारी की सीख दी और परदेश में सौदा खरीदने के लिये भेजना चाहा। नानक ने विनम्रता-पूर्वक कहा कि इस ससार में चारो ओर मेरी ही दूकानें है, सन्तजन स्थान-स्थान पर हरिनाम का सौदा कर रहे हैं। मेरी दूकान में सासा-रिक वस्तु नही मिलती है, उसमें तो मैंने यत्नपूर्वक सारवस्तु का सचय किया है। उसमें वस्तु खरीदने वाले स्वर्ग और परमात्मा का योग पाते है, आत्मतत्व समझने वाले ही सारवस्तु—सत्यतत्व के गाहक है। पिता के बार-बार अनुरोध करने पर नानक ने कुछ रूपये लेकर विदेश की यात्रा की। उन्होंने इस कार्य में परमेश्वर की पवित्र प्रेरणा का दर्शन किया। मगलविधान देखा। उनके साथ वाला नामक नौकर गया था। रास्ते में एक जगल में कुछ सन्तो की मण्डली देखी। नानक का नवनीत के समान हृदय पिघल गया। उन्होने सारे रुपये सन्तों की सेवा मे लगा कर घर की राह ली। पिता उनके इस आचरण से खिन्न और अप्रसन्न हुए। नानक की बहन उन्हे ससुराल ले गयी। नवाव की राजसभा में उनकी नियुक्ति हुई। कुछ दिनो के बाद नानक ने नवाव की नौकरी छोड दी। उनके हृदय में तो परमात्मा के चरण-चिन्तन का भाव उदय हो चुका था। नवाव उनके उच्च चरित्र और आचार-विचार से बहुत प्रभावित था पर नानक ने परमेश्वर की राज-सभा को छोडना अपने लिये हितकर नही समझा। उन्नीस वर्ष की अवस्था में गुरदासपुर जनपद के मुलानामक व्यक्ति की कन्या

सुलक्खनी देवी के साथ उनका विवाह कर दिया गया, इस प्रकार नानक ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश किया, उनके दो पुत्र श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र हुए। श्रीचन्द्र उदासी महात्मा थे उन्होंने उदासी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की प्राणप्रतिष्ठा की। नानक दृढ सयमी, अध्यवसायी और मेधावी थे। उनका मन गृहस्थाश्रम में तनिक भी नही लगता था। उनमें घर के प्रति तनिक भी आसक्ति नही थी। वे अपने दो सेवक वाला और मरदाना को साथ लेकर प्रभु-भक्ति के प्रचार के लिये निकल पडे। वाला उनकी सेवा करता था और मरदाना ईश्वर के अत्यन्त मधुर गुणगान से उन्हे सदा प्रसन्न रखता था। नानक ने निराकार, निरञ्जन अलख ब्रह्म से नाता जोडा, उन्होने अमूर्त तथा निर्गुण ब्रह्म की भक्ति निभाने की सीख दी। उन्होने कहा कि निराकार प्रभु की पूजा से ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। नानक ने गोरख, नामदेव और कबीर की निराकार-उपासना की परम्परा को प्रगति दी। लोग उनके उपदेश और वेश से प्रभावित हुए। इस ऐतिहासिक यात्रा में उनके सिर पर कलन्दरी टोपी या पगडी रहती थी ललाट पर केशर का तिलक लगाते थे, गले में माला सुशोभित रहती थी, शरीर पर लाल या नारगी रग का परिधान रहता था। वे इस यात्रा में अमर योगी भर्तृहरि के आश्रम पर भी गये थे। हठयोगी भर्तृहरि से नानक ने कहा कि मनुष्य की रक्षा के लिये भगवान ने भक्तियोग का विधान किया है। भक्ति-मार्ग पर चलने से प्राण सरस हो जाता है, भक्ति ईश्वरीय देन है, अमृतमयी गगा जी भी इसकी स्पर्धा के लिये प्रयत्नशील रहती है, जीवन समुज्ज्वल, सरस और मधुर हो जाता है, भगवान की भक्ति निरन्तर उनके नाम का चिंतन करने से मिलती है। इसकी प्राप्ति के लिये सचेष्ट रहना ही श्रेय मार्ग का अवलम्बन है। भर्तृहरि के आश्रम से वे विश्वम्भरपुर नगर में पहुँचे। इस स्थान का प्रसिद्ध व्यापारी उनका शिष्य हो गया। ऐसा कहा जाता है कि विश्वम्भरपुर में नानक के पास एक हीरा था। नानक ने वाला को उसका मूल्य लगाने के लिये बाजार भेज दिया। सालसराय नामक व्यापारी ने सौ रुपया बयाना देकर हीरे का मूल्य पूछा। नानक ने कहा कि सालसराय इसे नहीं खरीद सकता है और बयाना लौटा दिया। व्यापारी पर इस घटना का बडा प्रभाव पडा,

वह उनके दर्शन के लिये आया और दीक्षित हो गया। विश्वम्भरपुर से नानक मक्का और मदीना गये। इन स्थानो में उन्होने अद्‌भुत चमत्कार दिखाये। काबे की ओर पैर फैला कर सोने पर कुछ लोगों ने उन्हें झिडकी दी। उन्होंने पैर घुमा लिये, काबे का दरवाजा भी पैर की ओर घूम गया। लोगो ने उन्हे सिद्ध सन्त समझ कर अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया। उसके बाद सैदपुर में बावर के सैनिको ने उनको वन्दी वना लिया। वावर ने दैवी सिद्धि से प्रभावित होकर उनको मुक्त कर दिया। वगदाद और काश्मीर होते हुए वे दरवलोल स्थान पर आये, मरदाना का देहावसान हो गया। अजोधन पाकपत्तन में सन्त फरीद द्वितीय से भी उनकी भेंट हुई थी। नानक यात्रा से लौट कर गेरुआ वस्त्र धारण कर करतारपुर में घर वालों के साथ अठारह साल तक रहे, वैराग्य अधिक होने पर वे प्रयाग, काशी आदि तीर्थों मे होते हुए जगन्नाथपुरी में आये। पुरी में उनके वहुत से लोग शिष्य हो गये। जिस समय पुरी में जगन्नाथ जी की आरती हो रही थी वे उसे वाह्य आडम्वर समझ कर वाहर ही खडे रहे, प्रभु के ध्यान में मग्न होकर उन्होने अपनी पवित्र वाणी से भगवान की दिव्य आरती उतारी। उन्होने गाया

गगनमय थाल रविचन्द दीपक वने
तारक मण्डल जनक मोती।
धूप मलयानिलो पवन चँवरी करै
सकल वनराई फूलन्त जोती।
कैसी आरती हो भवखण्डना तेरी,
आरती अनहता शब्द वाजन्त भेरी।
सहस तव नैन तव नैने हरि तोहि कोउ
सहस मूरत मना, एक तोही।
सहस पद विमल तव एक पद गन्ध विन
सहस तव गन्ध इव चलत मोही।
सब महँ जोति जोति है सोई
तिस दे चानण सब महि चानण होई।
गुरु साखी जोति परगट होई,

जो तिस भावे सो आरती होई।
हरिचरण कमल मकरन्द लोभित मनो,
अनदिनो मोही आहि पियासा।
कृपा-जल देह नानक सारिंग कहँ
होइ जाते तेरे नाइ वासा।

पुरी से लौटते समय दिल्लीश्वर वावर ने उनका सत्सग-लाभ किया था। वावर ने उनको पर्याप्त पुरस्कार देना चाहा पर सन्त नानक तो परमात्मा की राजसभा के सदस्य थे, उन्हे इस लोक-व्यवहार से क्या करना था। उन्होंने वावर को सदुपदेश दिये।

नानक ने आत्मतत्व की साधना को ही सत्यनाम-कर्ता पुरुप की उपासना का रूप दिया। उनका सत्य अकाल, निर्विकार और सर्वथा निर्भय है। सन्तो के सत्य का यही रूप होता है। नानक ने वैदिक सत्य की महिमा का विवरण मध्यकालीन भारत को सरस उपासना की वाणी में दिया था। शकराचार्य के वेदान्त से भारतीय मस्तिष्क उपराम होना चाहता था, इसलिये उन्होने उसका दरवाजा खटखटाया। निर्गुण और सगुण भक्ति का भारतीय जनता ने सहारा लिया। सन्तो और भक्तो का अनुसरण किया। नानक ने कवीर और रैदास की तरह समाज को निर्गुण भक्तिधारा का रसास्वादन कराया। उन्होंने कहा कि ईश्वर सम्राटो के सम्राट हैं, उनका ऐश्वर्य पूर्ण रसमय हैं उन्होंने कर्ता पुरुष की स्तुति में कहा

'केते गावण हारे,
गावहि तुहिनो, पवणु पाणी वैसतरु
गावै राजा धरम दुआरे।
गावहि चितगुपुत लिखि जाणहि
लिखि लिखि धरमु वीचारे।
गावहि ईसरु वरमा देवी
सोहनि सदा सवारे।
गावहि इन्दासणि वैठे देवतिआ दरि नाले,
गावहि सिद्ध समाधी अन्दरि
गावनि साव विचारे।'

नानक उच्च कोटि के महात्मा और भगवद्भक्त थे । वे किसी नवीन मत या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं करना चाहते थे। उनके शिष्य 'सिख' कहलाते थे। नानक ने रात के पिछले पहर ईश्वर-भजन गाने की प्रथा चलायी थी। नानक ने ऐसे हरि की लीला का रसास्वादन किया जिनका गुणगान सन्तजन आदि काल से करते चले आते है, सिद्धजन समाधि में जिनके चैतन्य स्वरूप का प्रकाश अपनाते रहते है। नानक का देश सारा विश्व था, उनका परिवार चराचर जगत था, उनका ईश्वर-विश्वास सत्य की विजयिनी पताका का प्रश्रय था। शकराचार्य का आत्मतत्व चेतनाप्रधान ज्ञानयोग का स्रष्टा था तो नानक का आत्मबोध भावनाप्रधान भक्तिमूलक कर्मयोग का—दिव्य और ईश्वरीय भोग का—हरि की ऐश्वर्य-माधुर्य-लीला का नियामक था। पहले ने माया को ईश्वर से अलग कर वेदान्त का आत्मवाद सिखाया तो दूसरे ने माया को ईश्वर के बन्धन में सम्मोहित कर निर्गुण भक्ति-आत्मोपासना सिद्ध की। दोनो ज्ञानी थे, दोनो भक्त थे पर अन्तर केवल इतना ही था कि आचार्य शकर दार्शनिक थे और नानक सन्त थे। नानक निर्गुण परमात्मा के ऐश्वर्य और माधुर्य के मध्यकालीन समन्वय-सूत्र थे। निर्गुण और सगुण भक्ति ने उनके सत्य से प्राणमयी सजीवनी शक्ति की गगा में स्नान किया, सत्य के रमणीय शिव से ज्ञान के कैलाश पर अपने प्रणय का प्रमाणपत्र प्राप्त किया। भारत को नानक की यह मौलिक देन है। नानक कबीर के पूरक थे। उन्होने राष्ट्रीय सस्कृति दी।

नानक ने सीख दी कि हरि-सत्य का भजन करने वाले ही जगत की स्तुति और सम्मान के पात्र है। सत्य की शक्ति के सामने नास्तिक को भी नतमस्तक होना पडता है—उनकी यह मान्यता थी। नानक के सत्य ने आत्मप्रेम दिया, विश्व-बन्धुत्व दिया। नानक ने मानवता के पूर्णतम विकास पर ईश्वरीयता की अभिव्यक्ति निश्चित की। नानक युगपुरुष थे, उन्होने जनभाषा में समाज को सत्यानुराग और ईश्वर-प्रेम की शिक्षा दी। उन्होने कहा कि सत्य नाम का व्यवहार ही लोक-व्यवहार में सच्चा सहायक है, हरि के गुणगान से दैन्य भाग जाता है, दुख मिट जाता है, हरि का स्वरूप-चिंतन प्राणिमात्र की सेवा का

पाठ पढाता है, सेवा-दान मानव को देवता बनाता है।

हरि की कृपा और प्रसाद से प्राप्त नरदेह का उपयोग नानक ने भगवान के स्मरण, ध्यान, चिंतन और भजन में स्थिर किया। नानक ने ईश्वर के आदेश से दिव्य पथप्रदर्शक के रूप में धरती पर जन्म लिया था। उनका समस्त जीवन ईश्वर के चरण पर समर्पित था। वे ईश्वरीय कृपा के मध्यकालीन प्रतीक थे। उन्होने काश्मीर से कामरूप तक के भूमिभाग में सत्य की पवित्र भक्ति उतारी, सन्तमत की सरस्वती में कलि के सतप्त प्राणियो का अभिषेक किया। नानक का प्राकट्य समय की माँग के अनुकूल ही हुआ। नानक ने समाज के सिर से असत्य का बोझा उतार कर उसे सत्य का निर्मल बाना पहनाया। उन्होने निस्सकोच कहा कि सत्य सापेक्ष, रूढिगत और सम्प्रदायगत नही हो सकता है। वह तो सर्वथा स्वतन्त्र, निरपेक्ष और निस्सीम है। उन्होने घोषणा की कि समस्त जीवो पर समान रूप से भगवान की कृपा दृष्टि रहती है। नानक ने ब्रह्म की अमृतमयी दृष्टि की ओर ध्यान आकृष्ट किया। सत्यपुरुष निरकार ही सद्गुरु है, उनके चरण मे नित्य-निरन्तर कृपा की गगा का रमण होता है, जीवात्मा बिना ईश्वर की कृपा के रह ही नही सकता है—नानक की ऐसी दृढ मान्यता थी।

सन्त नानक ने करतारपुर मे स १५९५ वि में आश्विन शुक्ल दशमी को महाप्रस्थान किया। अन्तिम समय निकट जानकर उन्होने अपने विश्वासपात्र शिष्य लहिणा को उत्तराधिकारी घोषित किया। गुरु अगद के रूप में उनके प्रति सम्मान प्रकट किया। नारियल और पैसो की भेंट कर दूसरो के लिये अपने आचरण का आदर्श रखा। अन्तिम समय में गुरु नानक एक वृक्ष के नीचे जा बैठे, उनका मुखमण्डल दिव्य तेज से आलोकित था, नयनो मे शान्ति थी, मन मे आनन्द था। कीर्तनमण्डली झूम झूम कर सरस भक्तिमय पद गा रही थी। 'जपु' जी का पाठ हो रहा था, पाठ की समाप्ति के थोडे समय पहले सन्त नानक ने चादर ओढ ली, 'वाह गुरु, वाह गुरु' का उच्चारण करते-करते वे परमात्मा में लीन हो गये। सारे वातावरण में जपु साहब की यह वाणी गूज उठी कि एक जीभ के स्थान पर यदि मेरी लाख जीभ हो जायें और लाख से बीस लाख हो जायें, एक एक जीभ से मैं लाख-लाख बार जगदीश्वर का ही

नाम जपूगा। इस प्रकार स्वामी–परमात्मा के मार्ग की सीढियो से चढ कर उनमें लीन हो जाऊँगा।

नानक भगवद्भक्ति के वहुत वडे प्रचारक थे। उन्होने अपने समकालीन समाज को जागृत किया और कहा कि जव सवसे पहले और कुछ भी अस्तित्व में नही था तव केवल सत्स्वरूप परमात्मा ही थे, अब भी सत्य है और आगे भी सत्य रहेगा। नानक ने दुखी जीवो को सन्देश दिया कि परमात्मा सत्य है, उनका नाम भी सत्य है, उनके वखान करने के भाव अगणित है। अमृत वेला में–मगलमय प्रभात काल में उनके सत्यनाम और महिमा का विचार करना चाहिये। उनका समस्त जीवन ही एक यज्ञ था। वे असहाय और दीन जनता के सरक्षक थे, उन्होने सत्य, शान्ति और प्रेम का सन्देश दिया।

रचना

आदि ग्रन्थ में उनके 'सलोक', 'सव्द' और साखी सग्रहीत है। 'जपु जी' 'असा दी वार', 'रहिरास' और 'सोहिला' प्रसिद्ध रचनायें है।

वाणी

रैंणि गवाई सोइ कै, दिवसु गवाइआ खाइ।
हीरे जैसा जनमु है, कउडी वदले जाइ॥
नामु न जानिआ राम का।
मूढे फिरि पाछै पछुताहिरे।
अनता धुन धरणी धरे, अनत न चाहिआ जाइ।
अनत कउ चाहन जो गए से, आए अनत गवाइ॥
आपण लीआं जे मिलै तासमु को भागनु होइ।
करमा ऊपरि नीवडै जे लोवै सभु कोइ॥
'नानक' करण जिनि कीआ, सोई सार करेइ।
हुकमु न जापी खसम का किसै वढाई देइ॥

कुभै ववा जलु रहै, जल विनु कुम्भ न होइ।
गिआन का ववा मनु रहै, गुर विनु गिआन न होइ॥

जिनी न पाइउ प्रेमरस, कत न पाइउ साउ।
सूने घर का पाहुणा, जिउ आइया तिउ जाउ॥
धनवता इवही कहै, अवरी धन कउ जाउ।
'नानक' निरधनु तितु दिनि, जितु दिनि विसरैनाउ॥
जिनके पलै धनुवसै, तिनका नाउ फकीर।
जिन्हकै हिरदै तू वसहि, ते नर गुणी गहीर॥
असख जप असख भाउ, असख पूजाअसख तप ताउ।
असख गरथ मुखि वेद पाठ, असख जोग मनि रहहि उदास।
असख भगत गुण गिआन विचार असख सती असख दातार।
असख सूरमुहँ भरवसार, असखयोनि लिवलाइ तार।
कुदरति कवण कहा वीचारु, वारिआ न जावा एक वार।
जो तुध भावै साई भली कार, तू सदा सलामति निरकार॥

हरि विनु, किउ रहियै दुखु व्यापै।
जिहवा सादु न, फीकी रसविनु, विनु प्रभु काल सतापै।
जव लगु दरसु न परसै प्रीतम तव लगु भूख पिआसी।
दरसनु देखत ही मनु मानिआ, जल रसि कमल विगासी।
ऊनवि धनहरु गरजै वरसै, कोकिल मोर वैरागै।
तरवर विरख विहगभुअगम घरि पिरु घन सोहागै।
कुचिल कुरूप कुनारि कुलखनी पिर कउ सहजु न जानिआ।
हरि रस रगि रसन नही तृपती, दुरमतिदूख समानिआ।
आइ न जावै ना दुखु पावै, ना दुखु दरदु सरीरे।
'नानक' प्रभुते सहज सुहेली, प्रभु देखत ही मनु धीरे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
श्रीवल्लभनखचद छटा बिन सब जग माँझ अधेरो।
साधन नहीं और या कलि में जासो होय निबेरो।
'सूर' कहा कहे द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो।

महाप्रभु वल्लभाचार्य महादार्शनिक, परम भागवत और बहुत बडे तथा अपूर्व और असाधारण भगवल्लीला-पारखी थे। उनके आत्मदर्शन मे सगुण-निर्गुण ब्रह्म ने पूर्ण रूप से शुद्ध सच्चिदानन्दमय लीलारूप धारण कर लिया, वे भक्ति के आचार्य थे, उनका प्रत्येक कार्य सर्वथा लोकोत्तर, दिव्य और भगवदनुग्रहमय था। उन्होने भारतीय लोकजीवन में भगवान के चरणारविन्द की पूर्णतम शरणागति उतार कर श्रीकृष्ण की वात्सल्य-रति की जो अमृत-मन्दाकिनी प्रवाहित की वह भक्ति के इतिहास मे एक मौलिक प्रयास स्वीकार किया जा सकता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत दर्शन के महापण्डित थे, प्रवर्तक थे। मध्यकालीन भारत म्लेच्छाक्रान्त था, भारतीय सस्कृति और समाज तथा धर्म का रूप विकृत होता जा रहा था, दिव्य सम्पत्ति पर आसुरी सत्ता की प्रबलता बढ रही थी, शकराचार्य के वेदान्तग्गमच के ब्रह्म के नीरस चिन्तन से लोक-जीवन ऊब-सा रहा था,—ऐसे समय में महाभागवत वल्लभाचार्य ने भागवतधर्म की कल्पलता की शीतल और शान्त छाया में जनता को भक्ति-सुधा सागर में सराबोर कर श्रीकृष्ण भक्ति की मार्मिक व्याख्या समझायी। वे श्रीकृष्ण के रूप-रस, ऐश्वर्य-माधुर्य और सौन्दर्य के अप्रतिम भाष्यकार थे। मध्यकालीन भारतीय साहित्य को भक्तिप्रधान बनाने का श्रेय उन्ही को है।

वल्लभाचार्य के प्राकट्य-काल में भारत की राजनीतिक स्थिति अस्थिर और अशान्त थी। कृष्णाश्रय ग्रन्थ में स्वय महाप्रभु ने स्वीकार

किया है कि देश में म्लेच्छो का प्रभाव वढ रहा है, चारो ओर पाप की प्रभुता है, सत्पुरुप उत्पीडित है, लोक पीडित है, ऐसे देश में भगवान श्रीकृष्ण ही हमारे रक्षक है। गगा आदि तीर्थों में भी म्लेच्छों का उत्पात वढ रहा है, लोग वैदिक जीवन से हीन होते जा रहे है, धर्म-कर्म की मर्यादा समाप्त होती जा रही है, ऐसी भयानक स्थिति मे भगवान श्रीकृष्ण ही हमारी गति है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पाप का उन्मूलन किया, जडता और अज्ञान-अन्धकार का विनाश किया। लोगो को भगवद् विश्वास और प्रेम से सम्पन्न कर अभय दान दिया। उनकी कृपा और भक्ति के प्रताप से घर-घर मे वालकृष्ण की लीलायें अभिव्यक्त हो उठी। सूरदास, कुम्भनदास, गोविददास और परमानन्ददास आदि ने साहित्य को श्रीकृष्ण की सरस लीला-चेतना से समृद्ध कर सत्य के सौन्दर्य का शिवरूप-कल्याणरूप देखा। भक्ति का मूल स्त्रोत दक्षिण भारत है, भागवत आदि ग्रन्थो में ऐसा उल्लेख है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पूर्वज दाक्षिणात्य थे। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट आन्ध्र प्रान्त में व्योमस्तम्भ पर्वत के सन्निकट भगवती कृष्णा नदी के पवित्र तट पर काकरवाड या काकुम्मकर नगर में रहते थे, वाद में वे अग्रहार गाँव मे आकर रहने लगे। उनके कुल का नाम वेलनाट था। लक्ष्मण भट्ट वडी सात्विक वृत्ति के धर्मनिष्ठ शतसोमयाजी व्राह्मण थे, वे पुण्यात्मा थे। उनकी पत्नी इल्लमागारु भी परम सती-साध्वी और भक्तिपरायण थी। लक्ष्मण भट्ट तैलग व्राह्मण थे।

पाच सौ साल पहले की वात है, लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित तीर्थयात्रा के लिये काशी आये हुए थे। उन्हे समाचार मिला कि काशी पर शीघ्र ही यवनो का आक्रमण होने वाला है। वे दक्षिण के लिये चल पडे। भगवती महानदी के तट पर त्रिस्थली-चम्पारण्य में पतिव्रता इल्लमागारु से स १५३५ वि में वैशाख कृष्ण एकादशी को रात में महाप्रभु वल्लभाचार्य का प्राकटच हुआ। वे असीम दिव्य ज्योति से नितान्त समलकृत थे। उस समय यवनो का आतक इतना छाया हुआ था कि लक्ष्मण भट्ट और इल्लमागारु को अपना ही प्राण वचाना कठिन लग रहा था, ऐसी स्थिति में नवजात शिशु को उन्होने

महानदी के निर्जन तट पर शमीवृक्ष के नीचे असहाय छोड कर आगे वढने का निश्चय किया। कुछ दूर वे गये ही थे कि सौभाग्यवती वात्सल्यमयी जननी से न रहा गया, उनके हृदय की ममता दया में वदल गयी, वे पति के साथ लौट पडी। वे नवजात शिशु को ढूँढने लगी। दम्पति आश्चर्यचकित हो गये। उन्होने नवजात शिशु को अग्नि-मण्डल से घिरा देखा, उन्हे ऐसा लगा कि चिन्मय भगवद्रूप में नवजात ने उनकी गोद को पवित्र और धन्य किया है, वे नवजात को लेकर काशी की ओर चल पडे।.....वातावरण में आनन्द छा गया, कण-कण से यही ध्वनि निकलने लगी कि

'प्रातसमय उठि करिये श्री लक्ष्मणसुत गान।
प्रगट भये श्रीवल्लभप्रभु देव भक्ति को दान।
श्रीविट्ठलेश महाप्रभु रूप के निधान।'

लक्ष्मण और इल्लमागारु अपने प्राणप्रिय नवजात शिशु को गोद में उठा कर काशी आ गये और हनुमान घाट पर रहने लगे। महाप्रभु वल्लभाचार्य वचपन में अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न थे। लोगो ने उन्हें ('वाल-सरस्वती वाक्पति' कहना आरम्भ किया। विष्णुचित्, तिरुम्मल और माघव यतीन्द्र की देखरेख में उन्हे अच्छी से अच्छी शिक्षा मिली, वे वचपन में ही अपने गुरुओ की कृपा और भगवान के अनुग्रह से वैष्णव शास्त्रो में पारगत हो गये। तेरह साल की ही अवस्था में वे वेद-वेदाग, पुराण तथा धर्मशास्त्र आदि में निष्णात होकर भगवान की भक्ति में समय का सदुपयोग करने लगे। ग्यारह साल की अवस्था में, पिता के परलोक पधारने पर महाप्रभु वल्लभ को ससार के प्रति पूर्ण वैराग्य हो गया, उन्होने भगवदाराधन को ही अपने जीवन का ध्येय स्थिर किया।

धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ता और भगवद्भक्ति की ख्याति चारो ओर वढने लगी। दक्षिण भारत में विजयनगर में महाराज कृष्णदेव राय शासन कर रहे थे। वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी के भक्ति-सिद्धान्तो से वहुत प्रभावित थे। उन्होने अपनी माता के साथ दक्षिण भारत की यात्रा की। उन समय दक्षिण में शाकर वेदान्त और मायावाद के

सिद्धान्तो का बोलवाला था। विजयनगर वेदान्त का प्रधान दुर्ग था। उन्होने राजसभा में उपस्थित होकर मायावाद का खण्डन किया, भागवत-धर्म और विष्णुभक्ति की विजयिनी ध्वजा फहरायी। दक्षिण का पाण्डित्य उनके चरणो पर नत हो गया, राजसभा ने उन्हे 'महाप्रभु' की उपाधि से सम्मानित किया, राजा ने शास्त्रीय विधि से उनका कनकाभिषेक कर उनके प्रति यथोचित सम्मान दिखाया। वे जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु की उपाधि से दक्षिण और उत्तर भारत में समान रूप से प्रख्यात हो गये। उन्होने वैष्णव सिद्धान्त का मण्डन किया। महाराजा कृष्ण देवराय का शासन विजय नगर के राज्य-काल का, स्वर्णयुग था, वे साहित्य-सगीत और कला के मर्मज्ञ तथा प्रेमी थे, भक्ति के सिद्धान्तो को समझने में उनकी बुद्धि कुशाग्र थी, उन्होने अपनी राजसभा में महाप्रभु—भक्तिकल्पतरु साक्षात् पुरुषोत्तम प्रभु की उपस्थिति से अपने सौभाग्य की सराहना की। विजयनगर राज्य द्वारा वैष्णवधर्म को मान्यता देने का परिणाम यह हुआ कि समस्त दक्षिण भारत में वैष्णव अथवा भागवत धर्म की दुन्दुभी बजने लगी। महाप्रभु ने उत्तर भारत के प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्रो की भी यात्रा कर भक्ति-सिद्धान्त को ही उपासनामय जीवन का श्रेय स्थिर किया।

महाप्रभु ने स. १५४९ वि में व्रज की यात्रा की। उन्होने गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का विग्रह स्थापित किया। अम्वाले के एक भगवद्भक्त सेठ पूरनमल खत्री ने महाप्रभु की प्रसन्नता और आज्ञा से एक मन्दिर बनवाया, उसमे श्रीनाथजी पधराये गये। व्रज में कुछ दिनो रह कर आचार्यचरण ने पण्ढरपुर की यात्रा की, उन्होने चन्द्र-भागा में स्नान कर भक्त पुण्डलीक का दर्शन किया तथा विट्ठल और रुक्मिणी के साक्षात्कार-सुख का रसास्वादन किया, पण्ढरपुर वैष्णवधर्म का विशाल गढ था, इसलिये महाप्रभु को उस पवित्र क्षेत्र की यात्रा से भगवद्भक्ति के प्रचार के लिये विशेष प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार अन्य तीर्थक्षेत्रो की पवित्रता की श्रीवृद्धि करते हुए महाप्रभु प्रयाग आये। गगा-यमुना के सगम पर उनका मन मुग्ध हो गया।

आचार्य ने अट्ठाइस साल की अवस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीदेवी था। वे काशी निवासी मधुमगल

नामक तैलग ब्राह्मण की कन्या थी। वे परम सौभाग्यवती, भक्तिमती और आचारनिष्ठ थी। पातिव्रत की उज्ज्वलतम विभूति थी। उन्होने अपने महाभागवत पति की सेवा और चरणचिह्न-अनुगमन से गृहस्थ जीवन को स्वर्ग वना दिया। उन्होने पति के जीवन को प्रत्येक स्थिति में सुखमय और भगवदीय वनाने का प्रयत्न किया। महाप्रभु प्रयाग के सन्निकट यमुना के दूसरे तट पर अडैल नामक स्थान में निवास करने लगे। वे आचार्यपद ग्रहण कर चुके थे। दक्षिण और उत्तर भारत में उनकी प्रसिद्धि दिनदूनी, रात-चौगुनी वढती जा रही थी। आचार्य का गृहस्थाश्रम आनन्दप्रद था। भगवद्भक्ति की श्रीवृद्धि के लिये ही आचार्य ने दाम्पत्य-जीवन में प्रवेश किया था। आचार्य के दो पुत्र—श्री गोपीनाथ तथा विठ्ठल नाथ हुए। दोनो पुत्र महाभागवत थे। पुष्टिमार्ग की प्रतिष्ठा और प्रगति में गोस्वामी विट्ठलनाथजी का वडा हाथ था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य भगवान के अभिव्यक्त विग्रह थे। उनके पवित्र भक्ति-प्रचार कार्य में कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास आदि ने महान योग दिया, वल्लभाचार्य ने उनके साहित्य और जीवन को कृष्ण की कृपा से, पुष्टि-भक्ति से नितान्त सरस और समृद्ध वना दिया था। अडैल मे ही परमानन्ददास को महाप्रभु ने ब्रह्मसवध दिया था। सूरदास को व्रज में दीक्षित कर भगवान के लीला-वर्णन का आदेश प्रदान किया था। अडैल से व्रज जाते समय उन्होने गऊघाट पर महाकवि सूरदास को दीक्षित किया। सूर की उक्ति है कि महाप्रभु ने मुझे भगवत्तत्त्व सुनाया, श्री भगवान की रसमयी लीला वतायी। सूर का कथन है

'श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायो,
लीला भेद वतायो।'

सूरदास की दीक्षा के तीन-चार दिनो के वाद विश्राम घाट पर श्रीमदाचार्य ने कृपापूर्वक कृष्णदास अधिकारी को पुष्टि-दीक्षा देकर ब्रह्मसम्वन्ध सम्पन्न किया। कृष्णदास ने वल्लभाचार्य की महिमा का वखान करते हुए अपने एक पद के अन्तिम चरण में स्वीकार किया है।

'कृष्णदास, गिरिधर के द्वारे,
श्रीवल्लभ पद रज बल गरजत।'

श्रीवल्लभ की चरणधूलि ने महाकवि परमानन्ददास को परमानन्द-सागर उढेलने की स्फूर्ति दी। महाकवि और परम भागवत, सरलता और विनम्रता के प्रतीक कुम्भनदास ने श्रीवल्लभ की चरण-धूलि के बल ने महामुगल सम्राट् अकवर की राजसभा मे, फतहपुर सीकरी में राजत्व और ऐश्वर्य को अपने चरणदेश में विनत कर लिया, अकवर का राज-ऐश्वर्य उनकी भगवद्भक्ति के सामने नीरस तेजहीन और फीका हो गया। उन्होने दिल्लीपति को सावधान किया

'सन्तन को कहा सीकरी सो काम।'

महाप्रभु वल्लभाचार्य का प्रताप अनुपम और अद्वितीय था। कोटि-कोटि दिल्लीश्वर की राजशक्ति अड़ैल की भागवती प्रभा पर नीछावर की जा सकती है।

महाप्रभु के जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओ का पता चलता है। एक बार एक ब्राह्मण साधु राघवदास को शालग्रामशिला और भगवद्प्रतिमा में भेद की प्रतीति हुई। वे शालग्राम को श्रेष्ठ मानते थे। आचार्य ने समझाया कि दोनो अभिन्न है। उनमें भेद-बुद्धि नही रखनी चाहिये। आचार्य के कथन पर उन्हे विश्वास नही हुआ। रात को सोते समय उन्होने प्रतिमा के वक्ष पर शालग्राम को रख कर पधरा दिया। दूसरे दिन सवेरे उठने पर उन्होने देखा कि शालग्राम की शिला चूर-चूर हो गयी है। उन्हे अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। वे महाप्रभु के पास गये, चरणो पर गिर कर क्षमा माँगी। आचार्य ने भगवान के चरणामृत और यमुना-जल मे शिला-चूर्णो को जोड दिया। इसप्रकार उन्होने भगवान के श्रीविग्रह में अभिन्नता का दर्शन कराया।

गोकुल में भगवान श्रीकृष्ण ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। वे भगवान के अनन्य प्रेमी—अथवा भक्त थे। उनका भगवत्सेवा-मार्ग अत्यन्त कठिन था—कड़ा था। एक बार भगवान के भोग के लिये द्रव्य का अभाव था। उन्होंने भगवान को अर्पित सोने की कटोरी बन्धक में रख कर भोग की व्यवस्था की। आश्चर्य की बात तो यह थी कि महाप्रभु

ने स्वय प्रसाद नही ग्रहण किया। दो दिन के बाद द्रव्य आने पर भगवान का भोग लग जाने पर उन्होने प्रसाद लिया। वैष्णवो और भक्तो के कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि कटोरी भगवान को समर्पित थी, वह उनकी थी, उस कटोरी के मूल्य का भोग भगवान के ही लिये उचित है, उस भोग-अश से प्रसाद ग्रहण करना मेरे लिये बहुत वडा सेवा-अपराध था। आचार्य ने घोषणा कर दी थी कि मेरे वश मे, या मेरा कहला कर, जो कोई भगवदर्पित द्रव्य का उपयोग अपने लिये करेगा वह महापापी है, अधम और नीच है, उसका नाश निश्चित है। महाप्रभु ने तन-मन-धन--सब कुछ श्रीनाथ के चरणो में समर्पित कर दिया था। उन्होंने भगवान की विशुद्ध भक्ति-साधना की। एक वार श्रीनाथजी का आदेश हुआ कि मुझे गौ चाहिये, गोपाल को गायो की कमी किस तरह हो सकती है पर यह प्रभु की लीला थी। महाप्रभु के घनिष्ट सम्पर्क में सद्दू पाडेय नाम के एक व्यक्ति थे, उन्होने आचार्य के चरणो पर तन-मन-धन--सर्वस्व समर्पित कर दिया था। महाप्रभु के पास सोने का एक छोटा--सा टुकडा था, उन्होंने उसे वेच कर गाय लाने के लिये सद्दू पाण्डेय को आदेश दिया। पाण्डेय जी ने विनम्रता पूर्वक कहा कि प्रभु, मेरी गायें तो है ही, उन्हें लाता हूँ। महाप्रभुने सद्दू पाण्डेय की त्याग-वृति की वडी सराहना की पर स्वर्ण का टुकडा वेच कर गाय लाने का आदेश स्थिर रहा। विवश होकर सद्दू पाण्डेय ने महाप्रभु की प्रसन्नता के लिये सोना वेच कर गाय खरीदी और श्रीनाथजी के सामने उपस्थित की। महाप्रभु के व्रज-भक्तो ने इस घटना से प्रभावित होकर अपनी-अपनी गायें श्रीनाथ जी की सेवा में समर्पित कर दीं, चारो ओर गायें--ही गायें दीखने लगी। छीत स्वामी ने इस दृश्य का वर्णन अपने पद में किया है

> 'आगे गाय पाछे गाय, इत गाय, उत गाय,
> गोपाल को गायन में वसिवोई भावे री।'

इस घटना मे महाप्रभु की निष्काम भगवद्सेवा और श्रीनाथजी के प्रति अचल भक्ति तथा निष्ठा का परिचय मिलता है।

लोकजीवन को भगवद्भक्ति के रग में सराबोर कर देना ही उनका महत्तम सिद्धान्त था। मध्यकालीन भारत में गीता की शरणागति—'मामेक शरण व्रज' की भक्तिमयी टीका शुद्धाद्वैतवाद के स्तर से वल्लभाचार्य ने पूरी की। आचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की। श्रीमद्भागवत, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद् भगवद्गीता को उन्होंने अपने पुष्टिमार्ग का प्रधान साहित्य स्वीकार किया। श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवल्लीलाओ में पूर्ण आस्था प्रकट की। उनकी प्रेरणा ने स्थान-स्थान पर श्रीमद्भागवत सप्ताह का अनुष्ठान होने लगा। वेदान्तवेद्य ब्रह्म ने कृष्ण की रसमाधुरी से अपना रसराजत्व सिद्ध किया। कृष्ण सच्चिदानन्द के ऐश्वर्य माधुर्य-रूप में अभिव्यक्त होते रहते हैं—आचार्य ने ऐसी मान्यता प्रकट की। आचार्य के पुष्टिमत ने मायासम्बन्ध से अलिप्त नितान्त शुद्ध ब्रह्म को जगत का कारण माना। उन्होंने घोषणा की कि ब्रह्म से जगत और जीव की सत्ता है। आचार्य ने कहा कि ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनो ही रूप, सत्य और उपास्य हैं। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं, उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। अनन्त शक्तियो मे वेष्टित श्रीकृष्ण का रमण लोकनित्य वैकुण्ठ विष्णु के वैकुण्ठ से भिन्न है, परे है, गोलोक भी उसका केवल अशमात्र है। उन्होंने ब्रह्म के तीन प्रकार—आधिभौतिक—जगत् आध्यात्मिक—अक्षर-ब्रह्म और आधिदैविक—परब्रह्म पुरुषोत्तम—बताये। आचार्य ने घोषणा की कि आनन्द की इच्छा के लिये भगवान जीवरूप में अभिव्यक्त होते है। उन्होंने जीव को शुद्ध, मुक्त और ससारी—तीन श्रेणियो मे विभक्त किया। उन्होंने अविकृत परिणामवाद के सिद्धान्त को मान्यता दी, उनके मत के अनुसार निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत में परिव्याप्त होता है। प्राणीमात्र को मोक्ष देने के लिये भगवान अभिव्यक्त होते है, सुबोधिनी में महाप्रभु की उक्ति है.

'प्राणीमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्त .।'

आचार्य के मत से वेद-वेदान्त और समस्त शास्त्रो के सारतत्व भगवान कृष्ण ही हैं। जगत, सत्य और जीव भगवत्स्वरूप है। गोलोक मे निवास करने वाले श्रीकृष्ण की सायुज्यप्राप्ति ही मुक्ति है। पुरुषोत्तम से युक्त जीव सर्वस्व का उपभोग कर सकता है। भगवान

धर्म की ध्वजा फहरायी। उनकी चौरासी बैठके उनके दिव्य चरित्र की प्रतीक है। वे भक्ति के कर्णधार थे। वे भागवत सन्त और दार्शनिक महात्मा थे।

रचना

वह्मसूत्र पर अणुभाष्य, भागवत के दशम तथा अन्य स्कन्धो पर सुवोधिनी टीका तथा, पूर्वमीमासाभाष्य, तत्वदीपनिवन्ध, षोड्सग्रन्थ आदि उनकी प्रसिद्ध रचनायें है।

वाणी

जीवो स्वभावतो दुष्टा दोषा भावाय सर्वदा।
श्रवणादि तत. प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्धयृति॥

जीव स्वभाव से ही दोषमय है, दोषो की निवृत्ति के लिये श्रवणादि नवधा भक्ति के साधनो को अपनाकर प्रेम से हरि की भक्ति करनी चाहिये, इससे कार्यसिद्ध होता है।

तस्माच्छ्रीकृष्ण मार्गस्थो विमुक्त सर्वलोकत ।
आत्मानन्द समुद्रस्थ कृष्णमेव विचिन्तयेत्॥

समस्त लौकिक विपय—अहता-ममता से मुक्त होकर श्रीकृष्ण का, जो आत्मानन्द के समुद्र है, चिन्तन करना चाहिये।

चिन्ता काऽऽपि न कार्या निवेदितात्मभि कदाऽपीति।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकी च गतिम्॥

भगवान श्रीकृष्ण के चरण में आत्मनिवेदन करने पर किसी भी प्रकार की चिता नही करनी चाहिये। वे सर्वथा अनुग्रहरूप है, लौकिको की तरह वे व्यवहार नही करेगे।

सेवाया कथाया वा यस्याऽसक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीव तस्य नाशो न क्वाऽपीति मे मति ।

जिस जीव की प्रभु श्रीकृष्ण की सेवा और कथा में गाढ आसक्ति है उसका कभी नही नाश होता है—ऐसी मेरी मति है।

अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम् ।
यै कृष्णसात्कृत प्राणैस्तेषा का परिदेवना ॥

अज्ञान या ज्ञान से जिन्होंने श्रीकृष्ण के चरणो में आत्मनिवेदन-पूर्वक अपना प्राण समर्पित कर दिया उन्हे चिंता ही नहीं करनी चाहिये।

अत करणमद्वाक्य सावधानतया शृणु।
कृष्णात्पर नास्ति दैव वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥

हे मन! सावधानी से मेरे वचनो को सुनो, श्रीकृष्ण से बढ कर निर्दोष पवित्र वस्तु और कोई दूसरी है ही नही।

तस्मात् सर्व परित्यज्य निरुद्धै सर्वदागुणा ।
सदानन्दपरैर्गेया· सच्चिदानन्दता तत ।

समस्त लौकिक आश्रयो का त्याग कर प्रभु में ही आत्मार्पित होकर उन्ही का गुण-गान कर—सच्चिदानन्द में रमण करना चाहिये।

सो तो ह्वै हारनि।
जाहि तुम सों हित तासों तुम हित करौ
सब सुखकारनि।
'हरिदास' के स्वामी श्यामा कुजविहारी,
प्राननि के आधारनि।

उन्होने विश्वासपूर्वक कहा कि वृन्दावन के प्रेम-देवता विहारी और विहारिणी राधा रानी की कृपा से ही सब कुछ सम्भव है, जीव को नीरस प्रपञ्च में नही पडना चाहिये। जो भगवान से प्रेम करते है भगवान उनके योग-क्षेम का सदा ध्यान रखते है। निस्सन्देह श्रीराधाकृष्ण ही प्राण के आधार है।

हरिदास जी के तप, त्याग और वैराग्य से आकृष्ट होकर दूर-दूर से तथा वृन्दावन के रसिक सन्त, महात्मा और प्रेमी लोग सत्सग तथा दर्शन के लिये अधिकाधिक सख्या में आने लगे। श्रीराधाकृष्ण के रास-विहार और लीला-चरित्रों के रसास्वादन में ही वे अपने समय का सदुपयोग करने लगे। उनके नयनो में नन्दनन्दन और उनकी प्राणप्रियतमा के सरस शृ गारपूर्ण कुज-विहार की झाकी रातदिन आलोडित रहती थी।

श्रीराधाकृष्ण के रग में उनकी चेतना सदा सरावोर रहती थी। एक वार वे भगवती कलिन्दनन्दिनी के तट पर रजत रेती में समासीन थे। वसन्त ऋतु का यौवन सरस कुजो और निकुजो में लहरा रहा था, मलयानिल का रमणीय सचार हो रहा था। महात्मा श्री हरिदास जी भगवान के रगोत्सव में समाधिस्थ थे, उन्हें तनिक भी वाह्य ज्ञान नहीं था। उनके मानस-नयनो की ज्योति के सरस रगमच पर भगवान होली खेल रहे थे, राधारानी ने भी पीताम्वर धारण किया था, श्रीकृष्ण सोने की पिचकारी से राधा पर रग छिडक-छिडक कर दिव्य मदन-मन्त्र का अनुष्ठान कर रहे थे। ललिता, विशाखा आदि श्रीकृष्ण को रग में सरावोर कर रही थी, नन्दनन्दन अपने विमल आलिगन, परिरम्भन और भुजवन्धन से उन्हे धन्य कर रहे थे, वृष-भानुनन्दिनी प्रेम के दिव्योन्माद में मन्द-मन्द मुसकरा रही थी, उनके नयनो से दिव्य ज्योति निकल कर अरुण कपोलो की सुषमा

वढा रही थी। हरिदास जी इस दिव्य रगोत्सव में परमानन्द का अनुभव कर रहे थे कि ठीक इसी ममय एक मेवक ने उनके हाथ में इत्र की शीशी रख दी। वे तो अन्तर चेतना में लीन थे। उन्होंने राधाकृष्ण पर इत्र उढेल कर होली-क्रीडा के लिये ललकारा। . थोडी देर में वे वाह्यज्ञानसम्पन्न हुए। उन्होंने सेवक की मानसिक वेदना पहिचानी, विचार किया कि उसे भ्रम हो गया है कि इत्र का दुरुपयोग हुआ है। उन्होंने उसे विहारी जी के मन्दिर में दर्शन के लिये भेज दिया। समस्त मन्दिर इत्र-गन्ध से आपूर्ण था, विहारी जी का श्रीविग्रह मह-मह महक रहा था। मेवक ने अनुभव किया कि भगवान ने इत्र स्वीकार कर लिया। उसने लौट कर महात्मा हरिदास के चरण की धूलि मस्तक पर चढायी, अपने सौभाग्य की सराहना की।

एक वार हरिदास जी यमुनातट पर वैठे हुए थे। उन्हे किसी प्रेमी ने पारस की भेंट की। हरिदास जी तो श्रीकृष्ण से नाता जोड चुके थे। उन्हे पारस किस प्रकार मुग्ध करता। हरिदास ने उस व्यक्ति को आज्ञा दी कि पारस यमुना जी में फेंक दो। उसने पारस तो फेंक दिया पर उसके मन से पारस की लिप्सा न गयी। महात्मा हरिदास ने उसकी मनोवृत्ति समझ ली। वे उसे वन में ले गये, उसने असख्य पारसो का दर्शन किया। हरिदास जी ने समझाया

'हित तो कीजै कमल नैन सो जा हितके
आगे और हित लागे फीको।
कै हित कीजै साधु सगति सो
ज्यो कलमषि जाय जीको।
हरि को हित ऐसो जैसो रग मजीठ,
ससार हित ऐसो जैसो रग कसूम दिन दुती को।
कहि हरिदास हित कीजै विहारी सो
और निवाहू जी को।"

उस व्यक्ति ने स्वामी हरिदास से भगवत्प्रेम का मर्म समझ लिया। वह उनके पैरो पर नतमस्तक हो गया। हरिदास ने उसे अपना शिष्य वना लिया और श्रीकृष्ण की भक्ति करने का आदेश दिया।

सम्राट अकबर की उदारता और गुणग्राहकता इतिहासप्रसिद्ध है। एक बार अकबर ने अपने सभा-गायक सगीतसम्राट तानसेन से प्रश्न किया कि क्या तुमसे भी बढ कर गाने वाले है? तानसेन ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि वृन्दावन के महात्मा हरिदास जी है। अकबर ने स्वामी जी को अपनी राजसभा में उपस्थित होने का निमन्त्रण भेजा पर तानसेन के यह कहने पर कि वे वृन्दावन छोड कर कही आते-जाते नही है स्वय वृन्दावन के लिये तानसेन के साथ साधारण नागरिक के वेष में प्रस्थान किया। महात्मा हरिदास तानसेन के सगीत-गुरु थे इसलिये तानसेन को उनके सम्मुख उपस्थित होने में तनिक भी सकोच नही हुआ। तानसेन ने जान-बूझ कर एक गलत राग गाया, तानसेन की इच्छा थी कि स्वामी जी साधारण नागरिक वेष वाले अकबर के सामने गायें। स्वामी जी ने उस गीत को शुद्ध और परिमार्जित राग में अपने कोकिल कठ से गाया। भारतवर्ष के सम्राट ने उनकी चरणधूलि सिर पर चढाली, वातावरण सरसता और दिव्यता से आपूरित हो उठा। अकबर ने तानसेन से माधुर्य का कारण पूछा तो उत्तर मिला कि महात्मा हरिदास भगवान के सम्मुख गाते है इसलिये इनके गीत में इतना स्वाद है। अकबर ने याचना की कि मेरी कोई सेवा स्वीकार कीजिये। कृष्णचरणारविंदमकरन्द से प्रमत्त मधुप को किसी अन्य रस की अपेक्षा ही नही थी पर मुसकरा कर उन्होने यमुना के एक टूटे घाट की ओर सकेत कर कहा कि इसका जीर्णोद्धार करा दीजिये। अकबर ने घाट को नीलम, पोखराज आदि कीमती मणियो से जटित देख कर अपनी गलती पर पश्चात्ताप किया और सोचा कि सारा मुगल खजाना भी इस कार्य में कम होगा। हरिदास ने बादशाह को आदेश दिया कि मेरे पास कभी मत आइयेगा और वृन्दावन के वन्दरो के लिये सेवास्वरूप अन्न भेजते रहियेगा तथा इसका ध्यान रखियेगा कि वृन्दावन के वृक्ष कोई भी न काटने पाये। अकबर ने उनकी आज्ञा का पालन किया और त्याग-वृत्ति की सराहना की। महाप्रभु चैतन्यदेव स्वामी हरिदास के समकालीन थे। जिस समय चैतन्यदेव वृन्दावन में गये हुए थे उस समय महात्मा हरिदास जी निधुवन में रहते थे। स्वामी हरिदास की प्रसिद्धि से प्रभावित

होकर चैतन्यदेव उनसे मिलने आये। दोनो पारस्परिक भगवल्लीला-कथन में व्यस्त थे कि इतने में राधाकुण्ड पर निवास करनेवाले महात्मा रघुनाथदास जी मानसिक शृंगार में खोयी हुई श्रीराधाजी की पुष्प-वेणी खोजते हुए हरिदास जी के निकट आ पहुँचे। हरिदास जी रसज्ञ थे, उन्हे रघुनाथ दास की मनोदशा का पता चल गया। स्वामी हरिदास जी ने अश्वत्थ वृक्ष के नीचे पता लगा कर उनकी मानसिक सेवा की समस्त व्यवस्था निरूपित कर दी और महाप्रभु चैतन्यदेव से श्रीकृष्णविषयक रति पर विचार–विनिमय करने लगे। उन्होने 'रसो वै स' को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण की उपासना मे प्रतिष्ठित किया, उनकी भगवत्सेवा दिव्य रसकी उपासना की प्रतीक स्वीकार की जाती है। वे पूर्ण अनुभवी और उच्च कोटि के रसिक थे। वे श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य के रसवेत्ता थे। वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे, उनकी उपासना सखी-भाव की थी। उनके रससिद्धान्त में भोक्ता केवल भगवान है और चराचर उनका भोग्य है। स्वामी हरिदास ने श्रीकृष्ण को सौन्दर्यसार-सर्वस्व के रूप में देखा। उनकी भक्ति निस्सन्देह शृंगारजा थी। उनके भागवत शृंगार का मूलाधार अन्तर्मुखी दिव्यता पर अवस्थित है। उनकी रसमयी उक्ति है.

'गहो मन सब रस को रससार।
लोक वेद कुल करमै तजिये भजिये नित्य विहार।
गृह कामिनि कचन धन त्यागो सुमिरो स्याम उदार।
गति हरिदास रीति सन्तन की गादी को अधिकार।'

उन्होने अपनी इस उपासना में प्रेम, सौन्दर्य और माधुर्य का समन्वय किया। उन्होने शृगार और भक्ति दोनो को भगवद्रूप माना। उन्होने सखी सम्प्रदाय की प्राणप्रतिष्ठा की। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही उनके सखी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का सार तत्व है। स्वामी हरिदास ने अथाह और अतल भगवत्प्रेम समुद्र में अवगाहन किया। सदा भागवती केलि गायी एक स्थल पर उनकी उक्ति है

'आज तृन टूटत है री, ललित त्रिभगी पर।
चरन-चरन पर, मुरली अधर पर

चितवनि वक छबीली, भुव पर।
चलहु न वेग राधिका पिय पै
जो भयी चाहति हो सरबोपरि।
'श्रीहरिदास' के स्वामी को समयो अब नीको बन्यो
हिलिमिलि केलि अटल रति ध्रू पर।'

स्वामी हरिदास रसरीति के आचार्य थे। उन्होने रसरूप में श्रीकृष्ण की प्राप्ति की। राधा और कृष्ण की एकरूपता का अनुभव किया। वे मदा युगल मन्त्र का जप किया करते थे। गोपीप्रेम की सिद्धि अथवा प्राप्ति ही उनके जीवन की परम कामना थी। वे रासरस के परम तत्वज्ञ थे। गोपीप्रेम के माध्यम से एक सरस पद में उनकी उक्ति है .

'सुनि धुनि मुरली वन बाजै हरि रास रच्यो।
कुज-कुज द्रुम, वेली प्रफुलित,
मण्डल कचन मनिन खच्यो।
नृत्यत जुगल किसोर जुवती जन-मन
मिलि राग केदारो मच्यो।
'हरिदास' के स्वामी स्यामा कुजविहारी
नीकै री आज प्यारो लाल नच्यो।'

उनके प्रत्येक पद में राधाकृष्ण—युगल स्वरूप की लीला प्राणमयी है। राधाकृष्ण का विहार ही उनका प्राणधन स्वीकार किया जाता है। उनका अन्तिम समय भी परम रसमय था। वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'ठट्टी सस्थान' के स्थापक थे। सदा उनकी सहज समाधि लगी रहती थी। वे कहा करते थे कि प्रेम-सागर का थाह नहीं लगाया जा सकता है। प्रेमस्वरूप विहारी जी में ही तन्मय रहते थे, उनका दृढ विश्वास था कि विहारी जी अपने भक्तो के दोषों की उपेक्षा कर देते हैं। महात्मा व्यासदास की उक्ति है :

'ऐसो रसिक भयो नहि ह्वै है, भुवमण्डल प्रकास ।
देह विदेह भये जीवत ही, विसरे विश्व विलास।'

सम्वत् १६३२ वि तक वे निघुवन में विद्यमान रहे। ऐसा कहा जाता है कि वे स १६६५ वि तक जीवित थे। महात्मा हरिदास परम सगीतज्ञ, रसज्ञ और सन्त थे।

रचना

'साधारण सिद्धान्त' और 'केलिमाला' स्वामी हरिदास जी की प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

हरि को ऐसोई सब खेल।
मृगतृष्णा जग व्यापि रह्यो है कहूँ बिजौरो न बेल।
धन मद जोवन मद राजमद ज्यो पछिन में डेल।
कहि हरिदास यहै जिय जानौं तीरथ को सो मेल।

जौ लो जीवै तौलो हरि भजि रे मन और बात सब बादि।
द्यौस चार के हला भला में तू कहा लेगौ लादि।
माया मद जोवन मद गुनमद भूल्यौ नगर विवादि।
कहि हरिदास लोभ चरपट भयौ काहे की लगै फिरयादि।

जगत प्रीति करि देखी नाहि नेग टीकौ कोऊ।
छत्रपति रक लो प्रकृति विरोध बन्यो नहिं कोऊ।
दिन जु गये बहुत जनमन के अैसो जावौ जिन कोऊ।
कहि हरिदास मीत भलो पायौ बिहारी अैसे पावौ सब कोऊ

प्रेमसमुद्र रूपरस गहिरे कैसे लागे घाट।
बेकार्‌यो दै जानि कहावत जानिपन्यो की कहा परी बाट।
काहू को सर सूधो न परै मारत गाल गली-गली हाट।
कहि हरिदास जानि ठाकुर बिहारी तकत न ओट पाट।

महाप्रभु चैतन्य देव

'अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलसा स्वभक्तिश्रियम्
हरि. पुरटसुन्दरद्युति कदम्बसदीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु न शचीनन्दन· ।'

जिन चैतन्य महाप्रभु ने उत्कृष्ट और परम उज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति-वितरण के लिये कलियुग में कृपापूर्वक अवतार लिया है वे स्वर्ण कान्तिवाले शचीनन्दन हरि हमारे हृदयमें स्फूर्ति-लाभ करें।

—विदग्ध माधव

महाप्रभु चैतन्य देव—अभिनव कृष्ण मध्यकालीन भारत की परम दिव्य विभूति थे, कृष्णभक्ति के कल्पवृक्ष थे। उन्होंने असख्य प्राणियों को हरिनाम सकीर्तन-सुधा से प्रमत्त कर भवसागर की उत्ताल तरगो से पार कर भक्ति प्रदान की। नीलाचल-पुरीधाम उनके पुण्य और दिव्य ऐश्वर्य से वृन्दावन में रूपान्तरित हो गया। वडे-वडे सन्त-महात्मा, विद्वान, वेदान्ती, शास्त्रमहारथी तथा ऐश्वर्यशाली शासको और महापुरुषो ने उनकी चरणधूलि से अपने मस्तक का शृगार कर, उनकी कृपा से अपने आप को परम कृतार्थ, धन्य और सफल कर भगवान की निष्काम और परमशुद्ध भक्ति कमायी।

जिस समय चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ उस समय देश की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक दशा मे अराजकता, अनाचार और अशान्ति का विशेप समावेश था। दिल्ली के सिंहासन पर वहलोल लोदी और उनके उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी की राजसत्ता का रूप शिथिल और विकृत होता जा रहा था। विदेशी आक्रमण की आशका प्रतिक्षण थी। विजयनगर और मेवाड दोनों विदेशी राजसत्ता को वाहर निकालने की विशेप चेष्टा कर रहे थे। उडीसा में गजपति प्रतापरुद्र का एकच्छत्र

साम्राज्य था, गौड में हुसेनशाह की तूती बोल रही थी। नदिया में उसी की शासन-सत्ता थी। धार्मिक स्थिति भी बिगडती जा रही थी, अनेक मत-मतान्तरो का प्रकोप बढता ही जा रहा था, देश बौद्ध धर्म के विशेष यानो से तथा तान्त्रिक उपासनागत विवेकशून्य धार्मिक आचार-विचार से उत्पीडित था। सामाजिक अशान्ति बाढ पर थी। कहीं-कही वैष्णव भक्ति-पद्धति की शान्तिपूर्ण किरणे फैल रही थी। गौड़ देश में श्री राधाकृष्ण के लीलासम्बधी गान गाये जा रहे थे। कनुभट्ट और चण्डीदास के भक्तिपूर्ण गीतो से जनता का मानसिक स्तर समुत्थित हो रहा था। ऐसे विचित्र समय में नव्य न्याय के महानगर नदिया—नवद्वीपधाम में श्रीचैतन्य देव का एक परम पवित्र ब्राह्मण कुल में आविर्भाव हुआ। उन्होने कृष्णभक्ति के अमृत सागर में केवल गौड बगाल ही नही, समस्त भरतखण्ड को सप्लावित कर भागवतरस का दान दिया। चैतन्य के पहले बगाल को महावैष्णव माधवेन्द्रपुरी—'भक्तिचन्द्रोदय' का आशीर्वाद मिल चुका था। वे आदि वैष्णव गौडीय आचार्य स्वीकार किये जाते हैं, चैतन्य का पथ उन्होने पहले से ही प्रशस्त कर दिया।

महाप्रभु चैतन्य देव ने धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्डो का अन्त कर दिया। भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। असख्य प्राणियो ने श्रीकृष्ण चैतन्य की शरण लेकर अपना जीवन सफल और कृतार्थ कर लिया। रूपसनातन ऐसे विषयसुख भोग में आसक्त ऐश्वर्य-मदोन्मत्त प्राणी ने सासारिक सुख-साम्राज्य पर लात मार कर, प्रकाशानन्द और सार्वभौम भट्टाचार्य ऐसे अद्वैत सिद्धान्ती—वेदान्ती ने ब्रह्मानन्द की उपेक्षा कर, नित्यानन्द ऐसे परमहस और अवधूत ने विरक्ति-वृत्ति भूल कर चैतन्य महाप्रभु के चरणो की ज्योति-गगा में स्नान कर परम दिव्य कृष्णभक्ति का रसास्वादन किया। रूपगोस्वामी ने महाप्रभु का स्तवन किया कि जो पृथ्वी पर उदित होकर द्विजराज की स्थिति मे रहते हुए निज प्रेमरसामृत का वितरण कर रहे है और अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश कर रहे हैं वे ही सम्पूर्ण जगत के मन को वश में करने वाले शचीनन्दन चैतन्यचन्द्र हम लोगों का कल्याण करें। चैतन्य राधाकृष्ण के एकीभाव स्वरूप थे। उनका

प्राकट्य सर्वथा शास्त्रसम्मत स्वीकार किया जाता है। अनन्तसहिता, बृहन्नारदपुराण, भविष्य पुराण, देवी पुराण, स्कन्द पुराण, मार्कण्डेय पुराण, पद्मपुराण, कापिल तन्त्र और विश्वसार तन्त्र आदि में यह उल्लेख है कि भागीरथी के तट पर नवद्वीप में द्विजकुल में कृष्ण चैतन्य का आविर्भाव होगा। चैतन्य महाप्रभु ने भक्तियोग और सन्यास आश्रम का आश्रय लेकर हरिनामसकीर्तनमाधुरी से थोडे समय के लिये कलियुग को द्वापर में रूपान्तरित कर दिया। वे श्रीराधाकृष्ण की दिव्य कान्ति और रूप-माधुरी तथा ललित रसमयी लीला का ही अनुभव किया करते थे। महाप्रभु चैतन्य देवकी जीवन--कथा का अधिकाश उनके समकालीन सन्तों, महात्माओ और भक्तो की वाणी का अमित प्रासादिक मागलिक प्रतीक है। उनकी जीवन-कथा की प्रामाणिकता का मूलाधार तत्कालीन रचनाओ का आँखों-देखा वर्णन है। वृन्दावनदास कृत चैतन्य भागवत, चैतन्यमगल, चैतन्य चरितामृत, चैतन्य-चरित, चैतन्य-चन्द्रोदय आदि ग्रन्थ उनकी जीवन-कथा के अक्षर-सूत्र हैं। मुरारिगुप्त का चैतन्य चरितामृत भी इस दिशा में एक सुन्दर प्रयत्न है। कविकर्णपूर के चैतन्य-चन्द्रोदय में भी पर्याप्त विवरण मिलता है। चैतन्य के लीला-प्रवेश के पन्द्रह साल वाद वृन्दावनदास ने चैतन्य भागवत की रचना की। उन्होने नित्यानद की आज्ञा से इस पवित्र ग्रन्थ का निर्माण किया। कवि की उक्ति है

'नित्यानन्द स्वरूपेर आज्ञा धरि शिरे।
सूत्र मात्र लिखि आमि कृपा अनुसारे।'

कृष्णदास कविराज ने चैतन्य चरितामृत लिखा। उन्होने चैतन्य को केवल राधाकृष्ण का अवतार ही नही, एक परम रसिक भक्त और महान धर्माचार्य भी स्वीकार किया। जगद्वन्धु कृत गौडपादतरगिणी में भी उनके जीवन-चरित्र का वृतान्त मिलता है। नरहरि ठाकुर ने उनको विशेप रूप मे राधा-भाव में चित्रित किया है, उनका कथन है

'गौराङ्ग टेकिल्ना पाके भावेर आवेशे राधा-राधा वलि डाके।'

इसी प्रकार वासुदेव की उक्ति है

'अरे मोरा गोरा, द्विजमणि, राधा-राधा वलि कांदे लोटाय धरणी।'

चैतन्य महाप्रभु की जीवन-लीला को सरस भगवत्ता का रूप देने में वगभूमि की मृदुता, माधुरी और श्रद्धामयी मनोवृत्ति का विशेष हाथ है। निस्सन्देह वे कलियुग के कृष्ण थे, महाभागवत थे।

महाप्रभु चैतन्य का प्राकट्य सम्वत् १५४२ वि में फाल्गुन पूर्णिमा को श्रीनवद्वीप धाम में हुआ था। उनके पिता जगन्नाथ मिश्र अत्यन्त धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे तथा माता शचीदेवी शान्ति, सरलता और वात्सल्य की सजीव मूर्ति थी। चैतन्य तो साक्षात् भगवान के लीलाविग्रह थे पर देश और काल के अनुरूप लीला के ही लिये वाल्यावस्था में उन्होने मातृ-पितृ-भक्ति का सुचारु आदर्श उपस्थित किया। चैतन्य महाप्रभु के पूर्वज चन्द्रद्वीप के रहने वाले थे। उनके पिता नवद्वीप में विद्याध्ययन के लिये आये थे और वही शचीदेवी से विवाह कर वे वस गये। उन्हे सन्तान-कष्ट का वुरा अनुभव था। उनकी आठ कन्याये मृत्यु के मुख में जा चुकी थी, चैतन्य के वडे भाई विश्वरूप ने सन्यास ले लिया था इसलिये चैतन्य देव का प्राकट्य उनके परिवार के लिये एक परम आनन्दपूर्ण घटना था।

नवजात शिशुका नाम विश्वम्भर रखा गया। उनकी शिशुलीला अमित अलौकिक और रहस्यपूर्ण है। जब वे रोते थे, लोग हरि का नाम लेते थे, इससे वे चुप हो जाते थे। शची माता उन्हे अपने प्राणो से प्रिय समझती थी। कभी-कभी व्यवस्थित ढग से सजाये गये घर के सामानो को इधर-उधर विखेर कर वे खाट पर आँख मूद कर सो जाने का वहाना करते थे। माता अपने पुत्र की इस लीला से वहुत प्रसन्न होती थी। नामकरण-सस्कार के दिन एक विचित्र घटना से लोग आश्चर्य-चकित हो गये। विश्वम्भर के सामने पोथी, खील, धान, कौडी, सोना, चादी आदि पदार्थ परीक्षा के लिये रख दिये गये। उन्होने इन पदार्थो में से भागवत की पोथी उठाली। इस प्रकार उन्होने इस लीला में यह रहस्य प्रकट कर दिया कि मैने भागवतधर्म और श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रचार के लिये ही शरीर धारण किया है।

धीरे-धीरे उनकी आयु वढने लगी। घुटनो के वल चलने का अभ्यास वढने लगा। एक दिन वे घर के वाहर धूलि में खेल रहे थे। उनके गोरे अग की कान्ति और घुघराली अलकावली पथिको का मन

नारायण है। प्रभु ने कहा कि श्रीकृष्णप्रेम के प्रचार के लिये सन्यास धर्म मेरा आवश्यक कर्म हो गया है। सन्यास की तिथि निश्चित हो गयी। केशव भारती के कटवा चले जाने पर प्रभु ने नित्यानन्द से कहा कि मै जगत का उद्धार करने के लिये पृथ्वीपर अवतीर्ण हुआ हूँ। सन्यास लूगा। शची माता ने सुना तो घबडा गयी पर प्रभु ने आश्वासन दिया कि मै श्रीकृष्णनाम रूपी धन से घर भर दूगा। सौभाग्यवती विष्णुप्रिया विशेष चिंतित थी। वे रात-रात भर जागती रही। प्रभु को पर्यंकस्थ देख कर उनकी चिन्ता कम होती थी। पर प्रभु को रोकने का साहस किस में था। वे तो भक्ति की बाढ में वह रहे थे। सम्वत् १५६७ वि की माघ शुक्ल सक्राति को जव चार घडी रात शेष रह गयी थी, प्रभु घर से बाहर हो गये। उनकी स्वर्ण शरीर-कान्ति गगा की धवलिमा पर प्रतिविम्बित हो उठी। उन्होने तैर कर गगा पार की और उस पार कटवा में केशव भारती के आश्रम पर पहुँच गये। पूर्णिमा की चाँदनी थिरक रही थी। केशव भारती का चित्त उद्विग्न हो उठा, सन्यास-दीक्षा में वे सकोच करने लगे। उन्होने कहा कि यह अवस्था सन्यास का नही है। मै सन्यास-दीक्षा नही दे सकता। प्रभु ने प्रार्थना की कि सन्यास ही मेरी परम गति है। कहा, कृष्णदास कविराज की वाणी है

'मोरा निन्दा करे ये न करे नमस्कार।
ए सव जीवेर अवश्य करिब उद्धार।
अतएव अवश्य आमि सन्यास करिव।
सन्यासी वुद्धे मोरे प्रणत हइव।
प्रणतिते हवे इहार अपराध क्षय
निम्मल हृदय-भक्ति करिव उदय।'

प्रभु का मुण्डन करते-करते नापित रो पडा। केशव भारती के नयन सजल हो उठे। उन्होने सन्यास-दीक्षा दी और प्रभु का नाम भारती ने कृष्ण चैतन्य रखा। प्रभु ने इसी नाम का आजीवन वरण किया। मन्यास लेने के वाद चैतन्य देव अद्वैताचार्य के घर शान्तिपुर आये, उन्होने नवद्वीप से शची माता को वुलाया, दर्शन किया, उनके अनुरोध से नीलाचल—जगन्नाथ क्षेत्र में रहना स्वीकार कर

चैतन्य महाप्रभु की जीवन-लीला को सरस भगवत्ता का रूप देने में वगभूमि की मृदुता, माधुरी और श्रद्धामयी मनोवृत्ति का विशेष हाथ है। निस्सन्देह वे कलियुग के कृष्ण थे, महाभागवत थे।

महाप्रभु चैतन्य का प्राकट्य सम्वत् १५४३ वि में फाल्गुन पूर्णिमा को श्रीनवद्वीप धाम में हुआ था। उनके पिता जगन्नाथ मिश्र अत्यन्त धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे तथा माता शचीदेवी शान्ति, सरलता और वात्सल्य की सजीव मूर्ति थी। चैतन्य तो साक्षात् भगवान के लीलाविग्रह थे पर देश और काल के अनुरूप लीला के ही लिये वाल्यावस्था में उन्होने मातृ-पितृ-भक्ति का सुचारु आदर्श उपस्थित किया। चैतन्य महाप्रभु के पूर्वज चन्द्रद्वीप के रहने वाले थे। उनके पिता नवद्वीप में विद्याध्ययन के लिये आये थे और वही शचीदेवी से विवाह कर वे वस गये। उन्हे सन्तान-कष्ट का वुरा अनुभव था। उनकी आठ कन्यायें मृत्यु के मुख में जा चुकी थी, चैतन्य के वडे भाई विश्वरूप ने सन्यास ले लिया था इसलिये चैतन्य देव का प्राकट्य उनके परिवार के लिये एक परम आनन्दपूर्ण घटना था।

नवजात शिशुका नाम विश्वम्भर रखा गया। उनकी शिशुलीला अमित अलौकिक और रहस्यपूर्ण है। जब वे रोते थे, लोग हरि का नाम लेते थे, इससे वे चुप हो जाते थे। शची माता उन्हे अपने प्राणों से प्रिय समझती थी। कभी-कभी व्यवस्थित ढग से सजाये गये घर के सामानो को इधर-उधर विखेर कर वे खाट पर आँख मूद कर सो जाने का वहाना करते थे। माता अपने पुत्र की इस लीला से वहुत प्रसन्न होती थी। नामकरण-सस्कार के दिन एक विचित्र घटना से लोग आश्चर्य-चकित हो गये। विश्वम्भर के सामने पोथी, खील, धान, कौडी, सोना, चादी आदि पदार्थ परीक्षा के लिये रख दिये गये। उन्होने इन पदार्थो में से भागवत की पोथी उठाली। इस प्रकार उन्होने इस लीला में यह रहस्य प्रकट कर दिया कि मैने भागवतधर्म और श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रचार के लिये ही शरीर धारण किया है।

धीरे-धीरे उनकी आयु वढने लगी। घुटनो के वल चलने का अभ्यास वढने लगा। एक दिन वे घर के वाहर धूलि में खेल रहे थे। उनके गोरे अग की कान्ति और घुघराली अलकावली पथिको का मन

मुग्ध कर रही थी। उनकी रूपमाधुरी दो चोरो के नयनो में बस गयी। वे स्वर्ण आभूषण पहने हुए थे। चोरो में इस बात पर विवाद छिड गया कि कौन-सा आभूषण किसके भाग्य में आयेगा। उनका हृदय अपने वश में नही था, दोनो ने विश्वम्भर को सन्देश आदि मिष्ठान्न खिलाये और एकान्त स्थान में ले जाने की चेष्टा करने लगे। उन चोरो को इस बात मे बडा विस्मय हुआ कि वे विश्वम्भर के पीछे-पीछे मुग्ध होकर उन्ही के दरवाजे पर चले आये। वे उनकी बालछवि से मोहित हो गये, उनकी लीलामाधुरी से प्रभावित हुए। वे चले गये और आभूषण पहने हुए विश्वम्भर घर में जाकर मा की गोद में बैठ कर शिशुलीला करने लगे।

जब वे कुछ बडे हुए तब उन्हें विद्याध्ययन के लिये पाठशाला भेजा गया। वे नटखट और चचल स्वभाव के थे। कुमारियाँ गगातट पर नहा-धोकर पूजा किया करती थी। विश्वम्भर-निमाई उनसे कहा करते थे कि तुम्हे मेरी पूजा करनी चाहिये, मै तुम लोगो को मुह-मागा वरदान दूगा। इतना कह कर वे दधिअच्छत-ताम्बूल-फूल-फल और चन्दन आदि अपने आप को अर्पित कर लेते थे और वरदान देने लगते थे कि तुम लोगो को परम सुदर पति की प्राप्ति होगी। कुमारियो को उनकी इस लीला से मन में तो प्रसन्नता होती थी पर ऊपर से वे रोप प्रकट करती थी। सारे नैवेद्य आदि उनकी सेवा में उपस्थित कर देती थी, वे उनकी रूप-माधुरी और सौन्दर्य का चिन्तन करने लगती थी तथा पूजापाठ—ध्यान आदि की उन्हें तनिक भी सुधि नही रह जाती थी। वे निमाई का दर्शन कर अपने आप को परम भाग्य-वती मानती थी।

बालक निमाई पर उनके बडे भाई विश्वरूप की सन्यास-वृत्ति का अमित प्रभाव पडा था। वे कभी-कभी उन्हे अद्वैताचार्य की सभा में बुलाने जाया करते थे। उनके सन्यास लेने पर निमाई ने माता-पिता के सामने हर्ष प्रकट किया था कि कुल पवित्र हो गया। माता-पिता अपने छोटे पुत्र के इस भाव से आशकित हो गये कि आगे चल कर कही निमाई भी सन्यास न ले ले।

यथासमय उनका उपनयन-सम्कार सम्पन्न हुआ। उनके पिता ने एक दिन स्वप्न में देखा कि निमाई ने घर का परित्याग कर सन्यास ले लिया है। वे वहुत भयभीत हुए। कुछ दिनो के वाद जगन्नाथ मिश्र का देहान्त हो गया। निमाई ने सोलह साल की अवस्या मे विद्याध्ययन समाप्त कर लिया। परिवार के भरणपोषण का उत्तरदायित्व उनके कन्धो पर आ गया। उन्होने नदिया में ही मुकुन्दसजय नामक एक सज्जन के चण्डीमण्डप में पाठशाला खोल कर अध्यापन आरम्भ किया। उनकी विलक्षण प्रतिभा और चमत्कारपूर्ण अध्यवसाय तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान से आकृष्ट होकर अधिकाधिक सख्या में छात्र उनकी पाठ शाला मे प्रवेश प्राप्त कर लाभ उठाने लगे, चारो ओर उनकी विद्वत्ता की धूम मच गयी। अध्ययन-काल में निमाई ने अपने मित्र और सहपाठी रघुनाथ के लिये एक अपूर्व त्याग किया था। उनके मित्र ने प्रसिद्ध दीधीति न्याय ग्रन्थ की रचना कर न्याय-दर्शन के महान् विद्वान् निमाई पण्डित को सुनाना चाहा। उनको नही विदित था कि निमाई ने भी एक न्याय ग्रन्थ लिखा है। गगा में नाव पर वैठ कर निमाई ने रघुनाथ को अपना ग्रथ सुनाया। वे रोने लगे, उन्होने मन में वडी व्यथा भर कर कहा कि मेरे गन्थ का इसके आगे तनिक भी आदर नही होगा। निमाई ने मित्र की पीडा की वास्त-विकता का अनुभव किया। उन्होने रघुनाथ के देखते-देखते अपना ग्रन्थ गगा की धारा में प्रवाहित कर दिया। रघुनाथ उनके त्याग से वहुत प्रभावित हुए। उन्होंने निमाई को गले लगा लिया, वडे प्रेम से आलिगन किया। इस प्रकार निमाई ने स्वार्थरहित मैत्री का परिचय दिया।

पूर्ण युवावस्था में प्रवेश करने पर निमाई पण्डित ने नवद्वीप-निवासी वल्लभाचार्य की कन्या लक्ष्मी से विवाह कर लिया। दोनो का एक दूसरे के प्रति अमित प्रेमपूर्ण आकर्पण था। विवाह के पूर्व सुन्दर और रूप-लावण्यमयी लक्ष्मी को गगा-तट पर देखकर निमाई कहा करते थे कि तुम मेरी पूजा करो, वर दूगा। दोनो की गृहस्थी अमित सुखमयी हो गयी।

'कृष्णलीलामृत काव्य' के रचयिता महात्मा ईश्वरपुरी निमाई के दीक्षा-गुरु थे। एक वार वे नवद्वीप आये। मार्ग में निमाई से उनकी

भेंट हो गयी। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक निमाई ने उनको अपने घर भोजन पर आमन्त्रित किया। ईश्वरपुरी निमाई के प्रेम से बहुत आकृष्ट हुए, उन्होंने उनको कृष्ण-लीलामृत काव्य के कुछ अंश सुनाये तथा भक्ति का रहस्य समझाया। निमाई ने उनके सम्पर्क से अपने आप को परम गौरवान्वित समझा। पिता की मृत्यु के बाद आर्थिक संकट को दूर करने के लिये उन्होंने पूर्वी बंगाल की यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने पर्याप्त यश-प्राप्ति की तथा धन की भी प्रचुर मात्रा में उपलब्धि हो सकी। पर यह उनके लिये सुखद न रही। घर लौटने पर उन्हें अपनी पत्नी लक्ष्मीदेवी के मृत्यु-समाचार से बड़ा कष्ट हुआ, उन्होंने इस घटना में भगवान की कृपा का ही अनुभव किया तथा माता को सान्त्वना दी।

निमाई पण्डित न्यायशास्त्र के परम मर्मज्ञ थे। वे शिष्यों को साथ लेकर नगर का परिभ्रमण करते थे तथा गंगा-तट पर बैठ कर शास्त्र की व्याख्या किया करते थे। नवद्वीप में एक दिग्विजयी पण्डित का आगमन हुआ। वे अपनी विद्वत्ता और शास्त्रज्ञता पर बड़ा अभिमान करते थे, नगर के लोग उनका लोहा मान गये। एक दिन शाम को उनकी भेंट गंगा-तट पर निमाई पण्डित से हो गयी। निमाई ने विनम्रता पूर्वक उनसे गंगा-स्तवन करने की प्रार्थना की। दिग्विजयी पण्डित ने एक मास में गंगा की महिमा में सौ नये श्लोक रच कर सुना दिये। निमाई ने उनमें से एक तत्काल उद्धृत कर दिग्वजयी से उसकी व्याख्या पूछी। वे निमाई की विलक्षण प्रतिभा से आश्चर्यचकित हो गये। दिग्विजयी की अनुमति से उनके श्लोकों की निमाई ने स्वयं व्याख्या की और उनके मद को चूर करने के लिये अनेक दोषों की ओर बड़ी मृदुता से संकेत किया। दिग्विजयी पण्डित बहुत लज्जित हुए, अपने आप को पराजित पाकर उनका मस्तक निमाई की विद्वत्ता के चरणों पर नत हो गया।

निमाई पण्डित नित्य प्रति आत्म प्रकाश और अलौकिक दिव्य तेज से सम्पन्न होने लगे। नवद्वीप-निवासी उनकी रूप-सुधा और दिव्य कान्ति-धारा में सम्प्लावित हो कर अपने आप को धन्य मानने लगे। वे समस्त नगर के प्रेमपात्र हो गये।

शची माता के सतोष और गृहस्थाश्रम की सुव्यवस्था के लिये निमाई पण्डित ने विष्णुप्रिया से विवाह कर लिया। विष्णुप्रिया नवद्वीप के समृद्ध और प्रसिद्ध ब्राह्मण सनातन की कन्या थी। निमाई का विवाह उनके साथ एक राजपुत्र की तरह वडे ठाट-वाट से हुआ। विष्णुप्रिया और निमाई पण्डित के विवाह सम्बन्ध से दोनो परिवारो में वडी प्रसन्नता छा गयी। विष्णुप्रिया परम रूपवती, सुशीला और सस्कृत थी। निमाई का गृहस्थाश्रम उनकी पवित्र उपस्थिति से स्वर्ग वन गया, वे शची माता को सदा सतुष्ट रखती थी तथा पति के चरणो की सेवा में निरन्तर सलग्न रहती थी।

विवाह के वाद निमाई पण्डित ने गया-यात्रा का निश्चय किया, वे पिता का श्राद्ध गया में ही सम्पन्न करना चाहते थे। वहुत-से शिष्यो को साथ लेकर उन्होने गया के लिये प्रस्थान किया। चिर नदी में स्नान कर मन्दार पर्वत पर मधुसूदन देव का दर्शन किया। पुन-पुन नदी में स्नान कर पुन-पुन क्षेत्र में उन्होंने पितृ-पूजा की। गया पहुँचने पर ब्रह्मकुण्ड में स्नान कर निमाई पण्डित ने चक्रवेड में गदाधर का दर्शन किया। गया में ही उन्हें पूर्व परिचित महात्मा ईश्वरपुरी का दर्शन हुआ। पुरी महोदय ने उन्हें मन्त्र-दीक्षा देकर कृष्ण की प्रेम कथामृत-तरगिणी से कृतार्थ कर दिया। निमाई के हृदयदेश में कृष्णभक्ति की कालिन्दी प्रवाहित हो उठी। उनकी आज्ञा से वे नवद्वीप आये। गया-यात्रा उनके जीवन को कृष्णभक्ति की ओर पूर्ण रूप से मोडने के लिये एक अत्यन्त ऐतिहासिक घटना है। इस यात्रा में विशेष स्मरणीय वात यह है कि कुमार हट्ट में ईश्वरपुरी का दर्शन करने के वाद उन्होंने श्रद्धापूर्ण हृदय से मिट्टी वाध कर नवद्वीप की ओर प्रस्थान किया। वे अपने दीक्षागुरु की चरणधूलि से परम प्रभावित हुए। चैतन्य भागवत में उल्लेख है.

> 'प्रभु कहे ईश्वरपुरीरजन्मस्थान
> ए मृत्तिका आमार जीवन घन प्रान।'

निमाई पण्डित ने पोटली में मिट्टी बाघते समय कहा कि महात्मा ईश्वरपुरी के जन्मस्थान की मिट्टी मेरा जीवन-धन-प्राण है।

घर लौटने पर उनका मन श्रीकृष्ण के प्रेम में रग उठा। उन्हें घर-गृहस्थी की तनिक भी सुधि नही रह गयी। पाठशाला के अध्यापन कार्य में उनका मन तनिक भी नही लगता था। वे रात-दिन श्रीकृष्ण के कीर्तन में मस्त रहते थे, श्यामसुन्दर की मूर्ति-माधुरी ही उनके नयनो में निरन्तर आलोडित होती रहती थी। एक बार नवद्वीप के शुक्लाम्वर ब्रह्मचारी के घर में श्रीकृष्ण के नाम का कीर्नन करते-करते वे अचेत और मूर्छित हो गये। वे वार-बार उन्मत्त होकर रोने लगे। उनका हृदय श्रीकृष्ण के विरह में हाहाकार कर उठा। एक वार गगा-स्नान कर वे सीधे पाठशाला चले गये। छात्रो के मध्य में बैठ कर वे श्रीकृष्ण नाम की व्याख्या करने लगे। उन्हे इस वात का भान ही नही रह गया कि छात्रो को व्याकरण और न्याय का पाठ पढाना है। उन्होंने अमित विरहाकुल हृदय से छात्रो को वताया कि कृष्ण का नाम ही सत्य है, उनके चरण-कमलो में भक्तिनिधि की प्राप्ति होती है। छात्रो के 'धातु' शव्द की व्याख्या पूछने पर उन्होंने कहा कि कृष्ण की शक्ति ही धातु है, उन्होने पाठशाला बन्द कर दी, जड विद्या का त्याग कर पराविद्या—श्रीकृष्णभक्ति में अपने अमूल्य समय का सदुपयोग करना ही उचित समझा। शची माता ने समझा कि पुत्र को वायुरोग हो गया है पर रोग तो भगवद्विरह का था, उनका हृदय राधा के प्राणघन वृन्दावनचन्द्र के दर्शन के लिये परम आकुल हो उठा था।

नवद्वीप में घर-घर कृष्णनाम संकीर्तन की धूम मच गयी। नवद्वीप में हरिनाम के प्रचार के लिये निमाई पण्डित ने नित्यानन्द-निताई और हरिदास को अपनी सेवा में ले लिया। उन दिनों नदिया के कोत-वाल जगाई-मधाई—दो ब्राह्मण सहोदर थे। वे सदा मदिरा पीकर प्रमत्त रहते थे। उनके पाप वढने लगे। नदिया के काजी—शासक को वहुत-सा धन देकर वे नगर-निवासियो के प्रति मनमाना व्यवहार किया करते थे। एक दिन रात को दोनो ने निमाई पण्डित के कीर्तन-स्थान के निकट डेरा डाला, मदिरोन्मत्त थे। हरिनाम की भिक्षा मागने वाले नित्यानन्द पर मधाई ने मदिरा का पात्र फेंका, उनके सिर से रक्त वहने लगा। निमाई घटना-स्थल पर स्वय आये। उन्होने सुदर्शन चक्र

का आवाहन किया। नित्यानन्द ने कहा 'प्रभु, ये लोग अनजान है, इन्हें आप की शक्ति का ज्ञान नही है, इन्हे क्षमा कर दीजिये।' जगाई ने नित्यानन्द की रक्षा की थी। प्रभु ने उसे गले लगाया। मधाई को अपनी करनी पर पश्चात्ताप हुआ। मधाई प्रभु के पैरो पर गिर पडा पर उन्होने कहा कि तुमने श्रीपाद नित्यानन्द के प्रति घोर अपराध किया है, वे ही तुम्हे क्षमा कर सकते है। निताई की प्रार्थना पर प्रभु ने उसको क्षमा कर दिया। गगा-तट पर ले जाकर दोनो भाइयों के पाप का सकल्प करवा लिया। दोनो भाइयो ने हाथ में जल लेकर प्रभु के हाथ में अपने पाप दे दिये। वे निष्पाप हो गये। समस्त नवद्वीप 'हरे राम, हरे कृष्ण' मन्त्र से धन्य हो उठा। मधाई ने गगा पर सुन्दर घाट बनाया, वह स्नान करने वालो से अपने पाप और दोषो के लिये क्षमा मागा करता था।

नदिया के श्रीवास पण्डित के घर रात को प्रभु अपने भक्तो के साथ जोर-जोर से हरिनाम का कीर्तन किया करते थे। जगाई-मधाई भी उसमें सम्मिलित होते थे। गौडेश्वर की ओर से नदिया के काजी चाँद थे। चाँद के भय से लोग प्रकट रूप से कीर्तन नही करते थे। एक दिन आधी रात को कीर्तन हो रहा था। चाँद काजी ने कीर्तन-यज्ञ विध्वस किया, मृदग तोड डाला। प्रभु सदल-बल कीर्तन करते हुए उसके निवासस्थान पर पहुँच गये। वह घर में छिप गया। प्रभु ने उसको बाहर बुलाया। काजी ने उनसे क्षमा मागी और कहा कि मेरे वश का कोई व्यक्ति कीर्तन में कभी विघ्न नही डालेगा। प्रभु ने उसका उद्धार किया। उन्होने कहा कि कलियुग में केवल हरिनाम ही सत्य है, कलिकाल में नामरूप में ही भगवान कृष्ण का अवतार है। नाम से ही समस्त जगत का निस्तार होता है। प्रभु ने श्रीकृष्ण की नाममाधुरी से असख्य प्राणियो का उद्धार किया। उनकी महिमा की कथा सारे गौड देश में होने लगी। एक दिन प्रभु ने रात में स्वप्न में एक सन्यासी का दर्शन किया, उन्हे ऐसा लगा कि सन्यासी ने उन्हें सन्यास लेने की प्रेरणा दी है। उसके दूसरे दिन गगा के उस पार कटवा में रहने वाले सन्यासी केशव भारती नवद्वीप आये, उन्होने प्रभु के घर भिक्षा ली, प्रभु ने सन्यास लेने की बात कही तो कह पडे कि आप तो साक्षात्

नारायण है। प्रभु ने कहा कि श्रीकृष्णप्रेम के प्रचार के लिये सन्यास धर्म मेरा आवश्यक कर्म हो गया है। सन्यास की तिथि निश्चित हो गयी। केशव भारती के कटवा चले जाने पर प्रभु ने नित्यानन्द से कहा कि मै जगत का उद्धार करने के लिये पृथ्वीपर अवतीर्ण हुआ हूँ। सन्यास लूगा। शची माता ने सुना तो घवडा गयी पर प्रभु ने आश्वासन दिया कि मै श्रीकृष्णनाम रूपी धन से घर भर दूगा। सौभाग्यवती विष्णुप्रिया विशेष चिंतित थी। वे रात-रात भर जागती रही। प्रभु को पर्यंकस्थ देख कर उनकी चिन्ता कम होती थी। पर प्रभु को रोकने का साहस किस में था। वे तो भक्ति की वाढ में वह रहे थे। सम्वत् १५६७ वि की माघ शुक्ल सक्राति को जव चार घडी रात शेप रह गयी थी, प्रभु घर से वाहर हो गये। उनकी स्वर्ण शरीर-कान्ति गगा की धवलिमा पर प्रतिविम्वित हो उठी। उन्होने तैर कर गगा पार की और उस पार कटवा में केशव भारती के आश्रम पर पहुँच गये। पूर्णिमा की चाँदनी थिरक रही थी। केशव भारती का चित्त उद्विग्न हो उठा, सन्यास-दीक्षा में वे सकोच करने लगे। उन्होने कहा कि यह अवस्था सन्यास का नही है। मै सन्यास-दीक्षा नही दे सकता। प्रभु ने प्रार्थना की कि सन्यास ही मेरी परम गति है। कहा, कृष्णदास कविराज की वाणी है

'मोरा निन्दा करे ये न करे नमस्कार।
ए सव जीवेर अवश्य करिव उद्धार।
अतएव अवश्य आमि सन्यास करिव।
सन्यासी वुद्धे मोरे प्रणत हइव।
प्रणतिते हवे इहार अपराध क्षय
निम्मल हृदय-भक्ति करिव उदय।'

प्रभु का मुण्डन करते-करते नापित रो पडा। केशव भारती के नयन सजल हो उठे। उन्होने सन्यास-दीक्षा दी और प्रभु का नाम भारती ने कृष्ण चैतन्य रखा। प्रभु ने इसी नाम का आजीवन वरण किया। सन्यास लेने के वाद चैतन्य देव अद्वैताचार्य के घर शान्तिपुर आये, उन्होने नवद्वीप मे शची माता को वुलाया, दर्शन किया, उनके अनुरोध मे नीलाचल—जगन्नाथ क्षेत्र मे रहना स्वीकार कर

लिया। वे अपने भक्तो के साथ जगन्नाथ के दर्शन के लिये नीलाचल की ओर चल पडे।

चैतन्य ने नीलाचल क्षेत्र में प्रवेश किया। जगन्नाथ देव का दर्शन करते ही उनका प्रेमोन्माद बढ गया। वे भगवद्विग्रह का आलिंगन करने के लिये आकुल हो उठे। आलिंगन के लिये वे दौडना ही चाहते थे कि मन्दिर के दरोगा (पडिछा) ने रोक दिया। पुजारियो ने महाप्रभु को मारना चाहा पर सयोग से वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित सार्वभौम भट्टाचार्य मन्दिर में ही उपस्थित थे। उन्होंने प्रभु के मुख पर प्रेम के सात्विक विकार देखे, पुजारियो को मना किया, प्रभु ने मूर्छा हटने पर सार्वभौम को देखा, सार्वभौम प्रभु की रूप-माधुरी और दिव्य ओजस्विता से उनके वश में हो गये। वे सात दिन तक सार्वभौम के मुख से वेदान्त के सिद्धान्त सुनते रहे। चैतन्य ने दक्षिणयात्रा का निश्चय किया।

चैतन्य दक्षिण की ओर चल पडे। गजपति प्रताप रुद्र के प्रतिनिधि रामानन्द राय से गोदावरी के तट पर प्रभु की भेंट हुई। श्रीकृष्ण-भक्ति को लेकर सत्सग हुआ। प्रभु उनकी कृष्णभक्ति से बहुत प्रसन्न हुए। वे श्रीरगक्षेत्र गये। शृगेरी मठ के शकराचार्य से भेंट की। वे श्रीरग में चार मास तक रह गये। श्रीरग से उडीपी क्षेत्र में आकर चैतन्य ने मध्वाचार्य द्वारा स्थापित नर्तक गोपाल का दर्शन किया, वे भगवद्विग्रह के सामने आनन्द और प्रेम से उन्मत्त होकर नाचने लगे। महाप्रभु ने पण्ढरपुर में विट्ठल देव का दर्शन किया, वे कृष्ण वेणा के तट पर आये, महाकवि बिल्वमगल कृत कृष्णकर्णामृत काव्य-सग्रह कराया तथा विद्यानगर लौट कर राय रामानन्द को कृष्णकर्णामृत और ब्रह्मसहिता की पाण्डुलिपि प्रदान की। दक्षिण-यात्रा समाप्त कर चैतन्य देव पुरी लौट आये।...पुरी में वे काशी मिश्र के निवासस्थान पर ठहर गये। रथयात्रा का समय था। उस समय उडीसा के महाराजा प्रताप रुद्र उत्सव में उपस्थित थे। उन्होंने महाप्रभु से मिलने की बडी चेष्टा की पर चैतन्य ने कहा कि राजा-महाराजा से नही मिलता हूँ। सार्वभौम और रामानन्द की समस्त चेष्टायें निष्फल हो गयी।...रथा-रोहण के कुछ समय पहले प्रताप रुद्र वैष्णव वेष में सोने के झाड़ू से

रथ-मार्ग साफ कर रहे थे। चैतन्य उनकी वैष्णवता से वहुत प्रसन्न हुए। महाप्रभु रथस्थ भगवान जगन्नाथ का दर्शन कर मूर्छित हो गये। मूर्छा-अवस्था में प्रताप रुद्र प्रभु का चरण सहलाने लगे और गोपी-गीत का एक श्लोक कहने लगे। प्रभु को गोपी-गीत सुनकर [illegible] वृन्दावन-लीला की स्फूर्ति हुई। उन्होंने प्रताप रुद्र का प्रेमालिंगन किया। उन्होंने वृन्दा- वन जाने का निश्चय किया। यद्यपि सार्वभौम आदि ने उनको रोकना चाहा पर प्रभु गौड होते हुए वृन्दावन के लिये चल पडे। शान्तिपुर में शची माता उनसे मिलने आयी। वे नवद्वीप आये। घर के सामने मार्ग में खडे हो गये। विष्णु प्रिया ने दर्शन किया, महाप्रभु ने खडाऊँ देकर कहा कि इन्ही के सहारे जीवन बिताना चाहिये। नवद्वीप से गगा-तट होते हुए महाप्रभु रामकेलि ग्राम मे आये। उन्होने अपने दर्शन से गौडेश्वर हुसेनशाह के उच्च अधिकारी प्रधान सचिव और प्रधानमन्त्री —दवीर खास (सनातन) और शाकिर मल्लिक (रूप) को धन्य किया। वे उनके भक्त हो गये। रूप-सनातन के कहने पर उन्होने कुछ दिनो के लिये वृन्दावन की यात्रा स्थगित कर दी और पुरी आ गये। उनका मन वृन्दावन के लिये आकुल था। वे झारखण्ड के मार्ग से श्यामसुन्दर की रसराजधानी के दर्शन के लिये चल पडे। वन देख कर उन्हे वृन्दावन की सुधि आ जाती थी, सरिता देख कर कलिन्दनन्दिनी की श्यामता नयनो में समा जाती थी। पहाड देखते तो गोवर्धन का स्मरण हो जाता था। प्रभु काशी पहुँच गये। मणिकर्णिका पर स्नान कर विश्वनाथ का दर्शन किया प्रयाग मे तीन दिन ठहर कर वे मथुरा पहुँच गये। विश्राम घाट पर स्नान कर उन्होने आदि केशव का दर्शन किया, अन्य तीर्थस्थानो में गये। वृन्दावन मे प्रवेश कर वे प्रेमविभोर होकर श्रीकृष्ण का नाम-कीर्तन करते-करते नाचने लगे। गोवर्धन में हरिदेव का दर्शन किया। राधाकुण्ड और श्यामकुण्ड का पता लगाया। व्रजवासियो ने उनके रूप में यशोदानन्दन श्रीकृष्ण का दर्शन किया, उन्हे द्वापर के रसघनमूर्ति चिदानन्द ब्रह्म नन्दनन्दन का चैतन्य के वेश में प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। महाप्रभु वृन्दावन की दशा से वहुत चिंतित हुए। उन्होने अनेक गुप्त और लुप्त तीर्थो के उद्धार का सकल्प किया। कुछ दिनो तक वृन्दावन में निवास कर सूकरक्षेत्र होते हुए वे प्रयाग आ गये। प्रयाग में उनका वडा स्वागत हुआ। महाप्रभु

वल्लभ आचार्य से उनका मिलन हुआ। महाप्रभु ने उन्हे अडैल में अपने निवासस्थान पर आमन्त्रित किया। दोनो भक्ति के महान् आचार्य थे, श्रीकृष्ण की लीला के अपूर्व विशेषज्ञ थे। दोनो ने एक-दूसरे का दर्शन कर अपने आप को धन्य माना। गौडेश्वर का राजकार्य छोड कर रूप अपने छोटे भाई अनुपम को साथ लेकर महाप्रभु चैतन्य देव से मिलने प्रयाग आये। महाप्रभु ने रूप को वृन्दावन जाकर लुप्त तीर्थो का ...ार करने का आदेश दिया। भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ लिखने की ...पुर... दी। भक्तिशास्त्रसम्बन्धी शिक्षा दी। महाप्रभु प्रयाग से काशी ...ामने ...न्होंने प्रकाशानद ऐसे महान् वेदान्ती को श्रीकृष्ण का भक्त ...गउळ गौडेश्वर ने सनातन को कैद कर लिया था। उन्होंने जेल-...र्द्धाप मे ...पये देकर जेल से मुक्ति प्राप्त की। काशी में प्रभु के ...त अपने ...मे उपस्थित हुए। उनका रूप दर वेशका-सा था। वैराग्य ...व और की मूर्ति थे। हाजीपुर में उनके बहनोई श्रीकान्त ने (...) ...या था। महाप्रभु बार-बार उसकी ओर देखने लगे तो ...ने पर ...ा भी त्याग कर दिया। चैतन्य देव के साथ वे काशी में ...ी और ...क रह गये। महाप्रभु ने उनको जीव और श्रीकृष्ण के ...न्ध का रहस्य समझाया। श्रीकृष्ण को नित्य सुखी देखना ...त्मा की भक्ति साधना का फल है। चैतन्य महाप्रभु ने सनातन ...क्त-ग्रन्थो की रचना का आदेश देकर रूप और अनुपम के ... वृन्दावन भेज दिया।

... चैतन्य महाप्रभु की नीलाचल-लीला परम मधुर और सरस स्वीकार ... जाती है। चैतन्य देव बलभद्र भट्टाचार्य के साथ काशी से सदा ... लिये पुरुषोत्तम-क्षेत्र चले आये। वे समुद्र-स्नान कर जगन्नाथ देव का दर्शन कर नित्य प्रति अपने आप को धन्य मानने लगे। उनसे मिलने वृन्दावन से रूपगोस्वामी आये। वे हरिदास के साथ ठहर गये। महाप्रभु ललितमाधव और विदग्धमाधव नाटकों के कुछ अश तथा अन्य भक्तिपूर्ण रचनायें सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। रूप गोस्वामी वृन्दावन चले गये। महाप्रभु के दर्शन के लिये वृन्दावन से सनातन गोस्वामी आये। झारखण्ड के मार्ग से आने के कारण उनका शरीर बिगड गया था, वे खाज के शिकार हो गये थे। महाप्रभु बार-बार आलिंगन

करते थे, सराहना करते थे कि मैं धन्य हो गया, सनातन के शरीर में अनुपम दिव्य गन्ध है। वे बार-बार सनातन को हृदय से लगाने का प्रयत्न किया करते थे। सनातन को आत्मग्लानि हुई। उन्होंने रथ के नीचे दब कर आत्मघात करने का सकल्प किया। महाप्रभु ने उनको समझाया कि कृष्णप्रेम आत्मघात से नही मिलता है, उनकी अहैतुकी भक्ति से ही कृष्णप्रेम की प्राप्ति होती है। प्रभु की आज्ञा से सनातन वृन्दावन चले आये।

नीलाचल में राय रामानन्द महाप्रभु को भागवत की कथा सुनाया करते थे और स्वरूप कीर्तन किया करते थे। महाप्रभु ने जीवन के अन्तिम दिनो तक कृष्णान्वेषण किया, उनका प्रेमोन्माद बढ़ता गया। प्रभु सदा अपने प्रेमी भक्तो से घिरे रहते थे। नीलाचल-निवास-काल में उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शिक्षाप्रद घटनायें उल्लेख्य हैं। महाप्रभु ने अपने भक्तो को स्त्री-सम्पर्क से दूर रहने का आदेश दिया था। एक दिन प्रभु पुरी-निवासी भगवान आचार्य के घर भिक्षा पर निमन्त्रित थे। भगवान आचार्य के कहने से प्रभु के कीर्तनकार छोटे हरिदास ने माधवी नामक स्त्री से प्रभु के ही लिये महीन चावल की भिक्षा ली। प्रभु को पता चला तो उन्होने छोटे हरिदास को आने की मनाही कर दी। हरिदास बहुत दुखी हुए पर प्रभु ने उनका मुख न देखने का व्रत ले लिया था। प्रभु ने अपने भक्तो से व्रत का कारण बताया कि सन्यासी को कभी स्त्री के सम्पर्क में नही आना चाहिये। इन्द्रियाँ दुर्दमनीय हैं, इसलिये माता, बहिन और कन्या के साथ कभी एकान्त में एक आसन पर नही बैठना चाहिये। काठ की बनी स्त्री का भी विश्वास नही किया जा सकता है। कुछ समय के बाद त्रिवेणी सगम पर हरिदास ने शरीर-त्याग दिया, महाप्रभु ने कहा कि सन्यासी हरिदास ने अपने कर्म का फल भोग लिया, स्त्री-दर्शन का यही प्राय-श्चित है।

एक बार एक देवदासी अत्यन्त सरस स्वर से गीत गोविन्द गा रही थी। प्रभु को इस बात का तनिक भी पता नही था कि स्वर स्त्री का है या पुरुष का। वे प्रेमावेश में उसके आलिंगन के लिये दौड पडे; उनके सेवक गोविन्द ने कहा कि स्त्री का स्वर है। महाप्रभु सावधान

हो गये। उन्होंने गोविन्द से कहा कि आज तुमने मेरा प्राण बचा लिया नही तो स्त्री के स्पर्श से आज मेरा मरण निश्चित था।

जगन्नाथ देव के नाट्य मन्दिर में गरुड स्तम्भ के पीछे खडे होकर प्रभु दर्शन किया करते थे। एक बार एक बूढी स्त्री भीड मे प्रभु के कन्धो के सहारे गरुड स्तम्भ पर खडी होकर जगन्नाथ देव का दर्शन कर रही थी। चैतन्य के सेवक गोविन्द ने उसको रोका, नीचे उतार दिया। प्रभु ने कहा वह आवेश में जगन्नाथ का दर्शन कर रही है, उसे बाह्य दशा का तनिक भी ज्ञान नही है, कही मुझे भी ऐसे भाव की जगन्नाथ-दर्शन के लिये प्राप्ति हो जाती तो मैं कृतार्थ हो जाता।

चैतन्य का समय कृष्णप्रेम के दिव्योन्माद में बीतने लगा। नीलाचल का समय उनके जीवन का मधुरतम अश है। चैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रधान अनुयायी नित्यानन्द, अद्वैतप्रभु, रायरामानन्द, रूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी, जीवगोस्वामी, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट, रघुनाथ-दास, हरिदास तथा नरहरि सरकार आदि विभूतियो के माध्यम से कृष्ण की प्रेम-भक्ति का प्रचार किया, वैष्णवता का प्रचार किया। भक्तिशास्त्र पर ग्रन्थ लिखाये तथा वृन्दावन आदि तीर्थों के गुप्त और लुप्त क्षेत्रों तथा स्थानो का पता लगाया। चैतन्य देव का यह कार्य ऐतिहासिक दृष्टि मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। समस्त देश उनके

'हरये नम यादवाय नम '
गोपाल गोविन्द राय श्रीमधुसूदन '

—मन्त्र से जाग उठा, कृष्णभक्ति का रसास्वादन करने लगा। चैतन्य महाप्रभु वैराग्यविद्या और भक्तियोग के अनुपम रसज्ञ थे। उन्होने वृन्दावन की चिन्मयी, रसमयी तथा सौन्दर्यमयी भागवत विभूति का दर्शन किया। श्री राधाकृष्ण के रूप-सौन्दर्य के एकीभूत स्वरूप की आराधना की।

चैतन्य महाप्रभु ने—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।'

—मत्र को महामन्त्र वताया। उन्होंने कहा कि इस मन्त्रराज के निरन्तर जाप से जीव ससार-बन्धन से मुक्त होकर भगवान के परम धाम का अधिकारी हो जाता है। उन्होंने अचिंत्यभेदाभेदवाद का प्रचार किया। उन्होंने कहा कि हरि के गुण ही ऐसे है कि बडे-बडे आत्माराम ज्ञानी-विज्ञानी विधि-निषेध से अलग होने पर भी उनसे प्रेम कर भक्ति का रसास्वादन करते है। चैतन्य के मत में भागवत-पुराण प्रमुख शास्त्र स्वीकार किया गया है तथा गीत गोविन्द को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। लीलाशुकरचित कृष्णकर्णामृत ग्रन्थ में उनकी बडी रुचि थी। जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के गीतो में महाप्रभु को विशेष आनन्द और रस का अनुभव होता था। चैतन्य देव ने कहा कि भगवान अमूर्त नही, मूर्त है, उनका नाम ही उनका रूप है। भगवान की कृपा से ही प्रेमा भक्ति की प्राप्ति होती है। साधना-भक्ति से तो केवल ब्रह्मज्ञान मिलता है। गोपी श्रीकृष्ण की वास्तविक प्रेमिका है, नित्य प्रेयसी है। वे भगवान श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति है। राधा महाभाव की पराकाष्ठा है। चैतन्य ने दिव्योन्माद अथवा मादन महाभाव में राधा और कृष्ण की स्वरूपानुभूति की। पुरी में अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हे राधा के मादन महाभाव का स्वरूपानन्द प्राप्त होता था। उल्लेख है

'राविकार भावकान्ति करि अधिकार,
निज रस आस्वादिते करिआछअवतार।
तवे हासि प्रभु निज देखल स्वरूप,
रसराज महाभाव दुह एक रूप'

चैतन्य के मत में—अचिंत्य भेदाभेदवाद के क्षेत्र में व्रजपति नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण ही आराध्य है। वृन्दावन उनका लीलाधाम है। व्रज-गोपिकाओ द्वारा की गयी उपासना ही माननीय और प्रामाणिक है। चैतन्य महाप्रभु ने भागवत को निर्मल प्रमाणशास्त्र माना, प्रेम को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ स्वीकार किया। समस्त विद्या का फल उन्होंने कृष्णपद-प्रेम ही माना। चैतन्य भावगत में महाप्रभु की उक्ति है

'सेइ से विद्यारफल जानिह निश्चय।
कृष्णपादपद्मे यदि चित्त वित्त रय।'

महाप्रभु ने इस वात पर जोर दिया कि जव तक शरीर में प्राण हैं, देह में शक्ति है तव तक कृष्ण-चरण में भक्ति करनी चाहिये, कृष्ण माता, पिता, प्राणधन, तन और मन है, सर्वस्व है। अपने शिक्षाष्टक में चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण के सकीर्तन, नाम-स्मरण, विनम्रता, निष्काम भगवद्भक्ति, सेवा पर विशेष जोर दिया, उन्होने श्रीकृष्ण के चरणो में पूर्ण समर्पण पर ही विश्वास किया। अन्तिम समय में चैतन्य देव का दिव्योन्माद अधिक वढ गया। एक दिन समुद्र की ओर जा रहे थे। वीच में चटक पर्वत पडता था। उन्होने गोवर्धन समझकर उसका आलिगन करना चाहा, भागवत का श्लोक पढते-पढ़ते वे अचेत होकर गिर पडे। जगन्नाथ देव उन्हें मुरली मनोहर श्यामसुन्दर के रूप में दर्शन देने लगे। एक वार प्रभु विरहावेश में समुद्र में कूद पडे थे।

उनका अवसान विलक्षण ढग से हुआ। सम्वत् १५८० वि में आषाढ मास में एक दिन प्रभु जगन्नाथ-मन्दिर में दर्शन कर रहे थे। प्रभु मन्दिर में गरुड स्तम्भ के पीछे से दर्शन किया करते थे पर उस दिन वे सीधे मन्दिर के भीतर चले गये। दरवाजे वन्द हो गये। लोग आश्चर्य में पड गये। वे जगन्नाथ जी की ज्योति मे लीन हो गये। इस घटना से स्वरूप गोस्वामी का हृदय फट गया। चैतन्य के निधन पर रूप गोस्वामी की उक्ति है कि समुद्र के तट-उपवन समूहो को वृन्दावन समझ कर जो प्रेमाभिभूत हो जाते थे, श्रीकृष्ण के नाम सकीर्तन में जिनकी रसना सदा लगी रहती थी, वे भक्तिरसरसिक क्या हमें फिर दर्शन देंगे?

महाप्रभु चैतन्य देव भक्तिरस के महान् आचार्य थे। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय उनकी भक्ति-परम्परा के अनुगमन का अप्रतिम प्रतीक है। उनका सम्पूर्ण जीवन श्रीकृष्णमय था। वाणी—सरस्वती की परम प्रसन्नता के फलस्वरूप इतने वडे भागवत सन्त की जीवन-कथा के चितन का सौभाग्य मिलता है।

रचना

उनके आठ श्लोक–शिक्षाष्टक वहुत प्रसिद्ध हैं। रूपगोस्वामी ने उनके कई श्लोको का पद्यावली में संग्रह किया है।

वाणी

चेतो दर्पण मार्जन भवमहादावाग्निनिर्वापण
श्रेय कैरवचन्द्रिकावितरण विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धन प्रतिपद पूर्णामृतास्वादन
सर्वात्मस्नपन पर विजयते श्रीकृष्णसकीर्तनम् ॥

भगवान कृष्ण के सकीर्तन की जय हो। वह चित्तरूपी दर्पण को साफ रखता है, ससाररूपी दावानल को शान्त कर देता है, कल्याण-कुमुद को अपने किरणजाल से खिला देता है, विद्या वधू का जीवन है, चन्द्रमा के समान-आनन्द समुद्र को वढा देता है, अमृत का रसास्वादन कराता है, सम्पूर्ण आत्मा उससे शाति और आनन्द में मग्न हो जाती है।

नाम्नामकारि वहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमित स्मरणो न काल ।
एतादृशी तवकृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृश मिहाजनि नानुराग ॥

हे भगवान् आप के नामसमूह अनेक रूप से प्रकट है। नाम-स्मरण में काल-अकाल का प्रश्न नही है। आप के नाम में आप की भगवत्ता अभिव्यक्त है, यह आप की महान कृपा है पर अभाग्य से आप के नाम में मेरा अनुराग नही हो सका।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय सदा हरि ॥

तृण से भी अधिक विनम्र-नीच होकर, वृक्ष से भी अधिक सहनशील और अमानी होकर सदा दूसरे को सम्मानित करते हुए भगवान श्रीकृष्णहरि का कीर्तन करते रहना चाहिये।

न धन न जन न सुन्दरी कविता वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकीत्वयि ॥

हे जगदीश ! मुझे धन, परिवार, सुन्दरी-कविता नही चाहिये। मैं जन्म-जन्म तक आप के चरणों में अहैतुकी भक्ति मागता हूँ।

अयि नन्दतनुज किङ्कर पतित मा विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृश विचिन्तय ॥

हे नन्दनन्दन! विषम ससार-सागर मे पडे हुए मुझ दास को कृपापूर्वक अपने चरण-कमल के एक धूलि-कण के समान समझ लीजिये।

नयन गलदश्रुधारया वदन गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचित वपु कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ॥

हे देव! ऐसा कब होगा कि आप का नाम लेने पर मेरे नयन अश्रु-जल से भीगे रहे, कठ गद्‌गद अवरुद्ध हो जाने से मेरे मुख से रह-रह कर वाणी निकले तथा शरीर रोमाञ्चित हो जाय।

युगायित निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायित, जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥

हे गोविन्द! आप के विरह में मेरा एक निमेष युग के समान हो गया है, नयनो से जल-वृष्टि हो रही है, जगत सूना-सूना-सा लगता है।

आश्लिष्य वा पादरता पिनष्टु मा —
मदर्शनान्मर्महता करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापर ॥

अपनी चरण-सेवा में रत चाहे वे मेरा आलिगन करे या पीस डाले, मेरे नयनो के सामने से चाहे ओझल होकर मुझे मर्माहत करे, जो इच्छा हो वही करे, पर है हमारे प्राणनाथ वे हरि ही, दूसरा कोई नही है।

—शिक्षाष्टक

महात्मा सनातन गोस्वामी

तस्मै नमोऽस्तु निरुपाधिकृपाकुलाय
श्रीगोपराजतनयाय गुरूत्तमाय।
य कारयन् निजजन स्वयमेव भक्ति
तस्यातितुष्यति यथा परमोपकर्तु ।

गोपराजतनय—नन्दनन्दन, उत्तमगुरु, सदा अहैतुकी कृपा करने के लिये आकुल भगवान श्रीकृष्ण को, जो स्वय प्रेरणा करके अपने स्वजनों से भक्ति कराते है तथा उन पर अपने परम उपकारी की तरह प्रसन्न होते है, नमस्कार है।

—बृहद् भागवतामृतम्।

महात्मा सनातन गोस्वामी को मध्यकालीन रसिक सन्तो की श्रेणी में विशेष स्थान प्राप्त है। वे भगवत्तत्व—कृष्णरस अथवा भक्तिदर्शन के परम विशेषज्ञ थे। सनातन और उनके छोटे भाई रूप ने भक्तिरस को दर्शन के रगमच पर प्रतिष्ठित कर वेदप्रतिपाद्य रस-ब्रह्म श्रीकृष्ण की कृपा मे उपासना को पूर्व और उत्तर मीमासा-दर्शन का प्राण सिद्ध किया। कर्म और ज्ञान को भक्ति के आश्रित कर निर्गुण ज्ञानधारा की अद्वैत मन्तपरम्परा पर सगुण चिन्तन पद्धति की भक्तिमयी विजयिनी ध्वजा फहरा कर वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मानन्द का भागवतसवेद्य कृष्ण-तत्व में रूपान्तर कर दिया। महाप्रभु वल्लभाचार्य, चैतन्यदेव और गोस्वामी तुलसीदास की कृष्णभक्ति और राम-अनुरक्ति की मूल भूमि में इमी रूपान्तर का दर्शन होता है। मध्यकालीन सन्त-साहित्य के इतिहास में यह रूपान्तर एक अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण अध्याय है।

मनातन ने विक्रम की सोलहवी और सत्तरहवी शताब्दी को अपने भक्तिमाहित्य मे प्रभावित किया। उनके जीवन के प्रारम्भिक काल में

दिल्ली में नित्यप्रति राज्यवश के परिवर्तन की आशका बनी रहती थी। प्रान्तो के शासक अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता की स्थापना कर रहे थे। देश विभिन्न स्वतन्त्र प्रान्तों में विभक्त था। उनके जीवन के मध्य और अन्तिम भाग में केन्द्रीय राजसत्ता मुगल आधिपत्य में बलवती हो चली थी ; सम्राट अकबर ने देश की राजनैतिक एकता की ओर विशेप ध्यान दिया ; राजनैतिक एकता के अनुरूप सास्कृतिक और साहित्यिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन में भी एकता का सूत्रपात हुआ। भगवान् की सगुण भक्ति का प्राबल्य देखा गया, सूर और तुलसी ने, रूप और सनातन तथा जीव गोस्वामी ने, हितहरिवश, व्यास और हरिदास आदि ने भगवान् की लीला के रसराजत्व से जन-जीवन को समृद्ध बनाया। विक्रम की सोलहवी सदी के दूसरे चरण की समाप्ति के लगभग गौड बगाल में हुसेन शाह का आधिपत्य था। आध्यात्मिक क्षेत्र में महाप्रभु चैतन्य देव की कृष्णकीर्तनमाधुरी नदिया से व्रज तक और हिमालय से नीलगिरि तक परिव्याप्त थी। ऐसे पुण्यमय पवित्र समय मे सनातन ने भागवत चेतना प्राप्त की। सनातन गोस्वामी के पूर्वज दक्षिण प्रान्त के कर्णाटक मण्डल के रहने वाले थे। उन्हें सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा तथा प्रसन्नता प्राप्त थी। वे राज ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इस पवित्र कुल में एक सर्वज्ञ नामक यशस्वी महापुरुष हुए थे। उनके वशज पद्मनाभ किसी कारण से कर्णाटक छोड कर बगाल में आकर फतेहाबाद में बस गये। पद्मनाभ के पौत्र कुमार देव सनातन गोस्वामी के पिता थे तथा माता का नाम रेवतीदेवी था। सनातन के दो भाई थे, उनका नाम रूप और अनुपम था। सनातन का असली नाम अमर था और रूप का नाम सतोष था। माता-पिता ने सनातन की शिक्षा-दीक्षा में बडी सावधानी रखी। स १५३९ वि के लगभग सनातन का जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा की व्यवस्था नवद्वीप के प्रकाण्ड विद्वान् रत्नाकर विद्यावाचस्पति के हाथ में सौंपी गयी। विद्या समाप्त करने पर वे घर पर ही रह कर काव्य आदि शास्त्रग्रन्थो का अध्ययन करने लगे। कविता में उनकी विशेष रुचि थी। उनके पिता की हुसेन शाह की राजसभा तक पहुँच थी, इसका फल यह हुआ कि हुसेन शाह के विश्वास-पात्र कवि मालाधार वसु के विशेष प्रभाव से सनातन और उनके छोटे भाई

महात्मा सनातन गोस्वामी

तस्मै नमोऽस्तु निरुपाधिकृपाकुलाय
श्रीगोपराजतनयाय गुरूत्तमाय।
य कारयन् निजजन स्वयमेव भक्ति
तस्यातितुष्यति यथा परमोपकर्तु ।

गोपराजतनय—नन्दनन्दन, उत्तमगुरु, सदा अहैतुकी कृपा करने के लिये आकुल भगवान श्रीकृष्ण को, जो स्वय प्रेरणा करके अपने स्वजनो से भक्ति कराते है तथा उन पर अपने परम उपकारी की तरह प्रसन्न होते हैं, नमस्कार है ।

—बृहद् भागवतामृतम् ।

महात्मा सनातन गोस्वामी को मध्यकालीन रसिक सन्तों की श्रेणी में विशेप स्थान प्राप्त है। वे भगवत्तत्व—कृष्णरस अथवा भक्तिदर्शन के परम विशेपज्ञ थे। सनातन और उनके छोटे भाई रूप ने भक्तिरस को दर्शन के रगमच पर प्रतिष्ठित कर वेदप्रतिपाद्य रस-ब्रह्म श्रीकृष्ण की कृपा से उपासना को पूर्व और उत्तर मीमासा-दर्शन का प्राण सिद्ध किया। कर्म और ज्ञान को भक्ति के आश्रित कर निर्गुण ज्ञानधारा की अद्वैत सन्तपरम्परा पर सगुण चिन्तन पद्धति की भक्तिमयी विजयिनी ध्वजा फहरा कर वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मानन्द का भागवतसवेद्य कृष्ण-तत्व में रूपान्तर कर दिया। महाप्रभु वल्लभाचार्य, चैतन्यदेव और गोस्वामी तुलसीदास की कृष्णभक्ति और राम-अनुरक्ति की मूल भूमि में इमी रूपान्तर का दर्शन होता है। मध्यकालीन सन्त-साहित्य के इतिहास में यह रूपान्तर एक अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण अध्याय है।

मनातन ने विक्रम की मोलहवी और सत्तरहवी शताब्दी को अपने भक्तिसाहित्य से प्रभावित किया। उनके जीवन के प्रारम्भिक काल में

दिल्ली में नित्यप्रति राज्यवश के परिवर्तन की आशका वनी रहती थी। प्रान्तों के शासक अपनी स्वतन्त्र राजसत्ता की स्थापना कर रहे थे। देश विभिन्न स्वतन्त्र प्रान्तों में विभक्त था। उनके जीवन के मध्य और अन्तिम भाग में केन्द्रीय राजसत्ता मुगल आधिपत्य में वलवती हो चली थी, सम्राट अकवर ने देश की राजनैतिक एकता की ओर विशेष ध्यान दिया, राजनैतिक एकता के अनुरूप सास्कृतिक और साहित्यिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन में भी एकता का सूत्रपात हुआ। भगवान् की सगुण भक्ति का प्रावल्य देखा गया, सूर और तुलसी ने, रूप और सनातन तथा जीव गोस्वामी ने, हितहरिवश, व्यास और हरिदास आदि ने भगवान् की लीला के रसराजत्व से जन-जीवन को समृद्ध वनाया। विक्रम की सोलहवी सदी के दूसरे चरण की समाप्ति के लगभग गौड वगाल में हुसेन शाह का आधिपत्य था। आध्यात्मिक क्षेत्र में महाप्रभु चैतन्य देव की कृष्णकीर्तनमाधुरी नदिया से व्रज तक और हिमालय से नीलगिरि तक परिव्याप्त थी। ऐसे पुण्यमय पवित्र समय में सनातन ने भागवत चेतना प्राप्त की। सनातन गोस्वामी के पूर्वज दक्षिण प्रान्त के कर्णाटक मण्डल के रहने वाले थे। उन्हे सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा तथा प्रसन्नता प्राप्त थी। वे राज ऐश्वर्य से सम्पन्न थे। भारद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इस पवित्र कुल मे एक सर्वज्ञ नामक यशस्वी महापुरुप हुए थे। उनके वशज पद्मनाभ किसी कारण से कर्णाटक छोड कर वगाल में आकर फतेहावाद में वस गये। पद्मनाभ के पौत्र कुमार देव सनातन गोस्वामी के पिता थे तथा माता का नाम रेवतीदेवी था। सनातन के दो भाई थे, उनका नाम रूप और अनुपम था। सनातन का असली नाम अमर था और रूप का नाम सतोप था। माता-पिता ने सनातन की शिक्षा-दीक्षा में वडी सावधानी रखी। स १५३९ वि के लगभग सनातन का जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा की व्यवस्था नवद्वीप के प्रकाण्ड विद्वान् रत्नाकर विद्यावाचस्पति के हाथ में सौंपी गयी। विद्या समाप्त करने पर वे घर पर ही रह कर काव्य आदि शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। कविता में उनकी विशेप रुचि थी। उनके पिता की हुसेन शाह की राजसभा तक पहुँच थी, इसका फल यह हुआ कि हुसेन शाह के विश्वास-पात्र कवि मालाधार वसु के विशेप प्रभाव से सनातन और उनके छोटे भाई

राजसभा में विशेष अवसरो पर उपस्थित होने लगे। हुसेन शाह ने सनातन की योग्यता और बुद्धिमत्ता से प्रसन्न होकर उन्हे प्रधानमन्त्री—साकर मल्लिक के पद पर प्रतिष्ठित किया तथा रूप को अपना दबीर खास अथवा निजी सचिव बनाया। सनातन राजप्रबन्ध की सुविधा की दृष्टि से गगातटपर रामकेलि ग्राम में एक विशाल प्रासाद बनवा कर सपरिवार रहने लगे। दोनो भाइयो का जीवन भोगमय हो उठा, लक्ष्मी और सरस्वती दोनो ने उनको समृद्धि और बुद्धि का आशीर्वाद दिया। भोग में रहते हुए भी सनातन को किसी-न-किसी विशेप अभाव का दुख था। वे श्रीकृष्णचन्द्र के चरणानुरागी थे। उन्हे बडे-बडे सन्तो का सत्सग मिलता रहता था। दोनो श्रीकृष्ण की लीला पर काव्य रचना भी करते थे। सनातन ने सन्तो और विद्वानो के मुख से अनेक बार चैतन्य देव का नाम सुना था, वे उनकी कृष्णभक्ति के बडे प्रशसक थे। चैतन्य के चरण-दर्शन की उनकी और रूप की बडी इच्छा थी। महाप्रभु के पास एक पत्र भेजा गया, उसका उत्तर चैतन्य ने दिया कि जिस प्रकार दूसरे से प्रेम करने वाली नारी गृहकर्म मे तत्पर रह कर अपने प्रियतम का चिन्तन करती है उसी प्रकार राजकार्य मे व्यस्त रह कर भी आपको श्रीकृष्ण के चिन्तन-सुख का निरन्तर आस्वादन करना चाहिये। इस उत्तर को पाकर सनातन और उनके छोटे भाई रूप का प्रेमाकर्षण महाप्रभु के प्रति बढने लगा, वे उनके दर्शन के लिये आकुल हो उठे। राजकार्य में उनका मन अधिक नही लगता था, हुसेन शाह के प्रधान मन्त्री सनातन तो महाप्रभु चैतन्य देव की राह देख रहे थे, वे उस समय की प्रतीक्षा कर रहे थे जब अत्यन्त दैन्यपूर्वक श्रद्धा और भक्ति से वे अपने आप को चैतन्य के चरणो पर निछावर कर देते। इधर महाप्रभु की भी दशा विलक्षण थी। वे दोनो भाइयो को अपनाने के लिये, प्रेमदान देने के लिये विशेप समुत्सुक हो उठे। महाप्रभु चैतन्य देव ब्रजयात्रा के बहाने दोनो भाइयो को धन्य करने के लिये पुरी से रामकेलि ग्राम आ पहुँचे। महाप्रभु के आगमन से समस्त गगातटीय वातावरण हरिनाम कीर्तन-ध्वनि से मधुर और रमणीय हो उठा। रात में सनातन दाँत में तिनका दबा कर और गले में कपडा लपेट कर रूप को साथ लेकर एकान्त में प्रभु से मिलने गये। नित्यानन्द और हरिदास को परिचय दिया। महाप्रभु चैतन्य ने

उनका प्रेम से आलिंगन किया और कहा कि मै तो तुम्हारे ही लिये यहाँ आया हूँ। उन्होने सनातन और रूप को अपने अन्तरग प्रेमियो में स्वीकार कर लिया। महाप्रभु ने कहा कि हरि ही समस्त शास्त्रों के मूल है। निगम-आगम सब-के-सब श्रीकृष्ण की ही महिमा का वखान करते है। श्रीकृष्ण ही जगत के जीवनस्वरूप है। श्रीकृष्ण का भजन ही इस असार ससार में श्रेय है। तुम लोगो पर श्रीकृष्ण की अपार कृपा है। महाप्रभु ने वृन्दावन के लिये प्रस्थान करना चाहा पर सनातन ने उन्हें राजनैतिक अशान्ति और मार्ग की दुर्गमता का परिचय कराया। महाप्रभु चैतन्य देव ने वृन्दावन की यात्रा स्थगित कर दी। वे नीलाचल लौट आये।

महाप्रभु के पुरी लौटने के वाद सनातन की विरहाकुलता वढने लगी। अभी उनकी अवस्था लगभग वत्तीस साल की थी, पर वैराग्य और सन्यास में ही उनका मन शान्ति का अनुभव करने लगा। रूप उनकी अनुमति से छुट्टी लेकर फतेहावाद चले आये। उन्होने अपने छोटे भाई अनुपम के पुत्र जीव के लिये थोडा-सा धन वचा कर शेष व्राह्मणो को दे दिया। सनातन का मन राजकार्य से उचट गया। वादशाह के वे वहुत वडे विश्वासपात्र थे इसलिये उनकी अरुचि से राजप्रवन्ध विगडने की सम्भावना थी। उन्होने वीमारी का वहाना वना कर राजसभा में जाना वन्द कर दिया। हुसेनशाह ने वास्तविकता का पता लगाया। वादशाह ने उनके घर स्वय जाकर देखा कि वे कुछ पण्डितो के साथ भागवत पुराण पर चिन्तन कर रहे है, सनातन को कारागार में डाल दिया गया। पर सनातन को इस घटना से प्रसन्नता हुई, राजसभा और राजकार्य से अवकाश मिल गया। कारागार में प्रभुचिन्तन से भवरोग का नाश हो जायेगा—ऐसा उनका दृढ विचार था। रूप गोस्वामी उनके कारावास से वडे चिंतित हुए। उन्होने सनातन को पत्र लिखा कि मैं अनुपम को साथ लेकर प्रभु चैतन्य देव से मिलने व्रज जा रहा हूँ। मोदी के पास दस हजार रुपये रख दिये है, आवश्यकता के समय उनका उपयोग कर लीजियेगा। सनातन ने जेल दरोगा को अपने मन की स्थिति समझायी, कहा कि मै चोर, डाकू या राज-अपराधी तो हूँ नही, तुम जानते ही हो कि राज्य में मुझे कितना

गौरवपूर्ण पद प्राप्त है पर श्रीकृष्ण-चैतन्य की रूप माधुरी के लिये मेरे नयन प्यासे है, वे उनको देखना चाहते है, मै तुम्हे वडी-से-वडी लौकिक सम्पत्ति दूगा, मुझे मुक्त कर दो। सनातन ने एक भावमय करुण पद सुनाया, कारागार-अधिकारी का हृदय पिघल गया। सनातन उसे सात हजार रुपये पुरस्कार में देकर चुपके-से निकल गये। ईशान नामक सेवक उनके साथ था। वे पूर्ण प्रेमावेश में एक दीन-हीन की तरह प्रभु से मिलने चल पडे। ईशान ने विना सनातन को बताये ही आठ मोहरो को पाथेय रूप में रख लिया था। गगा-पार करने पर सनातन का हृदय आनन्दमग्न हो गया। वे पातडा ग्राम में आये, ग्राम-निवासी भौमिको ने उनका विशेप आदर किया। सनातन को वडा आश्चर्य हुआ कि मेरे पास तो कुछ भी नही है, पर ये भौमिक मेरा इतना सम्मान क्यो कर रहे है? उन्होने ईशान से पूछा कि तुम्हारे पास कुछ है तो नही? ईशान के पास आठ मोहरे थी, एक मोहर छिपाकर उसने सात ही वतलायी, सनातन ने सातो मोहरे भौमिको को दिलवा दी। वे चल पडे। रास्ते में ईशान ने अपने पास वाली मोहर की वात वता दी। सनातन ने सोचा कि यह सेवक ईश्वर की कृपा में कम विश्वास रखता है, उन्होंने उसे घर लौटा दिया और वे अकेले चलने लगे। हाजीपुर आते-आते शाम हो गयी, सूर्य डूव रहे थे, अस्तकालीन नीले नभ की लालिमा वृक्षो के पत्तो से छन कर धरती से शरण-याचना कर रही थी। सनातन एक वृक्ष के नीचे वैठ कर मस्ती से श्री कृष्णनाम का कीर्तन करने लगे। हाजीपुर में उनके वहनोई श्रीकान्त ठहरे हुए थे। वे हुसेन शाह के लिये घोडा खरीदा करते थे। सनातन का परिचित स्वर सुनकर वे वृक्ष के नीचे आये। उन्होने एक गौरवर्ण तथा स्वर्ण-कान्ति सम्पन्न पुरुप को देखा, उनकी दाढी वढी हुई थी, नयनो से अश्रुपात हो रहा था। उन्होने सनातन को पहिचाना, गले लगा लिया। सनातन और श्रीकान्त का मिलन ऐसा लगता था मानो ऐश्वर्य और दारिद्र मिल रहे है। श्रीकान्त का वैभव सनातन की दिव्य भगवद्-भक्ति के सामने नीरस हो गया। उन्होने सनातन मे घर लौट चलने को कहा। सनातन ने कहा कि मै अपने घर ही जा रहा हूँ, अपने प्रभु मे मिलने के लिये निकल पडा हूँ, अव ससार मुझे भूल में नही डाल मकता है। श्रीकान्त ने पाथेय के रूप में कुछ देना चाहा पर

सनातन ने स्वीकार नही किया। अन्त मे श्रीकान्त का मन रखने के लिये एक दुशाला स्वीकार कर लिया पर वह बहुत कीमती था। सनातन के लिये बोझा था। जिन्होने करोडो की सम्पत्ति पर कृष्ण चैतन्य की प्रसन्नता के लिये लात मार दी उनके लिये एक कीमती दुशाले का महत्व ही क्या था? सनातन प्रभु चैतन्य देव की खोज में काशी पहुँच गये। विश्वनाथ की पुरी के नरनारी बालक सब-के-सब हरिनाम की सरस कीर्तन-ध्वनि से प्रमत्त थे। चैतन्य महाप्रभु चन्द्रशेखर के घर पर कीर्तन कर रहे थे। असत्य प्राणी कीर्तन में सम्मिलित थे, उनका अगना भीड से भरा हुआ था, ऐसा लगता था मानो काशी के समस्त पुण्य एकत्र हो गये हो। सनातन चन्द्रशेखर के दरवाजे पर बैठ गये। महाप्रभु ने चन्द्रशेखर को आज्ञा दी कि बाहर जो वैष्णव बैठे हुए हैं उन्हें सम्मानपूर्वक ले आइये। चन्द्रशेखर ने प्रभु से निवेदन किया कि बाहर कोई वैष्णव सज्जन नही है, एक दरवेश बैठे हुए हैं। महाप्रभु ने कहा कि उन्ही को बुला लाइये। सनातन ने यह सुन कर कि प्रभु ने मुझे भीतर बुलाया है बडी प्रसन्नता का अनुभव किया। वे बार-बार चैतन्य देव की कृपा और प्रेम का स्मरण करने लगे। प्रभु ने उन्हें देखकर आलिंगन किया। ऐसा लगता था मानो भगवान् ने भाव को अपना लिया है, भक्त के हृदय को अपना निवास-स्थान बना लिया है। चैतन्य देव के स्पर्श से सनातन गोस्वामी के शरीर में दिव्यता की संजीवनी लहरा उठी। चन्द्रशेखर तथा अन्य भक्तगण आश्चर्य-चकित हो गये कि महाप्रभु एक मुसलमान दरवेश को छाती में भर रहे हैं पर उन्हे पता नहीं था कि वे ब्राह्मणशिरोमणि, वैराग्यराजेश्वर सनातन गोस्वामी हैं। चैतन्य महाप्रभु ने उनका परिचय कराया तो लोग उनकी चरण-धूलि के लिये लालायित हो उठे। वे साकार वैराग्य थे। मुण्डन करवा कर सनातन ने गगास्नान किया और प्रभु के शिष्य तपन मिश्र से एक फटी धोती माँग कर दो टुकडे किये, एक टुकडा पहन लिया और दूसरा कन्धे पर रख लिया। वे प्रभु चैतन्य देव के समीप बैठ गये, सोचने लगे कि मेरे ऐसे पापी और विषयी भोगी को क्या कृष्ण-प्रेम मिलेगा, क्या मुझे महाप्रभु अपनायेंगे? महाप्रभु उनकी ओर बार-बार देख रहे थे, कन्धे पर श्रीकान्त का दिया दुशाला था। सनातन ने सोचा कि महाप्रभु की दृष्टि में दुशाला खटक रहा है,

उन्होने उसे एक वैरागी को देकर उसकी गुदडी कन्धे पर रख ली। महाप्रभु उनके वैराग्य से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने उनको श्रीकृष्णतत्त्व का रहस्य समझाया। वे काशी मे दो मास तक महाप्रभु से भगवत्तत्त्व का रहस्य समझते रहे। चैतन्य देव ने वताया कि श्रीकृष्ण ही परम-तत्त्व हैं। जीव का उनके साथ प्रभु और सेवक का नित्य सम्वन्ध है। जीव श्रीकृष्ण के सुख में अपना सुख मानता है—यही प्रयोजन अथवा कृष्ण-प्रेम है। चैतन्य महाप्रभु ने रूप और अनुपम के पास सनातन को वृन्दावन भेज दिया। वे वृन्दावन में वृक्ष के नीचे रहते थे और मधुकरी से काम चलाते थे। रोटी जमीन में गाड देते थे, और दूसरे दिन उसी को खाते थे। वे वैराग्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गये। उन्होने वृन्दावन में रहकर भक्तिपरक ग्रन्थ लिखे, लुप्त तीर्थों का उद्धार किया। उनके वृन्दावन पहुँचने के पहले रूप और अनुपम ने चैतन्य महाप्रभु से मिलने के लिये पुरी की यात्रा की। लकडी वेचकर सनातन भोजन का प्रवन्ध करते थे पर वाद में भिक्षा से ही काम चलाया। उन्होने वृन्दावन में रह कर श्रीकृष्ण के लीलास्थानो का पता लगाया। चैतन्य देव का विरह उनके लिये असह्य था। उन्होने महाप्रभु के दर्शन के लिये नीलाचल-यात्रा का निश्चय किया और महाप्रभु से मिलने चल पडे। झार-खण्ड से होते हुए सनातन पुरी पहुँच गये। झारखण्ड के दूपित जलपान मे उनके शरीर में कोढ हो गया था। चैतमास था। सनातन वडे हरिदास की कुटिया पर ठहर गये। प्रभु नित्य हरिदास से मिलने आया करते थे। सनातन ने महाप्रभु को देखकर साष्टाग प्रणाम किया। चैतन्य देव उन्हे आलिंगन करने के लिये दौड पडे। सनातन ने अपने कोढ की ओर सकेत किया, दूर हट गये पर चैतन्य तो प्रेमोन्मत्त थे। उन्होने सनातन से कहा कि मुझे दिव्य सुगन्ध का अनुभव हो रहा है। प्रभु उन्हें वहुत प्यार करते थे। जेठ मास में महाप्रभु यमेश्वर टोटा गये हुए थे। सनातन उनसे मिलने गये, प्रभु ने उनका वार-वार आलिंगन किया। सनातन को वडी आत्मग्लानि हुई। उन्होने रथ-यात्रा के समय जगन्नाथ जी के रथ के नीचे दव कर प्राण देने का निश्चय किया, सोचा कि पापी कोढमय शरीर का इस तरह अन्त हो जायेगा तो अच्छा ही है। महाप्रभु को उनके निश्चय का पता चल गया। उन्होने सनातन को समझाया कि आत्मघात करने से कृष्णप्रेम की

प्राप्ति नही होती है। कुछ दिन पुरी मे निवास कर महाप्रभु की आज्ञा से भक्तिग्रन्थो के प्रणयन तथा रूप को श्रीकृष्ण-भक्ति के प्रचार-कार्य में सहायता देने के लिये उन्होने व्रज की यात्रा की। वे वृन्दावन के चिन्मय सौन्दर्य पर रीझ गये। एक वृक्ष के नीचे निवास स्थिर कर श्रीकृष्ण भगवान् का भजन करने लगे। उनके नयनो के सामने श्रीकृष्ण का रूप नाचने लगा। वे 'मदनटेर' स्थान पर झोपडी बना कर रहने लगे। रूप गोस्वामी भी इसी समय पुरी से आ पहुँचे। दोनो भाई श्रीकृष्णप्रेम में विह्वल थे। सनातन ने तीव्र वैराग्य का व्रत लिया। वे 'श्रीकृष्ण, गोपाल, हरे मुकुन्द, गोविन्द, नन्दकिशोर, यशोदा-तनय, वल्लवीजीवन, राधिकेश आदि भगवन्नामो का निरन्तर गान कर उन्मत्त रहा करते थे। भगवान् के साक्षात् दर्शन के लिये अभिलाषा करते रहते थे। वे सोचा करते थे, वृहद्भागवतामृत में उनकी वाणी साक्षी है, उक्ति है·

> सा वन्यभूषा स च वेणुवाद्य
> माधुर्यपूरोऽखिलचित्तहारी,
> तद्गोपयोषिद्गणमोहनञ्च
> मया कदास्यानुभविष्यतेऽद्धा

कि कृष्ण के सुन्दर वनवेष, वेणुमाधुरी—जिससे जगत् का चित्त-हरण हो गया था तथा व्रजसुन्दरी मोहित हो गयी थी— आदि लीला का मुझे कब दर्शन होगा। उन्हे कृष्ण की सारी व्रज-लीलाओ की सरस अनुभूति होती रहती थी। कभी वे चीरहरण की बात सोचते थे तो कभी यज्ञपत्नी उद्धार, गोवर्धनपूजन, रासविलास आदि की भक्तिमयी करुणा, पवित्रता और दिव्यता में निमग्न हो जाते थे। इस प्रकार उनका जीवन व्रज में बीतने लगा। वृन्दावन उनका आराध्य धाम बन गया। उनका जीवन वैराग्य का अप्रतिम प्रतीक बन गया। वे अपने पास एक मिट्टी का करवा और लगोटी रखते थे। वृक्ष के नीचे अधिकाश समय बिताते थे, कभी-कभी झोपडी में भी रहते थे। उनके व्रज-जीवन की कुछ घटनायें विशेष उल्लेख्य है।

उनमें वैराग्य और भक्ति का अनुपम समन्वय दीख पडता है। सनातन गोस्वामी नित्य मधुकरी मागने मथुरा जाया करते थे। एक चौबा-

इन के घर भी जाते थे, वहाँ नित्य मदनमोहन जी की मूर्ति का दर्शन करते थे। मदनमोहन जी में उनकी विशेष निष्ठा हो गयी। एक दिन चौवाइन के घर के सामने उन्हे लडको के साथ खेलते हुए मदन मोहन जी का साक्षात् दर्शन हुआ। प्रभु की काली-काली अलकावली कन्धे तक लटक रही थी, श्याम शरीर धूलिधूसरित था, कटि में सोने की करधनी और चरणो में पैंजनी की शोभा मनमोहिनी थी। श्यामसुन्दर ने सनातन को धन्य कर दिया, वे प्रभु के प्रेमोन्माद में प्रमत्त हो गये। रात को स्वप्न में श्रीकृष्ण नवघनश्यामशरीर मदनमोहन ने आदेश दिया कि मुझे अपनी कुटिया मे ले चलो। सनातव सोचने लगे कि मेरे पास तो प्रभु के रागभोग के लिये कुछ भी नही है, मै तो विना नमक की रोटी खाता हूँ। प्रभु के चरणों में उन्होने अपनी विवशता निवेदित की। प्रभु को उनके वैराग्य से प्रसन्नता हुई। इतना ऊँचा वैराग्य था कि प्रभु अतिथि वनना चाहते है और भक्त को सकोच होता है। श्यामसुन्दर ने चौवाइन को भी स्वप्न दिया कि मुझे सनातन की कुटिया में पधरा दो। सनातन ने मदनमोहन जी को अपनी कुटिया में प्रतिष्ठित किया। भिक्षा माँग कर सूखी रोटी का भोग रखते थे। भगवान् ने नमक की ओर सकेत किया, वे तो सर्वस्वादमय है, पर लीला के वशीभूत होकर सनातन गोस्वामी के वैराग्य के नियम को कसौटी पर कसना चाहा। सनातन ने निस्सकोच कहा कि मै दूसरो के घर मे नमक माँग कर अपने वैराग्य का नियम शिथिल नही करूँगा। यदि यह सूखी रोटी पसन्द न आती हो तो किसी दूसरे भक्त का दरवाजा देखना चाहिये। भक्त की विजय हो गयी। इसी समय मुलतान नगर के व्यवसायी कृष्णदास की रत्नो से भरी नौका वृन्दावन के निकट यमुना जी में डूबने लगी। जिनके नाम मे असख्य प्राणियो की जीवन-नौका भवसागर मे पार हो जाती है उन श्रीमदनमोहन कृष्णचन्द्र ने एक छोटे-से वालक के रूप में प्रकट होकर व्यवसायी से कहा कि वृन्दावन के महात्मा सनातन गोस्वामी के नाम-स्मरण से नौका वच जायेगी। व्यवसायी ने सनातन के नाम का कीर्तन किया, नौका वच गयी। कृष्णदास ने सनातन से सारी स्थिति वतायी तो प्रेमालिगन मे उन्होने व्यवसायी को धन्य कर दिया और कहा कि तुम धन्य हो, तुम्हे मेरे प्रियतम भगवान् नन्दनन्दन का दर्शन हो गया। व्यवसायी के अनुरोध

से मदनमोहन जी के मन्दिर का निर्माण हुआ तथा रागभोग की व्यवस्था हो गयी।

एक वार वे व्रज-मण्डल कि परिक्रमा कर रहे थे। वे प्रभु के भजन-भाव में इतने आसक्त हो गये की उनके लिये मधुकरी माँगने के लिये जाना असह्य हो गया। उनके नयन भगवान् के रूप-दर्शन के लिये आकुल थे। वे नन्दगाव में मानसरोवर पर तीन दिन तक भूखे पडे रहे। भगवान् के अतिथि को भूखा रहना पडे – यह असम्भव था। नन्दनन्दन ने गोप वालक का वेष वनाकर उन्हे दूध पिलाया, भोजन खिलाया। उनकी रूप-माधुरी पर सनातन आसक्त हो गये। प्रभु ने स्वप्न में वताया कि गोप-वालक के वेप में मैं था। निस्सन्देह भगवान् भक्त के गुणो के अधीन होकर दृष्टिगोचर हो जाते है, उनका दर्शन-मन के सयोग से होता हैं, नेत्रो को तो देखने का अभिमान मात्र रहता है। इस विषय में वृहद्भागवतामृत में गोस्वामी सनातन देव की उक्ति है :

> 'तस्य कारुण्यशक्त्या वा दृश्योऽस्त्वपि वहिर्दृशो ।
> तथापि दर्शनानन्द स्वयोनौ जायते हृदि।'

यद्यपि श्रीभगवान् की कृपा से उनके साक्षात् दर्शन नेत्रो को होते है तथापि दर्शन के आनन्द को तो हृदय ही अनुभव करता है।

गोवर्धन-निवास-काल मे सनातन गोस्वामी नित्य नियमपूर्वक गिरिराज की परिक्रमा किया करते थे। वे उस समय वहुत वूढे हो चले थे। इसलिये परिक्रमा में वडी कठिनाई होती थी । श्रीभगवान् ने गोपवालक के रूप में प्रकट होकर उन्हे एक शिलाखण्ड दिया, और कहा कि इस पर श्रीकृष्ण के चरणचिह्न अंकित हैं, इसकी परिक्रमा से गिरिराज की परिक्रमा हो जायेगी। निस्सन्देह प्रभु भक्तों के अपने हैं, वे भक्तो के लिये सवकुछ करते हैं, वे परम प्रेमी हैं, विश्वासरूप है। सनातन गोस्वामी रातदिन प्रभु के विरह में तल्लीन रहते थे। भगवद्विरह के सम्वन्ध में महात्मा सनातन ने वृहद्भागवतामृत में एक स्थल पर कहा है

> 'मन्येऽहमेव परमप्रियेभ्य
> स्तेभ्य प्रदेयस्य सुदुर्लभस्य।

द्रव्यस्य कस्यापि समर्पणार्हो।
वदान्यमौलेर्व्यवहार एष ।'

उनकी उक्ति है कि मेरा मत तो यह है कि श्रीकृष्ण सब दानियो में श्रेष्ठ है, उनका अपने प्रेमियो को विरह प्रदान करना एक प्रकार का अनुष्ठान है जो दुर्लभ द्रव्य अथवा प्रेमसमर्पण करने के लिये किया जाता है। सनातन गोस्वामी विरहसिद्ध भगवत्प्रेमी थे।

एक बार सनातन गोस्वामी को एक पारस का टुकडा मिला। उन्होंने यमुना किनारे उसे धूलि में छिपा दिया। एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाह के लिये शिव जी से धन की याचना की, अनुष्ठान किया। शिव जी ने स्वप्न में आदेश दिया कि वृन्दावन में महात्मा सनातन से मिलने पर आवश्यकता पूरी हो जायेगी। ब्राह्मण ने सनातन से भेंट की। उन्होने पारस का पता दिया। पारस को धूलि के नीचे देख कर ब्राह्मण को ज्ञान हो गया कि महात्मा सनातन के पास इससे भी अमूल्य धन है, यदि ऐसा न होता तो सनातन इसे फेंक क्यो देते ? वह उनके चरणो पर गिर पडा। क्षमा माँगी, सनातन ने ब्राह्मण का आलिगन किया, कृष्णप्रेमरूपी धन का दान दिया।

सनातनने आजीवन व्रज मे ही निवास किया, अनेक भक्ति-ग्रन्थ लिखे। वे गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के विजयस्तम्भ थे। उन्होने चैतन्य महाप्रभु के अचित्य भेदाभेद दर्शन का भक्तिभाष्य किया। श्रीराधा-कृष्ण के प्रेम की रसानुभूति से लोकजीवन–जनजीवन को समृद्ध कर चेतना प्रदान की। अचित्य, अनन्त, शक्तिशाली परतत्व के शक्तिसमूह तथा शक्तिपरिणत वस्तु समूह के साथ परतत्त्व का जो अचित्य युगपत् भेद और अभेद मे युक्त सम्बन्ध है वही अचित्य भेदाभेदवाद है, इसी सम्बन्व को राधाकृष्ण की भक्ति मे मप्लावित करने का श्रेय मनातन गोस्वामी को है। ज्ञानसहित मोक्ष के परित्याग से भगवत्प्रेम में आसक्ति ही भक्ति है–ऐसी सनातन गोस्वामी की मान्यता दीख पडती है। जीव स्वय अणु सच्चिदानन्दस्वरूप है, परमसुख का अनुभव वह अपनी अणुता के अनुरूप ही करता है। भगवान की कृपा से–भक्ति से मोक्ष-अवस्था से परे होकर जीव परमानन्द का अनुभव करता है। जीव का स्वरूप श्रीभगवान के सदृश सच्चिदानद होने मे

अभेद हैं, उनका अंश स्वरूप होनेसे भेद है, इसलिये जीव मुक्त होने पर भी भगवान से भिन्न ही रहता है। सनातन गोस्वामी के मत में

'सर्वेषां साधनानां तत्साक्षात्कारो हि सत्फलं।
तदैवामूलतो माया नश्येत् प्रेमापि वर्द्धते।'

—सब साधनों का श्रेष्ठ फल भगवान् का साक्षात् दर्शन है। दर्शन के प्रभाव से माया जड़से नष्ट हो जाती है और भगवत् प्रेम बढ़ जाता है। सनातन ने कृष्णप्रेम का मूल अधिष्ठान चैतन्य महाप्रभु को स्वीकार किया, उन्होंने चैतन्य और श्रीकृष्ण में तनिक भी भेद नहीं किया। उनकी बृहद्भागवतामृत में चैतन्य-स्तवन है

'जयति निजपदाब्जप्रेमदानावतीर्णो
विविधमधुरिमाब्धि कोऽपि कैशोरगन्धि।
गतपरमदशान्तयस्य चैतन्यरूपा
दनुभवपदमाप्त प्रेमगोपीषु नित्यम्।'

—एक अनिर्वचनीय नित्य किशोर हैं, वे विविध-माधुरी के समुद्र हैं, चरण-कमल के प्रेमदान के लिये उन्होंने अवतार लिया है। उनकी जय हो। वे ही चैतन्यरूप में अभिव्यक्त हुए हैं तथा उनकी कृपा से दीन-हीन पतितों ने भी अलौकिक गोपी-प्रेम का अनुभव किया है। गोपी-प्रेम की रसानुभूति पर ही गौडीय भक्ति का राजप्रासाद अवस्थित है। श्रीराधाकृष्ण की अभेदता ही, तदात्मता ही गौडीय भक्ति का प्राण है। यह निर्विवाद तथ्य है कि श्रीकृष्ण की भक्तिसुधा का पान करने से देह और दैहिक कर्मों का विस्मरण हो जाता है, पंचभौतिक शरीर सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है। सनातन का कथन है

कृष्णभक्तिसुधापानाद्देहदैहिक विस्मृते।
तेषां भौतिकदेहेऽपि सच्चिदानन्दरूपता॥'

श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की मकरन्दस्वरूपा भक्ति ही साध्य है। ज्ञान, कर्म, वैराग्य की आशा छोड़ने पर श्रीकृष्ण की कृपा से ही उनकी चरण-भक्ति प्राप्त होती है। भक्तिका परम फल भगवत्प्रेम है। सनातन गोस्वामी ने अपने बृहद्भागवतामृत ग्रन्थ में विस्तार से भगवान के भक्तिरस का वर्णन किया है, श्रीकृष्ण की लीलानुभूति का सरस साहित्य

प्रदान किया है। इस ग्रन्थ में श्री राधाकृष्ण के रूप, रस, सौन्दर्य, माधुर्य तथा भक्तितत्व का श्रीमद्भागवत् के आधार पर सरस वर्णन किया गया है। महात्मा सनातन की वाणी है

'भगवद्भक्तिशास्त्राणामय सारस्य सग्रह ।
अनुभूतस्य चैतन्यदेवे तत्प्रियरूपत ।'

वृहद्भागवतामृत समस्त भक्ति-शास्त्रो का सारभूत सग्रह है। मैंने श्रीकृष्ण चैतन्य की सेवा-अनुभूति से इसको ऐसा रूप देने का सौभाग्य पाया है।

सनातन गोस्वामी लगभग सम्वत् १६४८ वि के पहले भगवान के नित्य धाम में चले गये। सनातन गोस्वामी और उनके छोटे भाई रूप गोस्वामी तथा भतीजे जीव गोस्वामी ने कृपापूर्वक जीवमात्र को श्रीकृष्ण की प्रेमसुधा मे मग्न कर दिया। सनातन गोस्वामी वैराग्य के स्वरूप थे। उन्होने वडे-से वडे सासारिक वैभव की उपेक्षा कर चैतन्य महाप्रभु की कृपा से कृष्ण-रस का अनुभव किया।

रचना

वृहद्भागवतामृत, वृहद् वैष्णवतोषिणी, कृष्णलीलास्तव, हरिभक्ति विलास आदि महात्मा सनातन गोस्वामी की प्रसिद्ध रचनाये है।

वाणी

'श्रीराधिकाप्रभृतयो नितरा जयन्ति
गोप्यो नितान्त भगवत्प्रियताप्रसिद्धा ।
यासा हरौ परमसौहृदमाधुरीणा
निर्वक्तुमीषदपि जातु न कोऽपि शक्त ।।'

राधिका आदि व्रज-गोपियो की जय हो, वे श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी है, उनकी श्रीकृष्ण विषयक प्रेम माधुरी का कोई भी वर्णन नही कर सकता है।

—वृहद् भागवतामृत।

'जयति जयति वृन्दारण्यमेतन्मुरारे
प्रियतममतिसाधुस्वान्तवैकुण्ठवासात् ।

रमयति स सदागा पालयन् यत्र गोपी
स्वरितमधुरवेणुर्वर्द्धयन् प्रेमरामे ॥'

वृन्दावन की जय हो, वह भक्तो के हृदय-कमल और वैकुण्ठ से भी अधिक श्रीकृष्ण को प्रिय है। उसमें वे गाय चराते है और प्रेमरास में मुरली बजा कर गोपियो को सुख देते है।

—वृहद् भागवतामृत।

'नम श्रीगुरुकृष्णाय निरुपाधिकृपाकृते।
य श्रीचैतन्यरूपोऽभूत तन्वन्प्रेमरस कलौ॥'

मै श्रीकृष्णस्वरूप अपने गुरु को प्रणाम करता हूँ, वे अकारण कृपालु है और कलियुग मे प्रेमरस के विस्तार के लिये चैतन्यरूप से प्रकट हुए है।

—वृहद् भागवतामृत।

'तत्तविनोदामृतसागरान्तर
विभेत्यल मे रसनावगाहितुम् ।
सदैव तत्तन्मधुरप्रियापि यत्
कर्मण्य शक्ये न जन प्रवर्त्तते।'

श्रीकृष्ण के लीलामृतसागर को पार करने में मेरी रसना भयभीत होती है, वह तो उसका निरन्तर पान करना चाहती है। यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी प्रियवस्तु का सदा आस्वादन करना चाहता है तथापि शक्ति न होने से वह किस प्रकार आस्वादन कर सकता है ?

—बृहद् भागवतामृत।

महात्मा रूप गोस्वामी

मुखारविन्दनिस्यन्दमरन्दभरतुन्दिला।
ममानन्द मुकुन्दस्य सन्दुग्धा वेणुकाकली।
मुकुन्द के मुख कमल से निकले हुए मकरन्द विन्दुओ से
भरी हुई वशी की गुजार मेरी आनन्द-वृद्धि करे।

—लघु भागवतामृत

महात्मा रूप गोस्वामी महाप्रभु चैतन्य देव के अचिंत्यभेदाभेद-सिद्धान्त के मौलिक भाष्यकार थे, उच्च कोटि के विद्वान् और परम भागवत तथा विरक्त कृष्णभक्त थे, रसिक सन्त थे। वडी से वडी समृद्धि और भोगविलास तथा विपय-सुख पर लात मार कर चैतन्य देव की चरण-धूलि की एक कणिका के सहारे जीवन विताने वालों में महात्मा रूप गोस्वामी और उनके अग्रज सनातन गोस्वामी के नाम अग्रगण्य हैं। रूप गोस्वामी मूर्तिमान् वैराग्य थे, साकार तप थे। उनकी भगवद् भक्ति ने वृन्दावन की दिव्यता और भगवत्ता का सरक्षण किया। कृष्ण-भक्ति के विकास-क्षेत्र मे वे वहुत वडे ऐतिहासिक आवश्यकता थे। रूप गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। लगभग चार सौ साल पहले की वात है, वगाल के सिंहासन पर हुसेनशाह आसीन थे, उनकी राजधानी गौड नामक नगरी थी। रूप गोस्वामी हुसेनशाह के वहुत वडे विश्वासपात्र थे, वादशाह ने उन्हे दवीर खास की उपाधि से सम्मानित किया था। रूपने अपने वडे भाई सनातन साकर मल्लिक की सहायता से योग्यतापूर्वक राज्य का प्रवन्ध किया। उन दिनो दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता कमजोर थी, प्रान्तीय शासक अपने आप को वादशाह घोषित कर अपने प्रान्तों में स्वतन्त्र राजसत्ता स्थापित कर रहे थे। इसी प्रकार गौड वगाल भी विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में एक स्वतन्त्र राज्य था। देश में राजनैतिक एकता का ह्रास हो रहा था। समाज वैष्णव सम्प्रदायो के भगवद्भक्ति-प्रचार से प्रभावित

था। रूप गोस्वामी ने भगवद्भक्ति-प्रचार में चैतन्य महाप्रभु को सहयोग दिया। उनके बडे भाई सनातन और छोटे भाई अनुपम के पुत्र जीवगोस्वामी ने भी इस पवित्र कर्म का उत्तरदायित्व निवाहा। वृन्दावन में चैतन्य महाप्रभु की सकीर्तन-माधुरी का सन्देश पहुँचाने में इन तीन महात्माओ का विशेष हाथ था। रूप ने महाप्रभु के आदेश से भक्ति-परक ग्रन्थो की रचना की तथा वृन्दावन के गुप्त और लुप्त तीर्थो को खोज निकाला।

रूप गोस्वामी के पूर्वज परम प्रतिष्ठित, समृद्ध और ईश्वर-भक्त थे। उनका जीवन भोग और योग का पुण्यमय समन्वय था। बगाल के मालदह जिले में भगवती भागीरथी के तट पर रमणीय कुजो और उपवनो से समलकृत रामकेलि ग्राम के एक सुन्दर हवेली मे रूप और सनातन निवास करते थे। उनके पिता कुमार कर्णाटराज सर्वज्ञ के वशज थे। उनके पूर्वज कर्णाटक के रहने वाले थे। रूप के प्रपितामह पद्मनाभ कर्णाटक छोड कर नवहट्ट चले आये। उनके छोटे पुत्र मुकुन्द देव के आत्मज कुमार देव रूप के पिता थे। कुमार देव ने नवहट्ट छोड कर फतेहाबाद में अपना निवास-स्थान स्थिर किया था। सवत् १५४५ वि में रूप गोस्वामी का जन्म हुआ। रूप की माता का नाम रेवती देवी. था, वे मधाईपुर के हरिनारायण की कन्या थी। रूप को माता-पिता से बचपन में सदाचार और धर्माचरण तथा भगवन्निष्ठा की अच्छी शिक्षा मिली थी।

नवहाटी के प्रसिद्ध पण्डित सर्वदानन्द उनके शिक्षा-गुरु थे और उनसे उन्होने सस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। सप्तग्राम के फकरुद्दीन ने उनको फारसी की शिक्षा दी थी। प्रसिद्ध कृष्णभक्त मालाधर वसु के सम्पर्क में उन्होने गौडेश्वर के दरबार में अपने बडे भाई के साथ विशेष राजसम्मान प्राप्त किया। वे विक्रम की सोलहवी शताब्दी के तीसरे चरण में विद्यमान थे। यद्यपि उन्हे प्रचुर राजकीय ऐश्वर्य प्राप्त था, तथापि किसी बहुत बडे अभाव की प्रतीति हो रही थी। गौड बगाल में वे बादशाह के दाहिने हाथ थे पर उनका सिर अध्यात्म के चरणो पर प्रणत होने के लिये आकुल था। उनकी शास्त्र-ग्रन्थो में बडी निष्ठा थी। साधु-सन्तो के सम्पर्क मे लाभान्वित होने के लिये रूप गोस्वामी

सदा उत्सुक रहते थे। चैतन्य महाप्रभु नीलाचल में अपने परमपवित्र हरिनाम-सकीर्तन-प्रचार से असख्य प्राणियों का जीवन धन्य और कृतार्थ कर रहे थे। जगन्नाथ देव की लीलाभूमि पर कृष्णभक्ति का रस-पारावर उमड रहा था। रूप और सनातन दोनों भाई महाप्रभु चैतन्य देव से मिलने के लिये वहुत उत्सुक थे। पूर्व जन्म के सस्कारो और पुण्यो के परिणामस्वरूप चैतन्य महाप्रभु के चरणों में दोनो भाइयों की वडी श्रद्धा थी। उन्होने चैतन्य को पत्र लिखा, दर्शन देने की याचना की। महाप्रभु ने पत्र का उत्तर दिया

'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु,
तमेवास्वादयत्यन्तर्नवसङगरसायनम्।'

पर पुरुष पर अनुरक्त रहने वाली स्त्री जिस प्रकार अपने प्रेमी के प्रति अनुराग रख कर भी घर के काम-काज में लगी रहती है उसी प्रकार राजकार्य में रहते हुए भी आप भगवत्प्रेमानद-रसास्वादन में सलग्न रहिये। कुछ दिनो के वाद महाप्रभु चैतन्य देव ने वृन्दावन-यात्रा का निश्चय किया। उन्होंने नीलाचल से गौड होते हुए वृन्दावन जाने का कार्यक्रम वनाया। महाप्रभु रूप और सनातन से मिलने के लिये उत्सुक थे। उन्होने एक रात रामकेलि ग्राम में ठहरने का विचार किया। वे कीर्तन करते हुए अपने भक्तो के साथ गौड में गगातट पर रूप-सनातन को धन्य करने आ पहुँचे। हरिनाम-सकीर्तन की तुमुल मधुर ध्वनि से समस्त गौड गूज उठा। असख्य प्राणी कृष्णानुराग-मद से प्रमत्त होकर महाप्रभु का अनुगमन कर रहे थे। हुसेन शाह इस विशाल भीड से भयभीत हो गया। उसने अपने प्रधान कर्मचारी साकर मल्लिक और दवीर खास से वास्तविकता का पता लगाया, उसे भय था कि कहीं गौड पर शत्रु ने आक्रमण न कर दिया हो। दोनो भाइयो ने चैतन्य महाप्रभु का अभी दर्शन नही किया था, वे उनके रूप से परिचित न थे पर उनके चरणो में दोनो की वडी भक्ति थी। दोनो ने वादशाह को समझाया कि भगवान् सन्यासी का वेष धारण कर स्वय धरती पर जीवों के कल्याण के लिये चैतन्य महाप्रभु के रूप मे उतर आये हैं। वादशाह को उनकी वातो पर विश्वास हो गया पर इधर महाप्रभु रूप और उनके वडे भाई से मिलने के लिये उतावले हो रहे

थे। दोनो भाई आधी रात की नीरवता में अत्यन्त दैन्यपूर्वक महाप्रभु मे मिलने चले। दोनों ने दाँतो के तले तिनके दवाये थे और गले में कपडे लपेट लिये थे। भगवती भागीरथी का जल कल-कल करता हुआ वह रहा था, रात अपनी जवानी पर थी। सन्नाटा का राज्य था। महाप्रभु श्रीकृष्ण के ध्यान में मग्न थे। नित्यानन्द और महात्मा हरिदास प्रभु की सेवा में जाग रहे थे। उन्होने प्रभु को रूप तथा उनके अग्रज सनातन के आगमन की सूचना दी। महाप्रभु ने उनको प्रेम-दान दिया। दोनो भाइयो ने शरणागति ग्रहण की, —कहा कि देव, हम लोगो ने आज तक अपना जीवन भोग मे विताया है, अनेक पाप किये हैं, भगवत्प्रेम की प्राप्ति की वडी इच्छा है। महाप्रभु ने उन्हे दीक्षा दी। और उनके नाम रूप और सनातन रखे। दीक्षा के पूर्व साकर मल्लिक का नाम अमर था, और दवीर खास सतोष के नाम मे प्रसिद्ध थे। महाप्रभु ने उनको अपना लिया। रूप ने महाप्रभु के चरणो में सर्वस्व-समर्पण कर दिया। उन्हे भोग से वैराग्य हो गया। महाप्रभु चैतन्य देव ने वृन्दावन की यात्रा स्थगित कर दी। वे पुरी लौट आये।

रूप के मन की स्थिति विचित्र हो गयी। राजकार्य उन्हे काटने लगा। राजमहल उन्हें नरक-सा दीख पडने लगा। विपय-भोग के प्रति उनके मन में पूर्ण घृणा पैदा हो गयी। उन्हे ससार की किमी भी वस्तु में मुख न दीख पडा। हृदय में वैराग्य का सागर उमड आया। चैतन्य-चरण-चिन्तन की माधुरी के लिये उन्होने त्यागरूपी धन में आसक्ति और अभिरुचि प्रकट की। सनातन की अनुमति से नाव पर अपार धन और वहुमूल्य वस्तुएँ लाद कर वे फतेहाबाद के लिये चल पडे। रूप और सनातन दोनो निस्सन्तान थे। रूप ने अपने छोटे भाई परम रामभक्त अनुपम के पुत्र जीव गोस्वामी को थोडा-सा धन देकर शेष व्राह्मणो को दे दिया। वे वैराग्यपूर्वक अपने दिन विताने लगे। वडे-वडे धनपति जिनके आदेश की प्रतीक्षा किया करते थे उन्होंने सन्त-महात्माओ की चरणधूलि को ही अपने जीवन का श्रेय स्वीकार किया। रूप ने पुरी में एक सेवक भेज दिया, उसे आदेश दिया था कि जव चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन के लिये प्रस्थान करे, मुझे सूचना देना। ऐसा ही हुआ। महाप्रभु वृन्दावन के लिये चल पडे। इधर

रानी का दर्शन हुआ। कृष्ण की परमा शक्ति राधा भक्त को धन्य करने के लिये भोजन के सामान एकत्र कर रही थी। भगवान श्रीकृष्ण और राधारानी के विशेष कृपापात्र रूप गोस्वामी थे। वे परम भगवदीय और महान् सन्त थे। व्रजरस के अद्भुत विशेषज्ञ थे। चैतन्य महाप्रभु की कृपा के पात्र थे।

श्रीकृष्ण-भक्ति-प्रचार, चैतन्य-चरण-चिंतन और भक्तिशास्त्रपरक ग्रन्थ-प्रणयन तथा वृन्दावन और व्रज के लुप्त तीर्थों के उद्धार में ही वे आजीवन लगे रहे। पूर्वाश्रम में महान् भोगी थे, उत्तर जीवन मे सबसे बडे योगी हुए। रूप गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के अचिंत्य भेदाभेद सिद्धान्त के बहुत बडे दार्शनिक थे, उन्होने महाप्रभु की कृष्णभक्ति की अनुभूति और दर्शन के माध्यम से व्याख्या की। उनकी चरण-कृपा से भक्ति रस पर उज्ज्वल नीलमणि और हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु ग्रन्थो की रचना की। हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में उन्होने स्वीकार किया है

'हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽह् वराकरूपोऽपि।
तस्य हरे पदकमल वन्दे चैतन्य देवस्य ॥'

इसी प्रकार भक्ति-सिद्धान्तपरक रचना के लिये अपने अग्रज गोस्वामी सनातन पाद का भी उपकार स्वीकार किया है। अपनी प्रसिद्ध रचना लघुभागवतामृत में उनकी उक्ति है

'श्रीमत्प्रभु पदाम्भोजे श्रीमद्भागवतामृतम्।
यद्वतानि तदेवेद सक्षेपेण निपेव्यते।

उन्होने कहा है कि हमारे प्रभुपाद सनातन गोस्वामी ने वृहद्भाग-वतामृत ग्रन्थ में जो कुछ भी विस्तार से कहा है उसे मै इस ग्रन्थ लघुभागवतामृत में सक्षेप से कहूँगा। रूप गोस्वामी ने साहित्य को भागवतरस मे समृद्ध किया। श्रीकृष्ण के चरणो में अनुकूलता मे अनुशीलन ही रूप के मत से भक्ति है। इस अनुशीलन में अन्य अभि-लापाओ की उन्होने कोई सत्ता नहीं स्वीकार की। यह ज्ञान, कर्म आदि ने तनिक भी आवृत नहीं रहता। हरिभक्तिरसामृत सिन्धु में रूप गोस्वामीपाद की इस सम्बन्ध में स्वीकृति है

'अन्याभिलापिता शून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा ॥'

रूप गोस्वामी ने चैतन्यमत का यह तथ्य सिद्ध किया कि जगत् सत्यभूत पदार्थ है, वह सत्यसकल्पविद् हरि की वहिरगा शक्ति का विलास है। उन्होने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य को वैष्णवता–कृष्णभक्ति का मूलरस माना। रूप गोस्वामी ने माधुर्य भाव–रस की सिद्धि में कृष्ण की चरम प्रेमाभिव्यक्ति का दर्शन किया। साधारणी, समञ्जसा और समर्थारति में माधुर्य रस विभक्त है। समर्थारति ही महाभाव-स्थिति है। गोस्वामी रूप ने समर्थारति को ही अचिंत्य भेदाभेद-सिद्धान्त का प्राण स्वीकार किया। साधारणी रति में आत्मानन्द ही भगवदुपासना का मूल है। समञ्जसा में प्रेमी प्रेम के लिये कर्तव्य-वुद्धि का विधान करता है। समर्था रति भगवदानन्द की प्राणमजीवनी है। रूप गोस्वामी ने समर्थारति में भागवत रस की पूर्णता का दर्शन किया। रूप गोस्वामी भक्तिरस के आचार्य स्वीकार किये जाते हें। उन्होंने अपनी भक्ति का आधार-शास्त्र श्रीमद्भागवत को स्वीकार किया। कर्म, वैराग्य और ज्ञान मे भक्ति साध्य नहीं है–ऐसी रूप गोस्वामी की मान्यता दीख पडती है। व्रज की रागात्मिका भक्ति को उन्होंने रागानुगा भक्ति का स्रोत माना। अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में उन्होने कृष्णविपयक रति को भागवत रस का स्थायी भाव स्वीकार किया। भागवत प्रेम का पूर्ण प्रतिपादन ही 'उज्ज्वलनीलमणि' का विपय है। श्रीकृष्ण के प्रेमानन्द के लिये लोकलज्जा आदि मे पूर्ण निवृत्त होकर सर्वस्व-समर्पण ही परमोज्ज्वल दिव्यतम भक्ति है–ऐसा स्पष्टीकरण रूप गोस्वामी के 'हस दूत', 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव' ग्रन्थो में मिलता है। भागवत शृगार की परम दिव्यता से परिव्याप्त रूप गोस्वामी पाद की 'ललितमाधव' में वाणी है ललिता की राधा से उक्ति है

'महेन्द्रमणिमण्डलीमदविडम्बितदेहद्युति
र्व्रजेन्द्रकुलनन्दन स्फुरति कोऽपि नव्यो युवा,
सखि स्थिरकुलाङ्गनानिकरनीविवन्धार्गल
च्छिदाकरणकौतुकी जयति यस्य वशीध्वनि. ।'

इस कथन में श्रीकृष्ण की प्रेममयी दिव्य शक्ति की महत्ता का बखान किया गया है। रूप गोस्वामी ने दिव्य भगवद्प्रेम गाया। श्रीकृष्ण अथवा भगवत्तत्व के सम्वन्ध में रूप गोस्वामी की स्वीकृति है कि श्रीकृष्ण प्रपच से परे वैकुण्ठधाम में स्वयरूप, तदेकात्मरूप और आवेशरूप में नित्य विलास करते है। सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे अखिलरसामृतमूर्ति हैं। रूप गोस्वामीने श्रीराधा—कृष्णात्मास्वरूपिणी रासेश्वरी से आजीवन कृपाकटाक्ष की याचना की। उन्होने राधाकृष्ण के प्रेम का ही व्रत निवाहा। उनकी उक्ति है कि प्रेम, प्रेमी, प्रेमपात्र तीन होकर भी एकात्म हैं। वे सदा एकरूप है। अपने प्रिय में स्वाभाविक प्रेम, पूर्ण आवेश और तन्मयतायुक्त भक्ति ही प्रेम की परम अभिव्यक्ति अथवा रागात्मक भक्ति है। रूप गोस्वामी प्रेमी सन्त थे। उनकी भक्ति कृष्णप्रेममाधुरी से ओतप्रोत है।

रूप गोस्वामी का वृन्दावन में ही सम्वत् १६४५ वि में श्रावण शुक्ला द्वादशी को गोलोकवास हुआ। राधादामोदर मन्दिर की पवित्रता से उनकी समाधि गौरवान्वित है। वे कृष्णतत्व के अनुपम ज्ञाता थे, चैतन्य-महाप्रभु के परम भक्त और रसिक महात्मा थे।

रचना

उज्ज्वल नीलमणि, हसदूत, ललितमाधव, विदग्धमाधव, हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु, दानकेलिभानिका 'नाटकचन्द्रिका' आदि रूप की प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

'शृ गाररसमर्वस्वम् शिखिपिच्छविभूपणम्।
अगीकृतनाराकारमाश्रये भुवनाश्रयम्॥'

मैं शृगाररस सर्वस्व, मोरपक्षविभूपणधारी,

नराकार, समस्त भुवन के आश्रय भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

—उज्ज्वलनीलमणि

'सुधाना चान्द्रीनामपि मधुरिमोन्माददमिनी,
दधाना राधादिप्रणयघनसारैः सुरभिताम्,
समन्तात् सन्तापोद्गमविषमनसारसरणी,
प्रणीता ते तृष्णा हरतु हरिलीला शिखरिणी।'

जो चन्द्रमा में उत्पन्न हुए अमृत की मधुरिमा के उन्माद का दमन करने वाली, राधादि के प्रणय-घनसार से सौरभित है वह हरिलीलारूपी शिखरिणी सताप को उत्पन्न करने वाले विषमससार मार्ग में भ्रमण करने से पैदा हुई तृष्णा को चारों ओर से हर ले।

—विदग्ध माधव

'निजप्रणयिता सुधामुदयमाप्नुवन् य क्षितौ
किरत्यलमुरीकृतद्विजकुलाधिराजस्थिति
स लुञ्चिततमस्त तिर्मम शची सुताख्य शशी
वशीकृतजगन्मना किमपि शर्म विन्यस्यतु।'

जो पृथ्वी पर उदित होकर द्विजराज की स्थिति में रह कर अपने प्रणयरसामृत का दान और अज्ञान-अन्धकार का अन्त कर रहे हैं वे सम्पूर्ण जगत के मन को वश मे करने वाले शचीनन्दन चन्द्र कल्याण करें।

—ललित माधव

'तत्तत् श्रीभगवत्येव स्वरूप भूरि विद्यते।
उपासनानुसारेण भाति तत्तदुपासके॥
यथारूपरमादीना गुणानामाश्रय सदा।
क्षीरादिरेक एवार्थो जायते बहुधेन्द्रियैः॥'

भगवतत्व सच्चिदानन्दस्वरूप अनन्त शक्ति से सम्पन्न है, अनादि है। जिस प्रकार रूपरसादि गुणो का आश्रय एक पदार्थ दूध भिन्न-भिन्न इन्द्रियो द्वारा भिन्न दीख पडता है उसी प्रकार उपासनाभेद से एक ही परम तत्व विभिन्न रूप में अनुभूत होता है।

—लघु भागवतामृत

महात्मा कुम्भनदास

'राधा माधव बिनुकोउ पद निज कबहुँ न गायो।
विरह रीति हरि प्रीति पथ करि प्रगट दिखायो।
सुनत कृष्न को नाम श्रवन हियरो भरि आवत।
प्रेम मगन नितनवपद रचि हरि सनमुख गावत।
श्रीवल्लभगुरुपदजुग पदुम प्रगट सरस मकरद जनु।
श्री कुम्भनदास कृपालु अति मूरति धारें प्रेम मनु।'

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

महात्मा कुम्भनदास गृहस्थ सन्त थे। श्रीनाथ जी की सख्य-रति में परम अनुरक्त थे। वे सुख-दुख, लाभ-हानि, जीवन-मरण और यश-अपयश—सबमे अपने उपास्य देव नन्दनन्दन की दिव्य अभिव्यक्ति का अनुभव करते थे। उनमे तृष्णा, लोभ और विषय-सुख-वासना तथा मोह-मद और मत्सर आदि नाममात्र को भी न थे। वे अपनी स्थिति में परम सतुष्ट रहते थे और श्रीभगवान श्यामसुन्दर के भजन को अपना प्राण-धन समझते थे। उन्होने अपने समकालीन सम्राट अकबर के राजऐश्वर्य की भगवत्प्रेम के सम्मुख उपेक्षा कर दी। उन्हे फतहपुर सीकरी का ऐश्वर्य अपनी ओर आकृष्ट नही कर सका। वे उच्चकोटि के त्यागी और विरक्त थे। प्रभु के वियोग को वे क्षणमात्र भी नही सह सकते थे। निस्सन्देह वे 'श्रीकृष्ण शरण मम' महामन्त्र के क्रियात्मक रूप थे। प्रभु की उन पर विशेष कृपा थी, वे श्रीनाथ जी के अनन्य उपासक थे। वे अपनी भगवत्सावना मे निरन्तर लगे रहते थे। वे आदर्श गृहस्थ थे। उनके जीवन की सबसे बडी मौलिकता अथवा अलौकिकता यह थी कि श्रीनाथ जी सखाभाव से उनके साथ प्राकृत बालक की तरह क्रीडा किया करते थे, खेला करते थे। सूरदास, नन्ददास आदि उनका बडा सम्मान करते थे। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके उत्तराधिकारी गोसाई—गोस्वामी विट्ठल नाथ जी के

पूर्ण प्रेमपात्र थे। उनका परिवार परम भागवत था। उनके पुत्र चतुर्भुज दास को भी गोसाई विट्ठलनाथ ने अष्टछाप मे स्थान दिया।

महात्मा कुम्भनदास का जन्म सम्वत् १५२५ वि. में चैत कृष्ण एकादशी को गोवर्धन के सन्निकट जमुनावतो ग्राम में हुआ था। वे गोरवा छत्रिय थे। उनके पिता भगवानदास जमुनावतो और गोवर्धन के निकट परासोली में खेती करके जीविका चलाते थे। वे आदर्श गृहस्थ थे। कुम्भनदास अपने पिता के आचार-विचार से वहुत प्रभावित थे। यथासमय गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर उन्होने जल मे कमल की तरह रहकर खेती करके अपने विशाल परिवार के पालन-पोपण का निश्चय किया। वे स्वावलवी थे। यद्यपि उनको आर्थिक अभाव सदा खटकता रहता था तो भी उन्होंने किसी के सामने रुपये-पैसे के लिये हाथ नही पसारा। वे सात्विक वृत्ति और सरल हृदय के अलौकिक प्राणी थे। भगवान में उनका विश्वास था। वे समझते थे कि प्रभु मेरे लिये जो कुछ भी करते है वही परम मगलमय है, वे मेरी आवश्यकता को अच्छी तरह समझते है। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पहले भी वे भगवद् की प्रसन्नता के लिये पद-रचना किया करते थे। उनके जीवन में निरन्तर दिव्य सम्पत्ति वढती जाती थी।

पुष्टि मार्ग के सस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य सम्वत् १५५० वि के लगभग व्रज की यात्रा कर रहे थे। कुम्भनदास मे भगवद्भक्ति के बीज अकुरित हो रहे थे। साधु-महात्माओ के सत्सग और मिलन में वडे सुख का अनुभव होता था। आचार्य का आगमन सुनकर वे दर्शन के लिये गये। उन्होने अमित श्रद्धा और भक्ति से अपने आप को महाप्रभु के चरणो मे समर्पित कर ब्रह्म-सम्बन्ध लिया। वे भागवत राज्य के नागरिक हो गये। महाप्रभु उनकी भक्ति और भागवती निष्ठा से वहुत प्रसन्न रहते थे। उन्होने कुम्भनदास को श्रीनाथ जी का कीर्तनकार नियुक्त किया। वे नित्य नये-नये पद वना कर श्रीनाथ जी को समर्पित किया करते थे। श्रीनाथ जी के प्रति उनका सख्य-भाव था। वे परम भगवदीय थे। वे श्रीनाथजी के राजभोग-दर्शन के कीर्तनकार थे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के लीला-प्रवेश के वाद उनके उत्तराधिकारी गोसाई विट्ठलनाथ जी कुम्भनदास का वडा सम्मान करते थे। सम्वत्

१६०२ वि मे गोसाईं जी ने अष्टछाप के कवियो में उनकी गणना की। उनकी कृपा से कुम्भनदास की भक्ति श्रीनाथ जी में उत्तरोत्तर बढने लगी। सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, महात्मा हितहरिवश और स्वामी हरिदास आदि उनका सत्सग करने के लिये सदा समुत्सुक रहते थे। वडे-वडे राजा-महाराजा दरवाजे पर धरना देते थे कि उन पर महात्मा कुम्भनदास की दृष्टि पड जाय। निस्सन्देह जीवन तो भगवान के भक्त का ही सार्थक और आनन्दमय होता है। भगवद्रस का अनुभव सन्त और महात्मा तथा भक्त का हृदय ही कर सकता है। सन्त कुम्भनदास आर्थिक सकट में थे पर उन्होंने भगवान श्यामसुन्दर की सौन्दर्य-माधुरी में प्रमत्त होकर उसकी कभी चिता नही की। नन्दनन्दन के सखा को आर्थिक दैन्य किस तरह प्रभावित करता !

कुम्भनदास आजीवन गृहस्थाश्रम में रहे। वे खेती करके कुटुम्व का पालन करते थे और भगवान का भजन करते थे। एक वार गोसाईं जी अपनी द्वारिका-यात्रा के समय उन्हे साथ ले जा रहे थे। कुम्भनदास की इच्छा जाने के लिये नही थी पर गोसाईं जी की आज्ञा को न मानना उनके वश की वात न थी। वे श्रीनाथ जी के विरह को क्षणमात्र के लिये भी न सह सकते थे। वे सोचते जा रहे थे

'कहिये कहा कहिवे की होय।
प्राननाथ विछुरन की वेदन जानत नाहिन कोय।'

भगवान का विरह उनके अग-अग को पीडित कर रहा था। गोसाईं जी ने सोचा था कि द्वारिका-यात्रा में वैष्णवो की सहायता से कुम्भनदास आर्थिक सकट मे मुक्त हो जायेंगे और इधर कुम्भनदास की स्थिति विचित्र होती जा रही थी। उनके अग-अग भगवद् विरह-ज्वर से आक्रान्त थे, शरीर में असह्य वेदना थी, नयनो में प्रभु को देखने की प्यास उत्तरोत्तर वढती जा रही थी, तरुण किशोर रसिक नन्दनन्दन की लीलामाधुरी चित्त मे उतरती नही थी। वे अप्सरा कुण्ड तक ही पहुँचे थे कि उनका विरहविदग्ध कोकिलकठ कूक उठा, कराह और तडप उठा,

'केते दिन जु गये विनु देखे।
तरुन किसोर रसिक नन्दनन्दन, कछुक उठति मुख रेखें।

वह सोभा, वह काति वदन की, कोटिक चन्द विसेखैं।
वह चितवन, वह हास मनोहर, वह नटवर बपु भेखैं।
स्याम सुदर सग मिलि खेलन की आवति हिये अपेखैं।
'कुम्भनदास' लाल गिरिधर विनु जीवन जनम अलेखैं।'

वातावरण कुम्भनदास के विरह से श्याम हो गया, उनके नयनो के सामने श्यामसुन्दर के वियोग की श्यामता छा गयी। प्रभु की दर्शन-ज्योति के लिये हृदय हाहाकार कर उठा। गोसाईं जी तो परम भगवद्-रस-पारखी थे, वे कुम्भनदास की मनोदशा समझ गये। उन्होने कुम्भनदास से कहा कि 'तुम्हारे लिये श्रीनाथ जी का कुछ समय का वियोग युगो के समान हो रहा है। तुम घर लौट जाओ।' कुम्भनदास का प्राण शरीर में लौट आया। उन्होने श्री गोसाईं जी की चरण-वन्दना की और अविलम्ब श्रीनाथ जी की सेवा में उपस्थित होकर अपने आराध्य के सम्मुख निवेदन किया कि प्रभु, मैं तो आपकी कृपा से आप के पास आ गया, मैं तो यही चाहता था, मुझे आप से बढ कर ससार मे कुछ भी नही दीखता है, मेरी तो यही अभिलाषा है कि एक पल के लिये भी आप का विरह न हो, आप का विस्मरण न हो। आपके सम्मुख मुझे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–किसी की भी आवश्यकता नही है, मेरे नयनो में आप की रूपसुधा सदा उमडती रहे—केवल यही याचना है।' वे श्रीनाथजी की सेवा मे उपस्थित होकर परम आनन्दित हुए।

महात्मा कुम्भनदास का यश चारो ओर तेजी से फैलने लगा। सम्वत् १६२० वि में दिल्लीपति अकवर के दाहिने हाथ और सेना नायक महाराजा मानसिंह व्रज गये। व्रज मे उन्होने घूम-घूम कर वृन्दावन आदि में मन्दिरो के दर्शन किये। वे वडे भक्तहृदय के उदार महापुरुष थे। वृन्दावन-दर्शन के वाद महाराजा गोवर्धन आये, उस समय श्रीनाथ जी की राजभोग-आरती हो रही थी। महात्मा कुम्भनदास मृदग और वीणा पर झूम-झूम कर कीर्तन कर रहे थे। महाराजा मानसिंह उनकी वेश-भूषा और पदगान के ढग से वहुत प्रभावित हुए। कीर्तन समाप्त होने के वाद कुम्भनदास जमुनावतो गये। मानसिंह उनसे मिलने के लिये आकुल हो उठे। ऐश्वर्य ने—लौकिक वैभव ने भक्ति के दरवाजे पर जाकर आत्मसमर्पण करना चाहा। महाराजा मानसिंह

कुम्भनदास से मिलने जमुनावतो गये। उस समय कुम्भनदास स्नान कर ध्यानमग्न बैठे थे। महाराजा को उन्होने आदरपूर्वक बैठाया पर उनके आने से मन में किसी प्रकार का कौतुहल या परिवर्तन न हुआ। थोडी देर में कुम्भनदास ने तिलक लगाने के लिये अपनी भतीजी से दर्पण माँगा, बैठने के लिये आसन माँगा। भतीजी ने कहा कि बाबा, आसन (घास) पड़िया खा गयी और दर्पण (पानी) पी गयी। आशय यह था कि वे इतने त्यागी थे कि घास पर बैठ कर आसन का काम चलाते थे और पानी में मुख देख कर तिलक करते थे। महाराजा मानसिंह उनकी त्याग-वृत्ति से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सोने का दर्पण देना चाहा। कुम्भनदास ने विनम्रता पूर्वक कहा कि मै तो झोपडी में रहता हूँ, यदि कोई सुनेगा कि मेरे पास सोने का दर्पण है तो प्राण ले लेगा। श्रीनाथ जी के सेवा-भजन का उद्देश्य फिर इस 'जीवन में पूरा नहीं होगा। महाराजा मानसिंह ने अखिल लोकनायक के मित्र कुम्भनदास को स्वर्ण-मोहरों की थैली भेंट की, भगवान के भक्त ने अस्वीकार कर दी। महाराजा ने गिडगिडा कर कहा कि मै जमुनावतो ग्राम आप के नाम कर देना चाहता हूँ। इससे जीविका अच्छी तरह चल जायेगी। कुम्भनदास ने बडे सन्तोप से उत्तर दिया कि श्रीनाथ जी की कृपा से मुझे किसी वस्तु के अभाव की ही प्रतीति नही होती है। उन्होंने कहा कि मेरा काम तो करील और बेर के वृक्ष से ही चल जाता है। उष्ण काल में करील और जाड़े में बेर के वृक्ष ही हमारे मोदी है। महाराजा मानसिंह ने उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर चढायी और कहा कि मुझे सच्चे भगवद्भक्त का दर्शन हुआ है, मैंने माया के भक्त अनेक देखे पर भगवद्भक्त तो आप ही मिल सके। कुम्भनदास के दर्शन से वे धन्य हो गये। कुम्भनदास विरक्त गृहस्थ और ब्रज-भक्त थे। वे ब्रज की सीमा के बाहर नही जाते थे। एक बार अकबर की राजसभा में किसी गायक ने महात्मा कुम्भनदास का एक पद गाया। अकबर की सहृदयता प्रभावित हो उठी। अकबर ने कुम्भनदास को सीकरी आने के लिये आदरपूर्वक निमन्त्रित किया। उस समय कुम्भनदास की अवस्था एक सौ तेरह साल की थी। वे सीकरी नही जाना चाहते थे पर दूतो के विशेष आग्रह से विवश होकर उन्होंने सीकरी जाना स्वीकार किया। अकबर ने उनके लिये सवारी का प्रबन्ध

किया था पर वे पैदल गये। राजसभा विशेष ढग से सजायी गयी थी। चारो ओर मोतियो की झालरे लगी हुई थी, रत्नसिंहासन रखा हुआ था। कुम्भनदास ने सोचा कि मैं तो एक साधारण कृषक हूँ, सीकरी में तो मेरा कोई प्रयोजन ही नही है। न जाने, श्रीनाथजी की क्या इच्छा है। वे फटी पगडी, मैली तनिया पहने राजसभा में उपस्थित हुए। वे आत्मग्लानि में डूबे जा रहे थे। उन्हे ऐसा लगा कि मानो नरक में आ गये हो। अकवर ने उनका स्वागत किया, भगवान श्यामसुन्दर के मित्र के पैरो पर सम्राट का मस्तक नत हो गया, भारत का राजकीय ऐश्वर्य व्रजरस से सनी कुम्भनदास की चरणधूलि से मोहित हो गया। अकवर ने कहा कि वावा साहव विराजिये। आप के पद वडे सरस और भगवद्भक्ति में सने होते है, कोई नवीन पद सुनाइये। श्रीनाथ जी के भक्त ने, सन्त कुम्भनदास ने अकवर को चुनौती दी, निर्भय होकर उपदेश दिया, भक्ति का महत्व समझाया।

'भगत को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पन्हैयॉ टूटी, विसरि गयो हरिनाम।
जाको मुख देखे दुखलागै, ताको करनो पर्‌यो परनाम।
'कुम्भनदास' लालगिरिधर विनु और सबै वेकाम।'

अकवर की उदारता ने भक्त के हृदय की वात समझी। कुम्भनदास को आदरपूर्वक जमुनावतो भेज दिया। कुम्भनदास की वल्लभाचार्य और गोसाई विट्ठलनाथ में असाधारण भक्ति और निष्ठा थी। वे उन्हें भगवत्स्वरूप समझते थे। एक वार महाप्रभु ने प्रसन्न होकर कुम्भनदास से कहा कि तुम्हे तो निकुजलीला के रस की अनुभूति हो रही है। कुम्भनदास ने आचार्य के सम्मुख निवेदन किया कि मुझे तो इसी रस की नितान्त आवश्यकता है। वे श्रीनाथ जी की सख्यभक्ति में रातदिन मग्न रहते थे। उनकी भक्ति-साधना उच्च कोटि की थी। निस्सन्देह वे वल्लभसम्प्रदाय की एक वहुत वडी विभूति थे।

वृद्धावस्था में भी वे नित्य जमुनावतो से पैदल चल कर गोवर्धन में श्रीनाथ जी का दर्शन करने आया करते थे। उनके सात पुत्र थे, सब-के-सब खेती करते थे। चतुर्भुज दास उनके पुत्र थे। वे अष्टछाप के कवियो मे अपने पिता के ही साथ एक अच्छे भक्त के रूप में परिगणित है।

एक वार वे अपने पुत्र चतुर्भुज दास के साथ श्रीनाथ जी का दर्शन करके लौट रहे थे। सकर्षण कुण्ड पर आन्योर के निकट वे ठहर गये। उन्होंने चतुर्भुज दास से कहा कि अव अन्तिम समय निकट है, घर चल कर क्या होगा। अन्तकाल में गोसाई जी उपस्थित थे। विट्ठल नाथ जी ने पूछा कि इस समय मन कहाँ है, कुम्भनदास ने कहा

'लाल तेरी चितवन चितहिं चुरावे।'

इसके वाद युगलस्वरूप का ध्यान किया, श्याममुन्दर और राधा-रानी की वाकी झाँकी गायी

'रसिकनी रस में रहत गडी।
कनकवेलि वृषभानुनन्दिनी स्याम तमाल चढी।
विहरत श्रीगिरिधरनलाल सग, कोने पाठ पढी।
'कुम्भनदास' प्रभु गोवरघनघर रति-रसकेलि वढी।'

इस प्रकार सम्वत् १६४० वि के लगभग गोलोक प्राप्त किया। विट्ठलनाथ जी ने करुण स्वर मे कहा कि सच्चे भगवद्भक्तों का अव पृथ्वी पर तिरोधान होने लगा है। कुम्भनदास का सम्पूर्ण जीवन भगवान के चरण में समर्पित था। उन्होने आजीवन भगवद्सग का रसास्वादन किया। उनकी भगवद्भक्ति का वखान नही किया जा सकता है। कुम्भनदास की सख्य-भक्ति वन्य है।

रचना

पुष्टिमार्गीय कीर्तनपदसग्रह में इनके अनेक पद सग्रहीत है।

पद

नैन भरि देख्यौ नन्दकुमार।
विन देखे हौं विकल भये हौं, विसर्यो पन परिवार।
तादिन तें सव भूलि गये हौं अग-अग सव हारि।
ताते सुधि है सावरे मूरति की लोचन भरि-भरि वारि।
रूपरासि पैमित नहीं मानो कैसे मिलो कन्हाई।
'कुम्भनदास' प्रभु गोवरधनधर मिलये वहुरि री माई।

रूप देख नैना पल लागे नही।
गोवरधन के अग-अग प्रति
निरखि नैन मन रहत नही।
कहा कहौं कछू कहत न आवै
चित चोर्‌यो माँगिवे दही।
'कुम्भनदास' प्रभु के मिलन की
सुदर वात सखियन सो कही।

हिलगिन कठिन है या मन की।
जाके लिये देखि मेरी सजनी लाज गयी सव तन की।
धरम जाउ अरु लोग हँसौं सव अरु गावौ कुल गारी।
सौ क्यो रहे ताहि विनु देखे जो जाकौ हितकारी।
रसलुवधक निमिख न छाँड़त है ज्यो अधीन मृग गानो।
'कुम्भनदास' सनेह परम श्रीगोवरधनधर जानो।

जो पै चोप मिलन की होय।
तो क्यो रहै ताहि विनु देखें लाख करौ जिन कोय।
जो यह विरह परस्पर व्यापै जौ कछु जीवन वनै।
लोक लाज कुल की मरजादा एकौ चित न गनै।
'कुम्भनदास' प्रभु जाय तन लागी और न कछू सोहाय।
गिरिधरलाल तोहि विनु देखे छिन छिन कलप विहाय।

लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै।
नन्दग्राम वृषभानुपुरा विच
मारग चलन न पावै।
हो भरिहो डरिहो नहि काहू
ललिता दृगन चलावे।
'कुम्भनदास' प्रभु गोवरधनधर
धर्‌यो सो क्यो न वतावे।

सन्त सूरदास

किधौ सूर को सरलग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद सुन्यौ, तन मन धुनत सरीर।

—तानसेन

सूरदास सन्त और भागवत कवि थे। मध्यकाल के दूसरे और तीसरे चरण की सन्धि के साहित्य-क्षेत्र मे सूर ने ब्रह्म का माधुर्य गाया—कृष्ण की लीला गायी, तुलसी ने भगवान का ऐश्वर्य गाया— राम की लोकोत्तरता का चिंतन किया और महाकवि देव ने शुद्ध सच्चिदानन्द का सौन्दर्य चित्रित किया। सूरदास रसिक सन्त थे, उच्च कोटि के महात्मा थे। उनकी वाणी सिद्ध थी, उनके समस्त कर्म श्रीकृष्ण को समर्पित थे, उनका धर्म भागवत काव्य का सृजन था। सूरदास की कृष्णभक्ति, तुलसीदास की राम-उपासना और महाकवि देव की दिव्य सौन्दर्यमयी सरस काव्य-वाणीकी त्रिवेणी की पवित्रता अमिट है। सूरदास अनन्य भक्त, अनुपम सन्त और भगवदीय साहित्यकार थे। सूरदास के गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके आत्मज गोस्वामी विट्ठलनाथ ने उनको 'भक्ति के सागर' और 'पुष्टिमार्ग के जहाज' की उपाधि से समलकृत किया था। उनका सूरसागर भगवान की लीलामाधुरी का अमृत सागर है, पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का सर्वश्रेष्ठ काव्य-भाष्य है। सूरकालीन भारत यवनो के आक्रमण से उत्पीडित तो था ही, अकबर की द्विविधात्मक उदारता मे आक्रान्त तो था ही, साथ-ही-साथ शैवो और वैष्णवो के सघर्ष तथा वैष्णवो में भी अनेक सम्प्रदायों के स्पर्धात्मक विवाद से भी प्रभावित था, सूरदास की काव्यगरिमा ने सतुलन-दान किया, देश को भागवती काव्यकारिता मे समृद्ध कर सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वय-मच पर श्रीकृष्ण की लीलामाधुरी का मौलिक ढग से भागवत-पुराण के माध्यम से सृजन किया। सूरदास मानसी सेवा के अधिकारी सिद्ध भक्त थे। लोगो का मन प्रभु कृष्ण के चरणकमल में लगाना

उनका पवित्र कर्म था। वे उच्च कोटि के भगवदीय थे। वे अष्टछाप के कवियों में निस्सन्देह अग्रगण्य थे। उन्होंने जो कुछ भी भगवदीय रचना की वह नवीन और सर्वथा मौलिक थी। परम भागवत नाभादास ने अपने भक्तमाल में उनकी काव्यगरिमा का उल्लेख किया है

'सूर कवित सुनि कौन कवि
जो नहि सिर चालन करै।'

सूरदास लोकोत्तर प्राणी थे, उनकी दृष्टि दिव्य थी, उन्हे ससार की किसी भी वस्तु का ध्यान नही था, वे तो रात-दिन मगलमय व्रजराजेश्वर नन्दनन्दन का ही चिंतन किया करते थे। उनकी भगवन्निष्ठा उच्च कोटि की थी, उनकी काव्यसाधना असाधारण श्रेणी की थी।

दिल्ली से थोडी दूर पर एक ब्राह्मण के घर में सम्वत् १५३५ वि में वैशाख शुक्ल पचमी को सूरदास का जन्म हुआ, वे एक दिव्य ज्योति के रूप में धरती पर प्रकट हुए। वे जन्मान्ध थे। पिता उनके प्रति उदासीन रहने लगे। घरवाले भी प्राय उनकी उपेक्षा ही किया करते थे। धीरे-धीरे बालक सूर के मन में स्वाभाविक रूप से घर के प्रति वैराग्य का उदय हुआ। उन्होने घर से बाहर जाकर एकान्त में रहने का निश्चय किया। गाँव से थोडी दूर पर एक रमणीय सरोवर के किनारे वे पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे। वे लोगो को शकुन बताया करते थे, भगवान की उन पर ऐसी कृपा थी कि प्राय उनकी बतायी सारी बातें सच उतरती थी। दूर-दूर के गाँवो में उनका यश फैल गया। दिन भर उनकी कुटी के सामने अगणित लोगो की भीड रहती थी। एक दिन एक जमीदार की गाय खो गयी। जमीदार को सूर ने गायका पता बता दिया। वह उनके चमत्कार से बहुत प्रभावित हुआ, उनके लिये एक अच्छी-सी कुटी बनवा दी। उनकी मान-प्रतिष्ठा दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढने लगी। सूरदास स्वामी के नाम से प्रख्यात होने लगे। उन्होंने एक रात को बडा पश्चात्ताप किया, सोचा कि मैं तो भगवान श्रीहरि के भजन के लिये घर से बाहर निकला था पर ससार मुझे नित्य अपनी माया में जकडता जा रहा है। मैंने जन्म लिया भगवान के भजन के लिये और उलझ गया प्रपच में। ऐसा विचार कर उन्होने मथुरा के लिये प्रयाण किया। मन में वैराग्य

का उदय वडे जोर से हो रहा, था, मथुरा मे उनका मन नही लगा। वे मथुरा से रेणुका-रुनकता क्षेत्र में आकर हरि का भजन करने लगे। भीड ने उनका पीछा नही छोडा। रेणुका-क्षेत्र से एकान्त के अभाव मे वे यमुना के किनारे गऊघाट पर आकर भजन और सगीत का अभ्यास बढाने लगे। थोडे ही समय में एक सिद्ध महात्मा के रूप में उनकी ख्याति चारो ओर फैल गयी। गऊघाट रुनकता-क्षेत्र से तीन मील दूर पच्छिम की ओर कालिन्दी के तट पर अवस्थित है। कवि, सगीतज्ञ और अच्छे सन्त के नाम मे वे प्रसिद्ध हो गये। इस समय इनकी अवस्था अठारह साल से अधिक हो गयी थी। रसिक हरिराय जी का कथन है कि गऊघाट पर निवास-काल मे उनके सेवको की सख्या बहुत बढ गयी थी, उनका कठ अमित मधुर था। उनमें भक्ति के विभिन्न अगो का बडी तेजी मे विकास हो रहा था। सूर ने विनय-सम्वन्धी अधिकाश पदो की रचना गऊघाट पर ही की थी। विजयनगर राज्य में महाप्रभु श्रीमदाचार्य वल्लभ के कनकाभिषेक की घटना चारो ओर प्रसिद्ध हो गयी थी। सूरदास महाप्रभु मे मिलने के लिये विशेप उत्सुक थे। महाप्रभु अडैल मे व्रज जा रहे थे। गऊघाट पर उन्होने अस्थायी निवास स्थिर किया। लोगो के मुख से उन्होने सूरदास के चमत्कारपूर्ण जीवन और भगवत्प्रियता के सम्वन्ध में अनेक बाते सुनी। वे सूर को देखने के इच्छुक थे। इधर सूरदास महाप्रभु को सौभाग्य मे अपनी कुटी के ही निकट उपस्थित सुनकर उनकी दिव्य चरणधूलि से अपने आपको पवित्र करने के लिये चल पडे। उनके हृदय में श्रद्धा और शरणागति की तरगें वडे वेग मे उठ रही थी। उन्होने महाप्रभु के चरण का स्पर्श किया और अत्यन्त करुण स्वर मे अपने पतित होने के सम्वन्ध मे एक विनय-पद सुनाया। महाप्रभु ने कहा कि सूर होकर इस तरह क्यो घिघियाते हो। भगवान के लीला-पद गाओ। सूरदास ने निवेदन किया कि मुझे लीला का तनिक भी ज्ञान नही है। आचार्य ने सुबोधिनी सुनायी, सूर के हृदय मे भगवान श्रीकृष्ण की रसमयी लीला का स्फुरण हुआ, वे लीलासम्वन्धी मर्म पद गाने लगे। महाप्रभु उनकी श्रद्धा और भगवद्भक्ति मे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने सूर को दीक्षित किया। तीन दिन तक महाप्रभु गऊघाट पर ही रह गये। सूरदास ने साथ चलने का निवेदन किया। महाप्रभु उन्हे अपने साथ गोकुल ले आये। सूरदास नित्य

नवनीतप्रिय का दर्शन करते और भगवल्लीला के पद सुनाते थे। महाप्रभु के साथ गोकुल से गोवर्धन चले आये। गोवर्धन में श्रीनाथ जी के चरणो में उन्होने पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया। आचार्य ने कृपापूर्वक उनको श्रीनाथ जी का कीर्तनकार नियुक्त कर दिया। इस प्रकार भगवान की कृपा से उनको महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपना कर भागवत लीलाओ के समस्त तत्वो और भेदो का ज्ञान वताया।

गोकुल से गोवर्धन आने पर सूर ने चन्द्रसरोवर के निकट परासोली में अपना स्थायी निवास-स्थान वनाया। वे नित्य प्रति श्रीनाथ जी की प्रत्येक झाँकी का दर्शन करने तथा उसके अनुरूप नये पद रचकर सुनाने आते थे। अष्टछाप के कवि कुम्भनदास, परमानद दास, कृष्णदास और नन्ददास आदि से धीरे-धीरे उनकी घनिष्टता वढने लगी। उन्होने सूरसागर की रचना इसी समय की। महाप्रभु के लीलाप्रवेश के वाद गोस्वामी विट्ठल नाथ जी की सूरदास पर विशेष कृपा-दृष्टि थी। वे उनका वहुत सम्मान करते थे। सूरदास अष्टछाप के महाभागवत कवियो में प्रमुख थे, वे नवनीतप्रियदर्शन के लिये गोकुल भी जाया करते थे। श्रीनाथजी उनके परम उपास्य और आराध्य थे।

सूरदास की कीर्ति-कल्पलता की छाया दूर-दूर तक फैलने लगी। एक वार महासगीतज्ञ तानसेन अकवर की राजसभा में सूरदास का एक पद गा रहे थे। सूरदास ऐसे परम सन्त की वाणी थी, अकवर पर वडा प्रभाव पडा। अकवर ने सूरदास से मिलने की इच्छा प्रकट की। आवश्यक कार्य से मथुरा भी जाना था। स १६२३ वि में अकवर ने तानसेन के ही साथ मथुरा-यात्रा-काल में सूरदास से भेंट की, सूरदास ने एक पद—'हे मन, माधव से प्रीति करो' गाया। अकवर ने परीक्षा लेने की भावना से अपने यश-वर्णन के लिये कहा। सूरदास तो लीलापति श्रीकृष्ण के भक्त थे, जिनके चरणो के स्पर्श के लिये कोटि-कोटि इन्द्रो के मौलिमुकुट प्रतीक्षा करते रहते है उनके यश-गायक थे। सूरदास ने अपने आराध्य श्रीनाथ जी का यश गाया।

> नाहिन रह्यो मन में ठौर।
> नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।

अकबर ने उनकी निःस्पृहता और भगवद्भक्ति से परम शान्ति का अनुभव किया। सूरदास भगवान के शृंगार का ज्यों का त्यों वर्णन कर दिया करते थे। एक बार वे नवनीतप्रिय का दर्शन करने गोकुल गये। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गिरिधर जी ने गोकुलनाथ के कहने से उनकी दिव्य दृष्टि की परीक्षा लेनी चाही। आषाढ मास का समय था। ठाकुर जी को कोई वस्त्र नहीं पहनाया गया था। केवल मोतियों से ही उनका शृंगार किया गया था। सूरदास नवनीतप्रिय के सामने आकर पद गाने लगे। भगवान ने भक्त की लाज रखी। सूर ने भगवान का तत्कालीन शृंगार गाया

'देखे री हरि नगम नगा।
जल सुत भूषन अंग विराजत,
वसन हीन छवि उठत तरंगा।
अंग-अंग प्रति अमित माधुरी
निरखि लजित रति कोटि अनंगा।
किलकत दधिसुत मुख ले मन भरि,
'सूर' हँसत ब्रजजुवतिन संगा।'

सूरदास परीक्षा की कसौटी पर खरे उतर गये। भगवान का दिव्य रूप उनके हृदय-कमल पर अभिव्यक्त हो उठा। रासेश्वर नन्दनन्दन उनके पद-गान से प्रमत्त हो उठे।

सूर का सम्पर्क तत्कालीन प्रसिद्ध भगवद्भक्तों और महाकवियों से था। रामभक्ति के सागर में सदा मग्न रहने वाले तुलसीदास जी से भी उनकी भेंट हुई थी। दोनों एक दूसरे की भक्तिपद्धति और अलौकिक काव्य-साधना से प्रभावित थे। सूरदास ने अपने विशाल काव्य सूरसागर में कुछ पदों में रामचरित्र का वर्णन किया है, इसी प्रकार सन्त शिरोमणि तुलसीदास ने 'कृष्णगीतावली' की रचना की। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अष्टछाप में उन्हें प्रमुख तथा सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान कर उनकी साहित्य-गरिमा और काव्यसाधना की व्यापकता स्वीकार की। सन्त सूरदास वैराग्य और भक्ति के मूर्तिमान स्वरूप थे। श्रीकृष्ण के प्रेम में वे इतने आसक्त और आत्मविभोर थे कि एक पल के लिये उनके

ध्यान का विस्मरण होने पर नयनों से गगा-यमुना की धारायें फूट पड़ती थी। श्रीनाथ जी का विरह उनके लिये असह्य था। सूरदास की काव्य-कारिता ने भगवद्भक्ति का वरण किया था। उन्होंने श्रीकृष्ण के वेद-सम्मत चरित्र का वर्णन किया। व्रज-मण्डल की चौरासी कोसवाली सीमा मे उन्होंने सरस वेद-ब्रह्म कृष्ण के पौराणिक रूप का मध्यकालीन साहित्य में शृगार गाया। सदा वे श्याम की देवदुर्लभ रूप-माधुरी का आस्वादन करते रहे। उनका कथन है

'नैननि निरखि स्याम स्वरूप।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई, जोतिरूप अनूप।
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।
'सूर' चन्द्र नछत्र पावक, सर्व तासु प्रकास।'

यह श्रीकृष्ण का सरस विराट रूप-दर्शन है। सूरदास विशेष रूप से वात्सल्य रस के कवि स्वीकार किये जाते है। पर शृगाररस के सभोग और विप्रलम्भ अग का वर्णन उन्होंने अनुपम सफलता से किया है। वे व्रज-भक्त थे, उनकी कविता वृन्दावन के कण-कण के आलिगन से परम भागवती हो गयी। वृन्दावन की महिमा के सम्बन्ध मे सूरदास का पद है

'धनि यह वृन्दावन की रेनु।
नन्दकिसोर चरावत गैया, मुखहि बजावत बेनु।
मनमोहन को ध्यान धरे जिय, अति सुख पावत चैनु।
चलत कहा मन और पुरी तन, जहाँ कुछ लैन न दैनु।
इहाँ रहहु, जहाँ जूठन पावहु, व्रजवासिन के ऐनु।
'सूरदास' ह्या की सरवर नहि, कल्पवृक्ष सुरधेनु।'

उनकी गुरु-भक्ति और भगवद्भक्ति की सहज सिद्धि की प्रतीक वृन्दावन की धूलि है, उन्होंने श्यामसुन्दर की चरणनूपुरध्वनि से रसमयी वृन्दावन-धूलि पर स्वर्ग, अपवर्ग और वैकुण्ठ की समृद्धि नीछावर कर दी। उनका काव्य श्रीकृष्ण का अलौकिक वाणी-विग्रह है। सूरदास की गुरुभक्ति सराहनीय थी। वे आचार्य वल्लभ के चरणो में सुदृढ रूप से अनुरक्त थे। गुरु के चरणो का चिन्तन और भगवल्लीलागान ही उनका

जीवन-प्राण था। उन्होने आजीवन उन हरि के चरणकमलो की वन्दना की जिनकी कृपा से पगु पहाड लाघ जाता है, अधा सब कुछ देख सकता है और वहिर सुनता है, गूगा बोलता है तथा रक राजा हो जाता है। वे युगलस्वरूप के शृगार-सागर में सदा निमग्न रहते थे, उन्होंने राधाकृष्ण की लीलामाधुरी से अपना जीवन धन्य और सफल कर लिया। उनकी सदा के लिये कामना थी, भागवत वासना थी कि श्रीकृष्ण और राधारानी सदा उनके नयनो के वृन्दावन-कुज में विहार करते रहे

'वसो मेरे नयननि मे यह जोरी।
सुदर स्याम कमल दललोचन मग वृषभानुकिसोरी
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, पीताम्वर झकझोरी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हारे दरस को का बरनो, मति थोरी।'

सूरदास ने गुरु और भगवान में अभिन्नता—अभेदता का अनुभव किया। उन्हे अपने गुरु वल्लभाचार्य से ही भगवत्तत्व और लीला भेद का पता चला था। उन्होने मध्यकालीन साहित्य को भक्ति-प्रधान बनाया। साहित्य सर्वथा अलौकिक और दिव्य हो उठा—उन्होंने साहित्यजीवन के क्षेत्र में भगवानकी मानसी सेवा—उपासना सिद्ध की। वे लीलारसिक सन्त कवि थे। नामदेव और विल्वमगल के समन्वयरूप थे। नामदेव की तरह विनय के पद गाकर उन्होने हरि से भक्ति माँगी और विल्वमगल की तरह लीला के पद गा कर उन्होने राधाकृष्ण मे उनकी रूप-माधुरी के चितन का वरदान पाया। सूरदास के काव्य मे लौकिक चिन्तन नाम मात्र के लिये भी नही है। उनकी भगवद्भक्ति-प्रेम-सिद्धि गोपी भाव की प्रतीक है। सूर के नयनो मे श्याम के विरह का अनुभव कर, विरहिणी गोपियो की मनोदशा विचार कर नित्य निरन्तर अश्रु की धारा वहती रहती थी। सूर की गोपी की भक्ति और अनुरक्ति के चरणो पर योग, तप, सन्यास और वैराग्य-सब -के सब पराजित होकर नत हो गये। सूर ने साहित्य में भगवान की भक्ति को श्रेय स्वीकार किया और तदनुरूप आचरण कर अपने सिद्धान्त की वास्तविकता सिद्ध की। उनकी स्पष्ट उक्ति है कि सर्वस्व त्याग कर नन्दनन्दन का भजन

करना चाहिये। दूसरे के भजन से भवसागर से मुक्ति नही मिल सकती है। जन्म-जन्म के पाप-वृक्ष को काटने के लिये हरिनाम का कुठार ही समर्थ है। वेद पुराण और भगवद्गीता आदि का यही मत है कि विना हरिपद-नवका की शरण लिये भवसमुद्र से पार उतरना असम्भव है। ससार में जन्म लेकर भगवान के भजन मे अमूल्य समय का सदुपयोग कर लेना चाहिये। मनुष्य का जन्म फिर नही मिलेगा। ससार और भगवान दोनो का भजन साथ-साथ नही हो सकता है—ऐसी उनकी दृढ मान्यता थी। भगवान का भजन ही उनका अक्षय प्राणधन था। उन्होंने पचासी साल की अवस्था में गोलोक-प्रवेश किया। वे नित्य श्रीनाथ जी की आठो झाँकी का दर्शन करते और प्रत्येक झाँकी के सम्वन्ध में तत्काल नवीन पद रच कर श्री नाथ जी को समर्पित किया करते थे। एक दिन उन्हे अपने शरीर में विशेप शिथिलता का अनुभव हुआ। परासोली से आकर उन्होंने श्रीनाथ जी की मगल-आरती—प्रथम झाँकी का दर्शन किया। यह उनका अन्तिम दर्शन और पद गान था। वे धीरे-धीरे परासोली आ गये। भगवान के शृगार-दर्शन के समय परम भागवत सूर की अनुपस्थिति से गोस्वामी विट्ठलनाथ आश्चर्यचकित हो गये। उन्होने श्रीनाथ जी की ओर देखा, सूर के नित्य सखा भगवान श्याम-सुन्दर के श्‍ृगार में उन्हे आनन्द का दर्शन नही हुआ। विट्ठलनाथ जी का हृदय सूर के विरह की आशका से द्रवित हो उठा, उनका कठ भाव के आवेग से अवरुद्ध हो गया, नयनो से जल की धारा उमड पड़ी। उन्होने अपने भक्तो से कहा, कृष्ण के लीला-साहित्य के महाकवियो से—गोविन्ददास, कुम्भनदास आदि से कहा कि आज पुष्टिमार्ग का जहाज सदा के लिये, भवसागर के पार जा रहा है, जिसको जो कुछ भी लेना है वह शीघ्रता से परासोली पहुँच जाय। लोग परासोली की ओर चल पड़े। श्रीनाथ जी के राजभोग के वाद विट्ठलनाथ जी भी अमित शीघ्रता से कुम्भनदास और गोविन्ददास को लेकर परासोली आगये। सूरदास ने परासोली पहुँच कर वडी श्रद्धा से श्रीनाथ जी की पताका को प्रणाम किया। वे अपनी चित्तवृत्ति श्रीनाथ जी और विट्ठलनाथजी में समग्र रूप से लगा कर विचार करने लगे कि यह काया श्यामसुन्दर की सेवा में पूर्ण रूप से न लग सकी। इतने में गोस्वामी विट्ठलनाथजी

पहुँच गये। सूरदास ने उनकी चरण-वन्दना की, कहा कि मैं तो आप की ही प्रतीक्षा कर रहा था। सूरदास ने पद गाया

'खंजन नैन रूपरस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि ताटक फँदाते
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उडि जाते।'

वे श्री राधाकृष्ण के युगलरूप का ध्यान कर रहे थे। विट्ठलनाथ जी ने पूछा कि 'चित्तवृत्ति कहाँ है?' सूरदास ने निवेदन किया कि मैं श्रीराधारानी की चरण-वन्दना करता हूँ क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण सदा उनके प्रेमसागर में निमग्न रहते हैं। सूर ने गाया

'बलि बलि बलि हो कुवरि राधिका,
नन्दसुवन जासो रति मानी।'

चतुर्भुज दास ने कहा कि आपने असख्य पदो की रचना की पर महाप्रभु का यश-वर्णन नही किया। सूरदास ने समाधान किया कि मैं महाप्रभु जी, और श्रीनाथ जी में कोई भेद ही नही मानता हूँ। वे तो साक्षात्, लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के स्वरूप हैं, मैंने सूरसागर में भगवत्रूप महाप्रभु की ही लीलाओ का वर्णन किया है। मैंने उन्हीं का यश गाया है। सूरदास जी ने एक पद कहा, गुरु तत्व का स्तवन किया:

'भरोसो दृढ इन चरननि केरो।
श्रीवल्लभनखचन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।
साधन नाहिं और या कलि में, जासो होय निवेरो।
'सूर' कहा-कहै द्विविधि आँधरो बिना मोल को चेरो।'

चतुर्भुज दास की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने उपस्थित भक्तों को पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त संक्षेप में सुनाये। उन्होंने कहा कि 'गोपीजनों के भाव से भावित भगवान के भजन से पुष्टिमार्ग के रस का अनुभव होता है। इन मार्ग में केवल प्रेम की मर्यादा है।'

'भजि सखि! भाव भावक देव।
कोटि साधन करो कोऊ तऊ न माने सेव!
ब्रजवधू बस किये मोहन 'सूर' चतुर सुजान।'

उन्होने अन्तसमय में श्रीराधाकृष्ण के ध्यान में अपने प्राण के सरस स्वर समर्पित कर दिये। उन्होने प्रभु के सम्मुख सदा अपने आप को पतितो का नायक घोषित किया, श्यामसुन्दर को चुनौती दी कि ससार में मुझसे वडा दूसरा कोई पतित है ही नही। उन्हे विश्वास था कि मै वुरा हूँ या भला हूँ, जो कुछ भी हूँ, प्रभु मुझे अवश्य अपनायेंगे, मैं उन्ही का हूँ। श्रीनाथ जी के प्रति उनकी शरणागति उच्च कोटि की थी, अप्रतिम और अनुपम थी। वे सन्त भक्त थे। उन्होने सगुण ब्रह्म का चिन्तन किया। उन्होने श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला का दिव्य दृष्टि से अनुभव कर सूरसागर की रचना की। वे महाभागवत थे ।

रचना

सूरसागर, साहित्य लहरी, सूरसारावलि आदि सन्तशिरोमणि महाकवि सूरदास की प्रसिद्ध रचनायें है।

पद

जो सुख होत गुपालहिं गायें ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हायें ।
दिये लेत नही चार पदारथ, चरन-कमल चित लायें ।
तीन लोक तृन-सम करिलेखत, नन्दनन्दन उर आयें ।
वसीवट वृन्दावन जमुना तजि वैकुठ न जावैं ।
'सूरदास' हरि को सुमिरन करि, वहुरि न भवजल आवैं।

हरि विनु मीत नहिं कोउ तेरे।
सुनि मन, कहौं पुकारि तोसौं हौ, भजि गोपालहिं मेरे।
या ससार विपय-विप-सागर, रहत सदा सव घेरे।
'सूर'स्याम विनु अत काल मे कोउ न आवत नेरे।

प्रभु हौं सव पतितन को टीको।
और पतित सव दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही को।

बधिक अजामिल गनिका तारी, और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँडि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यो जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबे को, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज 'सूर' पतितन में, मोहूँ तें को नीकौ॥

रे मन गोविन्द के ह्वै रहिये।
यहि ससार आपार विरत ह्वै जम की त्रास न सहिये।
दुख-सुख-कीरति भाग आपनें, आइ परै सो गहिये।
'सूरदास' भगवन्त भजन करि अत बार कछु लहिये।

बडी है राम नाम की ओट।
सरन गयें प्रभु काढि देत नहिं, करत कृपा कै कोट।
वैठत सबै सभा हरि जू की, कौन वडो को छोट।
'सूरदास' पारस के परसे, मिटति लोह की खोट।

नन्द को नन्दन साँवरो, मेरो-मन चोरे जाइ।
रूप अनूप दिखाइ कै, सखि वह औचक गयो आइ।
मोर मुकुट कुण्डल स्रवन, सिर पीताम्वर फहराइ।
अवरनि पर मुरली वरे, मृदु मवुरी तान वजाइ।
चन्दन की खौरी किये तन, कटि काछनी वनाइ।
'सूरज' प्रभु वैठे लखे मैं, जमुना-तीर कन्हाइ।

महात्मा श्रीचन्द्र

'चेतहु नगरी तारहु गाँव।
अलख पुरुष का सिमरहु नाँव॥'

—मात्राशास्त्र

परम उदासी, असाधारण विरागी और भगवान के विलक्षण अनुरागी महात्मा श्रीचन्द्र ने आचार्य शकर की तरह भारतीय सस्कृति और अध्यात्म ज्ञान का सरक्षण किया। उन्होने जीवमात्र को भवसागर से पार उतारने के लिये सुगम तथा आचारमूलक भक्ति का पथ प्रशस्त किया, वे ऐतिहासिक दिव्य पुरुष थे। श्रीचन्द्र ने धर्म की मर्यादा सुरक्षित की, वे जन्मजात योगी थे। उन्होने ज्ञानयोग की साधना की। महात्मा श्रीचन्द्र के प्राकट्य-समय में भारत की राजनीतिक स्थिति अमित अस्थिर और अशान्त थी, प्रत्येक दिन दिल्ली में नये-नये राज्य की स्थापना की आशक वनी रहती थी। चारो ओर राजनीतिक षडयन्त्र और धर्मसम्बन्धी उत्पात का ही बोलबाला था। उस समय मेवाड का राजतन्त्र विदेशी सत्ता को दिल्ली से बाहर निकाल कर स्वतन्त्रता की ज्योति फैलाने के लिये पूरा-पूरा यत्नशील था। दिल्ली में लोदी शासन शिथिल हो चला था। बाबर भारत की ओर बढने और राज करने के सपने देख रहा था। इस राजनीतिक अशान्ति के साथ-ही -साथ धर्म-क्षेत्र में शासन हस्तक्षेप कर रहा था। वैष्णव और शैवो का सघर्ष नित्य प्रति उग्र रूप धारण करता जा रहा था। कही-कही वाम मार्ग की साधना प्रबल थी। निस्सन्देह यदि महात्मा श्रीचन्द्र का ऐसे कठिन और अशान्त समय में प्राकट्य न होता तो देश की धार्मिक स्थिति अत्यन्त विचित्र होती तथा चारो ओर अशान्ति का ही साम्राज्य छा जाता। विकराल युद्ध-वातावरण में महात्मा श्रीचन्द्र ने धर्माचरण का शखनाद कर भारतीय सस्कृति की रक्षा की, यह उनकी मौलिकता है। वे उदासीन सम्प्रदाय के मध्यकालीन आचार्य स्वीकार किये जाते है। उन्होने भारतीय जीवन को वैदिक मर्यादा से सम्पन्न कर सनातन धर्म का गौरव बढाया, वे धार्मिक समन्वय के मध्यकालीन सूत्रधारो में से एक थे।

महात्मा श्रीचन्द्र सन्त नानक के पुत्र थे। उनका जन्म सम्वत् १५५१ वि में भाद्रपद शुक्ल नवमी को तलवण्डी ग्राम में हुआ था। उन्होंने इतिहासप्रसिद्ध परम पवित्र कुल को धन्य किया। उनकी माता मुलक्षणी अथवा सुलक्खनी देवी थी। इस समय सन्त नानक वत्तीस साल के थे। श्रीचन्द्र के जन्म-समय में नानक घर के बाहर वैठक मे सत्सग कर रहे थे। उनकी वहिन नानकी ने सूचना दी कि अमित तेजस्वी वालक ने जन्म लिया है। पहले तो उनकी मा ने जटा भस्मादि से अलकृत शिवरूप में उनको देखा पर प्रार्थना करने पर वे साधारण शिशु हो गये। सन्त नानक दिव्य शिशु के जन्म से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्क्षण समझ लिया कि चन्द्रमा की तरह विश्व का अज्ञान-अन्धकार मिटाने के लिये किसी दैवी आत्मा ने हम लोगो पर कृपा की है, उन्होने उनका नाम श्रीचन्द्र रखा।

चार साल के वाद नानक दूसरे पुत्र लक्ष्मीचन्द्र के जन्म के वाद सन्यासी वेष में घर से वाहर निकल गये। श्रीचन्द्र पिता के वैराग्य-सस्कार से बचपन से ही प्रभावित होने लगे। वे अन्य लडकों से वहुत कम मिलते थे। दूर से ही निर्लिप्त भाव से उनके खेल देखा करते थे। एकान्त स्थान में उनका मन वहुत लगता था। घर में लोगो को विश्वास हो गया था कि श्रीचन्द्र भी पिता की ही तरह सन्यास ले लेगे इसलिये लोग उनके प्रति विशेष सावधान रहने लगे। एक दिन विचित्र वात हुई। श्रीचन्द्र हाथ में थोडे से चने लेकर भिक्षुक को देने घर से वाहर आये, भिक्षु के पात्र में चने के स्थान पर मोती देख कर घर वाले तथा अन्य लोग आश्चर्य चकित हो गये। श्रीचन्द्र का अधिक समय एकान्त में वीतता था। वे लोगो से सुना करते थे कि पिता नानक वचपन में इधर-उधर वन में घूमा करते थे। वे अपने गाव से थोडी दूर पर एक वन मे चले गये। दोपहर तक घर न लौटने पर लोग आशकित हुए। खोज आरम्भ हो गई। वन में प्रवेश करने पर लोगो ने श्रीचन्द्र को एक पेड के नीचे वैठा पाया। उस वन मे एक भयानक सिंह रहता था। लोगों ने देखा कि सिंह श्रीचन्द्र के सामने शान्त भाव से वैठा है और वे समाधिस्थ हैं, एक काला नाग उनके गले मे लिपटा हुआ है। तलवण्डी के शासक रायवुलार घटनास्थल पर उपस्थित थे। श्रीचन्द्र के दर्शन मे वे प्रभावित हुए। दूर-दूर से लोग श्रीचन्द्र का दर्शन करने के लिये आने लगे।

कुछ दिनो के लिये श्रीचन्द्र अपने नाना के घर चले आये, उनके छोटे भाई लक्ष्मीचन्द्र भी साथ थे। एक दिन वे वन मे गये, रात को दोनो भाई वन में ही रह गये। उनकी माता सुलक्षणी आदि की चिन्ता वढने लगी। उनके न लौटने

पर लोग खोज में निकल पडे, सौभाग्य से प्रसिद्ध उदासीन महात्मा अविनाशी मुनि का उनको दर्शन हुआ, मुनि ने सान्त्वना दी कि बालक शीघ्र ही घर आ जायेंगे। मुनि के आशीर्वाद से वे घर आ गये। इस समय श्रीचन्द्र आठ साल के थे। वे अपने भाई के साथ अपने घर तलवण्डी चले आये। ननिहाल में तीन साल तक रहने के बाद वे ग्यारह साल की अवस्था में घर आये थे। यथासमय उपनयन-सस्कारसम्पन्न होने पर विवाह की बात चलने लगी। पर वे तो जन्मजात सन्यासी थे इसलिये विवाह की बात आगे न बढ सकी। श्रीचन्द्र विद्याध्ययन के लिये काश्मीर गये। वहाँ वे समस्त शास्त्रो में निष्णात हो गये। लोग उनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। चौदह साल की ही अवस्था में उन्होने सारे शास्त्र पढ डाले, काशी के दिग्विजयी पण्डित सोमनाथ को शास्त्रार्थ में गहरी पराजय दी। धीरे-धीरे उनमें वैराग्य का भाव प्रबल होने लगा। घर और परिवार के प्रति आसक्ति तो थी ही नही इसलिये मन में निर्मल वैराग्य का उदय हुआ।

अविनाशी मुनि से उन्होने दीक्षा ली, वे उस समय अमरनाथ की यात्रा के लिये जा रहे थे। दीक्षित होने के बाद ही गुरु के आदेश से धर्म-प्रचार के लिये उन्होने भरतखण्ड के प्रसिद्ध तीर्थो और धर्मक्षेत्रो की यात्रा की। वे ब्रज, काशी और प्रयाग भी गये थे। जगन्नाथपुरी में उन्होने दिग्विजयी पण्डित सोमनाथ त्रिपाठी को शिष्य रूप में स्वीकार कर उनका नाम सोमदेव रखा। वे करतारपुर भी गये थे। गाव के बाहर ही उन्होने आसन लगाया। उनके पिता सन्त नानक उस समय करतारपुर में ही थे। नानक ने उनको सन्यासी और महात्मा के रूप में देख कर परम आनन्द का अनुभव किया। वे करतारपुर से काश्मीर चले आये। इस प्रकार उन्होने देश में धार्मिक और आध्यात्मिक सगठन सुदृढ किया। काश्मीर में महात्मा श्रीचन्द्र ने सात साल तक निवास कर श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र आदि पर विद्वत्ता-पूर्ण भाष्य लिखे। उन्होने चारो वेदो पर विस्तार से भाष्य लिखे पर वे अप्राप्य हैं। उन्होंने पेशावर में भी धर्म-प्रचार किया। काबुल गये। लोग उनके यौगिक चमत्कारो से आकृष्ट होकर उनके दर्शन के लिये आने लगे। वजीरखान नामक एक मुसलमान उनकी सीख से प्रभावित होकर 'रामकृष्ण' का नाम लेकर करताल बजा-बजा कर काबुल

आये। वारठ से श्रीनगर जाने पर उन्होंने अपने अनुयायियों को मात्रा-शास्त्र का ज्ञान दिया, उदासी पन्थ में मात्राशास्त्र के वचन वेदमन्त्र के समान पवित्र और महत्वपूर्ण स्वीकार किये जाते है। मात्राशास्त्र आत्मज्ञान का साहित्य है। आचार्य श्रीचन्द्र वारठ होते हुए चम्बा की ओर चल पड़े। भगवती रावी के तट पर चम्बा के रमणीय प्रान्त में वे एकान्त साधना करने लगे। सम्वत् १७०० वि की बात है। एक दिन प्रभात होने के पहले ही वे रावी के पार हो गये और पार्वतीय वन-प्रदेश में सदा के लिये अन्तर्धान हो गये।

महात्मा श्रीचन्द्र का सम्पूर्ण जीवन ज्ञान, भक्ति और कर्म का दार्शनिक समन्वय था। उन्होंने दिव्य आत्मज्ञान की ज्योति फैलायी, समाज की आन्तरिक चेतना जगायी, पृथ्वी पर सत्य, प्रेम और शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया। श्रीचन्द्र अनुपम विभूति थे।

रचना

वेद, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य लिखे। 'मात्राशास्त्र' उनकी प्रसिद्ध कृति है।

वाणी

गुरु अविनाशी खेल रचाया,
अगम निगम का पन्थ बताया।

निराश मठ निरन्तर ध्यान,
निर्भव नगरी दीपक गुरुज्ञान।

अकल की बरछी गुणो की कटारी,
मन को मारि करो असवारी।

भाव भोजन अमृत कर पाया,
भला-बुरा मन नही बसाया।

अमृत प्याला उदक मन दिया,
जो पीवे सो शीतल भया।

सहज विरागी करे विराग,
माया मोहनी नकल त्याग।

गोस्वामी तुलसीदास

'आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरु'।
कवितामञ्जरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता ॥'

—मधुसूदन सरस्वती

सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महर्षि वाल्मीकि के अवतार थे, मध्य-कालीन भारतीय काव्य-साम्राज्य के एकच्छत्र सम्राट थे। उन्होने मर्यादा पुरुषोत्तम पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर राम का काव्य में साहित्य अवतार सम्भव किया, वे राम के रूप-सौन्दर्य, ऐश्वर्य और माधुर्य के गायक सन्त थे। वे दिव्य शक्ति के साहित्यकार थे। उन्होने मानवता को 'रामचरित-मानस' के रूप में भगवद्भक्ति-कल्पतरु का दान किया। उनकी वाणी भागवतधर्म की विजयिनी पताका है। उन्होने भारतीय काव्य–जगत में ही नही–भक्ति-क्षेत्र में भी क्रान्ति उपस्थित की, भगवान -राम का लोकरक्षक, कल्याणकारी, मगल स्वरूप प्रस्तुत कर भारतीय सस्कृति को साहित्य के माध्यम से मर्यादित किया, वे वहुत वडी ऐतिहासिक विभूति थे। समग्र भारतीय जनता की वाणी ने राम-चरित मानस के स्वर में स्वर मिला कर वेदसवेद्य राम की अचल भक्ति में सुदृढ विश्वास प्रकट किया। तुलसीदास की रामभक्ति विश्वजनीन हो उठी। गोस्वामी तुलसीदास 'क्रान्तदर्शी' कवि तो थे ही, साहित्य-कार भी थे. उन्होने त्रेता के भगवान का स्तवन किया। उनकी लीला-कथा-सुधा से स्वान्तसुख के वहाने अनेक पुराण निगम-आगम तथा समस्त शास्त्र का मन्थन कर जगत में भक्तिरूपी अमृतधारा का सचार किया। यही उनका सन्तमत है, साहित्य-धर्म है। तुलसीदास के रामचरित मानस ने सनातन तत्व, –मानव-धर्म की सार्थकता में आस्था और विश्वास प्रकट करने वालो को मर्यादा मार्ग के अवलम्वन की सीख दी। विदे-शियो से आक्रान्त भारत देश को भगवदीय मर्यादा का स्मरण-दान कर तुलसी-दास ने जिस क्रान्ति का अभ्युदय किया उसकी रूपरेखा रामचरित मानस की

अपनी मौलिक सम्पत्ति है। रामचरित मानस के काव्यनायक भगवान राम ने तुलसीदास के हृदय में क्रान्ति-साहित्य की सम्पूर्ण ज्योति बिखेर कर धरती को समग्र रूप से आश्वस्त किया। निस्सन्देह मध्यकालीन आसुरी–निशाचरी सत्ता का रामचरित मानस के प्राकट्य से अन्त हो गया। मराठी साहित्य के तुलसीदास रामभक्त महाकवि मोरोपन्त की उक्ति है –

'श्रीरामपदाब्जअलि तुलसीदास हा सदा गावा।
श्रीवाल्मीकि च झाला श्रीतुलसीदास रामजस गाया।
तरिच प्रेम रसा च खाणि वाणी तशी च वश गाया।
याचे सुप्रेम भवन कवन निवदिते सदा बुधा मरसे।
हे जो जो मेवावे सेव्यचि गमें, सुधा सरसे।'

–तुलसीदास राम के चरणकमल का रस चूसने वाले भ्रमर हैं। उनकी सदा स्तुति करनी चाहिये। रामयशगान करने में तुलसीदास मूर्तिमान वाल्मीकि ही हो गये हैं, प्रेमरस की खानि उनकी वाणी वाल्मीकि की वाणी के सदृश ही उनके वश में थी। उनका काव्य उत्तम प्रेममन्दिर है, ज्यो-ज्यो उसका आस्वादन किया जाता है, त्यों-त्यो वह अमृत के समान सेव्य ज्ञात होता है। मोरोपन्त की यह उक्ति समीचीन ही है। तुलसीदास ने रामनामामृत के आश्रय के सम्बन्ध में कहा कि राम-नाम कलियुग मे कामतरु है, सकल मगलो का स्रोत है, इसके स्मरण से पद-पद पर परमानन्द की प्राप्ति होती है, सारी सिद्धि हाथ मे आ जाती है। उन्होने जन्म-जन्म के लिये राम से उनके नाम की भक्ति माँगी। सन्त तुलसीदास समन्वयवादी थे। उन्होने भक्ति मार्ग मे शैव-वैष्णव और निर्गुण-सगुण तथा यौगिक और दार्श-निक परम्पराओ का तथा विविध भारतीय साहित्य-चिन्तन-शैली और काव्य-पद्धति का सावधानी से समन्वय किया। वे अपने युग के प्रति-निधि साहित्यकार, उच्चकोटि के सन्त भक्त और आत्ममानव थे।

गोस्वामी तुलसीदास की जीवन-कथा की अधिकाश-सामग्री रघुवरदास कृत गोसाई चरित्र और बाबा वेणीमाधव दास के मूल गोसाईं चरित में उपलब्ध होती है। वल्लभ सम्प्रदाय के वार्ताग्रन्थ से भी इस सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश मिलता है तथा प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका में भी उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख मिलता है। इन्ही ग्रन्थों

के आधार पर तथा रामचरितमानस, कवितावली और विनयपत्रिका में आत्मसम्बन्धी उक्तियों के सहारे उनके जीवनचरित्र का वर्णन किया जा सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास सरयूपारीण ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज उत्तर प्रदेश के वस्ती जनपद के गाना के मिश्र थे। उन्हें यज्ञ में गणेश जी का भाग मिलता था। गोस्वामी जी के एक पूर्वज परशुराम मिश्र गाना से कसया चले आये। कसया भगवान बुद्ध का समाधि-स्थान होने के नाते इतिहास प्रसिद्ध है। परशुराम मिश्र गोस्वामी तुलसीदास के प्रपितामह थे। वे तीर्थयात्रा के लिये चित्रकूट गये थे। स्वप्न में हनुमान जी का आदेश पाकर वे भगवती कालिन्दी नदी के तट पर राजापुर ग्राम में वस गये। उनके वशज मुरारी मिश्र गोस्वामी तुलसीदास के पिता थे। तुलसीदास जी की माता का नाम हुलसी था। पिता का नाम कहीं-कहीं आत्माराम भी कहा गया है। तुलसीदास का जन्म बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में सम्वत् १५५४ वि की सावन शुक्ल सप्तमी को अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ। उनके जन्म मे माता-पिता के अनिष्ट की आशका थी। जन्म के समय तुलसीदास ने रुदन नही किया और उनके वत्तीस दात निकले हुए थे। लोग उन्हे देख कर आश्चर्य में पड गये। उनका नाम रामबोला अथवा तुलाराम रखा गया।

तुलसीदास की माता का स्वर्गवास हो गया। अभुक्त मूल मे पैदा होने के कारण पिता ने उनका त्याग कर दिया। तुलसीदास का वचपन वडे कष्ट से बीतने लगा। वे दरवाजे-दरवाजे भीख माग कर अपना पेट भरने लगे। भिक्षा ही उनके बाल्य जीवन की सम्पत्ति हो गयी। चूनी-खूदी पर, कोदो-कन पर उनका शरीर वढने लगा। इस सकटपूर्ण परिस्थिति में भी वे भगवान का सदा स्मरण करते रहे, सदा रामनाम रटते रहे। सात साल की अवस्था में सरयू के तट पर उनका उपनयन-सस्कार सम्पन्न हुआ। नरहरियानन्द या नरहरिदास उनके गुरु थे। उन्होने सरयू और घाघरा के सगम पर प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र-'सूकर खेत' में अपने गुरु से राम-कथा का श्रवण किया, इसके परिणामस्वरूप उनके मन में राम-भक्ति के परम पुण्यमय पवित्र सस्कार जाग उठे। उन्होने गुरु के साथ सूकरखेत में पाच साल तक

रह कर रामकथामृत का दैवयोग से रसास्वादन किया। सूकर क्षेत्र से वे काशी आये। शेष सनातन से उन्होने शास्त्रो का अध्ययन किया। कुछ दिनो तक वे चित्रकूट में रहे। चित्रकूट से राजापुर चले आये। उनकी अवस्था इस समय अठाइस साल से अधिक थी। उन्होने रत्नावली से विवाह किया। रत्नावली में रूप और विद्वत्ता दोनो का अश था। तुलसीदास अपनी नवविवाहिता रमणी में आसक्त थे पर राम के चिन्तन में उन्होने शिथिलता नही आने दी। एक वार रत्नावली नैहर गयी। तुलसीदास उसके रूप से मुग्ध होकर उससे मिलने चल पडे। आधी रात का समय था, आकाश में काली-काली घटायें डोल रही थी, विजली चमक रही थी, उन्होने नदी पार की और रत्नावली के पास पहुँच गये। वह उनको देख कर आश्चर्य में पड गयी। रत्नावली ने विनम्रता पूर्वक निवेदन किया कि आप ने मेरे प्रति प्रेम कर एक नदी पार कर ली, यदि आप कृपानिकेतन दशरथनन्दन भगवान राम के प्रति अनुरक्त हो जायें तो विकराल भव-सागर पार करने में तनिक भी विलम्व नही लगेगा। रत्नावली ने कहा , समझाया

'अस्थिचर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम मँह, होति न तौ भवभीति॥'

तुलसीदास को ज्ञान हो गया—माया मोह का वन्धन टूट गया। ससार की असारता उनकी समक्ष में आ गयी। उन्होने वैराग्य-गुरु रत्नावली का स्तवन किया। वे निकल पडे, पत्नी ने सन्यास लेने से मना किया पर अव तो वे राम के चरण-कमल के मधुप हो चुके थे। उन्होने निश्चय किया

'जो चेतन कहँ जड करइ, जडहि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहि जीव, ते धन्य॥'

वे रामभक्ति में नगवीर हो गये। पत्नी के उपदेश ने उनका जीवन वदल दिया। उन्होने ससार से अभय होकर कहा

'कटे एक रघुनाथ सग, वाँधि जटासिर केस।
हम तौ चाखा प्रेमरस, पतिनी के उपदेश॥'

वे प्रयाग आये। विरक्त हो गये। जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारिका, वदरी नारायण आदि की चौदह साल तक तीर्थ-यात्रा करते रहे।

तीर्थ-यात्रा के वाद वे काशी मे रह कर सन्तो का सग और राम की कथा करने लगे। वे नित्य प्रति शौच के लिये गगा के उस पार जाया करते थे। शौच से लौटने पर लोटे का शेष जल एक पेड की जड में डाल दिया करते थे। उस पेड पर एक प्रेत रहता था। जल से तृप्त होकर प्रेत ने तुलसीदास के सामने प्रकट होकर वर माँगने के लिये कहा। तुलसीदास ने राम-दर्शन का वर माँगा तो प्रेत ने उनको वताया कि अमुक स्थान की राम-कथा में हनुमान जी पधारते हैं। सवसे पहले आते हैं, सवसे वाद में जाते हैं। उनकी कृपा से राम का दर्शन होगा। तुलसीदास कथा मे गये। हनुमान जी ने उन्हे चित्रकूट जाने का आदेश दिया। उन्हे चित्रकूट में राम और लक्ष्मण का दर्शन हुआ। सम्वत् १६०७ वि की मौनी अमावास्या-तिथि, वुधवार को चन्दन घिसते समय उन्हे अपने आराध्य राम का दर्शन हुआ। हनुमान जी की कृपा से गोस्वामीजी ने रामचरितमानस की रचना का निश्चय किया। उन्होंने काशी में हनुमान घाट पर तथा गोपाल मन्दिर में एक कोठरी में बैठ कर अपनी रचना का अधिकाश लिखा। सम्वत् १६३१ वि में अयोध्या में मधुमास की नवमी तिथि और भौमवार को उन्होने रामचरित मानस का प्रकाश किया। रामचरित मानस के प्रणयन में लगभग तीन साल का समय लगा था। उनकी उक्ति है

> 'सवत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
> नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।'

वे वृन्दावन में नन्ददास से मिलने गये। इस यात्रा में उनकी नाभादास और महात्मा सूरदास से भी भेंट हुई थी। वल्लभसम्प्रदाय के वार्ता-साहित्य से पता चलता है कि नन्ददास उनके गुरु भाई थे। नन्ददास की ऐसी स्वीकृति भी है। नन्ददास ने रामचरित मानस के रचयिता तुलसीदास का गुरुभाई के रूप मे स्मरण किया है

> 'श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु-भ्राता पद वन्दे।
> सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनन्दे॥
> रामचरित जिन कीन्ह तापत्रय कलिमल हारी॥
> करि पोथी पर सही आदरेउ आप पुरारी॥
> राखी जिनकी टेक मदनमोहन धनुधारी।

वालमीकि अवतार कहत जेहि सच प्रचारी ॥
नन्ददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई।
उज्ज्वल रस टपकाय दियो जानत सब कोई॥'

तुलसीदास और नन्ददास दोनो ने काशी में शेष सनातन के पास विद्याध्ययन किया। एक बार काशी से एक लीलामण्डली के साथ रसिक नन्ददास रणछोड जी का दर्शन करने के लिये द्वारिका की ओर चल पडे पर व्रज में यात्रा स्थगित कर विट्ठलनाथ से दीक्षित होकर श्रीनाथ जी की भक्ति में लग गये। तुलसीदास ने उनको काशी वुलाया पर नन्ददास के लिये व्रज छोडना असम्भव हो गया। ऐसी स्थिति में गोस्वामी जी स्वय उनसे मिलने के लिये चल पडे। वे नन्ददास की कृष्णभक्ति से वहुत प्रसन्न हुए। तुलसीदास ने उनके आराध्य देव, श्रीनाथ जी का राम के रूप में दर्शन किया। उन्होने व्रजेश्वर के पादपद्मो में अपनी रामभक्ति का साक्ष्य-निवेदन किया

'का वरनउँ छवि आज की भले वने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तव नवे, धनुप वान लेओ हाथ॥'

भगवान श्याम-सुन्दर ने अपने भक्त की निप्कपटता से प्रसन्न होकर वशी के स्थान पर धनुपवान ग्रहण कर लिया। व्रज-गमन काल में महात्मा सूरदास से भी उनका मिलन हुआ था। दोनो एक दूसरे की भाव-भक्ति से परम प्रभावित थे। सूर ने अपने सूरसागर में रामचरित सम्वधी कुछ पदो की रचना की तथा गोस्वामी तुलमीदास ने कृष्णगीतावली लिखी। मूर के एक पद मे दोनो सन्तो के सरस सत्सग और समागम का पता चलता है सूरदास की स्वीकृति है

'वन्य भाग मम सन्तसिरोमनि चरन-कमल तकि आयउँ।
वदन प्रसाद सदन दृग भरिलखि सुख सन्दोह समायउँ॥
दया-दृप्टि मे मम दिमि हेरेउ तत्व स्वरूप लखायो।
कर्म उपासन-ज्ञान जनित भ्रम-मसय भूल नसायो॥
हरि लीला गायो तेहि सुनि तनु पुलकित मानस धीर।
मुवा समान वचन कहि पोपेउ सुमिरत सिय रघुवीर॥
श्रीतुलमी मुचि सन्त-ममागम अद्भुत अमल अनूप।
'मूरदास' जीवन फल पायो दरमन जुगल स्वरुप॥'

व्रज में तुलसीदास और नाभादास का भी मिलन हुआ था। नाभा जी ने काशी में तुलसीदास से मिलने की इच्छा प्रकट की थी पर उस समय वे ध्यानस्थ थे। नाभादास विना मिले ही व्रज चले आये थे। नाभादास ने भक्तमाल में उनको वाल्मीकि का अवतार स्वीकार किया। जिस समय तुलसीदास नाभा जी से मिलने गये उस समय सन्तो का भण्डारा चल रहा था। नाभा जी ने जान-बूझ कर उनको आदर नही दिया, वे उनको सन्तत्व की कड़ी कसौटी पर कसना चाहते थे। खीर परोसने के लिये पात्र नही था। गोस्वामी जी ने एक सन्त की पनही लेकर कहा कि इससे बढ कर दूसरा पात्र क्या हो सकता है। वे नाभादास की कसौटी पर खरे उतर गये। उन्होंने उनको गले लगाया और कहा कि आज मुझे अपने 'भक्तमाल' का सुमेरु मिल गया।

गोस्वामी तुलसीदास के समसामयिक सन्तों और भगवदनुरागी व्यक्तियों में महात्मा हितहरिवश, मीरा, रहीम, आदि के नाम गणित है। चित्रकूट-निवास-काल में गोस्वामी तुलसीदास के अवलोकन के लिये हितहरिवश ने अपने शिष्य नवलदास के हाथ राधा-सुधानिधि ग्रन्थ भेजा था। गोस्वामी जी के सम्वन्ध में हितहरिवश की उक्ति है

'कवि कोकिल पूरव हते त्रेता जे 'हरिवश' हित।
हरिनाम स्वाति कलि माँहि तेइ तुलसीदास चातक उदित॥'

हितहरिवश मध्यकालीन भारतीय भक्तिक्षेत्र में रसिकराज थे, उनकी इस उक्ति की साहित्यिक महत्ता की उपेक्षा नही की जा सकती है।

तुलसीदास को मीरा ने चित्तौड की राजसत्ता से उत्पीडित होकर पत्र लिखा था कि मेरे लिये क्या करना उचित है। तुलसीदास ने निस्सकोच उत्तर दिया था कि जिसे 'राम-वैदेही' प्रिय न हो उसका कोटि वैरी के समान परित्याग कर देना चाहिये। मीरा ने उनकी सम्मति का आदर किया और व्रज चली आयी।

रहीम खानखाना तुलसीदास से अमित प्रभावित थे। उन्होने अपनी रचनाओं में श्रीराम और कृष्ण के प्रति वडी भक्ति प्रकट की है। एक वार एक ब्राह्मण धन के अभाव में अपनी कन्या का विवाह नही कर सकता था। गोस्वामी

तुलसीदास और रहीम में बडा स्नेह था। तुलसीदास ने एक चिट पर दोहे का एक चरण लिख कर उस ब्राह्मण के हाथ भेज दिया

'सुरतिय नरतिय नागतिय चाहति हैं सब कोय।'

रहीम ने ब्राह्मण को प्रचुर धन देकर तथा दोहा पूरा कर तुलसीदास के पास भेज दिया।

'गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय।'

रहीम की बरवै-शैली से प्रभावित होकर गोस्वामी तुलसीदास ने बरवै रामायण की रचना की। मूल गोसाईं चरित में वेणी माधवदास की उक्ति है

'कवि रहीम बरवै रचे, पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छंद में रचना कियेउ प्रकास।'

काशी-निवासी टोडरमल गोस्वामी जी के अनन्य मित्र थे। महाराज मानसिंह भी कभी-कभी उनके दर्शन के लिये काशी आया करते थे।

उनके जीवन के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण अलौकिक घटनाओं का विवरण मिलता है। एक बार तुलसीदास की कुटी पर चोर चोरी करने गये। वे रात में धनुष-बाण लिये एक श्यामसुन्दर बालक को पहरा देते देख कर लौट आये। दूसरे दिन भी उन्होंने वही दृश्य देखा। तीसरे दिन सवेरे उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास से अपने मन की बात कही तो वे स्तब्ध हो गये। उनके नयनों से अश्रु झडने लगे कि प्रभु राम ने उनके लिये इतना कष्ट किया। उनके पास कुटी में जो कुछ भी था उसका दान कर दिया।

एक बार एक स्त्री सती होने जा रही थी। उसने रास्ते में गोस्वामी तुलसीदास को प्रणाम किया। उन्होंने उसको सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया। गोस्वामी जी को पता चला कि उसका पति कुछ देर पहले स्वर्गवासी हो चुका है। उन्होंने पति का शव रक्षित रखने का आदेश दिया और भगवन्नाम का कीर्तन करने लगे। गोस्वामी जी की कृपा से स्त्री का पति जी उठा। दिल्लीश्वर जहाँगीर ने इस घटना से प्रभावित होकर करामात दिखाने का निवेदन किया। गोस्वामी जी ने कहा कि मेरे लिये तो राम का नाम ही करामात है। वे बन्दी बना लिये गये। उन्होंने कारागार में हनुमान जी का स्तवन किया। दूसरे

दिन बन्दरो ने राजप्रासाद विध्वंश करना आरम्भ किया। बादशाह ने तुलसीदास को मुक्त कर दिया, क्षमा मागी।

गोस्वामी जी का समग्र जीवन रामभक्ति का प्रतीक है। उन्होने स्वान्त-सुख अथवा आत्मानन्द के लिये राम का गुणगान कर लोक-कल्याण किया। उन्होने साहित्य में निगमागमसम्मत रामभक्ति का मन्त्र जगाया, यह उनकी साधना की मर्यादा है, वैदिकता है। राम ही उनके लिये सब कुछ थे। उनकी उक्ति है

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यो कबहुँ न पेट भरो।
सो हौ सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो।
सुनियत सेतु पयोधि परवाननि करि कपि कटक तरो॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहिं ते तुलसिहिं समुझि परो॥'

उन्होने किसी मत का खण्डन नही किया, सब का मण्डन करते हुए भी राम-भक्ति पर सुदृढ रहे। उन्होने भक्ति को साधन माना, साध्य नही माना। राम ही उनके पूर्ण रूप से आराध्य, साध्य और उपास्य थे। उन्होने राम के सगुण रूप का चिन्तन किया, उनकी मर्यादापूर्ण लीला का आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत किया। समस्त चराचर में राम की कृपा का अनुभव किया। पशु-पक्षी सब में राम का समान रूप से प्रेम चित्रित किया। राम की अरण्य-लीला में जटायु गीध के प्रति जिस आदर का प्रदर्शन तुलसीसाहित्य में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सीता के अन्वेषण में विकल मायामानव लीला-ब्रह्म राम की स्थिति का निरुपण अमित मौलिक है,

तुलसीदास की वाणी साक्षी है:

'राघो गोद गीध करि लीनो।
नयन-सरोज सनेह सलिल सुचि मनहु अरघ जल दीन्हो ॥
सुनहु लखन ! खगपतिहि मिले वन मैं पितु-मरन न जान्यों।
सहि न सक्यो सो कठिन विघाता, वडो पछुआजहि मान्यो ॥
वहु विधि राम कह्यो तनु, राखन परम धीर नहिं डोल्यो।
रोकि प्रेम, अवलोकि बदन विधु वचन मनोहर बोल्यो ॥
'तुलसी' प्रभु झूठे जीवन लखि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुरलभ तुमहि कहा पुनि पैहौं।'

तुलसीदास के रामचरित मानस के प्रत्येक पात्र का जीवन-व्येय राम-चरण-शरणागति में ही निरूपित किया गया है। खलपात्र भी राघवेन्द्र की ही ओर अभिमुख चित्रित किये गये है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के रूप में सौन्दर्य-ब्रह्म का चिन्तन किया, ऐश्वर्य-ब्रह्म की सत्ता से अधर्म का नाश किया और माधुर्य-ब्रह्म की भक्ति से स्वान्त सुख का रामायणीकरण किया। उनके रामायणीकरण का मूल आधार सत्य-शिव और सुन्दर का समन्वय था। सच्चिदानन्द रसघनमूर्ति राम के नाम का भक्ति-भाष्य ही रामचरित मानस का मूल विषय है। काव्यकार को राम के स्तवन और आवाहन का समय वडे भाग्य से मिलता है। शख, चक्र, गदा और पद्म धारण करने वाले भगवान विष्णु के राजत्व का प्रतीक धनुप-बाण ग्रहण है। पाप और भौतिकता तथा असत्य के रावण, कुभकर्ण और मेघनाद की आसुरी सपत्ति वढ जाने पर विष्णु जटा और चीर धारण कर अपनी शेप-शक्ति के उपयोग से स्वगत श्री अथवा लक्ष्मी को बचाने के लिये ऋपियो और मुनियो के आश्रम में घूम-घूम कर, तपोवनो मे तप और त्याग का वरण कर अध्यात्म-यज्ञ करते है, स्वर्ण की आहुति देते है। लका सोने की प्रतीक-आतमा है, रावण पाप का पर्याय है, सीता दिव्य सम्पत्ति की अधिष्ठात्री है, राम चिन्मय ब्रह्म के समग्र ऐश्वर्य-रूप है। रामचरित मानस के साहित्य-प्रासाद की नीव इस मान्यता पर खडी है। तुलसी के रामचरित मानस ने राम के शरणग्रहण को ही मानवता का आदर्श स्वीकार किया है। 'गए राम सरन सव को भलो।'—अकाट्य सिद्धान्त है। कलिकाल में कल्याण का एक मात्र साधन रामनाम रूपी कल्पतरु ही है, साहित्यकार सन्त

तुलसीदास ने इसी को भागवतधर्म अथवा सनातन धर्म स्वीकार किया। तुलसीदास ने राम से निवेदन किया ;

'यह बिनती रघुवीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव जड़ताई ॥
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कुछ, रिधि-सिधि विपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडियो, कमठ अड की नाईं ॥
या जग में जहँ लगि या तनु की प्रीत प्रतीत सगाई।
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों, होहिं सिमिटि इक ठाईं।'

उन्होंने कहा कि यदि कामदेव के समान रूप हो, सूर्य के समान प्रताप हो, इन्द्र का वैभव हो तो राम की भक्ति के विना यह सब कुछ दो कौडी का है। उन्होंने रामचरित मानस में रसराज शृगार को भक्ति के माध्यम से मर्यादित कर चिन्मयता प्रदान की। उनके ऐश्वर्यब्रह्म राम ने वीर-रस की मर्यादा में प्रतिज्ञा की .

'निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन'

रावण का अन्त करने वाले राम के प्रति तुलसीदास की वाणी ने घोषणा की कि कलियुग में हरि का गुण-गान करना चाहिये, भव-सागर को पार करने का यह सर्वोत्तम उपाय है

'कलियुग केवल हरि गुन गाहा।
गावत नर पावहिं भव थाहा।'

उन्होंने हरि के नाम-भजन को ही युगधर्म माना। आत्मा को राम-नाम की भक्ति में सराबोर कर स्वान्त सुख का मूल अधिष्ठान राम के गुणगान में सिद्ध किया। उन्होंने रामभक्ति को ही भगवद्दर्शन स्वीकार किया। रामचरित मानस में रावण का वध गौण है, उसका अन्त तो कवि का लक्ष्य था ही पर प्रधान रूप से सन्त तुलसीदास ने ऐश्वर्य के नारायणीकरण की ही ओर ध्यान दिया। रामचरित मानस की साहित्य-समीक्षा से सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास ने अपने पूर्ववर्ती समस्त राम काव्य का 'क्वचिदन्यतोऽपि' के माध्यम से समन्वय किया।

वाल्मीकि रामायण मे राम-कथा ऐश्वर्य और सौन्दर्य का समन्वय रूप है, अध्यात्म रामायण में राम के सत्य रूप—सत् का दर्शन होता है, महाभारत में उनके ऐश्वर्य का सन्दर्भ मिलता है, श्रीभागवत में व्यास की लेखनी ने शुकदेव के अधरों पर उनका माधुर्य उतारा। तुलसीदास के रामचरित मानस में इन सब रूपो का अत्यन्त विधिपूर्वक साहित्यीकरण हो सका है। रामचरित मानस में राम समग्र रूप से साहित्यमय हैं। तुलसीदास के अलौकिक सन्त-साहित्य ने रामचरित मानस ने राम -दर्शन के माध्यम से कहा

> 'राम, स्वरूप तुम्हारा, वचन अगोचर बुद्धि पर।
> अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥'

सन्त तुलसीदास ने विप्र-धेनु-सुर-सन्त की रक्षा को ही राम की राजसत्ता स्वीकार की। मध्यकालीन भारतीय साहित्य का यही क्राति रूप है। मानव धर्म है । तुलमीदास ने राम के साहित्य-सरक्षण-आधार से कहा

> 'मोरे मन प्रभु अस विस्वासा।
> राम ते अधिक राम कर दासा।'

रामचरित मानस सन्त-साहित्य है। सन्तमत का इसमें पूर्ण शास्त्रीकरण मिलता है। यदि यह कहा जाय कि भगवत्त के भारतीय साहित्य में रामचरितमानस सर्वोत्तम आदि सन्त-साहित्य है तो इसमें अतिशयोक्ति नही दीख पडती। इसका आशय यह नही है कि वाल्मीकि और व्यास सन्त नही थे, वे सत तो थे ही पर महर्षि थे। मत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि थे। उन्होने रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत और पुराणो में वैदिक ब्रह्म का रूपक उतारा। तुलसी और सूर ने साहित्य-ब्रह्म का सौन्दर्य-चिन्तन किया। जब सतो की वाणी में राम का साहित्यरूप उतरता है तब जगत पाप और असत्य का परित्याग कर पुण्य और सत्य के बल पर साकेत और गोलोक उतारता है। रामचरित मानम राम का कृपासाहित्य है। रामचरित मानम की साहित्यकारिता का सकेत है कि जब तक जीव रामकृपा का दर्शन और अनुभूति नही करता है, वह सत्य शिव सुन्दर ब्रह्मानन्द की

भक्ति नहीं पा सकता। गोस्वामी तुलसीदास ने आजीवन राम की कृपा का दर्शन किया।

जीवन के अन्तिम दिनो मे गोस्वामी तुलसीदास काशी में ही थे। वे अस्सी घाट पर रहते थे। अस्सी घाट पर ही उन्होने रामलीला का आरम्भ किया था। अन्त समय में उन्हे बाहु-पीडा थी, उन्होने उसकी निवृत्ति के लिये हनुमान-बाहुक की रचना की थी। सम्वत १६८० वि में सावन श्यामा तीज को उन्होने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया। गोस्वामी जी ज्ञानी सन्त थे, विज्ञानी भक्त थे। निस्सन्देह वे सन्तसम्राट थे।

रचना

गोस्वामी जी ने रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली, विनय-पत्रिका, दोहावली, बरवै रामायण, वैराग्य सदीपिनी, जानकी-मगल-पार्वती-मगल, रामलला नेहछू, हनुमान-बाहुक, रामाज्ञा प्रश्न, कृष्णगीता-वली आदि की रचना की। उनके ग्रन्थ अवधी भाषा में हैं।

वाणी

जड चेतन गुन दोपमय विश्व कीन्ह करतार।
सत हस गुन गहहि पय परिहरि वारि बिकार।

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी।
सीयराममय सब जग जानी। करौ प्रनाम जोरि जुग पानी।

वेद पुरान मत मत एह। सकल सुकृत फल रामसनेह।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौ एक भगति कर नाता।
जाति पाँति कुल धर्म बडाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।
भगति हीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।

स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा।
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजै रघुबीरा।
राम विमुख लहि विधिसमदेही। कवि कोबिद न प्रसमहि तेही।

कामिहि नारि पिआरि जिमि। लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

—रामचरितमानस

काल कराल विलोकहु होइ सचेत।
राम नाम जपु तुलसी प्रीति समेत॥
दोष-दुरित-दुख-दारिद-दाहक नाम।
सकल सुमगल दायक तुलसीराम॥

—वरवै रामायण

विगरी जनम अनेक की सुधरै अवही आजु।
होहि राम को, नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
एक भरोसो एक वल, एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥
पुरुषारथ स्वारथ सकल, परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सव साहिवी, सुमिरत सीताराम॥

—दोहावली

सीतल वानी सत की, ससि हू ते अनुमान।
तुलसी कोटि तपनि हरै, जो कोउ धारै कान॥
तन करि, मन करि, वचन करि, काहू दूषत नाहिं।
तुलसी ऐसे सत जन, राम रूप जग माहिं॥

—वैराग्य सदीपिनी

सखि ! रघुनाथ -रूप निहारू।
सरद-विधु रवि-सुवन मनसिज-मान-भजनिहारू॥
स्याम सुभग सरीर जनु मन-काम-पूरनिहारू।
चारू चदन मनहु मरकत सिखर लसत निहारू॥
रुचिर उर उपवीत राजत, पदिक गजमनि हारू।
मनहुँ सुरधनु नखत गन विच तिमिर-भजनि हारू॥
विमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-विनदिनिहारू।

वदन सुपमा सदन सोभित मदन-मोहनिहारु ॥
सकल अंग अनूप नहिं कोउ सुकवि बरननि हारु ।
'दासतुलसी' निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु ॥

—गीतावली

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
रामकृपा भवनिसासिरानी जागे फिर न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर ते न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं ॥
परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निजवस ह्वैन हँसैहौं ।
मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं ॥

—विनयपत्रिका

महात्मा मधुसूदन सरस्वती

'पुञ्जीभूत प्रेम गोपाङ्गनाना
मूर्तीभूत भागधेय यदूनाम् ।
एकीभूत गुप्तवित्त श्रुतीना,
श्यामीभूत ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥'

गोपियो के पुञ्जीभूत प्रेम, यादवों के मूर्तिमान सौभाग्य तथा श्रुतियों के घनीभूत गुप्त धन श्याम ब्रह्म श्रीकृष्ण सदा मेरे समीप ही रहें।

—राघवचैतन्य

महात्मा मधुसूदन सरस्वती वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म, चिद्घन परमात्मा के मधुर रूप के अनन्य रसिक थे। वेदान्त के हिमालय पर आत्म-साधना करते हुए भी उन्होने अपने हृदय मे प्रेम की कालिन्दी और भक्ति की मन्दाकिनी के सगम पर श्याम ब्रह्म श्रीकृष्ण की रसानुभूति की। जिस समय महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शन का मधुर काव्य-भाष्य सूरदास कर रहे थे, अयोध्यापति राम के ऐश्वर्य और सौन्दर्य से सन्त तुलसीदास अपनी वाणी की सौभाग्य-लिपि कर रहे थे, राजस्थान की मन्दाकिनी—मीरा कृष्ण-प्रेम की आराधना कर रही थी, राधाभाव में रात-दिन निमग्न रहने वाले चैतन्य महाप्रभु की शिष्य-परम्परा भागवत धर्म का मधुर विस्तार कर रही थीं, उस समय वगदेश को अपनी उपस्थिति मे गौरवान्वित कर तथा वेदान्त चेतना को भक्तिमाधुर्य मे अलकृत कर मधुसूदन सरस्वती ने अध्यात्म जगत में बडा नाम कमाया। वे सन्त तुलसीदास के समकालीन थे। उन्होने वेदान्त के माध्यम से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और तप का समन्वय किया। उन्होने भगवान नीलाचलनाथ— जगन्नाथ की भक्ति मे समृद्ध वग देश के ज्ञानचक्षु को भजनाञ्जन मे निर्मल किया। मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्त जगत में भगवद्माधुर्यसम्वलित क्रान्ति उपस्थित की। उन्होने कहा कि भगवान

विभु, नित्य, पूर्ण और बोधसुखात्मक है, द्रवित चित्त से उनका ग्रहण करने पर फिर कुछ भी करने के लिये शेष नहीं रह जाता है। उन्होंने भगवान को सम्पूर्ण सौन्दर्यमय, परम रसमय और निश्शेष चिन्मय देखा।

मधुसूदन सरस्वती का जीवन-काल अप्पय दीक्षित के बाद आता है। उन्होंने परिमलकारपद से उनका उल्लेख कर अमित सम्मान प्रकट किया है। अप्पय दीक्षित का परलोकवास सम्वत् १६५० वि में हुआ था, इसलिये यह निश्चित-सा है कि मधुसूदन ने विक्रम की सत्रहवी सदी के उत्तरार्ध में जन्म लिया था, पूर्वार्ध में भी उनकी जन्मतिथि की सम्भावना का अनुमान किया जा सकता है। यह नितान्त निश्चित है कि वे विक्रमीय सत्रहवी शताब्दी में उपस्थित थे।

मधुसूदन सरस्वती का जन्म उत्तम ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके मूलपुरुष राम मिश्र थे। बगाल प्रान्त के फरीदपुर जनपद के कोटाल-पाडा ग्राम में एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण प्रमोदन पुरन्दर रहते थे। मधुसूदन उन्ही के तीसरे पुत्र थे, बाल्यावस्था में उनका नाम कमलजनयन था। वे बचपन से ही प्रतिभासम्पन्न थे। पढने-लिखने में उनका मन बहुत लगता था। उन्होंने न्याय शास्त्र का बडे उत्तम ढग से अध्ययन किया था, उनके शिक्षागुरु हरिराम तर्कवागीश थे। माधव सरस्वती से भी उन्होंने अध्ययन किया था। नवद्वीप-अध्ययन-काल में न्याय के प्रसिद्ध पण्डित गदाधर भट्टाचार्य उनके सहाध्यायी थे। बीस साल की अवस्था में ही मधुसूदन ने नवद्वीप में पूर्णरूप से न्याय शास्त्र का अध्ययन कर लिया। अभी तक वे अविवाहित थे। उनके मझले भाई यादवानन्द न्याय के बहुत बडे पण्डित थे। बाकला राज्य के अधिपति प्रतापादित्य की राजसभा में उन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। एक दिन कमलजनयन मधुसूदन अपने भाई के साथ बाकला की राजसभा में गये। राजा उनकी विलक्षण काव्यशक्ति से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने मधुसूदन से मनचाहा पुरस्कार माँगने का आग्रह किया। मधुसूदन ने तत्काल विचार किया कि राजा की प्रसन्नता से नश्वर विषयसुख के पदार्थ प्राप्त हो सकते है, मुझे तो भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये। उन्होंने राजऐश्वर्य की ओर से दृष्टि फेर ली,

भगवद्भजन को ही अपने जीवन का श्रेय स्थिर कर काशी-गमन का निश्चय किया। उन्होने काशी के लिये प्रस्थान किया। रास्ते में मधुमती नदी के तट पर अवस्थित होकर उन्होंने वडी श्रद्धा और निष्ठा से नदी की उपासना की, नदी मूर्तिमती हो उठी, उसने मधुसूदन को वर दिया। वे काशी गये।

वे काशी में विश्वेश्वर सरस्वती नामक एक दण्डी सन्यासी के मठ में निवास कर शास्त्राध्ययन करने लगे। श्रीधर स्वामी से उन्होने शास्त्रो का अध्ययन किया। विश्वेश्वर सरस्वती ने उनकी प्रतिभा से आकृष्ट होकर अपने पास बुलाया और सन्यास की दीक्षा दी। सन्यास लेने के वाद मधुसूदन सरस्वती ने श्रीक्षेत्र के निकट एक नदी के तट पर सत्रह साल तक कठोर तप कर सिद्धि प्राप्त की।

मधुसूदन वहुत वडे शास्त्रमहारथी थे। ऐसा कहा जाता है कि एक समय किसी परमहस ने उनसे कहा कि शास्त्रज्ञान तो यही पडा रह जायेगा, मुख्य कार्य तो परमेश्वर की भक्ति है। मधुसूदन के हृदय पर परमहस की वात का वडा प्रभाव पडा, शास्त्र आदि के सम्बन्ध में विवाद छोड कर उन्होने भगवद्भक्ति प्राप्त करने में अपने समय का सदुपयोग किया।

श्रीक्षेत्र के निकट नदी तट पर कठोर तप मे प्रवृत हुए। वे नेत्र वन्द कर भगवान के चिन्तन-ध्यान में लग गये। निकटवर्ती प्रदेश में वीरसिंह नाम के एक राजा थे। वे निस्सतान थे। वे सदा चिंतित रहते थे। एक रात को उन्हे स्वप्न हुआ कि मधुसूदन यति की सेवा करने से सतान-प्राप्ति होगी। राजा वीरसिंह उनकी खोज में निकल पडे। सयोग मे वे उसी नदी के तट पर पहुँच गये। मधुसूदन नदी की तलहटी में एकान्त स्थान में तप कर रहे थे। उनके तपस्थान का किसी को पता नही था। राजा वीरसिंह की छावनी के लिये मिट्टी खोदी जा रही थी, मधुसूदन सरस्वती दीख पडे। राजा को दृढ विश्वास हो गया कि मधुसूदन सरस्वती ये ही है। वे उनके चरण पर विनत हो गये। मधुसूदन सरस्वती के लिये एक मन्दिर का निर्माण कराया, राजभोग आदि की राज्य की ओर से व्यवस्था कर दी। इस घटना के तीन साल के वाद मधुसूदन ने नेत्र खोले, वे विस्मित हो उठे और

तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। भगवद्भक्ति का प्रचार उनकी तीर्थ-यात्रा का मुख्य उद्देश्य था।

श्रीक्षेत्र में तप करते समय घोर दुर्भिक्ष पडा। उत्कल के अधिपति महाराज मुकुन्द देव शान्ति के लिये श्रीक्षेत्र आये। उन्होंने मधुसूदन सरस्वती का दर्शन किया। राजा ने निवेदन किया कि अकालग्रस्त प्रजा हाहाकार कर रही है, आप सन्तसमर्थ है, प्रजा की रक्षा कीजिये। मधुसूदन सरस्वती राजा की निष्कपटता और प्रजा के प्रति सद्भावना से बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने आशीर्वाद दिया कि शस्य-वृद्धि होगी और प्रजा दुर्भिक्ष से मुक्ति पायेगी।

एक समय मधुसूदन सरस्वती महाराजा दरभगा की राजसभा में भी गये। बड़े-बड़े दिग्गज शास्त्रज्ञ पण्डितों ने उनके चरण में प्रगाढ श्रद्धा समर्पित कर घोपणा की

'मधुसूदनसरस्वत्या पार वेत्ति सरस्वती।
पार वेत्ति सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती॥'

मधुसूदन सरस्वती ने लोकप्रतिष्ठा की ओर कभी ध्यान ही न दिया। वे तो वेदान्त के अद्वैत राज्य में निर्मल वैराग्य और निष्काम भगवद्-भक्ति के सहारे निष्कटक विचर रहे थे।

अद्वैत मत—वेदान्त के परम ज्ञाता होने के साथ-ही-साथ मधुसूदन उच्च कोटि के निष्काम भक्त थे। उन्होने निर्गुण-सगुण भक्तितत्व का एकीकरण किया। श्रीमद्भगवद्गीता की टीका गूढार्थ दीपिका में उन्होने अनेक स्थलों पर भगवान विष्णु का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। उनकी उक्ति है -

'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा
तन्निर्गुण निष्क्रिय
ज्योति किञ्चन योगिनो यदि
पर पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माक तु तदेव लोचनचमत्काराय
भूयाच्चिर,
कालिन्दीपुलिनेपु यत्किमपि तन्नील महो धावति।'

भगवद्‌भजन को ही अपने जीवन का श्रेय स्थिर कर काशी-गमन का निश्चय किया। उन्होने काशी के लिये प्रस्थान किया। रास्ते में मधुमती नदी के तट पर अवस्थित होकर उन्होने वडी श्रद्धा और निष्ठा से नदी की उपासना की, नदी मूर्तिमती हो उठी, उसने मधुसूदन को वर दिया। वे काशी गये।

वे काशी में विश्वेश्वर सरस्वती नामक एक दण्डी सन्यासी के मठ में निवास कर शास्त्राध्ययन करने लगे। श्रीधर स्वामी से उन्होनें शास्त्रों का अध्ययन किया। विश्वेश्वर सरस्वती ने उनकी प्रतिभा से आकृष्ट होकर अपने पास बुलाया और सन्यास की दीक्षा दी। सन्यास लेने के वाद मधुसूदन सरस्वती ने श्रीक्षेत्र के निकट एक नदी के तट पर सत्रह साल तक कठोर तप कर सिद्धि प्राप्त की।

मधुसूदन बहुत बडे शास्त्रमहारथी थे। ऐसा कहा जाता है कि एक समय किसी परमहस ने उनसे कहा कि शास्त्रज्ञान तो यही पडा रह जायेगा, मुख्य कार्य तो परमेश्वर की भक्ति है। मधुसूदन के हृदय पर परमहस की बात का वडा प्रभाव पडा, शास्त्र आदि के सम्बन्ध मे विवाद छोड कर उन्होने भगवद्‌भक्ति प्राप्त करने में अपने समय का सदुपयोग किया।

श्रीक्षेत्र के निकट नदी तट पर कठोर तप मे प्रवृत हुए। वे नेत्र वन्द कर भगवान के चिन्तन-ध्यान में लग गये। निकटवर्ती प्रदेश में वीरसिंह नाम के एक राजा थे। वे निस्सतान थे। वे सदा चितित रहते थे। एक रात को उन्हे स्वप्न हुआ कि मधुसूदन यति की सेवा करने से सतान-प्राप्ति होगी। राजा वीरसिंह उनकी खोज में निकल पडे। सयोग मे वे उसी नदी के तट पर पहुँच गये। मधुसूदन नदी की तलहटी में एकान्त स्थान में तप कर रहे थे। उनके तपस्थान का किसी को पता नही था। राजा वीरसिंह की छावनी के लिये मिट्टी खोदी जा रही थी, मधुसूदन सरस्वती दीख पडे। राजा को दृढ विश्वास हो गया कि मधुसूदन सरस्वती ये ही हैं। वे उनके चरण पर विनत हो गये। मधुसूदन सरस्वती के लिये एक मन्दिर का निर्माण कराया, राजभोग आदि की राज्य की ओर से व्यवस्था कर दी। इस घटना के तीन साल के वाद मधुसूदन ने नेत्र खोले, वे विस्मित हो उठे और

तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। भगवद्भक्ति का प्रचार उनकी तीर्थ-यात्रा का मुख्य उद्देश्य था।

श्रीक्षेत्र में तप करते समय घोर दुर्भिक्ष पडा। उत्कल के अधिपति महाराज मुकुन्द देव शान्ति के लिये श्रीक्षेत्र आये। उन्होंने मधुसूदन सरस्वती का दर्शन किया। राजा ने निवेदन किया कि अकालग्रस्त प्रजा हाहाकार कर रही है, आप सन्तसमर्थ है, प्रजा की रक्षा कीजिये। मधुसूदन सरस्वती राजा की निष्कपटता और प्रजा के प्रति सद्भावना से बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने आशीर्वाद दिया कि शस्य-वृद्धि होगी और प्रजा दुर्भिक्ष से मुक्ति पायेगी।

एक समय मधुसूदन सरस्वती महाराजा दरभगा की राजसभा में भी गये। बडे-बडे दिग्गज शास्त्रज्ञ पण्डितों ने उनके चरण में प्रगाढ श्रद्धा समर्पित कर घोपणा की.

'मधुसूदनसरस्वत्या पार वेत्ति सरस्वती।
पार वेत्ति सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती॥'

मधुसूदन सरस्वती ने लोकप्रतिष्ठा की ओर कभी ध्यान ही न दिया। वे तो वेदान्त के अद्वैत राज्य में निर्मल वैराग्य और निष्काम भगवद्-भक्ति के सहारे निष्कटक विचर रहे थे।

अद्वैत मत—वेदान्त के परम ज्ञाता होने के साथ-ही-साथ मधुसूदन उच्च कोटि के निष्काम भक्त थे। उन्होंने निर्गुण-सगुण भक्तितत्व का एकीकरण किया। श्रीमद्भगवद्गीता की टीका गूढार्थ दीपिका में उन्होंने अनेक स्थलो पर भगवान विष्णु का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। उनकी उक्ति है.

'ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा
तन्निर्गुण निष्क्रिय
ज्योति- किञ्चन योगिनो यदि
पर पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माक तु तदेव लोचनचमत्काराय
भूयाच्चिर,
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नील महो धावति।'

—ध्यानाभ्यास से मन को वश में कर योगी जन यदि किसी परम निर्गुण निष्क्रिय ज्योति को देखते हैं तो भले ही देखें, हमारे लिये तो यमुनातट पर जो अलौकिक नील ज्योति दौडती फिरती है वही चिरकाल तक नेत्रो को चमत्कृत करती रहे। मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्ति-सिद्धान्त की घोषणा की, गूढार्थ-दीपिका साक्षी है

'प्रमाणतोऽपि निर्णीत कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढु ते मूढा निरय गता ॥'

प्रमाण से भी निर्णीत अद्भुत श्रीकृष्ण माहात्म्य को सहने में जो समर्थ नही है वे मूढ नरकगामी होते हैं। उन्होने अपने समकालीन सम्प्रदायो के सिद्धान्त-समन्वय की भूमिका में कहा

'शैवा सौराश्च गाणेशा वैष्णवा शक्तिपूजका।
भवन्ति यन्मया सर्वे सोऽहमस्मि पर शिव ॥'

शैव, सूर्योपासक, गणेश, वैष्णव और शक्ति जिनमें एक हो जाते है वे ही परम शिव में हूँ। उनका किसी भी सम्प्रदाय से विरोध नही था, उन्होने सर्वत्र श्याम ब्रह्म शिवमय श्रीकृष्ण का ही दर्शन किया। उनका भगवद्दर्शन अद्वैतसिद्धान्त परक होकर भी रूप-रस से सम्पन्न है। उनकी उक्ति है कि वशी विभूपित हाथ वाले, नवीन मेघ के समान कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, लाल बिम्बफल के समान अधरोष्ठ वाले, पूर्ण चन्द्र के समान सुदर मुख वाले, कमल के समान नेत्र वाले श्रीकृष्ण ही परम तत्व है, उनसे परे मैं किसी दूसरे तत्व को जानता ही नही हूँ। इसी कृष्ण-तत्वरसामृतपान के लिये उन्होंने दूसरे जीवों को सावधान किया भक्तिरसायन के आरभ में ही उनकी वाणी है

'ससाररागेण वलीयसा चिर
निपीडितैस्तत्प्रशमेऽति शिक्षितम्।
इद भवद्भिर्वहुधा व्ययातिग
निपीयता भक्तिरसायन वुधा ॥'

ससार की महान विषयासक्ति से पीडित सज्जनो को उसके शमन के लिये इस अव्यय भक्तिरसायन का सेवन करते रहना चाहिये। इस रसायन से ससारराग का प्रशमन हो जाता है। इसी कथन की परि-

पुष्टि में उन्होने कहा कि कुछ विद्वान किसी अनन्त मे चित्त को स्थापित कर विषयान्तर से चित्त शान्त करते है पर हे श्रीकृष्ण मेरा मन आप के चरणकमल से निकलते हुए मकरन्दविन्दु का वार-वार आस्वादन कर प्रसन्न होता है। गूढार्थदीपिका में उनकी उक्ति है

'पराकृतनमद्‌वन्ध पर व्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्व वन्दे नन्दात्मज मह ॥'

ससार-बन्ध को निवृत्त करने वाले, नराकृति सौन्दर्य सार सर्वस्व नन्दनन्दन की मै वन्दना करता हूँ।

उन्होने सत्यज्ञान सुखात्मक विष्णुतत्व का अनुभव किया।

मधुसूदन सरस्वती की साधना-पद्धति विलक्षण थी। उनकी स्वीकृति है –

'न त प्रति कृतार्थत्वात् शास्त्रमारब्धुमिष्यते।
प्राक्‌सिद्ध साधनाभ्यासाद् दुर्ज्ञेया भगवत्कृपा ॥'

भगवत्कृपा अचिन्त्य है, पूर्वजन्म में सिद्ध हुए साधनो के अभ्यास से प्राप्त हो जाती है। जो पूर्वजन्मसिद्ध साधनाभ्यास अथवा जन्म से ही विषय-वैराग्य आदि साधन से सम्पन्न अथवा कृतार्थ है, उसके प्रति शास्त्र का आरभ इष्ट नही है। मधुसूदन सरस्वती की गुरु मे वडी श्रद्धा थी। उन्होने अपनी कृतियो में गुरु के प्रति वडे पूज्य भाव प्रकट किये है। 'सिद्धान्तविन्दु' ग्रन्थ के आरम्भ में उनकी उक्ति है.

'श्रीशकराचार्यनवावतार
विश्वेश्वर विश्वगुरु प्रणम्य।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसाना
वोधाय कुर्वे कमपि प्रवन्धम्।'

सन्त-साहित्य के इतिहास में उन्होने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। सन्तो की कृतियो और मान्यताओ में उनका दृढ अनुराग था। मधुसूदनी गीता के आरम्भ में उन्होने भगवत्पाद-भाष्य के प्रति आदर प्रकट किया है। उनका कथन है.

'भगवत्पादभाष्यार्थमालोच्याऽतिप्रयत्नत ।
प्राय प्रत्यक्षर कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम् ॥'

उन्हे कर्तृत्व का तनिक भी अभिमान नही था। उनका पाण्डित्य अगाघ था पर वे विनयी थे। भगवच्चरणारविंद में अपनी कृति समर्पित करने में उन्होंने परमानन्द का अनुभव किया। प्रसिद्ध कृति अद्वैतसिद्धि म उन्होने स्वीकार किया है·

'कुतर्कगरलाकुल भिषजितु मनो दुर्धिया
मयायमुदितो मुदा विषघाति मन्त्रो महान्।
अनेन सकलापदा विघटनेन यन्मेऽभवत्,
पर सुकृतमर्पित तदखिलेश्वरे श्रीपतौ॥'

द्रवित चित्त की गोविन्दाकारता को ही उन्होने भक्ति-सज्ञा प्रदान की। उन्होंने सन्तमत को भगवान के परमानन्द स्वरूप की माधुरी से–रसमयता से सम्पन्न किया। भागवत की टीका पर उनकी उक्ति है

'अनुदिनमिदमायु सर्वदाऽसत्प्रसङ्गै–
र्बहुविधपरितापै क्षीयते व्यर्थमेव।
हरिचरितसुधाभि सिच्यमान तदैतत्,
क्षणमपि सफल स्यादित्यय मे श्रमोऽत्र॥'

तत्कालीन भारत के वडे-वडे सन्त-महात्मा उनका परिचय प्राप्त कर अपने आप को कृतार्थ मानते थे, उनके सत्सग से परम लाभ प्राप्त करते थे। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति उनके मन में प्रगाढ अपनत्व था। भापा ग्रन्थ रामचरित मानस के प्रचार से काशी की पण्डित-मण्डली ने क्षुब्ध होकर घोपणा की कि यदि मघुसूदन सरस्वती इस पुस्तक को मान्यता प्रदान करेगे तो यह सर्वमान्य होगी। मधुसूदन रामचरित मानस को देख कर वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने अपनी सम्मति प्रदान की

'आनन्दकाननेह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरु।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूपिता॥'

इस काशीरूपी आनन्दवन में तुलसीदास तुलसी के चलते-फिरते पौधा है। उनकी कविता रूपी मञ्जरी वडी सुदर है जिस पर राम-रूपी भ्रमर सदा मँडराया करता है। मधुसूदन सरस्वती के शिष्य

पुरुषोत्तम सरस्वती थे। उनके पाण्डित्य ने अनेक शिष्यो को शास्त्र-महारथी के पद पर प्रतिष्ठित किया।

सन्यास-ग्रहण के पश्चात् एक समय वे अपनी जन्मभूमि का दर्शन करने गये थे, उनकी इस यात्रा से सम्वद्ध नवद्वीप-प्रवेश के समय ऐसा कहा जाता है कि पण्डित-मण्डली कम्पित हो उठी। उक्ति है :

'नवद्वीप समायाते मधुसूदनवाकपतौ।
चकम्पे तर्कवागीश कातरोऽभूत गदाधर।'

मधुसूदन सरस्वती ज्ञानी भक्त और रसिक महात्मा थे। ऐसा कहा जाता है कि सम्वत् १७०७ वि तक वे जीवित रहे। वे अलौकिक सन्त थे, शास्त्रज्ञ महात्माओ के नेता थे। नवद्वीप से काशी तक अध्यात्म-जगत में उनका एकच्छत्र साम्राज्य था। वे सरस्वती के वरद पुत्र थे, भगवद्भक्ति-साम्राज्य में अत्यन्त गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थे।

रचना

वेदान्त कल्पलतिका, महिम्नस्तोत्र टीका, सक्षेप शारीरक व्याख्या, अद्वैतसिद्धि, अद्वैत रत्न रक्षण, प्रस्थान भेद, सिद्धान्तविन्दु, भक्तिरसायन, भागवत व्याख्या, गूढार्थदीपिका आदि मधुसूदन सरस्वती की प्रमुख कृति हैं।

वाणी

वशी विभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्वरादरुणविम्वफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुदरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्पर किमपि तत्त्वमह न जाने॥

जिनके करकमल वशी से विभूषित है, जिनकी नवीन मेघ की-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र है, अरुण विम्व फल के समान अधरोष्ठ है, पूर्ण चन्द्र के सदृश मुख है तथा कमल के-से नेत्र है उन श्रीकृष्ण को छोड कर अन्य किसी भी तत्व को मै नही जानता।

—गूढार्थदीपिका

श्रीगोविन्दपदारविंदमकरन्दास्वादशुद्धाशया
ससाराम्वुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं मह ।
वेदान्तैरवधारयन्ति परम श्रेयस्त्यजन्ति भ्रम
द्वैत स्वप्नसम विदन्ति विमला विन्दन्ति चानन्दताम् ।।

श्री गोविन्दपदारविन्दमकरन्द रस के आस्वाद से पवित्र अन्त-करण वाले ससाररूपी सागर के पार उतरते है, पूर्ण ज्योति ब्रह्म-स्वरूप का अविलम्व दर्शन करते है, वेदान्त द्वारा परम कल्याण का निश्चय करते है, द्वैत भ्रम के स्वप्न का परित्याग कर देते है तथा विमल आनन्द प्राप्त करते है। —गूढार्थदीपिका

भगवान् परमानन्दस्वरूप स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम् ।।

भगवान स्वय परमानन्दस्वरूप है, वे जव मन में प्रवेश कर जाते है तव वह पूर्ण रूप से उन (भगवान) के आकार का होकर रसमय वन जाता है। —भक्तिरसायन

भगवन्त विभु नित्य पूर्ण वोवसुखात्मकम्
यद् गृह्णाति द्रुत चित्त किमन्यदवशिष्यते ।।

द्रवित चित्त जव सर्वव्यापक, नित्य, पूर्ण, चिदानन्दस्वरूप भगवदाकार धारण कर लेता है तव उसके लिये कुछ भी शेप नही रह जाता है।
—भक्तिरसायन

रसिक सम्राट् हितहरिवंश

बडोई कठिन है भजन ढिग ढरिबो।
तमकि सिन्दूर मेलि माथे पर
साहससिद्ध सती कैसी जरिबो।
रण के चाय घायल ज्यो घूमै
मुरै न गरूर सूर कैसे लरिबो।
'नागरीदास' सुलभ जिनि जानौ
श्री हरिवश पंथ पग धरिबो॥

—नागरीदास

वृन्दावन दास चाचा के शब्दो में हितहरिवश रसिक मुकुटमणि थे। हितहरिवश के प्राकटच-काल में देश की राजनैतिक स्थिति विगडती-सी जा रही थी। दिल्ली में हूमायू का आधिपत्य था। सूरी वश केन्द्र में पठान-प्रभुता स्थापित करने के लिये उत्सुक था। प्रान्तीय प्रशासकों की स्वाधीन मनोवृत्ति वादशाही का स्वप्न देख रही थी। धार्मिक क्षेत्र में—विशेषता से भक्तिक्षेत्र में कवीर द्वारा प्रतिपादित और नानक द्वारा समर्थित निर्गुण ज्ञान धारा—सन्तज्ञानधारा के साथ-ही-साथ वैष्णव आचार्यों द्वारा निर्धारित सगुण भक्ति का अविच्छिन्न प्रवाह चल रहा था। नवद्वीप के चैतन्य और दक्षिण के वल्लभ श्रीकृष्णरस की व्याख्या के लिये प्रकट हो चुके थे। साहित्य के क्षेत्र में सूफीसन्त जायसी पद्मावत की रचना में आत्मा-परमात्मा का प्रेम-सम्वन्ध सिद्ध कर रहे थे। ऐसे ऐतिहासिक समय में महात्मा हितहरिवश का भगवद रस सागर में जीवमात्र को निमग्न करने के लिये प्राकटच हुआ। लोकमात्र – जीवमात्र के सम्मुख उन्होने कामना की कि निकुञ्जनव-नागरी केलिप्रिय रसिक शेखर से वृन्दावन प्राणमय है, वे मुझे अपनी प्रियतमा राधारानी के रसमय चरण-कमल में शरण देने की कृपा करे। उनका जन्म मथुरा के निकट वाद ग्राम में सम्वत् १५५६ वि की वैशाख शुक्ला एकादशी को परम पवित्र ब्राह्मण कुल में हुआ था।

उनके पिता व्यासमिश्र महान् धर्मनिष्ठ और भगवद् कृपापात्र थे। माता तारादेवी भी वडी सती-साध्वी थी। माता-पिता के पवित्र पुण्य के पुञ्जीभूतरूप हितहरिवश जी महाराज थे। सारा परिवार उनको प्यार करता था। हितकथामृततरगिणी के एक प्रसग से ऐसा पता चलता है कि उनके जन्म की अलौकिकता से आकृष्ट होकर दिल्लीश्वर हूमायूँ ने शिशुरूप में उनका दर्शन किया था और अपने को परम कृतार्थ माना था। निस्सन्देह वे दिव्य शिशु थे। श्री राधारानी के जन्म-जात ही नही--जन्मजन्मान्तर के ही नही— नित्य भक्त थे। शिशु-काल में 'राधा' नाम सुनकर वे किलकारी मार कर हँसने लगते थे। ऐसी मान्यता है कि छ माह की अवस्था में उन्होने राधासुधानिधि के स्तोत्रो का पाठ किया था, उस समय उनके ताऊ नृसिहाश्रम स्वामी सौभाग्य से उनके निकट थे। वे शिशु के मुख से सरस स्तवन सुनकर आश्चर्य चकित हो गये। उन्होंने समस्त श्लोक लिख लिये। माता-पिता ने उनके लालन-पालन में किसी भी प्रकार की कमी नही रखी।

हितहरिवश का शैशव अद्भुत चमत्कारो से आपूरितहै। एक दिन प्रात काल श्री हरिवश जी अपने उपवन में कुछ समवयस्कोंके साथ वाल-क्रीडा में रत थे। राधा-कृष्ण में उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर लगी रहती थी। उन्होंने दो गोरे और काले वालको में राधा-कृष्ण की भावना की, उन को स-ज्जित कर खेलने लगे। कभी राधा को कृष्ण के और कभी कृष्ण को राधा के स्थान पर वैठा देते थे। ठीक इसी समय उनके पिता, जो राधा कृष्ण के वडे भक्त थे, अपने आराध्य श्रीविग्रहो का शृगार कर ध्यानस्थ थे। ध्यान-भग होने पर देखा कि राधा के स्थान पर कृष्ण है और कृष्ण के स्थान पर राधा है, सोचा कि शृगार करने में भूल हो गयी पर क्षण मात्र में दृश्य फिर वदल गया। वे आश्चर्य में पड गये। घर के वाहर आकर उन्होने उपवन में देखा कि हितहरिवश रूप वदलने का खेल खेल रहे है, उन्होने अपने भाग्य की सराहना की और अपने आत्मज की सिद्ध भगवद्भक्ति से आनन्दमग्न हो गये। इसी प्रकार एक दिन हितहरिवश के पिता ने प्रभात काल में ठाकुर जी का शृगार कर लड्डू का भोग रखा, उन्होने तत्काल ही थाली के निकट दोनो में रखे फलफूल भी देखे। उन्हे इस घटना ने आश्चर्य-चकित कर दिया। वे घर से वाहर आकर उपवन की ओर दौड पडे,

देखा हितहरिवशने दो वृक्षो में राधा-कृष्ण की भावना कर दोनो में फल-फूल का भोग लगाया है। रहस्य उनकी समझ में आ गया। इस प्रकार नित्य-प्रति हितहरिवश की युगल रूप-माधुरी में अनुरक्ति और भक्ति बढती गयी, वे सदा राधा के रूपसागर के अतल तल पर स्थिर रहने लगे। उनकी वाह्याकारिता अन्तर की रसमयता में रूपान्तरित हो गयी। उनका अधिकाश समय एकान्त में वीतने लगा।

धीरे-धीरे वे पाँच साल के हो गये। लोग उन्हे वहुत मानते थे। एक दिन वे उपवन के निकट खेल रहे थे। राधा कृष्ण के मनोमोहक ध्यान में मग्न थे कि अचानक निकटस्थ सूखे कुएँ में गिर पडे। उनके पिता पुत्र की यह दशा देख कर विह्वल हो गये, वे उनको वाहर निकालने के लिये स्वय कुएँ में कूदने ही जा रहे थे कि लोगो ने कुएँ में एक दिव्य प्रकाश फैलते देखा। हितहरिवश श्याम सुदरकी एक सुदर मूर्ति को लेकर वाहर आ गये। कुआँ जल से भर गया। हितहरिवश ने अपने नये श्यामसुन्दर के विग्रह का नाम नवरगीलाल रखा। वे नवरगी लाल ठाकुर की विधिपूर्वक पूजा-अर्चा करने लगे। कुछ दिनों के वाद राधारानी ने उन पर कृपा की, दर्शन दिया तथा मन्त्र दिया। इस प्रकार हितहरिवश ने राधारूपी गुरु का शिष्यत्व-सौभाग्य पाया। आठ वर्ष की अवस्था में उनका उपनयन-सस्कार हुआ और सोलह साल के होते-होते वे रुक्मिणी देवी से विवाहित कर दिये गये। थोडे समय के वाद उनके मातापिता का देहान्त हो गया। इस घटना से वे वहुत प्रभावित हुए। उन्होंने वृन्दावन में रहने का निश्चय किया। नवरगी लाल की सेवा घरवालो पर सौंप कर वे श्रीकृष्ण और राधा के परम मधुर दिव्य रमणस्थल वृन्दावन के लिये चल पडे। वे पूर्णानुरागरससागरसारमूर्ति श्रीराधा की कृपा का स्मरण करते चले जा रहे थे। उन्होने मार्ग में चिडथावल ग्राम में आत्मदेव नामक ब्राह्मण से भेंट की। ब्राह्मण ने उनको राधावल्लभ की मूर्ति दी। हितहरिवश वृन्दावन की सुषमा का चिन्तन करते हुए आगे वढने लगे। उन्होने वृन्दावन में आकर सेवा कुज में निवास स्थिर किया। राधा वल्लभ की स्थापना की। गृहस्थ वेष में रह कर भजन करने लगे। श्रीराधाकृष्ण के लीलाविलास-सम्वन्धी पदो की रचना करने लगे। उनकी काव्यवाणी परम मधुर है। उनको श्रीकृष्ण की वशी का अवतार

स्वीकार किया जाता है। वे राधा वल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इस सम्प्रदाय में प्रेम शृगार के सयोग लीला-विलास का ही आश्रय लिया जाता है, वियोग शृगार की मान्यता ही नही है। कृष्ण राधा से कभी अलग ही नहीं होते हैं, वे उनके साथ नित्य विहार करते रहते है। श्रीराधा कृष्ण की निकुज केलि के चिन्तन का आनन्द ही परमरस—मधुर भाव है। इस सम्प्रदाय में इसी रस का अनुभव किया जाता है। हितहरिवश ने श्रीराधा की उपासना पर जोर दिया, उनकी उपासना और प्रसन्नता से ही कृष्णभक्ति का आनद प्राप्त होता है—ऐसी उनकी विज्ञप्ति है। उनका कथन है

'वैदग्ध्यसिंधुरनुरागरसैकसिन्धु
र्वात्सल्यसिन्धुरतिसाद्रकृपैकसिन्धु ।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धु
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धु ।'

निस्सन्देह हितहरिवश राधाभाव की उपासना-पद्धति के असाधारण आचार्य थे। बडे-बडे समकालीन रसोपासक सन्तो से उनका घनिष्ठ परिचय था। अष्टछाप के सन्त कवियो के प्रति वे विशेष आकृष्ट थे। महात्मा हरिदास स्वामी से उनकी गहरी छनती थी। व्यासदास उनकी उपासना-पद्धति के समर्थक ही नही अनुयायी भी थे। महाकवि सूरदास से भी कभी-कभी हितहरिवश जी का सत्सग हो जाया करता था। हितहरिवश जी रसकी राजधानी में—वृन्दावन की परम पवित्र दिव्य भूमि में रात-दिन कोटि-कोटि रसराज-सेवित राधारानी के चरणारविंद-मकरन्द का पान करने में ही आत्मा की मुक्ति और परमात्मा की प्राप्ति समझते थे। वे तो रात-दिन कहा करते थे

'रसना कटौ जु अन रटौ, निरखि अन फुटो नैन।
स्रवन फटौ जु अन सुनी, बिन राधा जस बैन।'

राधा मे उनकी दृढ अनन्यता थी। उन के सरस चरण का शीतल आश्रय ही उनके लिये परम सुखद था। उनकी उक्ति है

'वृन्दावनेश्वरि तवैव पदारविन्द
प्रेमामृतैकमकरन्दरसौघपूर्णम्
हृद्यर्पित मधुपते स्मरतापमुग्र
निर्वापयत्परमशीतलमाश्रयामि ।'

हितहरिवंश रस-उपासक थे, ब्रह्मानन्द से परे परमानन्दरस की प्राणशक्ति श्रीराधारानी के चरणकिंकर थे। व्रजकाव्य की रसचिंतन परम्परा में गोस्वामी हितहरिवंश ने पर्याप्त श्री-वृद्धि की। यद्यपि व्रज-काव्य का रस तो पूर्णतम हैं तथापि हितहरिवंश की महती देन की उपेक्षा नही की जा सकती है। उनकी रस-चिन्तन-पद्धति मौलिक होते हुए भी वेद-पुराण द्वारा प्रतिपादित थी। उन्होने स्वकीया-परकीया भाव से परे राधा-प्रेम की पूर्णता स्वीकार की। जब दर्शन और साहित्य का समन्वय होता है तब धरती पर भगवान का रस-अवतार होता है। भगवान की रस-अभिव्यक्ति श्रीराधा हैं — ऐसी हितहरिवंश की स्वीकृति है. भगवान कृष्ण की सर्वोत्तमा सिद्धि श्री राधा हैं, राधा के लिये शृंगाररस रूपमय हो जाता है। महात्मा हितहरिवंश की सरस उक्ति है :

'यस्या कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी,
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि।'

हितहरिवंश रसमार्गी सन्त थे, भक्तिरस के दार्शनिक कवि थे। उनका कथन है

'सा राधेति सदा हृदि
स्फुरतु मे विद्या परा द्वयक्षरा।'

राधा रूपिणी पराविद्या का विज्ञान समझ लेने पर जीव के लिये किसी अन्य आश्रय की आवश्यकता ही नही रह जाती है, यह विज्ञान दिव्यतम, मधुरतम और सुन्दरतम है। राधा सुधानिधि में हितहरिवंश का वचन है मधुर उद्गार है.

'राधानामसुधारस रसयितु
जिह्वास्तु मे विह्वला,
पादौ तत्पदकाकितासु चरता
वृन्दाटवी वीथिपु।
तत्कर्मैव कर करोतु हृदय
तस्या पद ध्यायतात्तद्भावोत्सवत पर भवतु,
मे तत्प्राणनाथे रति'

हित हरिवश ने कहा कि यदि जीव वास्तविक सुख चाहता है तो उसे अपना शरीर सत्सग में रखना चाहिये, मन प्रेमरस में सरावोर रखना चाहिये, सदा कृष्णकल्पतरु का सेवन करना चाहिये। हितहरिवश की वाणी चिन्मय युगल-विहार की अमृत लहरी से स्निग्ध और सिक्त है। गोस्वामी हितहरिवश के भगवद्‌भजन की रीति अद्‌भुत है। उन्होने राधारानी के चरणो को हृदय में धारण कर श्रीकृष्ण की उपासना की। युगल केलि के कैंकर्य—दास्य को जीवन का श्रेय वताया। हितहरिवश ने भगवान् की नित्य लीला प्रकट की। उनके सम्वन्ध में वचन मिलता है

'चन्द्रोनश्यतु सूर्यो वा नश्येत्त्रिगुणवैभव
दृढ श्रीहरिवशस्य विहारो नान्यथा भवेत्।'

रावावल्लभीय सम्प्रदाय में राधा की महिमा अनन्त और अपार स्वीकार की गयी है। ऐसा कहा जाता है कि श्रीप्रिया जी ने ललिता को रास-मण्डल की रचना करने का आदेश दिया। उन्होने कहा कि उस रास-मण्डल में हम दोनो प्रिया-प्रियतम रासक्रिया में स्थित होंगे, तुम लोग परिक्रमा करना।" प्रिया-प्रियतम ने अभ्यन्तर निकुज में प्रवेश किया। रास-क्रिया में राधा की नूपुरध्वनि से ब्रह्म का प्राकट्य हुआ, तदनन्तर माया से परे महत्तत्व—पुरुष का प्राकट्य हुआ, नारायण स्वय आविर्भूत हुए और नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा प्रकट हुए।

राधातत्व की प्राप्ति और अनुभूति के लिये वडी-से-वडी तपस्या का वरण करना पडता है। रावावल्लभीय सम्प्रदाय में राधा तत्व की वडी महिमा है, हितहरिवश इस तत्व के परम ज्ञाता हीनही, अनुभवी भी थे। हितहरिवश की उपासना सखीभाव की थी। दास्य और कैंकर्य में—सख्य और प्रेम में हितहरिवश ने रावाकृष्ण की मधुर भक्ति का माध्यम स्थिर किया। आचार्य ने विशुद्ध भगवत्प्रेम का 'राधासुधानिधि' में साहित्यीकरण किया। उनकी परम मार्मिक उक्ति है.

'यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमेपदेऽथवा।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥'

मै अपने जन्म-कर्मानुसार नरक में जाऊँ या परमपद प्राप्त करूँ, सर्व त्र मेरे हृदय में श्री राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा

विराजित रहे। हितहरिवंश को राधा का चरण-कैंकर्य अत्यन्त प्रिय था। उनकी परमाकाक्षा राधा के मुख-सौन्दर्य-अवलोकन में ही विशेष अभिव्यक्त है, उक्ति है .

'सत्प्रेमराशिसरसो विकसत्सरोज
स्वानन्दसिन्धुरससिन्धुविवर्द्धनेन्दुम्
तच्छ्रीमुख कुटिलकुन्तलभृंगजुष्ट
श्रीराधिके तव कदा नु विलोकयिष्ये।'

हितहरिवश ने राधाकृष्ण के असीम विहार-सौन्दर्य का आजीवन चिंतन किया। वे माधुर्य ब्रह्म कृष्ण और उनकी प्राणेश्वरी राधारानी का ही विलास निरन्तर देखते रहे। उनकी स्वीकृति है

"पौढे प्यारी राधिका सग स्याम।
कनक मणिमय जगमगात अति रग महल निज धाम।
परे परदा सरस सुंदर सहचरी ढिग भाम।
सुरति केलि विलास विलसत राधिका भुज वाम।
किये रसवस प्रान प्रिय को लूटि सब निसि काम।
जान्यो न 'हितहरिवश' बीतत जात वासर याम।"

महात्मा हितहरिवंश ने वृन्दावन में नित्य वसन्त का विलास पाया। वशीवट पर सदा मीठी-मीठी दिव्य वशी ध्वनि का श्रवण किया। उनके नयनो ने नित्य रास का दर्शन किया।

सम्वत् १६०९ विक्रमीय की शारदीय पूर्णिमा उनके जीवन की अन्तिम तिथि थी। वे आनन्दमग्न होकर शारदीय चाँदनी में प्रिया-प्रियतम के पूर्णतम रास-विहार का दर्शन कर रहे थे, उनकी वाणी स्पन्दित थी

'आज गोपाल रासरस खेलत
पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।
शरद विमल नभ चन्द विराजत,
रोचक त्रिविध समीर री सजनी।
चम्पक वकुल मालती मुकलित
मत्त मुदित पिक कीर री सजनी।

सन्त मीराबाई

वंशीविभूषित करान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।

जिनके करकमल वंशी से विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघ की-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं, अरुण विम्बफल के समान अधरोष्ठ हैं, पूर्ण चन्द्र के सदृश सुन्दर मुख और कमल के-से नयन हैं, उन भगवान श्रीकृष्ण को छोड कर अन्य किसी भी तत्व को मैं नहीं जानता हूँ।

——मधुसूदन सरस्वती

सन्त मीराबाई के नाम का स्मरण होते ही हृदय-वीणा के सरस तार झंकृत हो उठते हैं, चितवृत्ति में प्रेम-भक्ति की गगा-यमुना लहरा उठती है, मन सरसता के सागर में आलोडित हो उठता है। वे अभिनव राधा थी, गोपीप्रेम की चिन्मय वाणी थी। उन्होने ब्रजराजेश्वर के रस का आस्वादन करने के लिये चित्तौड के राजवैभव की उपेक्षा कर दी। भारत का मध्यकाल भक्ति का स्वर्ण युग था। ज्ञानधारा के साथ-ही-साथ सूर और तुलसी ने सगुणभक्ति की प्रेममयी मन्दाकिनी वहा दी। जनता भगवान के लोकरक्षक और लोकरञ्जन स्वरूपो से परिचित हो गयी। अयोध्या, मथुरा, श्रीरग, नदिया, जगन्नाथपुरी और पण्ढरपुर तथा द्वारिका आदि में भक्त कवियो और रसिक सन्तो की वाणी व्याप्त हो रही थी। मीरा ने अपनी व्यक्तिगत साधना से केवल अपना ही कल्याण नही किया, उन्होंने साहित्य, समाज और देश का वहुत वडा हित किया। उनकी अलौकिक तपस्या ने सिद्ध कर दिया कि राजमहल में रहनेवाली राजरानी राजकीय वैभवो पर लात मार कर व्रज की गली-गली में भगवान की खोज करने में आकाश-पाताल एक कर सकती है, पाषाण में प्रतिष्ठित भगवत्प्रतिमा से प्रत्यक्ष सलाप कर सकती

मीराबाई

सत रवि साहब

है। मीराबाई कृष्णमयी थी। उनके नयनों में सदा नन्दनन्दन बसते हैं। उन्होंने सदा कृष्ण की साँवरी रसमयी केलि चित्रित करते रहते थे। उन्होंने सदा कृष्ण की साँवरी रूप-मधुरिमा का दर्शन करते रहने का अनुष्ठान किया। मनों को सुख देने वाले भक्तवत्सल गोपाल का ध्यान उनका प्राण-धन था। मीरा ने अपने चरित्र में भागवतगत गोपी-प्रेम का सत्य चरितार्थ किया, उनके पदो में उनकी रसानुभूति की वास्तविकता का दर्शन होता है। मीराबाई की जीवन-कथा भक्ति की मध्यकालीन सरस प्रतीकों में एक महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। यदि राजरानी मीरा का प्राकट्य न होता तो यह असंदिग्ध बात है कि मध्यकालीन साहित्य की सरस भक्ति का इतिहास अधूरा रहता। उनकी कृष्णभक्ति और वैराग्य-वृत्ति सन्त शिरोमणि तुलसीदास द्वारा मान्य, जीवगोस्वामी द्वारा समर्थित और सन्त रैदास की कृपा से समृद्ध थी। मीरा बाई का जन्म सम्वत् १५६० वि के लगभग राजस्थान के मेड़ता परगने के कुड़की गाँव में प्रसिद्ध राठौर वंश में हुआ था। वे जोधपुर के संस्थापक राव जोधा जी की प्रपौत्री, मेड़ता के राव दूदाजी की पौत्री और रत्नसिंह जी की पुत्री थी। उनका लालन-पालन प्रसिद्ध भक्त जयमल जी के साथ हुआ था जिनकी सराहना नाभा जी ने भक्तमाल में की है। जयमलजी मीरा के ताऊ वीरम जी के पुत्र थे। मीरा की उक्ति है:

'मेडतिये घर जन्म लियो है, मीरा नाम कहायो।'

बाल्यकाल से ही मीरा में भगवद्भक्ति के संस्कार जागृत होने लगे थे। मीराबाई जब दस साल की थीं, उनके घर पर एक सन्त का समागम हुआ। सन्त के पास एक सुन्दर भगवद्मूर्ति थी। मीराबाई का मन मूर्ति के सौन्दर्य पर आकृष्ट हो गया। साधु ने उनको मूर्ति दे दी। सन्त ने कहा कि यह भगवान गिरिधरलाल की मूर्ति है, इसका सावधानी से पूजन करना चाहिये। सन्त के जाने के बाद गिरिधरलाल मीरा के प्राणधन हो गये। वे मूर्ति को स्नान कराने, चन्दन लगाने आदि में ही व्यस्त रहती थीं। एक दिन मीरा ने बरात देखी। अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे, बारात विचित्र ढंग से सजायी गयी थी। मीरा ने घरवालों से पूछा कि मेरा दूल्हा कौन है? उत्तर मिला गिरिधरलाल नन्दनन्दन ही पति हैं। उसी दिन से मीरा ने

नन्दनन्दन को अपना पति मान लिया। वे अल्पावस्था से ही भक्तिपूर्ण पदो की रचना करने लग गयी थीं, अब तो वे आधी-आधी रात तक अपने गिरिधर को पद रच कर सुनाया करती थी। उन्हे स्वप्न में भी अपने इष्टदेव का दर्शन होने लगा उनका पद है

'माई म्हाँने सुपने वरी गोपाल।
राती पीती चूनडी ओढी, मेहदी हाथ रसाल॥
काँई और कू वरूँ भाँवरी, म्हाँ के जग जँजाल।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर करी सगाई हाल॥'

मीरा का समय भगवान श्यामसुन्दर के रूपसौन्दर्य-चिंतन में बीतने लगा। घरवाले उनकी भक्ति-वृत्ति से बहुत प्रसन्न रहते थे। उनके घर में कृष्ण-प्रेम साकार हो उठा।

यथासमय चित्तौड के अधिपति महाराणा सागा के ज्येष्ठ पुत्र कुमार भोजराज के साथ मीरा का विवाह कर दिया गया। विवाह-मण्डल में मीरा ने गिरिधरलाल की मूर्ति रख दी थी। कुमार के साथ फेरे लेते समय मीरा ने गिरिधर के साथ भी फेरे लिये। उन्होने सोचा कि हाड-माँस के नश्वर पुतले से विवाह करने की अपेक्षा अजर, अमर और अविनाशी नन्दनन्दन को अपना पति स्वीकार कर लेना अधिक श्रेयस्कर है। वे गिरिधर गोपाल की मूर्ति लेकर चित्तौड आयी। राज-महल में साक्षात् कृष्णभक्ति ने ही मीरा के रूप में प्रवेश किया।

ससुराल में आने पर सास उनकी उपासना और पूजा-शैली से चिढ कर बात-बात में उपेक्षा करने लगी। मीरा से वह जलने लगी। चित्तौड के राजमहल में मीरा ने कृष्णभक्ति की धूनी रमायी। सास और ननद ऊदाबाई ने सोहाग को अक्षुण्ण रखने के लिये मीरा को गौर-पूजन के लिये उत्साहित किया पर मतवाली राजरानी ने कहा कि मेरे तो पति गिरिधरलाल है, वे अमर है इसलिये मेरे सोहाग की अमरता का प्रश्न ही नही उठता है। मीराने रनिवास में अभय होकर घोषणा की

'बाला मै वैरागण हूँगी।
जिन भेषाँ म्हारो साहिब रीझे, सोही भेष धरूँगी॥

सील सँतोष धरूँ घट भीतर, समता पकड रहूँगी।
जाको नाम निरञ्जन कहिये, ताको ध्यान धरूँगी ॥
गुरु के ज्ञान रगू तन कपडा मन मुद्रा पैरूँगी।
प्रेम-प्रीत सू हरि गुण गाऊँ चरणन लिपट रहूँगी ॥
या तन की मैं करूँ कीगरी, रसना नाम कहूँगी।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, साधाँ सग रहूँगी ॥'

चित्तौड की राजरानी लोकलज्जा छोड कर झाँझ-करताल वजा कर गोविन्द को रिझाये और गाये—'तेरो कोई नही रोकणहार मगन होइ मीरा चली', राणा के परिवार के लिये यह वात असह्य थी। पर इधर तो गजव मस्ती थी, कुछ और ही ढग था। श्याम रग की तरग में जिनका मन वह रहा था, उन पर दूसरे का रग चढता ही किस तरह? दूर-दूर से भक्तमण्डली आने लगी। राजपरिवार मीरा के तपोमय जीवन में विघ्न डालने के लिये कटिवद्ध था पर भगवान की उपासिका का अमगल करने वालों का चेहरा काला पड गया। जिन नयनो में नन्दलाल वसते थे उनमें विश्व के वडे-से-वडे सौन्दर्य के लिये स्थान भी तो नही था। चित्तौड का राजप्रासाद शक्ति से परिपूर्ण तो था ही, राजरानी मीरा के आगमन से वह भक्ति से समृद्ध और सम्पन्न हो उठा। कुमार भोजराज को मीरा सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी। भोजराज का मीरा के प्रति व्यवहार अत्यन्त शिष्ट और सयमित था। एक वार उनकी वहिन ऊदा ने कुमार से शिकायत की कि मीरा तो रात में मन्दिर का पट वन्द कर न जाने किस पुरुप से आधी रात में वाते करती रहती है। कुमार भोजराज पट के वाहर खडे हो गये। मीरा एकान्त में अपने प्राणप्रियतम गिरिधरलाल के विग्रह से प्रेम-सलाप कर रही थी। कुमार को ऐसा लगा कि कोई दूसरा व्यक्ति भीतर वैठा है। उन्होंने तलवार खींच ली, भीतर जाकर मीरा से पूछा, मीरा ने कहा कि मैं तो गोपाल लाल से वाते कर रही थी, मै इस जीवन में किसी दूसरे पुरुप को जानती ही नही। भोजराज ने कोना-कोना छान मारा, अन्त में उन्हे अपनी करनी पर वडा पश्चात्ताप हुआ। कुमार ने उनके लिये किले से थोडी दूर पर रणछोड जी का एक मन्दिर वनवा दिया। मीरा उसमें निवास कर सतो की मण्डली

में भजन-पूजन करने लगी। राजमर्यादा के लिये यह बात असह्य हो गयी। उनके साधन में अनेक विघ्न उपस्थित होने लगे। मीरा एक दिन आधी रात को गिरिधर के विरह से घायल होकर निकल पड़ी। अपने राज्य में ही एक नदी में डूब कर उन्होंने प्राणान्त करने का निश्चय किया। वे नदी में कूदने ही वाली थी कि भगवान गोविन्द का उन्हें साक्षात्दर्शन हुआ। भगवान ने श्रीमुख से आदेश दिया कि मेरा राज्य वृन्दावन है, वृन्दावन भक्ति-साम्राज्य है, उसमें प्रवेश कर मेरा भजन करना ही कर्तव्य है। राजरानी मीरा राजमर्यादा और लोकशील को ताक पर रख कर वृन्दावन के लिये चल पड़ी, उन्होंने बड़ी प्रसन्नता और प्रेमोन्माद से व्रज में प्रवेश किया। मीराबाई का कोमल संगीत व्रज के कण-कण में गूंज उठा। सन्त उनके गीत गा-गा कर भगवान को रिझाने लगे। वैराग्य का बाना पहन कर राणा सांगा की कुलवधू ने घोषणा की

'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगुट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बधु आपनो न कोई॥
छोंडि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई॥
चूनरी के लिये टूक ओढ लीन्ही लोई।
मोती मूंगे उतार वनमाला पोई।
असुवन जल सींचि सींचि प्रेम वेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणंद फल होई॥
दूध की मथनियाँ बड़े प्रेम से विलोई।
माखन जब काढि लियो छाछ पियै कोई॥
भगत देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी 'मीरा' लाल गिरिधर तारो अब मोई॥'

प्रत्येक मन्दिर में मीराबाई के आगमन के सम्बन्ध में बात होने लगी। कुमार भोजराज उन्हें व्रज से वापस लेने गये। मीरा ने राणा सांगा के वंशज से कहा कि मै तो गोविन्द का गुण-गान करती हूँ, उनका दर्शन करना और चरणामृत का पान करना मेरा नित्य का

नियम है, मैं पैरो में घुघरू बाँध कर उनके मन्दिर में नित्य नृत्य और कीर्तन करती हूँ। भोजराज ने समझाकर उन्हे चित्तौड चलने के लिये राजी कर लिया। वे पति के कहने से चित्तौड आ गयी और हरि का भजन करने लगी। सम्वत् १५८० वि के लगभग कुमार भोजराज का देहान्त हो गया। राणा सागा ने भी परलोक-गमन किया। विक्रमसिंह अथवा रतनसिंह चित्तौड के राणा हुए। ऊदावाई के सकेत पर उन्होंने मीरा को सताना आरम्भ किया, अनेक प्रकार के कष्टो से उनकी चित्तवृत्ति फेरने की चेष्टा की पर उनके समस्त प्रयत्न निष्फल हो गये। मीरावाई की गिरिधर नागर में आसक्ति वढती गयी।

राजरानी मीरा की प्रसिद्धि सुनकर तानसेन के साथ दिल्लीश्वर अकवर ने वैष्णव वेष में आकर उनका दर्शन किया और चलते समय रणछोड को एक वहुमूल्य हार की भेंट की। दूसरे दिन राणा विक्रम को अकबर के आगमन का पता चला, वे क्रोधोन्मत्त हो उठे। उन्होने मीरा को बडी-से-बडी यातना दी। उनका अत्याचार पराकाष्टा पर पहुँच गया। राणा ने उनके जीवन का अन्त कर डालने के लिये विषका प्याला और काला नाग भेजा। पर काल उनका कुछ भी न विगाड सका। मीरा की दशा तो विचित्र हो गयी -

'मीरा मगन भई हरि के गुण गाय॥
साँप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जव देखन लागी, सालिगराम गई पाय॥
जहर का प्याला राणा भेज्या, इम्रत दिया वनाय।
न्हाय धोय जव पीवन लागी, हो गई अमर अँचाय॥
सूली सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरा सुवाय।
साँझ भई मीरा सोवण लागी, मानो फूल विछाय॥
'मीरा' के प्रभु सदा सहाई, राखे बिघन हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती, गिरिधर पर वलि जाय॥'

प्रेमयोगिनी मीरा को अपने भगवान के बल पर पूरा-पूरा विश्वास था। उनमें दृढ आस्था थी। उन्होंने राणा को दिखला दिया: 'थारी मारी न मरूँ, मेरो राखणहारा और।'

जिस राजमहल में राग-रंग होता था, दूर-दूर देशो के सगीतज्ञ और कलाकार अपनी कला का परिचय देते थे उसी में सीसोदिया कुल की एक राजरानी ने भगवान का गुण गाकर सारा वातावरण भक्तिभाव से ओत-प्रोत कर दिया।

'पग घुघरू बाँध मीरा नाची रे॥
लोग कहैं मीरा भई रे बावरी, सास कहै, कुलनासी रे।
विष को प्यालो राणाजी भेज्यो, पीवत मीरा हाँसी रे॥
मै तो अपने नारायण की आपहि हो गई दासी रे।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर सहज मिल्या अविनासी रे॥'

समस्त राजपरिवार मीरा का वैरी हो गया। रास्ते के फूल कण्टक वन गये। मीरा के अग-अग में भक्ति की धारा प्रवाहित हो उठी। सीसोदिया कुल के राणा भले ही रूठ जाय, 'म्हे तो गोविंद का गुण गास्या हो माई।'– की तीव्र भाव-भगिमा उनके अधरो के स्पन्दन में आलोडित थी। उन्होने अच्छी तरह समझ लिया था कि ऐसा जन्म वार-बार नही मिला करता है, इसलिये हरि का भजन ही उनके जीवन का एक मात्र शृगार हो गया।

राणा विक्रम के अत्याचारो से उत्पीडित होकर मीरा ने सत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास को पत्र लिखा, अपने जीवन का वकील चुना तुलसीदास की राजसभा में ही उन्हें उचित न्याय मिलने की आशा थी। राजरानी ने उनके दरवार में आवेदन भेजा

'स्वस्ति श्री तुलसी कुल भूपण दूपण हरण गुसाईं।
वारहिंवार प्रणाम करहुँ, अव हरहु सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सवन उपाधि वढाई।
साधुसग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
सो तो अव छूटत नहिं क्यों हूँ, लगी लगन वरियाई।
वालपणें से मीरा कीन्ही गिरिधर लाल मिताई॥
मेरे मात-पिता के सम हो, हरिभगतन सुखदाई।
हमकू कहा उचित करिवो है, सो लिखियो समुझाई॥'

राघवेन्द्र के पदारविन्द-मकरन्द में रात-दिन डूवे रहने वाले महात्मा ने भक्त-हृदय की वेदना समझ ली। उन्हे इस वात का तनिक भी

ध्यान नही था कि यदि उत्तर महाराणा के हाथ में पडेगा तो उसका भयानक परिणाम हो सकता है। राम-भक्त की वाणी ने अभय होकर उत्तर भेजा.

'जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद,' विभीषन बधु, भरत महतारी।
वलि गुरु तज्यो, कत व्रज वनितनि, भये मुद मगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लो।
अजन कहा आँखि जेहि फूटे वहुतक कहौं कहाँ लो॥
तुलसी सो सव भाँति परमहित, पूज्य, प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो॥'

आशा के अनुरूप उत्तर पाकर मीरा का हृदय गद्गद हो उठा। नयनों में प्रेम की अश्रुधारा वहने लगी। अग-अग में रोमाञ्च होने लगा। मन में प्रेम की घटा उमड आयी। राजरानी ने महल की ओर देखा, उन्होने ऐश्वर्य के भौतिक पुतले से विदा माँगी, चित्तौड की पवित्र भूमि की वन्दना की। गिरिधर नागर ने अपनी लीलाभूमि में चलने का सकेत किया, उन्होने मन से कहा :

'चलो मन गगा-जमुना तीर॥
गगा-जमुना निरमल पानी सीतल होत सरीर।
वसी वजावत गावत कान्हो, सग लिये वलवीर॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, कुण्डल झलकत हीर।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर चरणकवल पै सीर॥'

ऊदाबाई ने मीरा को रोकना चाहा, ऊदा का मन वदल गया था पर मीरा तो गिरिधर प्रियतम के दर्शन के लिये आकुल थी। वे व्रजयात्रा के लिये निकल पडी। मन व्रजधाम की शोभा देखने के लिये आकुल था। वे पूर्ण रूप से प्रेमोन्मत्त थी, हृदय में भगवद्विरह की आग जल रही थी वे गाती जा रही थी.

'मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर म्हाँरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥

रैण पडै तबही उठ जाऊँ, भोर भये उठ आऊँ।
रैण-दिना वाके सग खेलू, ज्यूँ-त्यूँ ताहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उण की प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ॥
जहँ बैठावे तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर वार-बार बलि जाऊँ॥'

वे अपने प्रियतम के देश में पहुँच गयी। ब्रज भूमि की माधुरी से सिक्त श्याम सुन्दर के चिन्मय रूप-सौन्दर्य का आलिगन कर वे धन्य हो गयी। ब्रज की रीति-नीति निराली थी। मीरा ने देखा कि ब्रज में दही बेचने वाली दही का नाम न लेकर कहा करती है कि कोई 'श्याम सलोना' ले लो। उन्हे ब्रज में परमानन्द का अनुभव हो गया, कण-कण में प्राण की अमृत-मन्दाकिनी का विलास हो उठा। मीरा-बाई ने निस्सकोच स्वीकार किया .

'माई री मै तो लियो गोविन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै छुपके, लियो री बजन्ता ढोल॥
कोई कहै मुँहघो कोई कहै सुहँघो, लियो री तराजू तोल॥
कोई कहै कारो, कोई कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल॥
कोई कहै घर में, कोई कहै वन में, राधा के सग किलोल।
'मीरा' को प्रभु दरसण दीज्यो, पूरब जन्म को कोल॥'

वे ब्रज भूमि में रह कर बहुत दिनो तक सन्तों का सत्सग करती रही। भगवान श्रीकृष्ण की पूर्ण प्रेमप्राप्ति में ही उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। अपने समकालीन सन्तों से वे बहुत प्रभावित थीं। तुलसीदास की महानता के सम्मुख वे विनत थी। सन्त रैदास की वाणी और कृपा से वे धन्य हो गयी। उन्होने अपने पदों में कही-कही महात्मा रैदास का उल्लेख किया है और उनकी कृपा के प्रति आभार प्रकट किया है। उनकी उक्ति है ·

'मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी॥
जब जब सुरत लगी वा घर की, पल पल नैना पानी।
रात दिवस मोहे नीद न आवत, भावे अन्न न पानी॥

ऐसी पीर विरह तन भीतर, जागत रैन विहानी।
कासो पीर कहूँ तन की री, पीर में भरमूं खानी॥
खोजत फिरूँ वैद वा घर को, कोई न करत वरवानी।
सत रैदास मिले मोहिं सतगुरु, दीनी सुरत सहदानी॥
मैं मिली जाय, पाये पिया अपने, तव मेरी पीर बुझानी।
'मीरा' खाक खलक सिर डारी, मैं अपना घर जानी॥'

मीरा ने रैदास के प्रति अमित श्रद्धा प्रकट की है। गौडीय वैष्णव भक्ति से भी वे अमित प्रभावित थी। एक वार वे गौडीय महात्मा जीव गोस्वामी से मिलने गयी थी। गोस्वामी जी ने यह कह कर कि 'मैं स्त्रियो से नहीं मिलता' मिलना अस्वीकार कर दिया। गिरिधर नागर की सहेली मीरा ने कहला भेजा, 'मैं तो समझती थी व्रज में पुरुष केवल एक श्रीकृष्ण ही हैं पर यह जान कर आश्चर्य हुआ कि एक और भी है।' इतना सुनकर जीव गोस्वामी उनसे नगे पाव मिलने दौड पडे। मीराबाई ने अपने एक पद में गौर हरि चैतन्य का भी नाम लिया है.

'अव तौ हरी नाम लौ लागी।
सव जग को यह माखन चोरा, नाम धर्यो वैरागी॥
कित छोडी वह मोहन मुरली, कित छोडी सव गोपी।
मूड मुँडाइ डोरी कटि वाँधी, माथे मोहन टोपी॥
मात जसोमति माखन कारन, वाँधे जाके पाँव।
स्याम किसोर भयो नव-गौरा, चैतन्य जाको नाँव॥
पीताम्वर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
गौर-कृष्ण की दासी 'मीरा', रसना कृष्ण वसै॥'

मीरा केवल भक्त ही नही, भावुक कवि भी थी। कविता उनकी भक्ति का अलकार है। उनका काव्य हृदय का काव्य है। गिरिधर गोपाल ही उनके काव्य के नायक है। उनकी उपासना मधुर भाव की थी। उन्होंने अपने पदो और गीतों में भगवान का पतिरूप में स्मरण किया है। वे प्रेमयोगिनी थी। भगवान कृष्ण ही उनके प्राणाधार थे। उन्होंने अविनाशी के चरणकमल का भजन करने के लिये मन को

बार-बार समझाया है कि धरती और गगन के बीच में जो कुछ भी दीख पड़ता है वह सब उठ जायेगा। शरीर मिट्टी में मिल जायेगा, ससार नश्वर है, इसका तनिक भी भरोसा नही करना चाहिये। मीरा बाई ने अपने आपको भगवान के चरणो पर समर्पित कर दिया था; उन्होंने अपने जीवन में गोपीप्रेम की रसानुभूति की। उनकी स्वीकृति है

"मै तो साँवरे के रग राँची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरू, लोक लाज तजि नाँची॥
गई कुमति, लई साधु की सगति, भगत रूप भई साँची
गाय गाय हरि के गुण निसदिन, काल व्याल सूँ बाँची॥
उण विन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
'मीरा' श्रीगिरिधरन लाल सूँ, भगति रसीली जाँची॥"

उन्होंने रस-भक्ति की साधना की। उनका प्रेम पूर्ण भगवद्विरहानुभूति पर अवस्थित है। वे सदा भगवान के दर्शन के लिये तड़पती रहीं। जो दशा जल के विना कमल और चन्द्रमा के विना रात की होती है उसी का अनुभव मीराबाई ने किया। उनका समग्र जीवन ब्रजरस से परिपूर्ण था। उन्होंने श्रीकृष्ण के ब्रजलीला सम्बन्धी अनेक पदो की रचना की, ब्रजलीला-वर्णन में उन्होने हृदय का रस उढेल दिया है। एक पद में उनकी सरस उक्ति है

'जागो बसी वारे ललना जागो मोरे प्यारे॥
रजनी बीती भोर भयो है, घर-घर खुले किवारे।
गोपी दही मथत सुनियत है, कगना के झनकारे॥
उठो लाल जी भोर भयो है, सुरनर ठाढे द्वारे।
ग्वाल-बाल सब करत कुलाहल, जय-जय सबद उचारे॥
माखन-रोटी हाथ में लीनी, गउवन के रखवारे।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर तरण आया को तारे॥'

उनकी साहित्यिकता में श्रीकृष्ण की रसमयी लीला का दर्शन होता है। प्रकृति और पुरुप का अनुभव-पूर्ण चित्राकन देखने को मिलता है। उन्होने प्राकृतिक सौन्दर्य में अपार्थिवता, भगवत्ता और चिन्मयता का ही निरूपण किया है. उनकी एक पद में उक्ति है कि मैं बादल

देख कर डर गयी। सर्वत्र पानी-ही-पानी दीख पडता है। मैं बाहर खडी होकर भीज रही हूँ। दूसरे पद में कथन है कि सावन की घटा देख कर मुझे अपने प्रियतम के आगमन का पता चल जाता है। नन्ही-नन्हीं बूँदों और शीतल पवन से मन आनन्दित हो उठता है। एक पद में यमुना तट पर स्थित कृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य में उनका चित्रण है:

'या मोहन के मैं रूप लुभानी।
सुन्दर वदन कमल दल लोचन, बाँकी चितवन मद मुसकानी।
जमुना के नीरे तीरे धेनु चरावै, वसी में गावै मीठी वानी।
तन-मन-धन गिरिधर पर वारूँ, चरण कवल 'मीरा' लपटानी॥'

मीरा व्रज से द्वारिका चली आयी। वे रणछोड के सामने नाचती और कीर्तन करती थी। चित्तौड के अधिपति ने उन्हें द्वारिका से चित्तौड़ ले जाना चाहा पर अभिनव राधा—मीरा ने जाना अस्वीकार कर दिया। सम्वत् १६३० वि के लगभग वे एक दिन रणछोड जी के सम्मुख नृत्य तथा सगीत से उनका मनोरञ्जन कर रही थी कि एक दिव्य ज्योति ने भगवान की प्रतिमा से निकल कर उनका आलिगन किया, मीरा ज्योति में समा गयी। यह मूर्ति डाकोर जी में है और मीरा का चीर वगल में लटका हुआ है। राजरानी मारी मध्यकालीन भारत में कृष्णभक्ति की कल्पलता थी, रस की सजीव चिन्मय मूर्ति थी, वे परम भक्त और सन्त थी।

रचना

राजरानी मीरा के भक्तिसम्वन्धी तथा लीलासम्वन्वी अनेक पदो का सग्रह उपलब्ध है।

पद

वसो मोरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरत साँवरी सूरत नैना वने विसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल अरुन तिलक वर भाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर वैजन्ती माल॥
छुद्र घटिका कटि तट शोभित नूपुर सवद रसाल।
'मीरा' प्रभु सन्तन सुखदायी भगत वछल गोपाल॥

नहि ऐसो जनम बारम्बार।
का जानू कछु पुण्य प्रकटे मानुसा अवतार॥
वढत छिन-छिन घटत पल-पल जात न लागे बार।
विरछ के ज्यो पात टूटे, बहुरि न लागै डार॥
भवसागर अति जोर कहिये, अनत ऊँडी धार।
रामनाम का बांध बेडा उतर परले पार॥
ज्ञान चौसर मण्डी चोहटे सुरत पासा सार।
या दुनिया में रची वाजी जीत भावे हार॥
साधु-सन्त महन्त ज्ञानी चलत करत पुकार।
दासी 'मीरा' लाल गिरिधर जीवणा दिन चार॥

हेरी मै तो प्रेम दीवाणी, मेरो दरद न जाणे कोय॥
घायल की गति घायल जाणे कि जिण लाई होय।
जौहरि की गति जौहरि जाणे कि जिण जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस विध होय।
गगन मण्डल पै सेज पिया की किस विध मिलणा होय॥
दरद की मारी वन-वन डोलू वैद मिल्या नहि कोय।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटैगी जव वैद सॉवलिया होय॥

दरस विनु दूखण लागे नैन।
जब ते तुम विछुडे पिय प्यारे कवहु न पायो चैन॥
सबद सुनत मेरी छतियॉ कॉपै मीठे लागें वैन।
विरह कथा कासू कहूँ सजनी वह गई करवत ऐन॥
कल न परत पल हरिमग जोवत भई छमासी रैन।
'मीरा' के प्रभु कव रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैन॥

हरि मेरे जीवन-प्राण अधार।
और आसरो नाही तुम विन तीनू लोक मझार॥
आप विना मोहि कछू न सुहावै निरख्यो सब ससार।
'मीरा' कहै मै दास रावरी दीज्यो मती विसार॥

महात्मा व्यासदास

जय जय विशद व्यास की वानी
मूलाधार इष्ट रसमय उत्कर्ष भक्तिरस सानी।
रस शृंगार सरस यमुना सम वर धारा घहरानी।
विधिनिषेध तरुवर तरु तोरत हरिजसजलधि समानी।
जुगल बिहार विटप सों लिपटी सुबरन बेलि निवानी।
लगे रंगीले सुमन जासु मैं फल रसमय निरवानी।

—नीलसखी

महात्मा व्यासदास परम रसज्ञ थे। उन्होंने अपने जीवन में हितहरि-वंश द्वारा प्रतिपादित निकुंजलीलागत वृन्दावन-रस की सरस अनुभूति की। मध्यकालीन वृन्दावन-रस के परमोत्कर्ष-काल में उन्होंने अपनी सरस कृष्णभक्ति से लोकमात्र का कल्याण किया। वे परम निस्पृह, उच्च कोटि के विरागी और कविहृदय सन्त थे। उन्होंने वृन्दावन को परम धन स्वीकार किया। वे चैतन्य महाप्रभु और श्रीमद्वल्लभाचार्य के समकालीन थे, हितहरिवंश को उन्होने अपना पथप्रदर्शक बनाया। उनकी वाणी की कृपा से वृन्दावन का रसराजत्व जाग उठा, माधुर्य रस का यौवन उमड पडा, वे वैराग्य के रसरूप थे। उन्होने कहा कि वृन्दावन ही वास्तविक धन है। करोडो सोने के पहाड का परित्याग कर नन्दनन्दन का भजन करना ही जीवन का श्रेय है। वृन्दावन में राधारानी की चरण-धूलि की लक्ष्मी बलिहारी लेती है। गोपियों का नित्य रास होता है और कृष्ण वंशी बजाते रहते है। वृन्दावन की लीला अद्भुत है। उसका वैभव अद्भुत है। व्यास ने वृन्दावन का रस-वैभव प्रकट किया। उनका जीवन-काल भगवान् की लीला-भक्ति के प्राकट्य का प्रतीक था।

दिल्ली की राज सत्ता लोदी और सूर वंश के हाथ से निकल कर मुगलो को विजयमाला पहना रही थी। देश बाबर के आक्रमण से

आतंकित था। केन्द्रीय शासन पर शक्तिहीनता का प्रकोप वढ रहा था। प्रान्तीय शासकों में स्वतन्त्र होने की चेष्टा चल रही थी। ऐसे ऐतिहासिक समय में मध्यभारत के ओडछा राज्य को महात्मा व्यास ने अपने जन्म से गौरवान्वित किया था। ओडछा में उस समय महाराज मघुकर शाह राज कर रहे थे। परम पवित्र भगवती वेत्रवती नदी के तट पर सम्वत् १५६७ वि में मार्ग शीर्ष पचमी को ओरछा में महात्मा व्यासदास का जन्म हुआ। उनका नाम हरिराम रखा गया। उनके पिता सुमोरवन शुक्ल पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की समान रूप से कृपा थी। उनकी माता पद्मावती परम शीलवती और सुशिक्षिता थी। माता-पिता ने उनको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने की व्यवस्था की। स्वय सुमोखन शुक्ल ने ही उनको युगल मन्त्र की दीक्षा देकर उन्हे भक्ति का प्रकाश दिखाया। हरिराम बडे ज्ञानी और शास्त्र-महारथी थे। यौवन में प्रवेश करते ही सुशीला नामक कन्या मे उनका विवाह कर दिया गया। गृहस्थाश्रम में उनकी रुचि नही थी, वे शास्त्रार्थ और अध्ययन में ही अपना समय लगाते थे। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर महाराज मघुकर शाह ने उनको अपना गुरु वना लिया। दोनो में वडा प्रेम था।

पिता के परलोक-गमन के वाद वे ओडछा राज्य के राजगुरु-पद पर प्रतिष्ठित हुए। वे पण्डितो का पता लगा कर उनसे शास्त्रार्थ करने जाया करते थे और अपनी विजय में उनको वडा आनन्द मिलता था। एक वार वे काशी गये। काशी के शास्त्र-महारथियो ने उनका लोहा मान लिया। उन्हे 'व्यास' की उपाधि मे समलकृत किया। उन्होने श्रावण मास में भगवान् विश्वनाथ का अभिषेक कराया और उनके विशेप कृपापात्र हो गये। काशी-निवास-काल में एक साधु ने उनसे स्वप्न में काशी में कहा कि विद्वत्ता की पूर्णता भगवद्‌भक्ति की प्राप्ति में है। इस स्वप्न का उन पर वडा प्रभाव पडा, ज्ञान का मद उतर गया और विनम्रतापूर्वक भगवतद्‌भक्ति के रसास्वादन के लिये उनका मन समुत्सुक हो उठा।

हरिराम व्यास काशी मे ओडछा चले आये। उनका जीवन वदला हुआ-सा था। राजवैभव, घर-गृहस्थी, परिवार और शास्त्रार्थ आदि के

प्रति वे पूर्ण अनासक्त हो उठे थे। उनका मन वैराग्यरस से निर्मल हो चुका था। उनका हृदय गुरु के चरणो में सर्वात्मसमर्पण के लिये प्रस्तुत था। इसी समय ओडछा में वृन्दावन के रसिक सन्त हितहरिवश के शिष्य नवलदास का आगमन हुआ। व्यासने उनके भक्तिपूर्ण सत्सग से प्रभावित होकर सदा के लिये वृन्दावन को प्रस्थान किया।

वे वृन्दावन की सीमा में पहुँच गये, वार-वार सोच रहे थे कि मैं कव व्रजवास करूँगा। उन्होंने यमुना जी को प्रणाम किया, कलिन्द-नन्दिनी में स्नान कर वे सेवाकुज की ओर हितहरिवश से मिलने चल पडे। द्रुम और लताओ को भेंटने लगे मानों वे उनके परम आत्मीय थे। हृदय भक्तिभाव से परिपूर्ण था, नयनो में आनन्द के नीरकण थे, वे गा रहे थे

'हम कव होंहिगे व्रजवासी।
ठाकुर नन्दकिसोर हमारे, ठकुराइन राधा-सी।
कव मिलिहैं वे सखी-सहेली हरिवमी हरिदासी।
वसीवट की शीतल छैयाँ सुभग नदी जमुना-सी।
जाको वैभव करत लालसा कर मीडत कमला-सी।
इतनी आस 'व्यास' की पुजवहु वृन्दाविपिन-विलासी।'

महात्मा हितहरिवश राधावल्लभ का राग-भोग सिद्ध कर रहे थे, अपने ठाकुर के लिये भोजन वना रहे थें। उन्होने हरिराम व्यास का आगमन सुनकर पात्र अलग रख दिया और आग पानी डाल कर बुझादी। व्यास जी ने कहा कि आग—वुझाने की क्या आवश्यकता थी भोजन बनता रहता और वात भी होती रहती। हितहरिवश ने समाधान किया कि मन वडा चचल है। इसकी वृत्ति व्यभिचारिणी होती है। इसे एक समय एक ही विषय में लगाया जा सकता है, इसको श्रीराधावल्लभ के चरणो में लगा देना ही उचित है। इस घटना से व्यास जी वहुत प्रभावित हुए। हितहरिवश ने उनको दीक्षा दी और अपने शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। हरिराम व्यास का नाम व्यास-दास हो गया। वे सेवाकुञ्ज के निकट ही एक मन्दिर में निवास कर भगवत्सेवा में लग गये। श्यामसुदर के रसराज्य में—वृन्दावन-रस में हितहरिवश की कृपा से उन्होंने प्रवेश किया।

उनका मन श्रीराधावल्लभ की प्रेम-भक्ति में आसक्त हो गया। वे वृन्दावन के कण-कण में अपने आराध्य का दर्शन करने लगे। वे राधा-रानी से विनय करने लगे कि हे वृषभानुनन्दिनी मै आप की चरण-धूलि चाहता हूँ, मेरी परम इच्छा है कि मै किसी कुज में एक कोने में वैठ कर राधा-श्याम का नाम गाता रहूँ। जिस धूलि को शिवसनकादि रात-दिन खोजते रहते हैं उसी को मै अपने मस्तक पर चढाना चाहता हूँ। मेरी अभिलाषा है कि मै आप का दर्शन करता रहूँ और साथ-ही-साथ आप के यश-गान से अपनी वाणी सरस और पवित्र बनाता रहूँ। वे वृन्दावन में रहने लगे। ओडछा नरेश ने उनको घर वापस लाने के लिये अपना मन्त्री भेजा। व्यासदास तो कृष्णरस में इतने अनुरक्त हो गये थे कि उन्होने प्रण कर लिया था कि प्राण चाहे चले जायें पर मै वृन्दावन से कभी वाहर नही जाऊँगा। मन्त्री ने हितहरिवश से व्यास के ओडछा जाने की आज्ञा ले ली। व्यास जी को बडा दुख हुआ। वे तीन दिनों तक छिपे रह गये। चौथे दिन गुरु हितहरिवश ने वडी खोज करायी तो उन्होंने उनके सम्मुख आने का निश्चय किया। वे मुख पर कालिख पोत कर तथा साथ में एक गदहा लेकर आये और पूछने पर कहा कि मैंने जिनके चरणों में आश्रय लिया है वे मुझे वृन्दावन से वाहर निकालना चाहते हैं इसलिये मुख काला कर गदहे पर वैठ कर ससार में लौटना ठीक होगा। हितहरिवश उनकी गुरुनिष्ठा और व्रजभक्ति से बहुत प्रसन्न हुए। महात्मा व्यासदास का ओडछा जाना स्थगित हो गया। सन्तों की पक्ति में वैठकर उनका जूठा प्रसाद खाते व्यास को देख कर मन्त्री के मन में घृणा का उदय हुआ। उसने सोचा कि राजपुरोहित आचारभ्रष्ट हो गये हैं इसलिये उनका ओडछा जाना कदापि उचित नहीं है। व्यास तो चाहते ही यही थे। मन्त्री ने ओडछा पहुँच कर भावुक राजा को सारी वातें वतायी। वे भक्तहृदय के पुरुष थे। उनके मन में व्यास के प्रति श्रद्धा वढ गयी। उन्होने सोचा कि यदि इतने वडे भगवद्भक्त का मेरी राजधानी में एक दिन के भी लिये आगमन हो जाय तो ओडछा पवित्र हो जायेगा। वे व्यास को ले आने के लिये स्वय वृन्दावन गये। उन्होंने व्यास जी से वडा आग्रह किया पर

व्यास जी ने स्वीकृति न दी। राजा ने उनको बलात् पालकी में बैठा कर ले चलना चाहा। व्यास जी एक-एक द्रुम और लता से भेंट करने लगे। उनका आलिंगन कर कहने लगे कि मेरा क्या पाप था जिससे मुझे व्रज से जाना पड रहा है। राजा मधुकर शाह उनका व्रजप्रेम देख कर चरणो पर गिर पडे, कहा कि महाराज! आप जैसा चाहें वैसा करे। व्यास का जाना रुक गया। उन्होंने राजा को दीक्षा दी और भगवद्भजन का उपदेश दिया। व्यास की पत्नी ने भी ओडछा से आकर पति से दीक्षा ली और वृन्दावन में एकान्त में रह कर भगवान के भजन में अपना जीवन सार्थक किया। व्यासदास की उक्ति चरितार्थ हो गयी।

'मोसो पतित न अनत समाइ।
याही तें मै श्रीवृन्दावन की
सरन गह्यो हूं आइ।'

व्रज के चराचर उनके लिये परमप्रिय थे, सब उनके अपने थे। निस्सन्देह महात्मा व्यासदास व्रज-रस के महापण्डित थे, कृष्णतत्व के ज्ञाता और राधा के चरण-सेवक थे।

वृन्दावन-निवास काल में उन्होने अनेक चमत्कार दिखाये। एक बार रास-उत्सव हो रहा था। वृन्दावन के बडे-बडे रसिक और सन्त उपस्थित थे, उनके नेत्रों से लीला-आनन्दविभोर अश्रु-प्रवाह चल रहा था। परिकर सहित राधाकृष्ण के स्वरूप रास-मण्डल में नृत्य कर रहे थे। थोडी देर में राधारानी का चरण-नूपुर टूट गया। परमानन्द में रसाभास होने की आशका थी कि तत्काल लीला-विभोर व्यास ने अपना यज्ञोपवीत तोड कर नूपुर बाध दिया, मर्यादा-मार्ग रसमार्ग से पराजित हो गया, आर्य पथ का परित्याग कर व्यास ने रास का आनन्द प्राप्त किया। सन्तो और महात्माओं ने उनके आचरण की बडी प्रशसा की।

एक बार ओडछा से रत्नजटित वशी किसी ने ठाकुर जी के शृगार में अर्पित करने के लिये भेजी थी। वशी थोडी-सी मोटी थी। वशी धारण कराते समय श्रीविग्रह की अगुली कुछ छिल गयी। व्यास जी के

मन में बडा दुख हुआ। वे कुज से बाहर आ गये । थोडी देर में प्रभु ने रसिक भक्त की प्रसन्नता के लिये वशी स्वय धारण कर ली।

एक बार किसी भक्त ने जरकसी पाग भेजी थी। व्यासदास के बार-बार प्रयत्न करने पर भी प्रभु ने शृगार में उसको धारण नही किया। व्यास जी ने कहा कि वास्तव मे आप बडे चचल है। यदि आपको मेरी बाँधी पाग पसन्द नही आती है तो आप स्वय बाँध ले। वे कुज से बाहर आ गये। प्रभु ने पाग धारण कर ली। दर्शन करने वालो से पाग की प्रशसा सुनकर व्यास परमानद सागर मे सराबोर हो गये। उन्होने बडी अनन्यता से प्रभु के चरणो की धूलि बार-बार मस्तक पर चढायी और अपना जीवन परम सफल माना।

व्यासदास भगवान के ही रूप-चिन्तन राग-भोग और शृगार में सदा लीन रहते थे। व्यासदास ने वृन्दावन में सन्तप्रेम की गगा, रस उपासना की यमुना और कुज तथा निकुज की लीलाओं की सरस्वती के सगम पर श्री राधाकृष्ण की शृगारजा भक्ति -मधुर भक्ति का सफल अनुष्ठान किया। उन्होने राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति पर ही जोर दिया। ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक और तुलसी की माला में उनका अक्षुण्ण विश्वास था। वे हितहरिवश को अपना गुरु और सखा मानते थे। उन्होंने उनसे वृन्दावन की सहज माधुरी का आस्वादन किया। व्यासदास को विशाखा का अवतार स्वीकार किया जाता है। सन्तों के चरणो में उनकी बडी श्रद्धा और भक्ति थी। लीला-मानसरोवर-हस कह कर उन्होने अपने गुरु हितहरिवश का स्तवन कियाा है। उन्होने गौडीय वैष्णव रूप और सनातन तथा नामदेव, जयदेव, कबीर, रैदास, पीपा, सेन, धना आदि का अपनी काव्य-वाणी में स्मरण किया है, वे किसी सम्प्रदाय विशेष के कठघरे में सीमित नही थे, वे भगवद्भक्तो की चरण-धूलि के सच्चे चिंतक सन्त थे। स्वामी हरिदास में भी उनकी बडी निष्ठा थी। उनके लिये उन्होने कहा है

'ऐसो रसिक भयो नहि ह्वै है
भुवमण्डल आकास।
देह विदेह भये जीवत ही
विसरे विस्व विलास।'

व्यासदास उच्च कोटि के रसिक थे। उन्होने अपने आप को राधा वल्लभ का प्रियदास कहा है। उन्होने राधावल्लभ को छोड कर किसी

दूसरे का भजन नही किया। सदा राधाकृष्ण का चित्राकन किया

'मोहिनी को मोहन प्यारो।
आनन्द कन्द सदा वृन्दावन कोटि चद उजियारो।
व्रजवासिन के प्रान जीवनि धन गोधन को रखवारो।
नन्दयसोदा को कुलमण्डन, दुष्टनि मारन वारो।
चरन सरन साधारन तारन आरत हरन हमारो।
नव निकुञ्ज सुख पुजनि वरसत 'व्यासहि' छिन न विसारो।'

उन्होने कहा कि राधाकृष्ण की छवि का वर्णन नही हो सकता है। शेष और ब्रह्मा के वश की बात नही है कि वे राधावल्लभ का रूप-वर्णन कर सके। भरतखण्ड की कविमण्डली भी इस दिशा में थक जाती है। व्यासदास ने राधावल्लभ की उपासना सखी भाव से की। उन्होने कुज और निकुज दोनो की लीलाओ का आनन्द अपने गुरु हितहरिवश की कृपा से प्राप्त किया। कुज लीला में सखी भाव का प्रवेश है पर निकुज लीला में तो भाव या वाणी की तनिक भी गति नही है। उसमें तो केवल प्रिया-प्रियतम का ही अप्रकट विहार चलता है, यह लीला मधुरतम है। यही वृन्दावन-रस है। व्यासदास ने इसका अनुभव किया था। उन्होने अपने मन से सदा कहा :

'मन रति वृन्दावन सो कीजै।'

वृन्दावन में सदा श्यामाश्याम के रासरस की वृष्टि होती रहती है। व्यासदास ने कहा कि मेरी जाति अनन्य रसिको की है। मेरी कुलदेवी श्रीराधारानी है तथा व्रजवासी ही मेरे भाई-बन्धु है। उन्होने वृन्दावन-रस का बखान किया है·

'वृन्दावन की सोभा देखे मेरे नैन सिरात।
कुंज–निकुज पुज सुख वरसत, सबको हरसत गात।
राधा-मोहन के निज मदिर महाप्रलय नहिं जात।
ब्रह्मा ते उपज्यो न, अखण्डित कबहूँ नाहिं नसात।
फनि पर, रवि तर, नहिं विराट मह, नहिं सध्या नहिं प्रात।
निरगुन सगुन ब्रह्म ते न्यारो विहरत सदा सुहात।
'व्यास' विलास रास अद्भुत गति, निगम अगोचर बात।'

व्यास ने अपनी काव्य-वाणी में वृन्दावन तत्व प्रकट किया। उनके वृन्दावन-तत्व का मूलाधार श्रीराधारानी का नाम है, इस परम पवित्र नाम का भगवान कृष्ण अपनी वशी में बार-बार आवाहन करते रहते हैं। हरि के गुणगान को ही व्यासदास ने कलियुग का परम पुण्य कर्म स्वीकार किया। जीवनके अन्तिम समय तक वृन्दावन में निवास कर उन्होंने निकुज-लीला में प्रवेश किया।

रचना

उन्होंने ब्रजभाषा में भक्तिपूर्ण पदो की रचना की। व्यासदास की रचना 'व्यास वाणी' सिद्धान्त और रस-विहार—दो भागों में विभाजित है।

वाणी

साँचे मन्दिर हरि के सन्त।
जिनिमें मोहन सदा विराजत, तिनहिं न छोडत अत।
जिनि महँ रुचि कर भोग भोगवत पाँचौ स्वाद अदत।
जिनि महँ बोलत-हँसत कृपा करि चितवत नैन सुपत।
अपने मत भागवत सुनावत रति दे रस बरसत।
जिनि में बसि सदेह दूरि करि देह धरम परजत।
जहँ न सत तहाँ न भागवत भक्त सुसील अनत।
जहाँ न 'व्यास' तहाँ न रासरस वृन्दावन को मत।

ऐसो मन कब करि हौ हरि मेरो।
कर करवा कामरि काधे परि कुजनि माँझ बसेरो।
व्रजवासिनि के टूक भूख में घर-घर छाँछ महेरो।
छुधा लगे जब माँगि खाउँगो गनो न साँझ सवेरो।
रास-विलास वृत्ति करि पाऊँ मेरे खूँट न खेरो।
'व्यास' विदेही वृन्दावन में हरिभक्तन को चेरो।

परम धन राधा-नाम अधार।
जाको स्याम मुंरली में टेरत सुमिरत बारम्बार।
जत्र मत्र अर वेदतन्त्र में सभी तार को तार।
श्री सुक प्रकट कियौ नहि याते जान सारको सार।
कोटिन रूप धरे नन्दनन्दन तऊ न पायो पार।
'व्यासदास' अब प्रगट बखानत डारि भार में भार।

वृन्दावन के राजा दोऊ स्याम राधिका रानी।
तीन पदारथ करत मँजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी।
करनी धरनी करी जेवरी घरु छावत है ज्ञानी।
जोगी जती तपी सन्यासी इन चोरी कै जानी।
पनिहाँ वेद पुरान मिलनिया कहत सुनत यह बानी।
घर-घर प्रेम भक्ति की महिमा 'व्यास' सबनि पहिचानी।

हरि गुन गावत कलिजुग रहिये।
विधि व्यौहार रह्यौन कछू अब, साधु चरन निजु गहियें।
इहि ससार समुद बोहित उठि हरिहरि कहत निवहिये।
'व्यास' स्याम की आस करहु उपहास सबनिको सहियें।

किसोरी, तेरे चरननि की रज पाऊँ।
बैठि रहौ कुजनि के कोने, स्यामराधिका गाऊँ।
या रज सिवसनकादिक खोजत सो रज सीस चढाऊँ।
'व्यास' स्वामिनी की छवि निरखत विमल विमल जस गाऊँ।

संत परमानंददास

'पौगड बाल कैसोर गोपलीला सब गाई।
अचरज कहा यह बात हुतौ पहिलौ जु सखाई।
नैननि नीर प्रवाह रहत रोमाच रैन दिन।
गदगद गिरा उदार स्याम सोभा भीज्यो तन।
सारग छाप ताकी भई श्रवन सुनत आवेस देत।
व्रजवधू रीति कलिजुग विषे परमानन्द भयो प्रेमकेत।'

—भक्तमाल

सन्त परमानन्ददास मध्यकालीन कृष्ण-प्रेम की ध्वजा थे। अष्ट-छाप के सन्तकवियो में विरह-गान में वे सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किये जा सकते है। परमानन्ददास रात-दिन श्रीकृष्ण के विरह में डूबे रहते थे, उनको रह-रह कर कृष्ण की व्रजरस-लीला का आवेश होता रहता था। श्रीभगवान को वे अपना प्रियतम प्राणाधार समझते थे। उनके तन-मन श्यामसुदर के शोभा-सागर में सदा भीजे रहते थे। उनकी प्रेम-साधना उच्च कोटि की थी, वाणी भगवद्भक्ति-गान में सिद्ध थी। उनकी कविता में हृदय की कोमलता और मधुर भावो का दर्शन होता है, वे लीलारसिक सन्त थे।

वे महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। महाप्रभु की उन पर बडी कृपा थी। गोसाई विट्ठलनाथ की दृष्टि में वे महान भगवदीय और असाधारण लीलागायक कवि थे। उनकी वाणी ने अकबरकालीन भारत में केन्द्रीय राजसत्ता की द्विविधात्मक नीति से लोक-जीवन को सावधान कर भगवान की ओर उन्मुख करने में आचार्य महाप्रभु वल्लभ और उनके आत्मज विट्टलनाथ जी के पवित्र भक्ति-आन्दोलन में—आध्यात्मिक अथवा भागवती क्रान्ति में पूरा-पूरा सहयोग दिया। परमानन्द भगवत्प्रेम की अप्रतिम विभूति थे। उन्होंने कृष्ण के विरह में लाखो पद रचे। उन्होंने सख्य, वात्सल्य और मधुर रस की अनु-

भूति से मध्यकालीन भक्ति-साहित्य को समृद्ध किया। गुरु के चरण में सर्वस्व समर्पित कर उन्होने परमानन्द प्राप्त किया। अष्टछाप के कवियो ने साहित्य में व्रजभक्ति के सिन्दूर—कृष्ण का काव्यरूप उतारा। परमानन्द परम कृष्ण ,भक्त थे। परमानन्द का जन्म सम्वत् १५५० वि. में मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी को कन्नौज में हुआ। उनके पिता सरल-सतोषी और प्रेमी हृदय के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वे खेती तथा दान-वृत्ति से अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे। परमानन्द-दास के जन्म-दिन पर एक विचित्र घटना का पता चलता है। उस दिन एक धनी सेठ ने उनके पिता को वहुत-सा धन दिया। इस अयाचित दान से घर में चारों ओर परम आनन्द छा गया। पिता ने प्रसन्नतापूर्वक अपने नवजात शिशु का नाम परमानन्द रख दिया। उनके पिता साधारण श्रेणी के ब्राह्मण थे इसलिये परमानन्द की शिक्षा-दीक्षा का क्रम साधारण ही रहा। पर उनमें एक विचित्रता यह देखी गयी कि वे घर से प्राय विरक्त और उदासीन रहने लगे, घर के किसी काम-काज में उनका मन नही लगता था।

एक वार कन्नौज में वहुत वडा अकाल पडा। कन्नौज के शासक ने दण्ड के रूप में परमानन्द जी के पिता का सारा धन छीन लिया। वे पैसे-पैसे के लिये कगाल हो गये थे। परमानन्द इस समय तक युवावस्था में पहुँच गये थे। थोडी-वहुत कविता कर लेते थे, भजन गा लेते थे। भगवान की पूजा में अपने अधिकाश समय का उपयोग करते थे। जो कुछ खाने-पीने और पहनने-ओढने के लिये मिल जाता था उसी से सतोप करते थे। उनके पिता ने उन पर विवाह करने के लिये जोर डाला पर परमानन्द गृहस्थी के वन्धन में नही पडना चाहते थे। उन्होने अपने पिता से साफ शव्दो में निवेदन किया कि अव मेरे विवाह की चिता मत कीजिये, जो कुछ आय हो जाती है उसका परिवार के पालन-पोपण और साधु-सन्त तथा अतिथि की सेवा में सदुपयोग कीजिये। पिता के सिर पर धन कमाने की सनक सवार थी। वे धन कमाने के लिये विदेश-यात्रा में चले गये। परमानन्द छव्वीस साल के हो चुके थे। पिता के घर से चले जाने पर वे भजन-पूजन तथा कथा-कीर्तन में लग गये। उनके घर पर साधु-सन्तो की

भीड लगने लगी। वे स्वामी परमानन्द के नाम से प्रसिद्ध हो गये। साधु हृदय के व्यक्ति को मान और प्रतिष्ठा से वडी चिढ रहती हैं। उन्होंने घर से बाहर जाना ही उचित समझा। वे मकर स्नान मे प्रयाग चले आये। गगा किनारे एक कुटी बना कर कथा-कीर्तन करने लगे। लोग उनके स्वभाव और भगवद्भक्ति तथा आचार-विचार से वहुत आकृष्ट हुए। धीरे-धीरे उनका वैराग्य वढता गया। दूर-दूर से लोग उनके सत्सग और दर्शन के लिये आने लगे। एक अच्छे सगीतज्ञ और निपुण कवि के रूप में उनकी प्रसिद्धि वढने लगी। कुटी में भक्तों का ताता लगा रहता था। परमानन्द जी की कुटी के सामने यमुना के उस पार पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक श्रीमदाचार्य महाप्रभु वल्लभ अडैल में निवास करते थे। परमानन्द ने उनके सम्वन्ध में विशेष रूप से सुना था। विजयनगर में आचार्य की कनकाभिषेक वाली घटना उत्तर भारत में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। वे परम भगवदीय के रूप में चारो ओर विख्यात हो गये थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भी परमानन्द की अच्छे कथाकार और कवि सगीतज्ञ तथा भगवद्भक्त के रूप मे जानकारी प्राप्त की थी। दोनो एक दूसरे से मिल कर सत्सग आदि करने के लिये वडे उत्सुक थे। एक दिन ऐसा सयोग भगवान की कृपा से आ गया। वल्लभाचार्य का जलघडिया कपूर प्राय परमानन्द जी के कथा-कीर्तन मे सम्मिलित होने जाया करता था। परमानन्द स्वामी एकादशी को रात में जागरण कर कथा-कीर्तन किया करते थे। इस अवसर पर कुटिया में भक्तो की भीड लगी रहती थी। एक दिन एकादशी को वे रात में जागरण कर रहे थे, वहुत-से भक्त एकत्र होकर कथा-कीर्तन सुन रहे थे। वे प्रभु के लीला-कथन में आत्मविभोर थे। इधर अडैल में कपूर जलघडिया का मन कीर्तन में उपस्थित होने के लिये छटपटा रहा था। शयन-आरती के वाद वह अडैल से चल पडा। यमुना तट पर उस समय कोई नाव नही थी। वह पानी में तैर कर इस पार आ गया। कथा में वैठा ही था कि परमानन्द ने एक विलक्षण दृश्य देखा। उनके नयनो को ऐसा लगा कि उज्ज्वल नीलमणि सा एक श्यामवर्ण का शिशु कपूर की गोद में वैठा है। उसके सिर पर मयूर-पिच्छ है, भाल में तिलक है, कानो में स्वर्ण कुण्डल है, अलकावली कन्धदेश पर लटक

भीड लगने लगी। वे स्वामी परमानन्द के नाम से प्रसिद्ध हो गये। साधु हृदय के व्यक्ति को मान और प्रतिष्ठा से वडी चिढ रहती है। उन्होने घर से बाहर जाना ही उचित समझा। वे मकर स्नान मे प्रयाग चले आये। गगा किनारे एक कुटी बना कर कथा-कीर्तन करने लगे। लोग उनके स्वभाव और भगवद्भक्ति तथा आचार-विचार से वहुत आकृष्ट हुए। धीरे-धीरे उनका वैराग्य बढता गया। दूर-दूर से लोग उनके सत्सग और दर्शन के लिये आने लगे। एक अच्छे सगीतज्ञ और निपुण कवि के रूप में उनकी प्रसिद्धि बढने लगी। कुटी में भक्तो का ताता लगा रहता था। परमानन्द जी की कुटी के सामने यमुना के उस पार पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक श्रीमदाचार्य महाप्रभु वल्लभ अडैल में निवास करते थे। परमानन्द ने उनके सम्वन्ध में विशेष रूप से सुना था। विजयनगर में आचार्य की कनकाभिषेक वाली घटना उत्तर भारत मे पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। वे परम भगवदीय के रूप में चारो ओर विख्यात हो गये थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भी परमानन्द की अच्छे कथाकार और कवि सगीतज्ञ तथा भगवद्भक्त के रूप मे जानकारी प्राप्त की थी। दोनो एक दूसरे से मिल कर सत्सग आदि करने के लिये वडे उत्सुक थे। एक दिन ऐसा सयोग भगवान की कृपा से आ गया। वल्लभाचार्य का जलघडिया कपूर प्राय परमानन्द जी के कथा-कीर्तन मे सम्मिलित होने जाया करता था। परमानन्द स्वामी एकादशी को रात में जागरण कर कथा-कीर्तन किया करते थे। इस अवसर पर कुटिया में भक्तो की भीड लगी रहती थी। एक दिन एकादशी को वे रात में जागरण कर रहे थे, वहुत-से भक्त एकत्र होकर कथा-कीर्तन सुन रहे थे। वे प्रभु के लीला-कथन में आत्मविभोर थे। इधर अडैल में कपूर जलघडिया का मन कीर्तन मे उपस्थित होने के लिये छटपटा रहा था। शयन-आरती के वाद वह अडैल से चल पडा। यमुना तट पर उस समय कोई नाव नही थी। वह पानी में तैर कर इस पार आ गया। कथा में वैठा ही था कि परमानन्द ने एक विलक्षण दृश्य देखा। उनके नयनो को ऐसा लगा कि उज्ज्वल नीलमणि सा एक श्यामवर्ण का शिशु कपूर की गोद में वैठा है। उसके सिर पर मयूर-पिच्छ है, भाल में तिलक है, कानो में स्वर्ण कुण्डल है, अलकावली कन्धदेश पर लटक

प्रसिद्ध हैं। वे कभी-कभी नवनीतप्रिय का दर्शन करने गोकुल भी आया करते थे।

महात्मा परमानन्ददास ने श्रीनाथ जी के सेवा-कीर्तन में सर्वस्व समर्पित कर आजीवन उनकी लीला गायी। उनकी भक्ति वाल, कान्ता और दास भाव की थी। भगवद्विरहसम्बन्धी उनकी अनुभूति अमित उच्च कोटि की हैं। उनका भगवान से सहज स्नेह था। उनकी उक्ति है.

'मेरो माई हरिनागर सो नेह।
जव ते दृष्टि परे मनमोहन तव ते विसर्‌यो गेह।
कोऊ निन्दो कोऊ वन्दो मो मन गयो सन्देह।
सरिता सिंधु मिली 'परमानद' भयो एकरस नेह।'

उनके पदो में समर्पण के भाव की अभिव्यक्ति वडी सुदरता से हुई है। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठलनाथ दोनो में भगवद्-बुद्धि रखते थे। साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र का स्वरूप समझते थे। उनकी भक्ति और निष्ठा गुरु और भगवान दोनो में एकरस थी। उन्होने शृगारजा भक्ति में भी सिद्धि प्राप्त की थी। एक पद में उन्होने सरस लीला के वखान में कहा है

'चलो किन देखन कुज कुटी।
मदन गोपाल जहाँ मधिनायक मन्मथ फौज लुटी।
सुरत समर में लरत सखी की मुक्तामाल टुटी।
उरज ते जु कचुकी चिरकुट भई कटि पर ग्रथि छुटी।
'परमानन्द' गुविन्द ग्वालिनि की नीकी जोट जुटी।'

यह शृगार सर्वथा चिन्मय है, इसमें प्राकृत भाव नाम मात्र को भी नही है। परमानन्द दास ने अपनी भगवदीय शृगार-लीला में शक्तिद्वारा शक्तिमान की पराजय का दर्शन किया है पुरुष प्रकृति पर विजय पाने में असमर्थ-सा चित्रित किया गया है। परमानन्ददास के श्याम-सुन्दर ने व्रजनारी के सामने पराजय स्वीकार करने मे ही अपनी शृगारमयी केलि – क्रीडा की सफलता मानी अन्यथा वे तो सर्वथा अजेय और सर्वशक्तिमान है। परमानन्ददास ने भगवद्विरह वर्णन में वडी सफलता पायी है श्यामसुन्दर के विरह में उन्मत्त व्रज-लोक की विचित्र दशा का उन्होने अद्भुत वर्णन किया है. उनका एक पद है:

महाप्रभु के पास अडैल में ही आकर रहने लगे। श्रीमदाचार्य के चरणो में बैठकर भागवत की कथा और सुबोधिनी सुना करते थे। अडैल-निवास-काल में उन्होने भगवान के वाल-लीला सम्बन्धी अनेक पद लिखे। महाप्रभु उनकी कीर्तन-शैली से वहुत प्रसन्न रहते थे।

सम्वत् १५८२ वि में परमानन्ददास महाप्रभु के साथ व्रज गये। रास्ते में कन्नौज पडता था। परमानन्ददास के घर पर महाप्रभु तीन दिन तक ठहरे रहे। उन्होने आचार्य को हरिलीला के स्मरण के सबध मे पद सुनाया। महाप्रभ पद सुनकर तीन दिन मूर्छित रहे। परमानन्द ने पद गाया था

'हरि! तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल नैन मन मोहनी मूरति, मन मन चित्र बनावै।
एक बार जाय मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावै।
मुख मुसकानि बक अवलोकनि, चाल मनोहर भावै।
कवहुँक निविड तिमिर आलिगन, कबहुँक पिक सुर गावै।
कवहुँक सम्भ्रम क्वासि क्वासि कहि, सगहीन उठि धावै।
कवहुँक नैन मूँदि अन्तर गति, मनिमाला पहिरावै।
'परमानद' स्याम ध्यान करि, ऐसै विरह गँवावै।'

परमानन्ददास भी लीलाविभोर थे। तीसरे दिन उन्होने आचार्य की मूर्छा दूर करने के लिये पद गाया.

'विमल जस वृन्दावन के चन्द को।
कहा प्रकास सोम सूरज को सो मेरे गोविन्द को।
कहत जसोदा सखियन आगे वैभव आनदकन्द को।
खेलत फिरत गोप वालक सग ठाकुर 'परमानद' को।'

आचार्य की चेतना लौट आयी। कन्नौज से परमानद को साथ लेकर महाप्रभु ने व्रज की ओर प्रस्थान किया। परमानन्ददास गोकुल आये, उन्होने नवनीतप्रिय का दर्शन किया। पद सुनाये। गोवर्धन आकर उन्होने श्रीनाथ जी का दर्शन किया। वे सदा के लिये गोवर्धन पर ही रह गये। सुरभी कुण्ड पर श्याम तमाल के नीचे उन्होने अपना स्थायी निवास स्थिर किया। वे व्रज से वाहर कही नही गये। सदा श्रीनाथ जी की सेवा में कीर्तन सुनाया करते थे। उनके मगला-दर्शन के पद

प्रसिद्ध हैं। वे कभी-कभी नवनीतप्रिय का दर्शन करने गोकुल भी आया करते थे।

महात्मा परमानन्ददास ने श्रीनाथ जी के सेवा-कीर्तन में सर्वस्व समर्पित कर आजीवन उनकी लीला गायी। उनकी भक्ति वाल, कान्ता और दास भाव की थी। भगवद्‌विरहसम्बन्धी उनकी अनुभूति अमित उच्च कोटि की है। उनका भगवान से सहज स्नेह था। उनकी उक्ति है

'मेरो माई हरिनागर सो नेह।
जब ते दृष्टि परे मनमोहन तब ते बिसर्‌यो गेह।
कोऊ निन्दो कोऊ बन्दो मो मन गयो सन्देह।
सरिता सिंधु मिली 'परमानद' भयो एकरस नेह।'

उनके पदो में समर्पण के भाव की अभिव्यक्ति वडी सुदरता से हुई है। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाईं विट्‌ठलनाथ दोनो में भगवद्-बुद्धि रखते थे। साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र का स्वरूप समझते थे। उनकी भक्ति और निष्ठा गुरु और भगवान दोनो में एकरस थी। उन्होने शृगारजा भक्ति में भी सिद्धि प्राप्त की थी। एक पद में उन्होने सरस लीला के वखान में कहा है

'चलो किन देखन कुज कुटी।
मदन गोपाल जहाँ मधिनायक मन्मथ फौज लुटी।
सुरत समर में लरत सखी की मुक्तामाल टुटी।
उरज ते जु कचुकी चिरकुट भई कटि पर ग्रथि छुटी।
'परमानन्द' गुविन्द ग्वालिनि की नीकी जोट जुटी।'

यह शृगार सर्वथा चिन्मय है, इसमें प्राकृत भाव नाम मात्र को भी नही है। परमानन्द दास ने अपनी भगवदीय शृगार-लीला में शक्तिद्वारा शक्तिमान की पराजय का दर्शन किया है पुरुष प्रकृति पर विजय पाने मे असमर्थ-सा चित्रित किया गया है। परमानन्ददास के श्याम-सुन्दर ने व्रजनारी के सामने पराजय स्वीकार करने मे ही अपनी शृगारमयी केलि – क्रीडा की सफलता मानी अन्यथा वे तो सर्वथा अजेय और सर्वशक्तिमान हैं। परमानन्ददास ने भगवद्‌विरह वर्णन में वडी सफलता पायी है श्यामसुन्दर के विरह में उन्मत्त व्रज-लोक की विचित्र दशा का उन्होने अद्‌भुत वर्णन किया है उनका एक पद है.

'व्रज के विरही लोग विचारे।
विनु गोपाल ठगे-से ठाढे अति दुरबल तन हारे।
मात जसोदा पथ निहारत निरखत साँझ सकारे।
जो कोइ कान्ह कान्ह कहि बोलत अखियन बहत पनारे।
यह मथुरा काजर की रेखा जे निकसे ते कारे।
'परमानन्द' स्वामी विनु ऐसे ज्यो चदा विनु तारे।'

परमानन्द उच्च कोटि के भक्त थे। सम्वत् १६०२ वि मे गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उन्हे अष्टछाप मे सम्मिलित कर लिया। परमानन्ददास भावप्रधान भागवत कवि थे। पुष्टिमार्ग के कवियो में उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है, श्रीकृष्ण की लीला का चिन्तन ही उनका काव्य-धर्म था। परमानन्ददास ने उद्दीपन वर्णन में— प्रकृति के सौन्दर्य-निरूपण में भी भगवान श्यामसुन्दर की ही झाँकी देखी। एक वार परमानन्द जी गोसाईं विट्ठलनाथ जी के साथ कृष्ण-जन्माष्टमी के उत्सव में सम्मिलित होने तथा नवनीतप्रिय के दर्शन के लिये गोकुल गये। उन्होने पद गाया

'रानी तिहारो घर सुवस वसो।'
सुनो हो जसोदा तिहारे ढोटा को न्हात हू जिनि वार खसो।
कोउ करत वेद मगल धुनि, कोऊव गावो कोऊव हँसो।
निरखि निरखि मुख कमल नैन को आनन्द प्रेम हियो हुलसो।
देत असीस सकल गोपीजन कोऊव अति आनन्द लसो।
परमानद नन्द घर आनन्द पुत्र जनम भयो जगत जसो।

अन्तिम चरण गाते-गाते वे मूर्छित हो गये। दधिकादो में भी उन्होने यही पद गाया। वे मूर्छित अवस्था में गोकुल से गोवर्धन लाये गये। सुरभी कुण्ड पर कुटी में आने पर उन्होने वोलना छोड दिया। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उनके मस्तक पर हाथ फेरा, कहा 'परमानन्ददासजी मै तुम्हारे मन की वात जानता हूँ। ऐसा लगता है कि अव तुम्हारा दर्शन भी दुर्लभ होने वाला है।' परमानन्द जी ने नयन खोल दिये। उन्होने नयनो में अश्रु भरकर गोसाईं जी के चरणो में निवेदन किया कि कृपानाथ, प्रेमास्पद तो केवल नन्दनन्दन है वे ही प्रेमपात्र है, उन्ही से प्रेम करना चाहिये।

भक्त सुख-दुःख में समान रूप से उन्ही के सहारे जीते रहते हैं, वे परम उदार है, मन की बात जानते है, वेद-पुराण साक्षी हैं कि उन्होंने भक्त की प्रसन्नता के अनुकूल ही आचरण किया है। उन्होने पद गाया .

'प्रीति तो नन्दनन्दन सो कीजै।
सपति-विपति परे प्रतिपाले कृपा करे तो जी जै।
परम उदार चतुर चिंतामनि सेवा सुमिरन माने।
चरन कमल की छाया राखे अतरगति की जाने।
वेद-पुरान-भागवत भाषै कियो भक्त को भायो।
'परमानन्द' इन्द्र को वैभव विप्र सुदामा पायो।'

गोसाई विट्ठलनाथ उनकी ओर बडे ध्यान से देखने लगे। सम्वत् १६४१ वि की भाद्रपद कृष्ण नवमी का मध्याह्न काल था, परमानद युगल स्वरूप का चिंतन कर रहे थे। गोसाई जी ने पूछा कि इस समय चित्तवृत्ति कहाँ है। श्रीनाथ जी के अनन्य उपासक परमानददास की वाणी का कठ खुल गया

'राधे वैठी तिलक सँवारति।
मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नदसुवन को रूप विचारति।
दर्पन हाथ सिंगार वनावति, वासर जुग सम टारति।
अतर प्रीति स्याम सुदर सो हरिसग केलि सभारति।
वासर गत रजनी व्रज आवत मिलत गोवर्धन प्यारी।
'परमानन्द' स्वामी के सग मुदित भई व्रजनारी।'

अन्त समय में उनकी चितवृत्ति राधाकृष्ण की सरस लीला में आसक्त थी। उन्होने अपने परम आराध्य का चिन्तन करते हुए गोलोक की यात्रा की। परमानन्ददास ने प्रेम का परमानन्द-सागर आलोडित किया।

रचना

परमानन्ददास का पदसग्रह—'परमानन्द-सागर' है। उन्होने अनेक सरस पदो की रचना की।

पद

चलौ सखि ! देखौ नन्दकिसोर ।
श्रीराधा सग लीये बिहरत सघन कुज वन खोर ।
तैसिय घटा घुमडि चहुँ दिस ते गरजति है घनघोर ।
तैसिय लहलहाति सौदामिनि पवन चलत अति जोर ।
पीत वसन वनमाल स्याम कै सारी सुरग तन गोर ।
सदा विहार करो 'परमानन्द' सदा वसौ मन चोर॰।

जव नन्दलाल नैन भरि देखे ।
एक टक रही, सम्भार न तन की, मोहन मूरति पेखे ।
स्याम वरन पीताम्वर काछे अरु चन्दन की खोर ।
कटि किकन कल राव मनोहर, सकल त्रियन के चित चोर ।
कुडल झलक परत गण्डनि पर, आइ अचानक तिकसे मोर ।
श्री मुख कमल मद मृदु मुसकनि, लेत करषि मन नदकिसोर ।
मुक्त माल राजत उर ऊपर चितए सखी जव इहै ओर ।
'परमानन्द' निरखि अग-सोभा व्रजवनिता डारत तृन तोर ।

गावत गोपी मधु ब्रज वानी ।
जाके भुवन वसत त्रिभुवन पति
राजा नन्द यसोदा रानी ।
गावत वेद, भारती गावत
गावत नारदादि मुनि ज्ञानी ।
गावत गुन गन्धर्व काल शिव
गोकुलनाथ महातम जानी ।
गावत चतुरानन जदुनायक
गावत सेस सहस्र मुख रास ।
मन क्रम-वचन प्रीति पद अम्वुज,
अव गावत 'परमानन्द दास' ।

मेरो माई माधो सो मन लाग्यो।
मेरो नैन और कमलनैन को
इक ठौरो करि मान्यो।
लोकवेद की कानि तजी मैं
न्योति आपुनै आन्यो।
एक गुविन्द-चरण के कारण
बैर सवन सो ठान्यो।
अव को भिन्न होय मेरी सजनी,
दूध मिल्यौ जैसे पान्यो।
'परमानन्द' मिल्यौ गिरिधरसो, है पहली पहिचान्यो।

संत कृष्णदास

'श्रीवल्लभगुरुदत्त भजन सागर गुन आगर।
कवित नोख निरदोष नाथ सेवा में नागर।
वानी वदित विदुष सुजस गोपाल अलकृत।
व्रज रज अति आराध्य वहै धारी सरबसु चित।
सान्निध्य सदा हरि दास वर गौर स्याम दृढ़ व्रत लियो।
गिरिधरन रीझि कृष्णदास को नाम माझ साझो दियो।'

—भक्तमाल

सन्त कृष्णदास भगवान श्रीनाथ के राज्य के परम भगवदीय नागरिक थे। वे श्रीनाथ जी की सेवा में परम चतुर और भक्तिरस के विचित्र रसिक थे। अष्टछाप के कवियो में वे एक अमित प्रभावशाली व्यक्ति थे, सूरदास आदि उनका पर्याप्त सम्मान करते थे। उन्होंने राधाकृष्ण के अभिराम यश-गायन से अपनी पवित्र वाणी का सौभाग्य अमर कर लिया। व्रजरज में उनकी विशिष्ट रति थी, श्रीनाथ जी के साज-शृगार के वे व्यवस्थापक थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य उनका वडा विश्वास करते थे और गोसाईं विट्ठलनाथ ने उनकी प्रतिष्ठा में कमी नही आने दी।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने स्वय अपने श्रीमुख से उनकी प्रशसा की है कि उन्होंने अपने अधिकार का उपयोग उचित ढग से किया, श्रीनाथ जी का कीर्तन किया और महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक हो कर उनकी तथा श्रीनाथ जी की ऐसी सेवा की जैसी किसी दूसरे से न हो सकी। जिस समय श्री कृष्णदास गोवर्धन पर अपने आराध्य श्रीनाथ जी को कीर्तन-सेवा से रिझा रहे थे उस समय भारतवर्ष के सम्राट अकवर की तूती सारे देश में वोल रही थी। अकवर की धार्मिक उदारता के फलस्वरूप जनता राजकीय सुव्यवस्था और धार्मिक स्वतन्त्रता का अनुभव कर रही थी। श्री कृष्णदास ने ऐसी शान्तिपूर्ण

स्थिति में श्रीनाथ जी की सेवा मे अपनी सारी व्यवस्था-बुद्धि का उपयोग कर धरती पर दिव्यता का साम्राज्य उतार लिया—यह उनकी मौलिकता है। सन्त कृष्णदास का जन्म गुजरात के अहमदावाद जनपद में सम्वत् १५५३ वि में चणोतर नामक गाँव में एक कुनवी कायस्थ कुल में हुआ था। उनके पिता गाँव के प्रमुख थे, लोगो मे उनका वडा प्रभाव था। खाने-पीने की किसी वस्तु का अभाव नही था। कृष्ण-दास का पालन-पोषण उचित ढग से हुआ। शिक्षा-दीक्षा की भी अच्छी व्यवस्था थी। जव वे केवल पाँच साल के थे तभी से भगवान के कथा-कीर्तन में सम्मिलित हुआ करते थे। उनका शरीर वहुत सुन्दर था, मन भावुक और कोमल था, धीरे-धीरे सद्गुणो का विकास हो रहा था। पिता कभी नही चाहते थे कि वालक कृष्णदास को साधुओ के सत्सग और कीर्तन में जाने का कभी प्रोत्साहन मिले पर होनी तो होकर ही रहती है। उनके पिता धनलोलुप थे, वे चाहते थे कि कृष्णदास पढ-लिखकर धन कमायें। वे कभी नही चाहते थे कि कृष्णदास घर का त्याग कर सन्यासी हो जायें। कृष्णदास अपने पिता की धनलोलुपता से वहुत चिढते थे। घर के टीमटाम और भोग-विलास के नश्वर पदार्थ उनका मन अपनी ओर आकृष्ट न कर सके। उनका वैराग्य वढता गया, उन्हें घर और परिवार में तनिक भी आसक्ति नही रह गयी।

एक दिन विचित्र घटना हुई। कृष्णदास केवल वारह साल के थे। गाँव में वनजारा आया। उसने माल वेचकर वहुत-सा रुपया जमा किया। सूर्यास्त होने के कारण वह गाँव छोड कर अपने डेरे पर न जा सका। कृष्णदास के पिता ने उसके रुपये रात में लुटवा कर अपने पास रख लिये। वह विचारा कहीं का न रह गया। कृष्णदास ने रुपये लौटा देने के लिये पिता को वहुत समझाया पर उनकी वात उन्हे अच्छी नही लगी। कृष्णदास स्वय वनजारा के पास गये। उन्होने आश्वासन दिया कि न्यायालय में अपने पिता के विरुद्ध गवाही दूँगा। वनजारा उनके निष्कपट व्यवहार से अमित प्रभावित हुआ। न्यायालय में अपने पिता के दुराचरण के विरुद्ध गवाही देकर उन्होने वनजारे को रुपये दिलवा दिये। उनके पिता ने अप्रसन्न होकर उनको घर से वाहर निकाल

जाने की आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि तुम पहले जन्म में फकीर थे, इस जन्म मे तुमने मुझ को भी फकीर बना दिया। तुम दूर चले जाओ, न मैं तुम्हारा मुख देखूँगा, न मेरे मन में दुःख होगा। कृष्णदास को इस आदेश से वडी प्रसन्नता हुई। भगवान की उन पर यह बहुत वडी कृपा थी कि घर के पापपूर्ण वातावरण से वे वाहर हो गये। वे परम घन–सत्य पदार्थ, भगवान की खोज में घर से बाहर निकल पडे। कोमल अवस्था में ही उनके घर छोडने की घटना से लोग बहुत दुःखी हुए पर कृष्णदास के लिये तो यही सबसे उत्तम वात थी। वे तीर्थयात्रा के लिये चल पडे।

पुष्टि मार्ग के सस्थापक-महाप्रभु वल्लभ अडैल से व्रज जा रहे थे। अभी कुछ ही दिनो पहले उन्होंने सूरदास को गऊघाट पर दीक्षित किया था। आचार्य ने विश्राम घाट पर कृष्णदास को देखा। वे सुन्दर शरीर तथा कोमल चित्तवृत्ति वाले वालक के घर से सहसा निकल आने की घटना पर सोचने लगे। कृष्णदास को उन्होंने व्रह्म सम्वन्ध दिया। व्रह्म सम्वन्व लेते ही श्री कृष्णदास को भगवल्लीला का ज्ञान हो गया। वे आचार्य के चरण पर गिर पडे। सदा के लिये उनके शरणागत होकर श्रीकृष्ण रूपी परम धन की खोज के लिये आचार्य के साथ गोवर्धन आ गये। आचार्य ने उनको श्रीनाथ जी के मन्दिर का अधिकारी नियुक्त किया। ऐसे तो शयन के समय के कीर्तनकार भी थे। गोपीलीला तथा अनुराग, निकुज आदि के पद रचकर श्रीनाथ जी को समर्पित किया करते थे। अष्टछाप के समस्त कवि तथा वृन्दावन के वडे-वडे रसिक महात्मा उनका श्रीनाथ मन्दिर के अधिकारी होने के नाते वडा सम्मान करते थे। महाप्रभु के गोलोक-प्रवेश के वाद उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ उत्तराधिकारी हुए और उनके कुछ ही समय के वाद शरीर त्यागने पर उत्तराधिकार का प्रश्न वडा महत्व-पूर्ण हो गया। गोसाईं विट्ठलनाथ के विरोध में गोपीनाथ जी की पत्नी ने अल्पवयस्क पुरुषोत्तम जी का पक्ष लिया। कृष्णदास भी पुरुषोत्तम जी की ओर हो गये। वात इतनी आगे वढी कि कृष्णदास ने गोसाईं जी के लिये श्रीनाथ जी का ड्योढी-दर्शन तक वन्द कर दिया। गोसाईं जी परासोली चले आये, वहीं से वे श्रीनाथ जी की ध्वजा का दर्शन

कर लिया करते थे। वीरवल गोसाईं जी के भक्त थे। उनके सकेत पर आगरे के शासक ने कृष्णदास को कारागार में डाल दिया। गोसाईं जी इस घटना से वहुत दुखी हुए। उन्होने व्रत लिया कि जव तक कृष्णदास मुक्त नही होगे, मै अन्न जल नही ग्रहण करूँगा। कृष्णदास उनकी कृपा से मुक्त हो गये, वे गोसाईं जी की सहानुभूति से वहुत प्रभावित हुए। श्री विट्ठलनाथ जी को उन्होने वास्तविक उत्तराधिकारी घोषित किया। गोसाईं जी में उनकी श्रद्धा वढ गयी। उन्होने एक पद में उनकी वडी भावपूर्ण वन्दना की है; उनकी निष्ठा का इससे पता चलता है :

'जय जय श्रीवल्लभनन्दन,
सुरनर मुनि जाकी पदरजवन्दन,
मायावाद किये जु निकन्दन।
नाम लिये काटत भवफन्दन
प्रकट पुरुषोत्तम चरचितचन्दन,
'कृष्णदास' गावत श्रुति छन्दन।'

श्रीविट्ठलनाथ जी उनको वहुत मानते थे। अष्टछाप की कविश्रेणी में उनको सम्मानपूर्ण स्थान दिया। वे गोसाईं जी के उत्तराधिकार-काल में आजीवन श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी वने रहे। उन्होने योग्यतापूर्वक अपने कार्य का उत्तरदायित्व निवाहा। कृष्णदास की उक्ति है कि उसके सामने मस्तक नत कर देना चाहिये जो गोसाईं जी की चरणधूलि का भक्त है.

'ताही को सिरनाइये जो
श्रीवल्लभसुतपदरजरत होय।'

श्रीकृष्णदास जी की देख-रेख में श्रीनाथ जी की सेवा राजसी ढग से होती थी। श्रीनाथ जी उनके प्राणाधार थे, उनका समस्त जीवन उनकी सेवा में समर्पित था। वे श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी थे, उनके यश के गायक थे और चरणसेवक थे। एक वार किसी विशेष कार्य से उनको आगरा जाना पडा। आगरा उस समय मुगल ऐश्वर्य का केन्द्र था। वे आगरा के वाज़ार में घूम रहे थे कि उन्हे इतने में ही किसी युवती का कोकिल कठ सुनाई पडा। वह मधुर से मधुर स्वर में गा रही थी। कृष्णदास कविहृदय के व्यक्ति थे, कलाप्रिय

थे। वे पदगान की ओर आकृष्ट होकर चल पड़े। उन्होंने देखा कि वह नवयुवती एक वारांगना है। उसके मनोमोहक रूप और साजशृंगार ने कृष्णदास के मन में यह भाव पैदा किया कि यह तो श्रीनाथ जी के सम्मुख पदगान करने के लिये स्वर्गलोक से पृथ्वी पर उतर आयी है। उनके हृदय में श्रीनाथ जी की भक्ति का सागर उमड़ आया, उन्होंने निश्चय किया कि इसे श्रीनाथ जी के पदगान और नृत्य-सेवा में समर्पित कर देना चाहिये। भगवान के विश्वासी भक्त के मन में इस प्रकार के पवित्र संकल्प का उठना था कि उनके पैर वेश्या के आगार की ओर अपने आप चल पड़े। वेश्या उनको देख कर सहम गयी, आश्चर्य में पड़ गयी। उसे क्या पता था कि श्रीनाथ जी के परमकृपापात्र, उनकी सेवा के अधिकारी ने अपने भगवान की रीझ और प्रसन्नता के लिये उसके घर को पवित्र किया है। वारांगना की नागिन-सी अलकावली पीठ पर लहरा रही थी उसके चन्द्रमुख के स्वर्ण आभूषण चमक रहे थे, उसके गोरे-गोरे गालों से अमृत की लालिमा का प्रकाश निकल रहा था, वक्ष की सुगन्धित माला मनमोहनी थी, वह ऐसी लगती थी नीली रेशमी साड़ी में मानो नीलाम्बर की आभा उसके शृंगार के लिये पृथ्वी पर उतर पड़ी है। चरणदेश की रक्तिम सुषमा अद्‌भुत थी। कृष्णदास ने उसको एक टक निहारा। निस्सन्देह वह अभिशापग्रस्त दैवी जीव थी, उसके उद्धार का समय निकट था। कृष्णदास ने कहा कि तुम जो धन माँगोगी मैं तुम्हें दूँगा पर एक बार मेरे बालगोपाल श्रीनाथ जी को अपना पद सुना दो। सन्त की पवित्र कृपा-दृष्टि से उसका मन पवित्र हो चला था, वह नन्दनन्दन को रिझाने जायेगी, उनके सामने गायेगी, नाचेगी—यह सोचकर कृष्णदास प्रेममग्न हो गये। भक्त ने वारांगना को उसकी कला, रूप और सुषमा सहित श्रीकृष्ण के चरणों पर समर्पित कर दिया। वह उनके साथ गोवर्धन आयी। वारांगना ने स्नान किया, स्वच्छ वस्त्र धारण किया। वह श्रीनाथ जी के दर्शन के लिये मन्दिर में शुद्ध मन से और पवित्र हृदय से उपस्थित हुई। उत्थापन-झांकी का समय था, यशोदा-नन्दन के अधरों पर स्मित की मन्द-मन्द केलि देख कर वारांगना के रोम-रोम सिहर उठे, उसके नयनों में गोपीजनवल्लभ समा गये। वह उनके रूप पर बिना मूल्य के केवल हृदय के भाव से नीलाम हो

गयी। मन्दिर में पुष्टि-सिद्धान्त के दिग्गज-विशेपज्ञ उपस्थित थे, वडे-वडे रसिक सन्त और भक्त प्रभु के दर्शन से अपने आपको धन्य करने आये थे। कृष्णदास ने आनन्दमग्न होकर कहा कि तुमने आजतक ससारी जीवो को रिझाया है, आज हमारे लाला को रिझाकर अपना जीवन सफल कर लो, ऐसा अवसर फिर नही मिलेगा। वीणा वज उठी, मृदग गरजने लगे, झाझ के खनन-खनन में वारागना के स्वर्णिम पायल की मधुर ध्वनि झकृत हो उठी, ताल और स्वर के रगमच पर उसके कठ ने कृष्णदास का रचित पद गाया

'मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यौ।
ललित त्रिभग चाल पै चलि के चिवुक चारु गडि ठटक्यौ।
सजल स्याम घन वरन लीन ह्वै फिर चित अनत न भटक्यौ।
'कृष्णदास' किए प्रान निछावरि, यह तन जग सिर पटक्यौ।'

श्रीनाथ जी की कृपा-दृष्टि वारागना पर पड गयी। दोनो के नयन चार हो गये, कृष्णदास ऐसे रसिक सन्त की वाणी थी, फलवती हो गयी, प्रभु ने वेश्या को अपने चरणो में स्थान दे दिया। गीत समाप्त होते ही प्रभु के अग से एक ज्योति निकली, वारागना के प्राण उसमें समा गये। कृष्णदास के लाला ने उनके द्वारा समर्पित वस्तु स्वीकार कर ली। कृष्णदास के अधिकारीभाव का उपयोग सिवा श्रीनाथ जी के दूसरा किस तरह कर ही सकता था।

कृष्णदास पुष्टि-भक्ति के दृढ पोपक थे। महाप्रभु के सिद्धान्तों को उन्होंने अपने जीवन मे पूर्णता से चरितार्थ किया था, वे आचार्य के पुष्टिमत के आचरण-भाष्य थे। कृष्णदास की गुरु-निष्ठा अद्भुत और अनुपम थी। उन्होंने कहा है

'कृष्णदास गिरिधर के द्वारे
श्रीवल्लभपदरज वल गरजत।'

उन्होने श्रीवल्लभाचार्य की शरण की अद्भुत महिमा गायी है, उन्होंने स्वीकार किया है कि उनकी चरण-कृपा से मुझे श्रीनाथ जी की भक्ति मिल गयी, मैंने अविद्या का त्याग कर श्रुतिपथ का अवलम्वन लिया। उनका कथन है.

'जब ते स्याम सरन हौं पायौ।
तब ते भेंट भई श्रीवल्लभ, निजपति नाम वतायौ।
और अविद्या छॉडि मलिन मति, स्तुति पथ आप दृढायौ।
'कृष्णदास' जन चहुँ जुग खोजत, अव निहचै मन आयौ।'

कृष्णदास वडे दबग थे। गोसाईं विट्ठलनाथ पर भी उनका अमित प्रभाव था। वे श्रीनाथ जी के सेवासम्वधी अधिकाश कार्य कृष्णदास की ही सम्मति से करते थे। कृष्णदास वहुत वडे सेवा-रसिक सन्त थे। वे मधुररस के उपासक थे पर वात्सल्यलीला में भी अनुरक्त थे। सदा श्रीनाथ जी के सरस सौन्दर्य का चितन करते रहते थे, श्रीराधा स्वामिनी मे उनकी वडी निष्ठा और आस्था थी। उन्होंने अपने पदो मे युगलस्वरूप का पवित्रतम और दिव्यतम लीला-शृगार गाया है। उनका एक ध्यान सम्वन्धी पद है

'विहारिन विलसत स्याम धनी।
नन्दनन्दनवृपभानुनन्दिनी रति-रस-केलि ठनी।
स्याम स्वरूप सन्यो प्रियतम में ज्यो घन तडित वनी।
'कृष्णदास' प्रभु रसवस करि लीने गुन गावत सजनी।'

उन्होंने नित्य-निरन्तर मनमोहन श्यामसुदर की रूप-सुधा पीने वाली राधा की भक्ति में अचल विश्वास प्रकट किया है। राधा-कृष्ण दोनो एक दूसरे के हृदय-देश मे प्रतिक्षण निवास करते हैं—कृष्णदास की यह रसानुभूति थी। उनकी उक्ति है कि हे राधा, आपके सौभाग्य की महिमा अकथनीय है, आपके पति साक्षात् नन्दनन्दन हैं। श्याम तमाल रूपी नटनागर सदा आप को अपनी बाँह-लता में सुरक्षित रखते हैं, आप दोनो सौन्दर्य के मूर्त रूप है, आप दोनो का यश ही परम गेय है। आप की भुजा मे सदा कृष्ण अनुरक्त रहते हैं—विहार करते है। श्रीकृष्ण के सरस विहार मे आसक्त कृष्णदास की चित्त-वृत्ति की एक झाकी में मन मोहित हो उटता है। उनकी वाणी पवित्र और निर्दोप है। उनका पद है

'रीझे माई मोर मुकुट छवि निरखे।
कुण्डल चलन हलन नयननि की मृदुमुसकें मन हरखे।

सग लिये नव तन व्रज वनिता रमत तरणिजा करखे।
'कृष्णदास' के मन की गमता सग सावरी सरसे।'

पद-पद में उनकी रस-भक्ति का पवित्र निष्कलक और दोपातीत दर्शन होता है। भगवान कृष्ण की वालछवि के वर्णन में भी उन्होंने वडी सफलता प्राप्त की। उनके मन ने गोपाललाल की वालदशा की सरस अनुभूति की है। कृष्णदास के नयनो ने वालकृष्ण की भी सरस झाँकी देखी उनकी वाणी साक्षी है

'वाल दसा गोपाल की सव काहू प्यारी।
लै लै गोद खिलावही, जसुमति महतारी।
पीत झगुलि तन् सोहही सिर कुलहि विराजै।
छुद्र घटिका कटि वनी पाय नूपुर वाजै।
मुरि मुरि नाचे मोर ज्यो सुर नर मुनि मोहै।
'कृष्णदास' प्रभु नद के आगन में सोहै।'

रसिक कृष्णदास की कविता भगवान के वात्सल्य-सागर मे स्नान कर युगल स्वरूप की भक्ति से अपना शृगार कर पुष्टिसिद्धान्त के कल्प-तरू के नीचे समाधिस्थ होकर अमर हो गयी, सफल और धन्य हो गयी। वे निकुजलीलारस के पारखी थे, राधाकृष्ण के रूप-सौन्दर्य--दिव्य केलि के कवि थे।

वे राधाकृष्ण के अन्तरग सखा थे। उनमें वात्सल्य, दास्य, सख्य और मधुर भक्ति का सरस समन्वय था। वास्तव में उनका जीवन प्रत्येक रूप से अलौकिक था, उनका ब्रह्मचर्य अखण्ड था, उनकी भगवद्भक्ति निष्कलक थी और उनकी गुरुनिष्ठा मर्यादित थी।

सम्वत् १६३६ वि. के लगभग उन्होने भगवान के लीलाधाम मे प्रवेश किया। वे एक कूप का निर्माण करा रहे थे। उसका निरीक्षण करते समय वे उसमें गिर पडे। उसको पूरा करवा कर श्रीगोसाईं जी ने उनकी आत्मा को शान्ति दी। कृष्णदास का व्यक्तित्व महान था, वे प्रभावशाली सेवक और भक्त थे और उच्चकोटि के सन्त थे।

रचना

उन्होने शृगारभावप्रधान पद लिखे। 'युगल मान-चरित्र' उनकी विशिष्ट रचना है। अष्टछाप के कवियो में उनकी गणना है।

वाणी

नीको मोह् लाग्यो श्रीगिरिधर गावै।
ततथेइ ततथेइ ततथेइ ततथेइ, भैरव राग मिलि मुरली बजावै।
नाचत नृपवृषभानुनन्दिनी औघट गति तग्ग उपजावै।
नूपुर रुनित कुणित मनि ककन जुवति जूथ रसरास बढावै।
सुरति देति म ाु मत्त मधुप कुल एक ताल सब के जिय भावै।
गिरिधर पिय प्यारी के पदरज 'कृष्णदास' न्योछावर पावै।

ग्वालिनि कृष्ण दरस सो अटकी।
बार-बार पनघट पर आवत सिर जमुना जल मटकी।
मदन मोहन की रूप-सुधा-निधि पीवत प्रेमरस गटकी।
'कृष्णदास' धन्य धन्य राधिका लोकलाज सब पटकी।

रास-विलास रच्यो नागर नट।
जुरमण्डल नरतत व्रजवनिता नवल निकुज सुभग जमुना-तट।
उपजत तान बधान सप्त सुर बाजत ताल मृदग बीन रट।
सन्मुख ह्वै नाचत पिय-प्यारी लेत सुघग चाल गति अटपट।
रसिक विहार निरखि ससि हार्यो शरद निसा भूल्यो अपनीअट
'कृष्णदास' गिरिधर श्रीराधा राजत मेघ मानो दामिनि भट।

निरखि सखी नीलाम्बर को छोर।
झमि रह्यो सखी वदन चन्द पै
आइ घटा घनघोर।
हसन लसन दामिनी दुति विलसत
दस नख चन्द चकोर।
'कृष्णदास' प्रभु रूप घटा में
मानो नाचत मोर।

गोस्वामी विट्ठलनाथ

'वल्लभसुत वल भजनके कलियुग में द्वापर कियो।
विठलनाथ व्रजराज ज्यो लाल लडाय कैसुख लियो॥'

—भक्तमाल

गोस्वामी विट्ठलनाथ परम रससिद्ध महात्मा थे। उन्होने पुष्टिमार्ग की मर्यादा के अनुरूप श्रीकृष्ण और उनकी प्राणप्रियतमा राधारानी की रसमयी लीला का चिंतन अमित विद्वत्तापूर्ण ढग से किया, कर्म और ज्ञान दोनो भक्ति की कालिन्दी में रसमग्न कर लोकजीवन का सरस आत्मोत्थान किया, वे महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुण्य के पुञ्जीभूत स्वरूप थे, भागवत धर्म के अभ्युत्थान के लिये धरती पर उनका प्राकट्य हुआ, समस्त प्राणीमात्र को उन्होने श्रीकृष्ण की भक्ति का अधिकारी घोपित किया। निस्सन्देह उनके भजन के प्रताप से कलियुग कृष्णभक्ति मे सरस होकर वृन्दावन की शुद्ध सच्चिदानन्दमयी तथा अलौकिक दिव्य वात्सल्य-लीला और कमनीय कुज की केलि से द्वापर में रूपान्तरित हो गया। उन्होने भगवान कृष्ण की परिचर्या और सेवा का राग, भोग, शय्या, भूषण, वसन आदि से युक्त विधान स्थिर किया। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य ने नन्ददास, छीतस्वामी आदि के वाणी-माध्यम से उनके चरणो मे अमित विश्वास प्रकट किया है। छीतस्वामी की उक्ति है कि, हम तो वल्लभनन्दन विट्ठलनाथ की उपासना और भक्ति करते है, वे साक्षात् मुक्तिस्वरूप है, उनको छोड कर किसी अन्य का ध्यान नही किया जा सकता है, उनका आश्रय ग्रहण करना सर्वथा वैदिक है—वेदसम्मत है। छीतस्वामी ने विट्ठल नाथ में गुरुभावना और भगवद्भक्ति की अभिन्नता की अनुभूति की। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भगवद्भक्ति के अवलम्बन से युगान्तर उपस्थित किया, उन्होने म्लेच्छ से आक्रान्त देश में वैदिक मर्यादा की पवित्रता का सरक्षण किया। नन्ददास की उक्ति है:

'श्रीवल्लभसुत के चरण भजो।
नन्द सुकुमार भजन सुखदायक
पतितन पावन करन भजो।
पुष्टि मर्याद, भजन-सुखसीमा,
निज जन पोषन करन भजो।
'नन्ददास' प्रभु प्रकट भये दोउ
श्री विट्ठलेश गिरिधरन भजो।'

विट्ठलनाथ ने प्रेमलक्षणाभक्ति सिद्ध की। उन्होने असख्य प्राणियों को भगवान के चरणारविंद में प्रणत कर ब्रह्मसम्बन्ध कराया, उनकी कृपा से साहित्य, सगीत और कला ने भक्ति के चरण पर आत्मसमर्पण कर दिया। गोस्वामी विट्ठल नाथ भक्ति-सूत्रधार महाप्रभु वल्लभाचार्य के आत्मज थे, उनके जन्म से परम पवित्र तैलग कुल ही नही, समस्त भरतखण्ड धन्य हो गया। गोस्वामी विट्ठलनाथ महाप्रभु वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म काशी के सन्निकट चरणाट-चुनार में स १५७२ वि में पौष कृष्ण नवमी को हुआ था। उस समय महाप्रभु चरणाट मे ही निवास कर रहे थे। चारो ओर प्रसन्नता की लहर दौड गयी। व्रज में महाकवि सूरदास आदि ने बधाई के पद गाये। परम भागवत ज्योति का धरती पर असख्य जीवों को तारने के लिये अवतरण हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य परम मुदित थे। अपने पुत्र के जन्मोत्सव पर उन्होने प्रचुर दान दिया। वर्णन मिलता है

'सुनि सुत को जस लक्ष्मणनन्दन
ढाढी निकट बुलायो हो।
कचन थार भरे मुक्ताफल
भक्ति वसन पहरायो हो।
मन वाछित फल वहुविधि दीन्हो
कीयो अजाची ढाढी हो।
मानिकचन्द वलि वलि उदारता
प्रीति निरन्तर वाढी हो।'

वृन्दावन में तो दिव्य ज्योति प्रकाशित हो उठी। चरणाट गगातट पर अवस्थित है। भगवती, भागीरथी के हृदय देश में आनन्द उमड आया।

जन्म के एक मास के वाद विधिपूर्वक गगापूजन हुआ। सौभाग्यवती लक्ष्मी देवी अपनी गोद में पुत्र को लेकर गगा-पूजन कर रही थी कि इतने में गगाजल में वाढ आ गयी। भागीरथी ने नवजात का चरण स्पर्श किया। साक्षात् प्रकट होकर लक्ष्मी के भाग्य की सराहना की कि तुम्हारे पति साक्षात् पुरुषोत्तम हैं और पुत्र भी पुरुपोत्तम रूप में प्रकट हुआ। महाप्रभ ने इस घटना पर वडी प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने अपने नवजात शिशु का नाम विट्ठल नाथ रखा। विट्ठल नाथ का जन्म सन्तो के सरक्षण के लिये तथा कलियुग के जीवो के उद्धार के लिये हुआ

कुम्भनदास का पद है -

'प्रकटे श्री विट्ठलेश लाल गोपाल।
कलियुग जीव उधारन कारन सत जनन प्रतिपाल।
द्विज कुल मण्डन तिलक तैलग-वल्लभ कुल अतिरसाल।
'कुम्भनदास' प्रभु गोवरधनधर नित उठि नेह करत व्रजवाल ॥'

सम्वत् १५८० वि में अडैल में उनका यज्ञोपवीत-सस्कार सम्पन्न हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा अडैल में ही हुई। पिता की तरह उन्होंने भी गृहस्थाश्रम ही स्वीकार किया, दो विवाह किये। उनकी पहली पत्नी का नाम रुक्मिणी और दूसरी पत्नी का नाम पद्मावती था। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने जीवन का अधिकाश गोकुल और गोवर्धन में विताया। व्रज के प्रति वे स्वभाव से ही आकृष्ट थे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति वढने लगी। सम्वत् १५८७ वि में महाप्रभु वल्लभाचार्य के नित्य गोलोक-प्रवेश के वाद उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि-मार्ग के आचार्य हुए। पर थोडे समय के वाद उनका गोलोक-गमन हुआ। विट्ठलनाथ जी सपरिवार अडैल से व्रज आ गये थे। उत्तरा-धिकार का प्रश्न छिडने पर गोपीनाथ जी की पत्नी ने अपने पुत्र पुरुपोत्तम जी का पक्ष लिया, कृष्णदास जी भी पुरुपोत्तम जी की ही ओर थे। श्रीविट्ठलनाथ जी ने आचार्यपद की अधिकार-याचना की पर मान्यता न दी गयी। वे श्रीनाथ जी में दृढ अनुरक्त और आसक्त थे। कृष्णदास ने उनका ड्योढी-दर्शन भी वन्द कर दिया। गोस्वामी विट्ठलनाथ श्रीनाथ जी के विरह-दुख से इतने सतप्त हो गये कि

उनका समय कटना कठिन हो गया। वे परासोली चले गये। वहाँ से नित्य नियमपूर्वक श्रीनाथ जी के मन्दिर के झरोखे की ओर देखा करते थे और उनकी पताका को श्रद्धा और भक्ति से नमस्कार कर लिया करते थे। गोविन्ददास का इस घटना के सम्बन्ध मे पद है उससे गोस्वामी विट्ठलनाथ की वास्तविक मनोदशा का पता चलता है

'चितवत रहत सदा गोकुल तन।
बार-बार खिरकी ह्वै झाँकत अति आतुर पुलकित मन।
सुख चाहत है भरत कमल दल लोचन।
ताही समै मिले गी 'गोविन्द' प्रभु कुमर विरह-दुख मोचन।'

परासोली-निवास काल में उन्होने श्रीनाथ जी के वियोग-दुख मे 'विज्ञप्ति' की रचना की। उनके पुत्र गिरिधर ने मथुरा के शासक से शिकायत कर कृष्णदास को कैद करवा दिया। गोस्वामी जी इस घटना से बहुत दुखी हुए। उन्होने अन्न-जल त्याग दिये, उनका उदार और कृपालु हृदय द्रवित हो उठा। कृष्णदास के मुक्त होने पर उन्होने भोजन किया। कृष्णदास गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के इस सहानुभूति-पूर्ण आचरण से बहुत प्रभावित हुए। उन्होने क्षमा माँगी और गोस्वामी विट्ठलनाथ को पुष्टिमार्ग का आचार्य स्वीकार किया, गोस्वामी जी महाप्रभु के आचार्य पद के वास्तविक अधिकारी हुए। गोस्वामी विट्ठल-नाथ कुछ दिनो तक गोकुल में रहे, वे चार साल तक मथुरा में भी रहे, सम्वत् १६२८ वि में गोकुल को उन्होने अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया।

उन्होने गुजरात तथा दक्षिण और मध्यभारत के तीर्थो की यात्रा की थी। बादशाह अकबर, मानसिंह, बीरबल, महारानी दुर्गावती राजा आसकरण आदि उनको बडे सम्मान और आदर की दृष्टि से देखते थे, सर्वथा पूज्य समझते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ का सबसे बड़ा और पवित्रतम कार्य यह था कि उन्होंने पुष्टिभक्ति मे राधाभाव का समावेश किया और नितान्त स्मरणीय तो यह है कि उनकी आराध्या राधा स्वामिनी है, स्वकीया है, उन्होंने उनमें कही भी परकीया भाव का स्पर्श तक नहीं होने दिया, कृष्ण के रमणोत्सव में—केलि में, निकुज-लीला में राधा का उन्होंने स्वकीयत्व मर्यादित किया। गोस्वामी विट्ठल-

नाथ की यह असाधारण मौलिकता है, अपूर्व सूझ है। गोस्वामी विट्ठल-नाथ ने पुष्टिमार्ग को सुदृढ किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की प्राप्ति में सर्वस्व का सदुपयोग किया, अपने जीवनकाल की कलाकारिता, काव्यमर्मज्ञता, सगीतनिपुणता आदि को उन्होने श्रीकृष्ण की भक्ति के चरण पर नीछावर कर दिया। भगवद्भक्ति उनकी सहज सिद्ध सम्पत्ति थी। उन्होने महाकवि सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्द-दास, गोविंददास, चतुर्भुजदास, कृष्णदास और छीतस्वामी आदि को अष्टछाप की पवित्र गद्दी पर प्रतिष्ठित कर साहित्यक्षेत्र में दिव्य क्रान्ति की। अष्टछाप के सन्त कवियो ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण का रसराजत्व सिद्ध किया। गोस्वामी विट्ठलनाथ के अनेक भक्त हुए, उनमें से दो सौ बावन वैष्णव अमित प्रसिद्ध है। इन दो सौ बावन वैष्णवो मे अष्टछाप के आठ सखाओ को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। गोस्वामी विट्ठल नाथ की महिमा के वखान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उत्तरार्ध 'भक्तमाल' में विलक्षण उक्ति है।

'श्री श्री वल्लभ सुअन विप्रकुल तिलक जगत वर।
माया मत तम तोम विमरदन ग्रीष्म दिवाकर।
जन चकोर हित चन्द भक्ति पथ भुव प्रगटावन।
अतरग सखि भाव स्वामिनी दास्य दृढावन।
दैवी जन मिलि अवलव हित इक जा पद दृढ करि गह्यौ।
निज प्रेमपथ सिद्धान्त हरि विट्ठल वपु वरि कै कह्यौ।'

उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा निर्दिष्ट पुष्टिमार्गीय-भगवद्साधना की आठ झाँकियो का सुन्दर क्रम निवाहा, प्रत्येक झाँकी के अलग-अलग अष्टसखाओ में से कीर्तनकार नियुक्त किये। मगला में अनुराग, खण्डिताभाव, जगाने, और दधिमन्थन के पद के लिये परमानन्ददास, शृगार मे वालरूप सौन्दर्य, वेशभूषा और वालक्रीडा के लिये नन्ददास ग्वाल भोग में सख्यभाव, क्रीडा, चौगान, गोचारण, गोदोहन और माखनचोरी के पद-गान के लिये गोविन्ददास, राजभोग में छाक के पद के लिये अष्ट सखा और विशेपरूप से कुम्भनदास, उत्यापन में गोटेरन और वन्य लीला के पद के लिये सूरदास, भोग में कृष्णरूप वर्णन, गोपीदशा, मुरली, रूपमाधुरी, गाय-गोप आदि के कीर्तन के

लिये चतुर्भुजदास, सध्याआरती मे गोग्वाल सहित वन से आगमन, गोदोहन, धैया, यशोदा के वात्सल्यपूर्ण आवाहन के पदगान के लिये छीतस्वामी और शयन मे अनुराग गोपीभाव, निकुज लीला, सयोग-शृगार के वर्णन के लिये कृष्णदास–कीर्तनकार नियुक्त किये। गोस्वामी विट्ठलनाथ निस्सन्देह मध्यकालीन वात्सल्य और माधुर्य से युक्त भागवत साम्राज्य के एकच्छत्र सम्राट थे। सूरदास आदि अष्ट सखा उनके प्रधान मन्त्री थे, श्रीमद्‌भागवत उनका न्याय शास्त्र था और कृष्णभक्ति की प्राप्ति ही उनके साम्राज्य की परम समृद्धि थी। गोविन्ददास का कथन है कि यदि श्री विट्ठल ने रूप न धारण किया होता नो कलि-युग के महापतितो का निस्तार किस तरह होता

'जो पै श्री विट्ठल रूप न धरते।
तो कैसेक घोर कलियुग के महापतित निस्तरते।'

वे चतुर्भुजदास के लिये समस्त सुखो की महामागलिक निधि थे और नन्ददास ने तो तन-मन-धन–सब कुछ उन पर नीछावर कर दिया था।

पुष्टिमार्ग को युगल स्वरूप की उपासना उनकी वहुत वडी देन है। उन्होने अनन्य भाव से कृष्ण की प्राणेश्वरी राधा का भजन किया। उनकी परम पवित्र उक्ति है कि हे नाथ, हे व्रजराजनन्दन! मै दातो में तिनका लेकर विनती करता हूँ कि हे मोहन! आप की अत्यन्त प्रियतमा श्री राधा ही जन्म-जन्म में मेरी प्रिय स्वामिनी हो। एक स्तोत्र में उन्होने राधा के प्रति अत्यन्त पूज्य भाव प्रकट किया है। उनकी उक्ति है कि 'राधे! अपने प्रियतम श्री व्रजेन्द्रनन्दन के नेत्रो से कटाक्ष रूपी वाणो की वर्षा होने पर आप के अधरो से जो मधुर हास्य की उज्ज्वल धारा फूट निकलती है और आप के नेत्रो से जो अश्रु-प्रवाह छूट पडता है उन्ही में सदा गोता लगता रहूँ—स्नान कर लिया करूँ और किसी जल मे मुझे कोई प्रयोजन न रहे। जव-जव मुझे भूख लगे, आप के मुख से उगले पान के बीडे का ही मैं भोजन कर लिया करूँ—किसी दूसरे आहार की मुझे आवश्यकता न पडे। इसी प्रकार जव-जब मुझे प्यास सताये, आप की करुणाभरी मधुर मुसकान तथा चितवन रूपी अमृत का पान करके ही मैं तृप्त हो जाऊँ।

अत्यन्त दीन भाव से तीनो समय आप के चरणो मे प्रणाम ही मेरी त्रिकालसध्या हो और विरहजनित ताप और क्लेश में गहरे डूब कर आप के नामो का जोर-जोर से उच्चारण ही जप हो। अस्ताचल को जाते हुए सूर्य रूपी प्रचण्ड अग्नि में दिन भर के वियोगजनित दुख का मै हवन किया करूँ और आप के पूछने पर प्रियतम श्यामसुन्दर की वात कहना ही मेरे लिये ब्रह्म यज्ञ–वेदो का स्वाध्याय हो। प्रियतम से समागम होने पर सखियो सहित आप के मन में जो महान उल्लास का आविर्भाव होता है, उसे देखने से ही मेरे मन की साध पूरी हो जाती है ' मै कृतकृत्य हो जाता हूँ। उस समय होने वाली मेरी सम्पूर्ण इन्द्रियो की तृप्ति ही मेरे लिये तर्पण हो। इस प्रकार मेरी जीवन-यात्रा चलती रहे। आप के चरणो से अलग होते ही मेरी मृत्यु हो जाय। इस प्रकार एक मात्र आप का ही मुझे आसरा रहे।' गोस्वामी जी की राधा-भाव-उपासना की यह एक झाँकी है, राधा की उन पर असीम कृपा थी। गोस्वामी विट्ठलनाथ की अट्ठाइस बैठक हैं। उनमें उन्होने अद्भुत चरित्र प्रकट किये। एक वार वे व्रज में कराहला में थे, रासोली में ललिता का स्वरूप है। गोस्वामी जी उस स्वरूप को एक माला पहनाने लगे, ललिता ने माला ले ली, पहनी नही। शाम को दर्शन के लिये फिर पधारने पर ललिता ने कहा कि माला स्वामिनी राधा जी को पहनायी है, उन्होने प्रसाद दिया है, पहनोगे। गोसाईं जी ने माला पहन ली, अपने सौभाग्य की सराहना की। उनकी उक्ति है कि हे राधे, निकुज में पुष्पशय्या केलि जन्यश्रमजलविन्दु मुखकमलश्रीसे सम्पन्न सहज कृपा से माला देने के लिये आप मेरा स्मरण करती है, इससे वढ कर और क्या है ? गोस्वामी जी को युगल-स्वरूप लीला के दर्शन होते रहते थे। एक वार वे कोटवन में गोविंद स्वामी के साथ थे। उन्होने उन्हें कदमखण्डी की लीला दिखायी, गोविन्ददास ने देखा कि युगल स्वरूप विहार कर रहे है, श्रीकृष्ण ने राधारानी के वक्षस्थल की माला मर्दित कर तोड डाली है, मोती भूमि में विखर गये है, उन्हे पोहकर माला पहना रहे है। गोविन्ददास का इस लीला के सम्वन्ध में एक पद है .

कदमवन वीथन करत विहार।
मदन मोहन पिय अति रसमाते

तोर्‌यो प्रिया उरहार।
कनक भूमि बिथुरे गजमोती
कुंजकुटी के द्वार।
'गोविन्द' प्रभु श्री हस्त सो पोई
सुंदर ब्रजराज कुमार।

इन घटनाओ में गोस्वामी विट्ठल नाथ की अचल राधा भक्ति अन्तरस्थ है। पुष्टिमार्ग की उन्नति का श्रेय विट्ठलनाथ जी को ही है। उन्होंने सब को समान रूप से कृष्णभक्ति का उपदेश दिया। वे बहुत बड़ी भागवत विभूति थे, शक्ति थे।

इस धरती पर बहुत दिनो तक भक्ति का प्रचार कर उन्होंने जीवन-लीला-संवरण किया। सम्वत् १६४२ वि में फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को गोवर्धन की एक कन्दरा में प्रवेश कर उन्होंने शरीर-त्याग किया। उनके लीला-प्रवेश के समय अष्टछाप के सन्त चतुर्भुजदास उपस्थित थे। वातावरण करुणरस से सप्लावित था। उन्होंने अमित करुण स्वर मे गोस्वामी जी के प्रति श्रद्धाजलि प्रकट की।

'श्री विट्ठलनाथ से प्रभु भये न ह्वै है।'
पाछे सुने न देखे आगे, वह सग फिरि न बनै है।

* * *

को फिरि नन्दराय को वैभव ब्रजवासिनि विलसै है।
श्री वल्लभ सुत दर्शन कारन अब सब कोउ पछितै है।
'चतुर्भुजदास' आस इतनी जो सुमिरन जनमु सिरै है।

उनका समस्त जीवन भगवान कृष्ण की सौन्दर्य-माधुर्य-लीला के दर्शन-बोध का चिन्मय प्रतीक है। उनकी गोलोकयात्रा के बाद उनकी गद्दी उनके सात पुत्रों में विभाजित हो गयी। लोक-जीवन में लोकोत्तरता और चिन्मयता अथवा अलौकिकता का समावेश पुष्टिमार्ग की विशेषता है और इस मर्म के अप्रतिम मर्मज्ञ गोस्वामी विट्ठल नाथ जी स्वीकार किये जाते हैं। उन्होंने भगवान की कृपा की सरस कालिन्दी में अपने हृदय के वंशीवट पर युगल स्वरूप की लीला-अभिव्यक्ति की, उनका जीवन सर्वथा सफल था।

रचना

विद्वन्मण्डन, निवन्धप्रकाश टीका, सुवोधिनी की टिप्पणी, भक्तिहेतु शृगाररसमण्डन, भक्ति हस, विज्ञप्ति आदि विट्ठल नाथ जी की रचनायें हैं।

वाणी

सवके आत्मा रूप से व्याप्त, भगवान व्रजराज श्रीकृष्ण का ही सदैव भजन करना चाहिये, वे ही हम लोगो के लौकिक-पारलौकिक लाभ सिद्ध करेगे।

दूसरे का आश्रय नही लेना चाहिये, वह सर्वथा वाधक होता है, सदा स्वावलम्वी होकर, सव तरह से आत्मभाव का पालन करना चाहिये।

कालादि दोषो को दूर करने वाले भगवान कृष्ण का सदा-सर्वदा सेवन करना चाहिये और दोष-दृष्टि को त्याग कर, श्रद्धापूर्वक उनके भक्तों का सग करना चाहिये।

भगवान कृष्ण में ही सदा अपने मन को लगाये रखना चाहिये, क्योंकि उनके भक्तो को कठिन काल भी वाधा नही पहुँचा सकता है।

सन्त गोविन्ददास

'सो गोविन्द स्वामी कवीश्वर हते,
तो आप पद करते।'

—अष्टछाप

'सन्त' शब्द भगवान के सत्स्वरूप की विशेष उपाधि है। सन्त का प्राणधन सत्य है। इस सत्य के प्रति विशेष अनुरक्ति ही उपासना के क्षेत्र में भगवत्सम्बन्ध अथवा भक्ति है। सन्त गोविन्ददास भगवान श्रीकृष्ण के विशेष कृपापात्र थे। वे उनकी सखाभाव से भक्ति करते थे। विचित्र बात तो यह है कि श्यामसुन्दर साक्षात् प्रकट होकर उनके भाव के अनुकूल उनके साथ खेला करते थे। दोनों मे गहरी छनती थी। श्रीकृष्ण की सख्य-भक्ति के प्रचार मे सन्त कवि गोविन्ददास का विशेष हाथ स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त के अनुरूप भगवान श्रीकृष्ण की सख्य-भक्ति सिद्ध की। वे वैराग्यराग के रसिक थे, भक्त, सन्त और कवि थे, महान भगवदीय थे।

उनके जीवन-काल मे भारत के अधिपति महामुगल अकबर थे। अकबर की उदारता और मेल-जोल की नीति से देश में राजनैतिक शान्ति थी, जनता सुखी और निश्चित थी। ऐसे समय मे भगवद्भक्ति के प्रचार का पवित्र और शुभ कार्य आरम्भ हुआ। व्रज मे श्रीकृष्ण और अवध मे राम की भक्ति लहलहा उठी। तत्कालीन साहित्यचेतना भगवद्भक्ति में मग्न हो गयी। सन्त गोविददास की वाणी का इस साहित्य-क्रान्ति मे असाधारण सहयोग था। गोस्वामी—गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन्हें 'कवीश्वर' की उपाधि से सम्मानित किया था। गोविंददास भगवान कृष्ण के श्रीदाम सखा के स्वरूप स्वीकार किये जाते है, वे श्रीकृष्ण के परम अन्तरंगी थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ और वृन्दावन में उनकी बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी। गोविन्ददास ने बड़ी पवित्रता से आजीवन श्रीकृष्ण की ही लीला गायी।

सम्वत् १५६२ वि के लगभग व्रज के निकट भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आन्तरी गाव में एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे गोविन्ददास का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनमे ससार के प्रति अनासक्ति और वैराग्य के वीज अकुरित होने लगे। गृहस्थाश्रम में उनका मन नही लग सका। उन्होने सन्यास ले लिया। उन्होने महावन में निवास स्थिर किया। एक ऊँचे टीले पर बैठ कर शास्त्रीय विधि से सगीत गाया करते थे। वे कुशल कवि थे, यद्यपि उनकी शिक्षा न्यून थी तो भी उनकी सूझ और प्रतिभा निराली तथा अलौकिक थी। वे भगवद्-भक्ति में सने सुन्दर-सुन्दर पद वना कर भगवान को रिझाया करते थे। अकवर वादशाह की राजसभा के सगीतसम्राट तानसेन कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे। तानसेन और उनमें गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सम्वन्ध में प्राय वाते हुआ करती थी। गोसाई विट्ठलनाथ और गोविदस्वामी दोनो एक दूसरे के यश और भक्ति-भावना से परिचित थे, यद्यपि उनका कभी साक्षात्कार नही हुआ था। तानसेन की प्रेरणा से गोविन्द स्वामी ने गोसाईं विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने का निश्चय किया। शिष्य होने के पहले एक दिन वे गोकुल गये। उन्होने यमुनातट पर गोस्वामी जी को सध्या-वन्दन करते देखा, वे आश्चर्य-चकित हो गये कि भक्ति मे कर्मकाण्ड की क्या महत्ता है। मन्दिर में उपस्थित होकर उन्होने गोसाईं जी के सम्मुख अपनी जिज्ञासा प्रकट की। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने समाधान किया कि भक्तिमार्ग फूलरूपी है और कर्ममार्ग काटारूप है। फूल बिना रक्षा के नही फूलते है इसलिये उनकी चारो ओर वैदिक कर्मकाण्ड का वाडा लगा दिया जाता है। कर्म से भक्ति की मर्यादा सुरक्षित होती है। गोसाई जी के भक्ति और कर्म के समन्वयसिद्धान्त से गोविन्दस्वामी वहुत प्रभावित हुए। उन्होने गोसाईं जी से शरणागति की प्रार्थना की। सम्वत् १५९२ वि में गोसाईं जी ने उन्हे दीक्षा दी। वे गोविन्दस्वामी से गोविन्ददास हो गये। गोसाईं जी के परम कृपापात्र और भक्त हो गये। वे श्रीनाथ जी के कीर्तनकार नियुक्त हुए। दीक्षा के बाद वे आजीवन गुरु और भगवान श्यामसुदर की सेवा मे सलग्न रहे।

वे गोवर्धन के निकट कदम्व वृक्षो की एक रमणीय वाटिका में रहने लगे, वह स्थान 'गोविन्ददास की कदम खण्डी' के नाम से प्रसिद्ध

है। वे सरस पदो की रचना कर श्रीनाथ जी की सेवा करने लगे। भगवान नन्दनन्दन कें व्रज पर उन्होने सर्वस्व समर्पित कर दिया। उन्होने चिन्मय व्रजभूमि में प्रगाढ श्रद्धा और निष्ठा प्रकट की है, व्रज की धूलि में उन्हे अपने मदनमोहन श्रीनाथ जी की चिन्मयता प्रतिविम्वित दीख पडती थी। व्रज-महिमा के वखान में उनकी उक्ति है कि वैकुण्ठ में जाकर क्या होगा, उसमें कालिन्दी की श्यामता, नन्द-यशोदा के वात्सल्य, श्यामसुन्दर की मुरली-ध्वनि और राधारानी के चरणारविंद का दर्शन ही नही हो सकता, इन चिन्मय पदार्थों के दर्शन का सौभाग्य व्रज मे ही मिल सकता है, कवि का पद है -

'कहा करो वैकुण्ठे जाइ।
जहाँ नहीं वसीवट जमुना गिरि गोवर्धन, नन्द की गाइ।
जहाँ नही ए कुज लता द्रुम, मन्द सुगन्ध वाजत नहि वाइ।
कोकिल मोर हस नहि कूजत, ताको वसिवो कहा सुहाइ।
जहाँ नही वसी धुनि वाजत कृष्ण न पुरवत अधर लगाइ।
प्रेम पुलक रोमाञ्चय उपजत मन क्रम वच आवत नहि दाइ।
जहाँ नहि ए भुववृन्दावन वावा नन्द जसोमति माइ।
'गोविन्द' प्रभु तजि नन्द सुवन को व्रज तजि वहाँ वसति वलाइ।'

गोविन्ददास ने मुक्ति का परित्याग कर भक्ति की राजधानी मे अपने आप को नीलाम कर दिया। उनके जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का परिचय मिलता है। व्रह्मसम्वन्ध लेने के वाद वे गोवर्धन में ही रहने लगे थे। एक वार उनके गाँव के कुछ परिचित व्यक्ति और पूर्वाश्रम के शिष्य उनसे मिलने आये। वे यशोदाघाट पर स्नान कर रहे थे। उन्होने गाँव वालो को पहचान लिया पर गाँव वाले यह न समझ सके कि गोविन्द स्वामी वे ही हैं। गाव वालो ने गोविन्द स्वामी का पता पूछा तो उन्होंने कहा कि गोविन्द स्वामी की मृत्यु हो गयी। गोविन्ददास के रूप में उन्हें अपना परिचय दिया। वे वैराग्य के मूर्तिरूप गोविन्ददास का चरण-स्पर्श कर धन्य हो गये।

एक बार अकबर ने गोविन्ददास के दर्शन से अपने आप को धन्य करना चाहा। यशोदाघाट पर गोविन्ददास जी भैरव राग का अभ्यास कर रहे थे। शीतल मन्द सुगन्धित समीर वह रहा था। प्रात

काल का समय था। अत्यन्त शान्त वातावरण था। पशु-पक्षी सव-के-सव गान सुनने में तल्लीन थे। अगणित भक्त उपस्थित थे। गोविन्ददास झूम-झूम कर गा रहे थे

'आओ मेरे गोविन्द, गोकुल चन्दा।
भइ वडी वार खेलत जमुना तट, वदन दिखाइ देहु आनदा।
गायन की आवन की विरियाँ, दिनमनि किरन होति अति मदा
आये तात, मात छतियाँ लगे, 'गोविन्द' प्रभु व्रज जन सुख कदा।'

श्रोताओ में तानसेन और उनके साथ साधारण वेश में अकबर ने भी सरस गान का रसास्वादन किया। अकबर के मुख से सहसा 'वाह-वाह' शब्द निकल पडे। गोविन्ददास से अकबर ने कहा कि मै वादशाह हूँ। गोविन्ददास ने कहा कि तुम वादशाह हो तो वादशाही करो, इस स्थान पर तुम्हारी आवश्यकता नही है। व्रजराज के भक्त के मुख से ऐसी वात सुनकर उदार अकवर को प्रसन्नता हुई। अकबर के जाने के वाद गोविन्ददास ने सोचा कि अकवर की वाह-वाही से भैरव राग अपवित्र हो गया। उन्होने श्रीनाथ जी के सामने भैरव राग कभी न गाने का नियम लिया और उसे आजीवन निवाहा। इस प्रकार उन्होने श्रीनाथ जी की शुद्ध भक्ति में अपने समय का सदुपयोग किया। भगवान से सम्बन्ध होने पर लोक का विस्मरण हो जाता है, मन स्वाभाविक रूप से चिन्मय आनन्द में रमण करने लगता है।

श्रीनाथ जी ही उनके सर्वस्व थे। वे कदमखण्डी में अपनी वहन कान्हावाई, जो गोसाईं विट्ठल नाथ की शिष्या थी, के साथ रहते थे। एक दिन उनकी लडकी गोविन्ददास से मिलने आयी। वहुत दिनो तक उनके साथ रही पर उन्होने एक दिन भी वात नही की। कान्हावाई के पूछने पर उन्होने निस्सकोच कहा कि मन एक है, वह श्रीनाथ जी की रूप-माधुरी में आसक्त है इसलिये लडकी से वात करने या उसके प्रति स्नेह प्रकट करने का अवकाश ही नही मिलता है, यह थी श्रीनाथ जी के चरणो में उनकी अनन्यता।

वे श्रीनाथ जी को अपना सखा मानते थे। उन्होने सख्य भक्ति सिद्ध की। श्रीनाथ जी उनके साथ खेलते थे, हँसते थे, सदा उनके सयोग से प्रसन्न होते थे। निस्सन्देह वृन्दावन की पवित्र भूमि धन्य है जिस

पर भगवान कृष्ण भक्तो का मनोरञ्जन करते रहते हैं। एक वार खेल–ही–खेल में उन्होने श्रीनाथ जी को ककडी मारी। मुखिया ने गोसाईं विट्ठल नाथ जी से शिकायत की। उन्होने गोविन्ददास से कारण पूछा। उन्होने कहा कि आप के लाला ने तीन ककडी मारी थी, मैंने वदला लिया। गोसाई जी ने गोविन्ददास के सौभाग्य की सराहना की और भगवान की लीला समझ कर मौन हो गये। गोविन्ददास थे तो श्रीनाथ जी के सखा ही।

श्रीनाथ जी ने गोविन्ददास की मित्रता निवाही। प्रभु की कृपा ही तो है, जिसकी ओर वे एक वार देख कर अपना लेते है वह जन्म-जन्म के लिये उन्ही का हो जाता है, ससार का सम्वन्ध तो टूट जाता है पर भगवत्सम्वन्ध कभी नही टूटता है। एक दिन गोविन्ददास आत्म-विभोर होकर श्रीनाथ जी से गुल्ली खेल रहे थे। राजभोग का समय हो गया। विना दाँव दिये ही भगवान श्यामसुन्दर मन्दिर मे चले गये। गोविन्ददास ने उनका पीछा किया। भक्त और भगवान दोनो की लीला विचित्र होती हैं। दाँव लेने के लिये गोविन्ददास जगमोहन में खडे हो गये। मुखिया और जलघडिया आदि ने उनको अपमानित कर मन्दिर से वाहर निकाल दिया, वे उनकी दृप्टि मे साधारण जीव थे, गोविन्ददास का यह साहस उनके लिये अक्षम्य था कि वे श्रीनाथ जी की समता करे। गोविन्ददास रूठ कर मन्दिर के सामने रास्ते पर वैठ गये। उन्होने प्रण किया कि जव श्रीनाथ जी मन्दिर से वाहर खेलने के लिये आयेंगे तव रोक कर दाव लूगा। इधर मदिर में राज-भोग भगवान के सम्मुख रखा गया, भोग स्वीकार नही हुआ, नन्दनन्दन के सखा का अपमान हुआ, वे अपने मित्र का अपमान किस तरह सह सकते थे। रास्ते पर सखा अपमानित होकर तथा रूठकर विना भूख-प्यास की चिन्ता किये खडे हो और श्रीनाथ जी भोग स्वीकार करे यह नितान्त असम्भव वात थी। प्रभु की भक्ति-मर्यादा के विपरीत थी। श्रीविट्ठल नाथ जी ने गोविन्ददास की वडी मनौती की वे गोसाईं जी के कहने पर मन्दिर में आये। भगवान ने भोग स्वीकार किया। ब्रज के ग्वाले ठाकुर की रीझ ही तो थी, गोविन्ददास ने भी भोजन किया, मित्रता धन्य हो गयी।

एक दिन पुजारी राजभोग की थाली श्रीनाथ जी के लिये ले जा रहा था। गोविन्ददास ने आग्रह किया कि पहले मुझे खिला दो। पुजारी ने गोसाईं जी महाराज से कहा। गोविन्ददास ने विट्ठलनाथ जी से निवेदन किया कि आप के लाला खा-पीकर मुझसे पहले गाय चराने के लिये निकल पडते है, मैं पीछे रह जाता हूँ। विट्ठलदास जी ने उनके भाव से प्रसन्न होकर श्रीनाथ जी के राजभोग के साथ-साथ नित्य प्रति उनके भोजन और प्रसाद की व्यवस्था कर दी। गोविन्द दास पलमात्र के लिये भी श्रीनाथ जी के सम्पर्क-सुख का रस नही छोडना चाहते थे।

श्रीनाथ जी उनसे प्रत्यक्ष वात करते थे पर देखने-सुनने वालो की समझ में कुछ भी नही आता था। एक वार शृगार-दर्शन के समय श्रीनाथ जी की पाग मुखिया ने अच्छी तरह नही बाँधी थी। गोविन्द-दास ने श्रीनाथ जी से इस सम्वन्ध में निवेदन किया तो भगवान ने आज्ञा दी कि तुम भीतर आकर ठीक कर दो। गोविन्ददास ने मन्दिर में प्रवेश कर पाग अच्छी तरह बाँध दी। मुखिया ने गोसाईं जी से कहा कि श्रीनाथ जी तो छू गये। गोसाईं जी ने तत्काल समाधान किया कि गोविन्ददास परम भगवदीय है, श्रीनाथजी के सखा है, उनके स्पर्श से श्रीनाथ जी आनन्दित होते है।

भगवान भाव के भूखे होते है, वे अपने प्रेमियो के पीछे-पीछे घूमा करते है। एक वार वे श्यामढाक पर वैठ कर वशी वजा रहे थे। मन्दिर में उत्थापन का समय हो गया था। गोविन्ददास वृक्ष के नीचे खडे होकर श्रीनाथ जी का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे थे। गोसाईं जी ने स्नान कर मन्दिर में प्रवेश किया, इधर श्यामसुन्दर वशी वजाते-वजाते वृक्ष पर से उतावली में कूद कर मन्दिर में चले गये। वृक्ष से कूदते समय वागा फट गया और उसका एक चीर वृक्ष पर लटक गया। मन्दिर का पट खुलने पर गोसाई जी ने देखा कि श्रीनाथ जी का वागा फटा हुआ है। उन्होने सोचा कि प्रभु ने आज कोई-न-कोई विचित्र लीला की होगी। गोविन्ददास मन्दिर मे आ पहुँचे, उन्होने विट्ठलनाथ जी महाराज से निवेदन किया कि आप के लाला का वागा वृक्ष से कूदते समय फट गया है, उसका एक चीर वृक्ष पर लटक रहा है।

गोसाईं जी वृक्ष पर लटकता चीर देखर कर आश्चर्य मे पड गये। उन्होने गोविन्ददास के सख्यभाव की प्रशसा की, कहा कि ऐसे भगवदीय धरती पर दुर्लभ हे जिनके साथ श्रीनाथ जी इस तरह का वर्ताव करते है। गोविन्ददास को युगलस्वरूप का समय-समय पर दर्शन हुआ करता था। श्रीनाथ जी के वे अभिन्न प्रेमपात्र थे। वे एक बार युगल स्वरूप के शृगार का वर्णन कर रहे थे, झूम झूम कर कीर्तन गा रहे थे। उनके सामने मदनगोपालदास कायस्थ वैठ कर पद लिख रहे थे। मदनगोपालदास के आने के पहले गोविन्ददास के कहने पर श्रीनाथ जी स्वय गाने लगे तथा राधारानी ताल देने लगी। गोविन्द-दास-बीच बीच में 'वाह-वाह' कर उठते थे। मदनगोपालदास ने विस्मित होकर पूछा कि यहाँ तो कोई भी नही दीख पडता है, आप किसके प्रति वाह-वाह कर रहे हे। गोविन्ददास ने उत्तर नही दिया। विट्ठलनाथ जी महाराज से एक दिन उन्होने कहा कि श्रीनाथ जी वहुत अच्छा गाते है और स्वामिनी जी के ताल देने का ढग तो अनुपम है। गोसाईं विट्ठलनाथ रसिक सन्त थे, उन्होने भगवान की कृपा-महिमा का दिग्दर्शन कराया, रहस्य बताया। उनकी काव्यकारिता का स्वरूप भगवान के लिये काव्य करना था, उनकी भक्ति का स्वरूप भगवान श्रीनाथ जी के सख्य सुख को वढाना था और सिद्धान्त था श्री विट्ठलनाथ गोस्वामी-गोसाई के चरणो में अनन्यभाव से पूर्ण समर्पण। उन्होने भगवान के प्रति दास्य और दैन्य भाव का कभी वरण नही किया, उनके उपास्य तो लोकलोकान्तर के स्वामी सखा श्रीनाथ जी थे, उन्होने सदा अपने दिव्य मित्र का सख्य गाया, वे ससार और ससार के वस्तुओ के प्रति अनासक्त थे, उनके सर्वस्व रसिकराजेश्वर नन्दनन्दन थे। उन्होने किसी के भी सामने कभी दीनता का प्रदर्शन नही किया, सख्य भाव के आवेश में अपने गुरु गोसाईं विट्ठलनाथ जी से भी अपने मन की वात निस्सकोच कह डालते थे पर ऐसा करते थे वे श्रीनाथ जी की प्रीति के लिये अन्यथा श्री विट्ठलनाथ के चरणों में उनकी अचल भक्ति थी। श्रीभगवान के प्रति वे पूर्ण निष्कपट और नितान्त पवित्र तथा शुद्ध भाव से सम्पन्न थे। उन्होने श्रीनाथ जी के सम्मुख कीर्तन करते समय कभी अशुद्ध या गलत राग-रागिनी का प्रयोग नही किया। उनके मन और हृदय तो शुद्ध थे ही, वाणी

दृष्टि—सब कुछ भगवान के यश-गान और लीला-दर्शन से पवित्र थी। अधिकाश में 'ग्वालभोग' के समय की लीलाओ का अपने पदों में वर्णन किया है। वर्णन में अमित माधुरी है। भगवान के वशीवादन के चित्राकन में उनका एक पद है :

'लाल मुख वेनु वाजे मन्द-मन्द कल।
वाम भुजा पर वाम कपोल कुण्डल वलगत भ्रू युग चपल।
मोहन व्योम वितान वनिता खसित नीवी सुधि न अचल।
'गोविन्द' प्रभु के तरुन मदमाते विघूर्णित लोचन युगल।'

इसी प्रकार उन्होने निकुजलीला का भी वर्णन विशेष रस में किया है। कोटि-कोटि काम जिनके शरणागत है उन श्रीनाथ का शृगार गाया है। उनकी गुरुभक्ति उच्च कोटि की थी। उनकी उक्ति है कि मेरे श्रीविट्ठल से वडकर और कोई दूसरा नही है। गोविन्ददास भक्त थे। उन्होने भगवत्प्राप्ति के मार्ग प्रेम-भक्ति को ही प्रधानता दी है, उनके लिये ज्ञान और कर्म दोनों गौण थे। प्रियतम की प्राप्ति उन्होंने प्रीति में ही पायी। उनकी उक्ति है

प्रीतम प्रीति ही तैं पैयें।
जदपि रूप गुन सील सुघरता, इन वातनि न रिझैये।
सत कुल जनम करम सुभलच्छन वेद पुरान पढैये।
'गोविन्द' प्रभु विनु स्नेह सुवालो रसना कहा नचैये।

पुष्टि भक्ति का तो फल ही भगवत्प्रीतिसिद्धि है। जीव का भगवान से प्रेम करना सहज स्वभाव ही है। यही भक्ति है। इस भक्ति के लिये भक्त भगवान से विशेप सम्वन्ध जोड लेता है। गोविन्ददास ने सख्य-सम्वन्ध जोडा। श्रीनाथ जी प्राकृत वालक की भाँति उनके साथ खेलते रहते थे। गोविन्ददास ने सख्य की रस-सरिता की मध्य धारा में स्नान कर अपने मित्र की परम निगूढ लीला गायी है। युगल स्वरूप के विहार का भी उन्होने अपने पदो में दिग्दर्शन कराया है। कुसुम भवन में कुसुम की सेज पर कुसुमो के परदे में कुसुम के आभूपण पहन कर विराजने वाली युगल जोडी का उन्होने समय-समय पर अद्भुत दर्शन किया।

वे वडे आचारनिष्ठ थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के सिद्धान्त में उनकी गहरी निष्ठा थी, उनका प्रत्येक आचरण पुष्टि-सिद्धान्त के अनुरूप था। श्रीयमना जी में उनकी वडी भक्ति थी। उनकी दृष्टि में यमुना जी साक्षात् स्वामिनी श्री राधाजी ही थी। उन्होने कभी यमुना जी में पैर नही रखे, न उनमें स्नान किया और न आचमन किया। यमुना-जल पीते थे पर स्नान कूप के जल से ही करते थे। उनके समस्त आचार-विचार पूर्ण रूप से भगवदनुकूल थे।

कलिन्दनन्दिनी के तीर पर कुजलीला में मग्न राधाकृष्ण का ही उन्होने आजीवन विहार-दर्शन किया। गोसाईं विट्ठल नाथ जी के लीला-प्रवेश के समय ही सम्वत् १६४२ वि में कार्तिक कृष्ण सप्तमी को उन्होने गोलोक की यात्रा की। गोवर्धन की एक कन्दरा के निकट उन्होने देहत्याग किया।

गोविन्ददास विनोदी स्वभाव के होते हुए भी भक्ति के परम मर्मज्ञ थे। अष्टछाप के कवियो में उनकी आचार-निष्ठा श्रीनाथ जी के प्रति प्रगाढ प्रेम देख कर गोसाईं जी ने उनको 'कवीश्वर' की सज्ञा से समलकृत किया। गोविन्ददास महात्मा, सन्त, भक्त तथा कवि—सब कुछ थे। उनकी करनी-कथनी समान थी। भगवान केअनुकूल थी।

रचना

उन्होने दो सौ वावन लीलासम्वन्धी तथा अनेक फुटकर पदों की रचना की।

पद

वलि वलि आजु की वानिक लाल।
कसूमी पाग पीत कुलह भरित कुसुम गुलाल।
विश्व मोहन नव केसरि कौ तिलक ललित भाल।
सुन्दर मुख कमलहि लपटात मधुव्रत जाल।
वरुनी पीत वियुरित वन्द सुभग उरसि विसाल।
गोविन्द प्रभु के परसत नख तरुनि तुलसी माल।

माई हम न भई वड भागिनि वाँसुरी।
कर अवुज में रहति सदाई पल पल पीवत अधर मधुर सुरी।

मुरली मनोहर नाम याते कहियत ऐसो और कौन को वढल
जग जसुरी ।
'गोविन्द' वलि हम कहत पियारी माई याही ते विधाता लियो
है हमारो सर्वसुरी ।

'कहि न परो हो रसिक कुँवर की कुँवराई।
कोटि मदन नख जोति विलोकत परसत
नव इन्दु किरण की जुन्हाई।
कंकन वलय हार गज मोती देखियत
अंग अंग मे वह झाई।
सुघर सुजान स्वरूप सुलक्षण
'गोविन्द' प्रभु सव विधि सुंदरताई।

वल्लभ-चरन लग्यो चित मेरो।
इन विन और कछू नहिं भावे इन चरननि को चेरो।
इनहि छाँडि जो औरे धावे सो अति मूढ घनेरो।
'गोविन्द' इहि निश्चै करि लीनो सोई ज्ञान भलेरो।

ठाढे कुंजभवन लटपटी पाग छुटी।
अलकावलि घूमत नयन सोहे अरुन वरन।
कहा कहूँ अंग-अंग की शोभा
निरखत मन मुरझन।
'गोविन्द' प्रभु या छवि निरखत
रतिपति भये हैं सरन।

नैन छवीले तरुन मद माते।
चंचल चपल भ्रकुटि छवि उपजत
अनि अनि अनि मुसकाते।
भक्त-कृपारस सदाई प्रफुलित
मानो कमल दल राते।
'गोविन्द' प्रभु को श्रीमुख निरखत
पान करत न अघाते।

रसिक सन्त नन्ददास

यदपि अगम ते अगमअति, निगम कहत है ताहि।
तदपि रंगीले प्रेम ते निपट निकट प्रभु आहि।

—रूपमञ्जरी

नन्ददास रसिक सन्त थे। वे भगवान के रूप-लावण्य और रस के चिन्तक थे। उनकी कविता भगवद्भक्ति की सरसता की प्रतीक स्वीकार की जा सकती है। उन्होने आजीवन अपने श्वास-श्वास में रगीले श्याम-सुन्दर की लीला का ध्यान किया, उन्होने भगवद्प्रेम प्राप्ति के लिये साधना की। लौकिक रूप-सौन्दर्य से विमुग्ध नयन और वाणी को उन्होने रूपनिधि, रसचिन्तामणि--प्रेमकल्पतरू श्रीकृष्ण के चरण पर समर्पित कर दिया, उन्होने लोकजीवन में अलौकिक रस का सृजन किया। महात्मा नन्ददास रससिद्ध कवि थे, अप्रतिम प्रेमी थे, श्रीकृष्ण के चरण-कमल में उनकी प्रगाढ आसक्ति और रति थी। पुष्टि साहित्य के काव्यक्षेत्र में सूर और परमानन्ददास के वाद नन्ददास को ही महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। वे गोसाईं विट्ठलनाथ के असाधारण प्रेमपात्र थे। अष्टछाप के कवियो में उनको गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके नयनों से सदा प्रभु के प्रेम की जलधारा वहा करती थी। उन्होने सरसतापूर्ण ढग से भगवान की लीला गायी। वे लौकिक-अलौकिक रूप-लावण्य में अपने परम प्रेमास्पद श्रीनाथ जी की ही झाँकी देखा करते थे। उन्होने श्रीराधाकृष्ण के रास-विहार का उत्कृष्ट वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत उनकी काव्यकारिता का प्राण है। रासपचाध्यायी पूर्णतम भगवद्प्रेम की प्रतीक है और उनका भँवरगीत भगवद्विरह का अलौकिक साहित्य है। नन्ददास आनन्दनिधि श्यामसुन्दर के चरणकमल के रसिक थे। प्रभु के प्रेम रग में वे अनवरत सरावोर रहते थे। वे श्रीकृष्ण के रास-रस के अद्भुत अनुभवी थे। नन्ददास वादशाह अकवर

के समकालीन थे। नन्दनन्दन की रस-राजधानी वृन्दावन में उन्होने भक्ति-महारानी की छत्र-छाया में लोकजीवन का दिव्यीकरण किया।

मथुरा से उत्तर-पूर्व की ओर रामपुर ग्राम में जीवाराम नाम के सनोढिया शुक्ल ब्राह्मण रहते थे। उनका कुल परम पवित्र और वेदमार्गी तथा भगवद्भक्त था। उसी कुल में सम्वत् १५७० वि के लगभग नन्ददास का जन्म हुआ। जीवाराम उनके पिता और आत्माराम चाचा थे। नन्ददास वचपन से ही विद्या पढने में मन लगाते थे। साधुसन्त की सेवा में उनकी वडी रुचि थी। अतिथि को वे भगवान का ही रूप समझते थे। वालक की असाधारण योग्यता और विलक्षण प्रतिभा से प्रसन्न होकर पिता ने अध्ययन के लिये काशी भेज दिया। वहाँ वे रामचरितमानस के प्रणेता सन्तशिरोमणि तुलसीदास के सम्पर्क में आये। तुलसीदास उनके गुरु-भाई थे। दोनो में प्रगाढ प्रेम था, नन्ददास उनकी प्रत्येक वात मानते थे, उनकी कृपा से नन्ददास के हृदय में भगवद्भक्ति का उदय होने लगा।

नन्ददास काशी-निवास-काल में ही पूर्ण युवा हो चुके थे। उनका मन तमाशा आदि में वहुत लगता था। वे रगीले स्वभाव के थे पर हृदय में शुद्ध भगवत्प्रेम था। एक वार काशी से एक वैष्णव-मण्डली रणछोर जी के दर्शन के लिये द्वारका जा रही थी। नन्ददास ने भी द्वारका जाने का निश्चय किया, सोचा कि तीर्थयात्रा और भगवद्दर्शन – दोनो का लाभ होगा। उन्होने तुलसीदास से आज्ञा माँगी पर वे मौन रहे। नन्ददास के वहुत अनुनय-विनय करने पर उन्होंने द्वारका जाने की आज्ञा दे दी। नन्ददास वैष्णव-मण्डली के साथ मथुरा आये। मथुरा से उन्होने मण्डली का साथ छोड दिया, प्रेमी और रसिक थे, स्वभाव के सीधे थे पर एकान्तप्रिय और स्वच्छन्द थे। वे मथुरा से द्वारका के लिये अकेले चल पडे। कुरुक्षेत्र के निकट रास्ता भूल कर वे सीहनन्द गाँव में आ पहुँचे। दोपहर का समय था। वे एक क्षत्रिय-परिवार के घर के सामने ठहर गये। एक अत्यन्त रूपवती स्त्री स्नान कर अपने केश सुखा रही थी। वह युवती थी। उसका मुख पीछे था। नन्ददास ने प्रण किया कि यदि उसका मुख नही देखूँगा तो अन्न-जल नही ग्रहण करूँगा। वह

घर में चली गयी। नन्ददास शाम तक उसका मुख न देख सके, वे दरवाजे पर खडे रह गये, लौकिक रूप में उनकी आसक्ति वढ गयी। दूसरे दिन भी उसका दर्शन न हो सका। दासी ने घर से वाहर निकल कर उनसे खडा रहने का कारण पूछा तो उन्होने सारी वाते वता दीं, मन में कपट तो था नही। सरलता से वह दासी प्रभावित हुई और उसके कहने पर वह रूपवती रमणी वाहर आयी, नन्ददास उसको देख कर चले गये। वे नित्यप्रति उस स्त्री का मुख देखने आया करते थे। स्त्री के पति से नन्ददास ने स्पष्ट कहा कि मै तो केवल आप की स्त्री का मुख देखने आता हूँ, मुझे और किसी वस्तु की आवश्यकता नही है। पति उनके साधु स्वभाव से प्रभावित होकर आगे कुछ न कह सका। गाँव मे यह वात धीरे-धीरे फैलने लगी। यह परिवार गोसाईं विट्ठलनाथ का शिष्य था, वैष्णव था, इसलिये सीहनन्द गाँव छोडकर गोकुल जाने का निश्चय हुआ। नन्ददास भी पीछे-पीछे चल पडे। परिवार के लोगो ने नाव से यमुना पार किया और मल्लाह को आदेश दिया कि ब्राह्मण को पार मत उतारना। नन्ददास यमुना के किनारे वैठ गये। कलिन्दनन्दिनी की श्यामता और दिव्यता तथा रमणीय चचलता ने उनका मन मोहित कर लिया, वे उस रमणी का सौन्दर्य भूल गये और मन की कामना पूरी करने के लिये यमुना का स्तवन करने लगे। यमुना के दर्शन से उनके नयनो में रमण करने वाली लौकिक रूप-आसक्ति का नाश हो गया। उन्होने कालिन्दी से निवेदन किया कि हे देवी, आप भगवद्स्नेहरूपिणी है, आप अपने भक्तो की चित्तवृत्ति जानती है, आप अपने भक्तों की समस्त कामना पूरी करती है नन्ददास के भक्ति-सस्कार जाग उठे, उनकी वाणी ने यमुना का स्तवन किया

'नेह कारन श्री यमुना प्रथम आयी।
भक्त के चित्त की वृत्ति सव जानही
ताही ते अति आतुर जो धाई।
जैसी जाके मन हती अव इच्छा
ताही तैसी साध जो पुराई।
'नन्ददास' प्रभु नाथ ताही पर
रीझत जो श्री यमुना जी के गुन गाई।'

इधर नन्ददास स्तुति कर रहे थे, उधर वैष्णव-परिवार गोसाईं जी के पास गोकुल पहुँच गया। गोसाईं जी के मुख से सहसा यह प्रश्न सुन कर कि ब्राह्मण को उस पार क्यो छोड आये, रूपवती स्त्री के पति आदि आश्चर्य में पड गये। नवनीतप्रिय के राजभोज का समय था। गोसाईं विट्ठलनाथ ने नन्ददास को बुलवाया। गोसाईं जी को देखते ही उनके हृदय में भगवद्भक्ति स्फुटित हो गयी, उनकी रीझ अलौकिक हो गयी, उनकी आसक्ति रससमुद्र श्यामसुन्दर के रूप मे हो गयी। वह रमणी खडी थी पर सन्त नन्ददास को तो लोक से वैराग्य हो चला था, उन्होने उसकी ओर देखा तक नही। उनका मन तो वृन्दावन के प्रेम देवता के चरणो पर समर्पित हो गया, वे तो भक्ति की विहार-स्थली में थे, वृन्दावन की चिन्मयता उनके नयनो में समा गयी थी। उनका हृदय तो अपने जन्म-जन्म के सखा के दर्शन और आलिंगन के लिये आकुल हो उठा था, माया का बन्धन टूट चुका था। गोसाईं विट्ठलनाथ के चरणो पर वे गिर पडे, वे परम पुलकित थे। गोसाईं जी की तेजस्विता और अलौकिकता ने उनको मुग्ध कर लिया। कोटि कदर्प-लावण्य से युक्त गोसाईं जी की दिव्य कान्ति की मुसकान पर उन्होने अपने आप को अर्पित कर दिया। उन्होने हाथ जोडकर निवेदन किया कि आज तक मैंने अनेक पाप किये है, भगवान की कृपा से आपकी शरण में आ गया हूँ। मेरा उद्धार कीजिये। मेरी यही इच्छा है कि आपके चरणो के आगे सदा निवास करूँ। गोसाईं जी ने उन्हे यमुना जी में स्नान करने के लिये भेजा। वे पूर्ण पवित्र होकर विट्ठलनाथ जी की सेवा में उपस्थित हुए। गोसाईं जी ने उनको नवनीतप्रिय का दर्शन कराया, दर्शन करते ही वे देहानुसन्धान भूल गये। उन्होने भागवत रस से उन्मत्त होकर श्रीकृष्ण का रूप-वर्णन किया: पद गाया .

'बाल गोपाल ललन को मोद भरि जसुमति हुलरावति।
मुख चुम्बत देखत सुदर तन आनन्द भरि-भरि गावति।
कबहूँ पलना मेलि झुलावति कबहूँ अस्तन पान करावति।
'नन्ददास' प्रभु गिरिधर की रानी निरखि-निरखि सुख पावति।'

गोसाईं जी ने उनको ब्रह्मसम्बन्ध दिया। नन्ददास धन्य हो गये। उन्होने तुरन्त प्रार्थना की कि कृपानाथ, मुझे इस योग्य बना दीजिये कि

मैं श्रीकृष्ण के लीला-यश-गान से अपनी वाणी कृतार्थ कर लूँ, सदा आपकी रसमयी अनुपम छवि देखा करूँ। तन, मन, प्रान, सर्वस्व समर्पित कर आपके नाम का रसना से उच्चारण करता रहूँ। उन्होंने गोसाईं जी का स्तवन किया

'श्रीविट्ठल मगल रूप निधान।
कोटि अमृत सम हँस मृदु वोलन, सब के जीवन प्रान।
करुना सिंधु उदार कल्पतरु देत अभय पद दान।
सरन आये की लाज चहूँ दिसि बाजे प्रकट निसान।
तुमरे चरन कमल के मकरन्द मन मधुकर लपटान।
'नन्ददास' प्रभुद्वारे रटत हैं, रुचत नही कछु आन।'

वे गोसाईं जी के साथ गोवर्धन आये, उन्होने अपने आराध्य श्रीनाथ जी का दर्शन किया। दर्शन करते ही वे प्रेमविभोर हो गये, उन्होने नटनागर का स्तवन किया

'सोहत सुरग दुरगी पाग कुरग ललना के से लोयन लोने।'

उनकी व्रज के प्रति भक्ति बढने लगी, कुछ दिन वे गोकुल में रहते थे तो कुछ समय श्रीनाथ जी की सेवा में विताते थे। उन्होंने व्रज से बाहर न जाने का व्रत ले लिया। उनके गुरु-भाई तुलसीदास जी ने उनको काशी बुलाया पर उन्होने व्रज छोड कर जाना उचित नही समझा। तुलसीदास जी ने पत्र लिखा कि तुमने राम ऐसे पति को छोड कर दूसरे का कैसे वरण कर लिया। नन्ददास ने उत्तर भेजा कि श्रीराम तो एकपत्नीव्रती हैं पर श्रीकृष्ण अनन्त अबलाओं के स्वामी है, तुलसीदास इस उत्तर से वहुत प्रसन्न हुए [और विचार किया कि नन्ददास की व्रजभक्ति निस्सन्देह सराहनीय है, मै अयोध्या छोड कर काशी में रहता हूँ। वे नन्ददास से मिलने व्रज की ओर चल पडे। दोनो एक दूसरे से मिल कर प्रभावित हुए। उन्होने नन्ददास से कहा कि यदि इच्छा हो तो चित्रकूट या अयोध्या में रह सकते हो। नन्ददास ने व्रजनिष्ठासम्वन्धी पद गया

'जो गिरि रुचै तौ वसौ श्रीगोवर्धन,
गाम रुचै तौ वसौ नन्दगाम।

नगर रुचै तौ वसौ श्रीमधुपुरी,
सोभा सागर अति अभिराम।
सरिता रुचै तौ वसौ श्री जमुनातट
सकल मनोरथ पूरनकाम।
'नन्ददास' कानन रुचै तौ
वसौ भूमि वृन्दावनधाम।'

नन्ददास ने कहा कि जव से मेरे कानो ने कृष्ण का नाम सुना है तव से मै वावला हो चला हूँ, घर भूल गया हूँ, मेरे नयनो से अश्रुपात हो रहा है, चित्त में चैन नही है, वाणी मुख से वाहर नही आ पा रही है तथा शरीर की दशा और-की-और हो गयी है। जिनके नाम श्रवण से मेरी यह गति है उनकी छवि-माधुरी देखने पर तो न जाने क्या होगा। नन्ददास के साथ तुलसीदास जी गोवर्धन श्रीनाथ जी का दर्शन करने आये और उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीनाथ जी ने उनको राम-रूप में दर्शन दिया।

नन्ददास ने सम्पूर्ण भागवत ग्रन्थ भाषा में लिखा। ब्राह्मणो ने गोसाई विट्ठलनाथ से कहा कि, महाराज हमारी जीविका चली जायेगी। नन्ददास ने दशम स्कन्ध को छोड कर समस्त अनूदित अश यमुना में प्रवाहित कर दिया। वे सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, श्रेष्ठ कवि थे । वे वल्लभ सम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग के जयदेव थे।

सन्त सूरदास से उनकी वडी घनिष्ठता थी। सूरदास और उनमें एक दूसरे के प्रति प्रगाढ प्रेम था। सूरदास ने उनके लिये अपनी प्रसिद्ध रचना 'साहित्यलहरी' का प्रणयन किया। एक दिन उन्होंने नदन्दास से स्पष्ट कह दिया कि अभी आप में वैराग्य का अभाव है इसलिये कुछ दिन घर पर रहना चाहिये। सूरदास की आज्ञा से वे घर चले गये। कमला नामक एक कन्या से विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। गाँव का नाम श्यामपुर रखा तथा श्यामसर नामक एक तलाव वनवाया। वे घर पर रह कर भगवान की लीला के पदो की रचना करने लगे। पर उनका मन घर पर न लग सका। श्रीनाथ जी का विरह उनके लिये असह्य हो गया। उन्हे पूर्ण रूप से वैराग्य हो गया और गोवर्धन आकर स्थायी रूप से मानसी गगा पर रहने लगे।

वे श्रीकृष्ण के भक्त थे। उनका विश्वास था कि छोटे-से-छोटा कीडा भी श्रीकृष्ण की कृपा और भक्ति से कृष्णरूप हो जाता है यह आश्चर्य की बात नहीं है, प्रभु अपने भक्तो को अपनी भगवदीयता और महनीयता से समलकृत कर सदा के लिये अपना बना लेते है। भगवद्-कथामृत का रसास्वादन ही नन्ददास ने जीवन का परम ध्येय स्वीकार किया। उनकी उक्ति है

'अरु पिय तुम्हरी कथा, अमृत सम ताप नसावहि,
अमरामृत को तुच्छ करहि, ब्रह्मादिक गावहि ।'

श्री कृष्णचन्द्र की विहार स्थली – वृन्दावन के प्रति उनकी बडी आदर-बुद्धि थी। बडे-बडे पुण्यो और शुभ कर्मों के फलस्वरूप वृन्दावन के प्रति मन में अनुराग पैदा होता है। जीव को उसकी चिन्मयता का पता चलता है वृन्दावन सर्वथा दिव्य और चिन्मय है, भगवद् का लीलामच है, केलि-विग्रह है। वृन्दावन की एक धूलि-कणिका के लिये ब्रह्मा तरसते रहते है, सत्पदार्थ कृष्ण का ज्ञान प्राप्त करने पर ही वृन्दावन सूझता है। नन्ददास का कथन है

'अज अजहूँ रज वाछत सुन्दर वृन्दावन की ।
सो तनकहुँ नहिं पावत, सूल मिटत नहिं मनकी।
विन अधिकारी भये, नहिन वृन्दावन सूझै।
रेनु कहाँ ते सूझै जव, लगि वस्तु न बूझै।'

नन्ददास ने भगवद्प्रेम-प्राप्ति का आधार कृष्ण की रूपासक्ति में प्रतिष्ठित किया। कृष्ण की रूपमाधुरी का चिन्तन उन्होने सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य अथवा धर्म स्वीकार किया। कृष्ण की रूप-प्रेम-आसक्ति ही उन्होने सर्वत्र अनुभव की। उन्होने कृष्ण को ही परम प्रेमास्पद जाना। कृष्ण प्रेममय है, विना कृष्णप्रेम के जीवन की सार्थकता ही नही सिद्ध होती है—यह उनकी दृढ मान्यता थी।

नन्ददास की साधना कृष्णभक्ति की सिद्धि की प्रतीक थी। उन्होने गुरु कृपा में ही भगवद्भक्ति रस की अनुभूति की। उनकी उक्ति है

'रूप प्रेम आनन्दरस, जो कछु जग मे आहि।
सो सव गिरिधर देव को, निधरक वरनो ताहि।'

कृष्णार्पण का तो वास्तविक अर्थ ही यही है। यह अर्पण गुरु की कृपा से ही सम्भव है—पुष्टि-भक्ति का यही सिद्धान्त है, नन्ददास ने अपनी भगवद्भक्ति इस सिद्धान्त की कसौटी पर कसी थी। निर-मत्सरता पूर्ण प्रेम ही उनके मत–मान्यता से गोपीप्रेम का प्रतीक है, कृष्ण-प्रीति है। नन्ददास का कथन है

'नास्तिक जे हैं लोग, कहा जानैं हितरूपैं।
प्रगट भानु को छाडि गहैं परछाही धूपैं।
हम को विनुवा रूप के और न कछू सुहाय।
ज्यो करतल आभास के, कोटिक ब्रह्म दिखाय।'

गोसाईं विट्ठलनाथ नन्ददास का विशेष आदर करते थे। उन्होने अष्टछाप में उनको विशिष्ट स्थान देकर उनकी काव्यकारिता की वडी सराहना की है। नन्ददास श्रीनाथ जी की शृगार-झाँकी के कीर्तनकार थे। गोसाईं विट्ठलनाथ जी मे उनकी असाधारण श्रद्धा थी, भक्ति थी।

नन्ददास ने मानसी गगा पर स्थायी निवास स्थिर कर आजीवन श्रीकृष्ण की लीला का गान गाया। उन्होने नित्य रास, नित्य कृष्ण, नित्य गोपी और नित्य राधा की रसमयता से अपनी वाणी का सौभाग्य सिन्दूर अमर किया। अपने काव्य को भगवद्रस से परिपूर्ण कर दिया। उनके काव्य में आतमाराम श्रीकृष्ण ने प्रेम के वशीभूत होकर अपना रमणरस अभिव्यक्त किया। श्रीकृष्ण के प्रेम साम्राज्य में कामस्वय मदनमोहन, नवघनस्यामशरीर, नन्दनन्दन का रूप अपना लेता है, वह चिन्मय और भागवत हो उठता है—नन्ददास के काव्य का ऐसा स्पष्टी-करण है। श्रीकृष्ण–प्रेम में रतिपति काम की स्वतन्त्र सत्ता नन्ददास ने मानी ही नही। ब्रह्मादिक पर विजय पाने वाले काम का अस्तित्व श्रीकृष्ण के रससाम्राज्य में, रास-विलास में, लीलाक्षेत्र मे समाप्त हो जाता है

नन्ददास की वाणी साक्षी है

'हरि मन मथ करि मथ्यो, उलटि वा मन्मथ को मन।
मुरझि परयो तहँ मैन, कहूँ धनु, कहुँ विसिख वर।'

निगमागम द्वारा प्रतिपादित व्रज गोपियों के नृत्य, सगीत, लीला-विलास, रासकालीन महाछवि का वर्णन किसी कवि के वश की बात नही है– नन्ददास की यह धारणा थी। कृष्ण के रास-रस-वर्णन में सनक, सनन्दन, शारदा, नारद, शिव, शेष आदि समर्थ नही है, 'परम कान्त एकान्त' रस की अनुभूति तो रसिक जनो के सग से ही मिलती है। नन्ददास की ऐसी उक्ति है

'यह अद्भुत रसरास, कहत कछु कहि नहिं आवै।
सेस सहस मुख गावैं, अजहू अन्त न पावैं।
सिव मन-ही-मन ध्यावै, काहू नाहिं जनावै।
सनक सनन्दन सारद नारद अति ही भावै।'

उनकी काव्य-वाणी गोपी-प्रेम की कान्ति से चिर पवित्र और नित्य समृद्ध है। नन्ददास ने अपने काव्य में रसशेखर कृष्ण की लीला मौलिक और विचित्र ढग से चित्रित की। उनका कथन हैं कि शृगार के श्याम रग, अनुराग के अरुण रग और प्रेम के पीत रग में किसी सौभाग्यशाली की ही रति होती है। उन्होंने गोपी-प्रेम से अपने काव्य का शृगार किया। गोपियो का तो यह प्रण था, कि यदि हरि का अधरामृत-आस्वादन नही मिलता है तो प्राण विरह-अग्नि में भस्म कर देंगी। नन्ददास के काव्य में अलौकिक, दिव्य और परम पवित्र गोपी-प्रेम का वर्णन मिलता है, उन्होने गोपियो और कृष्ण का उज्ज्वलतम शृगार गाया उनकी उक्ति है

'नाद-अमृत को पथ रगीलो सुच्छम भारी
तेहि मग व्रजतिय चलै आनि कोउ नहिं अधिकारी ।
सुद्ध प्रेममयरूप पचभूतनि ते न्यारी।
तिन्हे कहा कोउ कहै, ज्योति सी जगत उज्यारी।'

नन्ददास की उक्ति है कि जिस कविता मे हरि के यश का वर्णन नही है वह कविता नही है। वे उच्चकोटि के भक्ति-मर्मज्ञ थे, प्रेमी और रसिक थे।

नन्ददास ने लोकजीवन को, जन-जीवन को भक्ति-माधुरी से सम्पन्न और समृद्ध किया। सम्राट अकबरने नन्ददास की कविता का मर्म

समझने के लिये अपनी राजधानी में बुलाया था पर वे व्रज छोड कर न जा सके। तानसेन ने अकवर की राजसभा में एक पद गाया था।

'देखो-देखो री नागर नट, निरतत कालिंदी तट
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक,
कौंछिनी किंकनी कटि, पीताम्वर की चटक,
कुडल की रति, रविरथ की अटक।
तत थेयी, ताता थेयी, सवद करन उघट,
उरप तिरप गति परै पग की पटक।
रास में राधे-राधे, मुरली में एक रट।
नन्ददास गावै, तहँ निपट निकट।'

पद सुनते ही अकवर के रोम-रोम सिहर उठे। उदार हृदय के भावुक सम्राट ने तानसेन से पूछा कि यह वात समझ में नही आती है कि नन्ददास भगवान के रास-काल में 'निपट निकट' होकर किस तरह गाते हैं। तानसेन मौन हो गये। अकवर ने वीरवल को साथ लेकर राज-कार्य से मथुरा-यात्रा की। मानसी गगा पर वादशाह का अस्थायी निवास था। मानसी गगा पर नन्ददास रहा करते थे। अकवर ने उनसे 'निपट-निकट' का रहस्य पूछा। वादशाह की सेविका एक वैष्णवी दासी रूपमञ्जरी थी। नन्ददास उसकी भगवद्‌भक्ति से वहुत प्रसन्न रहा करते थे। 'निपट-निकट' की वात सुनते ही नन्ददास के प्राण उड गये, रूपमञ्जरी का भी तत्काल देहान्त हो गया। नन्ददास के नयनो में मस्ती थी, अधरो पर भगवदामृत था. वे मदनमोहन की रूपमाधुरी का पान कर रहे थे. उनकी अन्तिम कामना थी।

'मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोरमुकुट की।
सदा वसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की।'

इस प्रकार सम्वत् १६४० वि. के लगभग उन्होंने श्रीकृष्ण-प्रियतम प्राणाधार का चिन्तन करते हुए गोलोक प्राप्त किया। गोसाईं विट्ठल-नाथ ने उनके भक्तिपूर्ण लीला-प्रवेश पर आनन्द प्रकट किया, नन्ददास के भाग्य की सराहना की कि प्रभु ने अपने लीला में उनको स्थान दिया। नन्ददास महान भगवदीय थे, अलौकिक प्राणी और रससिद्ध

भगवद् कवि तथा परम विरक्त और सन्त थे। उन्होने भक्ति-साहित्य को कृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य-दान किया। वे ब्रजरस के महान ज्ञाता थे। सर्वथा राधाकृष्ण-प्रेम में आत्मविभोर थे।

रचना

भागवत दशम स्कन्ध—पद्यानुवाद, भ्रमर गीत, रासपचाध्यायी, रूप-मजरी—विरह मजरी, रसमजरी, मानमञ्जरी, अनेकार्थ मजरी, दान-लीला तथा अनेक पद उनकी रचनायें है।

वाणी

राम-कृष्ण कहिये उठि भोर।
अवध-ईस वे धनुष धरे हैं, यह ब्रज-माखन चोर।
उनके छत्र-चँवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन-सग नन्दकिसोर।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
'नन्ददास' प्रभु सब तजि भजिये, जैसे निरखत चद चकोर।

ठाढो री खरो माई कौन को किसोर।
साँवरो वरन, मन हरन, वसी धरन,
काम करन कैसी गति जोर।
पौन परसि जात चपल होत देखि,
पियरे पट को चटकीलो छोर।
सुभग साँवरी छोटी घटा ते निकसि आवै,
छबीली छटा को जैसो छबीलो मोर।
पूछति पाहुनी ग्वारि, हा-हा हो मेरी आली,
कहा नाम, को है चितवन को चोर।
'नन्ददास' जाहि चाहि, चकचौंधी आई जाय
भूल्यो री भवन गमन, भूल्यो रजनी-भोर।

नन्दभवन को भूषन माई।
जसुदा को लाल, वीर हलधर को, राधारमन परम सुखदाई।
सिव को धन, संतन को सरवस, महिमा वेद-पुरानन गाई।
इन्द्र को इन्द्र, देव देवन को, ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई।
काल को काल, ईस ईसन को, अतिहिं अतुल तोल्यो नहिं जाई।
'नन्ददास' को जीवन गिरिधर गोकुल गाम को कुवर कन्हाई।

हिंडोरे माई झूलत गिरिधर लाल।
संग राजत वृषभानुनन्दिनी अंग अंग रूप रसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल औ मुक्ता वनमाल।
रमक-रमक झूलत पिय प्यारी सुख वरसत तिहिं काल।
हँसत परस्पर इत उत चितवत चंचल नयन विसाल।
'नन्ददास' प्रभु की छवि निरखत, विवश भई ब्रजवाल।

चाँपत चरन मोहन लाल।
कुमरि राधे पलंग पौढी सुन्दरी नववाल।
कवहूँ कर लै नैन लावत कवहूँ छुवावत भाल।
'नन्ददास' प्रभु छवि निहारत प्रीति के प्रतिपाल।

महात्मा छीतस्वामी

'पद बिरचि सेइ श्रीनाथ कहँ विविध गुप्त अनुभव चखे।
श्री छीतस्वामि हरि और गुरु प्रगट एक करि के लखे।'

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

महात्मा छीतस्वामी भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। प्रभु की शरण की यह विचित्र महिमा है कि जो प्राणी दैन्य भाव से तथा शुद्ध मन से उनके चरणो में आत्मार्पण कर देता है वह लोक की दृष्टि में अलौकिक हो जाता है, सन्त हो जाता है। छीतस्वामी ने गोसाईं विट्ठलनाथ की कृपा से श्रीनाथ जी के प्रति जिस अनन्य भक्ति का परिचय दिया वह सर्वथा मौलिक तथा महत्वपूर्ण स्वीकार की जाती है। उन्होने श्रीनाथ जी और गोसाईं विट्ठलनाथ की मर्यादा के विरोध में बोलने वाले बडे-से-बडे लौकिक ऐश्वर्यसम्पन्न प्राणी का मुख देखना भी महापाप समझा था, बीरबल अकबर के दाहिने हाथ थे पर छीत-स्वामी ने गोसाई जी की प्रभुता और शक्ति में सन्देह करने पर उनका सम्बध-विच्छेद कर दिया, वे स्वाभिमानी भागवत थे। वे परम निःस्पृह और त्यागी थे, आर्थिक दैन्य में रह कर भी उन्होने दूसरे के सामने हाथ पसार कर या दूसरे की सहायता स्वीकार कर अपनी भगवद्भक्ति में कलक नही लगाया, उनकी वैष्णवता निष्क-लक रही। छीतस्वामी अकबर के समकालीन थे और बीरबल के पुरोहित थे, बादशाह अकबर को छीतस्वामी की निष्काम भक्ति का पता था। वे उनका बडा सम्मान करते थे। छीतस्वामी अच्छे कवि थे। उनके पद बडे भावपूर्ण और सरस है, उनमें उनके हृदय की पवित्रता और मनकी निष्कपटता का दर्शन होता है।

वल्लभसम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व की जीवन-गाथा विचित्र है। छीतस्वामी मथुरा के पण्डा थे, वे छीतू के नाम से विख्यात थे। वे

राजा वीरवल के पुरोहित थे। मथुरा के पण्डो में उनकी विशिष्ट ख्याति थी। छीतस्वामी का जन्म सवत् १५७२ वि में मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को हुआ था। वीस साल की अवस्था तक वे वडे नटखट थे, अपने असाधु स्वभाव के लिये कुख्यात थे। पर सत्सग और सन्त-दर्शन से शठता चली जाती है, प्रकृति सुधर जाती है और नारकीय जीवन सर्वथा दिव्य हो जाता है। छीतू चौवे परम भागवत सन्तशिरोमणि, रसिकराज श्री गोसाई विट्ठलनाथ की कृपा से छीतू चौवे से छीतस्वामी हो गये, भगवान श्रीकृष्ण के लीला गायक, महान भगवदीय और कवि हो गये। छीतू चौवे ने सुन रखा था कि गोसाई जी के पास जो जाता है, वह श्रद्धापूर्वक उन्ही के चरणो में नत हो जाता है, उनका हो जाता है। वे अपने पाँच साथियों को लेकर एक खोटा रूपया और सूखा नारियल भेंट देने के लिये हाथ में रख कर गोकुल की ओर चल पडे। उस समय छीतस्वामी वीस साल के थे, उनकी उद्दण्डता अपनी पराकाष्ठा पर थी, पर भगवान ने गोकुल पहुँचने पर उनका मगल किया। उनकी असाधुता साधुता में रूपान्तरित हो गयी। अपने साथियो को वाहर बैठा कर वे गोसाई जी से एकान्त में मिलने गये, नारियल और रूपये की भेंट दी। वे ही अगुआ थे। गोसाई जी को देखते ही उनको अपनी करनी पर पश्चात्ताप हुआ कि मैंने यह क्या कर डाला, जान-बूझकर एक महात्मा को धोखा देने चला आया, मैं कितना वडा पापी हूँ, हे भगवान, मेरी रक्षा कीजिये। सवसे वडे आश्चर्य की वात तो यह हुई कि रूपया ठीक निकला और नारियल में गिरी निकल आयी। छीतस्वामी के उद्धार का समय निकट आ गया। वे अमित श्रद्धा और विनम्रता से हाथ जोड कर कहने लगे कि आप कृपासागर है, मैंने आपके प्रति अमित पापपूर्ण आचरण किया है, आप मुझे क्षमा कीजिये, अपने चरणो में स्थान दीजिये, भगवान ने आत्मकल्याण और भक्ति-प्राप्ति के लिये ही मुझे आपके चरणो में उपस्थित किया है। मैं सासारिक पाप-ताप से जल रहा हूँ। मुझे असार ससार से पार कीजिये। आप को छोड कर मैं आत्मोद्धार के लिये किसी दूसरे से कह भी नहीं सकता, सागर में सरिता मिलने पर प्यासी थोडे ही रह जाती

इनसे अलग नही रहते हैं, उनको देख-देख कर अपने सौभाग्य की सराहना किया करते हैं, ,वे पूर्ण रूप से वृपभानुनन्दिनी के वश में रहते हैं। वे पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तो के विशेषज्ञ थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाईं जी में उनकी वडी निष्ठा थी। उन्होने महाप्रभु श्रीमदाचार्य के सम्वन्ध मे उद्‌गार प्रकट किया है महाप्रभु वल्लभचार्य मेरे तन-मन में हैं, वे चिंतामणि हैं, सर्वस्व हैं, वे ही मेरे ज्ञान और ध्यान हैं, वे मेरे प्राण और जीवन के सुखनिधान हैं, मै उनको छोड कर किसी दूसरे का भजन नही करता हूँ। उनकी उक्ति है

'श्री वल्लभ तन-मन, श्रीवल्लभ सर्वस्व में,
पाये श्री वल्लभ प्रभु, चिंतामणि मेरे।
श्रीवल्लभ मम ध्यान, ज्ञान, श्रीवल्लभ बिनु
भजु न आन, श्रीवल्लभ है सुखनिधान
प्राण जीवन केरे।'

आचार्य महाप्रभु की कृपा में उनका अटल विश्वास था, सुदृढ आस्था थी, रति थी। उनकी गुरु-निष्ठा अद्‌भुत थी। वे श्री विट्‌ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी का ही स्वरूप समझते थे। वे वीरवल के पुरोहित थे। वार्षिक लेने सीकरी जाया करते थे। एक साल वे वर्सौंधी लेने गये थे कि वीरवल से चिढ कर चले आये। वे श्री गोसाईंजी की प्रशस्ति गा रहे थे

'जे वसुदेव किये पूरन तप
तेई फल फलित श्री वल्लभ देह।
जो गोपाल हुते गोकुल में
तेई आनि वसे करि गेह।
जे वो गोप वधू ही व्रज में
तेई अव वेदरिचा भई येह।
'छीत स्वामी' गिरिवरन श्रीविट्‌ठल
तेई ऐई ऐई तेई कछु न सदेह।'

वीरवल को सन्देह हुआ कि विट्‌ठलनाथ जी गिरिधर श्रीकृष्ण के ही रूप किस तरह हो सकते हैं। उन्होने कहा कि महाराज, यदि

अकवर इस पद को सुन लेगे तो रुष्ट होगे, उन्हे विट्ठलनाथ जी और श्रीनाथजी की एकरूपता में सदेह होगा। छीतस्वामी आर्थिक सकट में थे, दीन थे पर उनका दैन्य केवल भगवान में था, ससार के लिये वे दीन नही थे, उन्होंने बीरवल से कहा कि वादशाह को सन्देह होगा या नही होगा यह तो भविष्य की वात है पर इस समय तो सन्देह तुम्हारे ही मन में है। तुम ने गोसाई जी की भगवत्ता में अविश्वास प्रकट कर महान् अपराध किया है, तुम्हारा मुख देखना भी पाप है। तुम गोसाईं जी की महिमा नही समझ सकते। गोसाईं जी सुखरूप है, वेद उनकी पुरुषोत्तमता का वखान करते है, उनकी महिमा समझ में नही आती है। उन्होंने पाखण्ड और कपट का खण्डन कर पृथ्वीपर भगवत्ता का प्रचार किया है। वे परम पुनीत और तपोनिधि है। अपने मुख से श्रीकृष्ण की लीला-कथा कह कर उन्होने असख्य जीवों का निस्तार किया है। वे साक्षात् श्रीकृष्ण है

'छीत स्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल,
प्रकट कृष्ण अवतार।'

वे वार्षिक लिये विना ही गोवर्धन चले आये। उन्होंने श्री गोसाईं की भगवत्ता में सदेह करने वाले ससारी साधारण राजा की भेंट पर लात मार दिया। यह घटना उनके अलौकिक और प्रभुमय जीवन की परिचायिका है। वे आगरा या सीकरी फिर कभी नही गये।

वे वडे त्यागी और नि:स्पृह थे। गोसाईं जी ने उनके आर्थिक सकट को दूर करने के लिये पत्र लेकर एक धनी शिष्य के पास उन्हे लाहौर भेजना चाहा। छीतस्वामी ने विनम्रता पूर्वक निवेदन किया कि, कृपा-नाथ, आप मेरी वैष्णवता की परीक्षा न लीजिये, मैंने इसलिये आप के चरणो पर आत्मसमर्पण नही किया है कि अपनी वैष्णवता कलकित कर दूसरे के सामने हाथ पसारूँ। कृपानाथ, समस्त लौकिक ऐश्वर्य आप के चरणो में नत होकर भगवत्ता की भीख माँग रहे है और आप मुझे दूसरे के पास भेज रहे है। गोसाईं जी उनकी निष्काम भगवद्भक्ति मे वहुत प्रसन्न हुए।

छीतस्वामी गोसाईं जी के अनन्य प्रेमपात्र थे। गोसाईं जी ने उनको अष्टछाप के कवियों में स्थान दिया था। सम्वत् १६४२ वि में गोसाईं जी के गोलोक-प्रवेश पर एक ही दिन के बाद पूछरी में ही छीतस्वामी ने देह-त्याग किया। वे अलौकिक प्राणी थे।

रचना

पुष्टिमार्गीय कीर्तन-पद-सग्रह में उनके कुछ पद सग्रहीत हैं।

वाणी

राधिका स्याम सुदर को प्यारी।
नख सिख अग अनूप विराजत, कोटि चन्द दुतिवारी।
एकछिन सग न छौंडत मोहन निरखि निरखि वलिहारी।
'छीत स्वामी' गिरिवर बस जाके सो वृषभानु दुलारी।

वादल झूम झूम बरसन लागे।
दामिनी दमक ते चौंक चमक
स्याम घन की गरज सुनि जागे।
गोपी जन द्वार ठाढे नारी नर
भीजे मुख देखन कारन अनुरागे।
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल
ओतप्रोत रस पागे।

हम तो विट्ठलनाथ उपासी।
सदा सेउँ श्रीवल्लभनन्दन जाइ करौं कहा कासी।
इन्हें छौंडि जो और धावै सो कहिये असुरासी।
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल वानी निगम प्रकासी।

अहो विधिना! तो पै अँचरा पसारि माँगो
जनम-जनम दीजो याही व्रज वसिवो।

अहीर की जाति, समीप नन्दघर,
हेरि-हेरि स्याम सुभग घरी घरी हसिवो।
दधि के दान मिस व्रज की वीथिन
झकझोरन अग-अग को परसिवो।
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल
सरद रैन रस-रास विलसिवो।

सुखद सरूप श्री विट्ठलेश राय।
वेदविदित पूरन पुरुषोत्तम
श्रीवल्लभ गृह प्रगटे आय।
लटपटी पाग महारस भीने
अति सुदर मन सहज सुभाय।
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल
अगनित महिमा कहिय न जाय।

महात्मा चतुर्भुजदास

निज मुख कुम्भनदास पुत्र पूरो जेहि भाष्यो।
गाइ गाइ पवनवल कृष्न रस नित जिन चाख्यो॥
बिछुरि विरह अनुभवो सग रहि जुगल केलि रस।
सब छिन सोइ रगरगे वल्लभी जन के सरबस॥
सेयो श्रीविठ्ठल भाव करि जगत वासना सो विरत।
श्रीदास चतुर्भुज तोक वपु सख्य दास्य दोऊ निरत॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

महात्मा चतुर्भुजदास गोसाईं विट्ठल नाथ के आठ दिग्गज कवियों में से एक थे। उन्हे कुम्भनदास ऐसे महाभागवत का पुत्र होने का भगवान श्याम सुन्दर की कृपा से सौभाग्य मिला। उन्होने श्रीनाथ जी की सेवा में नित्य नवीन-नवीन पद रच कर समर्पित किये। वे श्यामसुन्दर के विरह को पलमात्र के लिये भी नही सह सकते थे। वल्लभ सम्प्रदाय में उनकी बडी मान्यता और प्रतिष्ठा है। जगत की वासना गृहस्थाश्रम में भी उनके मन का स्पर्श नही कर सकी, उनका मन तो भगवानमय था और भगवान उनके मनोमय परम प्रेमास्पद थे। उनमें भगवान के प्रति सख्य भाव का आवेश विशेष था और दास्य रस में भी उनकी प्रगाढ़ निष्ठा थी। वे भगवान राधारमण के परम कृपापात्र थे। उन्होंने श्री गोसाईं जी और श्रीनाथ जी में भेद-दृष्टि नही की। उनका जन्म अलौकिक रूप से हुआ, भगवान की कृपा से कुम्भनदास की भक्ति-कल्पलता के वे सरस फल थे। श्रीनाथ जी के शृगार और विरह के पद लिखने में वे समान रूप से सफल थे। उनकी रचना उनकी भगवद्भक्ति और लीलारसानुभूति की दिव्य प्रतीक स्वीकार की जा सकती है। उनका काव्य पुष्टि-भक्ति का अक्षर अनुवाद है। भगवान अपने भक्तो के आनन्द को वढाने के लिये स्वय अभिव्यक्त होते है और उनसे लीला करते है, खेलते है। चतुर्भुजदास भगवान के लीलारसिक भक्त थे। गोवर्धन से थोडी ही दूर जमुनावतो ग्राम में अष्टछाप के महान सन्त कवि, श्री वल्लभाचार्य के परम कृपापात्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के

अनन्य सेवक महात्मा कुम्भनदास निवास करते थे। उनके सात पुत्र थे। सबसे छोटे पुत्र भक्त चतुर्भुजदास का जीवन भगवदीय रहस्यों और अलौकिक चमत्कारों से परिपूर्ण है। कुम्भनदास जी श्रीनाथ जी में सख्य-भाव से अनुरक्त थे। वे एक दिन श्रीनाथ जी से खेल रहे थे। श्यामसुन्दर ने उनको उस दिन चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया और उसी दिन घर में पुत्र पैदा हुआ। कुम्भनदास जी ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी की कृपा से और भगवान की प्रसन्नता से नवजात का नाम चतुर्भुजदास रखा। चतुर्भुजदास सम्वत् १५७५ वि. में जमुनावतो में ही पैदा हुए थे। जन्म के इकतालीसवे दिन शुद्धि स्नान होने पर कुम्भनदास ने नवजात को गोसाईं जी के समक्ष उपस्थित किया, उन्होंने निवेदन किया कि कृपानाथ, नाम बताइये और शरण में ले लीजिये। कुम्भनदास की बात से चतुर्भुजदास किलकारी मार कर हँस पड़े। गोसाईं जी ने नवजात को ब्रह्मसम्बन्ध देकर चतुर्भुजदास नाम रखा। उन्होंने कुम्भनदास से कहा, 'तुम बहुत भाग्यवान हो, तुम्हारे घर में परम भगवदीय पुत्र ने जन्म लिया है। तुम्हारा कुल पवित्र हो गया।' गोसाईं जी ने चतुर्भुजदास को शरण में ले लिया।

कुम्भनदास ऐसे परम विरक्त त्यागी और भगवद्भक्त महात्मा के सम्पर्क में उनका विकास होने लगा। वे नित्य प्रति अपने पिता के साथ श्रीनाथ जी के दर्शन में आते थे और अष्टछाप के दिग्गजों के कीर्तन और सेवा-भाव ने उनके चरित्र को विशेष रूप से प्रभावित किया था। उनके सत्संग और पदगान का चतुर्भुजदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे बाल्यवस्था से ही पद-रचना करने लगे तथा श्रीनाथ जी में उन की आसक्ति नित्य निरन्तर बढ़ती गयी। वे श्रीनाथ जी की गाय भी चराया करते थे। धीरे-धीरे उनका मन श्रीनाथ जी की लीला से तथा कीर्तन और सेवा से जगत के प्रति अनासक्त हो उठा।

चतुर्भुजदास जी पिता कुम्भनदास की ही तरह विरक्त और निस्पृह स्वभाव के थे। प्रभु के चरणों में मन लग जाने पर जगत के प्रति उदासीनता का उदय होना तो स्वाभाविक ही है। वे बड़े सरल और निष्कपट थे। विवाह हो जाने पर भी गृहस्थाश्रम में वे अनासक्त ही रहे। उनके जीवन में अद्भुत सादगी और विचित्र सरसता का

मिश्रण था। वे खेती करके जीविका चलाते थे। वे कुम्भनदास जी के सबसे छोटे पुत्र थे पर घर में परम भगवदीय भी वे ही थे। कुम्भनदास उनसे बहुत प्रसन्न रहा करते थे। उनकी कृपा से धीरे-धीरे चतुर्भुजदास को नन्दनन्दन की लीला की अनुभूति होने लगी। उनका गृहस्थ-जीवन उनकी भक्ति-भावना के अनुरूप ही था। पिता की देखा-देखी उनके साथ ही श्रीनाथ जी की सेवा में पद रचने लगे। उन्हें काव्य और सगीत की अच्छी शिक्षा पिता से ही मिल गयी। वे सस्कृत और व्रजभाषा के महान पण्डित थे। खेती-बारी के काम में भी वे बड़े कुशल थे। भगवान की सेवा में, लीलानुभूति और कीर्तन में कोई विघ्न न आये, इस दृष्टिकोण से गृहस्थाश्रम का उन्होने उचित ढग से उपयोग किया। लौकिक कार्य में भी भगवद्‌बुद्धि को महत्ता दी। उनका जीवन अलौकिक और भागवत था। श्रीनाथ जी उनके परम उपास्य थे पर वे कभी-कभी गोकुल में नवनीतप्रिय का दर्शन करने जाया करते थे। चतुर्भुजदास पर श्रीनाथ जी की वडी कृपा रहती थी, ऐसे तो प्रभु की कृपा सब जीवों पर समान रूप से है पर विशेष भक्त पर वे अपनी विशेषता प्रकट करने मे तनिक भी सकोच नही करते है। उन्हे श्रीनाथ जी की लीलाओ का प्रत्यक्ष दर्शन होता था, उनकी वाणी व्रज -रस मे सराबोर थी, उनकी कविता श्रीनाथ जी की सौन्दर्य-माधुरी की प्रतीक थी। एक वार आधी रात के समय जमुनावतो में प्रभु की झाँकी पर विचार करते थे। जमुनावत्तो से श्रीनाथ जी का मन्दिर दीख पडता था। मन्दिर में दीप जल रहे थे। रसिक कुम्भनदास के अधरो पर श्रीनाथ जी का अनुराग थिरक उठा, भक्त कवि ने अपने पुत्र से कहा श्रीनाथ जी के मन्दिर के झरोखों से दीपक के प्रकाश का निकलना चित्रित किया

'वे देखो वरत झरोखन दीपक
हरि पौढे ऊँची चित्र सारी।'

चतुर्भुजदास जी ने इस वर्णन की सरसता से उन्मत्त होकर भगवद्‌-लीला की प्रत्यक्ष अनुभूति कर पिता को आश्चर्यचकित कर दिया। भगवान श्रीनाथ जी की परम निगूढ केलिलीला के स्तवन में उनकी भागवती वाणी बोल उठी

'सुन्दर वदन निहारन कारन
वहुत यतन करि राखे हैं प्यारी।'

श्रीनाथ जी के प्रति उनकी भक्ति सिद्ध थी। प्रभु की लीला विचित्र होती है, जिस प्रकार चतुर्भुजदास प्रभु को देखे विना एक क्षण भी नही रह सकते थे उसी प्रकार प्रभु भी उनके साथ खेले विना स्वात्म-सुख का अनुभव नही कर पाते थे। यद्यपि वे सर्वशक्तिमान, सर्व-लोकमहेश्वर हैं पर लीला के क्षेत्र में दिव्य प्रकृति और भक्तो के सर्वथा अधीन रहते हैं। श्रीनाथ जी चतुर्भुजदास के साथ नित्य खेला करते थे। प्रत्यक्ष प्रकट होकर उनको धन्य करते थे। चतुर्भुजदास की पत्नी का देहान्त हो गया। सूतक लगने पर भी चतुर्भुजदास खेलने के लिये वन में अकेले बैठ कर प्रभु के आने की राह देखा करते थे और कृपामय श्यामसुन्दर लीलापूर्वक सूतक में स्पर्श हो जाने के भय से उनसे थोडी दूर पर स्थित रह कर खेला करते थे। भगवान को सूतक नही लग सकता है पर प्रभु तो भक्त की यशवृद्धि के लिये ऐसा स्वाग–लीला करने में परमानन्द का अनुभव करते हैं। चतुर्भुजदास श्रीनाथ जी के अन्तरग सखा थे और उनका समस्त जीवन श्यामसुदर के चरणो में पूर्ण रूप से समर्पित था।

श्रीनाथ जी की भक्ति ही उनकी साधना की सिद्धि थी। गोसाई विट्ठलनाथ जी की कृपा से चतुर्भुजदास को भगवान श्यामसुदर के अद्भुत शृगार आदि का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव होता रहता था। एक वार श्री गोसाईं जी भगवान का शृगार कर रहे थे। गोसाई जी ने दर्पण दिखाया, चतुर्भुजदास श्यामसुन्दर, रसघनमूर्ति, नयनाभिराम का दर्शन कर रहे थे। वे प्रभु के सौन्दर्य से मदोन्मत्त होकर तत्काल गा उठे उनकी वाणी ने दिव्य आनन्द में मग्न होकर कहा

'सुभग सिंगार निरखि मोहन को
लै दर्पन कर पियहि दिखावे।'
'आपनु नेक निहारिये वलि जाऊँ
आज की छवि कछु वरनि न आवे।'

प्रभु का सौन्दर्य उनके नयनो में नवीन, नवीनतर और नवीनतम रूप से बढ़ने लगा। श्यामसुन्दर का दिव्य शृगार उनके काव्य में थिरक उठा, उन्होने गाया

'माई री आज और, कल और,
छिन छिन प्रति और और।'

दर्शन करने वाले के लिये तो भगवान की छवि में निरन्तर सौन्दर्य-अभिवृद्धि होती है, यही तो भगवान के अलौकिक सौन्दर्य का क्षण-क्षण वर्द्धमान वास्तविक स्वरूप है। भक्त इसी सौन्दर्य-माधुरी की निरन्तर अभिवृद्धि से विमुग्ध होते रहते है। चतुर्भुजदास नित्य-निरन्तर भगवान की सौन्दर्य-अभिवृद्धि की अनुभूति करते रहते थे। एक बार गोसाईं विट्ठलनाथ जी गोकुल गये हुए थे। गोवर्धन में एक रास-मण्डली आयी। गोसाईं जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर की आज्ञा से गोकुलनाथ जी ने परासोली में रासलीला का आयोजन किया। श्रीकृष्ण और स्वामिनी राधाजी का अद्भुत शृगार हुआ था। श्री श्यामसुन्दर की झाँकी अनुपम थी, राधारानी के अग-अग में कोमलता, सौन्दर्य और माधुर्य का रग निखर रहा था। गोकुलनाथ जी के वडे अनुरोध से चतुर्भुजदास जी रास-उत्सव में सम्मिलित हुए थे। गोकुलनाथ जी ने चतुर्भुज दास से प्रियाप्रियतम की सेवा में एक पद समर्पण करने के लिये निवेदन किया। वे वडे धर्म-सकट में पड गये। उनका मन अपने आराध्य श्रीनाथजी में लगा हुआ था, वे केवल श्रीनाथ जी के ही सामने गाया करते थे पर गोसाईं विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ की वात टालने में वडा सकोच हो रहा था। गोकुल-नाथ जी ने उनसे कहा कि आप गाइये, मेरा विश्वास कीजिये, श्रीनाथ आपका पद अवश्य सुनेंगे। चतुर्भुजदास ने अपने प्रेमास्पद का सकीर्तन आरम्भ किया, भगवान का तो दृढ व्रत है कि भक्त जहाँ गाते हैं वे वहाँ उपस्थित रहते है। भक्त वुलाये और भगवान न आयें यह तो असम्भव है। प्रभु तो सदा चाहते है कि मुझे सच्चे हृदय से भक्त वुलाये और मैं उसके आलिगन में आवद्ध होकर धन्य हो जाऊँ। चतुर्भुजदास का पद-गान सुनने के लिये श्रीनाथ जी रासस्थल में प्रकट हो गये। उनका दर्शन उपस्थित जनमण्डली में केवल गोकुलनाथ

जी और चतुर्भुजदास को ही हो सका। चतुर्भुजदास के सामने सातो स्वर, राग-रागिनी आदि प्रकट होकर प्रभु के चरणो में समर्पित होने की प्रतीक्षा करने लगे। भक्त चतुर्भुजदास आनन्दविभोर थे, वे श्रीनाथजी के रासकालीन गूढतम सौन्दर्य का दर्शन कर गा उठे।

'अद्भुत नट वेप धरे जमुना तट
स्याम सुदर गुन निधान,
गिरिवरधरन रासरग नाचे।'

महात्मा चतुर्भुजदास की भक्ति से रास-आयोजन परम सफल हो गया, भक्तमण्डली रस में मग्न हो उठी। श्रीनाथ जी नित्य प्रत्येक क्षण रास-विलास में ही स्वसुख का अनुभव करते है पर भक्तो की भक्ति उनमें विशेष काल में और विशेष स्थान पर विशेष लीला का स्फुरण अभिव्यक्त कर देती है।

एक वार गोसाईं जी की आज्ञा से अप्सरा कुण्ड पर प्रातःकाल फूल लेने गये। उन्हे वृपभानुनन्दिनी श्री राधा सहित श्रीनाथ जी ने दर्शन दिया। चतुर्भुजदास ने युगलस्वरूप का स्तवन किया और पद गाया.

'गोवरधन गिरि सघन कन्दरा,
रैन निवास कियो पिय प्यारी।'

वे लीलारसिक महात्मा थे, भगवद्रसिक सन्त थे। उन्होने सदा प्रभु के माङ्गलिक रूप का दर्शन किया। प्रभु श्रीनाथ जी के श्याम रग में पूर्ण रूप से रग गये थे। वे श्रीनाथ जी के 'सध्या-भोग' के कीर्तनकार थे। गोपीदशा, मुरली-माधुरी, गाय-गोप आदि के लीला-पद गाया करते थे।

एक वार गोसाईं विट्ठलनाथ जी तीर्थयात्रा में थे। गिरिधर जी ने श्रीनाथ जी को अपने निवास-स्थानपर मथुरा में पधराया। चतुर्भुज-दास से श्रीनाथ जी का विरह नहीं सहा गया। वे नित्य गोवर्धन पर एकान्त में वैठ कर हिलग और विरह के पद गाया करते थे, श्रीनाथ जी उन्हे शाम को नित्य प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते थे। एक दिन शाम को श्रीनाथ जी का विरह उनके लिये असह्य हो गया। वे सध्या समय एक दिन विरहावस्था में मूर्छित हो कर गा रहे थे·

'श्री गोवर्धनवासी साँवरे लाल
तुम बिन रह्यो न जाइ हो।'

प्रभु ने गीत सुन लिया, गीत उन्हे अर्पित किया गया था। न भक्त भगवान के बिना रह सकता है और न भगवान भक्त के बिना रह सकते हैं — यह उनके प्रेम-साम्राज्य का अटल और शाश्वत विधान है। प्रभु ने रात में गिरिधर जी को प्रेरणा दी कि कल राजभोग गोवर्धन पर ही सम्पन्न होगा। मगला आरती के बाद प्रभु को गोवर्धन पधराने की व्यवस्था होने लगी। राजभोग का समय बीत गया। नृसिंह चतुर्दशी थी। प्रभु ने राजभोग और शयन-भोग एक साथ शयन आरती के बाद स्वीकार किये। नृसिंह चतुर्दशी को उसी समय से श्रीनाथजी को दो राजभोग समर्पित करने का नियम अब तक चला आ रहा है। चतुर्भुजदास की प्रसन्नता के लिये इस प्रकार लीला-पूर्वक श्रीनाथ जी गोवर्धन में पधराये गये। भक्तो के सुख का भगवान को निरन्तर ध्यान रहता है। चतुर्भुजदास जी का दृढ विश्वास था कि गुरुकृपा और भगवद्भक्ति एक ही वस्तु है। वे महाप्रभु, गोसाई जी और उनके सात पुत्रो में बडी निष्ठा रखते थे। वृद्ध पिता के साथ ही अष्टछाप के कवियो में स्थान प्राप्त करना उनकी गुरुनिष्ठा और भगवद्-भक्ति का प्रत्यक्ष फल है। उन्होने अपने पदो में श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओ का चित्रण किया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रति उनकी श्रद्धापूर्ण उक्ति है

'श्रीवल्लभ सुजस सन्तत नित्य गाऊँ।
मन क्रम वचन छिन एक न बिसराऊँ।'

उन्होंने गोसाई विट्ठलनाथ जी के सम्बन्ध में कहा है कि श्रीवल्लभ-नन्दन और नन्दनन्दन दोनो एक मन और दो रूप है

'चतुर्भुज प्रभु गिरिधरन युग वपु लीला अनूप।
नन्दनन्दन श्रीवल्लभनन्दन एक मन द्वै रूप।'

उनकी दृष्टि में गोसाई विट्ठलनाथ साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीनाथ जी ही थे। सम्वत् १६४२ वि में गोसाई विट्ठलनाथ जी का गोलोक-वास हो गया। वे उनके विरह को नही सह सके। वे चिन्तित हो

उठे कि नन्दराय का वैभव अब ससार में दिखलाने वाला दूसरा कोई नही रह गया है। गोसाईं जी का दर्शन फिर न मिल सकेगा। उनका स्वास्थ्य बिगडता गया और कुछ समय के बाद रुद्र कुण्ड पर एक इमली के वृक्ष के नीचे उनका लीला-प्रवेश हो गया। अन्त समय में उन्होने गोसाईं जी की स्तुति का एक पद गाया और श्रीनाथ जी का दर्शन किया। निस्सन्देह चतुर्भुजदास महान भगवदीय, रसिक महात्मा, विरक्त गृहस्थ और भक्त सन्त थे।

रचना

श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव से लेकर विरह तक के अनेक लीलापूर्ण और दिव्य शृगारमय पदो की रचना की। चतुर्भुजदास के वालभाव, पालना, शृगार, रास-लीला और विनय के पद पुष्टिमार्गीय कीर्तन-सग्रह में सकलित है।

वाणी

मगल आरती गोपाल की।
नित उठि मगल होत निरखि मुख, चितवन नैन विसाल की।
मगलरूप स्याम सुदर कौ, मगल छवि भृकुटी भाल की।
'चतुर्भुजदास' सदा मगल निधि, वानिक गिरिधरलाल की।

भूली दधिको मन्थन करिबौ।
देखत रसिक नन्दनन्दन को, डगमगे पग धरिबो।
रह गई चितै चित्र जैसे एक टक, नैन निमेप न धरिबो।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन जनायो नही, मैं मन-मानिक हरिबो।

नैन भरि देखो नन्दकुमार।
जसुमति कूख चन्द्रमा प्रगट्यो या व्रज को उजियार।
वन जिनि जाउ आज कोऊगोसुत और गाय गुवार।
अपने अपने भेप सबै मिलि लावो विविध सिंगार।
हरद दूब अच्छत दधि कुमकुम मण्डित करौ दुवार।
पूरो चौक विविध मुक्ताफल गावौ मगलाचार।

चहूँ वेद धुनि करत महामुनि होत नछत्र विचार ।
उदयो पुण्य को पुज सावरो सकल सिद्धि दातार।
गोकुल वधू निरखि आनन्दित सुदरता को सार ।
'दास चतुर्भुज' प्रभु सब सुखनिधि गिरिधर प्रान आधार ।

खेलत फाग सग मिलि दोउ आनद भरि पिय-प्यारी ।
नवल किसोर रसिक नन्दनन्दन नव वृषभानुदुलारी ।
नव ऋतुराज लता द्रुम फूले वरन वरन छवि न्यारी ।
गुजत मधुप कीर पिक कूजत श्रवन सुनत सुखकारी ।
तैसइ सुभग गौर स्यामल तन बनी जोट इक सारी ।
कमल नैन पर बूका मेलत हसि सकुचत सुकुमारी ।
भरि अरगजा कनक पिचकारी धाई सब व्रजनारी ।
भरत भावते मदन गुपाल बढयो रग अति भारी ।
बहुरि मिली दसपाच अली गोविन्द भरे अकवारी ।
चोवा चन्दन अगर कुकुमादियो सीस ते ढारी ।
प्रेममगन मोहन मुख निरखत तन सब दसा बिसारी ।
'चतुर्भुज' प्रभु सुन नर मुनि मोहे गुननिधान गिरिधारी ।

श्री विट्ठल नाथ नैन भरि देखे ।
पूरे मनोरथ भये सवकुछ हुती जु जीय अपेखे ।
श्रीवल्लभसुत सरन विना यह लो दिन गये अलेखे ।
'दास चतुर्भुज' प्रभु सब सुखनिधि रहिये कृपा विसेखे ।

संत सिंगा जी

समुझि लेओ रे मना भाई
अत न होइ कोई अपना।

—सत मनरगोर

सन्त सिंगा जी मध्यभारत के कवीर स्वीकार किये जा सकते हैं। वे उच्च कोटि के रहस्यवादी सन्त थे, निर्गुण ज्ञानधारा में उनकी अद्भुत पहुँच थी। वे नीमाड के मध्यकालीन आध्यात्मिक गुरु थे, उन्होंने अपनी तपस्या और साधना से असख्य प्राणियो का कल्याण किया। वे तुलसीदास जी महाराज के समकालीन थे। सन्त-साहित्य सिंगा जी के जीवनकाल में अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर था, सगुण और निर्गुण धारा का समन्वय चल रहा था। महात्मा एकनाथ, सूरदास, मीरावाई, गुरु अर्जुनदेव आदि समाज को आध्यात्मिक चिन्तन से प्रभावित कर रहे थे। लोकजीवन में सत्य की शक्ति का सावेग अवतरण हो रहा था, क्रान्ति की शीतल ज्योति फैल रही थी। सन्त सिंगा जी का इस आध्यात्मिक क्रान्ति में विशेष हाथ था। सन्त सिंगा जी के समय में दिल्ली के सिंहासन पर अकवर का आधिपत्य था। देश में धार्मिक उदारता और सामाजिक प्रेम-सम्बन्ध की लहर दौड रही थी, वातावरण शान्तिमूलक था। सन्त सिंगा जी ने अपनी परम पवित्र वाणी के द्वारा लोगो को वताया कि ससार और उसके पदार्थ तथा सम्वन्ध सव-के-सब विनश्वर हैं, उनमें से एक भी साथ नही देता है इसलिये जीवन में सवसे वडा कर्तव्य यही है कि ससार के किसी भी पदार्थ में आसक्त न रहते हुए जीवात्मा निरन्तर भगवान का भजन करे। मालवा प्रदेश में सिंगा जी की वाणी का वडा प्रभाव है। उस भूभाग की जनता वडे आदर और श्रद्धा से उनके स्मरण में कहती है

'सिंगा वडा अवलिया पीर, जिसको सुमिरे राव अमीर।'

नीमाड के किसानो के हृदय में सिंगा जी के लिये महत्वपूर्ण स्थान है। उस प्रदेश के किसान तथा निवासी बडे-से-वडे सकट-काल मे कहा करते हैं

'म्हारा सिर पर सिंगा जवरा
गुरु मैं सदा करत हूँ मुजरा।'

सिंगा जी मध्यप्रदेश और विशेषता से नीमाड और मालवा की जनता के आध्यात्मिक प्राणधन स्वीकार किये जा सकते है।

सत सिंगा जी का जन्म मध्यभारत के वडवानी राज्य के खजूरी ग्राम में सम्वत् १५७६ वि को हुआ था। वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी तिथि थी। लगभग आठ बजे दिन को उनकी मा गौर-बाई घर से थोडी दूर पर कन्डे थाप रही थी। उसी समय सिंगा जी महाराज का धरती पर प्राकट्य हुआ। लोग उनके जन्म से आनन्दित हो उठे। उनके पिता भीमा जी गौली ने पुत्र उत्पन्न होने के उपलक्ष्य में अनेक दान-पुण्य किये। माता- पिता ने बडे प्यार से उनका पालन-पोषण किया, उनके वचपन के सस्कार बडे दिव्य थे।

सिंगा जी के जन्म के पाँच साल के बाद भीमा जी खजूरी ग्राम से हरसूद ग्राम चले आये। वे तीन सौ भैंसो के साथ हरसूद ग्राम में सपरिवार रहने लगे। इस यादव परिवार की निकट के गाँवो में शीघ्र ही प्रसिद्धि हो गयी। सिंगा जी वडे परिश्रमी और अध्यवसायी थे। यथासमय उनका विवाह हो गया पर गृहस्थाश्रम में उनका मन नही लगता था, घर उन्हें काट खाता था, वे अनासक्ति और वैराग्य में विशेष रुचि रखते थे। हरसूद ग्राम से थोडी ही दूर पर भामगढ राज्य था, सिंगाजी ने भामगढ के रावसाहव की नौकरी कर ली। वे रावसाहव की डाक ले जाया करते थे। रावसाहव के वहुत विश्वासपात्र थे, रावसाहव अपने गुप्त-से-गुप्त कार्य उन्ही के द्वारा करवाते थे। उनका वेतन केवल एक रूपया था। सिंगा जी वडे सतोषी थे। वे वडी सावधानी से हरकारे का कार्य सम्पन्न करते थे।

एक दिन विचित्र घटना हुई। सिंगा जी के जीवन में वैराग्य का क्षण उपस्थित हुआ। सिंगा जी रावसाहब की डाक लेकर घोडे की पीठ पर बैठ कर अल्हडता और मस्ती से चले जा रहे थे, घोडा बडी तेजी से दौड रहा था। वे हरसूद से भामगढ की राह पर भैंसावा ग्राम में पहुँचते ही ठहर गये, लगाम थाम ली। घोडा रुक गया। भैंसावा ग्राम में महात्मा ब्रह्मगिरि महाराज के शिष्य सन्त मनरगीर जी पद गा रहे थे। सन्त की वाणी थी, सिंगा जी के कान मे पड ही तो गयी, उनका शरीर रोमाञ्चित हो उठा, वे आत्म विभोर हो गये, मनरगीर गा रहे थे, भजन कर रहे थे

'समुझि लेओ रे मना भाई
अन्त न होइ कोई आपना।'

सिंगा जी घोडे पर से उतर गये, उनका मन शब्द-वाण से विद्ध था। नश्वर ससार उनके नयनो में नाचने लगा, उन्हे ज्ञान हुआ कि शरीर नश्वर है, परिवार से स्वार्थ का सम्वन्ध है, ससार माया का पुतला है, इनमें से कोई भी अन्त समय में साथ न देगा। उनका हृदय वैराग्य से अभिभूत हो उठा। वे सत मनरगीर के चरणो पर गिर पडे। उन्होनें कहा कि महाराज मै आपकी शरण में हूँ, ससार में आसक्त था, मुझे आत्मज्ञान हो गया। आप मुझे अपना वना लीजिये, मेरा उद्धार कीजिये, मन्त्र दीजिये। सन्त मनरगीर ने उनको अपना शिष्य वना लिया। मन्त्र लेने के वाद सिंगा जी भामगढ पहुँच गये। वे वार-वार मन को समझा रहे थे कि अन्त में कोई भी अपना नही है। रावसाहव की नौकरी छोड दी। उस समय उनका वेतन एक रूपये से तीन रूपये तक पहुँच गया था, रावसाहवने वहुत समझाया पर उनका वैराग्य-मद न उतर सका, वे तो सन्त-वाणी की वारुणी पीकर ससार के चक्र से दूर आ गये थे। वे वीर-हृदय पुरुष थे। सन्यास का वरण कर पीछे पद हटाना उन्होने उचित नही समझा।

सन्त सिंगा जी हरसूद आये। उन्होने रामनाम की खेती आरम्भ की। जीविका के लिये भैंस चराने का काम अपनाया। वे पीपल्या के जगल में रह कर भैंस चराने लगे। वे भैंस चराते और साथ-ही-साथ पद-रचना भी करते जाते थे। अपने तीन साल के साधनामय जीवन

में उन्होने आठ सौ पदो की रचना की। कुछ समय के वाद वे पीपल्या का जगल छोड कर फीफराड नदी के तट पर फीफराड के जगल में रहने लगे। वे फीफराड के जगल में जीवन के अन्तिम दिन तक रह गये। उन्होने अपने वैराग्य-काल में निर्गुण ब्रह्म की उपासना की, अनुभूतिपूर्ण ब्रह्मतत्व की अपने पदो में व्याख्या की। उन्होने घोषणा की

'जामें मुक्तो लाभ, खेती खेडो हरिनाम की।'

सन्त मनरगीर की उनपर बडी कृपा थी। एक दिन गुरु ने उनको अपने पास से अलग कर दिया। कृष्ण जन्माष्टमी की रात थी। मनरगीर को नीद सता रही थी। उन्होने सत सिंगा जी को आदेश दिया कि आधी रात में भगवान के जन्म-समय में मुझे जगा देना। इधर सिंगा जी भगवान का भजन करते-करते मस्त हो गये। आधी रात का समय होते ही वे भगवान के स्तवन-पूजन में लग गये। सन्त मनरगीर गहरी नीद मे थे। सिंगा जी ने सोचा कि गुरु सो रहे है, उनको जगाने से कही उनके प्रति अपराध न हो जाय। भगवान का तो जन्म प्रत्येक वर्ष होता है इसलिये इस वर्ष उत्सव की आरती मै ही कर लूँ। उन्होने भगवान की आरती की। मनरगीर सो कर उठे तो उन्हे वडा दुख हुआ, उन्होने आवेश में सिंगा जी को शाप दिया कि आज से मुझे अपना मुख मत दिखाना। सिंगा जी चले गये और वे गुरु का दर्शन करने कभी न आये। उनकी गुरुनिष्ठा में कमी न आयी। सत सिंगा जी निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त थे। वे अखण्ड ब्रह्म-पूजा में आजीवन सलग्न थे। उन्होने योगपुरुष निरकार की अखण्ड ज्योति का दर्शन किया। घट-घट में निर्विकार सनातन तत्व का ज्ञानसाक्षात्कार किया। उनकी उक्ति है

'निर्गुण धाम सिंगा जी जहाँ अखण्ड पूजा लागी।
जहाँ अखण्ड ज्योति भरपूर, जहाँ झिलमिल वरसे नूर॥
जहाँ भरा ज्ञान महमूर, कोई विरला पहुँचे सूर।
वो सोह सवद इकतार, जहाँ आदि अन्त ओकार॥
जहाँ पूरि रह्या इकतार, सव घट में श्री ओकार।
चेतन काया खोजे, खोजे विन कैसे सूझे॥

'ताल पखावज वजे झाँझरी
सिंगा ने ध्यान लगायो।
भान कपूर फूल की आरती
सिंगा ने ज्योति में ज्योति मिलायो।'

ाधि के पश्चात् उनके गुरु मनरगीर ने अपने शाप पर पश्चाताप ा कि मुझे क्रोधावेश हो गया था, मैंने हाथ का हीरा खो दिया, न्दवन में अपने हाथ से आग लगा दी। सिंगा जी की समाधि आश्विन मास में वहुत वडा मेला लगता है। वे रहस्यवादी सन्त ज्ञानी महात्मा थे।

रचना

सन्त सिंगा जी ने आठ सौ पद रचे। उनके पदो में निर्गुण ब्रह्म सरस वर्णन मिलता है।

वाणी

मै तो जाणू साईं दूर है, मुझे पाया नेडा।
रहणी रही सामरथ भई, मुझे पखवा तेरा॥
तुम सोना हम गहणा, मुझे लागा टाका।
तुम तो बोलो, हम देह धरि बोले कै रग भाखा॥
तुम चदा हम चाँदणी, रहणी उजियाला।
तुम तो सूरज हम घामला, सोई चौ जुग पुरिया॥
तुम दरियाव हम मीन है, विश्वास का रहणा।
देह गली मिट्टी भई तेरा तूही में समाणा॥
तुम तरुवर हम पछीडा, वैठे एक ही डाला।
चोच मार फल भाँजिया फल अमृत सारा॥
तुम तो वृक्ष हम वेलडी मूल से लपटाना।
कह 'सिंगा' पहचाण ले, पहचाण ठिकाना॥

सगी हमारा चचला कैसा हाथ जो आवे।
काम क्रोध विष भरि रह्या, तासे दुख पावे॥

'तत्व-पलग पर सेज बिछावण
शून्य में डेरा दीजे रे।'

उन्होंने समस्त चराचर में केवल एक परमात्मा की अभिव्यक्ति का अनुभव किया और इसी अनुभव के अनुरूप उन्होंने अपने सन्तमत की प्राण-प्रतिष्ठा की। उनकी उक्ति है कि मेरे अगम पथ पर ब्रह्म का दर्शन चन्द्रमा और सूर्य भी नही कर सकते है, योग की भाषा में इसका आशय यह है कि हस तत्व पर—इडा पिंगला पर स्थित रह कर भी सोऽह की झाँकी नही मिल सकती है, हस सोऽह होकर ब्रह्मानुभूति कर सकता है। सत सिंगा ने ज्ञान और भक्ति दोनो का प्रश्रय लिया। राम नाम में उनका बडा विश्वास था, भवसागर को पार करने का जहाज उनके मत से राम नाम ही है। उनकी उक्ति है

'राम नाम को जहाज बनाले, काठ भयो बहुसारा।
कह जन 'सिंगा' सुन भाई साधू मनरग उतरे पारा।।'

एक पद में उनका कथन है कि मेरे स्वामी की अटारी पर दो दीप जगमगा रहे है। अखण्ड स्मृति पहरा दे रही है। मै नत मस्तक रूपी फल उनके चरणो पर चढाने जाता हूँ पर मेरे स्वामी मुझे ठहरने का आदेश देते है। उनकी अस्वीकृति मुझे स्वीकृति से भी अधिक मीठी लगती है। इस उक्ति में ज्ञान और प्रेम-भक्ति का अमित मधुर समन्वय किया है। इस कथन में उनका रहस्यवाद अपने रसराजत्व —पूर्णतम शृगार पर है, यही सन्त साहित्य को उनकी महत्वपूर्ण देन है। वे कहा करते थे कि जीते रहना मेरी ससुराल है और मरना नैहर है। उनका कथन है

'ऐसा मरना मरो सन्त भाई,
बहुरि जनम नहि धरणा रे।'

गुरु ने उन्हें कभी मुख न दिखाने का आदेश दिया था। सिंगा जी ने आदेश का पालन किया। वे अपने जीवन के अन्तिम समय में फिफराड के जगल में भजन कर रहे थे। फिफराड नदी के तट पर सम्वत् १६१६ वि की श्रावण शुक्ला नवमी को उन्होंने जीवित समाधि ले ली। अपने हाथ से गड्ढा खोदा, कपूर जलाया और समाधिस्थ हो गये। समाधि के समय का वर्णन उनके पौत्र दलुदास ने किया है

'ताल पखावज वजे झाँझरी
सिंगा ने ध्यान लगायो।
भान कपूर फूल की आरती
सिंगा ने ज्योति में ज्योति मिलायो।'

समाधि के पश्चात् उनके गुरु मनरगीर ने अपने शाप पर पश्चाताप किया कि मुझे क्रोधावेश हो गया था, मैंने हाथ का हीरा खो दिया, आनन्दवन में अपने हाथ से आग लगा दी। सिंगा जी की समाधि पर आश्विन मास में वहुत वडा मेला लगता है। वे रहस्यवादी सन्त और ज्ञानी महात्मा थे।

रचना

सन्त सिंगा जी ने आठ सौ पद रचे। उनके पदो में निर्गुण ब्रह्म का सरस वर्णन मिलता है।

वाणी

मै तो जाणू साईं दूर है, मुझे पाया नेडा।
रहणी रही सामरथ भई, मुझे पखवा तेरा ॥
तुम सोना हम गहणा, मुझे लागा टाका।
तुम तो वोलो, हम देह धरि वोले कै रग भाखा ॥
तुम चदा हम चाँदणी, रहणी उजियाला।
तुम तो सूरज हम घामला, सोई चौ जुग पुरिया ॥
तुम दरियाव हम मीन है, विश्वास का रहणा।
देह गली मिट्टी भई तेरा तूही में समाणा ॥
तुम तरुवर हम पछीडा, वैठे एक ही डाला।
चोच मार फल भाँजिया फल अमृत सारा ॥
तुम तो वृक्ष हम वेलडी मूल से लपटाना।
कह 'सिंगा' पहचाण ले, पहचाण ठिकाना ॥

सगी हमारा चचला कैसा हाथ जो आवे।
काम क्रोध विष भरि रह्या, तासे दुख पावे ॥

मट्टी केरा सीघडा, पवन रग भरिया।
पाव पलक घडी थिर नही बहु फेरा फिरिया॥
आया था हरिनाम को, सो तो नही रे बिसाया।
सौदा तो सच्चा नही, झूठा सग कीया॥
घुरत नगारा शून्य में, ताकी सुधि लीजे।
मोतियन की बरसा बरसे, कोई हरिजन भीजे॥
राह हमारी बारीक है, हाथी नही समाय।
'सिंगा' जी चीटी हुइ रह्या, निरमय आवनो जाय॥

निर्गुण ब्रह्म है न्यारा, कोई समझो समझण हारा।
खोजत ब्रह्मा जनम सिराणा, मुनि जन पार न पाया॥
खोजत खोजत शिव जी थाके, वो ऐसा अपरम्पारा।
सेस सहस मुख रटे निरन्तर, रैन दिवस एक सारा॥
ऋषि मुनि और सिद्ध चौरासी, वो तैंतीस कोटि पचि हारा।
त्रिकुटी महल में अनहद बाजे, होत शबद झनकारा॥
सुकमणि सेज सून्य में झूले, वो सोहं पुरुष हमारा।
वेद कथे अरु कहे निरवाणी, श्रोता कहो विचारा।
काम क्रोध मद मत्सर त्यागो, ये झूठा सकल पसारा,
एक बूद की रचना सारी, जाका सकल पसारा।
'सिंगा' जी जो भर नजरा देखा, वो ही गुरु हमारा॥

नर-नारी में देखले, सब घर में एक तार।
कहै 'सिंगा' पहचान ले, एक ब्रह्म है सार॥

महात्मा जीव गोस्वामी

यावत आछ्ये प्राण, देहे आछे शक्ति
तावत करह कृष्ण पादपद्मे भक्ति।
कृष्ण माता, कृष्ण पिता, कृष्ण प्राणधन,
चरणे धरिया वलि— कृष्ण देह मन।

—चैतन्य भागवत

महात्मा जीव गोस्वामी अतल कृष्णभक्तिसागर की गम्भीरता और अचल चैतन्य-शरणागति की धीरता के समन्वय-प्रतीक थे। वे परम भगवतभक्त और रससिद्ध विद्वान महात्मा थे। जो स्थान वल्लभ-सम्प्रदाय में महामति प्रभुचरण हरिराय जी को प्राप्त है वही जीव गोस्वामी को गौडीय सम्प्रदाय में उपलब्ध है। जीव गोस्वामी महात्मा सनातन और रूप के सगे भतीजे थे, चैतन्य चरणारविंद मकरन्द के मुग्ध मधुप थे। जिस समय अकवर सीकरी में ऐश्वर्य और लौकिक वैभव पर शासन कर रहे थे उस समय श्रीकृष्ण की लीलाभूमि व्रज में महात्मा जीव गोस्वामी भगवद्भक्ति और अलौकिक ऐश्वर्य से जीव-मात्र को सचेत कर रहे थे।

जीव गोस्वामी भक्तिशास्त्र के अपूर्व मर्मज्ञ थे। वडे-वडे शास्त्र-महारथी और ज्ञानी भक्ति के सम्वन्ध में उनकी सम्मति लिया करते थे। वगीय वैष्णव विचारधारा के वे आचार्य थे। उन्होने भक्ति को रस माना और इस परिणाम पर पहुँचे कि वैराग्य वह तत्व है जिसके द्वारा लौकिक वस्तुओ का भगवत्सेवा में अनासक्तिपूर्वक उपयोग हो और श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम वढे। उन्होने श्रीकृष्ण को भगवत्तत्व, राधा को महाभाव स्वरूपिणी और प्रेम को परतत्त्व—महत्तत्व स्वीकार किया जीव गोस्वामी उच्च कोटि के रसोपासक थे। उनकी रस उपासना का मूलभूत आधार श्री राधाकृष्ण विषयक परम प्रेम है। अपने जीवन

के अन्तिम पैंसठ साल उन्होने श्रीकृष्ण के चरण-चिन्तन और भक्ति ग्रन्थो के प्रणयन में वृन्दावन में बिताये, ब्रज से कही भी बाहर न जाने का दृढ नियम था। निस्सन्देह जीव गोस्वामी सगुण सन्तसाहित्य के विकास की एक बहुत बडी भागवती शक्ति थे।

जीव गोस्वामी के पूर्वज परम ऐश्वर्य सम्पन्न और भगवन्निष्ठ थे। वे दक्षिण के कर्णाट प्रान्त के रहने वाले थे। वे भारद्वाज गोत्र के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। विक्रम की सोलहवी शताब्दी में जीव गोस्वामी के पूर्वज पद्मनाभ नवहट्ट चले आये और हुसेन शाह के शासन काल में जीव गोस्वामी के पितामह कुमारदेव ने फतेहाबाद में रहना आरम्भ किया। कुमारदेव के तीन पुत्र थे, सनातन, रूप और वल्लभ। सनातन और रूप मालाधर वसु के सम्पर्क से गौड के बादशाह हुसेन शाह की राजसभा में प्रधानमन्त्री और निजी सचिव के पद पर क्रमश प्रतिष्ठित हुए। जीव गोस्वामी अनुपम—वल्लभ के पुत्र थे। उनका जन्म पौष शुक्ल तृतीया को बाकला चन्द्रद्वीप में विक्रम की सोलहवी सदी के तीसरे चरण की समाप्ति पर और चौथे चरण के आरम्भ मे १५९० के पहले हुआ था। सनातन और रूप निस्सन्तान थे इसलिये जीव गोस्वामी को वे बहुत मानते थे। जीव गोस्वामी समस्त परिवार के प्रेमपात्र थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा की बडी उचित व्यवस्था की गयी थी। ऐसा कहा जाता है कि सनातन और रूप को धन्य तथा कृतार्थ करने के लिये जब महाप्रभु चैतन्य देव का रामकेलिग्राम में पदार्पण हुआ था तब बालक जीव गोस्वामी ने गगातटीय रमणीय उपवन के पीछे छिप कर महाप्रभु की दिव्य कान्ति से अपने नयन शीतल किये थे, मन-ही-मन अपने आप को उनके चरणदेश मे प्रेम के माध्यम से समर्पित कर दिया था।

चैतन्य महाप्रभु के रामकेलि से चले जाने के बाद सनातन और रूप को राजकार्य से तीव्र वैराग्य हो गया। रूप हुसेनशाह से छुट्टी लेकर चैतन्य देव से मिलने के लिये अपने छोटे भाई अनुपम के साथ वृन्दावन की ओर चल पडे। रूप ने थोडा-सा धन जीव गोस्वामी को देकर शेष ब्राह्मणों में बाँट दिया। जीव अधिक रूप में सनातन के ही पास रहते थे पर वे भी बादशाह के कारागार में डाल दिये गये। जीव गोस्वामी का मन

लौकिक ऐश्वर्य-भोग में तनिक भी नही लगता था, उनके जीवन-विकास पर सनातन और रूप की भगवन्निष्ठा का वडा प्रभाव था। इधर सनातन भी कारागार से निकल कर प्रभु चैतन्य देव से मिलने काशी आ गये। रूप और अनुपम ने प्रयाग में चैतन्य से भेंट की। उनकी आज्ञा से दोनो भाई लुप्त तीर्थों के उद्धार और खोज के लिये वृन्दावन गये, कुछ दिनो के वाद चैतन्य देव के दर्शन के लिये रूप और अनुपम ने नीलाचल की यात्रा की पर मार्ग में ज्वर से अनुपम की मृत्यु हो गयी। जीव गोस्वामी की अवस्था उस समय लगभग बीस साल की थी। पिता की मृत्यु से उनके हृदय पर वडा आघात लगा। उनका मन वृन्दावन के लिये आकुल हो गया। सनातन और रूप के साथ वृन्दावन में रह कर श्रीकृष्ण-भक्ति में समय का सदुपयोग करने का उन्होने निश्चय किया।

एक दिन रात को स्वप्न में उन्हे चैतन्य महाप्रभु और नित्यानन्द का दर्शन हुआ। वे नित्यानन्द के दर्शन के लिये नवद्वीप गये। घर-वार, भोग-ऐश्वर्य पर लात मार कर श्रीकृष्ण के प्रेमी हो गये। उन्होने आजीवन अखण्ड व्रह्मचर्य का पालन किया। नित्यानन्द ने उन्हे काशी जा कर विद्याध्ययन करने का आदेश दिया। जीव गोस्वामी काशी चले आये, भगवद्भक्ति को जीवन का ध्येय स्थिर किया। काशी में जीव गोस्वामी ने सार्वभौम भट्टाचार्य के शिष्य मधुसूदन विद्यावाचस्पति से शास्त्रो का अध्ययन किया। वेदान्त और न्याय आदि दर्शनशास्त्रो मे वे पूर्ण निष्णात हो गये। काशी-निवास काल में उन्होने वडे-वडे सिद्ध सन्तो और वीतरागी महात्माओ के दर्शन और सत्सग का रसास्वादन किया। वे सनातन और रूप के पास वृन्दावन चले आये। रूप के साथ रहकर भक्ति शास्त्र का अध्ययन करने लगे। सनातन और रूप दोनो उन दिनो वृन्दावन में ही रहते थे। वृन्दावन की चिन्मय सौन्दर्य-माधुरी की उपासना और कृष्णप्रेमप्राप्ति की दिव्य कामना में उनका मन रमण करने लगा। वे आजीवन वृन्दावन मे ही रह गये। वृन्दावन उनका प्राणधन हो गया। रूप गोस्वामी ने उन्हे विधिपूर्वक दीक्षा देकर अपने चरणो में आश्रय प्रदान किया। रूप ने दीक्षा देते समय कहा कि तुम वैराग्य का जीवन अपना रहे हो पर रेशमी परिधान शरीर पर समलकृत है, विपय-

मिलता। मीराबाई ने गोस्वामी जी के पास प्रत्युत्तर भेजा कि मैं तो यह समझती थी कि वृन्दावन में पुरुष केवल श्री कृष्ण हैं पर आज यह पता चला कि कोई और भी हैं। मीरा ऐसी भक्त की वाणी थी, तीर की तरह लग गयी। जीव गोस्वामी आसन से उठ पडे और मीरा को अपने दर्शन से धन्य ही नही किया, उनके दर्शन से स्वय कृतार्थ हो गये। महात्मा जीव गोस्वामी वैराग्यरसरसिक सन्त थे।

महात्मा जीव गोस्वामी ने भगवद्भक्ति के क्षेत्र में भजनानन्द को स्वरूपानन्द से अधिक श्रेयस्कर स्वीकार किया। भजनानन्द से भगवान की भक्ति मिलती है, स्वरूपानद ब्रह्मज्ञान प्रदान करता है। उन्होनें स्वीकार किया है कि भक्ति भगवान की ओर ले जाती है पर ज्ञान से ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति होती है। भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है—ऐसी उनकी मान्यता थी। उन्होने श्रीमद्भागवत पुराण को गौडीय वैष्णव-चिन्तन का प्रधान शास्त्र स्वीकार किया। चैतन्य देव के सिद्धान्तो के अनुरूप रूप और सनातन गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित भेदाभेद-वाद के अचिंत्य स्वरूप में उन्होनें गोपराजतनय नन्दनन्दन का दर्शन किया। भगवत्सदर्भ मे उनकी भगवत्तत्व के सम्बन्ध में उक्ति है

'स्वरूपाद्यभिन्नत्वेन चिन्तयितुम् शक्यत्वाद् भेद भिन्नत्वेन चिन्तयितुम् शक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदौ अङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्।'—श्रीकृष्ण में उनकी स्वरूप आदि शक्तियो से अभिन्न रूप में चितन करना अशक्य होने से वह भिन्न प्रतीत होता है और उनसे भिन्न रूप से चितन करना अशक्य होने के कारण वह अभिन्न प्रतीत होता है। शक्ति और शक्तिमान में भेद और अभेद दोनो सिद्ध होते है, ये दोनो ही अचिंत्य शक्ति होने के कारण अचिंत्य माने जाते हैं।

उन्होने 'गोपालचम्पू,' 'माधवमहोत्सव' आदि ग्रन्थो में श्रीकृष्ण की विभिन्न वृन्दावनलीला का पूर्ण रूप से वर्णन किया है। चैतन्य महाप्रभु की सतुष्टि के लिये, सुख के लिये उन्होने 'पूर्वगोपालचम्पू' और 'उत्तरगोपालचम्पू' की रचना मे हाथ लगाया, दिव्य गति-प्राप्ति

और सुखमयता ही उनकी रचना की मूलभूमि है 'उत्तरगोपालचम्पू' में जीव गोस्वामी की स्वीकृति है स्पष्टीकरण है

'प्रागारब्धमभूत्तदेतदमल चम्पूद्वय यत्कृते
तच्चेद हृदि शुद्धमाविरभवल्लोकद्वयस्यामृत,
राधाकृष्णपरस्परव्यतिकरानन्दात्मना येन ते
याता दिव्यगति वय सुखमय सर्वोर्द्धमध्यास्महे।'

जीव गोस्वामी की भक्तिपूर्ण रचना जगत् के प्रति उपरति और सच्चिदानन्द के प्रति गाढासक्ति का दान करती है। जीव गोस्वामी ने गोपीप्रेम की ही परिपुष्टि की, गोपीप्रेम को ही उन्होंने भक्ति का प्राणधन समझा। जीव गोस्वामी की प्रसिद्ध रचना 'षट्सन्दर्भ' में गौडीय वैष्णव-चिन्तन का भागवत रूप विस्तार से वर्णित है। 'षट्सन्दर्भ' में तत्व, भगवत्, परमात्म, श्रीकृष्णभक्ति और प्रीति के तत्व पर विचार किया गया है। पहले तीनो सन्दर्भों को अणुव्याख्या कहा जाता है, उनका नाम सर्वसवादिनी है। इनमें कृष्णभक्ति पर प्रकाश डाला गया है। कृष्णभक्ति का शास्त्रानुक्रम से वर्णन किया गया है। कृष्ण ही परम उपास्य और आराध्य स्वीकार किये गये है। भक्ति सन्दर्भ में अभिधेय तत्व और प्रीति-सन्दर्भ में प्रीति तत्व का विवेचन हुआ है। प्रीति-सन्दर्भ प्रयोजन तत्व का विश्लेषण करता है। तत्व सन्दर्भ में प्रमाण और प्रमेय का वर्णन है। ज्ञान का मूल अधिष्ठान प्रमाण है और ज्ञेयता ही प्रमेय है। जीव की मान्यता के अनुसार श्री भागवत पुराण भगवत्तत्व का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। भगवत्प्रेम मोक्ष सुख से कही अधिक आनन्ददायक और कल्याणस्वरूप है। भगवत्सन्दर्भ में भगवान के स्वरूप पर विचार किया है, यद्यपि तत्व एक है तथापि उपासक, योग्यता और वैशिष्ट्य के रूप में उसका वर्गीकरण किया गया है। परमात्म सन्दर्भ में ईश्वर, जीव और प्रकृति का निरूपण हुआ है। जीव गोस्वामी की उक्ति है कि प्रकृति के सत्व, रज, तम गुणो से जीव बद्ध है पर भगवान परम स्वतन्त्र और निरपेक्ष तथा स्वस्थ और पूर्ण है। भागवती शक्ति स्वरूपस्थ, तटस्थ और बहिरङ्ग है। स्वरूप शक्ति परा है, तटस्थ शक्ति जीव है और माया शक्ति बहिरङ्ग है। विष्णु पुराण में क्रम से इन को परा, क्षेत्रज्ञ और अविद्या शक्ति कहा गया है।

जीव गोस्वामी ने भगवन्नाम को भगवत्स्वरूप कहा है। उनके मत से 'भगवत्स्वरूप एव नाम' सिद्धान्त की परिपुष्टि होती है। जो भक्ति-पूर्वक भगवान का नाम लेता है वह भगवत्रूपता प्राप्त करता है। नाम भगवान का वर्णअवतार है। कथन मिलता है

'अवतारान्तरवत् परमेश्वरस्य वर्णरूपेणावतारोऽय।'

भक्ति से ही भगवान के स्वरूप का ज्ञान होता है – जीव गोस्वामी की यह मान्यता है। मोक्ष और आनन्द उपासना के सम्मुख गौण हैं। जीव गोस्वामी ने कहा कि साधना-भक्ति से ब्रह्मज्ञान मिलता है पर भगवत्प्राप्ति तो प्रेम-भक्ति से होती है। उन्होने कहा कि मुक्त जीव स्वरूप-शक्ति का अश है और वैकुण्ठ अथव गोलोक में वही परिकर कहलाता है। कृष्णसन्दर्भ में भगवान कृष्ण अवतार नही पूर्णतम परमात्मा स्वीकार किये गये है। भगवत्ता ही कृष्ण है, कृष्णत्व भगवत्ता नही है। श्रीकृष्ण केवल लीलावतार ही नही–गुणावतार भी है – ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नियामक है। कृष्ण ऐश्वर्य, कारुण्य और माधुर्य से समवेत परमात्मा है। जीव गोस्वामी ने रूप गोस्वामी के स्वीकीयवाद और गौडीय कृष्णप्रेम के परकीय वाद का समन्वय किया पर उनके साहित्य मे प्रधानता परकीयता की ही है। कृष्णदास कवि-राज ने गौडीय वैष्णवभक्ति का मूलाधार परकीय प्रेम माना है। उनका कथन है

'परकीया रसे अति भावेर उल्लास।'

जीव गोस्वामी ने राधा को 'गोपाल-चम्पू' में विशेष रूप से उत्कठिता निरूपित किया है। पर यह स्मरणीय बात है कि ब्रजगोपी श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी है। वे उनकी स्वरूप-शक्ति है। शक्तिमान् श्रीकृष्ण सदा उनके साथ विहार किया करते है। भक्तिसन्दर्भ में जीव गोस्वामी ने भगवद्भक्ति पर विशेष जोर डाला है। भगवान की कृपा से ही भक्ति का उदय होता है। सन्त-महात्माओ के सत्सग से ही भगवान की कृपा मिलती है। प्रीति-सन्दर्भ में जीव गोस्वामी ने भगवत्प्रेम की महिमा गायी है। भगवत्प्रेम ही जीवन का उत्तम और सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है। भगवत्प्रीति शाश्वत आनन्द का दान करती है। भगवत्प्रीति का आशय निष्काम सेवा–उपासना है। जीव

गोस्वामी निष्काम भक्त थे। जीव गोस्वामी निरन्तर वृन्दावन में रह कर भगवान श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य, सौंदर्य और माधुर्य का रसास्वादन करते रहे। सम्वत् १६७५ वि के लगभग आश्विन शुक्ल तृतीया को वृन्दावन मे ही उन्होने नित्यधाम मे प्रवेश किया। राधादामोदर उनके परम उपास्य थे। उन्होने आजीवन भगवद्भक्ति के अमृतसागर मे अवगाहन कर वडे प्रेम से श्रीराधाकृष्ण के लीला-चितन का व्रत-अनुष्ठान किया। अपनी सरस रचनाओ में सर्वत्र उन्होने कृष्ण की लीला का अनुभव चित्रित किया है। महात्मा जीव गोस्वामी का नाम भक्ति-साहित्य के इतिहास में अमर है।

रचना

माधवमहोत्सव, गोपाल-चम्पू, हरिनामामृत व्याकरण, षट्सन्दर्भ आदि जीव गोस्वामी की प्रसिद्ध रचनाये है। उन्होने भक्तिसिद्धान्त गोविन्दविरुदावली उपदेशामृत ग्रन्थ भी लिखे।

वाणी

शृण्वन्ति जिघ्रन्ति विलोकयन्ति
स्पृशन्ति कृष्ण व्रजवासि जीवा।
अहो चिरात्प्राप्तममु त एके।
लिहन्त्यपि प्रत्यहमूढ तृष्णा।

श्री कृष्ण के विलम्ब मे आने पर व्रजवासी उनके रूप, रस, स्पर्श और गन्ध आदि से धन्य हो जाते है। वे वडे ध्यान से उनकी बाते सुनते है, उन्हे देखते है, सूघते है, छूते है और वडी तृष्णा से उनको चाटते है— उनकी कान्ति से तृप्त होते है। —गोपालचम्पू

अरुणितलघुशाटीखण्डकम्राधराङ्गी
श्रवणगलवरन्ध्रप्रोतसुस्पर्शसूत्रा।
रजसि निज सखीभि: क्रीडया लोलनेत्रा
मधुरिपुरतिवीजश्रीर्निभाभाति राधा। —गोपालचम्पू

लाल रग की साडी पहन कर तथा श्रवण देश में सूत्र धारण कर मधुसूदन की रतिवीज श्री राधा अपनी सखियो के साथ धूलि में लीला करती हुई शोभित हैं।

कर रहे थे। वे वृन्दावन का नाम सुनते ही आनन्दमग्न हो गये। भगवान श्यामसुन्दर की रसराजधानी में भी उनकी पहुँच है—यह जान कर वे आत्मविभोर थे। उन्होने दोनो सन्तो की चरण-धूलि सिर पर चढा ली और कहा कि आप के आगमन से मैं कृतार्थ हो गया। सन्तो ने उनके हाथ मे जीव गोस्वामी का पत्र रख दिया जीव गोस्वामी ने स्मरण किया है—यह जान कर तो वे प्रेमविह्वल हो गये, उनका कठ अवरुद्ध हो गया। नयनो से अश्रु-प्रवाह चलने लगा, पत्र में लिखा था

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवी तद् पदाङ्कम्।
असभाष्य तद् भाव गम्भीर चित्तान्
कुत श्यामसिन्धो रसस्यावगाह ।

पद पढते ही उनका मन वृन्दावन और जीव गोस्वामी के दर्शन के लिये लालायित हो उठा।

सन्त गदाधर भट्ट ने अपनी सम्पत्ति का दीन-दुखियो में वितरण कर दिया। वे श्याम के रग मे पूर्ण रूप से रगे जाने के लिये जीव गोस्वामी से मिलने वृन्दावन चल पडे। गृहस्थी का मोह-बन्धन टूट गया। उन्होने अपने आराध्य नन्दनन्दन की लीला-भूमि मे जीव गोस्वामी के चरणो का आश्रय लिया। जीव गोस्वामी ने उनकी कृष्णभक्ति और श्याम रगमयता की सराहना की। गदाधर भट्ट उनके साथ वृन्दावन मे ही रह कर भगवान की लीला का चिन्तन करने लगे और पद रचने लगे। जीव गोस्वामी की कृपा से उन्होने भक्तिशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। वे श्रीमद्भागवत की कथा से सन्तो और भक्तो का मनोरञ्जन करने लगे। उनकी कथा मे विशाल जनसमूह भागवतरस का आस्वादन करने लगा। गदाधर भट्ट समस्त चराचर को अपने श्यामसुदर का श्रीविग्रह समझते थे। उनकी समस्त जडचेतन मे भगवद्वुद्धि थी। उन्हे भगवान की लीला-कथा सुनाने में वडा आनन्द मिलता था। उनकी भागवत कथा में धनी गरीव सव आते थे। वृन्दावन से थोडी ही दूर पर धौरहरा ग्राम के निवासी कल्याण सिंह उनकी कथा के वडे प्रेमी थे। वे नित्य नियम

से उनकी कथा में आते थे। एक दिन उनकी पत्नी ने भट्ट जी को कलकित करने के लिये एक स्त्री भेजी, वह समझती थी कि स्त्री द्वारा भट्ट जी के कलकित होने पर उसके पति कथा में जाना वन्द कर देंगे और गदाधर जी के प्रति भी अश्रद्धा करने लगेंगे। स्त्री ने कथा में जाकर भट्टजी से कहा कि आप ने मेरा परित्याग क्यो कर दिया, मैं दो-ती-चार दिनो के वाद मा वनने वाली हूँ। श्रोता यह सुनकर आश्चर्यचकित हो गये, उन्हे ऐसा लगा कि स्त्री किसी के सिखाने-पढाने पर भट्ट जी को कलकित करने आयी है। वे उसे मारने के लिये तत्पर हो गये। भट्ट जी ने स्त्री का वडे प्रेम से स्वागत किया। उन्होने कहा कि आप इतने दिनो तक कहाँ रह गयी, मैं तो आप की राह देखते-देखते पत्थर-सा हो गया। आप ने मुझ पर वडी कृपा की जो इस प्रकार मेवा करने का अवसर प्रदान किया। गदाधर ने स्त्री में अपने श्यामसुन्दर का दर्शन किया, उनके लिये तो वह साक्षात् भगवत्रूप ही थी। स्त्री को अपनी करनी पर वड़ा पश्चात्ताप हुआ, उसने सारा रहस्य प्रकट कर दिया। कल्याण सिंह ने अपनी पत्नी को मार डालने के लिये तलवार खीच ली। भट्ट जी ने उनको ऐसा करने ने रोका और ससार की नश्वरता का रूप समझाया। इस प्रकार कठिन परीक्षा के अवसर पर उन्होने धैर्य और विवेक मे काम लिया।

गदाधर भट्ट दूसरो के दोपो मे सद्गुण की खोज किया करते थे। उनकी भागवत कथा में वृन्दावन के प्राय सभी लोग सम्मिलित हुआ करते थे। एक दिन उनकी कथा में एक वैष्णव महन्त आये। भट्जी ने उनका स्वागत-सत्कार कर आदरपूर्वक वैठाया। कथा आरम्भ होते ही भगवद्गुणानुवाद से लोगो के नयनो से प्रेमाश्रु उमडने लगे। महन्त को अपने नयनो मे प्रेमाश्रु का अभाव देख कर वडी ग्लानि हुई। दूसरे दिन वे अँचले में लाल मिर्च की वुकनी लगा कर आये, वार-वार उसे कथा के मध्य मे आँखो से लगा लिया करते थे, दूसरो की तरह उनके नयनो से भी अश्रु उमडने लगा। कथा समाप्त होने पर भट्ट जी से एक आदमी ने यह वात कही तो वे तुरन्त महन्त के निवास-स्थान पर पहुँच गये। उन्होने महन्त को दण्डवत

प्रणाम किया और कहा कि आप निस्सन्देह परम वैष्णव है, आप ने भगवान की कथा में अश्रु न वहाने वाले नयनो को दण्ड देकर अपना भगवत्प्रेम चरितार्थ कर दिया। महन्त को उन्होने आलिंगनवद्ध कर लिया। उनकी कृपा से वैष्णव महन्त में भक्ति के दिव्य सस्कार जाग उठे।

सन्त का परम धन सत्य होता है। सन्त के प्रत्येक कार्य, चिंतन और आचरण में सत्य का ही पूरा-पूरा समावेश रहता है। सन्त गदाधर के परम धन भगवान श्रीकृष्ण थे, उन्होने सत्य को अपनी सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया था। भगवान अपने भक्तो की कडी परीक्षा लिया करते है। एक दिन गदाघर जी की कुटी में चोर चोरी करने आया। उसने सारा सामान एक गठरी में बाँध लिया, वह भारी थी, उठ नही सकी। गदाधर जी चोरी से तनिक भी उद्‌विग्न न हुए। वे चोर को देख रहे थे। उनका हृदय उसके प्रति दया मे द्रवित हो गया। वे उठ कर गठरी उसके सिर पर रखने लगे। सन्त के स्पर्श से चोर में परिवर्तन हुआ। वह आश्चर्यचकित हो गया कि मै तो इनके घर मे चोरी करने आया हूँ और ये मुझे इस प्रकार सहायता दे रहे है, हो-न-हो, ये कोई वहुत वडे महात्मा है। उसने नाम पूछा, उन्होने सहज भाव से अपना नाम वता दिया। नाम सुनते ही चोर उनके चरणो पर गिर पडा और कहा कि मेरे ऐसे पापी को भी भव-सागर से पार होने का मार्ग वताइये, मै महापापी हूँ, अधम और अपराधी हूँ। चोर उनकी कृपा से भगवद्‌भक्त हो गया। चन्दन ने कुठार में अपनी गन्ध फैला दी।

सत गदाधर की भगवन्निष्ठा उच्च कोटि की थी। वे सदा भगवद्विग्रह की सेवा पूजा मे ही लगे रहते थे। एक वार वे भगवान के राजभोग की व्यवस्था कर रहे थे, अपने हाथ से चौका लगा रहे थे कि शिष्य ने एक श्रद्धालु धनी शिष्य के आने की सूचना दी और निवेदन किया कि आप हाथ धो ले मै चौका लगा दूगा। गदाधर जी ने अत्यन्त शान्त हो कर कहा कि भगवान के दास्य और परिचर्या को छोड कर मै वनी शिष्य के आगमन से प्रभा-वित होकर हाथ धो लू-यह तो असम्भव है। आने वाला आयेगा और

चला जायेगा पर भगवान की सेवा का अवसर फिर नही मिलेगा। वे भगवत्सेवा में लगे रहे। शिष्य ने उनसे भगवत्सेवा का मर्म समझा। उनका आचरण भक्तिरस से परिपूर्ण था।

वे गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के अनुरूप आजीवन ललित पदो की रचना और भगवद्विग्रह की सेवा करते रहे। यही उनकी साधना का अथवा उपासना का रूप है। उनके पदो मे अनुपम भगवत्प्रेम, उत्कृष्ट त्याग और विशिष्ट वैराग्य की अनुभूति का दर्शन होता है। उन्होने कृष्णभक्ति की काव्य-व्याख्या की। उन्होने निगमागम की पहुँच से परे परम भागवत स्वरूप का निरूपण किया उनकी उक्ति है

'बरनो कहा जथामति मेरी, वेदहु पार न पावे हो।
भट्ट 'गदाधर' प्रभु की महिमा, गावत ही उर आवे हो।'

वे लीला-गायक सन्त और उपासक थे। वे सदा भगवान कृष्ण और उनकी सौन्दर्य-निधि राधा-रानी की उपासना मे दृढ निष्ठा से तल्लीन रहते थे। भगवान कृष्ण के वात्सल्य और मधुर रस का समीचीन विवरण उनकी रचनाओ का प्राण है। उनकी वर्णनशैली प्राणमयी और भागवतरस से सर्वथा परिपूर्ण है।

रागानुगाभक्ति की अनुभूति के मूर्तिमान प्रतीक थे भट्ट गदाधर। एक पद में उन्होने बडी सजीवता से यशोदा के दधि-मन्थन का काव्य-चित्र उरेहा है उनकी वाणी में यशोदा मूर्तिमती हो उठी है·

'दधि मथत नन्दनरिंद रानी, करति सुतगुन-गान।
नील नीरद अग दिव्य दुकूल वर परिधान॥
केस कुसुमनि किरनिमनि ताटक झलकत कान।
स्वेद-कन गन वदन विधु पर सुधा-विन्दु समान॥
नेत करपत हरप वरषत वलय-किंकिन-क्वान।
पय पयोधर स्रवत चातक कृष्ण पिवत निदान॥
सहस आनन कहि सकै नहिं जासु भाग्य बखान।
जगतवद्य गोविन्द माता 'गदाधर' करि ध्यान॥'

उन्होने कृष्ण की बाल्यलीला, निकुजकेलि आदि का समान रूप से अनुभव कर बखान किया है। सन्त गदाधर ने कृष्ण-तत्व की

दिव्यता का पूर्ण रूप से मर्म समझा था। राधा-रसाकृति परम ब्रह्मानन्द-वृत्ति के वर्णन मे भी मध्यकालीन रसिक सन्तो की श्रेणी में उन्हें गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त है। भागवत शृगार के माध्यम से उन्होने राधाकृष्ण का जो लीला-दर्शन किया वह मध्यकालीन गौडीय साहित्य का सौभाग्य प्रतीक है गदाधर की सरस वाणी ने गाया

'देखौ प्यारी, कुजबिहारी मूरतिवत बसत।
मौरी तरुनि तरनिजा तन में, मनसिज रस बरसत॥
अरुन अधर, नव पल्लव सोभा, बिहसन कुसुम विकास।
फूले विमल कमल से लोचन, सूचत मन उल्लास॥
चलि चूरन कुन्तल अलि माला, मुरली कोकिल नाद।
देखत गोपी जन बनराई, मदन मुदित उनमाद॥
सहज सुबास स्वास मलयानिल, लागत परम सुहायौ।
श्रीराधा-माधवी 'गदाधर' प्रभु परसत सचु पायौ॥'

उन्होने प्रकृति की दिव्यता में राधाकृष्ण की लीला का चित्रण किया। भागवतरस के रगमच पर भक्त कवि गदाधर ने प्रकृति का दिव्यीकरण किया। गदाधर भट्ट ने राधाकृष्ण के लीलाचिंतन को ही जीवन का परम धर्म स्वीकार किया। भगवान श्रीकृष्ण की मगलमयी कथा के प्रति अनुरक्ति ही उनकी भगवद्भक्ति का स्वरूप है। उन्होने अघो का सहार करने वाली, अधमो-पापियो को भवसागर से पार उतारने वाली, कलि-काल से तारने वाली, अमित मगलमयी, प्रेम-रस का दान करने वाली और अनपायिनी भक्तिमयी श्रीकृष्ण की कथा का चिंतन किया। उन्होने वेद-पुराणसम्मत भागवत कथा में ही परमोत्तम श्रेय स्थिर किया। सन्त गदाधर ने अपने सम-कालीन साहित्य मे भक्तिमूलक क्रान्ति की, कहा कि हरि की कथा परम पद सोपान है, इसे छोड कर किसी और विषय में समय लगाना अहितकर है। उन्होंने वृन्दावन में ही जीवन-लीला समाप्त की। वे वैष्णव सन्त थे।

रचना

श्री राधाकृष्ण के लीला सम्बन्धी अनेक पदो की गदाधर भटट ने रचना की, वे उपलब्ध है।

पद

नमो नमो जय श्रीगोविन्द।
आनन्दमय व्रज सरससरोवर, प्रगटित विमल नील अरविंद।
जसुमति-नीर-नेह नित पोपित, नवनव ललित लाड सुखकद
व्रजपति-तरनि-प्रताप प्रफुल्लित, प्रसरित सुजस सुवास अमद ॥
सहचरि-जाल-मराल सग रग, रसभरि नित खेलत सानन्द।
अलि गोपीजन नैन 'गदाधर' सादर पिवत रूप-मकरन्द ॥

हरि हरि हरि हरि रट रसना मम।
पीवति खाति रहति निघरक भई, होत कहा तोको स्रम ॥
तैं तो सुनी कथा नहिर्मो-से, उधरे अमित महाधम।
ग्यान-घ्यान-जप-तप-तीरथ-व्रत, जोग जाग विनु सजम ॥
हेमहरन, द्विजद्रोह मानमद, अर परगुरु-दारागम।
नाम प्रताप प्रवल पावक में होत भसम अघ अमित सलभ सम ॥
इहि कलि-काल कराल-व्याल विप-ज्वाल विपम मोये हम।
विनु इहि मत्र गदाधर कौ क्यो, मिटिहै मोह महातम ॥

जयति श्रीराधिके सकल सुखसाधिके
तरुनिमनि-नित्य नवतन किसोरी।
कृष्ण तनु लीन मनरूप की चातकी,
कृष्णमुख-हिम-किरिन की चकोरी ॥
कृष्ण-दृग-भृग-विश्राम हित पद्मिनी
कृष्ण-दृग-मृगज वन्धन सुडोरी।
कृष्ण-अनुराग-मकरन्द की मधुकरी
कृष्ण गुन-गान रससिंधु-वोरी ॥
विमुख परचित ते चित जाकौ सदा,
करत निज नाह की चित चोरी।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसे वने,
अमित महिमा, इतै वुद्धि थोरी ॥

अघ सहारिनी, अधम उधारिनी,
कलिकाल तारिनी, मधुमथन-गुन-कथा,
मगल विधायिनी, प्रेमरस दायिनी
भक्ति अनपायिनी होइ जिय सर्वथा।
मथि वेद मथि ग्रन्थ कथि व्यासादि,
अजहुँ आधुनिक तन कहत है मति जथा,
परम पद सोपान करि ‘गदाधर’ पान
आन अलाप ते जात जीवन वृथा॥

महात्मा नाभादास

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो,
कियो यों कवित्त पटमिहो मध्य लाल है ।
गुण पै अपार साधु कहै अक चार ही मैं
अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है ॥
सुनि सन्तसभा झूमि रही अलि श्रेणी
मानो घूमि रही कहै यह कहा धौं रसाल है ।
सुने हे अगर अब जाने मै अगर सही,
चोवा भये नाभा सो सुगन्ध भक्तमाल है ।

—प्रियादास

महात्मा नाभादास भगवान्, भक्त और सन्त के लीलाचरित्र, भक्ति और साधना के वहुत वडे मध्यकालीन साहित्यकार थे। उनकी साहित्य-कारिता भगवद्‌भक्ति रूपी प्राण-सजीवनी से सम्पन्न हो उठी। उन्होने अपने परम प्रसिद्ध भक्तभाल ग्रन्थ में सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के भक्तो, सन्तो और महात्माओ का वडी श्रद्धा से, वडी भक्ति और अनुरक्ति से चरित्राकन किया। वे सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थें। भक्ति का इतिहास साक्षी है कि सोलहवी और सत्रहवी सदी का मध्यकालीन भारत सगुण भक्ति के स्वर्णयुग से सर्वथा सम्पन्न स्वीकार किया जा सकता है। उस समय नाभादास ऐसे परम भागवत महात्मा की उपस्थिति एक वहुत वडी ऐतिहासिक आवश्यकता थी। नाभादास भक्तिशास्त्र के आचार्य थे, वहुत वडी भागवती शक्ति के रूप में पृथ्वी पर उनका अवतरण हुआ। किसी युग के विशेष पुण्योदय के फलस्वरूप ऐसे महान आत्मा का धरती पर दर्शन मिलता है। उनका 'भक्तमाल' भक्ति-साहित्य का अविस्मरणीय इतिहास है। उनका 'भक्तमाल' मानवता के लिये मुक्ति, भक्ति और ससार के प्रति पूर्ण अनासक्ति-विरक्ति का चिन्मय वाङ्मय है, भागवती शक्ति की विजयिनी

पताका है। उन्होने भक्तमाल के रूप में भारत को भागवत साम्राज्य का विधान दिया, भक्तमाल उनकी बहुत बडी देन है।

जिस सीमा तक नाभादास जी के जन्मस्थान की ऐतिहासिकता का सम्बन्ध है उसके स्तर पर प्रियादास और मराठी भक्तमाल भक्तविजय ग्रन्थ के रचयिता सन्त महीपति की उक्तियो का आधार लेना पडता है। महीपति ने 'भक्तविजय' में स्वीकार किया है कि नाभादास ग्वालियर के रहने वाले नागर ब्राह्मण थे और उनके भक्तमाल ग्रथ के आधार पर ही मैने अपने 'भक्तविजय' ग्रन्थ की रचना पूरी की है। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास जी ने उनको दक्षिण के तैलग प्रान्त–गोदावरी के रामभद्राचल का निवासी और हनुमान वशीय ब्राह्मण माना है। नाभादास के जन्म, बचपन और पालन-पोषण के सम्बन्ध मे प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कथाओ का उल्लेख किया है। नाभादास ने विक्रमीय सत्रहवी सदी को अपनी उपस्थिति से धन्य किया।

नाभादास जिस समय पाच साल के थे, उस समय गोदावरी के प्रदेश में भीषण अकाल पडा। लोग दाने-दाने के लिये तडपने लगे। भूख से उनके प्राण छटपटाने लगे। हरे-भरे खेत, वृक्ष तथा सरोवर आदि सूख गये थे। उन्हें देखने पर ऐसा लगता था मानो वे अकाल के ककाल है। पशु-पक्षी तथा असख्य जीव सत्रस्त थे। ऐसी स्थिति मे एक दिन कृष्णदास पयहारी के शिष्य सन्त कील्हदास और अग्रदास तैलग प्रान्त का परिभ्रमण कर रहे थे। वे राम-नाम के उच्चारण से वनप्रान्त को सरसता और जीवन प्रदान कर रहे थे, प्रचण्ड मार्तण्ड अपने पूर्ण यौवन पर था, दोपहर का समय था। उन्होने वन में एक घने वृक्ष की शीतल छाया मे अल्पवयस्क बालक को रोते देखा। मा ने भूख की ज्वाला से सत्रस्त होकर बालक को वन में छोड दिया था। महातमा अग्रदास ने बालक को अपनी गोद में बैठा लिया, मुख पर जल छिडका। बालक ने चेतना प्राप्त की। शिशु को जन्मान्ध देख कर अग्रदास का नवनीत के समान हृदय दया से द्रवित हो उठा, उन्होंने पानी छिडका। बालक के नेत्र खुल गये। दोनो महात्माओ की कृपा से असहाय शिशु ने स्वास्थ्यलाभ किया। अग्रदास के परिचय

पूछने पर वालक ने कहा कि मैं पाँचतत्व के विनश्वर देह का परिचय द् या आत्मा के सम्बन्ध में वात करूँ। दोनो महात्मा इस कथन से आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने वालक का नाम नारायणदास रखा। नारायणदास ही नाभा जी थे। अग्रदास ने नाभा जी को राममत्र की दीक्षा दी। अपनी तपोभूमि जयपुर राज्य में स्थित गलता में लाकर उन्होने नाभादास को सन्तो की सेवा का पवित्र कार्य सौंपा। नाभादास को सन्तों का चरण धोने और उच्छिष्ट पत्तल उठाने का काम मिला। सन्तो के चरणामृत-पान से उनका मन निर्मल हो गया, सेवा से उनकी वुद्धि में भगवद्‌भक्ति के दिव्य सस्कारो का उदय हुआ। नाभादास की गुरुनिष्ठा उच्च कोटि की थी। वे सदा महात्मा अग्रदास की प्रसन्नता के अनुकूल अपने कर्मों को पूरा करते रहते थे। उन्होंने अपने भक्तमाल ग्रन्थ में गुरु की वडी महिमा गायी है।

एक वार महात्मा अग्रदास मानसपूजा में थे। उन्होंने पूजा के समय ही देखा कि उनके एक व्यापारी शिष्य का जहाज समुद्र में डूव रहा है, माल नष्ट हो जाने वाला है, व्यापारी ने उनकी कृपा की शरण ली है। वे पूजा में ही चिंतित हो उठे। इधर महात्मा नाभादासन अपनी दृढ गुरुनिष्ठा के कारण अन्तर्प्रेरणा से यह वात जान ली। उन्होंने विचार किया कि इस घटना से गुरु की मानसिक भगवत्पूजा में विघ्न उपस्थित होना चाहता है। इसलिये अपने आराध्य देव भगवान राम से प्रार्थना की कि व्यापारी का जहाज विनष्ट न हो। भगवान की कृपा से उनकी प्रार्थना सफल हो गयी। उन्होंने अन्तर्दृष्टि से देखा कि व्यापारी का जहाज सुरक्षित है; समुद्र शान्त है तथा व्यापारी निश्चित है। उन्होंने महात्मा अग्रदास से सारी वाते कह दीं और प्रार्थना की कि आप अपनी मानसिक पूजा निर्विघ्न समाप्त करे। सन्त अग्रदास नाभादास की गुरुनिष्ठा से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि जो व्यक्ति एक व्यापारी के जहाज को सागर में विनष्ट होने तथा डूवने से वचा सकता है, निस्सँदेह वह असख्य प्राणियो को भवसागर पार उतारने में समर्थ है। उन्होंने नाभादास को भगवद्‌भक्तो और सन्त महात्माओ का चरित्र लिखने की आज्ञा दी। नाभा जी ने गुरु

के चरणो पर विनत होकर कहा कि यह कार्य तो गुरुतम है, मुझे आपके चरण-चितन और सन्तों की सेवा में परमानन्द की रसानुभूति होती है। अग्रदास ने उनकी पवित्र भावना की सराहना की पर भक्तमाल की रचना को ही उनके जीवन का श्रेय स्थिर किया। नाभादास ने उनकी कृपा से भक्तमाल की रचना की। उनकी भक्तमाल में उक्ति है

'अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन को जस गाउ।
भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाउ॥'

उन्होने भवसागर के लिये भक्तमाल के रूप में भक्ति की नौका प्रस्तुत की। भक्ति ने उनको अपने राज्य का नागरिक स्वीकार किया। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि बढने लगी। अयोध्या, काशी, जगन्नाथपुरी और वृन्दावन आदि तीर्थस्थानो में उनके नाम की चर्चा होने लगी। नाभादास के हृदय में सन्तो के प्रति सहज अनुराग था। वे सन्तो के दर्शन के लिये समय-समय पर तीर्थयात्रा में जाया करते थे। एक बार वे सन्तशिरोमणि तुलसीदास से मिलने काशी गये। उस समय तुलसीदास जी भगवान के ध्यान में सलग्न थे। नाभादास को उनका दर्शन न हो सका। नाभादास उन दिनो व्रज में ही रहते थे, वे वृन्दावन चले आये। जब तुलसीदास जी महाराज को इस घटना का पता चला, वे वहुत क्षुब्ध हो उठे। नाभा जी से मिलने वे स्वय वृन्दावन के लिये चल पड़े। नाभादास जी उच्च कोटि के सन्त-पारखी थे। उन्होंने जानबूझ कर तुलसीदास के आगमन की उपेक्षा कर दी। उस समय सन्तो का भण्डारा चल रहा था। खीर परोसने के लिये पात्र नही था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने एक सन्त की पनही (जूता) उठा कर कहा कि इससे उत्तम पात्र दूसरा क्या हो सकता है। नाभा जी का मन आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा, उन्होंने तुलसीदास जी को गले लगा लिया। दोनो सन्तो के मिलने का दृश्य अपूर्व, अलौकिक और परम मगलमय था। महात्मा नाभादास ने तुलसीदास से कहा कि हे सन्त सम्राट, हे अभिनव वाल्मीकि, हे राघवेन्द्र-पदारविन्द-मकरन्द के मधुप-अधिराज, आज मेरे नेत्र मफल हो गये, आज मेरी सन्त-सेवा साकार हो उठी, मुझे आप के रूप मे भगवान् ने भक्तमाल का सुमेरु

प्रदान कर दिया। नाभादास ने उनको आलिंगनवद्ध कर लिया, भक्त और भक्ति एकाकार हो गये। नाभादास ने भक्तमाल के माध्यम से विभिन्न भक्ति-पद्धतियो, मतो और भागवतधर्म का समन्वय कर साहित्य का दिव्यीकरण किया। उन्होने अपने गुरु अग्रदास की कृपा से तत्कालीन प्रचलित भक्ति-पद्धतियो पर प्रकाश डाला। उन्होने समस्त भागवत सम्प्रदाय के सद्सिद्धान्तो का अपने भक्तमाल में मण्डन किया। भक्तमाल में भगवत्ता ही अभिव्यक्त है। नाभादास ने हरि और हरि के दासो का परम पवित्र चरित्र गाया। उन्होने भगवान् को ही परमाराध्य ठहराया। भक्तमाल में उनका कथन है

'कविजन करत विचार वडो कोउ ताहि भनिज्जै।
कोउ कह अवनी वडी, जगत आधार फनिज्जै॥
सो धारीसिर सेस, सेस सिव भूपन कीनो।
सिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनो॥
रावन जीत्यो वालि पुनि वालि राम इक सर दँडे।
अगर कहै त्रैलोक में हरि उर धारैं ते वडे॥'

उन्होने अग्रदास की सीख के अनुसार कहा कि जो लोग अपने हृदय में भगवान को धारण करते है वे ही स्तुत्य हैं, उन्ही का गुणगान करना चाहिये। उन्होने 'भक्तमाल' के उपसहार में स्वीकार किया है कि जिन लोगो ने हरिदासो का गुणानुवाद किया है मैंने उनकी कृति के उच्छिष्ट रूप में 'भक्तमाल' प्रस्तुत किया है। नाभा जी ने कहा कि भगवान के दास मगलरूप है, सन्तो ने श्रुति-पुराण और इतिहास आदि का मन्थन कर निश्चय किया है—निर्णय किया है कि भजने के योग्य हरि या हरिदास ही है। भक्तो का गुण-गान करने से भगवान् की असदिग्ध रूप से प्राप्ति होती है— ऐसा उनका दृढ मत था। नाभा जी ने आजीवन भगवान का चिन्तन कर तथा भक्तो का गुणगान कर साकेत धाम की यात्रा की, वे परम भागवत सन्त थे।

रचना

नाभादास की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना 'भक्तमाल' है।

वाणी

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन कियें नासत विघ्न अनेक॥
मंगल आदिबिचारि रहि बस्तु न और अनूप।
हरिजन को जस गावते हरिजन मंगल रूप॥
संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुधर कै हरि कै हरिदास॥

× × × ×

भक्त जिते भूलोक में कथे कौन पै जायँ।
समुँद पान श्रद्धा करै कहँ चिरि पेट समायँ॥

× × × ×

चारि जुगन मे भगत जे तिनके पद की धूरि।
सर्वसु सिर धरि राखिहौं मेरी जीवन मूरि॥

× × × ×

हरि प्रापति की आस है तौ हरिजन गुन गाव।
नतरु सुकृत भुँजे बीज ज्यो जनम-जनम पछिताव॥

× × × ×

अग्रदेव आज्ञा दई भक्तन को जस गाउ।
भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ॥

—'भक्तमाल'

महात्मा एकनाथ

हो का वर्णमाजी अग्रगणी। जो विमुख हरिचरणीं।
त्याहुनि श्वपच श्रेष्ठ मानो। जो भगवद्भजनीं प्रेमळ ॥
—कोई सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हो और हरि के चरणो से विमुख हो तो
उससे वह श्रेष्ठ है जो भगवान के भजन का प्रेमी है।

—'नाथ भागवत':५।६०

महात्मा एकनाथ ज्ञानी सन्त थे, भगवद्रस के परम मर्मज्ञ थे। वे गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे, उनके मराठी सस्करण थे। दोनो की भगवद्प्रियता, तथा जीवन के क्रम आदि में वहुत-कुछ अशो में समानता पायी जाती है। उन्होने तुलसीदास जी की ही तरह अपनी भक्ति और भगवद्चरित्र का गान नाना पुराण निगमागम सम्मत रामकथा तथा कृष्णकथा के आधार पर किया। जिस समय वे दक्षिण काशी—पैठण में निर्गुण-सगुण ब्रह्म-चिन्तन का साहित्य प्रस्तुत कर रहे थे उस समय दिल्ली के सिंहासन पर अकवर का आधिपत्य था। निस्सदेह महात्मा एकनाथ विक्रम की सत्रहवी सदी के भारत की महान आध्यात्मिक शक्ति थे। उन्होने ज्ञान और कर्मकाण्ड से महत्वपूर्ण भक्ति को ही अधिकाधिक श्रेयस्कर स्वीकार किया। मध्य-कालीन भक्तिमूलक आध्यात्मिक क्रान्ति के नेताओ में से वे एक थे। उनकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए मराठी साहित्य के तुलसीदास महाकवि मोरोपन्त ने स्वीकार किया है कि, एकनाथ महाराज ने रामायण और भागवत पर विस्तार सहित ग्रन्थ लिखे, यदि वे दया-निधि ऐसा न करते तो जड जीव किस प्रकार तरते। एकनाथ महाराज का जीवन-चरित्र लिखने वालो में सन्त महीपति और केशववुवा के नाम अग्रगण्य हैं। महीपति ने अपने 'भक्तविजय' 'भक्तलीलामृत' ग्रन्थ में एकनाथ के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया है। एकनाथ महाराज

ने अपनी भक्ति से मराठी साहित्य को भगवद्रस का दान दिया। ज्ञानेश्वर मराठी साहित्य के आत्मा थे तो एकनाथ निस्सन्देह प्राण थे।

एकनाथ महाराज का जन्म परम भागवत ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पूर्वज उच्च कोटि के भगवद्भक्त और वैष्णव थे। एकनाथ के प्रपितामह भक्त भानुदास थे। वे दामाजीपन्त के समकालीन थे। वे पण्ढरीनाथ के रग में रगे हुए सन्त थे। प्रत्येक आषाढी और कार्तिकी एकादशी को पण्ढरपुर में विट्ठलदेव का दर्शन करने जाया करते थे। एकनाथ महाराज ने अपने 'रुक्मिणी स्वयम्वर' ग्रन्थ मे स्वीकार किया है कि मेरा जन्म धन्य वश में हुआ, इसी से मुझे हरिभक्ति-प्राप्ति हुई और सन्तजन हमारे सम्बन्धी हुए। हमारा वश श्रीकृष्ण को अर्पित हुआ। निस्सन्देह वह कुल परम पवित्र हो जाता है जिसमें भगवान के भक्त पैदा होते है, महात्मा एकनाथ का कुल तो पहले से ही भक्तिपरायण था इसलिये उसमें उनका जन्म होना सोने में सुगन्ध था। एकनाथ महाराज ने अपने भागवत ग्रन्थ के उपोद्घात में परम पूज्य भानुदास का वडी श्रद्धा और भक्ति से स्तवन कर अपने कुल की मर्यादा की श्री-वृद्धि की। उनका कथन है कि हम अपने पितामह के पिता भानुदास का वन्दन करते है। उनके कारण भगवान को हमारा वश प्रिय हुआ। उन्होंने वचपन में भानु की सेवा की और उन्हे विट्ठल मूर्ति का दर्शन हुआ। मेरा भाग्य धन्य है जो ऐसे वैष्णव कुल में मेरा जन्म हुआ। एकनाथ की भगवद्भक्ति वशपरपरागत थी। भानुदास के पुत्र चक्रपाणि थे। चक्रपाणि के पुत्र सूर्यनारायण एकनाथ महाराज के पिता थे, उनकी माता का नाम रुक्मिणी था। सम्वत् १५९० वि में मूलनक्षत्र में एकनाथ महाराज का जन्म हुआ। जन्म के समय ही उनके पिता का स्वर्गवास हो गया, थोडे समय के वाद माता ने भी परलोक-गमन किया। एकनाथ के पालन-पोषण का भार उनकी दादी और पितामह चक्रपाणि पर आ पडा। दादी ने उन्हे 'एका' के नाम से सम्वोधित करना आरम्भ किया, उनका नाम एकनाथ पड गया।

एकनाथ के सस्कार पितामह और पितामही के सम्पर्क में भगवदीय आचरण के अनुकूल थे। चक्रपाणि की देखा-देखी वे नित्य नियम से

शैशवावस्था में ही भगवच्चिन्तन करते थे, सन्तो और भगवद्कथावाचको को अमित पूज्य भाव से प्रणाम करते थे। चक्रपाणि को पूजा-पाठ में सहायता देते थे। वे हाथ में वीणा के समान करछुल लेकर तथा छोटे-छोटे पाषाण खण्ड में भगवद्भावना कर आनन्द और प्रेम से कीर्तन करते थे। एक बार उनके पितामह ने उनको इतनी अल्पावस्था में भवन्नामकीर्तन करते देख कर कहा था कि निस्सन्देह एकनाथ भानुदास की हरिपरायणता और भक्तियश का विस्तार पृथ्वी पर करेंगे। छठवे साल की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत सस्कार सम्पन्न हुआ। अडोस-पडोस तथा परिवार के लोग एकनाथ को वडा प्यार करते थे। नित्य सायकाल उनके घर पर रामायण अथवा भागवत आदि पुराणो की कथा होती थी। एकनाथ भगवान का यश वडे ध्यान से सुनते थे। कभी-कभी वे प्रसग विशेष पर मार्मिक प्रश्न भी पूछ लिया करते थे। इस प्रकार वचपन में ही उनमें सरस तथा मधुर भगवद्-भक्ति के सस्कार परिपुष्ट हुए।

धीरे-धीरे उन्हे गुरु की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनका उचित ढग से पथ प्रदर्शन कर भगवान की उपासना में उनको लगा देते। एक रात को चौथे पहर के लगभग एक देवालय में वैठ कर वे दिव्योन्माद के राज्य में भगवन्नामकीर्तन कर रहे थे, चारो ओर भगवद्गुणगान का माधुर्य परिव्याप्त था, ठीक उसी समय आकाशवाणी हुई कि देवगढ में जनार्दनपन्त नाम के एक महात्मा रहते हैं, तुम्हे उनसे जाकर दीक्षा लेनी चाहिये। महात्मा एकनाथ ने दो रात तक पैदल चल कर देवगढ की यात्रा पूरी की, उन्होने पन्त का दर्शन किया और उनके शरणागत हो गये। उनकी गुरुनिष्ठा उच्च कोटि की थी, वे सदा पन्त की सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। उन्होने गुरु की सेवा में किसी भी प्रकार की कमी नही आने दी। एक दिन देवगढ पर शत्रुओ ने आक्रमण किया, जनार्दन पन्त भगवान के ध्यान में निमग्न थे। एकनाथ महाराज पूजा-गृह के दरवाजे पर खडे थे, उन्होने सूचना देने वाले को भीतर नही जाने दिया और चार घण्टे तक शत्रुओ का सामना कर उन्हे खदेड दिया। ध्यान के वाद जनार्दनपन्त को इस घटना का पता चला। वे एकनाथ के इस आचरण से वहुत प्रसन्न हुए। वे उन पर अधिकाधिक

विश्वास करने लगे। जनार्दन ने उनको हिसाव-किताव का काम सौंप दिया। एक रात को तीन पहर के कठिन परिश्रम के वाद एक पाई की भूल का पता चला, वे आनन्द से उन्मत्त हो उठे। गुरु ने कहा कि एक पाई की भूल से तुम्हे इतना आनन्द हो रहा है, यदि तुम ससार की भूल समझ पाते तो कितने आनन्दित होते। जनार्दनपन्त ने कहा कि भगवान के भजन में ही परमानन्द है। एकनाथ की आँख खुल गयी, वे गुरु के चरण पर नत हो गये, उन्हे वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया। जनार्दनपन्त की प्रसन्नता के फलस्वरूप उन्हे दत्तात्रेय का भी दर्शन हुआ। उन्हे दत्तात्रेय और गुरु में तनिक भी भेद नही दीख पडता था। उन्हें दत्तात्रेय का प्राय दर्शन होता रहता था। दत्तात्रेय के प्रति एकनाथ महाराज ने श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है

'भीतर-बाहर, चराचर मे सर्वत्र दत्त ही विराजमान है, उन्होने मेरा मन हर लिया है, मेरा-तेरा भाव दूर हो गया। सिंहाद्रि पर रहने वाले दत्तात्रेय ने भक्त के मन में निवास किया, एका जनार्दन मे जीवित हो उठा।' एक बार मलग के वेश में दर्शन देकर उन्होंने एकनाथ को आशीर्वाद दिया था कि तुम सहस्रो मनुष्यों को भक्ति के पथ में लगाओगे तथा श्रीमद्भागवत पर अपूर्व ग्रन्थ लिखोगे। वे अपने गुरु से श्रीकृष्ण मन्त्र और उपासना की दीक्षा लेकर शूलभञ्जन पहाड पर मार्कण्डेय ऋषि के तपोवन के निकट घोर तप करने लगे। श्रीकृष्ण का नित्य ध्यान करते थे। उन्हे भगवान श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। इस तप-काल में पहाड के ऊपर उनके शरीर से एक सॉप लिपट गया पर उनके स्पर्श से उसकी काटने की शक्ति नष्ट हो गयी। वह उनके मस्तक पर फन उठा कर झूमने लगा। एक ग्वाला उनके लिये दूध रखने आया करता था, उसने एकनाथ को इस घटना से अवगत किया। एकनाथ ने कहा कि सॉप कृपालु हो गया। देह की सन्देह-बुद्धि मिट गयी। कृष्ण-उपासना का अनुष्ठान पूरा होने पर वे गुरु की आज्ञा से तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे।

उनकी तीर्थयात्रा में जनार्दनपन्त ने नासिक त्र्यम्बकेश्वर तक उनका साथ दिया। उन्होने गोदावरी के परम पवित्र तट पर चन्द्रभट नामक ब्राह्मण से चतुश्लोकी भागवत सुना, उस पर

उन्होने ओवी लिखी। उन्होने ब्रह्म गिरि की परिक्रमा की। गोदावरी ताप्ती, गगा और यमुना आदि में स्नान किया। आठो विनायक और वारहो ज्योतिर्लिङ्ग का दर्शन किया। वृन्दावन, काशी, प्रयाग, गया और वदरिकाश्रम की यात्रा की। द्वारिका भी गये। इस प्रकार यात्रा में उन्होने तेरह साल लगाये। वे पचीस साल की अवस्था में पैठण लौट आये। वे पैठण में पिम्पलेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहर गये। दादी और दादा वहुत दिनो से उनकी खोज में थे। चक्रपाणि ने उनको जनार्दनपन्त का आदेश-पत्र दिखलाया कि तीर्थयात्रा से लौट कर तुम गृहस्थाश्रम का वरण करो और विवाह कर गृहस्थ धर्म का पालन करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। एकनाथ ने गुरु के आज्ञा-पत्र के अनुसार विजापुर अथवा वैजापुर की एक ब्राह्मण-कन्या गिरिजा से विवाह किया। उनका गृहस्थ जीवन अत्यन्त सुन्दर था, वे भगवद्भजन और आत्मानुसन्धान में दृढ़तापूर्वक सलग्न थे। गिरिजा से उन्हे आध्यात्मिक साधना में वडी सहायता मिल सकी। गृहस्थी में स्वर्ग-सुख उतर आया। वे नित्य नियमपूर्वक भानुदास द्वारा स्थापित विट्ठल मूर्तिके सामने भगवच्चर्चा और 'ज्ञानेश्वरी' आदि की कथा में ही समय का सदुपयोग करते थे। रात में केवल चार घटे सोते थे। शेष समय भगवान की आराधना में ही वीतता था।

विवाह के वाद दादी का देहावसान हो गया। गृहस्थी का भार एकनाथ-दम्पति ने वडी योग्यता से सम्हाला। गिरिजा ने पति-सेवा के माध्यम से परमार्थ की साधना की। एकनाथ ने एक स्थल पर कहा है कि जव स्त्री-पुरुप दोनो की चित्तवृत्ति एक होकर धर्म के अनुकूल होती है तभी परलोक सधता है। एकनाथ दम्पति के तीन सन्तान थी। इनमें से एक पुत्र था। उसका नाम हरि था और कन्याओ का नाम गोदावरी और गगा था। एकनाथ आजीवन भगवद्-भजन में ही लगे रहे। उनका जीवन परम सयत और दिव्य था। इनके घर पर नित्य अतिथि आते रहते थे। सन्तो का समागम होता रहता था। एकनाथ का समग्र जीवन भागवत चेतना से परिपूर्ण था। वे गृहस्थ सन्त के असाधारण सस्करण थे। एकनाथ महाराज वडे सहिष्णु और गम्भीर थे। उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। वे नित्य

गोदावरी-स्नान करने जाते थे। रास्ते में एक सराय पड़ता था। उसमें एक यवन रहता था। वह एकनाथ महाराज को बहुत तंग किया करता था। महाराज जब स्नान कर लौटते थे तब वह उनके शरीर पर कुल्ला कर दिया करता था। इस प्रकार महाराज को नित्य अनेक बार स्नान करना पड़ता था। एक दिन यवन ने महाराज के शरीर पर एक सौ आठ बार कुल्ला किया और महाराज ने बड़ी प्रसन्नता और शान्ति से एक सौ आठ बार स्नान किया। यवन को अपने दुराचरण पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने एकनाथ के चरणों पर विनत होकर क्षमा माँगी। महाराज ने उसको अपना लिया, वह महाराज के प्रति श्रद्धा करने लगा और उसकी कुप्रवृत्ति नष्ट हो गयी। महाराज के चरण-स्पर्श से उसे नया जीवन मिला, वह धन्य हो गया। एकनाथ महाराज शील के समुद्र थे। एक दिन उनके पिता का श्राद्ध था। वे दरवाजे पर खड़े होकर निमन्त्रित ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे। तीन चार माहार घर के सामने से यह कहते जा रहे थे कि कितना मधुर और सुगन्धित भोजन बना हुआ है। हम लोगों को ऐसा भोजन भला किस प्रकार मिल सकता है। महाराज का हृदय उनकी उक्ति पर दया से पिघल गया। उन्हें आदरपूर्वक भोजन कराया और उसके बाद ब्राह्मणों के लिये नया भोजन बनवाया। ब्राह्मणों ने भोजन करना अस्वीकार कर दिया, कहा कि श्राद्धान्न हम लोगों के योग्य नहीं है। महाराज ने पितरों का आह्वान किया। उनके पितर भानुदास, चक्रपाणि और सूर्यनारायण ने मूर्तिमान् उपस्थित होकर भोजन किया। ब्राह्मणों को बड़ा पछतावा हुआ। वे महात्मा एकनाथ के चरण देश में नत हो गये। महाकवि मोरोपन्त ने इस घटना को बड़ा महत्व दिया है।

एकनाथ महाराज ने घट-घट में परमात्मा की अनुभूति की। प्राणीमात्र में वे अपने परम प्रभु का दर्शन करते थे। एक बार काशी की यात्रा समाप्त कर वे प्रयाग से गंगाजल लेकर रामेश्वर जा रहे थे। उनके साथ उद्धव आदि थे। एक रेतीले मैदान में एक गदहा प्यास से तड़प रहा था। महाराज का कोमल हृदय द्रवित हो गया। प्यासे गदहे के मुख में गंगाजल डाल देने को ही उन्होंने परम पुण्य स्वीकार किया, उन्होंने कावर का गंगाजल गदहे को पिला दिया।

साथियो के आपत्ति उठाने पर एकनाथ महाराज ने समाधान किया कि परमात्मा चराचर में व्याप्त है। एक बार गदहे को जल पिला कर उसे प्यास से मुक्त करने में करोडो बार रामेश्वर पर जल चढाने का पुण्य मिल गया। महाकवि मोरोपन्त की उक्ति है कि एकनाथ महाराज ने ऐसा कर लाख ब्राह्मणो को भोजन कराने का पुण्य कमाया।

पैंठण में एक सुदरी वेश्या रहती थी। वह चचल और कलामर्मज्ञा थी। वह नित्य श्रीएकनाथ की भागवत कथा में आया करती थी। उसका मन निर्मल हो गया था। उसने एक दिन भागवत का पिंगला-ख्यान सुना, उसका चित्त वैराग्य-रस में सराबोर हो गया, नश्वर शारीरिक सौन्दर्य के प्रति घृणा हो गयी। वह कई दिन घर मे पड़ी रही, बाहर नही निकल सकी, यही सोचती रहती थी कि एक बार भी यदि एकनाथ महाराज के चरण घर में आ जाते तो मेरा उद्धार हो जाता। महाराज एक दिन गोदावरी-स्नान कर लौट रहे थे कि वेश्या ने दरवाजे पर खडी होकर कहा कि महाराज यदि आप क्षण-मात्र के लिये मेरे ऐसी पापिनी के घर मे चरण रख देते तो मेरा उद्धार हो जाता, मेरे पाप मिट जाते। महाराज ने कहा कि मेरे लिये तो जीवमात्र प्रभु के अश है, भला मुझे आपत्ति ही किस प्रकार होगी। महाराज ने उसका स्वागत स्वीकार किया, उसे 'राम-कृष्ण' मन्त्र-दान से कृतार्थ किया। वेश्या ने अन्त समय में पूर्ण कृष्णप्रेम में रग कर देहत्याग किया।

महाराज परोपकार के तो मूर्तिरूप थे। वे नित्य रात को भगवान की कथा करते थे। एक दिन उनकी कथा में चार चोर सम्मिलित हुए। कथा-समाप्ति के बाद महाराज तो भगवान के ध्यान में मग्न हो गये और चोरो ने आधी रात के बाद सामान लेकर भागना चाहा। वे अन्धे हो गये, घर के बाहर नही निकल सके। उन्होंने एकनाथ के चरणो में मस्तक रख कर क्षमा माँगी, महाराज ने उन्हे भोजन कराया। उनकी कृपा से चोरो ने चोरी छोड दी, उनका जीवन सुधर गया।

एकनाथ महाराज का विट्ठल और रुक्मिणी में प्रगाढ अनुराग था। कर्णाटक में एक भगवद्भक्त महाजन रहता था। उसने प्रर्याप्त लागत

से रुक्मिणी-विट्ठल की प्रतिमायें वनवायी। उसे स्वप्न में भगवान ने आदेश दिया कि मुझे पैठण में एकनाथ महाराज के पास पहुँचा दो। महाजन ने पैठण में भव्य मन्दिर का निर्माण कराया, उसमें विट्ठल और रुक्मिणी के श्रीविग्रह पधरा कर एकनाथ महाराज के प्रति भगवत्प्रीत्यर्थ सम्मान प्रकट किया। महाराज भगवान के कृपापात्र थे।

सन्त का सहज स्वभाव होता है कि वह किसी में दोष नही देखता है। एकनाथ महाराज उच्च कोटि के सन्त थे। एक दिन पैठण में एक गरीब ब्राह्मण आया। उसे अपने पुत्र के उपनयन के लिये दो सौ रुपयो की आवश्यकता थी। उचक्को ने कहा कि यदि तुम अपने किसी आचरण से एकनाथ को रुष्ट और अप्रसन्न कर दो, चिढा दो तो तुम्हे हम दो सौ रुपये दे सकते हैं। ब्राह्मण महाराज के घर गया। वे उस समय पूजा कर रहे थे, ब्राह्मण एकनाथ की जाँघ पर पालथी मार कर बैठ गया। महाराज ने ब्राह्मण में अपने प्रभु का दर्शन किया। उन्होने बडे सम्मान से ब्राह्मण के इस प्रेम-प्रदर्शन की बडी सराहना की, रोष तो मन में नाम-मात्र को भी नही था। महाराज के भोजन का समय हो गया। ब्राह्मण भोजन परोसते समय महाराज की पत्नी गिरिजा के कन्धे पर बैठ गया। साध्वी गिरिजा ने महाराज से कहा कि मै अपने पुत्र को नीचे नही गिरने दूगी। ब्राह्मण अत्यन्त लज्जित हुआ। महाराज के अग-स्पर्श से उसकी चित्तवृत्ति वदल गयी। उसने एकनाथ जी से मन की वात कह दी। महाराज ने बडे प्रेम से कहा कि यदि तुमने मुझे पहले ही बताया होता तो मै चिढ कर रोष प्रकट करता और तुम्हे दो सौ रूपयो की प्राप्ति हो जाती। महात्माओ का स्वभाव नितान्त विचित्र होता है, वे अपने प्रति किये गये अपकार को भी उपकार ही समझते हैं।

पैठण में एक ब्राह्मण रहता था। उसके पास दैवयोग से एक पारस पत्थर था। वह तीर्थयात्रा करने जा रहा था। उसने सोचा कि महात्मा एकनाथ को एक पैसे का भी लोभ नही है, उनके पास पारस सुरक्षित रहेगा। उसने पारस उनके पास रख दिया। महाराज ने पारस भगवान के सिंहासन के नीचे रखवा दिया। तीर्थ-यात्रा से लौटने

पर उसने महाराज से पारस माँगा, सेवक उद्धव ने कहा कि भगवान के निर्माल्य के साथ गोदावरी में वह गया होगा। ब्राह्मण को एकनाथ पर सन्देह हुआ। महाराज उसे अपने साथ गोदावरी तट पर ले गये। वे गोदावरी में खडे हो गये, हाथ से छोटे-छोटे पाषाण खण्ड निकाल कर कहा कि इसमें से जो तुम्हारा हो, ले लो। ब्राह्मण ने देखा कि सब-के-सब पारस है। उसने एक ले लिया, महाराज ने शेष गोदावरी की धारा मे बहा दिये। महात्मा और सन्त के चरित्र में ऐसी विशेषताओ का बाहुल्य रहता है, भगवान स्वय सन्त के वश में रहते है, वे सन्त के मनोनुकूल ही जगत का पालन और सरक्षण करते है।

—भगवान स्वय सेवक अथवा अनुचर के रूप में अभिव्यक्त होकर भक्तो की सेवा और सुख का रसास्वादन करते है—ऐसी अनेक कथायें भक्ति के इतिहास में उपलब्ध है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीखण्डिया रूप मे अभिव्यक्त होकर एकनाथ महाराज की सेवा कर उनका यश बढाया। वे उनके लिये पूजा का सामान एकत्र करते थे और श्रीखण्ड-चन्दन घिसते थे। महाराज को इस बात का तनिक भी पता नही था। द्वारिका में एक ब्राह्मण भगवद्दर्शन के लिये तप कर रहा था। उसे आदेश हुआ 'तुम पैठण जाओ। मै एकनाथ के घर श्रीखण्डिया के रूप मे दर्शन दूगा।' ब्राह्मण पैठण गया। उसने श्रीखण्डिया को कावर लेकर जल भरने के लिये जाते देखा पर वह समझ न सका कि उसे साक्षात् श्रीकृष्ण का दर्शन हो रहा है। भगवान अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मण ने एकनाथ से श्रीखण्डिया के सम्बन्ध में बात की। महाराज ने रहस्य को जान लिया, उनके नयनो से प्रेमाश्रु छलकने लगा, कण्ठ अवरुद्ध हो गया, हृदय भारी हो गया। महाराज सोचने लगे कि प्रभु ने मेरे लिये इतना कष्ट उठाया। उन्होंने कहा है 'प्रभु, आपने सेवा करके मेरा नाम बढाया, पूजा की सामग्री एकत्र की, चन्दन घिसते रहे। . मैं अपराधी हूँ, पतित हूँ।' उन्होने अमित पश्चात्ताप किया। महाराज के समकालीन महामति दासोपन्त ने इस घटना का महत्व स्वीकार किया है। एकनाथ के चरित्रकार महीपति ने भी इसको मान्यता दी है। अमृतराय और मोरोपन्त ने प्रभु की इस उदारता और सेवावृत्ति का बडा बखान किया है।

एकनाथ महाराज ज्ञानेश्वर के प्रति बडे अनुरक्त थे। उनके स्वप्नादेश से प्रेरणा प्राप्त कर वे पण्ढरपुर होते हुए आलन्दी गये थे। आलन्दी में ज्ञानेश्वर की समाधि है। उन्होने समाधि के निकट अजान वृक्ष देखा। ज्ञानेश्वर ने स्वप्न में आदेश दिया था कि मेरे गले में अजान वृक्ष का फन्दा है, उससे मुझे मुक्त करो। एकनाथ महाराज ने ज्ञानेश्वर की समाधि का इस प्रकार पता लगाया। वे समाधि-स्थान पर तीन दिन रहे । उन्होने समाधि के भीतर जाकर वज्रासनस्थ ज्ञानेश्वर का दर्शन किया। उनके गले में अजान वृक्ष का फन्दा था। उसे निकाला। समाधि का द्वार फिर वन्द कर दिया। आलन्दी में ज्ञानेश्वर की समाधि-भूमि से वे 'ज्ञानेश्वरी' के प्रचार की प्रेरणा लेकर पैठण लौट आये। एकनाथ महाराज ने ज्ञानेश्वरी के सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या की, लोगो को भगवद्गीता का ज्ञानेश्वरी के अनुसार मर्म समझाया। महाराज ने ज्ञानेश्वरी के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की है।

एकनाथ महाराज ने भगवद्भक्ति-साधना के क्षेत्र में सगुण और निर्गुण चिन्तन-पद्धति का अत्यन्त सन्तोषप्रद समन्वय किया है, यह उनके अध्यात्म जीवन की विशिष्टता है, मौलिकता है। उनकी रुचि सगुण उपासना की ओर विशेष रूप से थी, कारण यह था कि तत्कालीन सन्त और महात्मा भगवत्तत्व का अनुसन्धान सगुण भक्ति के माध्यम से कर रहे थे। एकनाथ महाराज ने भक्ति का निरूपण करते हुए कहा है कि सव प्राणियो में भगवान का सप्रेम भजन करने की युक्ति ही भक्ति है। उन्होने वताया कि भगवत्प्राप्ति उस अपरोक्ष स्थिति का पर्याय है जिसमें निरन्तर भगवत्स्फूर्ति होती रहती है। भगवान के चरणो पर निष्काम भाव से सर्वात्म-समर्पण करने को ही एकनाथ महाराज ने भागवतधर्म स्वीकार किया। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने भी अपने भागवतधर्म का मूल सर्वात्म-समर्पण ही कहा था, एकनाथ ने उनकी पद्धति सन्त नामदेव और ज्ञानेश्वर के महाराष्ट्र में ही नही, उत्तर-दक्षिण भारत के मध्यभाग में ही नही, सारे भागवत भारत मे अक्षुण्ण रखी। महाराज ने घोषणा की कि धन्य है नरदेह का मिलना, धन्य है साधुओ का सत्सग, धन्य है वे भक्त जो भगवान् की भक्ति के रग मे रग गये है। एकनाथ महाराज ने

सत्य पर बडा जोर दिया। उन्होने कहा कि सत्य के समान कोई तप नही है, कोई जप नही है। सत्य से सद्रूप की प्राप्ति होती है। सत्य से साधक निष्पाप होता है। उन्होने भगवान की सगुण भक्ति की बडी महिमा गायी है। उनकी उक्ति है कि भगवान के परम पवित्र सगुण चरित्र का ही वर्णन करना चाहिये। सत्सग में अन्तरङ्ग से भगवान का नाम लेना चाहिये। कीर्तन की तरग में भगवान के समीप आनन्द से झूमना चाहिये । महाराज ने स्वीकार किया है कि हरि-कीर्तन से अन्तकरण की शुद्धि होती है। महाराज का भगवान के सगुण रूप के सम्वन्ध मे कथन है कि जो नित्य सिद्ध सच्चिदानन्द है, प्रकृति के परे परमानन्द स्वरूप है, वे ही स्वानन्दकन्द अपनी लीला से सगुण है। इस प्रकार उन्होने निर्गुण-सगुण भगवत्तत्त्व के समन्वय से भक्ति की श्रीवृद्धि की । एकनाथ महाराज ने मध्यकालीन सन्तो की ही तरह गुरु में साक्षात् परमेश्वर की अभिव्यक्ति का अनुभव किया। महाराज की वाणी है कि हमारे लिये वेद, शास्त्र, पुराण, योग, तप, कर्म-धर्म सव कुछ जनार्दन है। उनका नाममात्र ही हमारा वेदशास्त्र है।

एकनाथ महाराज ने आजीवन अन्नदान और स्वरूप अथवा आत्मा का दान किया। महाराज ने निन्दक और प्रशसक दोनो का समान रूप से गले लगा कर हित किया। उन्होने निन्दक के सम्वन्ध में कहा है कि निन्दक आत्माराम का सखा है, वह साक्षात् काशी है, उसकी कृपा से पापो का नाश हो जाता है। वह साक्षात् गुरु है, हमारे मैल धोता है। इस प्रकार महाराज ने सवके प्रति गृहस्थ सन्त के वेष में उदारता का आचरण किया। सम्वत् १६५६ वि में महाराज ने परलोक की यात्रा की। परमधाम पधारने के पहले उन्होने अपनी गमन-तिथि की सूचना दे दी थी। चैत कृष्ण पष्ठी को प्रातकाल महाराज ने गोदावरी में स्नान किया। हरिकीर्तन हो रहा था। वडे-वडे सन्त और महात्मा एकत्र थे। एकनाथ ने हरिनाम-ध्वनि से पूर्ण वातावरण में समाधि ली। उनका जीवन परम दिव्य था। वे भगवद्रस के परम ज्ञानी और तत्वज्ञ थे। महाराज की आध्यात्मिकता उच्च कोटि की थी। महात्मा एकनाथ का नाम सन्त-साहित्य में अमर है।

रचना

एकनाथ महाराज ने नाथ-भागवत-एकादश स्कन्ध, रुक्मिणी स्वयम्वर, भावार्थरामायण, चिरजीव पद, स्वात्मवोध और आनन्दलहरी आदि की रचना की।

वाणी

नाम वदताहे वैखरी। चित्त धावे विषयावरी।
कैसे होताहे स्मरण। स्मरणमाजी विस्मरण।
नामरूपा नाही मेळ। नुस्ता वाचेचा गोंधळ।
'एका' जनार्दनी नाम। नामी प्रगटे आत्माराम ॥

मुख से रामनाम कहने और चित्त में विषय का ध्यान करने से कोई लाभ नही है। जब तक वाणी से रामस्मरण और मन से राम के ध्यान का सयोग नही होता है तव तक नामस्मरण पाखण्ड ही है। दोनो के योग से नाम-स्मरण किया जाय तो साक्षात् ईश्वर की प्राप्ति होती है।

आपुले हृदयीचा चिद्घन। मूर्तिमाजी कीजे आवाहन।
पूजान्ती करुनि विसर्जन। हृदयी जाण ठेवावा॥

अपने हृदय में स्थित सच्चिदानन्दघन परमात्मा का पूजा के समय मूर्ति में आवाहन करे और पूजा के वाद विसर्जन कर उनको हृदय में स्थापित कर ले।

आता ही प्रत्यक्ष प्रमाण। दासाचेनि वचनें जाण।
पाषाणप्रतिमें देवो आपण। आनन्दघन प्रगटे पैं।

भक्तो की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान पापाण-प्रतिमा में प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं।

मन साडी विषम गोडी। लावी विट्ठलाची गोडी।
विट्ठल विट्ठल सावळा। पाहें उघडाची डोळा॥
विट्ठल विट्ठल निधान। एक मन करी उन्मन।
'एका' जनार्दनी शरण। मन झाले विट्ठल पूर्ण॥

हे मन, विपयो का त्याग कर भगवान विट्ठल से प्रेम करो। आँख खोल कर साँवले विट्ठल का दर्शन कर उनमें अपने आपको पूर्ण रूप से लगा दो। (एकनाथ की उक्ति है) जनार्दन की शरण में जाने पर मन विट्ठल को प्राप्त होगा।

संत दादू

दादू सतगुरु वंदिये, सो मेरे सिर-मौर ।
सुंदर वहिया जाय था, पकरि लगाया ठौर ।।

— महात्मा सुंदरदास

सन्त दादू का प्राकट्य विक्रम की सत्रहवी सदी के प्रथम चरण में हुआ था। वे सम्राट अकबर के समकालीन थे। उस समय धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में समन्वय का प्रयत्न हो रहा था। लोगो में उदारता के भाव पनप रहे थे, फतहपुर सीकरी इस उदारता का शक्ति-केन्द्र था। मनुष्य वैमनस्य, द्वेष और कलह भूल कर मित्रता, प्रेम और शान्ति के सगम पर अपने जीवन की सार्थकता चरितार्थ कर रहा था। सन्त कबीर द्वारा निर्दिष्ट अध्यात्म-ज्योति समाज को अखण्ड भगवत्ता की ओर ले जाने का बहुत बडा साधन थी, उनके बाद सन्त दादू ने उनके शुभ कार्य की पूर्ति की, सत्य का प्रकाश फैलाया। सन्त दादू ने तत्कालीन निर्गुण उपासना पद्धति अथवा ज्ञानाश्रयी चिन्तन-धारा का नेतृत्व किया। उनके प्रमुख शिष्य सन्त रज्जब की उक्ति है

'आये मेरे पार ब्रह्म के प्यारे।'

रज्जब ने महामुनि और महायोगी के रूप में सन्त दादू का स्मरण किया है। सन्त दादू ने अपने समय की अनेक सामाजिक समस्याओ का आध्यात्मिक समाधान प्रदान किया। उन्होने प्राणीमात्र को ससार की अनित्यता, ईश्वर की व्यापकता और आत्मबोध का रहस्य समझाया-यह उनकी मौलिकता है। उन्होंने कबीर के विचारो से प्रेरणा प्राप्त की पर उस प्रेरणा का उपयोग दादू ने अधिकाश में निर्माण की ओर किया, वे समन्वयवादी थे। दादू ने खण्डन से अधिक मण्डन को ही श्रेयस्कर समझा। वे निर्गुण सन्तो के तत्कालीन अधिराज थे। दादू के

जन्म-स्थान और पूर्वजो के सम्बन्ध में अनेक मत है। ऐसी मान्यता है कि वे जौनपुर में प्रकट हुए थे। वे धुनिया थे। गहरी छानबीन के बाद ऐसा पता चलता है कि उनका प्राकट्य नागर ब्राह्मण कुल में साबरमती नदी के तट पर अहमदाबाद में हुआ था। अहमदाबाद में लोदीराम नाम के एक निस्सन्तान नागर ब्राह्मण रहते थे। वे साबरमती नदी के किनारे-किनारे कही जा रहे थे। सम्वत् १६०१ वि के फाल्गुन शुक्ल अष्टमी गुरुवार का समय था। उन्होने जल की धारा पर एक सन्दूक बहता हुआ देखा, उत्सुकतापूर्वक सन्दूक को उठा लिया, उसमें उन्होने एक हँसमुख नवजात शिशु देखा। वे शिशु को घर लाये। बड़े प्रेम से लोदीराम और उनकी पत्नी ने शिशु का पालन-पोषण किया, उनकी पत्नी के स्तनो में भगवान की कृपा ने अपने आप दूध आ गया। उन्होने शिशु का नाम दादू रखा। दादू दयाल बढने लगे। उनका मन वैराग्य की ओर बहुत लगता था। वे साधु-सन्तो को देखते ही आनन्दमग्न हो जाते थे। उनके सस्कार परम दिव्य थे। वे एकान्तप्रिय थे।

एक बार वे कुछ बालको के साथ खेल रहे थे। उस समय उनकी अवस्था केवल ग्यारह साल की थी। देखने में आकर्षक थे। एक बूढे साधु ने दादू को देख कर उनके मुख में अपने मुख के पान की पीक डाल दी। उनसे भिक्षा माँगी। दादू कुछ भी न समझ सके। साधु चले गये। धीरे-धीरे अवस्था बढने के साथ-ही-साथ साधु के दर्शन के प्रभाव से दादू दयाल में ससार के प्रति अनासक्ति का भाव बढने लगा, उन्हे ससार की नश्वरता और अनित्यता का ज्ञान होने लगा। घर उन्हे काट खाता था। उन्होने घरत्याग का कई बार प्रयत्न किया पर घरवालो के हस्तक्षेप से उन्हे विवश होना पडता था और बाहर नही जा पाते थे। अठारह साल की अवस्था में उन्हे बूढे साधु का फिर दर्शन हुआ। दादू ने उनको पहचान लिया, उनके चरण पर नत हो गये, बडी श्रद्धा दिखायी। सन्त ने दादू को चेतावनी दी कि, मैं क्षणमात्र के लिये तुम्हारे दरवाजे पर हूँ और तुम इतनी श्रद्धा-भक्ति से मेरा स्वागत कर रहे हो पर तुम यह नही जानते हो कि तुम्हारे जीवन के छोर पर युग-युग से भगवान तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे है;

यदि तुम ईश्वरोन्मुख हो जाओ तो भवसागर से पार हो जाओगे। जन्म-जन्म के वन्धन कट जायेंगे। इतना कह कर वूढे सन्त मौन हो गये, उनके नेत्रो से अश्रु-प्रवाह उमड पडा। दादू ने उनसे निवेदन किया कि महाराज, मेरे लिये आप सर्वस्व है, मै ससार की तमिस्रा से घिर गया हूँ, आप मेरा हाथ पकड लीजिये। मेरा उद्धार कीजिये। सन्त ने उन्हे दीक्षा दी। दादू की स्वीकृति है

'गैब माहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्‌या, दाया अगम अगाध॥'

साधु ने उन्हे गले लगा लिया, दादू के हृदय में परमात्मज्ञान की ज्योति व्याप्त हो उठी, ज्ञान का प्रकाश फैल गया, सन्त ने उनको सन्त होने का पथ बतला दिया, वे दादू दयाल हो उठे। सन्त ने दादू को भवसागर से पार उतार दिया। ऐसा कहा जाता है कि दादू को इस प्रकार दीक्षा देने वाले सन्त कमाल थे, ऐसी भी मान्यता है कि उनके दीक्षा-गुरु कवीर के शिष्य सन्त वुड्ढन थे। दादू ने गुरु की कृपा से आत्मज्ञान का प्रकाश पाया, ईश्वर के रग में रग उठे।

घरवालो ने दादू दयाल के मन में वैराग्य का उदय होते देख कर उनका वडनगर के एक पवित्र ब्राह्मण कुल की कन्या से विवाह कर दिया। पर दादू का मन किसी प्रकार से भी गृहस्थी में न लग सका। उन्हे सन्तान की प्राप्ति हुई। गरीबदास उनके ज्येष्ठ पुत्र थे। सन्त दादू ने घर का त्याग कर दिया। उन्होने विहार गौड-वगाल, काशी तथा अन्य तीर्थस्थानो की यात्रा की, सन्त-समागम से लाभ उठाया। इस यात्रा के वाद राजस्थान के साभर स्थान में चले आये। साभर में उन्होने निवास स्थिर किया। उन्होने प्रच्छन्न रूप से जीविका चलाने के लिये रूई धुनने का काम अपनाया। अपनी अध्यात्मसाधना में सदा प्रगतिशील रहे। सन्त कवीर की वाणी से वे वहुत प्रभावित थे। उन्होने लोगो को सत्सग के द्वारा भगवत्तत्व समझाना आरम्भ किया। उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक वढने लगी। सन्त-महात्मा उनके सत्सग में आने लगे। वे साभर में जिस स्थान पर सत्सग का आयोजन करते थे उसका नाम उन्होने 'अलखदरीवा' अथवा 'चौगान' वताया है, 'अलखदरीवा' मे

सन्तों का सम्मिलन होता था और ब्रह्म पर विचार चलता था। वे छ साल तक साभर में रहे। उसके बाद सन्त दादू जयपुर की तत्कालीन राजधानी-आमेर में आकर रहने लगे। उनका जीवन निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन में सदा निमग्न रहता था। उनकी एक स्थल पर उक्ति है

'दादू रोजी राम है, राजिक रिजिक हमार।
दादू उस परसाद सूँ, पोष्या सब परिवार।'

उनका जीवन पूर्ण तपोमय था। वे चमत्कार और करामत दिखाने को पाप समझते थे। बादशाह अकबर के निमन्त्रण पर दादू फतहपुर सीकरी भी गये थे। बादशाह ने चालीस दिन तक उनका सत्सग किया था। सीकरी-गमन की ऐतिहासिकता रज्जब की उक्ति से प्रमाणित है।

'अकब्बर साहि बुलाइया गुरु दादू को आप।
साच झूठ ब्योरो हुओ, रह्यो नाम-परताप ॥'

सन्त दादू से अकबर ने पूछा था कि ब्रह्म की जाति क्या है, रूप क्या है तथा रग क्या है। सन्त दादू ने उत्तर दिया था

'इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रग ॥'

सन्त दादू ने अपने उपदेशो से बादशाह अकबर को बहुत प्रभावित किया। भक्त-हृदय रहीम खानखाना ने सन्त दादू के प्रति बडी श्रद्धा और भक्ति दिखायी थी। बादशाह के अनेक नवरत्न सन्त दादू के प्रति पूज्य भाव रखते थे। सीकरी से लौटने पर उन्होने राजस्थान के भिन्न-भिन्न प्रमुख स्थान द्योसा, मारवाड, बीकानेर आदि को अपने सत्सग से धन्य किया था।

दादू बडे क्षमाशील थे। एकबार वे आत्मचिंतन मे लीन थे। उन्हे देह की तनिक भी सुधि नही थी। कुछ दुष्टो ने उनकी चारो ओर ईंटें रख कर बन्द कर दिया। आँख खुलने पर उन्होने बाहर निकलने का मार्ग नही देखा। उन्होने आँख मूँद ली और ब्रह्मचिन्तन में फिर लग गये। सज्जनो को जब इस बात का पता चला तो वे

वहुत दुखी हुए। उन्होने ईंटे हटा कर सन्त दादू की प्राण रक्षा की। महात्मा दादू ने दुष्टो को क्षमादान दिया।

सन्त दादू के प्रधान शिष्य रज्जव, महात्मा गरीबदास, सुदरदास, जगजीवनदास और वषनाजी आदि थे। उनकी शिष्य-परम्परा में सन्त रज्जव और महात्मा सुदरदास के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। रज्जव और सुदरदास दोनो दादू के सिद्धान्तो के साहित्यकार थे, उन्होने कबीर द्वारा प्रतिपादित और दादू दयाल द्वारा सम्पादित निर्गुण सन्त-सिद्धान्त का विवेचन किया। दादू ने अहकार को मिटाकर हरि के भजन करने तथा समस्त जीवमात्र से प्रेम करने को ही अपने मत अथवा सिद्धान्त का सार घोषित किया। उन पर स्पष्ट रूप से कबीर के अद्वैतवादसम्वलित सन्तमत और सूफी प्रेम-साधना का प्रभाव था। सन्त दादू ने कबीर के सिद्धान्तो को ही अपना पथ-प्रदर्शक माना। उन्होनें सन्त-सुलभ सहज ज्ञान के माध्यम से कहा-

'आपा मेटै हरि भजै, तन-मन तजै विकार॥
निरबैरी सब जीवसों, 'दादू' यह मत सार॥'

सन्त दादू ने कबीर के एकेश्वरवाद को ही अपनाया। निर्गुण सन्त-परम्परा का प्राण उस समय एकेश्वरवाद ही था। जीव, जगत और माया—सब को उन्होने एक ईश्वर से परिव्याप्त देखा। वाह्य मन और वुद्धि के परे सहज ज्ञान की अनुभूति से ब्रह्म का दर्शन किया। कवीर की गुरुता पर विश्वास किया

'जे था कत कबीर का, सोई वर वरिहूँ
मनसा वाचा करमना, मैं और न करिहूँ॥'

सन्त दादू का सम्प्रदाय 'ब्रह्मसम्प्रदाय' कहलाता है। ऐसे तो इसकी प्रसिद्धि 'दादू पन्थ' के नाम से है पर सुन्दरदास ने इसका 'सम्प्रदाय परब्रह्म' के रूप में उल्लेख किया है। ब्रह्म को ही दादू ने आदि-गुरु, अकल, अविनाशी और अवरण स्वीकार किया। सद्गुरु ही ब्रह्म-रूप में शरीर धारण कर सशय का नाश करते है—ऐसी इस सम्प्रदाय में मान्यता है। ब्रह्मानन्द का मूल आधार निर्गुण सन्तो ने उपनिपदो के आत्मवाद में स्थिर किया, दादू ने इसका पूर्ण अनुगमन किया। मध्य-

कालीन निर्गुण धारा के एकेश्वरवादी सन्तो ने उपनिषदो के ब्रह्म और आत्मा के सिद्धान्तो को जनभाषा में व्यक्त किया, यह सन्त-साहित्य की प्रगति की दृष्टि से अमित महत्वपूर्ण कार्य कहा जा सकता है। सन्त दादू ने अपने पन्थ पर प्रकाश डालते हुए स्वीकार किया है

'भाई रे ऐसा पन्थ हमारा।
द्वै पप रहित पथ गहि पूरा, अवरण एक अधारा॥
वाद-विवाद काहू सौं नाही, याहि जगत थैं न्यारा।
समदृष्टी सुमाइ सहज मैं, आपहि आप विचारा॥
'मैं तै मेरी' यह मति नाही, निरवैरी निरकारा।

पूरण सबैं देखि आपा पर, निरालम्ब निरधारा॥
काहू के सग मोह न ममता, सगी सिरजन हारा।
मन ही मन सौं समझि सयाना, आनद एक अपारा॥
काम कल्पना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सभारा॥'

सीधी-सादी भाषा में सन्त दादू ने सहज तत्व का निरूपण किया। उनका सहज परम तत्व समस्त विश्व के लिये उपास्य है, सर्वथा निरपेक्ष और निष्पक्ष है। सन्त-विचार-धारा का वास्तविक स्वरूप विश्व-जनीनता ही है। उस पर केवल परमात्मा के प्रेम का ही रग चढ पाता है। निर्गुण, निराकार निर्विकार ब्रह्म का ज्ञानपूर्वक चिन्तन ही सत्सिद्धान्त है, सत्य ज्ञान है। सन्त दादू ने सद्ज्ञान प्रदान किया।

दादू ने निर्गुण ब्रह्म का ही चिन्तन किया। उन्होने ब्रह्म को परम प्रेममय और सहजमय वतलाया। ब्रह्म और जगत्-जीव की उन्होने अभिन्नता अथवा एकता सिद्ध की। इस प्रकार उनके निर्गुण चिन्तन का आधार सर्वात्मवाद का ही प्रतीक है। उनका परमतत्व 'सुन्न' और 'सहज' है। दादू की उक्ति है कि सहज सरोवर की प्रेमतरग के झूले पर आत्मा ब्रह्म के साथ विहार करता है। दादू ने शाश्वत ब्रह्मानन्द-रस की अनुभूति की, जन्म-मरण से रहित निरञ्जन तत्व से परे शून्य-रूपस्थ ब्रह्म के प्रेम का रसास्वादन किया। दादू ने ब्रह्मानन्द रस का अत्यन्त मादक विवरण दिया है

'रस ही में रस बरखिहैं, धारा कोटि अनन्त।
तहँ मन निहचल राखिये, दादू सदा वसन्त॥'

दादू ने परमात्मा के प्रेम पर कबीर की ही तरह सरस विचार किया है। वे आत्मवादी अथवा उच्च कोटि के रहस्यवादी सन्त थे। दादू के रहस्यवाद ने प्रेम के रगमच पर समस्थित होकर घोषणा की

'आदि अन्त मधि एकरस, टूटै नहिं धागा।
'दादू' एकै रहि गया, तव जाणी जागा॥'

उनकी साधना के मूलाधार ब्रह्मचिन्तन, आत्मानुसधान और रहस्यमय प्रेम-आचरण हैं। उनकी साधना अनुभूति मूलक है। ब्रह्म-चिन्तन के लिये उन्होंने आत्मप्रकाश का आश्रय लिया।

'मथि करि दीपक कीजिये, सब घट भया प्रकास।
'दादू' दीया हाथ करि, गया निरञ्जन पास॥'

निरञ्जन रूपी नौका पर चढ़े बिना आत्मज्ञान सूझता ही नही है, अनेक सूर्य और चन्द्र का प्रकाश निरञ्जन की ज्योति के बिना दो कौडी का है — ऐसी दादू की धारणा थी। उन्होने कहा

'जन्मै मरै सो जीव है, रमिता राम न होइ।
जन्म-मरण ते रहित है, मेरा साहिब सोइ॥'

उन्होंने साधना के सम्बन्ध में कहा कि जब तक शरीर स्वस्थ है रामनाम सभाल लेना चाहिये, प्रत्येक श्वास में राम का स्मरण करना चाहिये। उन्होंने कहा कि राम ही परम सुख है, उनके स्मरण से जो रस मिलता है उसका उल्लेख करना नितान्त असम्भव है। आत्मचिंतन से राम का स्मरण-रस हृदय में उतरता है। यह रस पूर्ण प्रेम में अभिव्यक्त होता है। दादू ने वडे धैर्य और शान्ति से साधना के मार्ग में आश्वासन दिया

'दादू' निवहै त्यू चलै, धीरैं धीरज माहिं।
परसैगा पिय एक दिन, दादू थाकै नाहिं।'

दादू लययोगी थे। उन्हें शव्दयोग का ज्ञान था। उन्होंने अपनी साधना का समस्त श्रेय ओकार के आश्रित कर दिया। उन्होंने कहा

कि शब्द ब्रह्म-ओंकार ही समस्त सुखो का मूल है। शब्द निर्गुण का अधिष्ठान है, निर्मल ज्ञान है। वे सहजयोगी थे। उन्होने सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का अनुभव किया। उन्होंने सच्चे प्रेमी की तरह 'प्रेम-पियाला' पीकर अपने प्रियतम के उपास्य का पद प्राप्त किया था। अपने प्रेमाचरण से सन्त दादू प्रेमास्पद वन गये भगवान के प्रेम-राज्य में—यह उनकी साधना की महती सिद्धि है सन्त दादू ने कहा

'भाई रे घर ही में घर पाया।
सहजि समाइ रह्या ता माही, सतगुरु खोज बताया॥
ता घर काज सवै फिरि आया, आपै आप लखाया।
खोलि कपाट महल के दीन्हे, थिर अस्थान दिखाया॥
भय और भेद भरम सव भागा, साच सोइ मन लाया।
प्यड परे जहाँ जिव जावे, तामै सहज समाया॥
निहचल सदा चलै नहि कवहूँ, देख्या सव में सोई।
ताही सू मेरा मन लागा, और न दूजा कोई॥
आदि अन्त सोई घर पाया, अव मन अनत न जाई।
'दादू' एक रगैरग लागा, तामै रह्या समाई॥'

दादू ने ब्रह्म-वोध पाया, आत्म-साक्षात्कार से सहज तत्व का दर्शन किया, निरञ्जन की परम ज्योति देखी।

सन्त दादू ने आमेर छोड कर जयपुर में रहना आरम्भ किया। वे जयपुर में नव साल तक रहे। और अन्त समय में वे नारायणा की एक पहाडी गुफा में रह कर कुछ शिष्यो के साथ एकान्त सेवन और सत्सग करने लगे। सम्वत् १६६० वि की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी को नारायणा की गुफा में ही वे ब्रह्म में लीन हो गये। नारायणा अथवा नराने की गुफा में, उनके वाल, तूवा, चोला और खडाऊँ अभी तक सुरक्षित है। सन्त दादू विक्रम की सत्रहवी सदी के भारत की महान् विभूति थे। वे तत्कालीन आध्यात्मिक क्रान्ति-क्षेत्र में सन्त कवीर के प्रतिनिधि थे। वे निष्पक्ष सन्त थे।

रचना

सन्त दादू की रचनाओं की संख्या लगभग बीस हजार कही जाती है। सन्त रज्जब ने 'अंग वधू' के नाम से उनकी वाणी का संग्रह किया।

वाणी

सुन्न सरोवर हंस मन मोती आप अनन्त।
'दादू' चुग-चुग चंच भरि, यों जन जीवैं सन्त॥
विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारैं पीव॥
जागत जगपति देखिये, पूरन परमानंद।
सोवत भी सोई मिले, 'दादू' अति आनन्द॥
प्रेमलहरि की पालकी, आतम बैसे आइ।
'दादू' खेलै पीव सौं, यह सुख कहा न जाइ॥
'दादू' पाया प्रेम-रस साधू-संगति माँहि।
फिरि-फिरि देखै लोक सब, यह रस कतहूँ नाँहि॥
समरथ सब विधि साइयाँ, ताकी मैं बलि जाउँ।
अन्तर एक जु सो वसै, औरां चित्त न लाउँ॥
'दादू' आप छिपाइये, जहाँ न देखै कोइ।
पिव कौं देखि दिखाइये, त्यों त्यों आनंद होइ॥
सब घटि माहें रमि रह्या, विरला बूझै कोइ।
सोई बूझै राम कौ, जो रामसनेही होइ॥
आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
'दादू' उस मासूक का, अल्लहि आसिक होइ॥

× × ×

मनों भजि राम नाम लीजे।
साध संगति सुमिरि सुमिरि, रसना रस पीजे॥
साधू जन सुमिरन करि, केते जपि जागे।
अगमनिगम अमर किये, काल कोई न लागे॥
नीच ऊँच चिंतन करि, सरणागति लीये।

भगति मुकति अपणी गति, ऐसैं जन कीये॥
केते तिरि तीर लागे, बंधन भव छूटे।
कलिमल विष जुग जुग के, राम नाम खूटे॥
भरम करम सब निवारि, जीवन जपि सोई।
'दादू' दुख दूर करण, दूजा नहिं कोई॥

× × ×

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुंदर प्रीतम मोर॥
चारि पहर चारौं जुग बीते, रैनि गँवाई भोर।
अवधि गई अजहूँ नहिं आए, कतहुँ रहे चितचोर॥
कबहूँ नैंन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
'दादू' ऐसे आतुर बिरहणि, जैसे चन्द चकोर॥

आया था हरि भजन कूँ।
करै नरक की ठौर ॥'

सन्त दादू के शब्द-बाण ने•सीधे कलेजे पर चोट की। सन्त के शब्द थे। निशाना चूकता ही किस तरह। बाराती स्तब्ध हो गये। रज्जब के हृदय में अध्यात्मज्योति का अवतरण हुआ। उन्होने मौर दादू के चरणो पर रख दिया। विवाह रुक गया। घरवालो ने बहुत समझाया पर उन्होने किसी की बात नही मानी। दादू ने परीक्षा ली, कहा कि तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर भगवान का भजन करो। दादू ने समझाया कि यदि तुम विवाह नही करोगे तो आशका है कि यौवनोन्माद तुम्हे परस्त्री पर दृष्टिपात करने के लिये विवश कर दे। रज्जब ने कहा कि इन नयनो में आप के चरण का सौन्दर्य समा गया है, इन्हे आप का दर्शन करते रहना है, मैंने आप को अपने प्राणेश्वर के रूप में पा लिया, ससार का रग मुझ पर अब आप की कृपा से कभी नही चढ सकता है। रज्जब ने कहा

'रज्जब घर-घरणी तजै,
पर घरणी न सुहाय।
अहि तजि अपनी कचुकी,
काकी पहिरै जाय ॥'

रज्जब दादू के चरणो पर गिर पडे। सत दादू ने दूल्हा-वेष मे उनका आलिंगन किया। दोनो के प्राण एक हो गये। रज्जब ने सदा दूल्हा-वेष ही धारण किया। वे कहा करते थे कि इस वेष में मुझे प्राणप्रियतम मिल गये। दादू ने उनको शिष्य के रूप में स्वीकार किया, दीक्षा दी, वे उन्ही के आश्रम में रहने लगे। सन्त के सम्पर्क में वे सन्त हो गये। सत रज्जब ने दादू ऐसे परम गुरु से आत्मज्ञान और सच्चिदानन्द परमात्मा का मर्म समझा। उनकी गुरुनिष्ठा उच्च कोटि की थी। गुरु और ईश्वर में वे तनिक भी भेद-भाव नहीं रखते थे। एक समय की बात है। सन्त दादू अपनी शिष्य-मण्डली के साथ परिभ्रमण कर रहे थे। रास्ते में एक नदी पडी। उसमें किनारे पर कीचड बहुत था। दादू ने शिष्यो से दो-चार छोटे-छोटे पाषाण-खण्ड

रखने की आज्ञा दी। शिष्य लोग पत्थर खोजही रहे थे कि सन्त रज्जब कीचड में लम्बे पड गये। उन्होने दादू से विनयपूर्वक कहा कि आप इस देह पर चरण रख कर जाइये। आप के चरण की धूलि-कणिका से यह शरीर भवसागर से पार हो जायेगा। इस देह का इस समय सर्वोत्तम सदुपयोग यही है कि वह आपकी सेवा में लग जाय। सन्त दादू इस घटना से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने रज्जव को गले लगाकर महती आत्मीयता प्रकट की।

सन्त रज्जव दादू को देखे विना एक पल भी शान्त नही रह सकते थे। सन्त दादू उनके गुरुदेव ही नही—प्राण भी थे। सन्त दादू के ब्रह्म में लीन होने पर रज्जव उनके विरह से वहुत दुखी हुये। उनके लिये ससार में जीवन धारण करना दूभर हो गया। गुरु के वियोग में उन्होने प्रण कर लिया कि भविष्य में किसी दूसरे का मुख नही देखूगा। उन्होने सदा के लिये आँखो में पट्टी वाँध ली। दादू के समाधिस्थ होने पर रज्जव सागानेर मे आकर तप करने लगे। दादू के प्रिय शिष्य वाल कवि 'छोटे' सुन्दरदास भी इस समय रज्जव के साथ सागानेर में रहते थे। सन्त रज्जव ने दादू के सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप से अपने आचरण में चरितार्थ किया। सन्त का चरित्र विचित्र होता है। सन्त के जीवन की विचित्रता का पार पाना असम्भव है। सन्त का प्रत्येक आचरण शिक्षाप्रद होता है। एक वार किसी गृहस्थ ने सन्त रज्जव को शिष्यो सहित भोजन पर आमन्त्रित किया। वे शिष्यो के साथ गृहस्थ के घर जा रहे थे कि रास्ते में उनको ब्राह्मण मिला। उसके कपडे फटे पुराने थे। रज्जव उसे अपने साथ गृहस्थ के घर ले गये। किसी भी साधु ने ब्राह्मण को पास में वैठा कर भोजन कराना स्वीकार नही किया। सन्त रज्जव ने उसे अपने पास वैठा लिया। शिष्यो ने व्यङ्ग किया कि आप ने ब्राह्मण को वगल में गद्दी क्यो दी। रज्जव ने सोचा कि शिष्यो को गद्दी का अभिमान है, उन्होने जान-वूझकर अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी उसी ब्राह्मण को वनाया। शिष्यो को यह वात अच्छी न लगी। उन्होने रज्जव से कहा कि आप ने इस दरिद्र को अच्छी गद्दी दी। सन्त रज्जव ने शाप दिया कि मेरी गद्दी पर सदा दरिद्र ही वैठेंगे। इस प्रकार उन्होंने शिष्यो को सद्ज्ञान का मर्म समझाया।

एक वार दादू के शिष्य सन्त वषना जी के घर रज्जव जी गये हुए थे। वषना जी की स्त्री ने रज्जब का सुदर रूप देखा, वपना जी से उसने कहा कि दादू के ये शिष्य वडी सम्पदावाले हैं। इस पर वषना ने उत्तर दिया

'रज्जव को या सम्पदा
गुरु दादू दीनी आप।
वषना को या आपदा,
था चरणो रा प्रताप॥'

वषना की स्त्री शरमा गयी। सन्त रज्जब वषना जी के उत्तर पर मुसकराने लगे। सन्त रज्जब के मुखमण्डल पर सदा आत्मा की ज्योति झलकती रहती थी। दादू की कृपा में वे पूर्ण विश्वास रखते थे। सन्त रज्जव के अनुयायी रज्जबावत कहलाते हैं। सन्त रज्जब ने अपनी सीख में सदा गुरु द्वारा निर्दिष्ट सत्य-पथ का प्रश्रय लिया।

सन्त रज्जब ने दादू से दीक्षित होने के बाद आजीवन ब्रह्मानन्द का चिंतन किया तथा अपनी तत्सम्बन्धी अनुभूति के अनुसार पद-रचना की। उन्होने 'अगवधू' के नाम से दादू के पदो का भी सग्रह किया। उनकी भाषा चलती-फिरती और प्रवाहमयी थी, सब लोगों की समझ में आसानी से आ सकती थी। सन्त रज्जव की उक्ति है·

'वेद सु वाणी कूप जल, दुख सू प्रापति होइ।
सबद साखि सरवर सलिल, सुख पावै सव कोइ॥
पराकिरत मधि ऊपजै, ससकिरत सव वेद।
अव समझावैं, कौन करि, पाया भाषा भेद॥',

रज्जव ने कहा कि जिसके हृदय में हरि का निवास नही है वह तो सूने घर के समान है। परमात्मा तो अपना रस देने के लिये, आनन्द-वितरण के लिये सदा उत्सुक रहते है। वे आनन्दरस देते थकते ही नही हैं और उनका दास-प्रेमी भी उसे लेते-लेते नही थकता है। परमात्मा तो रसरसिया हैं, वे युगो-युगों से हमारी रससम्वन्धी प्यास पूरी करते चले आ रहे हैं रज्जव की वाणी है

'साईं देता न थकै, लेता थकै न दास।
रज्जव रसरसिया अमित, जुग-जुग पूरे प्यास॥'

रज्जव ने सचराचर में अपने प्रियतम परमात्मा की व्याप्ति और अभिव्यक्ति का अनुभव किया। रज्जव ने गुर के प्रति अडिग प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए घोपणा की थी

'चन्द सूर पाणी पवन, धरती, अरु आकास।
ये साई के कहे में, त्यू 'रज्जव' गुरुदास॥'

जव उन्होने गुरु के परलोक-गमन पर आँख में पट्टी वाधी थी तव कहा था कि मेरे ऐसे असहाय से दयामय परमात्मा ने दादू ऐसे परम धन को छीन कर महान दुख दिया है। उन्होने गरीव की रोजी छीन ली। रज्जव का कथन है

'दीनदयाल दिनो दुख दीनन,
दादू-सी दौलत हाथ सौ लीनी।
रोप, अतीतन सौं जु कियो हरि,
रोजी जु रकनि की जग छीनी॥'

दादू की कृपा ने ही उन्हे महान सन्त वनाया। सन्त रज्जव ने परमात्मा के चिन्तन का मूलाधार भजन, स्वीकार किया, वे भजन में दृढ विश्वास रखते थे। उन्होंने कहा कि ब्रह्म 'अमिल' है, और सव मे मिला हुआ भी है, वह 'अकल' और सव में 'सकल' है, उसकी शक्ति से ही समस्त जगत् प्राणमय है। उसकी गति विचित्र है, वह किसी से भी किसी समय अलग नही है। रज्जव ने कहा कि ब्रह्म के चिन्तन स्मरण, भजन और मनन मे ही परम सुख सन्निहित है.

'भजन विन भूलि पर्‌यो ससार।
चाहे पछिम जात पूरव दिसि, हिरदै नही विचार।
वोंछै ऊरघ अरघ सु लागै, भूले मुगघ गवार।
खाइ हलाहल जीयो चाहे, परत न लागै वार।
वैठे सिला समुद्रतिरन कू, सो सव वूडन हार।
नाम विना नाही निसतारा, कवहूँ न पहुँचै पार।
सुख के काज घसे दीरघ दुख, वहे काल की घार।
जन 'रज्जव' यो जगत विगूच्यो, इस माया की लार॥'

रज्जव ने निर्गुण-सगुण से परे अवरण, अकल चिन्मय परमात्मा की महिमा का बखान किया। उन्होने कहा कि मेरे परमात्मा मायारहित हैं, घट-घट में रमने वाले हैं, परम पवित्र हैं, पूर्ण ब्रह्म हैं, निर्गुण और सगुण होकर भी दोनो से परे हैं, उनकी लीला विरले की ही समझ में आती है। उन्होने कहा कि राम-रस पीते रहना ही साधना का स्वरूप है, इस रस को पान करने वाले सदा सुखी रहते हैं। साधना की सिद्धि तब तक नही होती है जब तक जीव कहता है कि मैंने तत्व जान लिया। जानना तो तब होता है जब जाननेवाला ज्ञान की सीमा से परे हो जाय। उन्होने कहा कि राम का नाम ही भवसागर से पार उतारने में समर्थ है। उन्होने कथनी की अपेक्षा करनी पर अधिक जोर दिया। उनकी उक्ति है

'करणी कठिन सुवन्दगी, कहणी सब आसान।
जन 'रज्जब' रहणी बिना, कहा मिलै रहिमान॥'

निस्सदेह परमात्मा 'रहणी' से ही प्रसन्न होते है।

रज्जब ने मध्यकालीन सन्तों की तरह शब्द से ही सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार की। उन्होंने कहा कि समस्त ससार शब्द का ही 'पसारा' है, घट-घट में शब्द ही विद्यमान है, राम की रचना शब्दमयी है।

'सकल पसारा शब्द का, शब्द सकल घट माहिं।
रज्जब रचना राम की, शब्द सु न्यारी नाहिं॥'

सन्त रज्जब १२२ साल तक जीवित थे। उन्होने सम्वत् १७४६ वि के लगभग चोला छोडा। जीवन के अन्तिम दिन उन्होंने सागानेर में ही बिताये। सन्त रज्जब का समस्त जीवन-कथनी करनी और रहनी का पवित्र समन्वय था। सरस्वती, गगा और यमुना के सगम के समान परम पविञ्र था। वे अनुभवी सन्त थे, प्रेमी महात्मा थे। उन्होने अपने जीवन में सदा महती गुरुनिष्ठा और अथाह ईश्वर-प्रेम का रस उतारा। वे निर्गुणधारा के रसिक सन्त थे।

रचना

रज्जव की वाणी की सख्या, १००१३ हैं। उनकी रचना दो ग्रन्थ- 'वाणी'' और 'सर्वांगी' में विभाजित हैं। रचना में प्रेम और मस्ती का सुदर समावेश है।

वाणी

दादू दरिया राम जल, सकल सत जन मीन।
सुख सागर में सब सुखी, जन 'रज्जब' जे लीन॥
दरद नही दीदार का, तालिब नाही जीव।
'रज्जब' विरह वियोग विन, कहाँ मिलै सो पीव॥
'रज्जब' रीती आतमा, जे हिरदै हरि नाहिं।
तहाँ समागम को करै, सूने मदिर माहिं॥
अब कै जीते जीत है, अब कै हारे हार।
तो 'रज्जब' रामहिं भजो, अलप आयु दिन चार॥
राम रस पीजिये रे, पीये सब सुख होइ।
पीवत ही पातक कटै, सब सतनि दिसि जोइ॥
निस दिन सुमिरण कीजिये, तनमन प्राण समोइ।
जनम सुफल साईं मिलै, सोइ जपि साधहु होइ॥
सकल पतित पावन किये, जे लागे लै लोइ।
अति उज्ज्वल, अघ ऊतरै, किलविष राखै धोइ॥
यहि रस-रसिया सब सुखी, दुखी न सुनिये कोइ॥
जन 'रज्जब' रस पीजिये, सतनि पीया सोइ॥
राम रगीले के रग राती।
परम पुरुष सगि प्राण हमारो, मगन गलित मदमाती॥
लाग्यो नेह नाम निरमल सूँ, गिनत न सीली ताती।
डगमग नही, अडिग ह्वै बैठी, सिर धरि करवत काती॥
सब विधि सुखी राम ज्यू राखैं, यहु रसरीति सुहाती।
जन 'रज्जब' धन ध्यान तिहारो, बेर बेर बलि जाती॥
औधू अकल अनूप अकेला।
महापुरुष माहे अरु बाहर, माया मधि न मेला॥
सब गुन रहित रमे घट भीतरि, नाद विंद ते न्यारा।
परम पवित्र परम गति खेलै, पूरण ब्रह्म पियारा॥
अजन माहिं निरञ्जन निरमल, गुण अतीत गुण माही।
सदा समीप, सकल विधि समरथ, मिले सु मिलि नहिं जाही।
सरवगी समसरि सब ठाहर, काहू लिपित न होई।
जन 'रज्जब' जग पति की लीला, बूझे विरला कोई॥

महात्मा सुंदरदास

गुरु के चरन की रज लै कै, दोउ नैन के बीच अजन दीया।।
तिमिर मेटि उँजियार हुआ, निरकार पिया को देख लिया।।
कोटि सुरज तहँ छिपे घने, तीनि लोकधनी धन पाय पिया।
सतगुरुने जो करी किरपा, मरि के यारी जुग जुग जीया।।

—सन्त यारी साहब

महात्मा सुन्दरदास मध्यकाल के उत्तरार्ध की निर्गुण सन्त-विचार-धारा के शकराचार्य थे। उन्होने निर्गुण साधना के प्रत्येक अग पर बडी सावधानी और सूक्ष्म दृष्टि से शास्त्रसम्मत प्रकाश डाला तथा आत्मज्ञान से परिपुष्ट किया। वे विद्वान सन्त थे। उन्होंने अपने गुरु दादू से दीक्षित होने पर तथा वैराग्य लेने पर भी अधिक समय तक काशी की विद्वन्मण्डली मे निवास कर अध्यात्म विद्या का अध्ययन किया था। उस समय काशी में मधुसूदन सरस्वती ऐसे वेदान्ती और तुलसीदास ऐसे सन्त-शिरोमणि निवास करते थे। सुन्दरदास की रचनाओ में ज्ञान और भक्ति का सम्मिश्रण मिलता है।

महात्मा सुदरदास अकबर और जहागीर के समकालीन थे। उन्होने अपनी शिक्षा-दीक्षा से देश को आध्यात्मिक उदारता प्रदान की, आत्मा की अभेदता और एकरूपता पर जोर दिया। राघवदास ने अपने भक्तमाल ग्रन्थ में लिखा है

'भक्ति ज्ञान हठ साखि लौ सर्व शास्त्र पारहि गयो।
सङ्कराचारय दूसरो दादू के सुदर भयो।।'

सन्त सुदरदास की कथनी, करनी और रहनी उच्च कोटि की थी। वे ज्ञानपूर्वक निर्मल ब्रह्मानन्दरस में सदा मग्न रहते थे। उनकी काव्यकारिता सन्त-साहित्य के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रयोग-शैली की प्रतीक स्वीकार की जा सकती है। उन्होने अपने अनुभवो को विशेष मात्रा में ज्ञान के पलडे पर तौला पर ऐसा होने पर भी रचना मे

हृदय-पक्ष का वल घटने नही पाया है। उन्होने भक्ति और प्रेमसम्वन्धी उक्तियो से सन्त-साहित्य को समृद्ध किया।

सन्तो के चरित्र में विचित्रता और लोकोत्तर घटना का समावेश होता है। सन्त सुदरदास के सम्वन्ध में अनेक लोकोत्तर घटनाओ का विवरण मिलता है। उनके जन्म के सम्वन्ध में विचित्र कथा का उल्लेख है। सन्त सुन्दरदास के प्राकटय के कई साल पहले से ही जयपुर तथा अडोस पडोस के प्रान्तो और सम्पूर्ण उत्तर भारत में दादू का नाम प्रसिद्ध हो चुका था। वे नरायणा की पहाडी गुफा में रह कर तप कर रहे थे। उनके शिष्य नित्य निकटस्थ ग्रामो से भिक्षा माँग कर लाया करते थे। सन्त दादू के एक शिष्य जग्गा थे। एक दिन जग्गा आमेर में भिक्षा माँगने गये थे। वे एक वनिये की दूकान के सामने ठहर गये। दूकान पर एक अविवाहित कन्या चरखे पर सूत कात रही थी। जग्गा ने कहा, 'दे माई सूत, ले माई पूत।' कुमारी ने सूत दिया। जग्गा ने सूत हाथ में लेते हुए कहा, 'ले माई पूत।' जग्गा ने आश्रम पर लौट कर इस घटना का वर्णन दादू दयाल से किया। सन्त दादू ने विचार किया कि उस कुमारी के भाग्य में तो पुत्र ही नही है। उन्होने जग्गा से कहा कि तुमने अनर्थ कर डाला। अव तो उपाय यह है कि तुमको उस कुमारी के गर्भ से जन्म लेना होगा। जग्गा ने गुरु की आज्ञा मान ली पर निवेदन किया कि ऐसा वरदान दीजिये कि जन्म लेने पर आप के चरणो का ही आश्रय मिले। सन्त दादू ने कहा कि ऐसा ही होगा। जग्गा कुमारी सती के घर गये। निवेदन किया कि सती का विवाह कर दीजिये और ससुराल में कहला दीजिये कि इसका पुत्र छ साल की अवस्था में वैराग्य ले लेगा। सती के माता-पिता ने द्यौसा के धनी महाजन परमानन्द से विवाह कर दिया। जग्गा ने सुन्दर के रूप में सती के गर्भ से दादू के आशीर्वाद-स्वरूप जन्म लिया। इस प्रकार सुदरदास का जन्म द्यौसा में सम्वत् १६५३ वि की चैत शुक्ला नवमी को खण्डेलवाल वैश्य कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम चोखा—परमानन्द था और माता सती देवी थी। उनका पालन-पोपण वडे अच्छे ढग से हुआ। वे देखने में वड़े सुदर थे इसलिये माता-पिता ने उनका नाम सुदरदास रखा। वे

वचपन से ही दिव्य थे, उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। भगवान के नाम-श्रवण से प्रसन्न हो उठते थे। साधु-सन्तो को देख कर पुलकित हो जाते थे। लोग देखते ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाते थे।

सम्वत् १६५९ वि के लगभग दादू द्यौसा गये हुए थे। उस समय सुदरदास की अवस्था छ साल की थी। सुदर के पिता वडे साधुप्रेमी थे। उन्होने सन्त दादू की गोद में सुदरदास को रख दिया। दादू ने कहा 'अरे सुन्दर, तुम आ गये।' मानो सुदर के रूप में उन्होने जग्गा का ही स्मरण किया हो। उन्होंने सुदरदास को दीक्षा दी। सुदरदास की उक्ति है कि स्वामी दादू मेरे गुरु है और मै उनका शिष्य हूँ।

> 'सुदर सतगुरु आपु ते किया अनुग्रह आइ।
> मोह निसा में सोवते, हमकौं लिया जगाइ॥
> सुदर सतगुरु हैं सही, सुदर सिच्छा दीन्ह।
> सुदर वचन सुनाइ कै, सुदर सुन्दर कीन्ह।'

दादू के स्पर्श से सुदरदास की अग कान्ति वढ गयी, वे भीतर और वाहर—दोनो ओर सुदर हो उठे। दादू के साथ उनके समाधि-काल तक नरायणा की गुफा में रह कर सन्तो की सेवा करने लगे। लोग वालसन्त से वहुत प्रसन्न रहते थे। द्यौसा के निकट टहलडी मे दादू के शिष्य जगजीवनदास का आश्रम था। दादू ने सुदरदास को उनकी देखरेख में रख दिया। दादू के सम्वत् १६६० वि में ब्रह्मलीन होने पर सुदरदास जगजीवनदास के ही सरक्षण में रहने लगे। ग्यारह साल की अवस्था में सुदरदास जी जगजीवनदास की सम्मति से काशी में विद्या पढ़ने के लिये आये। काशी मे उन्होने अनेक अध्यात्म-शास्त्र और वेदान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया। वडे-वडे महात्माओं और सन्तो का सत्सग प्राप्त किया। वे अस्सीघाट पर रहते थे। अस्सी घाट पर महात्मा तुलसीदास जी भी रहते थे। यह निश्चित-सी वात है कि सुदरदास ने तुलसीदास के सत्सग से लाभ उठाया होगा। सम्वत् १६८३ वि के लगभग सुदरदास लौट आये। फतहपुर के शेखावटी ग्राम में प्रागदास नाम के एक प्रसिद्ध महात्मा रहते थे। सुदरदास उन्ही के पास रहने लगे। उनके आश्रम में सुदरदास ने पन्द्रह

साल तक निवास किया। प्रागदास का स्वर्गवास होने पर उन्होने तीर्थयात्रा की। उत्तरीय भारत, पजाव, सौराष्ट्र और राजस्थान में स्थान-स्थान पर जाकर उन्होने सन्त-महात्माओ का दर्शन किया। तीर्थों से लौट कर वे फिर फतहपुर में रह कर तप करने लगे। तप के फल-स्वरूप उनका योगसम्वन्धी अनुभव वढने लगा। फतहपुर में उनका मन अधिक दिनो तक नही लग सका। उन दिनो दादू के प्रवान शिष्य सन्त रज्जव जो अधिक वृद्ध हो चुके थे सागानेर में रहते थे। सुदरदास उन्ही के आश्रम में रहने लगे। रज्जव जी उनको वहुत मानते थे और सुदरदास रज्जव का वहुत सम्मान करते थे।

सम्वत् १७४६ वि में रज्जव जी का देहावसान हो गया। सागानेर में जाने पर लोगो ने सुन्दरदास से इस घटना को छिपाने का वहुत प्रयत्न किया। पर सुन्दरदास को कुछ समय के वाद सन्त रज्जव के चोला-त्याग का पता चल गया। वे रज्जव के परलोकगमन से वहुत दुखी हुए। सुन्दरदास के लिये उनका विरह असह्य हो गया। उनके हृदय को वडा धक्का लगा।

काशी से लौटने पर प्रागदास और रज्जव ऐसे सन्तो के सम्पर्क में रह कर सुदरदास ने अध्यात्मपरक ग्रन्थो की रचना की ओर ध्यान दिया। उनकी रचना में अनुभव और शास्त्र ज्ञान का निष्पक्ष समन्वय पाया जाता है। सन्त सुन्दरदास ने अपनी रचनाओ में दादू के सिद्धान्तोका स्पष्टीकरण किया और साथ-ही-साथ अपनी अनुभूति के रग में रगे आध्यात्मिक तथा वैराग्यपरक तत्वो का समीचीन विश्लेषण किया।

सुदरदास ने दादू के 'सम्प्रदाय परब्रह्म' का अनुगमन किया। दादू के सम्प्रदाय को 'ब्रह्म सम्प्रदाय' भी कहा जाता है। ब्रह्म-चिन्तन ही सुदरदास का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त था। उनकी उक्ति है

'भाई हो हरिदरसन की आस।
कव देखौं मेरा प्रान सनेही, नैन मरत दोऊ प्यास।
पल छिन आध घरी नहिं विसरौं, सुमिरौ सास उसास।
घर-वाहरि मोहिकल न परत है, निसदिन रहत उदास।
यहै सोच सोचत मोहि सजनी, सूके रकत र मास।
सुदर विरहिन कैसे जीवै, विरह विथा तन त्रास।'

सन्त सुदरदास अद्वैतवादी अथवा वेदान्ती सन्त थे। उन्होंने परम निर्मल ज्ञान की ही वात कही है। ब्रह्म में ही उन्होने उपासना का श्रेय स्थिर किया।

सन्त सुदरदास की गुरु-निष्ठा उच्च कोटि की थी। सन्त दादू की कृपा का उन्होने अपने जीवन में पद-पद पर अनुभव किया। सन्त दादू के सम्प्रदाय में आदि गुरु की स्वीकृति ब्रह्म के रूप में है। परमात्मा ही आदि गुरु है। सुन्दर-दास का मत था कि सद्गुरुब्रह्मस्वरूप है, वे शरीर धारण कर सशय का नाश करते है। उनकी कृपा से अविलम्ब हृदय मे ज्ञान का प्रकाश होता है। उन्होंने अनुभव किया कि गुरु की महिमा गोविन्द से अधिक है। गुरु के सम्पर्क में शिष्य दिव्य हो जाता है, उसके शरीर और आत्मा दोनो सुदर हो जाते है।

'सुदर सतगुरु सहज में कीयै पैली पार।
और उपाय न तिरसकै, भवसागर ससार।।'

सुदर ने कहा कि असख्य जीवो को भवसागर से पार उतारने के लिये सर्वसमर्थ गुरु का ससार में आगमन होता है, स्वय हरि उनको इस महान् कार्य-सम्पादन के लिये पृथ्वी पर भेजते है। गुरुद्वारा रामनाम का उपदेश प्राप्त करने पर मन में वैराग्य को भावना दृढ होती है। गुरु देव की कृपा से ही मार्ग का पता चलता है, मन में भक्ति दृढ होती है, सशय दूर हो जाते है, ज्ञान की प्राप्ति होती है, सारे कार्य सिद्ध होते है, लोक-वेद दोनो ऐसा ही गाते है, वे ही सद्गति प्रदान करते है और उनकी कृपा से गोविन्द की प्राप्ति होती है— ऐसा सन्त सुन्दरदास का मत था। सन्त सुदरदास ने जीव, ब्रह्म और गुरु— सवको सदा एक रूप देखा। दादू के प्रति अगाध भक्ति व्यक्त की है।

सुदरदास ने ब्रह्म के सहज रूप का ही आजीवन चिन्तन किया— यही उनकी साधना का क्रम है। वास्तविक रूप में वे सिद्ध-साधक सन्त थे, उनकी साधना सर्वथा सिद्ध थी। सत्सग में उनका अपार विश्वास था। सन्तो की चरण-कृपा से भवसागर को पार करना अत्यन्त सरल है - ऐसी उनकी उक्ति है

'सन्त समागम कीजिये तजिये और उपाइ।
सुदर वहुते उद्धरे, सतसगति में आइ।।'

उन्होंने अपनी साधना सरस ढग से निवाही। एक ओर उन पर वेदान्त का रग था तो दूसरी ओर सन्त रज्जव के सम्पर्क से वे भगवद्प्रेम-प्रिया प्रियतम भाव से, सूफी साधना-क्रम से सरावोर थे। उन्होंने वरवै छन्द में परमात्मा के प्रति प्रेम का अत्यन्त सुदर चित्रण किया है —उनका कथन है

"सब के हू मन भावन सरस वसन्त।
करत सदा कौतूहल कामिनि कन्त॥
झूलत बैसि हिंडोरनि पिय कर सग।
उत्तम चीर विराजल, भूपन अग॥
निस दिन प्रेम हिंडोलवा दिहल मचाइ।
सेई नारिसभागिनि, झूलइ जाइ॥
सुख निधान परमातम आतम अस।
मुदित सरोवर महिया क्रीडत हस॥
एक सेज वर कामिनि लागलि पाइ।
पियकर अगहि परसत गइल विलाइ॥
रस महिया रस होइहि नीरहि नीर।
आतम मिलि परमातम खीरहि खीर॥
सरिता मिलइ समुद्रहि भेद न कोइ।
जीव मिलइ परब्रह्मइ ब्रह्मइ होइ॥"

जीव और ब्रह्म और आत्मा और परमात्मा के मिलन की पूर्ण रसमयी सुखानुभूति ही सन्त सुदरदास की साधना की सिद्धि की प्रतीक है। सन्त सुदरदास ने ब्रह्मसाक्षात्कार के मूल में ज्ञान और प्रेम दोनो का अस्तित्व समान रूप से स्वीकार किया।

सन्त सुदरदास की अनुभूति सकेत करती है कि बिना माया का बन्धन छिन्न-भिन्न किये आत्मज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। माया का बन्धन आत्मज्ञान का सबसे बडा शत्रु है। उन्होने दृढतापूर्वक गर्वोक्ति की

'स्वपने मे मैला भयो, स्वप्नें माहि बिछोह।
'सुदर' जाग्यो स्वप्न ते, नही मोह निर्मोह॥'

सुदरदास ने निर्गुण ज्ञान-धारा के प्रकाश में वेदान्त वेद्य ब्रह्म—परमात्मा-आत्मा के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा कि आत्मा अजर है, विजातीय देह विनश्वर है, दीपक नही जलता है, तेल और 'वाती' ही जलते है। अह परमानन्दमय है, आत्मज्योति रूप है, ब्रह्म के योग से साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है, इसमें द्वैतभाव का लोप हो जाता है, द्विविधा मिट जाती है। सुन्दरदास की उक्ति है .

'सुदर' कहत ताते आतमा चैतन्यरूप
आपको भजन सो तो आपही करतु है।'

सत सुदरदास ने विवेक की भाषा में सर्वात्मवाद की सीख दी कि देह पचभूतो से निर्मित है एक प्राण सब में समान रूप से विद्यमान है, सबको भूख और प्यास लगती है, मन सदा सकल्प और विकल्प में घूमता रहता है– ऐसा करना उसका स्वभाव है, वह अज्ञानी है, आत्मविचार करने पर केवल आत्मा की ही सत्ता चराचर में दृष्टिगोचर होती है, आत्मा को छोडकर किसी और की सत्ता नही है। उन्होने चेतावनी दी, परमात्मा के चिन्तन की ओर जीव को उन्मुख किया

'सोवत सोवत सोइ गयो सठ, रोवत रोवत कै बेर रोयो।
गोवत गोवत गोइ धरयो धन, खोवत खोवत तै सब खोयो।।
जोवत जोवत बीत गये दिन, बोवत बोवत लै विप वोयो।
'सुदर'सुदरराम भज्यो नही, ढोवत ढोवत बोझहि ढोयो।।'

सन्त सुदरदास ने समस्त जगत को ब्रह्ममय देखा। उन्होने अनुभूति पूर्वक कहा कि एकमात्र विश्वास के साथ जगदीश्वर का ही भजन करना चाहिये,–यही सबसे बडा धर्म है, पवित्रतम कर्म है। जगदीश्वर ही एकमात्र प्रियतम है, उन्ही के साथ पातिव्रत निभाना सब प्रकार से श्रेयस्कर है। निरञ्जन ही ध्येय है– यही परम ज्ञान है। भक्ति है। उन्होने सन्तमत को साक्षी वना कर कहा

'सुदर और कछू नही, एक बिना भगवन्त।
तासौ पतिव्रत राखिये, टेरि कहे सब सन्त।।'

सन्तो के प्रति सुदरदास का परम उच्च भाव था। सन्त ही सत्य के आधार होते है, सत्य उनकी कृपा से प्राणमय होता रहता है, वे सत्य के कल्पतरु होते है। सन्त सुदरदास का सन्त-महिमा पर एक सुदर पद है उन्होने सन्त-गरिमा की साहित्यकारिता प्रदान की है

'वलिहारी हूँ उन सत की।
जिनको और झौर कछु नाही, कहै कथा भगवन्त की।।
सीतल हृदय सदा सुखदाई, दया करै सव जन्त की।
देखि-देखि कै मुदित होत है, लीला आप अनन्त की।।

जिनतें गोप कहूँ कछु नाही, जानत आदि'रु अन्त की।
'सुदरदास' कहै जन तेई, राखत वात सिद्धन्त की॥'

अन्तिम अवस्था में ही नही, आजीवन उन्होंने सन्तो के सम्पर्क में परमानन्दरस प्राप्त किया। उनका स्वभाव प्रेममय-मधुर और निर्मल था। सन्त रज्जव के आत्मलीन होने से वे इतने दुखी थे कि उनके लिये जीवन धारण करना कठिन हो गया। वे तिरानवे साल के हो चुके थे। स्वास्थ्य प्रतिदिन गिरता जा रहा था: उनके साथी प्राय. सव-के-सव ब्रह्मलीन हो चुके थे। सुदरदास का रोग असाध्य होता गया। उन्होंने रामनाम रूपी औपध का ही अन्तिम समय में सेवन किया। उन्होंने वडे विश्वास के साथ कहा.

'वैद्य हमारे राम जी औपध हू हरिनाम।
'सुदर' यहै उपाइ अव, सुमिरण आठो जाम॥
सात वरस सौ में घटै इतने दिन को देह।
'सुदर' आतम अमर है, देह खेह की खेह॥'

सागानेर में ही सम्वत् १७४६ वि. में कातिक शुक्ला अष्टमी को तीसरे पहर उन्होंने चोला छोड दिया। सागानेर नदी के उत्तर तट पर उनके शव का दाह सस्कार हुआ. सागानेर में उनकी समाधि है, सागानेर-शिला लेख में यह उत्कीर्ण है:

'सवत सत्रह सौ छियाला, कातिग सुदी अप्टमी उजियाला।
तीजै पहर वृहस्पति वार, सुदर मिलिया सुदर सार॥'

सन्त सुदरदास का आत्मज्ञान सत्रहवी सदी के निर्गुण सन्त साहित्य का मूलाधार है। सन्त सुन्दरदास ज्ञानी, भक्त और सन्त के आत्मरूप थे।

रचना

सन्त सुदरदास के ग्रन्थो की सख्या सैंतीस है। ज्ञानसमुद्र सर्वांग योग, पचेन्द्रिय चरित, सुख समाधि, स्वप्न प्रवोध, वेदविचार, सहजानन्द, सुदरविलास आदि प्रसिद्ध रचनायें है।

वाणी

प्रीति सहित जे हरि भजे, तव हरि होहिं प्रसन्न।
'सुदर' स्वाद न प्रीति विन, भूख विना ज्यो अन्न॥

जब मन देखै जगत को, जगत रूप ह्वै जाइ।
'सुदर' देखै ब्रह्म को, तब मन ब्रह्म अवाइ॥
उहै ब्रह्म गुरु सन्त उह, वस्तु विराजत येक।
वचन विलास विभाग श्रम, वन्दन भाव विवेक॥
सुद्ध हृदय जाकौ भयौ, उहै कृतारथ जान।
सोई जीवन मुक्त है, 'सुदर' कहत वखान॥
'सुदर' समरथ राम है, जो कछु करै सु होइ।
जो प्रभु को कछु कहत है, ता सम वुरा न कोइ॥
एक सही सब के उर अन्तर ता प्रभु कू कहु काहि न गावे।
सकट माहि सहाय करै पुनि सो अपनी पति क्यू विसरावे॥
चारि पदारथ और जहाँ लगि आठहु सिद्धिनवौ निधि पावे।
सुदर छार परौ तिनके मुख जो हरि कू तजि आन कू ध्यावे॥
तू कछु और विचारत है नर तेरो विचार धर्यो ही रहैगो।
कोटि उपाय करै धन के हित भाग लिख्यौ तितनोहि लहैगो।
भोर की साझ घरीपल माझ सुकाल अचानक आइ गहैगो॥
राम भज्यो न कियो कछुकीरत 'सुदर' यू पछिताइ रहैगो॥
जो कोइ जाड मिलै उनसू नर होत पवित्र लगै हरि रगा।
दोष कलक सबै मिटि जाइसुनीचहु जाइ जु होत उतगा॥
ज्यूजल और मलीन महा अति गगमिल्यो हुइ जातहि गगा।
'सुदर' सुद्ध करै ततकाल जु है जग माहि बडो सत सगा॥
नर राम-भजन करि लीजिये।
साध-सगति मिलि हरिगुन गइये, प्रेम मगन रस पीजिये॥
भ्रमत-भ्रमत जग में दुख पायौ, अब काहे को छीजिये।
मनिपा जनम जानि अतिदुरलभ, कारिज अपनो कीजिये॥
सहज समाधि सदा लयलागै, इहि विधि जुग-जुग जीजिये
'सुदरदास' मिलै अविनासी, दण्ड काल सिर दीजिये॥
सत सुखी, दुखमय ससारा।
सत भजन करि सदा सुखारे, जगत दुखी गृह के विवहारा।
सतन कै हरिनाम सकल निधि, नाम सजीवनि नाम अधारा॥
जगत अनेक उपाइ कष्ट करि उदर पूरना करै दुखारा॥
सतनि को चिंता कछु नाही, जगत सोच करि करि मुख कारा॥
'सुदरदास' सत हरि सनमुख, जगत विमुख पचि मरै गँवारा॥

संत मलूकदास

'जो काया कचनमयी, रतनो जड़िया चाम ।
'दरिया' कहै किस कामका, जो मुख नाहीं राम ॥'

—सन्त दरिया साहव मारवाड़ी

सन्त मलूकदास विक्रमीय सत्रहवी और अठारहवी सदी के महान सन्तों में से एक थे। वे सिद्ध सन्त थे। उनकी सवसे वडी मौलिकता यह है कि उन्होने निर्गुणधारा-चिन्तन में आत्माराम निरञ्जन साहव परमात्मा के प्रति ज्ञान के साथ सुदृड विश्वास का भी पक्ष लिया। उन्होने राम के चरण पर सम्पूर्ण निर्भरता अथवा शरणागति की निर्गुण ज्ञान धारा के माध्यम से सीख दी। वे शाहजहाँ और औरगजेव के समकालीन थे। वादशाह औरगजेव ने उनके चमत्कारो और सिद्धियों से प्रभावित होकर उनके प्रति वडे पूज्यभाव व्यक्त किये थे। सन्त मलूकदास का मौलिक आत्मचितन सन्त-साहित्य की समृद्धि में एक वहुत वडा योग– देन स्वीकार किया जा सकता है। कडा, जयपुर सौराष्ट्र, मुलतान, नैपाल, कावुल आदि में उनकी शिष्य-परम्परा उनके जीवन काल से ही प्रचलित और प्रतिष्ठित होती आ रही है। निस्सन्देह सन्त मलूकदास उच्चकोटि के सन्त थे।

उत्तर भारत में प्रयाग जनपद में कडा एक अत्यन्त इतिहासप्रसिद्ध स्थान है। कडा ग्राम मे विक्रमीय सत्रहवी सदी के द्वितीय चरण में एक प्रतिष्ठित खत्री-वश का वडा नाम था। इसी वश में सम्वत् १६३१ वि की वैशाख कृष्ण पचमी को सन्त मलूकदास का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम सुदरदास था। पितामह जठरमल और प्रपितामह वेणीराम थे। मलूकदास वचपन से ही वडे कोमल स्वभाव के थे। दया और परोपकार के भाव उनमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। उनके सस्कार वडे दिव्य थे। वे सदा गम्भीरतापूर्वक कुछ-न-कुछ सोचा करते थे। साधु सन्तो के प्रति उनके हृदय में स्वाभाविक आकर्षण

था। पाच साल की अवस्था में वे अपने समवयस्को के साथ गलियो में खेला करते थे। यदि रास्ते पर ककड दीख पडते थे तो उन्हे हटा देते थे जिससे दूसरो के पैरो में न गड जायें। लोग उनकी ऐसी चित्त-वृत्ति देख कर आश्चर्यचकित हो जाते थे। उनको आजानुवाहु देख कर एक सन्त ने कहा था कि यातो ये महाराजा होंगे या बहुत बडे साधु होगे।

साधु-सन्तो को देखते ही मलूक दास के मन में प्रसन्नता की लहर दौड उठती थी, उन्हे ऐसा लगता था कि अपने परम आत्मीय का दर्शन हो गया है। एक दिन घर पर एक सन्त-मण्डली आयी। सन्तो ने भोजन मागा। घरवालो ने कहा कि भोजन की व्यवस्था नही हो सकती है। इस उत्तर से मलूकदास बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होने सोचा कि भण्डार में भोजन की सामग्री तो है ही, यदि वह सन्त-सेवा में न लगेगी तो उसका उपयोग ही क्या है। उन्होने कहा कि हम लोग भले ही भूखे रहे पर सन्त दरवाजे से भूखे नही जा सकते है। मलूकदास ने भण्डार घर में सेंध लगायी, भोजन की सामग्री का सन्तो की सेवा में उपयोग किया। सन्तो ने उन्हे आशीर्वाद दिया और उनकी सेवा वृत्ति की सराहना की। माने देखा कि भण्डार में कुछ भी सामग्री नही है, मलूकदास को बहुत फटकारा, मलूक माता के साथ भण्डार घर में गये, सारी सामग्री भरी-पडी थी।

मलूकदास के पिता साधारण गृहस्थ थे। छोटा-मोटा व्यापार कर घरवालों का पालन-पोषण करते थे। वे कम्वल बेचा करते थे। पिता की आज्ञा से मलूकदास वाजार में कम्बल बेचने जाया करते थे। कभी-कभी वाजार से लौटते समय साधु-सन्तो के मिलने पर उन्हे सारे पैसे दे दिया करते थे। एक दिन वे बाजार कम्वल बेचने गये हुए थे। दैवयोग से वे एक भी कम्वल न बेच सके। वाजार उठने पर वे घर के लिये चल पडे। मन में तनिक भी निराशा नही थी, भगवान का विधान ही ऐसा था। सिर पर गठरी लिये वे चले जा रहे थे। गठरी भारी थी। ग्यारह साल की अवस्था वाले बालक के लिये उसको लेकर चलना नितान्त कठिन था। भगवान सर्वत्र परिव्याप्त हैं, वे दयामय मलूक की दशा पर द्रवीभूत हो गये। प्रल्हाद के लिये नृसिंह

वेष उन्होने ही धारण किया था, ध्रुव को उन्होने ही आश्वासन दिया था, वालक नामदेव के हाथ से दूध उन्होंने ही पिया था। शख चक्र गदा पद्म छोड कर पीताम्वर उतार कर भगवान अपने भक्त की रक्षा के लिये मजदूर वेष में प्रकट हो गये। उन्होने वडे स्नेह से कहा कि यदि तुम मुझे एक पैसा मजदूरी दे दो तो कम्वल की गठरी तुम्हारे घर पर पहुँचा सकता हूँ। मलूकदास ने स्वीकार कर लिया। मजदूर वेष धारी भगवान ने गठरी सिर पर रख ली। वे वेग से चल पडे। मलूक से पहले ही घर पर पहुँच गये। मलूक दास की माता को मजदूर पर सन्देह हुआ। मजदूर को कोठरी में वन्द कर एक रोटी का टुकडा खाने के लिये दे दिया, घर पहुँचन पर मलूकदास को फटकारा कि किसी अनजाने व्यक्ति के हाथ में इस तरह माल नही सौंप देना चाहिये। कोठरी खोली गयी पर मजदूर का कही पता न था। भगवान् की लीला विचित्र होती है, भक्त की गठरी घर पर आ गयी, केवल इसी लिये तो प्रभु ने मजदूर का वाना अपनाया था। मलूकदास ने अपनी माता के भाग्य की सराहना की कि भगवान ने दर्शन दिया। वे स्वय उसी कोठरी में तीन दिन विना खाये-पीये पडे रहे। भगवान ने उनको अपने दर्शन से धन्य किया। मलूकदास को ससार से वैराग्य हो गया, वे रात-दिन भगवच्चिन्तन में लगे रहते थे। दूर-दूर से लोग उनका सत्सग करने के लिये आने लगे।

सन्त मलूकदास के दीक्षागुरु द्रविड देश के महात्मा विट्ठलदास थे। ऐसा कहा जाता है कि महात्मा देवनाथ ने उन्हे दीक्षा दी थी। उनके आध्यात्मिक जीवन पर सन्त मुरार स्वामी का वडा प्रभाव था। उन्होंने अपनी रचना में वडी श्रद्धा और भक्ति से मुरार स्वामी का स्मरण किया है

'दीन दयाल सुने जव ते तव ते मन में कुछ ऐसी वसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ तुम्हरे हित की पट खैंचि कसी है।
तेरो ही आसरो एक मलूक नही प्रभु सो कोउ दूजो जसी है।
ए हो मुरार पुकार कहौ अव मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है॥'

सन्त मुरार के साथ मलूकदास महात्मा तुलसी दास से भी मिलने गये थे—ऐसा उल्लेख 'मूल गोसाई चरित' ग्रन्थ में किया गया है।

'देव मुरारी भेट मिलि सहित मलूकादास ।
पहुँचे कासी में रिपय, किये अखण्ड निवास ॥'

सन्त मलूकदास की गुरु में बडी निष्ठा थी। उनकी उक्ति है कि मैंने माया-मोह का निवारण कर गुरु के प्रताप से वाजी जीत ली। मै भवसागर से पार हो गया। माया के मोहनी वेष से मैने कहा कि मै गुरु की शरण में हूँ, तुम मेरा कुछ भी नही विगाड सकती।

'जीती वाजी गुरुप्रतापते, माया मोह निवार।
कह 'मलूक' गुरु कृपा ते, उतरा भवजल पार ॥'

एक वार अकाल पडने पर सारी खेती नष्ट हो गयी। प्रजा भूख से मरने लगी। मलूकदास पानी वरसाने के लिये मैदान में निकल पडे। उनकी कृपा से और उनके शिष्य लालदास के अनुष्ठान से पानी वरसने पर अकाल का उत्पात शान्त हो गया।

एक बार बादशाह औरगजेव ने उनको आदरपूर्वक आगरे वुलाया था। कडा से वे सत्सग मे ही अदृश्य होकर बादशाह के सामने जाकर महल में खडे हुए और उसी रात को सिद्धि के वल से कडा लौट आये। बादशाह उनके क्षण मात्र के सत्सग से बहुत प्रभावित हुआ था। उसने कडा के हिन्दुओ पर से जजिया कर उठा लिया और प्रजा को अनेक सुविधायें दी। आगरे से रात को लौटते समय सन्त मलूकदास ने वादशाह को आदेश दिया कि जिन दो व्यक्तियो को तुमने मुझे वुलाने के लिये भेजा था उन्हे सूबेदार वना दो तथा मुझे पत्र लिख कर दे दो कि अव भविप्य में कमी आगरे नही वुलाओगे। वादशाह ने उनके आदेश का पालन किया। इधर सत्सग के लिये भक्तो और सन्तो की भीड उनके घर पर एकत्र थी। मलूक ने प्रकट होकर लोगो से कहा कि अव अधिक समय हो चुका है, अपने-अपने निवास-स्थान पर जाओ। दूसरे दिन प्रात काल उन्होने औरगजेव के दोनो सेवको को वादशाह का पत्र दिखाया। उनमें से एक तो सूवेदारी करने के लिये लौट आया, दूसरे ने सन्त मलूक के चरण की शरण ली, सूबेदारी का मोह छोड दिया। कडा में वावा मलूकदास की समाधि के निकट उसकी समाधि है।

पत्नी और कन्या का स्वर्गवास होने पर गृहस्थ सन्त मलूकदास पूर्णरूप से वैराग्य के रग में रग गये। उनके दिन भगवद्‌भजन और सत्सग में बीतने लगे।

तीनो लोक के सिरताज परमात्मा राम ही सन्त मलूकदास के उपास्य थे। उनकी उक्ति है कि परमात्मा की रीझ निराली है, उनकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय यही है कि मन में भजन का भाव रखे, समस्त प्राणी मात्र पर दया करे तथा सुख-दुख में तटस्थ रहे

'दाया करै धरम मन राखै, घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सब का जाने, ताहि मिलै अविनासी।'

हरिगुणगान पर ही उन्होने विशेष जोर दिया। उनका दृढ मत था कि भगवान के भजन के लिये ही मनुष्य-शरीर मिलता है। जिस देश में 'राम-राम' नाम का उच्चारण नही होता है उस देश में पानी तक नही पीना चाहिये। उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि हे राम, आप मुझे अपनी शरण में लीजिये, मै सदा सन्तो की सेवा करूँ तथा आप मुझे पारिश्रमिक के रूप में अपनी भक्ति दीजिये। मलूकदास की उक्ति है

'कहत मलूकदास छोड दे परायी आस,
राम धनी पाइ के अब काकी सरन जाइये।'

सन्त मलूकदास ने कहा कि बड़े सौभाग्य और पुण्योदय से ही निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन का अवसर मिलता है जिस प्राणी पर भगवान की महती कृपा होती है वही निर्गुण रस के चिन्तन का अधिकारी हो पाता है, आत्मबोध, वैराग्य और प्रेम से ही निर्गुण का रहस्य समझ में आता है

'रस रे निरगुन राग से, गावै कोई जागरत जोगी।
अलग रहै ससार से, सो रस का भोगी।
भरम करम सब छोंड, अनूठा यह मत पूरा।
सहजै धुन लागी रहै, बाजै अनहद तूरा॥
लहरै उठती झाल की, बरसै रिमझिम मोती।
गगन गुफा में बैठ के, देखै जगमग जोती॥
सिवनगरी आसन किया, सुन ध्यान लगाया।

तीनो दसा विसार कें, चौथा पद पाया ॥
अनुभव उपजा, भय गया, हद तज वेहद लागा।
घट उजिआरा होइ रहा, जब आतम जागा ॥
सब रग खेलै सम रहै, दुविधा मनहिं न आने।
कहै मलूक सोइ रावला, मेरा मन मानै ॥'

निरन्तर आत्मज्योति का साक्षात्कार करते रहने को उन्होने साधना का स्वरूप निश्चित किया। उन्होने काम-विजय पर वहुत जोर दिया, कहा कि जिस स्थिति में राम की प्राप्ति होती है उसमें विरले ही पहुँचते हैं इसलिये रास्ते का सबसे वडा काम यह है कि कामनाओ का अन्त हो जाय। मन में किसी भी प्रकार की विषय-वासना ही न रह जाय।

मलूकदास ने अपनी अनुभूतिपूर्ण उक्तियो से सन्त-साहित्य को समृद्ध किया। उन्होने समाज को शुद्ध सन्तज्ञान प्रदान किया, आत्मप्रकाश दिया। शरीर छोडने के छ मास पहले ही उन्होने अपनी अन्तिम तिथि अपने भतीजे रामस्नेही को बता दी थी। उन्हें अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। अन्तिम तिथि को उन्होने लोगो से कह दिया था कि आज मेरा चोला छूट जायेगा, जव आप लोगो को अन्तर में शख और घटे का नाद सुन पडे तव समझ लीजियेगा कि प्राण ने शरीर छोड दिया, मेरे शव को गगा में प्रवाहित कर दीजियेगा। इस प्रकार एक सौ आठ साल की अवस्था मे सम्वत् १७३९ वि. में वैशाख कृष्ण चतुर्दशी को वे ब्रह्म में लीन हो गये। लोगो ने कडा में उनकी समाधि वनायी। ऐसा कहा जाता है कि उनका शव प्रयाग और काशी होते हुए जगन्नाथपुरी में समुद्रतट पर लगा, जगन्नाथ के आदेश से पण्डो ने शव मन्दिर में रखा, पट बन्द हो गये। मलूकदास ने जगन्नाथ जी से निवेदन किया कि मेरे विश्राम के लिये पनाले के पास स्थान मिले तथा भोजन के लिये आप के भोग के चावल दाल के कन से वने रोट की व्यवस्था रहे।

सन्त मलूकदास का स्थान जगन्नाथ जी के मन्दिर के पनाले के सामने अव तक है और उनके नाम का रोट भगवान के महाप्रसाद के साथ यात्रियो को दिया जाता है।

निस्सन्देह मध्यकाल के सन्तो में मलूक दास उच्च कोटि के महात्मा स्वीकार किये जाते हैं। उन्होने घट-घट में आतमाराम ब्रह्म का दर्शन किया। प्राणीमात्र को भगवद्भजन, आत्मचिंतन और परोपकार की सीख दी। यदि सूर तथा तुलसीदास सगुण चिन्तनधारा में उच्च कोटि के भगवद्विश्वासी सन्त थे तो दादू और मलूक निर्गुण धारा के क्षेत्र में परम आत्मनिष्ठ और परमात्मा के अनुरागी थे। सन्त मलूकदास ज्ञानी, प्रेमी और विरक्त महात्मा थे।

रचना

ज्ञान बोध, रतनखान, पुष्पविलास, दसरत्न ग्रन्थ, गुरुप्रताप आदि मलूकदास की प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

पेम नेम जिन ना कियो, जीतो नाही मैन।
अलख पुरुष जिन ना लख्यो, छार परो तेहि नैन॥
देही होय न आपनी, समुझि परी है मोहिं।
अब ही तें तजि राख तू, आखिर तजि है तोहि॥
अजगर करे न चाकरी, पछी करे न काम।
दास मलूका यो कहैं, सब के दाता राम॥
जीवहुँ ते प्यारे अधिक लागें मोही राम।
बिन हरिनाम नही मुझे, और किसी से काम॥
जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न सुनाव।
अतरजामी जानि है, अन्तरगत का भाव॥
दया धरम हिरदै बसै, बोलै अमरित बैन।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन॥
राम-राम के नाम को जहाँ नही लवलेस।
पानी तहाँ न पीजिये, परिहरिये सो देस॥
औरहि चिन्ता करन दे, तू मत मारे आह।
जाके मोदी राम से, ताहि कहा परवाह॥
राम राय असरन सरन, मोहिं आपन करि लेहु।
सतन सग सेवा करो, भगति मजूरी देहु॥

अब तेरी सरन आयो राम।
जबे सुनिया साधु के मुख, पतित पावन नाम ।।
यही जान पुकार कीनी, अति सतायो काम।
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम ।।
सोते सोते जनम गँवाया।
माया मोह में सानि पडो सो, राम नाम नहिं पाया ।।
मीठी नीद सोये सुख अपने, कबहूँ नहिं अलसाने।
गाफिल होके महल में सोये, फिर पाछे पछिताने ।।
अजहूँ उठो कहाँ तुम बैठे, बिनती सुनो हमारी।
चहूँ ओर मै आहट पाया, बहुत भई भुइँ भारी ।।
बन्दी छोर रहत घट भीतर, खबर न काहू पाई।
कहत मलूक राम के पहरा, जागो मेरे भाई।।

रसिक सन्त हरिराय

रसिक नाम सौ ग्रन्थ रचे भाषा के भारे।
नाम राखि हरिदास तथा संस्कृत के न्यारे॥
परम गुप्त रस प्रगट विरह अनुभव जिन कीनो।
सेवा महँ सब त्यागि सदा हरि को चित दीनो॥
हरि इच्छालखि विनु समयहू मदिर इन खुलवाइयो।
श्री श्री हरिराय स्वभक्तिबल नायहि फिर वुलवाइयो॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रभुचरण हरिराय उच्च कोटि के रसिक सन्त थे। वे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग के जयदेव स्वीकार किये जा सकते है। उन्होने श्रीकृष्ण की भक्ति-माधुरी से केवल पुष्टिसम्प्रदाय को ही नही, समस्त मध्यकालीन भारतीय साहित्य-क्षेत्र को प्रभावित किया। कृष्ण की भक्ति-मर्यादा से समाज का कल्याण किया। विक्रम की सत्रहवी शताव्दी में तथा अठारहवी शताव्दी में उन्होने श्रीकृष्ण के प्रेम का महामागलिक गान गाया। प्रेम और प्रमाण के मार्गों का समन्वय किया।

रसिक सन्त हरिराय के जीवन-काल में मुगल साम्राज्य अपने पूर्ण वैभव पर था। शाहजहाँ और औरगजेव के प्रयत्नो से उसका विस्तार दक्षिण भारत तक पहुँच चुका था। साथ-ही-साथ मेवाड के अधिपति महाराणा राजसिंह और दक्षिण में शिवाजी हिन्दू राजसत्ता के सरक्षण के लिये आकाश-पाताल एक कर रहे थे। औरगजेव की अनुदारता पूर्ण राजनीति से भारतीय सस्कृति के सरक्षक धर्म और साहित्य तथा राजनीति के क्षेत्र में पूर्ण जागरुक हो चुके थे। हरिराय जी ने अपनी श्रीकृष्णचरणविज्ञप्ति रचना में तत्कालीन दशा का विवरण देते हुए कहा है :

'यवनारण्यसञ्जातवह्निभीता विशेषत ।
कृपादृग्वर्षणेनैव निजा कार्या अमीयत ॥'

हरिराय जी अपने समय की महत्तम विभूतियों में से एक थे, परम रसिक और अद्भुत भगवद्विरही थे। वे सदा राधाकृष्ण के केलि-स्वरूप-चिंतन में उन्मत्त रहते थे। उन्होंने अमित श्रद्धापूर्वक अपने पूर्वज श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठल नाथ द्वारा समर्थित कृष्ण-भक्ति के सिद्धान्त का अनुगमन किया। हरिराय जी ने कहा कि श्रीकृष्ण परम प्रेममय और रसमय है। उनकी प्राप्ति भावनागत है। स्वरूपभावना, लीलाभावना और भाव-भावना द्वारा ही उनका तत्व समझ में उन्ही की कृपा से आता है। स्वरूप भावना अनुभव और श्रवण से सिद्ध होती है। श्रीकृष्ण की लीला भावना से भक्त उनके लीला-चिन्तन से लीलास्वरूप हो जाता है, उसके वाद उसकी समस्त क्रियाये भाव-भावनागत हो जाती है। श्रीहरिराय जी ने आचार्य और गोसाईं जीके चरणाश्रय, भगवान की मानसी सेवा तथा ब्रह्मसम्वन्ध और श्रीमद्-भागवत पर विशेष जोर दिया, यही उनके चरित्र की मौलिकता है। वे महान भगवदीय और परम वल्लभीय थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की रसरूपात्मक भक्ति सिद्ध की।

श्रीहरिराय का जन्म सम्वत् १६४७ वि में भाद्रपद कृष्ण पचमी को हुआ था। वे परम भागवत गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोविन्द राय जी के पौत्र और कल्याण राय जी के पुत्र थे। कल्याण राय जी उच्च कोटि के भगवद्भक्त थे, उनकी भक्ति और पवित्र चित्तवृत्तियो का हरिराय जी महाराज के सवर्धन और पालन-पोषण पर विशेष प्रभाव पड़ा था। वल्लभ कुल के ईश्वरीय ऐश्वर्य और पिता कल्याण राय के पवित्र सस्कार—दोनो ने हरिराय जी को सदा भागवत वातावरण में ही सरक्षित किया। वचपन से ही हरिराय जी के नयन भगवान के विरह-सागर में मग्न रहते थे, वे श्रीकृष्ण का ही रात-दिन प्रेमपूर्वक चिंतन किया करते थे।

श्री हरिराय जी महाराज का प्रारम्भिक जीवन गोकुल में ही वीता। वे सम्वत् १७२६ वि तक गोकुल में ही रह कर भगवान का भजन और भक्तिपरक ग्रन्थों का प्रणयन करते रहे। उनका अधि-

काश समय श्रीवल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठलनाथ जी द्वारा प्रणीत ग्रन्थो के अवलोकन में ही बीतता था, इसका परिणाम यह हुआ कि भगवत्सेवावृत्ति बढने के साथ-ही-साथ उनकी अनुभूति भी विशेष रूप से समृद्ध होने लगी। गोकुलनाथ जी महाराज के वे बडे कृपापात्र थे। गोकुलनाथ जी विट्ठलेश्वर के चौथे पुत्र थे। उच्च कोटि के विद्वान और महात्मा थे। पुष्टि भक्तिरस के परम मर्मज्ञ थे। उनके सन्निधान में ही उनका ब्रह्मसम्बन्ध सम्पन्न हुआ था। श्रीनाथ जी उनके परम उपास्य थे। श्री हरिराय जी को उनको परिचर्या और सेवा में ही परम सुख मिलता था। भगवान श्रीनाथजी के प्रेम में वे सदा आत्मविभोर रहते थे। गोवर्धन से श्रीनाथ जी का मेवाड-गमन हरिराय जी के जीवन की एक महत्वपूर्ग घटना है। तत्कालीन यवनशासन से श्रीनाथ जी की सेवा और पूजा में विघ्न उपस्थित होने की आशका से चिंतित होकर गोविन्दराय जी ने मेवाड़ के एकच्छत्र अधिपति महाराणा राजसिंह की प्रसन्नता से अपने आराध्यदेव को मेवाड में पधराया। श्री हरिराय जी श्रीनाथ जी के वियोग को पलभर के लिये नही सह सकते थे। इसलिये १७२८ वि में श्रीनाथ जी के श्रीनाथद्वारा पधारने पर उन्होने भी गोकुल-निवास का परित्याग कर दिया। वे मेवाड आकर श्रीनाथ जी की पूजा में सुबोधिनी में वर्णित रहस्यरूप गोपीभाव से सदा भावित होकर समय सार्थक करने लगे। सबसे बडी बात तो यह थी कि यदि श्रीनाथ जी की सेवा में मुखिया से किसी प्रकार की भूल हो जाती थी तो वे हरिराय जी को स्वप्न में आदेश देते थे कि ऐसी भूल हो गयी है और हरिराय जी किसी भी समय मन्दिर का पट खुलवा कर सेवा-विधि सम्पन्न किया करते थे।

एक समय की बात है। भगवान बडे लीलामय है। वे भक्तो को अपने लीला-रस का आस्वादन कराने के लिये सदा समुत्सुक रहते है। उनके लिये कुछ भी असम्भव नही है। श्रीनाथ जी की राजभोग-आरती सम्पन्न होने पर पट बन्द कर दिया गया पर 'पेंडे की गादी' नहीं बिछायी गयी। राजभोग के बाद उनके पधारने के लिये गद्दी बिछायी जाती है। उस समय हरिराय जी खीमनेर की बैठक में विराजमान थे। लीलामय श्रीकृष्ण की सेवा में चूक हो गयी, भूल हो गयी।

प्रभु राजभोग के बाद खडे-के-खडे ही रह गये। गद्दी विछायी नही गयी थी इसलिये कोमल चरण आगे नही बढ सके, उनके चरणो की मृदुता का बखान वाणी के वश की बात नही है। हरिराय जी को श्रीनाथ जी ने स्वप्न में आदेश दिया कि राजभोग के बाद खडा हूँ, गद्दी नही विछायी गयी है। किस प्रकार चलूँ। जो चरण गज के लिये नगे दौड पडे थे, जिन चरणो के प्रताप से शिलामयी अहिल्या स्वरूपगत हो गयी, जिन्होने चित्रकूट के ककडीले-पथरीले सघन वनो में पर्यटन किया वे लीला करने के लिये, भगवद्सेवा का रसपान करने के लिये गद्दी के अभाव में आगे नही बढ सके। भगवान की प्रेरणा से हरिराय जी अविलम्व श्रीनाथद्वारा पहुँच गये। स्नान आदि से निवृत्त होकर पट खुलवाये, गद्दी बिछायी। प्रभु सिंहासन पर पधार गये। वल्लभ जी ने हरिराय जी से पूछा कि श्रीनाथ जी जव व्रज में पधारते है तब गद्दी की व्यवस्था तो नही रहती है। इतना सुनते ही हरिरायजी के रोम-रोम सिहर उठे। उनके नयनो में प्रेमाश्रु छलक उठा। उन्होने कहा कि व्रज की भूमि तो दिव्य है, नवनीत से भी कोमल है। व्रज में तो भगवान के चरण नही—चरण के भाव का विलास रहता है, सात्विक भाव जागता है।

श्रीनाथजी की रगीली रसमयी रीझ जिस प्राणी पर हो जाये उसका सौभाग्य-वर्णन नितान्त असम्भव है। हरिराय जी तो प्रभु के विशेष कृपापात्र ही थे। एक दिन सूरत के पुरुषोत्तम जी महाराज दक्षिण यात्रा पूरी कर श्रीनाथद्वारा पधारे हुए थे। वे अपने साथ वहुत सुन्दर मोजा लाये हुए थे। उन्होने दाऊ जी से प्रार्थना की कि श्रीनाथ जी को शृगार में केवल चार घडी के लिये मोजा पहना दिया जाय। दाऊ जी ने उनकी बात मान ली। गरमी का समय था पर पुरु-षोत्तम जी की वडी इच्छा थी कि मोजा श्रीनाथ जी के पैरो में से उतारा न जाय, उन्होने मुखिया को मना लिया। मन्दिर का पट वन्द कर दिया गया। कोटि-कोटि सूर्यों पर शासन करने वाले भगवान पसीने से तर हो गये। वसन्त, ग्रीष्म, हेमन्त आदि की अधिष्ठात्री प्रकृति के स्वामी गरमी से विकल हो गये। उन्होने लीलारस के आस्वादन के लिये हरिराय जी को प्रेरणा दी कि मै गरमी और पसीने से विकल

हो रहा हूँ। हरिराय जी अविलम्ब खीमनोर से चल पडे। मुखिया से चाभी लेकर पट खोला और मोजे उतार दिये। भगवत्सेवा का ऐसा सौभाग्य लीलामय भगवान की कृपा से ही प्राप्त होता है।

श्री हरिराय जी खीमनोर मे प्रवचन और श्रीमद्भागवत की कथा किया करते थे। उनकी कथा में एक राजकुमारी सम्मिलित हुआ करती थी। वह रूप और यौवन से समृद्ध थी। उसने एक दिन हरिराय जी महाराज से एकान्त में सत्सग करने का निवेदन किया। हरिराय जी देखने में वडे सुदर थे। राजकुमारी उन पर आसक्त थी पर आश्चर्य की वात यह हुई कि एकान्त में सत्सग के लिये आने पर हरिराय जी उसे हरिराय के रूप में न दीख पडे। भगवान की कृपा से हरिराय जी उसे एक स्त्री के रूप में दीख पडे, राजकुमारी ने देखा कि एक सुकुमार शिशु गोद में वैठ कर स्तन्य-पान कर रहा है। इस प्रकार यशोदारूप में उनका दर्शन कर वह धन्य हो गयी, उसकी कामासक्ति मिट गयी, हृदय में वात्सल्य का भाव जाग उठा। वह उनके चरणो पर गिर पडी। नारीमात्र को माता के रूप में देखने वाले हरिराय जी ने राजकुमारी से कहा कि आप तो मेरी माता के समान हैं। आप अपने आप को मेरे उपास्य देव श्रीकृष्ण की माता यशोदा के भाव से भावित देखिये। हरिराय जी ने गोसाईं विट्ठल नाथ की मान्यता का स्मरण किया .

'जानीत परम तत्व यशोदोत्सगलालितम्।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरास्तान् हो वुधा ॥'

हरिराय जी सदा भगवत्कृपा का अनुभव किया करते थे। श्री भगवान की कृपा से ही वे 'रसिकराज' की उपाधि से विभूपित हुए। उनकी भागवत कथा में श्रीनाथद्वारा से भक्तगण नित्य खीमनोर आया करते थे। रात में लौटते समय रास्ते के एक चवूतरे पर वैठ कर वे भगवन्नाम का कीर्तन किया करते थे, कथा में सुनी हुई लीला का गान कर नृत्य किया करते थे। लोगो ने हरिराय जी से निवेदन किया कि इस नाच-कूद से हमारी नीद में वाधा उपस्थित होती है। कथा-समाप्ति के वाद हरिराय जी एक दिन स्वय गये। उन्होने भक्तो को नाचते-गाते देखा, और आश्चर्य की वात तो यह थी कि साक्षात्

श्रीनाथजी प्रकट होकर भक्तो के सुख की समृद्धि में योग दे रहे थे। हरिराय जी को भक्तमण्डली के मध्य में साक्षात् श्रीनाथजी का दर्शन हो गया। वे अपने आप को सम्हाल न सके। कहाँ तो वे भक्तो को समझाने गये थे और कहाँ स्वय उनकी मण्डली में सम्मिलित होकर भगवल्लीला का गान करने लगे। जो लोग साथ गये थे वे इस दृश्य को देख कर चकित हो गये हरिराय जी ने गाया

'हों वारी इन वल्लभियन पर।
मेरे तन को करो बिछौना सीस धरो इनके चरणन पर।।
भावभरी देखो इन अखियन मण्डल मध्य विराजत गिरिधर।
वे तो मेरे प्राण-जीवन-धन दान दिये रे श्रीवल्लभ वर।।
पुष्टि मारग प्रगट करिबे को प्रकटे श्रीविट्ठल द्विजवपुवर।
'दास रसिक' वलैया ले ले वल्लभियन की चरनरज अनुसर।।'

वे वल्लभीय भक्तो की दशा पर मुग्ध हो गये। उन्होने कहा कि ये लोग धन्य हैं, इनसे प्रभु को असाधारण सुख मिलता है। मै तो इनकी चरण धूलि का अनुसरण करने में ही अपना परम सौभाग्य मानता हूँ। उन्होंने उन भक्तो को प्रेमपूर्वक गले लगाया और खीमनोर लौट आये। इस प्रकार हरिराय जी का सम्पूर्ण जीवन श्रीनाथ जी के चरणो में समर्पित था। वे दैन्य भाव के तो सम्राट थे, रसिकराज थे। वार्ताग्रन्थ में हरिराय जी महाप्रभु के सात बैठको का विवरण मिलता है। उन्होंने गुजरात और राजस्थान में यात्रा कर भागवतधर्म का प्रचार किया था। अपनी विभिन्न बैठको में श्रीमद्भागवत के सप्ताह-यज्ञ द्वारा असख्य जीवो को भगवद्भक्ति-नौका पर समासीन कर भवसागर के पार उतारा था। उनकी पहली बैठक गोकुल में विट्ठलनाथ जी के मन्दिर में थी। हरिजीवनदास वैष्णव से इस बैठक में बैठ कर वे भगवद्-वार्ता मे रस लिया करते थे। उनकी दूसरी बैठक श्रीनाथ द्वारा में विट्ठलनाथ जी के मन्दिरमें थी। इस में वे नित्य श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे। एक वार हरिजीवनदास ने कथा के बीच में 'वेणुगीत' का प्रसङ्ग छेड दिया। हरिराय जी ने उस पर बहुत देर तक प्रवचन किया वे तीन दिन, तीन रात तक रसावेश में विभोर रहे। तीसरी बैठक-खीमनोर में सदा घोडे, सुखपाल, हाथी और घोडवेल उनकी सवारी

के लिये प्रस्तुत रहते थे। न जाने कब श्रीनाथजी की प्रेरणा से उन्हे श्रीनाथ द्वारा जाना पडे-- इस विचार से उनके लिये सवारी का प्रत्येक समय प्रवन्ध रहता था। चौथी वैठक-- जैसलमेर में उनके पिता कल्याण-राय जी के सेव्य गिरिधारी जी विराजमान थे। हरिराय जी महाराज ने अपने यात्रा-काल मे जैसलमेर मे भागवत का प्रवचन किया तथा उस नगर के राजा ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। उनकी पाँचवी वैठक गोमती नदी के तट पर डाकोर में थी। डाकोर पहुँचने पर हरिराय जी महाप्रभु ने भगवती गोमती में स्नान किया, भोजन के वाद मीठी-मीठी नींद आ गयी। डाकोर में एक छप्पर में श्रीरणछोड-राय भगवान का विग्रह था। रणछोडराय ने स्वप्न में हरिराय जी को आदेश दिया कि मैं एक छप्पर में पडा हुआ हूँ, एक ब्राह्मण नित्य एक लोटा जल समर्पित कर जाता है, मन्दिर वनवा कर मेरी प्रतिष्ठा कीजिये । भगवान के लिये तो लोक-लोकान्तर ही मन्दिर है पर भक्त के सुख-सवर्धन के लिये प्रभु ऐसी लीला में रस लिया करते हैं। हरिराय जी ने डाकोर में रणछोडराय का मन्दिर वनवा कर भगवद् आदेश का पालन किया तथा कुछ दिनो तक निवास कर श्रीभागवत के कथामृत का वितरण किया। इसी प्रकार छठी और सातवी वैठक--सावली और जम्वुसर में कुछ दिन रह कर श्रीमद्-भागवत की कथा की और उसके वाद श्रीनाथ द्वारा लौट आये।

श्रीमदाचार्य वल्लभ और श्रीगोसाईं विट्ठलनाथ में उनकी वडी श्रद्धा और निष्ठा थी। वल्लभाचार्य जी के अलौकिक स्वरूप में उनकी वडी प्रीति थी। उनकी उक्ति है कि मेरा मन सदा श्रीवल्लभ के प्रेम में आसक्त रहे । उनके चरण-चिंतन में ही हमारी मति हो, रति हो। उनमें हमारी स्थिति हो। उन्होंने वडी श्रद्धा से निवेदन किया है·

'श्री वल्लभ सदा वसो मन मेरे।
धरम-करम कछु नाही समझत जैसे-तैसे तेरे॥
दानव्रतादिक ते कछु नाही होत पुष्टि की भक्ति।
तिहारी कृपा-कटाक्ष-वृष्टि ते होत रे हरि आसक्ति॥
तुम विन तत्व कछु नही जग में यह निश्चय मन कीनो।
श्रीहरिवदन अनल आनन्दनिधि वखाने कीनो॥

भटक-भटक हू हार्यो हा-हा करु पकरो मेरी वाहँ।
बुरो-भलो हरिदास तिहारो, राखो चरनन छाहँ॥'

उन्होंने कहा कि श्रीवल्लभ ही मेरे सव कुछ हं, वे अन्तरयामी हैं, मेरे मन की बात जानते हं, वे दीनदयाल है और मै कामी हूँ, मै तो उनके ही चरणो में प्रणाम करता हूँ। श्री वल्लभ के ही चरणो का भजन करना चाहिये। वे सारे पतितो को भवसागर से पार उतारने की नौका हं। उनकी चरण-कृपा से भगवान की भक्ति प्राप्त होती है। अष्टपदी में हरिराय जी ने श्रीवल्लभ के चरणो की महिमा गाते हुए कहा है

'वर्णये वल्लभाधीशचरणम्।
सकलसाधनविमुखमुख्यफलफलनम्,
ससारसरिदीशगोचरणकरणम्।'

हरिराय जी महाप्रभु का कथन है कि जिसने भगवान गोपाल का गुणगान नही किया, उनकी रसाल लीला में अपनी चित्तवृत्ति नही लगायी, सुबोधिनी नही सुनी, साधु सग नही किया, भगवद्रस का एक घडी-आधी घडी के लिये आस्वादन नही किया, रसना से कृष्ण नाम का जाप नही किया, श्री वल्लभ और गोसाई विट्ठलनाथजी की शरण में जाकर दैन्य भाव से क्षण मात्र के लिये भी मस्तक नही नत किया, उसे लज्जा का अनुभव करना चाहिये, उसने मनुष्य-जन्म पाकर कुछ भी परमार्थ नही कमाया। श्रीहरिराय जी महाप्रभु व्रजभाषा, गुजराती और सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने सस्कृत और व्रजभाषा में वहुत से पद लिखे, वार्ताग्रन्थ उन्ही के परिश्रम का फल है। पुष्टि-सिद्धान्तो का प्रचार ही उनका महान कार्य स्वीकार किया जा सकता है। वे अपने आप को भगवान् का एकमात्र दास मानते थे। उनकी दृढ़ धारणा थी

'भावो भावनया सिद्ध साधन नान्यदिष्यते।'

उन्होने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के चिन्तन-माध्यम से शृगाररसात्मक ब्रह्म के विरह भाव की श्रेष्ठता स्वीकार की। हरिराय जी महाप्रभु का सवसे वडा कार्य यह था कि श्रीवल्लभचार्य के समय से गोस्वामी गोकुल-नाथ जी महाराज के जीवनकाल तक प्रचलित सभोगात्मक भगवत्सेवा

को उन्होने विरहात्मक रूप प्रदान किया। वे रात-दिन भगवद्विरह में निमग्न होकर प्रेम का रसास्वादन किया करते थे उनकी उक्ति है.

'नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधिराधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले।'

उन्होने स्वीकार किया कि श्रीकृष्ण की कृपा से ही उनकी भक्ति मिलती है, यह किसी भी दशा में साधनरूपा नही है, नितान्त फल-रूपा है हरिराय जी की वाणी है

'भक्तित्वेन पुष्टि निश्चीयते।'

भक्तिभाव से ही भगवान की कृपा का निश्चय किया जाता है। भक्तित्व ही कृष्णतत्व है। सच्चे स्नेही तो श्रीकृष्ण ही है, दुख-सुख में सदा वे ही अपनी भक्ति-मर्यादा निभाते है। मनुष्य का तो जीव को भरोसा ही नही करना चाहिये। उसके चित्त और वचन क्षण-क्षण में बदला करते है। माता-पिता, भगिनी सुत और दारा मे प्रेम कभी एक-समान नही निवाहा जा सकता है। श्रीकृष्ण ही सदा एकरस प्रेम का निर्वाह करते है इसलिये उनकी ही भक्ति जीवन का ध्येय है। वे ही ससार-सागरसे पार उतारने में सर्वथा समर्थ है। वे सदा श्रीकृष्ण की लीला-भावना में ही दत्तचित्त रहते थे। वृन्दावन की मधुर-मधुर मनोरम झाकी और गोविन्द की रमणीय केलि में ही वे मग्न रहते थे। एक अष्टपदी में उनकी रसमयी उक्ति है ·

'अवलोकय सखि मजुल कुजे।
रमयति श्री गोकुलरमणीरिह गोकुलपतिरतिकोकिलपुजे।
माधविकालतिकारतिकारिणि रागिणि रुचिर वसन्ते।
त्रिविधपवनकृतविरहवधूजनमदननृपति सामते॥
किंशुककुसुमसमीकृतदयिताधररसपानविनोदे।
मधुप समाहृत वकुल मुकुल मधुविकसित सरसामोदे॥
नवनव मजु रसाल मजरी वोधित युवजनमदने।
दयितारदनसमद्युतिमुकुलितकुदचिरस्मृत वदने॥
युवनिजनमानसगत मान महा मत्त गजमृगराजे।
कोकिलकुलकूजित विरहानलतापित पथिकसमाजे॥

विततपरागकुसुम सवेधि सदा गति वासित गहने।
कुसुमित किंशुककैतव विस्तृत विरहगहनवनदहने ॥
पल्लवकुसुम समेतविपिनविस्मारित युवजनगेहे।
मदनदहनदीपनविद्रावित विरहि दीन जनदेहे ॥
जगति समान शीततदितर विरचित रुचिराकारे ॥
वनिताजनसयोगसेविजनजनितानन्दकुमारे ॥
इति हितकारिवचनमति मानिनि मानय गोकुल वासे।
कुरु रति मतिशय करुणारसवति वितर मति हरिदासे ॥'

इस प्रकार उन्होने राधाकृष्ण की रसमयी कुजकेलि के सम्बन्ध में अनेक विरहात्मक अष्टपदियो की रचना कर कृष्ण-रस, भगवदमृत का विस्तार किया। हरिराय जी भगवान के रसरूप के व्याख्याकार थे। हरिराय जी की भक्ति विरहमूलक थी, वे प्रोषितपतिका की तरह रात-दिन भगवन्नाम, स्वरूप और लीला का ही स्मरण किया करते थे। उनका दृढ सिद्धान्त था

'हरि सेव्यो, हरिर्ज्ञेयो, हरिर्ध्येयो निरन्तरम्।
हरि श्राव्यो, हरिर्गेयो, हरिर्मेवाप्नुयात्तदा ॥'

उनके साहित्य का एकमात्र उद्देश्य भगवान की भक्ति को प्रकट करना था। हरिराय जी की घोषणा है कि भक्ति दो प्रकार की है, श्रवणकीर्तनमयी तथा प्रेममयी है। एक का मुख्य सम्बन्ध तो नारद आदि से है और दूसरे का आचार्यत्व गोपियो के सौभाग्य की बात है जो रात-दिन भगवान की भावभावना रूपा और विरहानुभवात्मिका स्वीकार की जाती है। हरिराय जी की गर्वोक्ति है

प्रभुर्नन्दकुमारो मे स्वामिनी वृषभानुजा।

अपनी विरहात्मिका रसमयी भक्तिपद्धति से उन्होने पुष्टि-साहित्य के विकास में महान योग दिया। वार्ता-साहित्य का सकलन उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य स्वीकार किया जाता है। उन्होने चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता को स्पष्ट करने के लिये 'भावप्रकाश' टिप्पण लिखा। गोकुलनाथ जी महाराज के वचनो और उपदेशो के बहुत बडे व्याख्याकार और सम्पादक थे। व्रजभाषा गद्य के महान्

लेखक थे। भगवदीय साहित्यकार थे। श्री हरिराय जी महाप्रभु के हरिदास, रसिकराय, प्रभुचरण आदि उपनाम थे। वे पृथ्वी पर एक सौ पचीस साल तक विद्यमान रहे। सम्वत् १७७२ वि के लगभग उन्होंने गोलोक प्राप्त किया। उनकी कृतियो में 'शिक्षापत्र' वहुत प्रसिद्ध है, इसमें उन्होंने भगवद्भक्ति का स्वरूप समझाया है। आजीवन उन्होंने श्रीकृष्ण के चरणो पर सर्वसमर्पण कर भक्ति–रस का आस्वादन करते रहने की ही सीख दी। वे रसाचार्य थे, भागवतरस के परम अनुभवी सन्त थे। पुष्टि-मार्ग की वे वहुत वडी आवश्यकता थे। उनका जीवन निष्पक्ष, निरपेक्ष और पूर्णरूप से श्रीकृष्णमय था।

रचना

वार्ता-साहित्य पर भावप्रकाश टिप्पण, शिक्षापत्र तया निरूपण, निश्चय, निराकरण, रहस्य, तात्पर्य, विवेक, विवेचन, विवृति लक्षणसम्वन्धी ग्रन्थो की हरिराय जी ने रचना की।

वाणी

गायो न गोपाल मन लीयो न रसाल लीला,
सुनी न सुवोधिनी न साधु सग पायो रे।
सेव्यो न स्वाद करी घडी हु न अध घडी,
कवहु न कृष्ण-नाम रसना रटायो रे॥
श्रीवल्लभ श्रीविट्ठलेश प्रभु की शरन जाय,
दीन होय मति छिन शीशहुँ न नायो रे।
'रसिक' कहे वार-वार लाजहु न आवे तोय
मनुष्य जनम पाय के कहावो कमायो रे॥

अहो हरि दीन के जु दयाल।
कव देखोगे दिशा हमारी ग्रसित हु कलिकाल।
कहा सुमिरन करु तिहारो पड्यो अति जजाल।
सकल साधन रहित मोसम और नही गोपाल।
करत अति विपरीत साधन चलत चाल कुचाल।
काडय कु नाही समरथ तुम विना नन्दलाल।

तुम बिन और कौन सु कहिये यही हमारो हाल।
हँसो कहा जु हरो आरत 'रसिक' करो निहाल॥

साँचो सनेही नन्दकुमार।
और नही कोइ दुख को वेली, सव मतलव को यार॥
मनुष्य जाति को नाहिं भरोसो, छिनु बिहार छिनु पार।
चित्त वचन को नाहिं ठिकानो, क्षण क्षण पृथक विचार।
मात-पिता भगिनी सुतदारा, रतिन निभत एक तार।
सदा एकरस तुमही निभावो, 'रसिक' प्रीतम प्रतिपाल।

नाथ हाहा मोहि दरस दीजै।
सहज करुणा करो दोष जिन जिय धरो,
बिना साधन मोहि दास कीजै॥
दुखित तन होत तो दरस देखे बिना,
रैन-दिन तपत कहो कैसे जीजै।
कहो धीरज हिय राखिये कौन विधि
रहत नाही चैन तन छेह दीजै॥
लेत जब श्वास उर में न समात,
जब लो निश्चित दृग भर न पीजै।
रूप लावण्य अमृत रसिक पीवत सदा
बिना पान तन कैसे भीजै॥

सन्त अखा

'नीतिज्ञा निर्यातज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञा।
ब्रह्मज्ञा अपि लभ्या स्वाज्ञानज्ञानिनो विरला ॥'

संसार में नीति, भविष्य, वेद और शास्त्र तथा ब्रह्म के जाननेवाले मिल सकते हैं पर अपने अज्ञान के जाननेवाले मनुष्य विरले ही हैं।

—अप्पय्यदीक्षित

वेदान्ती सन्त अखा परम भगवद्भक्त, उच्च कोटि के विरक्त और अनुभवी आत्मज्ञानी थे। गुजराती साहित्य में और विशेपतया सत-साहित्य की प्रगति में वे एक महान शक्ति स्वीकार किये जाते हैं। नरसिंह मेहता की पवित्र भागवत वाणी से सरस गुजरात के कण-कण में उन्होंने विक्रम की सत्रहवीं सदी में अध्यात्म ज्ञान की ज्योति का विस्तार किया। गुजरात में घर-घर में उनका नाम वडी श्रद्धा और आदर से लिया जाता है। उनकी वाणी में आत्मानुभूति की रसमयी स्निग्धता और ब्रह्मानन्द की दिव्य रमणीयता का दर्शन होता है। समस्त भारतीय सन्त साहित्य में, दक्षिण, बगाल, आसाम, विहार और उत्तर भारत में सगुण और निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन का समन्वय प्रयत्नगत था। नवद्वीप, काशी, अयोध्या, पण्ढरपुर, श्रीरग, द्वारिका और वृन्दावन में इस विशिष्टता का आधिपत्य था। अखा ने शुद्ध वेदान्तब्रह्म का चिन्तन कर इस महत्वपूर्ण प्रयास में बहुत बड़ा योग दिया।

अखा के जीवन-काल में भारत के राजकीय वैभव के सरक्षक महामुगल जहाँगीर और शाहजहाँ थे। गुजरात उस समय मुगलो की राजसत्ता के अन्तर्गत एक प्रान्त था। देश में शान्ति और उदारता का वातावरण छाया हुआ था,। ऐसे समय में अखा ने समाज और साहित्य को सर्वात्मबोध का दान किया। वे महाराष्ट्र के वामन पण्डित और उत्तर भारत के कबीर स्वीकार किये जा सकते हैं। आध्यात्मिक क्रान्ति के स्रष्टा थे।

अहमदाबाद जनपद मे जेतलपुर ग्राम में सम्वत् १६७१ वि में अखा का जन्म हुआ था। कुछ लोगो के मत से उनका जन्म सम्वत् १६४९ वि है। वे स्वर्णकार का काम करते थे। अपनी ईमानदारी और सदाचारपूर्ण जीवन के लिये वे दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। अखा के पिता का नाम रहियो था। जब वे छोटे बालक थे तभी उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। पिता ने उनका विवाह बचपन में ही कर दिया था। पिता का देहान्त हो गया। केवल बहिन ही साथ रह गयी। अखा माता-पिता के देहान्त से वहुत प्रभावित हुए, ससार के प्रति उनकी ममता और आसक्ति कम होने लगी। वे पन्द्रह साल की अवस्था में जेतलपुर से अहमदाबाद चले आये। अहमदाबाद में सुनार का काम करने लगे। उनका पूरा नाम अरवेराय था। लोग उनमें वहुत विश्वास करते थे। उनकी समृद्धि और प्रसिद्धि ज्यों-ज्यो बढती जाती थी त्यो-त्यो उनके मन में अनासक्ति के भाव का उदय होता रहता था।

गृहस्थ जीवन में उन्हें कभी सुख की अनुभूति नही हुई। गृहस्थी के प्रपचो से उनका मन कोसो दूर भागता था। पत्नी के देहावसान के बाद तो चित्त और भी अनासक्त हो गया। लोगो के वहुत समझाने-वुझाने पर गृहस्थ-धर्म के पालन के लिये अखा ने दूसरा विवाह किया पर उन्हें शान्ति नही मिल सकी, वे तो चिरन्तन शाश्वत आत्मशान्ति के प्यासे थे, शारीरिक सम्बन्ध में तो उनकी सुख-भावना ही नहीं थी। उनका मन रात-दिन किसी वहुत बडी कमी का अनुभव किया करता था, अखा सदा सत्पदार्थ—वस्तुतत्व का चिन्तन करते हुए सुनार का काम पूरा करते थे।

छोटी-से-छोटी घटना भी जीवन को महान वना देती है। एक दिन अखा के जीवन में महान परिवर्तन देखा गया। कुछ दिन पहले एक स्त्री ने अखा के पास तीन सौ रूपये धरोहर में रख दिये। अरवा में उसका वडा विश्वास था। उसने अखा से कहा कि इन रूपयो से सोने की एक कठमाला वना दीजिये। अखा उस स्त्री को अपनी वहिन के समान मानते थे, वडा स्नेह करते थे। आत्मीयता के नाते उन्होंने उस कठमाला में सौ रूपये का सोना अपनी ओर से मिलाकर स्त्री को दे दी। कठमाले का तौल अधिक था, वहिन को अखा

की नीयत पर सन्देह हुआ। उसने सोचा कि अखा है तो सुनार ही, चोरी तो उनकी वृत्ति ही है। वह कठमाला एक दूसरे सुनार के पास ले गयी। सुनार ने उसको तौल में ठीक वताया और कहा कि इसमें शुद्ध सोना मिलाया गया है। वहिन ने अखा से भेद प्रकट कर दिया। सन्त अखा रोमाञ्चित हो उठे। उनकी आँखो के सामने अधेरा छा गया। उन्हें ससार की नश्वरता का ज्ञान हो गया। उन्होने मन में विचार किया कि उस वहिन का इस प्रकार सोचने-समझने में तनिक भी दोष नही है। ससार का रूप ही ऐसा है—कहा तो मैंने उसकी प्रसन्नता के लिये सौ रूपये अपनी ओर से मिलाये और कहाँ उसने मेरे इस कार्य में दोष देख लिया। उन्हें ससार के सम्बन्ध से घृणा हो गयी, चित्त में निर्मल वैराग्य का रस उमड पडा। उन्होंने सुनार के धन्धे का परित्याग कर दिया, औजार कुएँ में फेंक दिये, साधु-सन्त की खोज मे तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। आत्मा और परमात्मा—वस्तुतत्व के परिज्ञान और अनुसधान के लिये उन्होने स्थान-स्थान की खाक छानी; साधु-सन्तो-का सत्सग किया। ससार उन्हे एक जलती-सी भट्टी के समान दीख पडा, वे उसकी लाल-लाल कराल लपटो से पीछा छुडाने के लिये ब्रह्मानन्द के समुद्रतट पर विचरने लगे।

आश्चर्य की वात तो यह थी कि उन्हें आत्मवोघ और सत्वोघ का रहस्य वताने वाले सन्त न मिल सके। उन्हें भगवान और आत्मा की ओट लेकर शिष्यो और दूसरे गृहस्थो का धन अपहरण करने वाले ही अधिकाश मिले। उन्हे ऐसे लोगो से घृणा हो गयी। वे जयपुर गये। गोकुलनाथ नामक महात्मा से उन्होने दीक्षा ली पर वे भी उनके मन को शान्ति न प्रदान कर सके। उनका मन जयपुर में न लग सका। एक दिन उन्होंने साधारण वेश वदल कर मन्दिर में प्रवेश किया, उन्हे आश्चर्य हुआ कि धनी-मानी सज्जनो की ही उसमें पूछ है। उन्होंने अन्तरस्थित भगवान को नमस्कार किया और निवेदन किया कि हे देव, आप मुझे सत्य का प्रकाश दिखाइये, आप का नाम लेकर प्रकाश दिखाने वाले माया-ममता के अन्धकार में भूले हुए है, अन्धकार मे रहते हुए भी वे दूसरो को ठगने के लिये कहते है कि हमें भगवद्-ज्ञान प्राप्त है, प्रभु ऐसे धूर्तो और ठगो से मेरी रक्षा

कीजिये। वे आत्म-प्रकाश के सहारे–प्रभु के विश्वास के भरोसे काशी की ओर बढने लगे।

काशी में उन दिनो ब्रह्मानन्द स्वामी नाम के एक वेदान्ती महात्मा की पर्याप्त प्रसिद्धि थी। उनके असंख्य शिष्य थे। वे आत्मज्ञानी और शास्त्रमर्मज्ञ थे। ब्रह्मानन्द स्वामी केवल रात को ही एकान्त में शिष्यो को उपदेश देते थे। काशी में बहुत दिनो तक भटकने के बाद एक दिन अखा ने दैवयोग से ब्रह्मानन्द स्वामी का वेदान्तपरक उपदेश सुन लिया। उन्हे आत्मा का अमृत प्राप्त हो गया। वे उनके वचनामृत से निहाल हो गये। उस समय वर्णाश्रम धर्म के नियम अमित कडे थे। ऐसी स्थिति में ब्रह्मानन्द जी सुनार अखा को अपना शिष्य बनाने में आपत्ति करते। गुप्त रूप से अखा उनके प्रवचन में नित्य रात को सम्मिलित होने लगे। गुरु ब्रह्मानन्द जी को पता चला कि अखा सुनार है पर उनके संस्कार ब्राह्मण के-से देखकर उन्होने अखा को शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। अखा को उनके सामीप्य में परम शान्ति मिल सकी, वे आत्मज्ञान और सत्य के प्रकाश से सम्पन्न हो गये। उन्होने ब्रह्मानन्द जी की कृपा से वेद, उपनिषद तथा अन्य वेदान्तपरक अध्यात्म शास्त्रो का अध्ययन किया। काशी से वे जयपुर लौट आये। गोकुलनाथ जी के साथ रह कर उन्होने वेदान्त शास्त्र का अभ्यास किया, उनकी चचल चित्तवृत्ति शान्त हो गयी, दौडना-धूपना बन्द हो गया वे सद् चित्स्वरूप में तल्लीन रह कर सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही चिंतन, करने लगे। वे आध्यात्मिक जीवन से समृद्ध हो गये, ससार में उन्हे ब्रह्म की सत्ता परिव्याप्त दीख पडी, उन्होने विवेकपूर्वक सन्यास और वैराग्य का आलिंगन किया।

अखा का सबसे बडा कार्य यह था कि गुरु से आत्मज्योति पाकर उन्होने आध्यात्मिक क्रान्ति की। गुरुप्रदत्त ज्ञान का उन्हे पूरा-भरोसा था। उन्होने कहा कि वस्तुतत्व रूपी कागज को तो बाँचने वाले केवल गुरु ही है। ब्रह्मतत्व को जानना आसान नही है। वेद-पुराण पढ-पढकर पण्डित थक गये पर एक अक्षर भी उनकी समझ में नही आया, जानने वाले सुजान थक गये। गुरु की कृपा से अन्धा वस्तुतत्व को पढ सकता है, बहरा सुन सकता है, गूगा कह सकता है। काशी

से लौटने के वाद अखा ने आजीवन वेदान्त सवेद्य ब्रह्म-तत्व का ही चिंतन किया। उनकी उक्ति है कि आत्मा की प्राप्ति की इच्छा हो तो शुद्ध मन से सतो की सेवा करनी चाहिये, भवरोग ऐसा करने से मिट जाता है, आरोग्य-लाभ होता है। सन्तो की चाल तो उलटी होती है, इस कला से वे ब्रह्म-साक्षात्कार करते है, पख वढने पर पक्षी इसी प्रकार उडता है– ऐसा ज्ञान मन में समझ पडता है। ज्ञान, वैराग्य, प्रेम-आतुरता आदि तो नवधा भक्ति के अग ही है पर आत्मप्राप्ति का रहस्य तो गुरु की कृपा से ही समझ में आ पाता है, नही तो गुरुरूपी कुञ्जी--चाभी के विना आत्मज्ञान ताले में वन्द रहता है। यदि परब्रह्म को पाने की मन में उत्सुकता और चाह हो तो शुद्ध सग का सेवन करना चाहिये । ऐसा सत्सग करना चाहिये कि अपने अग में आत्मज्योति चमक उठे, प्रकाशित हो उठे। उन्होने कहा कि यदि परम पद पाने की इच्छा हो, जगत् के जजाल से निकलने की चाह है, शुद्ध जीवन समझने की कामना है, जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त करनी है तो हरिगुरु की सेवा करनी चाहिये, उनकी कृपा से ही ऐसा सम्भव है। विरक्त और त्यागी ही ब्रह्म-रस का पान कर सकते है। उन्होने सन्त कवीर की तरह छल, दम्भ और पाखड का खडन कर समाज को शुद्ध अध्यात्म-तत्व, आत्मज्ञान, अद्वैत ब्रह्म-चिन्तन, निर्गुण भजन प्रदान किये। समाज का आध्यात्मिक स्तर उन्नत और विकसित किया। उनकी भाषा काव्यगुणो से– माधुर्य और प्रसाद से रहित होने पर भी मर्मवेधनी और प्रभावमयी है, कवीर की वाणी की तरह सत्य की ज्योति से सम्पन्न और तेजोमयी है।

'सेवो हरि गुरुसन्त ने' - अखा के पारमार्थिक जीवन का सम्वल था। अखा ने अपने उच्च कोटि के आध्यात्मिक जीवन से गुजराती साहित्य को मध्यकालीन निर्गुण ज्ञानधारा से समृद्ध किया। नरसिंह मेहता, भालण और अखा मध्यकालीन गुजराती साहित्य के आध्यात्मिक स्तम्भ स्वीकार किये जा सकते है। अखा की वुद्धि प्रखर, शुद्ध और सत्यदर्शी थी। उनके साहित्य सृजन में अलौकिक प्रवाह है, गति है। वे लोकसन्त थे, जन- प्रिय, थे लोग उनका सम्मान करते थे, उनकी कथनी-करनी में विश्वास करते थे। समस्त जगत में सन्त

अखा ने अपने हृदयस्थ परमात्मा का दर्शन किया, घट-घट में आत्माराम--शुद्ध सच्चिदानन्द घन परब्रह्म की परिव्याप्ति पायी।

अखा लगभग उनसठ साल तक पृथ्वी पर विद्यमान रहे। सम्वत् १७३० वि के लगभग वे ब्रह्मलीन हो गये। अहमदाबाद की देशाई पोल में 'अखाना ओरडो' अखा के घर के नाम से एक मकान अब भी विद्यमान है। अखा परमात्मा के बहुत बडे भक्त थे, आत्मज्ञानी महात्मा थे। अखा सत्य के उपासक थे, महान सन्त थे।

रचना

गीता, अनुभव बिन्दु अखा सन्त की सम्मानित रचनायें हैं। उन्होंने गुरुमाहात्म्य, गुरु गोविन्द एकता, मायानु स्वरूप, भक्ति ज्ञान - वैराग्यन् माहात्म्य, सर्वात्मभाव, प्रेमलक्षण, जीवन्मुक्तदशा, वितण्डावादो नु वर्णन षड्दर्शनचिकित्सा, ब्रह्मवस्तु निरूपण, ब्रह्मईश्वरजीवनी एकता, सत्सग महत्ता ग्रथ रचे।

वाणी

अद्भुत आनन्द आया, अब मोहि अद्भुत आनन्द आया
किया कराया कछु भी नाही, सेज पिया कु पाया ॥
देशन छोडचा, वेशन छोडया, ना छोड्या ससारा।
भर निद्रा से जग पडा तो मिट गया सपना सारा ॥
भला कहे कोई, बुरा कहे कोई, अपनी मति अनुसारा।
'अखा' लोह कु पारस परसा, सोना भया सोनारा ॥
आतमा पामवा कोई इच्छा करे, सतने सेववा मन शुद्धे।
भवरोग वामवा भेख भावे लहे, आरोग ता आवे जेम साकरदूधे ॥
सुलभ मारग ते सत केरी कला, ऊपरे जाय ऊवाट वाटे।
पाखने वले जेम पखीडा परवरे, अेम समज आवे ज्ञान घाटे ॥
ज्ञान वैराग्य न प्रेम आतूरता, नवधा केरु, माई समज त्या९।
पूरी ते समजणो पूरा गुरु थकी, नहि तो कूची विनारध्यु तालु ॥
हजी हटकटा होइ परिब्रह्मनी, तो प्रथम परवर जे शुद्ध सगे।
सत्सग कर तो अेवो कर जे 'अखा' प्रगटे प्राणनाथ ते आप अगे ॥

समर्थ रामदास

'...ईश्वर की उपासना करनी चाहिये। सब के लिये उपासना ही बहुत बड़ा आसरा है इस के बिना सब निराश्रय हैं।.....उठते-बैठते ईश्वर का भजन करना चाहिये। भजन, साधन और अभ्यास से ही परलोक मिलता है– मन में इस बात का विश्वास रखना चाहिये।'

—दासबोध

सन्त समर्थ रामदास का भागवती शक्ति के मध्यकालीन व्याख्याकारों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने महाराष्ट्र में आध्यात्मिकता का–निर्गुण ब्रह्म और सगुण लीलामय ब्रह्म के समन्वय की चेतना का राष्ट्रीयकरण किया। उन्होंने स्वराज्य का, सन्त सम्मतशासन-परम्परा का शुद्ध तथा परम निर्मल स्वरूप समझाकर प्राणीमात्र को परमात्मा की ओर उन्मुख किया। महाराष्ट्र में हनुमान के अवतार के रूप में घर-घर में उनकी पूजा होती है, वे दशरथनन्दन राघव राजाराम के परम भक्त थे, उन्होंने राम का मौलिक ढग से चिंतन किया।

जिस समय देवदुर्लभ परम पवित्र भारत-भूमि में विदेशी शासको की धार्मिक कट्टरता अपनी पराकाष्ठा पर थी, कुराज्य का बोल-बाला था, भारतीय सस्कृति का गौरवमय भविष्य अन्धकार के सींकचो में तडप रहा था, उस समय महाराष्ट्र में भागवत दूत के रूप में, ईश्वरीय सन्देश का प्रचार करने के लिये, धरतीपर रामराज्य की भूमिका प्रस्तुत करने के लिये समर्थ रामदास का प्राकटय हुआ। उन्होंने स्वराज्य के सस्थापक महाराज छत्रपति शिवाजी से तथा भारतीय जनता से कहा कि जब धर्म का अन्त हो जाय तब जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। धर्म के समाप्त होने पर जीवित रहने का कोई अर्थ ही नही है। उन्होंने महाराज शिवाजी से कहा, 'मराठो को एकत्र कीजिये, धर्म को फिर जीवित कीजिये, हमारे पूर्वज, पितर स्वर्ग से हमारे ऊपर

हँस रहे है।' समर्थ रामदास ने समस्त भारत भूमि को उस समय धर्म-दान किया, धर्म राज्य की स्थापना का शुभ सन्देश दिया।

सन्तसमर्थ ने प्राणो की वाजी लगा कर स्वदेश और स्वधर्म तथा स्वराज्य पर सर्वस्व निछावर करने का पाठ पढाया। समर्थ रामदास का उदय-काल विक्रम की सत्रहवी सदी का तीसरा चरण था, उस समय दिल्ली के सिंहासन पर औरगजेव का आधिपत्य था। रामदास ने धार्मिक क्रान्ति का सृजन किया। उन्होने कहा कि धर्म के लिये मरो, मरते-मरते भी शत्रुओ का सहार करो, कर्तव्यच्युत होने पर उपहासपात्र होना पडेगा। समर्थ रामदास का धर्म ईश्वरीय धर्म था, सद्धर्म था। समर्थ युग-पुरुप थे, उनके सत्प्रयत्नो से भारतीय सस्कृति यथास्थान रह सकी, समर्थ रामदास को धार्मिक या आध्यात्मिक क्रान्ति करनी नही पडी, वह अपने आप हो गयी। उन्होने सामाजिक और धार्मिक रीति-नीति में सतुलन सम्भव किया। उन्होने दोनो का वैष्णवीकरण किया, वैष्णव धर्म और वैष्णव समाज को मान्यता दी।

सन्त समर्थ रामदास के पूर्वज वडे भगवन्निष्ठ और धर्मपरायण थे। उनका कुल परम भागवत था। हैदरावाद के औरगावाद जनपद के आवन्द नामक मण्डल के जाम्व गाव में उनके मूल पुरुष कृष्णाजी पन्त आकर वस गये थे। समर्थ रामदास के पिता सूर्याजीपन्त थे वे भगवान सूर्य के भक्त थे। उनकी माता रेणुवाई भी सतीसाध्वी और धर्म में अमित रुचि रखने वाली थी। सूर्याजी पन्त ने छत्तीस साल तक भगवान सूर्य की उपासना की थी, उनके वरदान से उन्हे दो पुत्र हुए। पहले पुत्र का नाम गगाधर-रामी रामदास था। दूसरे पुत्र ने सम्वत् १६६५ वि में चैत रामनवमी को ठीक दोपहर के समय जन्म लिया, उनका नाम नारायण रखा गया, वे ही चरितनायक रामदास के रूप में प्रसिद्ध हुए।

एक वार उनके माता-पिता उन्हे महात्मा एकनाथ का दर्शन कराने के लिये पैठण ले गये। एकनाथ ने देखते ही कहा कि ये हनुमान के अश मे प्रकट हुए है, वहुत वडे महात्मा होगे।

समर्थ रामदास का पालन-पोपण धार्मिक वातावरण में हुआ। वे वचपन में वडे चचल स्वभाव के थे। खेल-कूद में ही इनका अधिकाश

समय बीतता था। नदी के तट पर घूमना, पहाड के शिलाखण्डो से चढना-उतरना, वृक्ष पर झूला झूलना ही इनका काम था। पाच साल की अवस्था में उनका उपनयन सस्कार हो गया, पिता की मृत्यु हो गई। शिक्षा-दीक्षा पर रेणुवाई ने वडा ध्यान रखा। उनकी कृपा से रामदास में शील, संयम और सदाचार आदि वढने लगे। सूर्यदेव को वे नित्य दो हजार नमस्कार करते थे। हनुमान जी के प्रति उनके मन में सहज अनुराग था। उनका निश्चय था कि हनुमान जी ही मेरे गुरु हों। वे अपने गाव के हनुमान-मन्दिर में जाकर ध्यान करने लगे, उनका दृढ व्रत था कि जव तक हनुमान जी का दर्शन नही होगा, मैं अन्न-जल कुछ भी नही ग्रहण करूँगा। हनुमान जी ने उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर दर्शन दिया, स्वय राम ने भी दर्शन दिया और वरदान दिया कि धर्म का प्रचार करो, लोक-कल्याण करो। राम ने उनका नाम नारायण से रामदास रखा।

जव (रामदास) नारायण की अवस्था वारह साल की हुई, मा ने उनका विवाह करने का निश्चय किया। विवाह की वात सुनते ही वे उदास हो जाते थे। एक दिन तो विवाह की चर्चा छिडते ही घर से भाग निकले और दो-तीन दिन तक कही छिपे रहे। माता के समझाने पर कहा कि वडे भाई ने तो विवाह कर ही लिया है, वश चलते रहने का निश्चय हो ही गया है, अव मेरे लिये विवाह की आवश्यकता ही नही रह गयी है। वहुत कहने-सुनने पर वे प्रस्तुत हो गये। मा ने कहा कि जव तक अन्तरपट का सस्कार न समाप्त हो जाय तव तक विवाह से इन्कार मत करना। रामदास ने वात मान ली। उनका विवाह आसन नामक गाँव में निश्चित हो गया। वे सजकर मण्डप में वैठे थे। व्राह्मणो ने वर-वधू के वीच अन्तरपटवाला विधान सम्पन्न करना चाहा। उसके समाप्त होते ही पण्डितो ने कहा 'शिवमगल सावधान।' रामदास के अन्त चक्षु खुल गये। उन्होंने सोचा कि मै तो सावधान हूँ ही पर यदि व्राह्मण सावधान होने की चेतावनी देते है तो इसका कोई-न-कोई विशेष अर्थ अवश्य है। उन्होंने व्राह्मणो से रहस्य पूछा तो वे वोल उठे कि अव तुम गृहस्थी की वेडी में जकड गये। इसलिये सावधान हो जाओ। रामदास सावधान हो गये। वे उसी समय विवाह

मण्डप से भाग चले। गोदावरी के तट पर पहुँच कर कहा कि मा, मुझे अपनी गोद में लेकर उस पार उतार दीजिये, आप पुण्यसलिला हैं, पापताप-सहारिणी है, असहाय की रक्षा कीजिये। वे गोदावरी की धारा मे कूद पडे, तैर कर उस पार राघवेन्द्र और सीता की तपोभूमि पचवटी में पहुँच गये। पचवटी में उन्हे श्रीराम का साक्षात् दर्शन हुआ, उन्होंने करुणापूर्ण मार्मिक वाणी मे भगवान का स्तवन किया। इस घटना के बाद उन्होंने तपस्या का जीवन आरभ किया। गोदावरी और नन्दिनी के सगम वाले तट पर टाकली नामक गाव की एक गुफा में निवास कर तप करने लगे। वे रात के पिछले पहर से ही उठ कर श्रीराम का चिन्तन करते थे। दोपहर तक नदी में स्थिर होकर 'श्रीराम जय राम जय जय राम' मन्त्र का अनुष्ठान करते थे। अडोस-पडोस से मधुकरी माग कर भगवान को समर्पित करके प्रसाद पाते थे। तप से उनका शरीर तेजोमय हो उठा, मुखमण्डल पर दिव्य प्रकाश छा गया। उन्होंने टाकली में तीन साल तक कठोर तप किया। एक दिन वे सगम पर अनुष्ठान कर रहे थे। एक युवती ने उनको प्रणाम किया। सन्त ने 'अष्टपुत्र सौभाग्यवती भव' आशीर्वाद दिया। स्त्री आश्चर्यचकित हो गयी। उसने कहा कि महाराज मैं तो विधवा हूँ, मेरे पति की मृत्यु हो गयी है। मैं सती होने जा रही हूँ। कुलपरम्परा के अनुसार चिता में चढने के पहले आप से आशीर्वाद लेने आयी थी। सन्त समर्थ ने स्त्री के पति के शव पर गोदावरी का पवित्र जल छिडका, राम नाम का स्मरण किया, वह जीवित हो उठा। उसने उनकी चरणधूलि मस्तक पर चढा कर कहा कि मैं आप के दर्शन से धन्य हो गया। आप ने मुझे मृत्यु के हाथ से छुडा लिया। मेरा नाम गिरिधर पन्त है, यह मेरी पत्नी अन्नपूर्णा बाई है। समर्थ ने कहा कि पहले मैंने आठ सन्तान होने की बात कही थी, भगवान की कृपा से दस सन्तान की प्राप्ति होगी। गिरिधर पन्त ने अपने पहले पुत्र उद्धव गोस्वामी को समर्थ के चरणों पर समर्पित किया था। वे उनके प्रधान शिष्य थे। सन्त समर्थ ने बारह साल तक टाकली मे तप किया, उसके बाद भगवान श्रीराम के आदेश से वे तीर्थयात्रा और भागवतधर्म के प्रचार के लिये निकल पडे।

उन्होन काशी, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, श्रीनगर, वदरीनारायण, केदारेश्वर, उत्तरमानस, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदि की यात्रा की। सन्तो का समागम किया। गोकर्ण, महाबलेश्वर, शेषाचल, शैलमल्लिकार्जुन, पञ्चमहालिङ्ग, किष्किधा, पम्पासरोवर, परशुराम क्षेत्र तथा पण्ढरपुर होते हुए वे पचवटी पहुँच गये। इस यात्रा-काल में अनेक मठ स्थापित किये, राम और हनुमान के मन्दिरो का निर्माण कराया। इस प्रकार वारह साल की तीर्थयात्रा मे उन्होने देश—काल की परिस्थिति का अनुभव कर आध्यात्मिक और सास्कृतिक अभ्युत्थान का महामन्त्र जगाया। उन्होने धर्म का सारतत्व समझा कर देश को राघवेन्द्र के राज्यादर्श का मर्म वताया, धर्माचरण का सदेन्श दिया।

उन्होने गोदावरी की परिक्रमा आरम्भ की। एक दिन एकनाथ महाराज की समाधि का दर्शन करने पैठण गये। लोगो ने उनको पहचान लिया, कहा कि आप की माता की नेत्र-ज्योति चली गयी। वे आपको देखने के लिये रोते-रोते अन्धी हो गयी हैं। समर्थ माता के दर्शन के लिये चल पडे। जाम्व में अपने द्वार पर पहुँचते ही उन्होने 'जय जय रघुवीर समर्थ' की आवाज लगायी। भावज भिक्षा देने आयी तो सन्त समर्थ ने कहा कि यह साधु केवल भिक्षा लेकर ही लौटने वाला नही है। माता ने उनकी आवाज पहचान ली। वे 'नारायण नारायण' पुकारती वाहर आ गयी। माता की चरण-धूलि लेने के वाद समर्थ ने उनके नेत्रो पर हाथ फेरा, ज्योति लौट आयी। मा ने पूछा कि तुमने किस जादूगर को वश में किया है। समर्थ ने कहा कि मा, मैंने अयोध्या और मथुरा में—वृन्दावन मे लीला करने वाले को वश में किया हैं। घर में आनन्द छा गया। वडे भाई ने उनको देखते ही गले लगा लिया। माता के आग्रह से वे कुछ दिन घर पर ठहर गये। चलते समय उन्होने मा को कपिल गीता सुनायी, जो कपिल ने देवहूति को सुनायी थी। इस प्रकार आत्मवोध देकर वे गोदावरी की परिक्रमा में प्रवृत्त हुए। उसके वाद पचवटी आकर रामचन्द्र का दर्शन किया। उन्होंने टाकली की यात्रा की, टाकली में उनसे उद्धव गोस्वामी मिले। इस प्रकार वारह साल तपस्या में और वारह साल यात्रा में लगा कर वे कृष्णा नदी के तट पर आ गये। कृष्णा नदी के

उद्‌गममहावलेश्वर क्षेत्र में रह कर उन्होने धर्म-प्रचार किया। चार मास के वाद वे कृष्णा और वेणा नदी के सगम पर माहुली क्षेत्र में आकर रहने लगे। बडे-बडे साधु सन्त उनका सत्सग करने लगे। उनके शिष्यों की सख्या वेग से वढने लगी। तुकाराम जी महाराज का उनसे सत्सग हुआ। कुछ दिनो के वाद वे शाहपुर के निकट एक पहाडी गुफा में एकान्त-सेवन करने लगे। वडे-वडे सामन्तो और राजाओ ने अपने आप को उनके चरणो में समर्पित कर दिया।

सन्त समर्थ अधिकाश रूप में चाफल मे रहते थे। कभी - कभी देश के विभिन्न भागो में परिभ्रमण भी कर लिया करते थे। सन्त समर्थ और छत्रपति शिवाजी का मिलन तत्कालीन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। उस समय महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम की प्रसिद्धि वहुत वढ रही थी। शिवाजी महाराज ने तुकाराम को अपना गुरु वनाना चाहा था पर उन्होने वडी विनम्रता से रामदास के लिये सम्मति दी। शिवाजी सन्त समर्थ के दर्शन के लिये बडे उत्सुक थे। सन्त समर्थ का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ था। वे एक स्थान पर कभी स्थायी रूप से नही थे। इधर-उधर घूमते रहते थे। महाराज ने उनको एक पत्र लिख कर पथ-प्रदर्शन करने का आग्रह किया था। सम्वत् १७०६ वि के लगभग चाफल के समीप शिगणवाडी में एक गूलर के पेड के नीचे वैठे हुए सन्त समर्थ का शिवाजी को दर्शन हुआ। वे उस समय उन्ही का पत्र पढ रहे थे। रामदास ने शिवाजी की विशेष श्रद्धा देखकर उनको शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया और वर्मपूर्वक राज्य करने का सदुपदेश दिया। इस घटना के वाद समर्थ रामदास ने कुछ दिनो तक पार्ली में निवास किया, पार्ली का नाम सज्जनगढ हो गया। सम्वत् १७१२ वि के लगभग महाराज शिवाजी सतारा के किले में निवास कर रहे थे। एक दिन कुछ शिष्यो के साथ भिक्षा मागते हुए समर्थ सतारा में पहुँच गये। किले के द्वार पर पहुँचते ही उन्होने 'जय-जय समर्थ रघुवीर' का जयघोप किया। महाराज शिवाजी ने एक पत्र लिखा कर उनकी झोली में डाल दिया। पत्र में लिखा था कि आज से मेरा समस्त राज्य गुरु देव का है। सन्त समर्थ ने शिवाजी की परीक्षा ली कि आप क्या करेगे? उन्होने कहा कि म आप के पीछे-पीछे

घूमूगा। शिवाजी ने उनके साथ कन्धे पर झोली रख कर भिक्षा मागी। समर्थ ने समझाया कि आप का धर्म है राजकार्य करना। शिवाजी ने सिहासन पर गुरुदेव की चरण पादुका रख कर राज्य करना आरम्भ किया, धर्मराज्य की स्थापना हुई। उन्होंने गुरु के प्रति आदर दिखाने के लिये ध्वजा का भगवा रग कर दिया। शिवाजीने उनकी छत्रछाया में वैष्णव धर्म स्वीकार कर स्वराज्यव्रत का पालन किया। सन्त समर्थ ने समझाया कि देव मन्दिर विदेशी शासन द्वारा भ्रष्ट हो रहे है, सज्जन उत्पीडित किये जा रहे है, धर्म और सस्कृति खतरे में है, हे वीर, भारत भूमि का सरक्षण कीजिये। आप धर्म को बचाइये, भारतीय सस्कृति आप की ही ओर देख रही है, उसकी रक्षा कीजिये। ईश्वर के भक्तो की सदा विजय होती है। समर्थ रामदास के सकेत पर शिवाजी सर्वस्व की बाजी लगा देने में आत्मगौरव समझते थे। सन्त समर्थ ने जनता को आत्मबोध प्रदान किया कि स्वराज्य का वास्तविक रूप क्या है, और उसके अनुसार राष्ट्र का जीवन कैसा होना चाहिये। वे अच्छी तरह समझते थे कि 'स्व' पर राज्य करने के लिये सात्विकता और धर्माचरण की बडी आवश्यकता है। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया कि भारतीय स्वराज्य और धर्म का सरक्षण सन्त ही कर सकते है। सन्त समर्थ की कृपा से लोगो की आत्म चेतना जागरित हो उठी। समर्थ रामदास ने लगभग सात सौ मठो की स्थापना कर देश को आत्म ज्योति, सास्कृतिक गौरव और धर्मराज्य से सम्पन्न किया। समर्थ रामदास ने जनता को सतमत का सत्स्वरूप समझाया, राम की भक्ति दी। उन्होंने कहा कि जिसने मद, मत्सर और स्वार्थ का त्याग कर दिया है, जिसे सासारिक बन्धन नही है, जिसकी वाणी नम्र और मधुर है वही राम का सच्चा सेवक है, पृथ्वी पर उसका जीवन धन्य है। उन्होंने श्रीरामचन्द्र की भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ और परम श्रेयस्कर स्वीकार किया, आत्मस्वरूपस्थ रहने की ही सीख दी। 'मनाचेश्लोक' में उनकी सरस उक्ति है

घनश्याम हा राम लावण्य रूपी।
महाधीर गम्भीर पूर्ण प्रतापी ॥
करी सकटी सेवकाचा कुडावा।
प्रभाते मनी राम चितीत जावा ॥

श्रीराम नीले बादल के समान सुन्दर है, वे वडे गम्भीर, धीर और प्रतापी है, सकट काल में भक्त की रक्षा करते है, हे मन, प्रभात काल में उनका ही स्मरण करो। राम ही को उन्होने परम शक्तिमान स्वीकार किया, सन्तों का उपास्य बताया। उन्होने कहा कि जिस मनुष्य के मुख से रामनाम मत्र का उच्चारण नही होता है वह ससार में वहुत वडी हानि उठाता है, जिसका जीवन व्यर्थ है उसी को रामनाम में रस नही मिलता है, भगवन्नाम ही परमश्रेष्ठ है, यह वेद और शास्त्र तथा व्यास जी का मत है। हमें इसी का आश्रय लेना चाहिये। यह सर्वथा सत्य है। सन्त समर्थ ने वर्णाश्रम धर्म में वडी निष्ठा प्रकट की। पर ऐसा करके भी उन्होंने प्राणीमात्र को अपने राम का स्वरूप मान कर ही नही, समझ कर भी उपास्य वताया, आदरास्पद कहा। आत्मकल्याण और लोकहित को सत्य की आत्माकी ज्योति से समृद्ध कर समर्थ रामदास ने अपने सन्तत्व की रक्षा की। उन्होंने भगवान राम की भक्ति के वल पर सत्य-धर्म का सरक्षण किया, सन्त का कर्तव्य निवाहा। उन्होंने भगवद्भक्ति की व्याख्या में कहा कि भगवच्चरण की शरणागति ही श्रेय है, मृत्यु पर विजय कर अमरता का वरण करना ही आत्मचिंतन का परम रहस्य है। आत्मचिंतन से ही भगवान प्रसन्न होते है, समाज का कल्याण होता है, प्राणियो को सुख मिलता है। उन्होने आत्मज्ञान के प्रकाश मे सकेत किया मनाचे-श्लोक प्रमाण है

नभासारिखें रूप या राघवाचे।
मनी चिंतिता मूल तूटे भवाचे॥
तया पाहता देहवुद्धि उरेना।
सदा सर्वदा आर्त पोटी पुरेना॥

राम राघव का रूप आकाश के समान है। उनके रूप का चिंतन करते रहने से भव का जडोन्मूलन हो जाता है, ससार का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। देह भाव मिट जाता है। मन उन्ही को सदा देखना चाहता है, उसे कभी तृप्ति मिलती ही नही है। सन्त समर्थ ने रामभक्ति को ही परम गति स्वीकार किया।

सन्त समर्थ ने भगवान की भक्ति सुदृढ करने के लिये शास्त्रों को मथ कर तथा आत्मानुभूति का प्रश्रय लेकर 'दासवोध' 'मनाचेश्लोक' आदि के रूप में भागवत वाङ्मय, दिव्य अध्यात्म साहित्य प्रदान किया। उन्होंने गृहस्थ, सन्यासी, विरक्त और भक्त के लिये भक्ति का ही मार्ग उत्तम वताया। उन्होने स्पष्ट कहा कि धर्म भगवद्‌भक्ति से ही सुरक्षित रह सकता है, भक्ति ही आत्मा का धर्म है, इसलिये प्राणीमात्र के लिये भगवान ही –राम ही सेव्य है, उपास्य और आराध्य है। समर्थ रामदास का दासवोध भक्तिशास्त्र है, स्वराज्य का साहित्य है, आत्मा का भागवत काव्य है। दासवोध के अक्षर-अक्षर में परमात्मा की भक्ति अकित है। उसमें राष्ट्रीय जागरण के महामन्त्र की– स्वराज्य मन्त्र की व्याख्या सन्त वाणी में की गयी है। दासवोध मध्यकालीन सन्त-साहित्य के उज्ज्वलतम रूप के परिचायको में से एक है।

सन्त समर्थ रामदास ने राष्ट्रीय जागरण का मूलाधार परमात्मा के अन्वेषण में–सत्य के अनुसन्धान में स्थिर किया। उन्होने कहा. मनाचेश्लोक में उनका कथन है.

जगी पाहता साच ते काय आहे।
अती आदरे सत्य शोधूनि पाहे ।।
पुढें पाहता पाहता देव जोडे ।
भ्रम-भ्रान्ति अज्ञान हे सर्व मोडे।।

ससार में वडी सावधानी से सत्य की खोज करनी चाहिये। ऐसा करने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है, भ्रम-भ्रान्ति और अज्ञान का अन्त हो जाता है।

सन्त समर्थ के सहस्रो शिष्य थे। उनमें कल्याण स्वामी और उद्धव गोस्वामी प्रधान थे। कल्याण स्वामी प्राय उन्ही के साथ रहा करते थे। उनके वनाये लेख, भजन, तथा उपदेश लिपिवद्ध कर लिया करते थे। दत्त, अकावाई और वेनुवाई की गणना विशेप शिष्यो में ही होती है।

सन्त रामदास की ईश्वर में पूर्ण निष्ठा थी, उनकी शक्ति के सामने वे जगत का मस्तक नत देखना चाहते थे। एक दिन सज्जन गढ का किला वनवाते समय शिवाजी महाराज को अपनी शक्ति पर वडा अभिमान हुआ। उन्होंने सोचा कि मेरे द्वारा नित्य सहस्रो व्यक्तियों

का भरण-पोषण होता है । इतने में दैवयोग से रामदास जी महाराज आ पहुँचे। उन्होंने एक मजदूर से पत्थर का एक टुकडा तोडने का संकेत किया, उसके भीतर एक छोटा-सा मेढक था, थोडा-सा पानी था। महाराज ने शिवाजी से कहा कि आप बडे शक्तिशाली है, आपके सिवा जगत के जीवो का पालन-पोषण दूसरा कौन कर ही सकता है! शिवाजी को अपनी भूल समझ में आ गयी। वे गुरुदेव के चरणो पर गिर पडे। क्षमा मागी।

इसी प्रकार 'मनाचे श्लोक' की रचना के सम्बन्ध की एक घटना का उल्लेख सन्त समर्थ के जीवन-चरित्र का आवश्यक अग सा प्रतीत होता है। रामदास जी महाराज चाफल निवास-काल में प्रत्येक वर्ष रामनवमी का उत्सव धूम-धाम से करते थे। शिष्य भिक्षा माग कर उत्सव किया करते थे। शिवाजी महाराज ने बाद में उत्सव के लिये अपनी ओर से सामग्री भेजना आरम्भ किया। एक साल उनकी ओर से किसी कारण सामग्री समय पर न आ सकी। उत्सव में केवल पन्द्रह दिन रह गये थे। शिष्यो ने आग्रह किया कि शिवाजी के पास पत्र लिख कर सामग्री मगा ली जाय। महाराज ने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि भगवान सर्वसमर्थ है, वे सामग्री भेज देंगे। महाराज ने रात को कल्याण स्वामी को अपने पास बैठाकर दो सौ पाच श्लोक लिखा दिये, तप करने चले गये। दूसरे दिन कल्याण स्वामी की प्रेरणा से महाराज के शिष्यो ने घर-घर घूम कर उन श्लोको का गान किया। भिक्षा में अमित सामग्री की प्राप्ति हुई, उत्सव विधिपूर्वक महाराज के आने पर सम्पन्न हुआ। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि सन्त की वाणी में जो शक्ति है वह राजा की सत्ता में नाममात्र को नही है। इस प्रकार 'मनाचेश्लोक' की रचना कर सन्त समर्थ रामदास ने अपनी भगवन्निष्ठा की सत्यता चरितार्थ की। सन्त समर्थ का सम्पूर्ण जीवन वैराग्य और त्यागमय था।

सम्वत् १७३७ वि में उनके प्रिय शिष्य शिवाजी महाराज का स्वर्ग-वास हो गया। उनकी मृत्यु से समर्थ रामदास को वडा धक्का लगा। उन्होंने अन्न का त्याग कर दिया, केवल दूध पर रहने लगे। लोगो को दर्शन देना वन्द कर दिया। कभी मढी से वाहर नही निकलते थे। महा-

राष्ट्र पर औरंगजेब के उत्पात आरम्भ हो गये, शम्भाजी शक्तिहीन थे। ऐसी परस्थिति में समर्थ चिंता से विकल हो गये। सम्वत् १७३९ वि की माघ कृष्ण नवमी को उन्होने महाप्रयाण किया। उनके मुख से 'हर-हर' का उच्चारण होने के बाद रामनाम का जयघोष हुआ, उसके बाद उनके मुख से एक ज्योति निकल कर राम के विग्रह में समा गयी। अन्तिम समय सज्जनगढ में ही उपस्थित हुआ। शिष्यो ने उनके आदेश के अनुसार शरीर का दाह-सस्कार कर दिया। समर्थ ने अन्तिम समय में कहा था कि 'दासबोध' और 'आत्माराम' ग्रन्थ में मेरी आत्मा का निवास है उसी का पाठ करना चाहिये। वे समर्थ सन्त थे।

रचना

दासबोध, आत्माराम, मनाचे श्लोक, रामायण, पचमान, मानपचक पचीकरणयोग, करुणाष्टक आदि समर्थ रामदास की प्रसिद्ध रचनायें है।

वाणी

मना सज्जना भक्ति पयेंचि जावे। तरी श्रीहरी पाविजेतो स्वभावे।
जनी निंद्य ते सर्व सोडूनि द्यावे। जनी वद्य ते सर्वभावे करावे ॥

हे मन, तुम भक्तिमार्ग स्वीकार करो, इससे सुमगता से भगवान की प्राप्ति होगी। जन समाज में जो निन्दनीय है, उसका त्याग करो, जो वन्दनीय है, उसे ग्रहण करो। —मनाचे श्लोक

मना सर्वथा सत्य सोडू नको रे। मना सर्वथा मिथ्य माडू नको रे॥
मना सत्य ते सत्य वाचे वदावे। मना मिथ्य ते मिथ्य सोडूनि द्यावे॥

मन! सत्य का त्याग किसी भी स्थिति में मत करो, असत्य का पक्ष मत लो। वाणी से वही बोलो जो सत्य है, असत्य का, असत्य समझकर परित्याग करो। —मनाचे श्लोक

मुखी राम विश्राम तेयेंचि आहे। सदानद आनद सेऊनि राहे॥
तयावीण तो शीण सदेह कारी। निजधाम हे नाम शोकापहारी॥

जिसके मुखमें राम रहते है उसे उन्ही में विश्राम मिलता है। वह अखण्ड आनन्दस्वरूप आनन्द का भागी होता है। राम नाम के सिवा सबकुछ सशयजनक और थकावट देने वाला है। नाम दुखहारी परमात्मा का धाम है। —मनाचे श्लोक

हरी कीर्तनी प्रीति रामी धरावी । देहेबुद्धि निरूपणी वीसरावी ॥
परद्रव्य आणीक काता परावी । यदर्थी मना साडिजीवी करावी ॥

मन, भगवत्कीर्तन में राम का प्रेम धारण करना चाहिये । निरूपण करते समय देह का विस्मरण कर देना चाहिये। परस्त्री और परधन की कामना का परित्याग करना चाहिये।

—मनाचे श्लोक

मही निर्मिली देव तो ओलखावा । जया पाहता मोक्ष तत्काल जीवा ॥
तया निर्गुणालागि गूणी पहावे । परी सग सोडूनि सूखें रहावे ॥

जिन ईश्वर ने पृथ्वी का निर्माण किया उनको पहचानना चाहिये। उनकी पहचान होते ही जीव मुक्त हो जाता है। उन निर्गुण ईश्वर को सगुण रूप में देखना चाहिये और असग होकर आत्मानद में मग्न रहना चाहिये।

—मनाचे श्लोक

मना सग हा सर्व सगास तोडी । मना सग हा मोक्ष तत्काल जोडी ॥
मना सग हा साधका शीघ्र सोडी । मना सग हा द्वैत नि शेष मोडी ॥

हे मन, सत्सग से ससार की आसक्ति छूट जाती है। मोक्ष मिलता है। साधक भवसागर से पार उतर जाता है, सत्सग द्वैत भावना का समूल नाश करता है।

—मनाचे श्लोक

जिन लोगो के पास पूर्व जन्म की सचित की हुई यथेष्ट पुण्य-सामग्री होती है, वही लोग भगवान की भक्ति कर सकते हैं। जो जैसा करता है, वह वैसा फल पाता है।

—दासबोध

साधु का मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा अपने स्वरूप का अनुसधान करता रहता है और सब लोगो मे रहकर भी उनसे अलग रहता है। ज्यों ही उसकी दृष्टि स्वरूप पर पडती है, त्यो ही उसकी सासारिक चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं और अध्यात्म-निरूपण के प्रति ममता उत्पन्न होती है। —दासबोध

निराकार आत्मा ही शाश्वत तथा सत्य है। उस आत्मा का किसी को पता नही चलता है, और विना ज्ञान के उसका आकलन नही होता है। इसलिये उसके सम्बन्ध में सतो से पूछना चाहिये। —दासबोध

सन्त तुकाराम

एवं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्राश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूत प्रणमेदनन्यः॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीवजन्तु, दिशायें वृक्ष, नदी, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूतजात है, वे सब हरि के ही तो शरीर है, इसलिये सभी को अनन्य भाव से प्रेम करना चाहिये, प्रणाम करना चाहिये।

—(श्रीमद्भागवत ११।२।४१)

सन्त तुकाराम अभिनव नामदेव थे। विक्रम की सत्रहवी सदी के महाराष्ट्र ने एकनाथ, रामदास और तुकाराम के रूप में भारतीय इतिहास को परम पवित्र देन से समलंकृत किया है। तुकाराम महाराज ने अपनी वाणी से महाराष्ट्र में पण्ढरीनाथ पाण्डुरग विट्ठलेश्वर की भक्ति की गगा प्रवाहित कर दी। उन्होंने सन्त साहित्य की समृद्धि-वृद्धि में महान योग दिया।

जिस समय महाराष्ट्र में ही नही, समस्त भारत भूमि में परधर्मियों द्वारा देवमन्दिर विध्वस और नष्ट किये जा रहे थे, सस्कृति और धर्म पर बडी-से-बडी विपत्ति पड़ने की आशका थी, उस समय तुकाराम और रामदास ने जन्म लेकर भारतीय अध्यात्म क्षेत्र को, ज्ञानेश्वर नामदेव और एकनाथ के परम पवित्र महाराष्ट्र को, राजसिंह के चित्तौड और शिवाजी के सिंहगढ को तथा गोविन्दसिंह के पजाब को राष्ट्रीय चेतना से जागृत किया। तुकाराम महाराज की भगवद्भक्ति का केन्द्र पण्ढरपुर था, उन्होने विट्ठल की कृपा से आत्मज्योति प्राप्त की। विदेशियो के आतक से पीडित देश को आश्वासन प्रदान करने में मध्यकाल में सन्त शिरोमणि तुलसीदास, समर्थ सन्त रामदास और तुकाराम महाराज अग्रगण्य स्वीकार किये जा सकते है। तुकाराम जी महाराज ने साधा-

रण गृहस्थ के वेष में रह कर भी सन्त-जगत में जो नाम कमाया वह नितान्त मौलिक और अनुपम माना जा सकता है। उनके वैराग्यपूर्ण तपोमय जीवन की मराठी वाङ्मय के नाभादास सन्त महीपति ने मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। उनका काव्य भागवत प्रेम का पूर्ण प्रतीक है, वे रहस्यवादी सत थे, उनकी रचना में उच्चकोटि के रहस्यपरक साहित्य का दर्शन होता है। उन्होने मध्यकालीन धार्मिक जागृति का महाराष्ट्र में नेतृत्व किया। प्राणीमात्र को भगवान की भक्ति करने का अधिकार है—उन्होने ऐसी घोषणा कर शुद्ध भागवत धर्म का प्रचार किया, तत्कालीन सन्तो द्वारा प्रवर्तित इस प्रकार का धर्म भागवत धर्म कहलाता है, सन्तों ने अपने आत्मा के स्वर को भक्ति रस में सराबोर कर दिया। सत तुकाराम का भागवत धर्म सब जातियो के लिये था, उसमें वर्णाश्रम-विचार की ओर दृष्टिपात नही किया गया। समस्त वर्णों को भगवत्सेवा का अधिकार है – इस तथ्य को मान्यता दी गयी। तुकाराम ने अपने भागवत धर्म का मूल आधार भगवन्नाम सकीर्तन घोषित किया। उन्होने कहा

'पवित्र ते कुल पावन तो देश।
जेथें हरिचे दास जन्म घेती।।'

वह कुल पवित्र है, देश पावन है जिसमें हरि के दास उत्पन्न होते हैं। उन्होने अपने भागवतधर्म को निर्गुण और सगुण, ब्रह्मवेदान्त सवेद्य और भक्त द्वारा उपास्य भगवान के समन्वय से सरस बनाया। उन्होने कहा कि निर्गुण ब्रह्म की ही लीलारस के आस्वादन के लिये सगुण रूप में अभिव्यक्ति होती है। उन्होने आजीवन भगवान के मधुर नाम का कीर्तन किया।

आलन्दी से छ कोस की दूरी पर पूना के निकट भगवती इन्द्रायणी के तट पर परम पुनीत देहू ग्राम में सम्वत् १६६५ वि में एक भागवत कुल में तुकाराम जी महाराज का जन्म हुआ था। उनके पूर्वज वडे भगवद्भक्त थे, पाण्डुरग विट्ठल की उनके कुल पर वडी कृपा थी। उनके एक पूर्वज विश्वम्भर की भक्ति से प्रसन्न होकर विट्ठल ने देहू के निकट ही अम्बिकाव्रन में उन्हे अपनी उपस्थिति से धन्य किया था। तुकाराम के माता-पिता भी पाण्डुरग के वडे भक्त थे। उनके

पिता वोलोजी और माता कनकावाई दोनो वडे सन्तोप से गृहस्थी के कार्य में रत थे। तुकाराम जी के वडे भाई का नाम सावजी था, वे स्वभाव से ही विरक्त थे, विवाह होने के कुछ ही दिनो के वाद उन्होने वैराग्य ले लिया, छोटे भाई का नाम कान्हजी था। पिता वैश्य का काम करते थे। व्यापार से ही परिवार की जीविका चलती थी। पिता के काम में तुकाराम सहायता करते रहते थे।

जव तुकाराम तेरह साल के हुए, उनका विवाह रखुमाई नाम की कन्या से कर दिया गया पर यह जान कर कि उसे दमे का रोग है, पिता ने उनका दूसरा विवाह जिजावाई से कर दिया। गृहस्थी विधि पूर्वक चलने लगी। पिता वूढे हो चले थे इसलिये उन्होने कामकाज तुकाराम के हाथ में सौंप दिया। वडे भाई की काम में तनिक भी रुचि नही थी, पूरे परिवार के पालन-पोषण का भार तुकाराम जी के ही कन्धो पर आ पडा। थोडे समय के वाद पिता-माता का स्वर्ग वास हो गया। तुकाराम जी के वडे भाई सावजी की स्त्री का देहान्त हो गया। वे तीर्थयात्रा के लिये निकल गये। तुकाराम असहाय हो गये पर विट्ठल की कृपा से उन्होने साहस से काम लिया, अपने कर्तव्य में दृढ़ रहे।

भगवान जिन्हे अपनी भक्ति प्रदान करते हैं उनकी गृहस्थी पर चोट आती है, उन्हे अनेक कष्ट झेलने पडते हैं। तुकाराम जी महाराज को भी अनेक विघ्न-वाधाओ का सामना करना पडा पर उनकी विट्ठल-निष्ठा में किसी प्रकार की भी कमी न आ सकी। तुकाराम की दूकानदारी दिन-प्रति-दिन गिरने लगी। उन्होने धन कमाने की चेष्टा की पर सदा असफलता ही हाथ रही। गृहस्थी उनके लिये भयकर नरक के रूप में परिणत हो गयी। उनकी पहली स्त्री सुशील थी पर दूसरी तो रह-रह कर काट खाती थी। इस प्रकार गृह की अस्तव्यस्तता और पारिवारिक सकट तथा आर्थिक हानि में ही उनके दिन वीतने लगे। एक वार कुछ आत्मीयो और सम्वन्धियो की सहायता से कुछ रुपये लेकर मिर्चा खरीदकर कोंकण में वेचा, परन्तु ठगो ने रुपया ले लिया। वे इतने सरल थे कि लोगो के भुलावे में आसानी से आ जाते थे। कोंकण से घर लौटते समय महाराज को एक ठग ने

पीतल के कडे दिखाये, उन पर सोने का पानी चढाया गया था। महाराज ने सब रुपये उसे दे दिये, पीतल के कडे लेकर घर गये। इस प्रकार अभाग्य ने उनका पीछा किया पर वे कभी हतोत्साह न हुए, अग्नि-परीक्षा में सदा सफल ही होते रहे।

महाराज अमित क्षमाशील थे। एक वार घर में कुछ खाने को नही था। खेत में गन्ने थे। तुकाराम महाराज गन्ने का बोझ सिर पर रख कर घर आ रहे थे। रास्ते में मागने वालों ने गन्ने माँग लिये। केवल एक गन्ना लेकर घर आये। उनकी पत्नी भूखी थी। वह क्रोध से महाराज पर टूट पडी। उनकी पीठ की उसने उसी गन्ने से मरम्मत की। गन्ना टूट गया। महाराज ने तनिक भी क्रोध नही किया। केवल इतना ही कहा कि तुमने गन्ने के दो टुकडे कर मेरा काम हल्का कर दिया, नही तो तुम्हारे और अपने चूसने के लिये मुझे इसके टुकडे करने ही पडते।

महाराज का गृहस्थ जीवन उदार, सात्विक और दयापूर्ण था। एक वार उनकी पत्नी जिजाबाई ने व्यापार के लिये दो सो रुपयों का प्रवन्ध किया। महाराज ने नमक खरीद कर ढाई सौ रुपये पैदा किये पर वालीघाट से घर आते समय रास्ते में एक गरीब के मागने पर उन्होंने सहायतास्वरूप सारे रुपये दे डाले। उन दिनों भीषण अकाल पडा हुआ था, लोग दाने-दाने के लिये मर रहे थे। इस परिस्थिति में भी महाराज ने रुपयो का लोभ नही किया। इसी बीच में उनकी पहली पत्नी का स्वर्गवास हो गया, वेटा भी चल वसा पर महाराज तुकाराम भगवान के भरोसे दृढ रहे। वे सकट में अचल रहे ।

इस समय तुकाराम की अवस्था लगभग वीस साल की थी। महाराज के जीवन ने वैराग्य के निष्कटक राज्य में प्रवेश किया। उन्होंने तपस्या आरम्भ की, घरगृहस्थी के विनश्वर रूप के प्रति वे अनासक्त हो उठे। महाराज ने अपने पिता के जीवन-काल में लिखे गये रुपयो के रुक्के एकत्र किये, उनमें से आधे उन्होने अपने छोटे भाई को दे दिये और शेष इन्द्रायणी में प्रवाहित कर दिये। महाराज का मन घर पर नही लगता था इसलिये वे एकान्त-सेवन के लिये कभी भागनाथ तो कभी भण्डारा के पर्वत पर जाकर भगवान पाण्डुरग का स्मरण किया करते थे। उनकी पत्नी ठीक समय पर भोजन आदि की व्यवस्था कर दिया करती थी। महा-

राज ने स्वय अपने ही हाथ से अपने पूर्वज विश्वम्भर द्वारा निर्मित विट्ठल मन्दिर का जीर्णोद्धार किया, इस कार्य मे भगवत्प्रेरणा से उन्हे महादजी नामक एक सज्जन ने सहायता दी थी। महाराज आपाढ और कार्तिक की एकादशी को पण्ढरीनाथ के दर्शन के लिये पण्ढरपुर जाया करते थे। एकादशी व्रत और विट्ठल के मधुर नाम-उच्चारण में उनकी वडी निष्ठा थी। तप के फलस्वरूप भगवान की कृपा से उन्हे काव्य-स्फूर्ति प्राप्त हुई। इस घटना के सम्बन्ध मे एक उल्लेख है। महाराज को विट्ठल ने नामदेव को साथ लेकर स्वप्न में दर्शन दिया। भगवान ने आदेश दिया कि नामदेव ने मेरी स्तुति में असख्य पद रचे है, जो शेप रह गये हो उनकी पूर्ति तुम करो। तुकाराम ने भगवान के आदेश का पालन किया। तुकाराम ने अपने अभगो में वडी श्रद्धा से इस स्वप्न का विवरण दिया है। वडे-वडे सन्त महात्मा उनकी भागवत काव्य-शक्ति के चरणो पर नत हो गये। उनकी कीर्ति शरदपूर्णिमा के समान परम दिव्य हो उठी।

तुकाराम भगवान के अनन्य भक्त थे और पण्डरीनाथ विठोवा भी उनके प्रति विशेपरूप से अनुरक्त थे। उन्होने भगवान के आदेश के अनुसार अभगो की रचना अत्यन्त ललित मराठी-भापा में आरम्भ की, उनमें श्रुति का सार भरा रहता था, वैदिक रहस्य का माधुर्य विलास करता था। भक्ति पक्ष पर विशेप जोर था। ज्ञान और कर्म-काण्ड की महत्ता का नाममात्र विवरण भी उन अभगो में न था। पूना से नव मील की दूरी पर वाघोली ग्राम में रामेश्वर भट्ट नाम के एक शास्त्रज्ञ कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहते थे। उन्होने मराठी भापा में रचे गये अभगो की उपेक्षा की और कहा कि इस प्रकार की रचना से देववाणी और शास्त्रज्ञान का अपमान होता है। पर आश्चर्य तो यह था कि चारो वर्ण के लोग तुकाराम महाराज के अभगो को गाते-फिरते थे। रामेश्वर भट्ट के लिये यह वात असह्य थी। उन्होने देहू के राजा-धिकारी से प्रार्थना की कि तुकाराम का देहू से निष्कासन हो जाय। तुकाराम तो दैन्य की मूर्ति थे। वे रामेश्वर भट्ट से मिलने गये। उन्होने वडी विनम्रता से कहा कि महाराज मै तो विट्ठल की ही प्रेरणा से मराठी में अभगो की रचना करता हूँ पर यदि आप ऐसे

पीतल के कडे दिखाये, उन पर सोने का पानी चढाया
ने सब रुपये उसे दे दिये, पीतल के कडे लेकर घर
अभाग्य ने उनका पीछा किया पर वे कभी हतोत्सा
परीक्षा में सदा सफल ही होते रहे।

महाराज अमित क्षमाशील थे। एक बार घर में कु
था। खेत में गन्ने थे। तुकाराम महाराज गन्ने का बो
कर घर आ रहे थे। रास्ते में मागने वालो ने गन्ने म
एक गन्ना लेकर घर आये। उनकी पत्नी भूखी थी। वह
पर टूट पडी। उनकी पीठ की उसने उसी गन्ने से म
टूट गया। महाराज ने तनिक भी क्रोध नही किया।
कहा कि तुमने गन्ने के दो टुकडे कर मेरा काम हल्का
तो तुम्हारे और अपने चूसने के लिये मुझे इसके टुक

महाराज का गृहस्थ जीवन उदार, सात्विक और
वार उनकी पत्नी जिजाबाई ने व्यापार के लिये दौ सो
किया। महाराज ने नमक खरीद कर ढाई सौ रुप
बालीघाट से घर आते समय रास्ते में एक गरीब के
सहायतास्वरूप सारे रुपये दे डाले। उन दिनो भी
हुआ था, लोग दाने-दाने के लिये मर रहे थे। इस परिस्थि
ने रुपयों का लोभ नही किया। इसी बीच में उनकी
स्वर्गवास हो गया, बेटा भी चल बसा पर महाराज तु
भरोसे दृढ रहे। वे सकट में अचल रहे ।

इस समय तुकाराम की अवस्था लगभग बीस साल
जीवन ने वैराग्य के निष्कटक राज्य में प्रवेश किया। उन्होंने
घरगृहस्थी के विनश्वर रूप के प्रति वे अनासक्त हो उठे
पिता के जीवन-काल में लिखे गये रुपयो के रुक्के
से आधे उन्होने अपने छोटे भाई को दे दिये और
प्रवाहित कर दिये। महाराज का मन घर पर नही
वे एकान्त-सेवन के लिये कभी भागनाय तो क
पर जाकर भगवान पाण्डुरग का स्मरण किया कर
ठीक समय पर भोजन आदि की व्यवस्था कर दि

हरि का नाम हमारे परिवार के लिये लाभदायक नही सिद्ध हुआ। महाराज ने कहा कि हरि का नाम तो अमृत से भी वढ कर लाभदायक है। वे 'विट्ठल-विट्ठल' कह कर कीर्तन करने लगे। श्रोताओ ने भी जोर-जोर से कीर्तन करना आरम्भ किया। हरिनाम के प्रताप से वच्चा जी उठा। कीर्तन-मण्डली में प्रसन्नता छा गयी, चारो ओर तुकाराम की जयध्वनि सुन पडने लगी।

एक वार एक वेदान्ती ने महाराज को वेदान्तपरक नया रचा हुआ ग्रन्थ सुनाना चाहा, पहले तो महाराज ने वडी चेष्टा की कि किसी प्रकार पीछा छूटे पर अन्त में वेदान्ती ने पढना आरम्भ किया। महाराज ने सिर से पैर तक समस्त शरीर कम्वल से ढक लिया था। वे भगवान का स्मरण करने लगे। वेदान्ती को वडा आश्चर्य हुआ कि महाराज कुछ वोल ही नही रहे हैं। उसने कम्वल खीचा देखा कि महाराज दोनो कानों पर हाथ रख कर ध्यानस्थ है। महाराज ने कहा कि ब्रह्म-ज्ञान होना एक वात है और ब्रह्म की शक्ति को पाना दूसरी वात है, मनुष्य ब्रह्म-ज्ञानी हो सकता है पर वह ब्रह्म के समान शक्तिमान नही हो सकता है, इसलिये भक्ति का पथ ही वरणीय है। भगवान की भक्ति ही श्रेयस्कर है, उसी की प्राप्ति के लये ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान की कृपा से ही भक्ति मिलती है।

प्रभु अपने भक्तो के यश-विस्तार के लिये लीला किया करते हैं। एक वार की घटना है। तुकाराम महाराज उन दिनो कठिन तप कर रहे थे, उनकी पत्नी उनकी भक्ति से वश में हो गयी थी, वह महाराज की आज्ञा के अनुसार सारे कार्य करती थी। एक वार महाराज ने समझाया कि भगवान हम लोगो के योग-क्षेम का ध्यान रखते हैं, अपने पास जो कुछ भी हो, दीन-दुखियो की सेवा में लगा देना चाहिये। पत्नी ने सव कुछ व्राह्मणो और कगालो को दे दिया। पहनने के लिये एक साडी ही रह गयी थी। महाराज से एक व्राह्मणी ने साडी मागी, पत्नी उस समय स्नान कर रही थी, तुकाराम ने साडी दे दी। वाद में पत्नी को वडा दुख हुआ। उसने हाथ में पत्थर का एक टुकडा ले लिया, वह मन्दिर में गयी, भगवान के चरणो पर प्रहार करना चाहती थी, लीलापति थर-थर कापने लगे। भक्त की पत्नी का कोप

महान वेदज्ञ की सम्मति नही है तो मै रचना नही करूँगा पर इतना और बता दीजिये कि जो अभग अब तक रचे गये है उनके सम्बन्ध में क्या करूँ। भट्ट ने कहा कि इन्हे इन्द्रायणी की धारा में डुबा दीजिये, यदि भगवान की कृपा से ये तेरहवे दिन के वाद सुरक्षित मिल जायेंगे तो मै मान्यता प्रदान करूँगा। सन्त तुकाराम ने भट्ट की आज्ञा का पालन किया पर अभगो को इस प्रकार इन्द्रायणी में प्रवाहित कर देने पर उन्हे बडा दुख हुआ। वे मन्दिर के प्रमुख द्वार पर बिना अन्न जल ग्रहण किये पडे रहे। भगवान के भक्तों का विनाश असम्भव है, उनकी कीर्ति अमर और अटल है। पाण्डुरग ने देहू ग्राम के निवासियो को स्वप्न में आदेश दिया कि तुकाराम के अभग इन्द्रा-यणी के धरातल पर सुरक्षित है, उन्हे लाकर तुकाराम को दे दो। इधर तेरहवे दिन प्रभु ने वालरूप में तुकाराम को अपने दर्शन से धन्य किया और अभगो के सुरक्षित होने की बात बतायी। रामेश्वर तुकाराम के चरणो पर गिर पडे, महाराज ने प्रेम से उनका आलिगन किया, कहा कि मै शूद्र हूँ, मुझे अपने चरणो की धूलि लेने दीजिये। रामेश्वर भट्ट तुकाराम महाराज के शिष्य हो गये। उनकी एक स्थल पर उक्ति है

ऊँच नीच वर्णन म्हणावा कोणी। जेका नारायणी प्रिय झाले ॥
चहूवर्णासी हा असे अधिकार। करिता नमस्कार दोष नाही ॥

जो नारायण के प्रिय पात्र है उनके उत्तम-कनिष्ठ वर्ण के विचार का कुछ भी महत्व नही है। चारो वर्णों का यह अधिकार है, उन्हे नमस्कार करने में तनिक भी दोष नही है। रामेश्वर भट्ट की गणना महाराज के प्रधान शिष्यो में है।

महाराज के जीवन-चरित्र में अनेक विचित्र घटनाओ का उल्लेख पाया जाता है। एक वार वे एक मन्दिर में भगवन्नाम का कीर्तन कर रहे थे। एक ताम्रकार-ठठेर भी उनके कीर्तन में सम्मिलित हुआ। ठठेर की स्त्री ने उसे कीर्तन में जाने से रोका था। पर वह स्त्री की वात न मान सका। ठठेर का छोटा वच्चा इसी वीच में मर गया। उसकी पत्नी ने मृत वच्चे को कीर्तन के मध्य में रख दिया। उसने तुकाराम से कहा कि महाराज आप ने तो मेरा घर ही उजाड दिया,

हरि का नाम हमारे परिवार के लिये लाभदायक नही सिद्ध हुआ। महाराज ने कहा कि हरि का नाम तो अमृत से भी वढ कर लाभदायक है। वे 'विट्ठल-विट्ठल' कह कर कीर्तन करने लगे। श्रोताओ ने भी जोर-जोर से कीर्तन करना आरम्भ किया। हरिनाम के प्रताप से वच्चा जी उठा। कीर्तन-मण्डली में प्रसन्नता छा गयी, चारो ओर तुकाराम की जयध्वनि सुन पडने लगी।

एक वार एक वेदान्ती ने महाराज को वेदान्तपरक नया रचा हुआ ग्रन्थ सुनाना चाहा, पहले तो महाराज ने वडी चेष्टा की कि किसी प्रकार पीछा छूटे पर अन्त में वेदान्ती ने पढना आरम्भ किया। महाराज ने सिर से पैर तक समस्त शरीर कम्वल से ढक लिया था। वे भगवान का स्मरण करने लगे। वेदान्ती को वडा आश्चर्य हुआ कि महाराज कुछ वोल ही नही रहे हैं। उसने कम्वल खीचा देखा कि महाराज दोनो कानो पर हाथ रख कर ध्यानस्थ हैं। महाराज ने कहा कि व्रह्म-ज्ञान होना एक वात है और व्रह्म की शक्ति को पाना दूसरी वात है, मनुष्य व्रह्म-ज्ञानी हो सकता है पर वह व्रह्म के समान शक्तिमान नही हो सकता है, इसलिये भक्ति का पथ ही वरणीय है। भगवान की भक्ति ही श्रेयस्कर है, उसी की प्राप्ति के लये ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान की कृपा से ही भक्ति मिलती है।

प्रभु अपने भक्तो के यश-विस्तार के लिये लीला किया करते हैं। एक वार की घटना है। तुकाराम महाराज उन दिनो कठिन तप कर रहे थे, उनकी पत्नी उनकी भक्ति से वश में हो गयी थी, वह महाराज की आज्ञा के अनुसार सारे कार्य करती थी। एक वार महाराज ने समझाया कि भगवान हम लोगों के योग-क्षेम का ध्यान रखते हैं, अपने पास जो कुछ भी हो, दीन-दुखियो की सेवा में लगा देना चाहिये। पत्नी ने सव कुछ व्राह्मणो और कगालो को दे दिया। पहनने के लिये एक साडी ही रह गयी थी। महाराज से एक व्राह्मणी ने साड़ी मागी, पत्नी उस समय स्नान कर रही थी, तुकाराम ने साडी दे दी। वाद में पत्नी को वडा दुख हुआ। उसने हाथ में पत्थर का एक टुकडा ले लिया, वह मन्दिर में गयी, भगवान के चरणो पर प्रहार करना चाहती थी, लीलापति थर-थर कापने लगे। भक्त की पत्नी का कोप

देख कर रुक्मिणी ने कहा कि भाग चलिये। विट्ठल ने कहा कि मेरे भाग जाने से भक्ति की मर्यादा का लोप हो जायेगा, भक्त की साख मिट जायेगी। पत्नी ने यह घटना महाराज को सुनायी तो वे प्रभु से क्षमा मागने के लिये मन्दिर के द्वारपर पहुँच गये। पत्नी मन्दिर में चली गयी, मन्दिर के पट अपने आप बन्द हो गये, तुकाराम बाहर ही खडे रह गये, पश्चात्ताप करने लगे। इधर रुक्मिणी ने उनकी पत्नी को बहुत से रुपये दिये, पहनने का वस्त्र प्रदान किया। पट खुल गये। इस प्रकार विट्ठल देव ने तुकाराम महाराज की भक्ति और श्रद्धा का लीलापूर्वक रसास्वादन किया। भगवान सदा अपने भक्त का सरक्षण करते है।

शिवाजी उन दिनो स्वराज्य की सस्थापना में सलग्न थे, वे स्वधर्म और स्वराज्य का सरक्षण कर रहे थे। साधु-सन्तो में उनकी स्वाभाविक निष्ठा थी। तुकाराम जी महाराज से वे बहुत प्रभावित थे। वे उनका दर्शन करने के लिये लोहगाव भी गये थे। उन्होने महाराज को अपना गुरु बनाना चाहा पर सन्त तुकाराम ने समर्थ रामदास को गुरु बनाने की सम्मति दी। शिवाजी महाराज की बडी इच्छा थी कि एक बार महाराज उनकी राजसभा को अपनी उपस्थिति से पवित्र करे, उन्होने महाराज को ठाट-बाट से लाने के लिये बहुत से सैनिक अधिकारी भेजे, उपहार में अनेक कीमती वस्तुएँ भेजी पर महाराज ने किसी भी दशा में जाना स्वीकार नही किया। उन्होने शिवाजी को पत्र लिखा कि आप की राजसभा में उपस्थित होने में मेरा क्या लाभ है। भिक्षा और वस्त्र तो बहुत से मिल जायेंगे। शिलाखण्ड ही मेरा बिस्तरा है, आसमान मेरा ओढना है। यदि आप की राजसभा में मुझे सम्मान मिलेगा तो क्या इससे शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी। भिक्षुक होने में ही परमानन्द है, तपस्या और त्याग से बढकर कीमती वस्तु ससार में कुछ भी नही है। धनी तो वासनाओ के बन्धन में सदा दुखी रहते है। भगवान के भक्त राजाओ से कही अधिक भाग्यशाली होते है। आप असहायों की रक्षा कीजिये। सचराचर में परमात्मा का दर्शन कीजिये, समर्थ रामदास के चरण का आश्रय ग्रहण कीजिये, आप का जीवन पृथ्वी पर धन्य है तुकाराम ने बताया

'आम्ही तेणें सुखी । म्हणा विट्ठल विट्ठल मुखी ।
कठी मिरवा तुलसी । व्रत करा एकादशी ।।'

मुझे तो इसी में सुख है कि आप 'विट्ठल-विट्ठल कहिये, कठ में तुलसी की माला धारण कीजिये और एकादशी व्रत का पालन कीजिये। . एक बार पण्ढरपुर में सतो की बहुत बडी सभा हुई थी। देश के कोने-कोने से सन्तो और भक्तो का आगमन हुआ। सारा प्रवन्ध शिवाजी की ओर से था। शिवाजी इस सम्मेलन में स्वय उपस्थित थे। समर्थ रामदास और तुकाराम ने अपने कथा-कीर्तन से इस सम्मेलन को सफल बनाकर भगवद्भक्ति का सन्देश फैलाया।

एक बार एक मन्दिर मे तुकाराम महाराज हरिकीर्तन कर रहे थे। दैव योग से शिवाजी महाराज इस समारोह में उपस्थित थे। शत्रुओ को उनकी उपस्थिति का पता चल गया पर वे कीर्तन से न उठे, उनका पूरा-पूरा विश्वास था कि सन्त तुकाराम की कृपा तथा भगवान की प्रसन्नता से उनका बाल नही बाका होगा। तुकाराम महाराज के कीर्तन-अमृत का परित्याग कर नश्वर देह को बचाने के लिये भागना उन्होने उचित नही समझा। चाँदनी रात थी, हवा ठन्डी-ठन्डी चल रही थी। शत्रुओ को शिवाजी के ही रूपवाले सौ व्यक्ति दीख पडे। भगवत्प्रेरणा से शत्रु जगल की ओर भाग गये और कीर्तन अवाध गति से रात भर चलता रहा। महाराज ने कहा कि उसका जीवन पृथ्वी पर सफल है जो अपनी वाणी का उपयोग भगवान के कीर्तन-भजन में करता है

'तुका म्हणे वाणी। सुखे वेचा नारायणी।'

सन्त तुकाराम ने तत्कालीन महाराष्ट्र को ही नही सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र को आत्मदर्शन-भगवद्दर्शन प्रदान किया। वे भक्त सन्त थे।

सन्त तुकाराम का सबसे वडा काम यह था कि लोगो मे उन्होने भगवद्विश्वास की ज्योति फैलायी, सगुण और निर्गुण ब्रह्म के चिंतन का समन्वयात्मक रूप प्रदान किया। उन्होने गाव-गाव तथा नगर-नगर में घूम कर भगवन्नाम-सकीर्तन, भजन और हरिकथा का प्रचार किया। महाराज ने निर्मल ब्रह्म ज्ञान, शुद्ध भगवत्तत्व की खोज की। उन्होने प्रण किया था कि भिखारी भले ही हो जाऊँ पर पण्ढरी का वारकरी-भक्त वैष्णव वना रहूँगा। मुख में विट्ठल का नाम रहे, वस

यही मेरा नियम है, धर्म है। विट्ठल ही मेरे भगवान है। महाराज की उक्ति है

'पण्ढरीची वारी आहे माझे घरी। आणिक न करी तीर्थव्रत।।
व्रत एकादशी करीन उपवासी। गाईन अहर्निशी मुखी नाम।।'

पण्ढरी की यात्रा करने का नियम मेरे घर में चला आता है, मै वही करता हूँ, तीर्थव्रत मेरे लिये सब कुछ वही है। उपवासपूर्वक एकादशी व्रत करूँगा और रात-दिन मुख से भगवन्नाम का कीर्तन करूँगा। महाराज ने आजीवन इस उक्ति को जीवन में चरितार्थ किया।

तुकाराम की भगवद्भक्ति उच्च कोटि की थी। महाराज ने अपने ढग से भगवान के स्वरूप का चितन किया। वे एक बार पण्ढरपुर नही जा सके। उन्होने अभग रच कर भक्तो को दे दिये। देहू के वारकरियो ने भीमा में स्नान कर पाण्डुरग के सम्मुख कीर्तन करना आरम्भ किया। विट्ठल ने तुकाराम को पण्ढरी लाने के लिये गरुड भेजा पर महाराज ने भगवान के वाहन पर बैठ कर जाना अस्वीकार कर दिया। स्वय विट्ठल ने रुक्मिणी सहित महाराज को देहू में दर्शन दिया, उन्होंने मोरमुकुट, मकराकृत कुण्डल, पीताम्बर, कौस्तुभमणि, नूपुर आदि धारण किये थे। तुकाराम ने उनसे परम पद-अभय पद-भक्ति की ही याचना की। तुकाराम ने प्रेमस्वरूप भगवान की उपासना की। उनके भगवत्प्रेम का मूलाधार मानस-उपासना है। हृदय का उनके चरणो पर समर्पण ही उच्च कोटि की भक्ति है – महाराज की यह मान्यता थी। भगवान भक्ति और प्रेम से ही प्रसन्न होते है—ऐसा उनका अटल विश्वास था। वे भगवान की कृपा शक्ति पर ही सदा निर्भर रहते थे। तुकाराम ने कहा कि कीर्तन से शरीर पवित्र होता है, भगवत्प्रेम की प्राप्ति होती है। उन्होने कहा कि साधक में सद्भाव होना परम आवश्यक है, भगवान के सम्मुख भाव का ही बल चलता है। चित्त शुद्ध करके भावपूर्वक भगवान का भजन ही उच्च कोटि की साधना है। सन्त-चरण पर मस्तक नत करने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। महाराज ने एक अभग में कहा है.

'तो या दाखवील वाटा। जया पाहिजे त्या नीटा।
कृपावत मोठा। पाहिजे तो कलवला।।'

भगवान स्वय ही उचित और ठीक मार्ग दिखा देते हैं, वे दयालु हैं, हृदय में भाव होना चाहिये। महाराज ने अपनी विवशता के सम्बध में कहा कि इतनी आयु नही है कि समस्त ग्रन्थ पढ सकू। विठोवा सव कुछ करा लेगे। उनकी कृपा से जो ज्ञान प्राप्त होगा उसे हृदय में रख लूँगा।

महाराज ने स्पष्ट कहा कि मुझे आत्मस्थित ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता नही है। मै तो सदा भक्त ही की स्थिति में भक्तिरस का आस्वादन करना चाहता हूँ। मुझे तो गोपिकारमण भगवान श्यामसुदर के ही दर्शन की आवश्यकता है। तुकाराम महाराज ने एक अभग में भगवान से आत्मनिवेदन किया कि मेरी जाति हीन है पर सन्त जन मेरी स्तुति करते है। मेरा अभिमान वढ रहा है, मेरा जीवन व्यर्थ होना चाहता है, प्रभु मेरी रक्षा कीजिये, नही तो, मै कही का भी नही रह जाऊँगा। महाराज ने सगुण-निर्गुण ब्रह्म के समन्वय-माध्यम से कहा

'सगुण निर्गुण जयाची ही अगें।
तेचि आम्हा सगें क्रीडा करी।।'

सगुण-निर्गुण जिनके अग है वे ही नारायण हमारे साथ क्रीडा किया करते हैं। भगवान की कृपा से उनको निर्मल सच्चिदानन्द तत्व का वोध था।

महाराज ने सदा भगवत्तत्व की ही विवेचना की। जीवन को पूर्णरूप से भगवद्मय वनाना ही उनकी साधना का स्वरूप था। इस सम्वन्ध में उनके द्वारा रचे गये अभग भक्ति-जगत् और सत-साहित्य को वहुत वडी देन हैं। उनका समस्त आचरण भगवान के चरणो पर समर्पित था, भागवतधर्म—वैष्णवधर्म के विस्तार में निस्सन्देह महाराज ने अद्भुत योग दिया। उनके अभगो में प्रभु की कृपा और रूप-सौन्दर्य माधुर्य का पुष्कल वर्णन मिलता है।

महाराज की सन्त वचन और पुराणो में अमित आस्था थी। महाराज ने गुरु शिष्य के सम्वन्ध में एक अनोखी वात कही.

'गुरु शिष्य पण। हे तों अवम लक्षण।।
भूती नारायण खरा। आप तैसाचि दूसरा।।'

गुरु वनना और चेला वनाना अधमता है। भूतमात्र में नारायण है—यह बात सच है, इसलिये हमारे और दूसरे में क्या अन्तर है।

महाराज गृहस्थ सन्त थे। अन्त समय में उनके दो पुत्र महादेव और विठोवा तथा तीन कन्या काशी, भागीरथी और गगा उपस्थित थे। सम्वत् १७०६ वि की चैत कृष्ण द्वितीया को तुकाराम महाराज ने सदेह स्वर्ग की यात्रा की, मयूर कवि की वाणी है कि जिस प्रकार भगवान् राम सदेह स्वर्ग गये उसी प्रकार तुकाराम महाराज ने शरीर से ही वैकुण्ठ की यात्रा की। देहू में उनके अभगो की पूजा होती है। उनके वैकुण्ठ-गमन के वाद शिवाजी देहू आये थे, उन्होने चार गाव जागीर के रूप में उनके वशजो को प्रदान किये। सत तुकाराम सन्त कवि और महान भक्त थे।

रचना

तुकाराम ने अनेक अभगो की रचना की।

वाणी

कथा त्रिवेणी सगम। देव भक्त आणि नाम॥
तेथी चे उत्तम। चरण रज वन्दिता॥
जलती दोषा चे डोगर। शुद्ध होती नारी नर॥
गाती ऐकती सादर। जे पवित्र हरिकथा॥

हरि-कीर्तन में भगवान, भक्त और नाम का त्रिवेणी-सगम होता है। वहाँ की उत्तम पदरज वन्दनीय है। दोषो के पहाड जल जाते है, जो हरिकथा गाते और सुनते है वे नारी-नर पवित्र और शुद्ध हो जाते है।

× × ×

पण्डित तो भला। नित्य भजे जो विट्ठला॥
अवघें सम ब्रह्म पाहे। सर्वा भूती विट्ठल आहे॥

सच्चा पण्डित वह है जो नित्य विट्ठल का भजन करता है। देखता है कि सम्पूर्ण समब्रह्म है, चराचर में विट्ठल है।

धर्म भूताची ते दया। सत कारण ऐसिया।
नव्हे माझें मत। साक्षी करूनि सागे सत।।

प्राणी मात्र पर दया करना ही धर्म है। यह सन्त का लक्षण है, यह मेरा ही मत नही है, साक्षी करके सत ऐसा कहते है।

आधी होता सतसग। तुका झाला पाण्डुरग।।
त्याचे भजन राही ना। मूल स्वभाव जाइना।।

पहले सत्सग था, पीछे तुका पाण्डुरग हो गया, इस अवस्था में भी भजन नही छूटता है, मूल स्वभाव रहता ही है।

× × ×

वेद पुरुष नारायण। योगियाचे ब्रह्म शून्य।।
मुक्ता आत्मा परिपूर्ण। तुका म्हणे सगुण भोलया आम्हा।

वेदों के लिये जो नारायण पुरुष है, योगियो के शून्य ब्रह्म है, मुक्त के लिये परिपूर्ण आत्मा है, हमारे ऐसे भोले-भाले लोगो के लिये वे ही नारायण सगुण है।

ऐक रे जना। तुझ्या स्वहिताच्या खुणा।।
पण्ढरी चा राणा। मना माजी स्मरावा।।
सकल शास्त्राचे हे सार। हें वेदाचे गव्हर।
पाहता विचार। हाचि करिती पुराणें।।

हे जीव, सुनो। अपने हित की पहचान सुनो। पण्ढरी के राणा को मन में स्मरण करो। सब शास्त्रों का यही सार है, वेद का यही रहस्य है, पुराण का यही विचार है।

महात्मा तैलंग स्वामी

सन्त आनन्दाचें स्यल । सत सुखचि केवल ।।
नाना सतोषाचे मूल। तें हे सन्त ।।

सन्त आनन्द और सुख की निधि प्रदान करते हैं, वे सतोष के मूल अधिष्ठान होते हैं। —सन्त समर्थ रामदास

भारत भूमि परम पवित्र है, इसमें उतरने के लिये देवता तरसते रहते हैं। इस भूमि में समय-समय पर भगवान ने अनेक अवतारो में आत्मसृजन कर लीलारस का आस्वादन किया है। सन्त, परमहस, योगियो और अवधूतो ने इस भूमि को सदा गौरव प्रदान किया है। लगभग तीन सौ साल पहले की बात है, जब देश विदेशी प्रभुता से आक्रान्त था, महात्मा तैलग स्वामी ने पृथ्वी पर जन्म लेकर तत्वज्ञान के अनुसन्धान से, भगवत्तत्व की छानबीन से मानवीय चेतना को सम्पन्न कर दिव्य और समुत्थित किया था। वे बहुत बडे अवधूत, अप्रतिम तपस्वी, महान योगी और विलक्षण सन्त थे। लगातार तीन-तीन दिन तक गगाजी में खडे रहते थे, आकाश और पृथ्वी के मध्य मे निराधार स्थित रहते थे। विना प्रश्न किये ही वे लोगो के मन की बात जान लेते थे और उनकी जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती थी। महात्मा तैलग स्वामी के जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओ का उल्लेख मिलता है जो आस्तिकता की कडी कसौटी पर खरी उतरती है। निस्सन्देह वे आजीवन अनेक प्रकार की सिद्धियो पर शासन करते रहे। देखने में वे वडे रूपवान और सुदर थे, लोग सहज में ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाया करते थे। वे बहुत बडे आत्मज्ञानी थे, अपनी योग-साधना, तपस्या और अलौकिक सिद्धियो के प्रचार से वे बहुत दूर भागते थे। उनमें गम्भीरता और सरलता, महत्ता और विनम्रता तथा विरक्ति और लोकसेवा का बडा सुन्दर समन्वय था। वे अध्यात्मक्षेत्र की महती शक्तियों में से एक थे। दक्षिण भारत के विजना—विजियाना

जनपद में होलिया ग्राम में नृसिंहधर नाम के एक धनी भूमिपति रहते थे। वे ब्राह्मण थे। उनके घर मे किसी प्रकार के ऐश्वर्य और वैभव की कमी नहीं थी, उनका परिवार अत्यन्त समृद्ध और सुखी था। नृसिंहधर ने दो विवाह किये थे। उनकी पहली पत्नी का नाम विद्यावती था। विद्यावती मे सद्‌गुण भरे-पडे थे, वे स्वभाव से वडी सुशील, शिष्ट और सौम्य थी। वडी सीधी-सादी थी। भगवान और देवी-देवता में उनकी वडी निष्ठा थी पर सन्तान का अभाव उन्हे वहुत खटकता था। उन्होने पुत्र-प्राप्ति के लिये अनेक अनुष्ठान किये। उनके तपोपूर्ण जीवन के परिणामस्वरूप सम्वत् १६६४ वि के पौष मास में उन्हे एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने पुत्र का नाम तैलगधर रखा और वडे प्यार मे उनका पालन-पोषण किया। उनके पैदा होते ही घर में आनन्द का राज्य उतर आया। नृसिंहधर ने दीन-दुखियो और असहायो को मुँहमागा दान दिया, ब्राह्मणो को वडी-वडी दक्षिणा देकर प्रसन्न किया। तैलगधर की विमाता ने भी इसी वीच में एक पुत्र को जन्म दिया, उनका नाम श्रीधर था। नृसिंहधर की गृहस्थी ठाट-वाट से चल रही थी।

ज्यो-ज्यो तैलगधर अवस्था में वढने लगे त्यो-त्यो सती साध्वी मा के सम्पर्क में उनके हृदय में भगवान के प्रति प्रेम का उदय होने लगा, ससार के प्रति अनासक्ति वढने लगी। परिवार में उनका मन तनिक भी नही लगता था। वे एकान्त मे वैठ कर मा की सीख के अनुसार भगवान के स्वरूप का चिंतन किया करते थे। पिता ने घर के प्रति उदासीन होते देख कर उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा पर तैलगधर ने विवाह के प्रति अरुचि प्रकट की, उन्होने पिता से कहा कि आप जानवूझ कर मुझे नश्वर सम्वन्ध में क्यो जकडना चाहते है। मैं अविनाशी आत्मतत्व का इस जीवन में अनुसधान करना चाहता हूँ, आप का कर्तव्य है कि इस महत्वपूर्ण कार्य में मेरा योग दीजिये। नृसिंहधर पुत्र की वात से वहुत क्षुव्ध हुए। वे रात-दिन चिंता में विकल रहते थे। विद्यावती ने पति को समझाया कि वडे भाग्य से तैलगधर ऐसे पुत्ररत्न की हमें प्राप्त हुई है। यदि वे आत्मतत्व का अनुसधान करना चाहते है तो हमें इस पुनीत कार्य में उनका उत्साह वढाना चाहिये। यदि आप वश-वृद्धि के लिये चिंतित हो तो श्रीधर

का विवाह कर देना चाहिये। पिता ने विद्यावती की सम्मति से श्रीधर का विवाह कर दिया, परिवार में अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद मनाये गये। इस प्रकार विद्यावती के स्नेह से तैलगधर अध्यात्म-पथ में तेजी से गति करने लगे। मा विद्यावती पुत्र को सदा सुमार्ग पर चलने की सीख देती रहती थी, वे आदर्श माता थी।

कुछ दिनो के बाद नृसिहधर का स्वर्गवास हो गया। पिता के देहान्त से तैलगधर तनिक भी क्षुब्ध न हुए, उनके लिये तो जीवन-मरण दोनो समान थे, वे तो उनसे ऊपर उठे हुए थे। इस घटना के बाद उनके भगवच्चिंतन का क्रम बढ गया। दैवी गुणो से वे सम्पन्न हो गये। माता उन्हें मदालसा की तरह निर्मल ब्रह्मज्ञान का उपदेश देती थी। वे बहुत बडे मातृभक्त थे। पिता के देहान्त के बारह साल बाद विद्यावती ने भी देहत्याग कर दिया। पीजडे में बद्ध पक्षी अब एकदम स्वतन्त्र हो गया, मुक्त हो गया। उनके जीवन में वैराग्य परिव्याप्त हो उठा। वे माता के वियोग से बहुत दुखी हुए। जिस स्थान पर विद्यावती का दाहसस्कार हुआ था, उसी स्थान पर निवास कर उन्होने घोर तप करना आरम्भ किया। उन्होने सोचा कि वैराग्य की साधना करने का सर्वोत्तम स्थान श्मशान ही है, ससार की विनश्वरता का पूर्ण ज्ञान इसी स्थान पर प्राप्त हो सकता है। वे रात-दिन श्मशान में ही रहने लगे। घर जाना बन्द कर दिया। उनके भाई श्रीधर ने बडी चेष्टा की पर वे घर न लौट सके। श्रीधर सगे-सम्बन्धियो को लेकर उन्हे लौटाने गये। तैलगधर ने उन लोगों को समझा-बुझा कर आदरपूर्वक विदा किया, श्रीधर से कहा कि, भैया, मै पाप-ससार में नही जाऊँगा, मेरी इसी बात में प्रसन्नता है कि तुम पैतृक सम्पत्ति का बुद्धिमानी से उपभोग करो, समस्त परिवार का पालन करते हुए गृहस्थ धर्म में तत्पर रहो। श्रीधर ने तैलगधर के रहने के लिये श्मशान में ही एक अच्छी-सी कुटी बनवा दी। इस प्रकार तैलगधर अपने गाव में ही विरक्त की तरह रहने लगे। उन्होने बीस साल तक कठिन तप किया।

एक बार उनके आश्रम में पजाब प्रान्त के एक योगी आये। उनका नाम भगीरथ स्वामी था। वे अनुभवी योगी थे। कुछ दिनो तक तैलग-

घर ने उनका सत्सग किया, योगी के प्रति उनके मन में सात्विक श्रद्धा का उदय हुआ। वे उनके साथ तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। पुष्कर क्षेत्र में पहुँच कर उन्होने भगीरथ स्वामी को गुरु वनाया। दो साल के वाद उनके चोला छोडने पर योगानुभव प्राप्त करने के लिये उन्होने तीर्थयात्रा आरम्भ की। पहले वे रामेश्वर गये, उसके वाद सुदामापुरी आये, सुदामापुरी से तैलग स्वामी (गुरुदत्त नाम गणपति स्वामी) नैपाल आये। वे नैपाल के वन में तप करने लगे। एक दिन विचित्र घटना हुई। नैपाल-नरेश कुछ सैनिको के साथ वन में मृगया के लिये निकले थे। सेनाध्यक्ष ने एक वाघ का पीछा किया। थोडी ही दूर पर तैलग स्वामी का आश्रम था। वाघ प्राण वचाने के लिये उनके आश्रम पर पहुँच गया, तैलग स्वामी के चरण में उसने मस्तक टेक दिया, तैलग उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे, इतने ही में वाघ का पीछा करते हुए सेनाध्यक्ष आ पहुँचा, वह इस दृश्य को देख कर भयभीत हो उठा। तैलग स्वामी ने उसको वडे प्रेम से अपने पास वुलाया, अहिंसा का महत्व समझाया। थोडी ही देर में सेनाध्यक्ष नैपाल-नरेश के साथ दर्शन के लिये आया। नैपाल-नरेश ने स्वामीजी के चरणो पर पुष्कल द्रव्य चढाया, उन्होने प्रसन्नतापूर्वक लौटा दिया और राजा को समझाया कि जिसके पास भगवद्रत्न हैं उसे सासारिक घत्त की तनिक भी अपेक्षा नही है। नैपाल में योगानुभव प्राप्त करने के वाद तैलग स्वामी मानसरोवर गये। उसके वाद वे नर्मदा नदी के तट पर मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम में आकर तप करने लगे। इस स्थान पर दूर-दूर से साधु-महात्मा उनके दर्शन के लिये आने लगे। एकान्त-चिन्तन में वाधा उपस्थित होते देख कर उन्होने प्रयाग की ओर प्रयाण किया। प्रयाग में वे कुछ दिन निवास कर तप करने लगे। एक दिन उन्होने लोगो को एक अद्भुतघटना से आश्चर्य चकित कर दिया। वे गगा तट पर खडे थे। लोगो ने समझा कि उस पार जाने के लिये स्वामी जी नौका की प्रतीक्षा कर रहे है। इसी वीच में एक नौका मध्य धारा में प्रवेश कर रही थी, उस पर वहुत से यात्री वैठे हुए थे। आकाश में काली-काली घटा छा गयी, विजली चमकने लगी, पवन का वेग वढ गया। मूसलाधार वृष्टि होने लगी। महाराज ने

कहा कि नौका डूबने वाली है, यदि मैं नही बचाऊँगा तो अनेक लोगो के प्राण चले जायेंगे। लोगो के देखते ही देखते अदृश्य हो गये। नौका डूब गयी, थोडी देर में नौका किनारे लगी, लोग सुरक्षित थे, यात्रियो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होने नौका पर से एक नये व्यक्ति को उतरते देखा, वे तैलगस्वामी थे। इस प्रकार उन्होने अपने योगानुभव से लोगो को मुग्ध कर लिया। स्वामी जी प्रयाग से काशी चले आये।

काशी में असी घाट पर तुलसीदास के बाग में, वेदव्यास के आश्रम मे, तथा दशाश्वमेघ घाट पर क्रमश तप करते रहे। वे अवधूत के वेष में रहते थे। यदि कुछ भिक्षा मिल जाती थी तो प्रसन्न मन से खा लेते थे, नही तो समस्त समय भगवान के चिंतन में ही बीतता था। एक बार एक मजिस्ट्रेट ने हथकडी-बेडी पहनवा कर कैद मे डाल दिया, ताला बन्द था पर स्वामी जी बाहर टहल रहे थे। पूछने पर उन्होने कहा कि ताला से शरीर रोका थोडे ही जा सकता है, यदि ऐसा ही होता तो लोग मृत्यु उपस्थित होने पर शरीर को ताले में बन्द कर दिया करते। मजिस्ट्रेट ने स्वामी जी से क्षमा माँगी।

आर्य समाज के सस्थापक स्वामी दयानन्द का एक बार काशी में आगमन हुआ था। वे मूर्ति-पूजा और देवी-देवता की उपासना का खण्डन कर रहे थे। तैलग स्वामी योगी थे, परम ब्रह्मज्ञानी थे पर देवी-देवता की उपासना में उनकी आस्था थी। शिष्यो द्वारा मूर्ति पूजा के खण्डन की बात सुनने पर उन्होनें कागज के टुकडे पर कुछ लिखकर दयानन्द जी के पास भेज दिया। स्वामी दयानन्द ने पत्र पढ कर काशी से प्रस्थान किया। उसमें क्या लिखा हुआ था इसका पता न चल सका। आचरण की पवित्रता पर तैलग स्वामी बहुत जोर देते थे। तैलग स्वामी बडे क्षमाशील थे। एक बार एक कुटिल व्यक्ति ने दूध में अधिकमात्रा में अफीम घोल कर पिला दिया। स्वामी जी ने जानबूझ कर सारा-का-सारा दूध पी लिया और जल-त्याग के द्वारा विष का प्रकोप शान्त कर दिया। कुटिल व्यक्ति उनके चरणो पर गिर पडा। तैलग स्वामी ने उसे क्षमा प्रदान की।

काशी में निवास-काल का जीवन पूर्ण तपोमय था। उनके अन्तिम दिन काशी में ही बीते। दशाश्वमेघ से पचगगा घाट पर बिन्दमाधव

के निकट रहने लगे। उन्होने कठोर मौन व्रत ले रखा था। कभी-कभी शिष्यो द्वारा धर्म जिज्ञासा की वात चलाने पर वे वोल दिया करते थे। उन्होने आजीवन अनुभव किया कि ईश्वर से भिन्न ससार में कुछ भी नही है। वे उच्चकोटि के परमहस थे, उन्होने परमात्मा में सत्य-योग का अनुभव प्राप्त किया था। उन्होने कहा कि ससार मे भगवद्-भक्ति ही श्रेय है, ईश्वर को प्राप्त करने के लिये साधना और भक्ति, तपस्या और ज्ञान, वैराग्य और प्रेम की आवश्यकता है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर विद्यमान है, हृदय-चक्षु से उनका दर्शन हो सकता है। उन्होने जीवन के अन्तिम दिनो मे अयाचित वृत्ति का ही वरण किया था। शीत के दिनो में वे लगातर कई दिनो तक गगा जी में ही स्थित रहते थे, ग्रीष्म की दोपहरी में शिलाखण्डो पर सोते थे। वे लययोगी हठ योगी और ज्ञानयोगी सव कुछ थे। उन्होने आजीवन लोककल्याण किया, प्राणीमात्र की दु ख-निवृत्ति की ही ओर ध्यान दिया। उनका जीवन साधनसिद्ध था। परब्रह्म ही उनके उपास्य थे। जगत के सुख-दुख से सदा उदासीन रहते थे। जीवन्मुक्त महात्मा थे। उन्होने परमात्मा के निर्गुण भाव की अभिव्यक्ति के लिये सगुण अथवा प्रतीक उपासना का आश्रय लेने की सीख दी। सदा प्रेमोन्मत्त रहते थे।

चोला-त्याग के दो साल पहले पचगगा घाट पर अपने आश्रम मे शिवलिंग की स्थापना की। सम्वत् १९४४ वि की पौप मास की शुक्ला एकादशी को दौ सौ अस्सी वर्ष की आयु में उन्होने महाप्रयाण किया। उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उनके शरीर को एक सन्दूक में वन्द कर नौका के द्वारा असी होते हुए वरुणा में परिक्रमा करायी गयी। उसके वाद पचगगा घाट पर गगा में प्रवाहित कर दिया गया। तैलग स्वामी सिद्ध पुरुप थे, महायोगी और परमहस थे।

रचना

'महावाक्य रत्नावलि' तैलग स्वामी का प्रसिद्ध ग्रथ है।

वचन

हमारी चारो ओर, भीतर और वाहर जो नित्य निरवच्छिन्न भाव से विद्यमान है, जिनके सकेत मात्र से ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, चन्द्र

सूर्य, वायु और वरुणादि अपने-अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर है, जिनकी सत्ता से हम लोग जीवित हैं, जो चरणशून्य होकर भी सर्वत्र गमन करते हैं, कर्णहीन होकर भी मन की सारी बाते जान लेते हैं, नेत्रहीन होकर भी सारी बातो को प्रत्यक्ष देखते हैं, जो हमें देखते हैं पर जिन्हे हम नही देख पाते है, काम क्रोध लोभ, दुराशा, विषय वासना आदि जिनसे भयभीत हो जाते हैं, ज्ञान जिनके स्वरूप का निर्णय करने में अक्षम है, कल्पनातीत हैं, मन आत्मा जिनके निकट जाने पर तल्लीन हो जाते हैं, माया जिन्हें आवरित नही कर पाती है, वाक्य जिनकी व्याख्या नही कर सकते हैं, वे ही ईश्वर हैं।

यदि ईश्वर को जानने और पाने की इच्छा है, तो उपासना करना आवश्यक है, जिनमें यह इच्छा नही है उनके लिये उपासना भी आवश्यक नही है। ईश्वर किसी की प्रशसा के भूखे नही हैं, समस्त जीवो में वे समान रूप से दया करते हैं। उपासना अथवा आराधना उत्कोच नही है, यह तो ईश्वर का विशुद्ध शक्तिजाल है, आकर्षणयन्त्र है, जिस पथ का अवलम्बन कर ईश्वर को जानने की विवेचना की जाती है और जिससे वे जाने जाते हैं उसी का नाम उपासना है।

× × ×

यदि हम अपने आप को नही जान सकते हैं, तो ईश्वर को भी नही जान सकते हैं। जितने दिन तक हम अपने आप को नही जानते हैं उतने दिन तक चेष्टा करने पर भी ईश्वर को नहीं जान सकते हैं।' आत्मा सर्वगत होने पर भी सर्वत्र प्रकाशित नही है, वह तो केवल निर्मल वुद्धि में ही प्रकाशित होता है।

× × ×

धन, पुत्र, सुख, दुख, विषय सम्पत्ति आदि को अपना कहने पर जब इतना आह्लाद होता है तो भक्तिभाव से उनको, जिनका सारा ब्रह्माण्ड ही है, अपना कहने पर कितना आनद होता होगा।

सन्त दरिया साहब

आई गवनवां की सारी, उमिरि, अवहीं मोरी वारी ॥
साज समाज पियां लै आये, और कहरिया चारी।
बम्हना वेदरदी अँचरा पकरि कै, जोरत गठिया हमारी ॥
सखी सव पारत गारी ॥
विधि गति वाम कछु समझ परतना, वैरी भई महतारी।
रोय रोय अखिया मोर पोछत, घरवा से देत निकारी ॥
भई सव को हम भारी ॥
गवन कराय पिया लै चाले, इत उत वाट निहारी।
छूटत गाव नगर से नाता, छूटै महल अटारी ॥
करम गति टरै न टारी ॥
नदिया किनारे वलम मोररसिया, दीन्ह घुघट पट टारी।
थरथराय तन कापन लागे, काहू न देखि हमारी ॥
पिया लै आये गोहारी ॥
कहै कवीर सुनो भाई साधो, यह पद लेहु विचारो।
अव के गौना वहुरि नहि औना, करिले भेंट अंकवारी ॥
एक बेर मिलि ले प्यारी ॥

—सन्त कवीर

सन्त दरिया साहव वडे अनुभवी सन्त थे। वे कवीर की ज्ञान-धारा से विशेष रूप से प्रभावित थे। सत कवीर की ही तरह उन्होंने निर्गुण, निरञ्जन, प्रियतम का चिंतन किया। सन्त दरिया साहव के जीवन-काल में भारत की केन्द्रीय राजसत्ता विशृखल हो रही थी। औरगजेव की कट्टर धार्मिक नीति और उदारतारहित शासन प्रणाली से मुगल राजसत्ता को वहुत वडा धक्का लगा था। बगाल और विहार के प्रान्तो में अग्रेजी कम्पनी का षड्यन्त्र सफल हो चुका था। प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला घर के ही फूट के कारण हार गये थे, उनके

उत्तराधिकारी मीर जाफर अंग्रेजो के किराये के टट्टू थे। मीरजाफर की कायरता से बगाल और बिहार में अराजकता का बोल बाला था। मीर जाफर के बाद नवाब मीर कासिम ने अंग्रेजो को बाहर निकालने की बडी चेष्टा की। ऐसे विचित्र राजनैतिक वातावरण में बिहार में दरिया साहब ने बडी शान्ति और उदारता से सन्त मत का विस्तार किया, लोगो को सत्य-चिंतन से प्रभावित कर परमात्मा का प्रेमी बनाया। विक्रम की अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी के द्वितीय चरण में वे बिहार के सन्त साहित्य के क्षेत्र में बहुत बडी आध्यात्मिक शक्ति थे। उन्होने आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश में समाजको नवनिर्माण का सन्देश दिया।

सन्त दरिया के पूर्वज उज्जैन के क्षत्रिय थे। वे किसी राजनैतिक कारण से मालवा से बिहार चले आये। बिहार के जगदीशपुर राज्य में वे बस गये। दरिया साहब के पिता का नाम पृथुदव सिंह था। ऐसा कहा जाता है कि अपने भाई का प्राण बचाने के लिये उन्होने औरगजेब की एक बेगम की दरजिनकी कन्या से विवाह कर इस्लाम मत स्वीकार किया था, उनका नाम पीरनशाह हो गया। दरिया साहब की माता का ईश्वर में बडा अनुराग था।

बिहार प्रान्त के आरा जनपद में धरकन्धा गाव में सम्वत् १६९१ वि की कार्तिक पूर्णिमा को दरिया साहब ने जन्म लिया था। उनके जन्म का सम्वत् १७३१ वि भी कहा जाता है। उनके जन्म से घर के लोग तथा गाव वाले बहुत आनन्दित हुए।

दरिया साहब के जन्म के एक मास के बाद एक विचित्र घटना हुई। वे एक दिन अपनी मा की गोद मे विराजमान थे। उसी समय एक अलौकिक पुरुष सत्गुरु ने उनको दर्शन दिया और उनका नाम दरियाशाह अथवा दरियादास रखा। दरिया को कबीर का अवतार माना जाता है।

जब दरिया नव साल के थे तभी उनका विवाह कर दिया गया। दरिया सदा एकान्त में बैठ कर आत्मा-परमात्मा का चिंतन किया करते थे। ससार के पदार्थों के प्रति उनके मन में स्वाभाविक रूप से घृणा थी। विवाहित जीवन उनके लिये सुख कर नही सिद्ध हुआ।

सन्तो के सत्सग और आध्यात्मिक प्यास से उन्होनें विवाहित होने पर भी पन्द्रह साल की अवस्था में वैराग्य ले लिया। पाँच साल के वाद उनमें महान सन्त होने के सम्पूर्ण लक्षण दीख पडे। उनकी प्रसिद्धि से आकृप्ट होकर वडे-वडे सन्त-महातमा उनके सत्सग मे सम्मिलित होने लगे। तीस साल की अवस्था में उन्होने गद्दी पर वैठ कर सन्तो, साधुओं तथा शिष्यो को आध्यात्मिक उपदेश देना आरम्भ कर दिया। दिन-प्रति-दिन उनकी साधना सिद्धि की ओर वढती गयी। वे अपने सीधे-सादे जीवन्न में जो कुछ भी अनुभव करते थे उसे पदो और साखियो मे व्यक्त करते थे। धीरे-धीरे शिष्यो की सख्या वढने लगी। विहार के सूवेदार नवाव मीर कासिम दरिया साहव से वहुत प्रभावित थे। वे स्वदेश प्रेमी शासक थे। उन्होने दरिया-साहव को धरकन्धा में ही १०१ बीघा जमीन दी। धरकन्धा दरिया साहव का ननिहाल था। वे आजीवन धरकन्धा मे ही रह कर साधना और तपस्या करते रहे। सवसे वडे आश्चर्य की वात तो यह है कि आजीवन गृहस्थ रह कर भी सन्त दरिया ने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया। उनके धर्म-पुत्र का नाम टेकदास था।

कभी-कभी दरिया साहव तीर्थयात्रा भी किया करते थे। सन्तो की तपोभूमि का दर्शन ही उनके लिये तीर्थयात्रा का फल था। मगहर, काशी, वाईसी (गाजीपुर) आदि पवित्र क्षेत्रो में जाकर वे सत्सग करते तथा लोगो को भगवान के भजन का मार्ग वता कर ससार की नश्वरता का रूप समझाते थे।

सत दरिया साहव पर सत्तनामी सम्प्रदाय, कवीर पन्थ और सूफी साधना का वहुत प्रभाव पडा था। कवीर में उनकी वडी आस्था थी। उन्होने एक स्थल पर कहा है कि कवीर दास ने जो कुछ भी कहा है उसी के अनुसार जीवन वना कर मैंने, आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किया है। उनकी उक्ति है कवीर के प्रति आभार-प्रदर्शन है

'सोइ कहो जो कहहि कवीरा
दरियादास पद पायो हीरा।'

कवीर का अन्तिम ध्येय सत्तलोक था, दरिया साहव ने उसे छप लोक के रूप में व्यक्त किया है। सत्तलोक और 'छप लोक' में तनिक

भी अन्तर नही है। दरिया साहब ने उसका नाम अमरपुर अथवा अभय [लोक भी कहा है, उनकी उक्ति है कि तीन लोक के ऊपर अभय लोक है, उसमें सदा, नित्य, निरन्तर 'सत्तपुरुष' का निवास है। दरिया साहब का 'छपलोक' परम गुह्यतम ब्रह्मपद है। वह रहस्य लोक अथवा परम दिव्य, चिन्मय ब्राह्मी स्थिति है। उस लोक मे पहुँच कर ब्रह्मानन्द-अमृत का पान करने पर युग-युग, जन्म जन्म की भूख शान्त हो जाती है, जीव भगवान के परमानन्द. लोक में– छप लोक में पहुँच कर चिर तृप्त हो जाता है– दरिया साहब की ऐसी मान्यता दीख पड़ती है। छप लोक की प्राप्ति ही दरिया साहब के मत से साधना का अन्त है– सिद्धि है। उनका कथन है

'अति सुख पावहि हसा, करहि को ताहल जाय।
छप लोक अमृत पिये, जुग-जुग छुधा बुताय॥'

ब्रह्म की प्राप्ति जीव में ही सुलभ है, सत दरिया ने सीख दी कि ब्रह्म पद का अनुसन्धान जीव में ही करना चाहिये। 'खोजो जीव, ब्रह्म मिलि जाई'– में उनका अटल विश्वास था। दरिया साहब ने सन्तमत के अनुसार अनुभव किया कि सत्तपुरुष अभय लोक में हैं, जीव बार-बार शरीर पाता है। उन्होने अपने 'ज्ञान स्वरोदय' ग्रन्थ मे कहा है कि मै अभय लोक से आया हूँ। साहब ही मेरे सत्गुरु है। उन्होने कहा कि जिस पद की खोज कबीर साहब ने की उसी का अनुसधान करना हमारा कर्तव्य है, मैं सोच-विचार कर कहता हूँ सारे जीवमात्र साहब-परमात्मा के ही अश हैं, परमात्मा की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग निर्मल प्रेम है, साहब प्रेमसिद्ध हैं। दरिया का कथन है कि हे परमात्मा, आप मेरे स्वामी हैं, मैं आप का दास हूँ, मेरा चित्त आप के चरण कमल की ही सेवा में स्वस्थ रहता है, मै निरन्तर आप का नाम-स्मरण करता हूँ। सत दरिया की वाणी है

'हस नाम अमृत नहिं चाखेव, नहिं पाये पैसार।
कह दरिया जग अरुझेव, इकनाम विना ससार॥'

उन्होने कहा कि ससार में ब्रह्म की ज्योति की अभिव्यक्ति होती है, वह समस्त दुष्टदल का नाश करती है, परमात्मा परम ज्योतिमय

हैं। प्रेमतत्वज्ञ ही उनकी अपार ज्योति का वर्णन कर सकता है: दरिया का कथन है.

'सोभा अगम अपार, हस वस सुख पावही।
कोई ज्ञानी करै विचार, प्रेमतत्त जाके वसे॥'

परमात्मा को सत दरिया ने प्रेमसाध्य वतलाया, उनके भगवच्चिन्तन का मूलाधार प्रेमसाधना है। सत दरिया ने सत-साहित्य की समृद्धि-वृद्धि मे वडा योग दिया। हिंदी और फारसी का उन्हे अच्छा ज्ञान था।

दरिया साहव के प्रधान शिष्य छत्तीस थे। उनकी चार गद्दी वहुत प्रसिद्ध हैं, वे तेलपा, दशी, मिरजापुर (छपरा), और मनुवा चौकी (मुजफ्फरपुर) में हैं। दरिया-पथ का प्रत्येक साधु तम्वाकू पीने का हुक्का और पानी पीने का भरूका-पात्र रखता है, दोनो मिट्टी, के वने होते है, हुक्का 'रखना' कहलाता है। दरियासाहव के अनुयायी सख्या में अधिक हैं।

सम्वत् १८३७ वि की भाद्र कृष्ण चौथ को उन्होने चोला छोडा। दरिया-सागर में उल्लेख है

'भादो वदी चौथ वार शुक, गवन कियो छपलोक।
जो जन सव्द विवेकिया, मेटेउ सकल सव शोक॥
सवत अठारह सौ सैंतीस, भादो चौथ अधार।
सवा जाम जव रैनिगो, दरिया गौन विचार॥'

अमय लोक मे गमन करने के पहले ही उन्होने गुणीदास को अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी घोपित कर दिया था। सत दरिया साहव आजीवन गृहस्थ वेप में ही रहे। उनकी वाणी अनुभूतिमूलक है, वे पहुँचे हुए सन्त थे।

रचना

दरिया साहव ने ज्ञान स्वरोदय, प्रेममूल, दरियासागर, भक्तिहेत, ज्ञानरत्न, विवेकसागर, ज्ञान दीपक, व्रह्मविवेक, दरियानामा, ज्ञान मूल, निर्भय ज्ञान, अमरसार, वीजक, सतसई तथा कालचरित्र आदि ग्रथो की रचना की।

वाणी

सत्त नाम निजुसार है, सन्त्रहिं करो विचार।
जो 'दरिया' गुरु गहि रहै तो मिलै शब्द निजुसार॥

'दरिया' भवजलअगम है, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हस चढाइ कै, जाइ करहु, सुखराज॥
मात-पिता-सुत-बधवा, सब मिलि करै पुकार।
अकेल हस चलि जात है, कोइ नहि सग तोहार॥
कह 'दरिया' एक नाम है, मिरथा यह ससार।
प्रेम-भगति जब ऊपजै, उतरि जाय भवपार॥
कोठा महल अटारिया, सुनेउ स्रवन बहुराग।
सतगुरु सब्द चीन्हे बिना, ज्यो पछिन महँ काग॥
बुध जन, चलहु अगम पथ भारी।
तुमते कहौं समुझ जो आवै, अबरि के बार सम्हारी॥
काट कूस पाहन नही तहवाँ, नाहि विटप वन झारी।
वेद कितेब पण्डित नहि तहवाँ, बिनु मसि अक सवारी॥
नहि तहँ सरिता समुद न गगा, ग्यान के गमि उँजियारी।
नहि तहँ गनपति फनपति ब्रह्मा, नहि तह सृष्टि सवारी॥
सरग पताल मृत लोक के बाहर, तहवा पुरुष भुवारी।
कहै 'दरिया' तहँ दरसन सत है, सतन लेहु विचारी॥
मैं कुलवन्ती खसमपियारी, जाँचत तूलै दीपक बारी।
गध-सुगध थारिभरि लीना, चन्दन चरचित आरति कीन्हा।
फूलन सेज सुगध विछायो आपन पिया पलग पौढायो।
सेवत चरन रैनि गइ बीती, प्रेम प्रीति तुमही सो रीती।
कह 'दरिया' ऐसो चितलागा, भई सुलछनि प्रेम अनुरागा।
विहगम, कौन दिसा उडि जैहौ।
नाम बिहना सो परहीना, भरमि भरमि भौ रहि हौ॥
गुरु निन्दक वडे सत के द्रोही, निन्दे जनम गवैहौ।
परदारा परसग परस्पर कहहु कौन गुन लहिहौ॥
मद पी माति मदन तन व्यापेउ, अमृत तजि विष खैहौ।
समुझहु नहि वा दिन की वाते, पल पल घात लगैहौ॥
चरन कँवल विनु सो नर बूडेउ, उभि चुभि थाहन पैहौ।
कहै 'दरिया' सतनाम भजन विनु, रोइ रोइ जनम गवैहौ॥

महात्मा धरनीदास

देह गेह में नेह निवारे दीजिये,
राजी जासे राम, काम सोइ कीजिये।
रह्या न वेसो कोय रक अरु राव रे!
कर ले अपना काज, बन्या हद दाव रे॥

—सन्त वाजिन्द॥

राम-रस का आस्वादन वे ही करते हैं जो वडे भाग्यशाली होते हैं। राम के नाम में प्रेम हो जाना वडे सौभाग्य की वात है। राम-नाम का मर्म विरले सत ही समझते हैं और उसे समझ लेने के वाद ससार और ससार के नश्वर पदार्थों तथा स्वार्थी व्यक्तियो के प्रति घृणा हो जाती है, अनासक्ति और वैराग्य का उदय होता है। वावा धरनीदास जी महाराज रामनाम के प्रेमी महात्मा थे। उन्होंने राम-रस का मर्म समझ लेने पर, घट-घट व्यापी निरञ्जन ब्रह्म—आत्माराम परमेश्वर का ज्ञान-साक्षात्कार कर लेने पर ससार के वडे-से-वडे प्रलोभन का परित्याग कर परमानन्द सागर में गोता लगाया।

सन्त धरनी दास का प्राकट्य औरगजेव वादशाह के शासन-काल में हुआ था। उस समय शाहजहाँ के पुत्रो में दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के लिये युद्ध हो रहा था। राजनैतिक परिस्थिति अस्थिर थी। ऐसा कथन मिलता है.

'कविरा पुनि धरनी भयो
शाहजहाँ के राज।'

इसका आशय यह है कि शाहजहाँ और औरगजेव के शासन काल में महात्मा धरनी दास ने तपस्या और साधना कर सन्त कवीर के वताये रास्ते पर चल कर समाज को रामनामामृत और आत्मसम्पत्ति अथवा सत्य की सत्ता से परिचित कराया। वे आत्मदर्शी, सत्यप्रेमी

और निर्गुणवादी महात्मा थे। उनकी रचनाओ में भगवत्प्रेम तत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, उन्होंने जो कुछ भी कहा है उसको पहले अनुभव और साधना की कसौटी पर कस लिया है।

बिहार प्रान्त के छपरा जनपद में भगवती सरयूनदी के उत्तर तट पर विक्रम की सत्रहवी सदी के चौथे चरण में श्रीवास्तव कायस्थ कुल में माँझी नामक गाँव में धरनी दास का जन्म हुआ था। धरनीदास के परदादा का नाम टिकइतराय या टिकइतदास था। ऐसा कहा जाता है कि इतिहास प्रसिद्ध टिकइतराय ही मुसलमानी आक्रमण से भयभीत होकर माझी में आकर बस गये थे। धरनी दास के पिता परशुराम दास की माँझी के राजा के यहाँ अच्छी पहुँच थी। माँझी के राजा उनको बहुत मानते थे। धरनीदास का कुल अत्यन्त प्रतिष्ठित था। उनकी शिक्षा-दिक्षा की व्यवस्था उचित ढग की थी। इधर उनकी माता विरमा देवी के कोमल और धार्मिक स्वभाव ने धरनी दास की उन्नति मे बडा योग दिया। धरनी दास बचपन से ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे पर वे इतने सीधे-सादे और छिपे हुए थे कि देखने वालो के मन मे यह बात बैठती ही न थी कि वे एक सिद्ध सन्त के रूप में लोक-कल्याण करेगे तथा असख्य जीवो को भवसागर से पार उतारने में सहायक होगे। परशुराम दास ने उनको माँझी के जमीदार के यहाँ दीवान पद पर नियुक्त करा दिया। धरनीदास ने बडी योग्यता से दीवान का काम सम्हाला, माँझी के राजा उनका बडा विश्वास करते थे, सारा कार्य उनके हाथ में सौंप कर निश्चित हो गये। धरनीदास की आध्यात्मिक साधना निरन्तर तेजी से आगे बढ रही थी। यथासमय चकिया ग्राम में एक प्रतिष्ठित कायस्थ कुल की कन्या से उनका विवाह कर दिया गया, उनकी गृहस्थी सुख और शान्ति से चलने लगी। आन्तरिक वैराग्य और ईश्वर-चिंतन से प्रति दिन उनका गाम्भीर्य बढता गया, आध्यात्मिक ज्योति प्रस्फुटित होती गयी।

सम्वत् १७१३ वि में उनके पिता का देहात हुआ। यह वर्ष धरनी दास के लिये अत्यन्त कल्याणप्रद सिद्ध हुआ। इसी साल उन्होंने पूर्ण वैराग्य का वरण किया, सासारिक प्रपचो और नश्वर सम्बन्धो से नाता तोड कर राम के चरणो में आत्मार्पण कर दिया। एक दिन वे

माँझी के राजा के कार्यालय मे बैठ कर खाता-बही लिख रहे थे। इतने में वे ध्यानमग्न हो गये। समीप ही जल से भरा एक लोटा रखा हुआ था। उन्होने लोटे का जल वही पर उढेल दिया। लोगो ने कारण पूछा तो मौन हो गये। राजा ने इस दृश्य को देख कर उनको पागल बताया। धरनीदास ने रहस्य प्रकट कर दिया कि आरती के समय जगन्नाथ जी के वस्त्र में आग लग गयी थी, इसलिये लोटे का पानी उढेल कर मैंने आग बुझा दी। जगन्नाथ पुरी में घटना का पता लगाने के लिये राजा ने अपने आदमी भेजे, बात ठीक निकली। पुजारी ने बताया कि इस प्रकार के रूप वाले एक व्यक्ति ने आग बुझायी है। राजा को इसका पता चलने पर बडा पश्चात्ताप हुआ, वे महात्मा धरनी दास के चरणो पर गिर पडे, क्षमा माँगी, उनको प्रसन्न करने के लिये जमीदारी देनी चाही पर धरनीदास ने स्वीकार नही की, उन्होने राजा का कार्य छोड दिया, दीवान-पद से त्यागपत्र दे दिया, समझाने पर कहा

'लिखनी नाहिं करूँ रे भाई,
मोहि राम-नाम-सुधि आई।'

ठीक ही है, राम-नाम का स्मरण होने पर ससार का हिसाब भूल जाता है, मन वैराग्य के मानसरोवर में स्नान कर राम-नाम के अमृत का आस्वादन करने लगता है। धरनी दास इस घटना से प्रभावित होकर क्षणमात्र में अपने प्रियतम राम के लिये आकुल हो उठे। उनकी वाणी ने कहा

'कन्त दरस विनु बावरी।
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की, मूरुख जानै आवरी।
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि, विसरि गयो चितचावरी।
भोजन भवन सिंगार न भावै, कुल करतूति अभाव री।
खिन-खिन उठि-उठि पथ निहारो, बारबार पछितावेंरी।
नैनन अजन नीद न लागै, लागै दिवस विभावरी।
देहदसा कछु कहत न आवै, जस जल ओछेनावरी।'
'धरनी' धनी अजहुँ पिय पाओ, तौ सहजै अनन्द बधावरी।

उन्हे पूर्ण वैराग्य हो गया। वे घर से थोडी ही दूर पर एक झोपडी

में निवास कर तप करने लगे। 'सत्त गुरु' परमात्मा के चरण-चिंतन में उनका मन लग गया। गृहस्थी की याद मिट गयी, वे हस की तरह निर्मल हो गये। प्रेम-गगन में स्वच्छन्द होकर उड़ने लगे। गृहस्थाश्रम में उन्होने चन्द्रदास साधु से मन्त्र लिया था पर वैराग्य-वेष धारण करने पर धरनीदास ने सेवानन्द को गुरु बनाया, उनसे दीक्षा ली। उनके गुरु का नाम विनोदानन्द भी बताया जाता है। उन्होने अपनी गुरु-प्रणाली में स्वामी रामानन्द का आदि गुरु के रूप में स्मरण किया है विनोदानन्द से दीक्षा लेने के बाद वे मॉझी में ही नियमपूर्वक साधना करने लगे। उनका गगा-स्नान का नित्य का नियम था। मॉझी से छ मील की दूरी पर ब्रह्म पुर में वे गगा-स्नान करने जाया करते थे। वे सदा मन को समझाते रहते थे कि हे मन ! तुम समस्त प्रपचो का त्याग कर हरि का भजन करो। विमल वैराग्य धारण कर परमात्मा के अनुरागी बन जाओ। उन्होने कहा है कि कायस्थ जाति में मेरा जन्म हुआ है, परमार्थ ही मेरा ओहदा अथवा पद है, माला, तिलक और दुशाले से मैंने अपना वेष सजाया है, गुरु के चरणो में मैंने आनन्द का जाप किया है, मेरे खजाने में भगवन्नामरूपी रत्न भरा हुआ है, मैंने यत्न से उसको हृदय में धारण किया हैं। उन्होने साधना के क्षेत्र मे बड़े-बड़े अनुभव प्राप्त किये थे।

सत धरनीदास पर प्रेममार्ग अथवा सूफी सिद्धान्त का भी बहुत प्रभाव था। अपने 'प्रेम-प्रकाश' ग्रन्थ में उन्होने आत्मा और परमात्मा के प्रेममय मिलन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रियतम के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्होने एक स्थल पर कहा है

'पिय बड सुदर सखि, बनि गैला सहज सनेह॥
जे-जे सुन्दरी देखन आवै, ताकर हरि ले ज्ञान।
तीन भुवन के रूप तुलै नहि, कैसे क करउँ बखान॥
जे अगुआ अस कइल घतुरई ताहि नेवछावरि जाव।
जे बाह्मन अस लगन बिचारल, तासु चरन लपटावें॥
चारिउ ओर जहाँ तहँ चरचा, आन कै नाव न लेइ।
ताहि सखी की बलि-बलि जैहौं, जे मोरी साइत देइ॥
झलमल झलमल झलकत देखो, रोम रोम मन मान॥
'धरनी' हरपित गुन गन गावै, जुग जुग ह्वैजनि आन॥'

धरनीदास ने भगवच्चिन्तन के स्तर से कहा कि भगवत्प्रेम का मद मतवाले जन ही पीते हैं। राम-नाम का निरन्तर स्मरण करते रहने पर ही परम पद की प्राप्ति होती है। उन्होंने राम के दरवाजे पर ध्यानस्थ रहने को ही सबसे बड़ा साधन माना और ईश्वर की कृपा पर सदा निर्भर रहे। धरनीदास ने निस्सकोच कहा

'मैं निरगुनिया गुन नहिं जाना,
एक धनी के हाथ विकाना।'

उन्होंने पूर्णात्पूर्ण परमात्मा का ही भजन किया। वे भगवान् के पूर्ण शरणागत थे। उन्होंने हरि के भक्तो को ही पतिव्रता कहा, दूसरों को व्यभिचारी वताया, उनका जीवन व्यर्थ माना जो हरिनाम का विस्मरण कर देते हैं। पूर्ण शरणागति की भापा में उनका ब्रह्म निरू-पण है

'सोई प्रभु पक्का मै अति कच्चा,
मैं झूठा मेरा साहब सच्चा।
मैं ओछा मेरा साहब पूरा,
मैं कायर मेरा साहब सूरा।
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता,
मैं किरपिन मेरा साहब दाता।
'धरनी' मन मानो इक ठाऊँ
सो प्रभु जीवो मैं मरि जाऊँ॥'

उनका जीवन प्रभु के चरणो मे पूर्ण समर्पित था। उनके जीवन में अनेक अलौकिक घटनाओं का विवरण मिलता हैं। कहा जाता है कि एक वार कुछ चोर चोरी करने जा रहे थे, रास्ते में धरनीदास के आश्रम मे थोडी देर ठहर चोरो ने उनसे गीत गाने के लिये कहा। चोरी करके लौटते समय वे अधे हो गये। सन्त धरनीदास ने अपने शिष्य सदानन्द को चोरो को आश्रम पर ले आने के लिये भेजा, आश्रम पर आते ही सन्त की कृपा से वे देखने लग गये। चोरो ने धरनीदास से क्षमा माँगी और उनके शिष्य हो गये, उनका जीवन सुधर गया, हृदय पवित्र हो गया।

उन्होंने अनेक चमत्कार भी दिखायें, यद्यपि वे चमत्कार आदि से वहुत दूर रहते थे। आश्रम पर साधुओ की एक मण्डली आयी। धरनीदास नें उनके भोजन आदि की व्यवस्था कर दी। कुछ साधुओ ने कहा कि आप कायस्थ हैं, आप की बाँह पर द्वारिकाधीश की छाप नही है, आप का अन्न शुद्ध नही है इस लिये हम ठाकुर जी के राजभोग में उसका उपयोग नही कर सकते है। धरनीदास ने अपनी कुटी में प्रवेश किया, थोडी देर के वाद वाहर आये, उनकी वाह पर 'द्वारिका-धीश की छाप देख कर साधु आश्चर्यचकित हो गये।

वे आजीवन माँझी में ही रहे। अन्त समय में वे सरयू और गगा के सगम पर चादर विछा कर बैठ गये, थोडी देर में शिष्योंने उनको प्रकाश के रूप में परिवर्तित होते देखा, वे अदृश्य हो गये। सारे वातावरण में उनके शब्द व्याप्त हो उठे

'अवचक आइ गइलै पिया के सनेसवा
ताखन उठलिउँ जागि रे।
राम-गम करि घर से निकसलिउँ,
जे जहँ से तहँ त्यागि रे।
सत के सिंघोरा कर पर मोरा,
प्रेम पटम्बर पागि रे।
बाजन लाग चपल चौधरिया,
चित्त चतुरता भागि रे।
पूर परी कुरुखेतहि चढलिउँ
जन परिजन से वागि रे।
करमभरम कर चिता सजावल
ब्रह्म अगिन तेहि लागि रे।
धरनी धनि तहँ भक्ति भाँवरी
चित अनुभव अनुरागि रे।
अव की गवना वहुरि नहिं अवना,
वोलहु राम सुभागि रे।'

उनके परलोक-गमन का सम्वत् अज्ञात है। उत्तर भारत में धरनीदास के अनुयायी अधिक सख्या मे मिलते है। धरनीदास उच्च कोटि के निर्गुणवादी सत थे।

रचना

'प्रेम प्रकाश', 'शब्द प्रकाश', 'रत्नावली', धरनीदास की प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

'धरनी' जहँ लौ देखिये, तहँ लौ सबे भिखारि।
दाता केवल सतगुर, देत न मानै हारि॥
'धरनी' धोख न लाइये, कबही अपनी ओर।
प्रभु सो प्रीति निवाहिये, जीवन है जग थोर॥
'धरनी' पलक परै नही, पिय की झलक सोहाय।
पुनि-पुनि पीवत परम रस, तवहूँ प्यास न जाय॥
दामिनि ऐसी कामिनी, फासी ऐसो दाम।
'धरनी' दुइ तेबाँचिये, कृपा करै जो राम॥
धूवाँ कँधवरेहरा, और धूरि को धाम।
ऐसे जीवन जगत मे, बिगुगुरु विनु हरिनाम॥
हित करि हरि नामहिं लाग रे।
घरी घरी घरियाल पुकारै, का सोवै उठि जाग रे।
चोआ चदन चुपड तेलना, औ अलबेली पाग रे।
सो तन जरे खडे जग देखो, गूद निकारत काग रे।
मात-पिता परिवार सुतासुत वधु त्रिया रस त्याग रे।
साधु के सगति सुमिर सुचित होइ, जो सिर मोटे भाग रे।
सम्वत जरै वरै नहि जव लगि, तव लगि खेलहु फागरे।
'धरनीदास' तासु बलिहारी, जहँ उपजै अनुराग रे॥
एक धनी धन मोरा हो॥
काहू के धन सोना रूपा, काहू के हाथी घोरा हो।
काहू के मनि मानिक मोती, एक धनी धन मोरा हो॥
राज न हरै जरै न अगिन ते, कँसहु पाय न चोरा हो।
खरचत खात सिरात कबहिं नहि, घाट-बाट नहिं छोरा हो॥
नहिं सदूक नहि भुइ खनि गाडी, नहिं पट घालि मरोरा हो।

नैन के ओझल पलक न राखो, साझदिवस निसि भोरा हो॥
जब धन लै मनि बेचन चाहे, तीनि हाट टकटोरा हो।
कोई वस्तु नाहिं ओहि जोगे, जो मोलउँ सो थोरा हो॥
जा धन ते जन भये धनी बहु, हिंदु तुरुक करोरा हो।
सो धन 'धरनी' सहजहिं पाया, केवल सतगुरु के निहोरा हो॥
अजहु न गुरु चरनन चित देहौ।
नाना जोनि भटकि भ्रम आये, अब कब प्रेमतीरथहिं न्हैहौ।
बड कुल विभव भरम जनि भूलो, प्रभु पैहौ जब दास कहैहौ।
यह सगति दिन दस की दसा हैं, कथि कथि पढि पढि पारन पैहौ।
करम भार सिर ते नहि उतरे, खड खड महि मण्डल धैहौ।
बिन सतगुरु सत लोकन सूझै, जनमि जनमि मरि मरि पछितैहौ।
'धरनी' ह्वै हो तबही साचे, सतगुरु नाम हृदय ठहरैहौ॥

संत जगजीवन साहब

देखो पिया काली घटा मो पै भारी।
सूनी सेज भयावन लागी, मरो विरह की जारी॥
प्रेम प्रीति यह रीति चरनलगु, पल छिन नाहि बिसारी।
चितवत पन्थ अन्त नहि पायो, जन बुल्ला वलिहारी॥

—बुल्लासाहब

सत जगजीवन साहब सत्तनामी परम्परा के एक प्रमुख स्तम्भ थे। इस परम्परा के महात्माओ ने सत्स्वरूप निर्गुण परमात्मा की उपासना अनुभूति, ज्ञान और प्रेम के माध्यम से की। प्रेम के क्षेत्र में प्रवेश कर उन्होने ब्रह्म के सगुण रूप का भी वर्णन किया पर इस वर्णन का रूप अनुभूतिगम्य है, पौराणिक नही है। विक्रम की अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दी मे सत्तनामी विचार-धारा ने सन्त साहित्य के क्षेत्र को प्रभावित किया। वावरी साहव, वीरूसाहव, यारी साहव, वुल्लासाहव, जगजीवन साहव तथा गुलालसाहव, भीखा साहव, दूलन दास, गोविन्द-साहव और पलटू साहव आदि इस मत मे उच्च कोटि के सत हो गये हैं। इन महात्माओ ने अपनी-अपनी खोज और अनुभूति के अनुसार घट-घट में व्याप्त ज्योति स्वरुप ब्रह्म के आनन्द का रसास्वादन किया। सत्तनामी पन्थ को वावरी पन्थ भी कहा जाता है।

उत्तर भारत के वारावकी जनपद मे भगवती सरयू नदी के परम पवित्र तट पर सरदहा नामक गाँव में सम्वत् १७२७ वि में माघ शुक्ल सप्तमी, मगलवार को जगजीवन साहव का जन्म हुआ था। वे चन्देल क्षत्रिय थे। उनके पिता साधारण किसान थे। घर पर खेती का काम होता था। जगजीवन साहव वचपन से ही गम्भीर स्वभाव के थे। वे भगवान् का चितन किया करते थे, उनकी कीर्तन-कथाओ मे रस लेते थे तथा साधु-सन्तो को देखते ही उनका हृदय-कमल प्रसन्नता से खिल जाया करता था। वे वडे सतोषी और विनम्र थे।

पिता की देखा-देखी जगजीवन साहब भी खेती आदि के काम में लगे रहते थे। पिता ने उनको गाय-भैंस चराने का काम सौंपा था। वे गाँव के बाहर नदीतट पर तथा निर्जन वनो में घूम-घूम कर गाय चराते रहते थे। एक दिन वे गाव के निकट ही गाय-भैंस चरा रहे थे। इतने में उन्हे दो महात्मा दीख पडे। वे बुल्लासाहब और गोविन्दसाहब थे। जगजीवन का मन पवित्र श्रद्धा से परिपूर्ण हो उठा, उन्होने दोनो सन्तो की चरणधूलि बडे भक्तिभाव से मस्तक पर चढा ली। सन्तो ने आशीर्वाद दिया। चिलम के लिये आग माँगी। जगजीवन साहब आग लाने के लिये घर दौड गये। उन्होने सोचा कि सन्तो की सेवा के लिये थोडा-सा दूध भी लेता चलू। आग और दूध लेकर सन्तो की सेवा में चल पडे। बुल्ला साहब ने कहा कि तुम डरो मत, दूध घर में बढ गया होगा, हमारे पीने से घटेगा नही। सन्त की वाणी थी, ठीक ही निकली। जगजीवन साहब ने घर जाकर बरतन को दूध से परिपूर्ण देखा। उन्हे सत का सग तो प्राप्त ही हो चुका था, सत्सग की बात तो कान मे समा ही गयी थी, क्षणमात्र में चित्त-वृत्ति बदल गयी। ससार का सम्बन्ध टूट गया। वे सन्तो की ओर दौड पडे बढे चले जा रहे थे कि कही ऐसा न हो कि सन्त चले जायें। मन सत-मिलन के लिये व्याकुल था, रोम-रोम सिहर रहे थे, नयनो से अश्रु का प्रवाह चल रहा था, हृदय धडक रहा था। बुल्ला साहब प्रेममग्न होकर गा रहे थे। उनके स्वर से जगजीवन साहब आश्वास्त हुए कि सन्तो का दर्शन मिल जायेगा, बुल्ला साहब का स्वर वातावरण को वैराग्य का सदेश दे रहा था

'मातल मनुवा घटहि समैवो हो।
जौने गैले सन्त गैले, तौने जइबो हो॥
सहज सरूपे लिहले, हरि गुन गइवो हो।
तीरथ तिरवेनी नहइवो, गगन में जइवो हो॥
अनहद धुनि सुनि, दीपक वरइवो हो॥
वारि दीया देखो हीया, सुन उजियारो हो।
यारी सतगुरु पूरो, निज भेदहि सारो हो।।
देखि दरस मन तनहिं, छाडि दीया हो।
जन 'वुल्ला' वानी वोलै, मरि फिरि जीया हो॥'

जगजीवन साहब सन्त वुल्ला के चरणो पर गिर पडे, कहा कि मैं भवसागर में डूब रहा हूँ, मेरा मन माया-मोह के अन्धकार में सत्यका पथ भूल गया है, ससार के वन्धनो से मुक्त कर आप मेरा उद्धार कीजिये। वुल्ला साहब ने जगजीवन साहब की पीठ ठोकी, कहा कि हम लोग तो इसी आशय से सरदहा गाम मे आये हुए है। तुम पूर्व जन्म में पहुँचे हुए महात्मा थे, इसी वात का स्मरण कराने के लिये ही मैंने तुम से भेंट की। उन्होने जगजीवन साहब को दीक्षा दी। वे वुल्ला साहब से कुछ चिह्न देने के लिये आग्रह करने लगे। वुल्ला साहब ने हुक्के का एक काला धागा प्रदान किया। गोविन्द साहब ने सफेद धागा दिया। दोनो धागो को जगजीवन साहब ने अपनी दाहिनी कलाई पर वाँध लिया। आगे चल कर सत्तनामी सम्प्रदाय का चिह्न दोरग धागा हो गया जो 'आदू' कहलाता है। ऐसा भी कहा जाता है कि उनके दीक्षा-गुरु काशी के प्रसिद्ध महात्मा विश्वेश्वर पुरी थे।

सत जगजीवन साहब के सत्सग में दूर-दूर से लोग आने लगे। उनकी कीर्ति फैलने लगी। वे अपने गुरु वुल्ला साहब के आदेश के अनुसार आठो पहर भगवान के चिंतन में लग गये। देह, गेह और ससार के प्रति पूर्ण अनासक्त होकर वैराग्य के स्वराज्य में प्रवेश किया। सत्सगियो की सख्या प्रति दिन वढने लगी। गाँव के कुछ लोग ईर्ष्यावश जगजीवन साहब को तग करने लगे। जगजीवन साहब ने सरदहा गाँव का परित्याग कर दिया। वे कोटवा ग्राम में कुटी वना कर तपस्या और साधना करने लगे। जगजीवन साहब गृहस्थ सत थे। ऐसा कहा जाता है कि उनके सरदहा छोडते ही सरयू में वाढ आयी और गाँव वह गया। सन्तो की महिमा विचित्र होती है, सन्त के प्रति अपराध करना महान पाप समझा जाता है। सन्त और भगवान दोनो ही परम पूज्य स्वीकार किये गये है, भगवान का प्रत्येक कार्य सन्तो की इच्छा के अनुकूल होता है।

कोटवा में निवास कर उन्होने असख्य जीवो को सत्सग का सुख दिया। सत जगजीवन साहब आजीवन गृहस्थ वेप मे ही रहे। कोटवा में उनकी गद्दी है। उनके स्वभाव में दैन्य, विनम्रता, उदारता, सहनशीलता आदि सदगुणो का पूरा-पूरा समावेश था। सदा परमात्मा के प्रेम में मग्न रहते थे।

जगजीवन साहव ने गुरुतत्त्व और भगवत्तत्व में तनिक भी भेद-भाव नही किया। मध्यकालीन सन्त साहित्य की एक मौलिकता गुरु और भगवान की अभेदता हैं। जगजीवन साहब तथा सत्तनामी सम्प्रदाय के अन्य सन्तो ने अपनी साधना में इस मौलिकता का निर्वाह वडी सावधानी से किया है। जगजीवन ने मन को समझाया है कि हे मन इस जगत में जन्म लेकर जिन्होने हरिनाम का स्मरण नही किया उन्होने अपना काम बिगाड डाला। जिन्होने तनिक भी अभिमान किया वे काल के गाल में समा गये। इसलिये सर्वोत्तम यही है कि जागतिक प्रपच भूल कर सत्सग में लग जाय, सत्गुरु की कृपा से सव कुछ सुधर जायेगा। जगजीवन साहव की उक्ति है

'नैना चरनन राखहुँ लाय।
केती रूप अनूपम आहे, देऊँ सव बिसराय।
राति-दिना औ सोवत जागत, मोही इहै सोहाय।
नही पल पल तजो कवहूँ, अनत नाही जाय।
मोरिवस कछुनाहिं है, जब देत तुमहिं वहाय।
चहत खैंचि के ऐंचि राखत, रहत हौं ठहराय।
दियो नाथ सनाथ करि, अब , कहत अहौं सुनाय।
'जगजीवन' के सतगुरू तुम, सदा रहहु सहाय।'

जगजीवन साहब ने साधना-क्षेत्र में गुरु को बहुत वडी शक्ति स्वीकार किया। भगवान को प्राप्त करने के दो ही मार्ग है—प्रेम और विरह। उन मार्गों के प्रकाश ज्ञान, भक्ति और तपस्या अथवा पवित्र कर्म है– ऐसा उन्होने अपनी वाणी में निरुपण किया है। उनकी वाणी में अनुभूतिमयी वास्तविक विरह का दर्शन होता है। जगजीवन की उक्ति हैं कि मेरे नयनो ने वैराग्य ले लिया, समस्त आभूषण त्याग कर मैंने योगिनी का भेष धारण कर लिया, पीडा सह-सहकर मैंने तन-मन जला डाले पर प्रियतम ने मेरी वेदना का अनुभव ही नही किया। मेरे नयनो में नीद नही है, रात-दिन प्रेमाश्रु बहता रहता है, मै दर्शन की याचना करता हूँ, प्रियतम के चरण कमल-रस मे ही मेरी तृप्ति है। उनका पद है

'उनही सो कहियो मोरी जाय ॥
ए सखि पैयाँ परि मैं विनवौ, काहे हमे डारिन विसराय।
मैं का करो मोर वस नाही, दीन्ह्यो अहै मोहिभटकाय ॥
ए सखि साईं मोहि मिलावहु, देखि दरस मोर नैन जुडाय।
'जगजीवन' मन मगन होउ मैं, रहौ चरन कमल लपटाय ॥'

सन्त जगजीवन साहव ने निर्गुण भक्ति मे प्रेम का पौराणिक भागवत रूप– साकार अथवा सगुण ब्रह्म - सम्वन्ध का समन्वय किया। सत्तनाम के भजन को ही उन्होने परमात्मा की साधना का रूप दिया। उनका विश्वास था कि सत्तनाम का रसामृत पीकर सदा मग्न रहने वाले ही वास्तविक भगवत्प्रेमी है, सन्त अथवा भक्त है। उन्होने साधना का क्रम वताया है

'सत्त नाम भजि गुप्तहि रहे, भेदन आपन परगट कहे।
परगट कहे सुखित नहि होई, सतमत ज्ञान जात सव खोई।'

उन्होने भगवान से निवेदन किया कि मुझे केवल आप का ही भरोसा है। आप ही मेरा निस्तार करते है, मैं तो अज्ञानी हूँ, वुद्धिहीन हूँ, आप के सम्वन्ध मे विचार ही क्या कर सकता हूँ ? मैंने आप के चरणो की शरण ली है, हे सर्वसमर्थ, मुझे आप का ही वल है। भगवद् भक्ति का निरूपण करते हुए सन्त जगजीवन साहव ने अत्यन्त सरस भाषा में कहा

'गगरिया मोरी चितसो उतरि न जाय।
इक कर करवा इक कर उवहनि, वतियाँ कहौ अरथाय ॥
सास-ननद घर दारून आहै, तासो जियरा डेराय।
जो चित छूटै गागर फूटै, घर मोरि सासु रिसाय ॥
'जगजीवन' अस भगती मारग, कहत अहौ गोहराय ॥'

सन्त जगजीवन साहव की साधना उच्च कोटि की थी। वे सिद्ध सन्त थे। निस्सन्देह पहुँचे हुए महात्मा थे। उन्होने अपनी निर्गुण भक्ति की सिद्धि के लिये भागवत लीला के प्रतीको को अपनी साधना मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मुरली वजाने वाले भगवान के सम्वन्ध मे कहा है

'कहा गयो मुरली को बजइया, कहाँ गयो रे ।
एक समय जब मुरली बजायो, सब सुनि मोहिरह्योरे।'

इसी प्रकार उन्होने एक पद में कहा है कि हे सखी, मेरे प्रियतम वशी बजाकर कहाँ चले गये। मुझे तो घर का रास्ता भूल गया, वस्त्र और आभूषण का तनिक भी ध्यान नही है। मैंने उनके लिये लोक-लज्जा और कुल की मर्यादा का भी विस्मरण कर दिया, उनकी छवि भूलती ही नही है। सन्त जगजीवन ज्ञानमार्गी निर्गुणवादी प्रेमी सन्त थे। सम्वत् १८१८ वि में वैशाख कृष्णसप्तमी को उन्होने चोला छोडा। कोटवा में उनकी समाधि है। वे प्रेमी, ज्ञानी और भक्त सब कुछ थे।

रचना

'महाप्रलय' और 'ज्ञान प्रकाश' जगजीवन साहब की दो प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

सखि बाँसुरी बजाय कहाँ गयो प्यारो ॥
घर की गैल बिसरिगइ मोहिते, अग न वस्तु सभारो।
चलत पाँव डगमगत धरनि पर, जैसे चलत मतवारो ॥
घर आगन मोहिं नीक न लागै, सबद बान हिये मारो।
लागि लगन मै मगन वहाँ सो, लोक लाज कुल कानि बिसारो।
सुरत दिखाय मोर मन लीन्ह्यो, मै तो चहो होय नहिं न्यारो।
'जगजीवन' छवि बिसरत नाही, तुम से कहौं सोइहै पुकारो ॥
प्रभु जी का बस अहै हमारी।
जब चाहत तब भजन करावत, चाहत देत बिसारी ॥
चाहत पल छिन छूटत नाही, बहुत होत हितकारी।
चाहत डारि सुखि पल डारत, डारि देत सहारी ॥
कहँ लहि विनय सुनावौं तुम तै, मैं तौ अहौं अनारी।
'जगजीवन' दास पास रहे चरनन, कबहूँ करहुन न्यारी ॥

आइ जग काहे मन बौराना।
जौन कौल करि ह्वाते आयो, समुझि देखु वह ज्ञाना ॥
तकि माया वश भूलि परेसि तैं, सत्त नाम नहिं जाना।
जो उपजा सो विनसि जायेगा, होइ है, अन्त चलाना ॥
सब चलि जाइ अचल नहिं कोई, सचरअचर ससि भाना।
'जगजीवन' सतगुरु समरथ के, चरन रहौं लपटाना ॥

दुनिया जानि-बूझि बौरानी।
झूठे कहै कपट चतुराई, मनहिं न आनहि कानी ॥
नहि डरपत है सत्तनाम कहें, ऐसे हहिं अभिमानी।
है विवाद, निंदा कहि भाषहि, तेही पाप ते आगे हानी।
जानत है मन मानत नाही, बडे कहावत ज्ञानी।
नवहि नहिं, न साधु ते दीनता, बूडि मुए विनु पानी ॥
'मैं-तैं' त्यागि अन्तर में सुमिरे, परगट कहौं वखानी।
'जग जीवन' माधन ते नयचलु, इहै सुख कै खानी ॥

हम ते चूकि परत वहुतेरी।
मैं तो दास अहो चरनन का, हम हूँ तन हरि हेरी ॥
वाल ज्ञान प्रभु अहै हमारा, झूठ साच वहुतेरी।
सो औगुन गुन का कहो तुमते, भौसागर ते निवेरी ॥
भव ते भागि आये तुवमरने, कहत अहौं अस टेरी।
'जगजीवन' की विनती सुनिये, राखो पत जन केरी ।।

सन्त दूलनदास

> जगत सनेही जीव है, राम सनेही साध।
> तन मन धन तजि हर भजै, जिनका मता अगाध॥
>
> --दयाबाई

सन्त दूलनदास जगजीवन साहब के शिष्य थे। बडे भावुक महात्मा थे। उनकी वाणी मे ज्ञान और प्रेम का समीचीन समन्वय हुआ है। सत्तनाम के महान खोजी थे। उनका जीवन-काल अठारहवी शती के प्रथम चरण से उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक पडता है। वे रामनाम के प्रेमी सन्त थे। उनकी उक्ति है कि जिसके मुख में रामनाम के अक्षर रहते हैं उसके समान जग में कोई दूसरा नही है। उनकी एक पद में उक्ति है

'कोई विरला यहि विधि नाम कहै।
मन्त्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै।
होठ न डोलै जीभ न बोलै, सुरति धरनि दिढाइ गहै।
दिन औ राति रहै सुधि लागी, यहि माला यहि सुमिरन है।
जन 'दूलन' सतगुरन बतायो, ताकी नाव पार निबहै॥'

दूलनदास नाममार्गी थे। भगवन्नाम के सबध में उन्होने उच्च कोटि के सरस पद रचे हैं जिनमें उनकी सहृदयता, दैन्य और सरलता तथा गहरी अनुभूति का दर्शन होता है।

उत्तरभारत के लखनऊ जनपद के समेसी गाव में सम्वत् १७१७ वि में सोमवशी छत्रिय कुल में सन्त दूलन दास का जन्म हुआ था। उनके पालन-पोषण में वडी सावधानी रखी गयी। उनके पिता रामसिंह साधारण गृहस्थ थे पर वडे सरल स्वभाव के थे। अध्यात्म में उनकी वडी रुचि थी। दूलनदास के विकास पर पिता के सरल और आध्यात्मिक स्वभाव का वडा प्रभाव पडा था। दूलनदास का मन भगवान का

नाम सुनने पर आनन्द विभोर हो जाता था। वे साधु-सन्तो की सेवा और दर्शन से वडे प्रसन्न होते थे। उनके मन में वैराग्य की भावना उत्तरोत्तर वढती जा रही थी।

उन दिनो सत्तनामी सन्त जगजीवन साहव वारावकी जनपद के सरदहा ग्राम में निवास कर लोगो को सत्सग का लाभ प्रदान कर रहे थे। दूलनदास उनसे मिलने के लिये वडे व्याकुल थे। उन्हें कोई गुप्त शक्ति वार-वार जगजीवन साहव के पास जाने के लिये प्रेरित कर रही थी। वे उनसे मिलने के लिये चल पडे। सरदहा में पहुँच कर जगजीवन साहव को देख कर वे आनन्दमग्न हो गये। उनके रोम-रोम सिहर उठे। जगजीवन साहव के चरणो पर गिर पडे। नयनो में अश्रुका प्रवाह उमड पडा। ससार का वन्धन टूट गया। उन्होने जगजीवन साहव के चरणों में आत्मसमर्पण कर कहा

'सुनहु दयाल मोहिं अपनावहु।
जनमन लगन सुधारन साईं मोरि वनै जो तुमहिं वनावहु।
इत उत चित्त न जाइ हमारा, सूरत चरन कमल लपटावहु।
तव हूँ अव मैं दास तुम्हारा, अव जिनि विसरो जिनि विसरावहु।
'दूलनदास' के साईं जगजीवन, हमहूँ कौं भक्तन माँ लावहु॥'

जगजीवन साहव ने उनको हृदय से लगा लिया। उनकी भावुकता, निष्कपट श्रद्धा और प्रेम-भक्ति से मुग्व हो गये। उन्होने दूलन दास को दीक्षा दी। दीक्षा के वाद ही दूलनदास का नाता घर-गृहस्थी से टूट गया। वे गुरुधाम मे ही रह कर साधना और तपस्या करने लगे। जगजीवन साहव के साथ कोटवा में वे वहुत दिनो तक रहे। सरदहा से जगजीवन साहव कोटवा चले आये थे। कोटवा सरदहा से थोडी दूर पर एक गाँव है। कोटवा-निवास-काल में दूलनदास की गुरुभक्ति की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी। कुछ दिनो के वाद गुरु की आज्ञा से दूलनदास रायवरेली जनपद के धर्मे गाँव में आकर तपस्या करने लगे। ऐसा कहा जाता है कि धर्मे गाँव दूलनदास ने ही वसाया था।

सन्त दूलनदास सिद्ध महात्मा थे। उनकी सिद्धि के सम्वन्ध में एक विचित्र घटना का उल्लेख मिलता है जो नितान्त वास्तविक ही है। सन्त सर्वसमर्थ होते है, वे असम्भव को सम्भव कर सकते

है। बाराबकी जनपद के उमापुर गॉव में नवलदास नाम के एक महात्मा रहते थे। उनके साथ एक फकीर रहता था। नवलदास ने भविष्यवाणी की कि अमुक तिथि को तुम्हारा शरीर छूट जायेगा। फकीर ने विचार किया कि जब तक जीवन के दिन शेप हैं तब तक महात्मा जगजीवनदास की गद्दियो की परिक्रमा कर लूँ। वह अन्त समय मे महात्मा दूलनदास के पास पहुँचा। दूलनदास से उसने अपने अन्तिम समय की बातें बतायी। दूलनदास ने कहा कि तुम्हारे दारिद्रय का कागज फट गया है, तुम्हारा समय शेप है और मरण-तिथि को अपने पास ही रहने का आदेश दिया। फकीर के प्राणो की रक्षा हो गयी। सन्त दूलनदास के पास ही रह कर वह भगवान का भजन करने लगा।

उनका सिद्धान्त निर्गुणवाद था, उनकी साधना का रूप निर्गुण ब्रह्म का निर्मल, मायातीत चिंतन था। उन्होने एक स्थल पर कहा है

मैं निगुनी गुन एकौ नाही
मॉझधार नहि कोऊ अपना।
दिहेउँ सीस सतगुरु-चरना
नाम-अधार है दूलन जना।

उनकी साधना का स्वरूप यह था कि वे प्रियतम परमातमा के दर्शन और मिलन के लिये सदा प्रतीक्षा में रहते थे। उन्होने स्वीकार किया है कि मैंने प्रियतम का दर्शन अपने ही भीतर किया है। उनकी उक्ति है कि मैंने साईं– प्राणाधार परमात्मा की सेज को देख लिया है, सतगुरु का पथ जान लिया है। शब्द का ताला है, शब्द की ही कुञ्जी और जजीर है। मैंने शब्द ब्रह्म के चरण में मस्तक रख दिया। शब्द ही ओढना है, शब्द ही बिछौना है, शब्द की ही रगमयी चटक चूनरी है। जगजीवन साहब की कृपा से मैंने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है। दूलनदास शब्द-मार्गी थे। उन्होने अपनी रचनाओ मे शब्द-साधना का विस्तार से निरूपण किया है। भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे उन्होने एक अत्यन्त लाभदायक उपाय की ओर सकेत किया है

'दया धरम हिरदे मे राखहु, घर मे रहहु उदासी।
आन के जीव आपन करिजानहु तब मिलि है अविनासी॥'

भगवन्नाम में उनकी अद्भुत निष्ठा थी। दूलन दास ने निरन्तर राम-नाम रटते रहने को ही जीवन का परम साफल्य स्वीकार किया है रामनाम से हृदय में परमानन्दमयी ज्योति प्रकाशित हो उठती है, अभिव्यक्त हो उठती है, ऐसा उनका कथन है। महात्मा दूलन-दास की सन्तो में स्वाभाविक निष्ठा थी। सन्त के आतिथ्य को वे परम सौभाग्य का विषय समझते थे। इसी प्रकार उनकी गुरु-निष्ठा भी उच्च कोटि की थी। उन्होंने अपने गुरु जग जीवन साहब से सत्दर्शन की ही सदा याचना की। उन्होंने भवसागर से पार उतारने की ही आजीवन प्रार्थना की।

सन्त दूलनदासने आजीवन गृहस्थ वेष में ही रह कर सत्तनाम का चिन्तन किया। सम्वत् १८३५ वि में आश्विन कृष्ण पचमी रविवार को उन्होंने चोला-त्याग किया। सन्त दूलनदास ने सन्त-साहित्य की श्रीवृद्धि में मौलिक योग दिया। शब्दमार्गी सन्तो में उन्हे विशिष्ट स्थान प्राप्त है, वे आत्मज्ञानी सन्त थे।

रचना

भ्रम विनाश, शब्दावली, दोहावली, मगल गीत आदि दूलनदास की रचनाओ के विशेष अग है।

वाणी

जोगी चेत नगर में रहो रे ।।
प्रेम रग रस ओढ चदरिया, मन तसबीह गहो रे ।
अतर लाओ नामहिं की धुनि, करम मरम सबधो रे ।।
सूरत साधि गहो सतमारग, भेद न प्रकट कहो रे ।
'दूलनदास' के साई जगजीवन, भवजल पार करो रे ।।

जब गज अरध नाम गुहरायो ।
जब लगि आवैं दूसर अच्छर, तब लगि आपुहि धायो ।।
पाँय पियादे भे करुनामय, गरुडासन विसरायो ।
धाय गजद गोद प्रभु लीन्हो, आपनि भक्ति दिढायो ।।
मीरा को विप अमृत कीन्हो, विमल सुजस जग छायो ।

नामदेव हित कारन प्रभु तुम, मृतक गाय जिवायो ॥
भक्त हेत तुम जुग जुग जनमेउ, तुमहि सदा यह भायो।
वलि-वलि 'दूलनदास' नाम की, नामहिं ते चित्त लायो ॥
साहिब अपने पास हो कोई दरद सुनावे।
साहिब जल थल घट-घट व्यापत, धरती पवन अकास हो ॥
नीचो अटरिया की ऊँची दुआरिया, दियना वरत अकास हो।
सखिया एक पैठी जल भीतर, रटत पियास पियास हो ॥
मुख नहि पीवे चिरुआ नहिं पीए, नैननिपियत हुलास हो।
माईं सखर साईं जगजीवन, चरनन 'दूलनदास' हो ॥
पिया-मिलन कव होइ अँदेसवा लागि रही ।
जग लगि तेल दिया में बाती, सूझ परै सब कोइ।
जरिगा तेल, निपटि गइ वाती, 'लैचलु, लैचलु' होइ।
विन गुरु मारग कौन वतावे, करिये कौन उपाय।
बिना गुरु के माला फैरे, जनम आकारथ जाय।
सब सतन मिलि एकमत कीजै, चलिये पिय के देस।
पिया मिलैं तो बडे भाग से, नहिं तो कठिन कलेस।
या जग ढूँढू वा जग ढूँढू, पाऊँ अपने पास।
सब सतन के चरन-वन्दगी, गावै, 'दूलनदास'।
'दूलन' यह जग जनमि के हरदम रटना नाम ।
केवल नाम सनेह विनु, जनम समूह हराम ॥
राम नाम दुइ अच्छरै, रटै निरन्तर कोइ।
'दूलन' दीपक वरि उटै, मन परतीति जो होइ ॥

महात्मा चरणदास

चरणदास के चरण पर सहजो वारे प्रान।
जगत व्याध सूं काढ़ि करि-राख्यो पदनिरवान॥

—सहजोबाई

महात्मा चरणदास विद्वान सन्त थे, आत्मज्ञानी, भगवद्भक्त और प्रेमी महात्मा थे। ऐसा कहने में तनिक भी सकोच नही होता है कि उन्होंने सन्त साहित्य के क्षेत्र में कबीर के अद्वैतवाद, दादू के ज्ञानमूलक प्रेमवाद और सगुणोपासक मध्यकालीन सन्तो के भक्तिवाद का समन्वय किया। उनकी भक्तिसागरादि रचनायें इस कथन का सत्य चरितार्थ करती हैं। परम ज्ञानी महात्मा सुदर दास की ही तरह उन्होंने अपनी रचनाओ में ज्ञानमूलक अनुभूति उढेल दी है। उनकी साधना उच्च स्तर की थी, वे तपस्वी सन्त थे। यह नितान्त सच है कि अपने समय की एक महान ऐतिहासिक विभूति थे। महात्मा चरणदास के जीवन-काल में दिल्ली की राजसत्ता कमजोर हो चुकी थी। मुहम्मद शाह का शासन था। महाराष्ट्र मे प्रधानामात्य बाजीराव की तूती बोल रही थी। सम्वत् १७९५ वि के लगभग वे दिल्ली तक चढ आये, सम्वत् १७९६ वि में नादिरशाह का आक्रमण हुआ था, लूट-पाट और विध्वस के बाद नादिरशाह ने अपने देश के लिये प्रस्थान किया। मुहम्मद शाह के बाद अहमदशाह और शाहआलम दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ हुए। दिल्ली पर प्रत्येक समय शत्रु के आक्रमण का भय छाया रहता था। ऐसे विकट ऐतिहासिक समय में महात्मा चरणदास ने उत्तर भारत में सन्तमत का प्रचार किया, लोगो के हृदय में सत्य की ज्योति फैलाई परमात्मा के भजन और चितन की सीख दी।

महात्मा चरणदास का जन्म सम्वत् १७६० वि में भादो शुक्ला तीज को अलवर राज्य के मेवात प्रदेश के डेहरा ग्राम मे हुआ था।

वे भार्गव ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। उनके पिता मुरलीधर विरक्त स्वभाव के थे, वैराग्य और त्याग में उनकी स्वाभाविक रुचि थी। ससार के विनश्वर पदार्थों में वे तनिक भी आसक्त नही थे। इसी प्रकार उनकी माता कुजोदेवी का भी हृदय वैराग्यमय था। चरणदास के बचपन का नाम रणजीत था। उनके पालनपोषण पर माता-पिता के वैराग्यजन्य चरित्र का बडा प्रभाव पडा था। वे बाल्यकाल से ही आध्यात्मिक वातावरण में रहे। चरणदास की प्रधान शिष्या सहजोबाई ने बडी श्रद्धा और भक्ति से अपने गुरु के प्राकट्य का विवरण दिया है उनकी युक्ति है

> 'सखी री, आज धन धरती धन देसा।
> धन डेहरा मेवात मझारे, हरि आये जन भेसा।
> धन भादो, धन्न तीज सुदी है, धन दिन मगलकारी।
> धन ढूसर कुल बालक जनम्यो, फुलित भये नर नारी।
> धन धन माई कुजो रानी, धन मुरली धर ताता।
> अगले दत्तव अब फल पाये, जिनके सुत भयो ज्ञाता॥'

ऐसा कहा जाता है कि महात्मा चरणदास ढूसर वैश्य थे। उनकी जाति जो भी रही हो, महत्ता तो है उनके सन्तपन की। पाच साल की अवस्था में डेहरा ग्राम में नदी किनारे शुकदेव जी ने उनको अपने दर्शन से धन्य किया था। जब रणजीत—चरणदास केवल सात साल के थे तब एक दिन उनके पिता भजन करने के लिये जगल में गये और अदृश्य हो गये। यह भगवान की कृपा ही थी। चरणदास अपनी माँ के साथ नाना के घर दिल्ली चले आये। वे भगवान के भजन-चिंतन में लग गये। भगवान के दर्शन के लिये रोते-कल्पते रहते थे। युवावस्था में प्रवेश करते ही उनका जीवन पूर्ण रूप से साधना और तपस्या का प्रतीक हो उठा। उनमें भगवद्विरह का समय-समय पर आवेश होता था।

एक बार वे भगवान के विरह में विशेष रूप से व्याकुल हो गये अपने प्राणाधार को खोज रहे थे। उन्हे ब्यास के पुत्र नित्य किशोर परम भागवत शुकदेव ने दर्शन दिया और मन्त्र-दीक्षा दी। रणजीत के स्थान पर चरणदास नाम रखा। उन्होने गुरु के चरणो में निवेदन किया

'हमारो नैना दरस पियासा हो।
तन गयो सूखि हाय हिये बाढी, जीवत हूँ वोहि आसा हो।
विछुरन थारो मरन हमारो, मुख में चलै न ग्रासा हो।
नीद न आवै रैनि विहावै, तारे गिनत अकासा हो॥
भये कठोर दरस नाहि जाने, तुम क् नेक न सासा हो।
हमरी गति दिन-दिन औरे ही, विरह वियोग उदासा हो॥
सुकदेव प्यारे, रहु मत न्यारे, आनि करो उरवासा हो।
'रनजीता' अपनो करि जानी, निज करि चरननदासा हो॥'

उन्होने अपने गुरुदेव से दैन्य मागा और कहा कि ऐसी कृपा कीजिये कि मेरा अहकार नष्ट हो जाय। ऐसा कहा जाता है कि उनके गुरु मुजफ्फर नगर जनपद में शूकर ताल गाव में रहनेवाले सत सुखानन्द या सुखदेव जी थे। महात्मा चरणदास ने अपनी रचनाओ में बडी श्रद्धा से शुकदेव जी को ही अपना गुरु स्वीकार किया है 'भक्तिसागर' मे उनकी स्वीकृति है

'श्री व्यास को पुत्र तासु को दास कहाऊँ।
सदा रहूँ हरिशरण, और न शीश नवाऊँ॥'

शुकदेव जी के दर्शन के बाद वे दिल्ली मे ही कठिन तप करने लगे, विकट योगाभ्यास मे लग गये। अष्टाग योग की साधना की। चौदह साल तक निरन्तर समाधि मे रह कर योगाभ्यास करने पर भी उन्हे वास्तविक शान्ति की अनुभूति नही हुई। वे तो भक्तिरसिक महात्मा थे। उनका मन वृन्दावन जाने के लिये विकल हो उठा। वे रासेश्वर नन्दनन्दन के दर्शन के लिये वृन्दावन की ओर चल पडे। उन्होने सेवाकुज में श्यामसुन्दर का दर्शन किया, भगवान की रूप-माधुरी ने उनका मन मुग्ध कर लिया। उन्हें रासविलास की अनुभूति प्रदान की। एक दिन तो महात्मा चरणदास वशीवट पर भगवान के विरह में व्याकुल हो उठे, वे उन्हे पुकारने लगे चरणदास ऐसे निर्गुण योगी के नयन कृष्ण को देखने के लिये तरस रहे थे, उनकी वाणी भगवान के स्तवन के लिये उत्सुक थी, उन्होने याचना की

'तुम विन कैसे जीऊँ प्यारे नन्दलाल।
भूख-प्यास कछु लागत नाही, तन की सुधि न नभाल॥

कल न परत पल-पल अकुलावो, छिन छिन छिन वेहाल।
विरह व्यथा को रोग बढो है, पीर महा विकराल॥
कहरी करूँ कितैंजाऊँरी, सजनी कौन मेटै जजाल।
लटक चलन वाकी चितवन की चुभत कलेजे भाल॥
भइ ऐसे यह देह दूबरी, सूझ परो नस जाल।
तलफत हू हिय मै दौ लागी, नैना वरत मसाल॥
चरणदास यह सखी तिहारी हो शुकदेव दयाल।
आप कृपा करि दरसन दीजै, कीजै वेगि निहाल॥'

शुकदेव जी का उन्हे फिर दर्शन हुआ, वे आश्वास्त और सतुष्ट हुए। वृन्दावन की विकराल वियोग-वेदना का अनुभव करते हुए श्री शुकदेव की आज्ञा से वे दिल्ली चले आये। दिल्ली में निवास कर उन्होने लोगो को ज्ञान और भक्ति का उपदेश देना आरम्भ किया। शुकसम्प्रदाय की स्थापना की और अनेक शिष्य बनाये। उनके शिष्यो में बावन प्रमुख थे। सहजो बाई और दयाबाई दो प्रधान शिष्या थी। दोनो उच्च कोटि की योगिनी थी। सन्त-साहित्य की प्रगति में सहजो बाई और दयाबाई ने असाधारण योग दिया है। दोनो परम गुरुनिष्ठ थी। दया बाई ने बडी श्रद्धा से चरणदास की महिमा का वखान किया है, उनकी उक्ति है

'चरनदास गुरुदेव जू, ब्रह्म रूप सुखधाम।
ताप हरन, सब सुखकरन, 'दया' करत परनाम॥'

इसी प्रकार सहजो बाई ने भी उनकी बडी महिमा गायी है। दया वाई और सहजो बाई दोनो ने चरणदास के चरण में अगाध अनुरक्ति प्रकट की है।

चरणदास की प्रसिद्धि बढने लगी। बादशाह मुहम्मदशाह उनमें वडी श्रद्धा रखता था, वह उनके सत्सग में जाया करता था। नादिरशाह' के आक्रमण की सूचना चरणदास ने मुहम्मद शाह को छ माह पहले ही दे दी थी। जब नादिरशाह को इस बात का पता लगा तो वह उनसे मिलने आया। चरणदास ने उसे युद्ध समाप्त कर लौट जाने की सम्मति दी। कहा जाता है कि किसी बात से चिढ कर उसने उनको कैद में डाल दिया था पर वे बाहर निकल आये और योग वल से

नादिरशाह के शयनकक्ष में प्रवेश कर उसे लात मार कर जगाया सावधान किया, उसने क्षमा मागी। अपने देश लौट गया।

हरिभक्ति और साधु-सगति को ही उन्होंने अपनी साधना का श्रेय स्वीकार किया। उन्होने कहा है कि चाहे मुझे कोई आग मे जला दे, चाहे सागर मे डुबा दे, चाहे मेरे तन के टुकडे कर डाले पर शुकदेव की कृपा से मैं हरि की भक्ति और साधु के सग का परित्याग नही कर सकता। भगवान के भजन में सुदृढ रहना ही हमारा सिद्धान्त है, साधुओ के साथ जीवन विताना ही हमारा व्यवहार है, धर्म और कर्म है।

उनका कथन है

'चारवेद किये व्यास ने, अरथ विचार-विचार।
तामे निकसी भक्ति ही, राम नाम ततसार॥'

महात्मा चरणदास ने सन्त कबीर की ही तरह बाह्याडम्बर और ढोग तथा पाखण्ड और दम्भ का खण्डन किया, सत्य और धर्म की प्राणप्रतिष्ठा कर भगवद्भक्ति का उपदेश दिया। उन्होंने गुरु शुक देव के प्रति अप्रतिम श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्ही के नाम से अपने सम्प्रदाय को समलकृत किया। उनकी अनुभूति है कि ससार मे परम हित गुरु हैं, उनका नाम लेने से असख्य पाप नष्ट हो जाते है तथा भगवान दर्शन देते है और जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।

महात्मा चरणदास ज्ञानी सन्त थे, सत्यवेत्ता थे, विद्वान थे। उन्होने सन्त मत को सत्य की ज्योति से समलकृत किया, यही उनका सन्तपन है, सन्त साहित्य की श्री वृद्धि मे उनका मौलिक योग है। सन्त-महिमा के चित्रण मे उनकी उक्ति है

'प्रभु अपने मुख सूं कहेव, साधू मेरी देह।
उनके चरनन की मुझे, प्यारी लागे खेह॥'

साधु का निश्चय अटल होता है, सन्त वीरात्मा होता है, वह राजाधिराज की तरह जीवन के युद्ध में निरन्तर तल्लीन रहता है, सन्त पैर आगे रख कर पीछे कभी नही हटाता है, शस्त्र-अस्त्र का सामना करता है, सत का बाना वन्दनीय है— ऐसी चरणदास की सन्त-स्वभाव के प्रति उक्ति है।

सन्त चरणदास ने निर्गुण-सगुण ब्रह्मतत्व का समान रूप से विवेचन किया। उन्होने निर्गुण योगी की तरह आत्मतत्व और परमात्मा के रहस्य की खोज की, रसिक भक्त की तरह वृन्दावन के कुज-कुज में रासेश्वर की रसमयी लीला की अनुभूति प्राप्त की। यही उनका साधना के पथ में मौलिक, अपूर्व और अद्भुत चरित्र-वैचित्र्य है। इस आचरण का निर्वाह उन्होने आजीवन किया।

चरणदास ने भगवद्चिंतन के क्षेत्र में प्रेम को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया। उनका वचन है

'सब मत अधिक प्रेम बतावे, जोग जुगत सूबडा दिखावे।
प्रेमहि सू उपजै वैराग्य, प्रेमहि सू उपजै मन त्याग ॥'

उन्होने कहा कि पतिव्रता वह है जो अपने प्रियतम के रग मे सदा रगी रहती है। उन्होने बताया कि हमारे पति तो एकमात्र परमाराध्य राम है, उनके प्रति अटल विश्वास रखने में ही हमारा कल्याण है। उन्होने राम के सम्बन्ध मे कहा

'बिन दरसन कल ना परे, मनुआ धरे न धीर।
'चरनदास' की राम विन, कौन मिटावे पीर ॥'

सत्सग उनकी साधना का मूलाधार था। उनका निश्चय था कि जब-जब राम का दर्शन मिलेगा, भक्ति और सत्सग की ही याचना करूँगा, सत्सग ही सार तत्व है। उन्होने मन को समझाया।

'अरे मन करो ऐसो जाप।
कटे सकट कोटि तेरे मिटै सगरे पाप।
चेत चेतन खोज कर ले देख आपा आप।
काग सो जब हस होवे नाम के परताप।
ध्यान आतम सुरति राखौ, छुटै तिरगुण ताप।
सुरति माला सुमिर हिरदै छोड सकल सताप।
पराभक्ति अगाध अद्भुत विमल अरु निष्काम।
'चरण-दास' शुकदेव कहिया, बसै निजपुर धाम ॥'

भक्ति-पथ को उन्होने अगम और परम कठिन बताया। भगवद्चिंतन और आत्मपूजा—आत्म साक्षात्कार में ही पूर्ण मुक्ति की अनुभूति की।

सम्वत् १८३९ वि में अगहन शुक्ल चौथ को दिल्ली में ही उन्होने योगवलसे समाधि ली । चरणदास सिद्ध महात्मा थे, अनुभवी योगी और भागवत सत थे। उन्होने आध्यात्मिक क्रान्ति की, सत्यज्ञान दिया।

रचना

व्रज चरित्र, अष्टाग योग वर्णन, भक्ति पदार्थ वर्णन, ब्रह्मज्ञानसागर, धर्मजहाज, ज्ञान स्वरोदय, शब्द और भक्तिसागर आदि चरणदास की प्रसिद्ध रचनाये है।

वाणी

जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
पिव विरहिन का जीव है, जिव विरहिन का पीव॥
जो बोलै तो हरिकथा, मौन गहै तो ध्यान।
'चरनदास' यह धारना, धारै सो सग्यान॥
जव लग जीवै राम कहु, रामहि सेती नेह।
जीव मिलैगो राम मे, पडी रहैगी देह॥
पिछले पहरे जाग करि, भजन करै चित लाइ।
'चरनदास' वा जीव की निसचै गति होइ जाइ॥
जव लग जागै राम कहु, तन मन सू यहि चीत।
चरनदास यह कहत है, हरि विन और न मीत॥
पतित उधारन विरद तिहारो।
जो यह वात साच है हरि जू, तो तुम हमकू पार उतारो॥
वालपने औ तरुन अवस्था, और वुढापे माही।
हम से भई सभी तुम जानो, तुम से नेक छिपानी नाही॥
अनगिन पाप भये मन माने, नखसिख औगुन धारी।
हिरि फिरि कै तुम सरनै आयो, अव तुमको है लाज हमारी॥
सुभ करमन को मारग छूटो, आलस निद्रा घेरो।
एकहि वात भली वनि आई, जग में कहायो तेरो चेरो॥

राखो जी लाज गरीवनिवाज।
तुम विन हमरे कौन सवारे, सबही विगरे काज।।
भगत बछल हरिनाम कहावो, पतित उधारन हार।
करो मनोरथ पूरन जन की, सीतल दृष्टि निहार।।
तुम जहाज मैं काग तिहारो, तुम तज अत न जाऊँ।
जो तुम हरि जू मारि निकामो, और ठौर नहि पाऊँ।।
चरनदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब ससार।।
मेरी हँसी सो हँसी तिहारी, तुम हूँ देखु विचार।।
भाई रे अवधि वीती जात।
अजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यो परभात।
स्वास पूजी गाठि तेरे, सो घटत दिन रात।
साधु सगति पैठ लागी, ले लगै सोइ हाथ।
वडो सौदा हरि सभारो, सुमिरि लीजै प्रात।
काम क्रोध दलाल हैं, मत वनिज कर इन साथ।
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगै हैं तेरि घात।
शवद गुरु को राखिहिरदय, तो दगा नहि खात।
आपनी चतुराई वुधि पर, मत फिरै इतरात।
चरनदास सुकदेव चरननि परसि, तजि कुल जात।।

परम भक्त मोरोपंत

सुस्वर कठें रसिके आर्या गाता मयूर बावाची।
वेधी सुजन मनातें, न तशी धुन ऐकता रबाबाची॥

'सुस्वर कंठवाले रसिकों द्वारा गायी गयी मोरोपत की आर्या सुजनो का मन मुग्ध कर लेती है, मधुर रबाब की ध्वनि से उसकी तुलना ही नहीं है।'

—राम बडवे

परम भागवत मोरोपन्त ने अपनी भक्तिमयी, परम रसमयी सुमधुर वाणी से केवल अपनी जन्मभूमि—महाराष्ट्र को ही नही, समस्त भारतकी सगुण भगवद्‌भक्ति-चेतना को प्राणान्वित कर परम पुण्य कमाया। वे बगाल के कृत्तिवास थे, रामचरित मानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास के पुण्यमय मराठी सस्करण थे। उनका समस्त जीवन अध्यात्मपरक था, वे गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी परम विरक्त सन्त थे। उनके स्थूल शरीर, गौर वर्ण और शान्तिमय मुखमण्डल देखते ही लोग उनके वश में हो जाते थे। वे स्वभाव से ही दयालु और विनम्र थे। मोरोपन्त इतिहासप्रसिद्ध बाजीराव पेशवा और अहिल्याबाई के समकालीन थे। मराठा शक्तिसघ उन दिनो अपनी चरम सीमा पर था। दिल्ली की केन्द्रीय राजसत्ता कुप्रबन्ध, विदेशी आक्रमणो तथा राजनैतिक असावधानी से शिथिल होती जा रही थी। बाजीराव पेशवा अपनी प्रभुता की पराकाष्ठा पर थे, ऐसे ऐतिहासिक समय में परम दयामय मोरोपन्त ने अपनी पवित्र वाणी से लोगो को भगवान की भक्ति की ओर आकृष्ट किया। मोरोपन्त के जीवन काल मे महाराष्ट्र के आलन्दी आदि क्षेत्रो मे भगवत्प्रेमी सन्तो द्वारा भागवत धर्मका प्रचार हो रहा था। बडे-बडे रसिक भक्त उस समय विद्यमान थे। मोरोपन्त की रसवती वाणी ने भागवत धर्म के पुनरुत्थान में महान योग दिया, उन्होने हिन्दुत्व का सरक्षण किया। महाराष्ट्र के समस्त समकालीन कीर्तनकार उनकी आर्याओ का उपयोग किया करते थे। उनके मित्र राम बडवे की उक्ति है कि रसिक जन उनकी आर्या का सुमधुर स्वर से गान करते है।

मोरोपन्त का काव्यजीवन परम सरल और सरस था, उसमें भगवान की भक्ति का विलास था। उन्होने अखण्ड रूप से ईश्वर की उपासना की। भगवत् महिमा से अपने काव्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की। मोरोपन्त पहले भगवद्भक्त और बाद में कवि माने जाते है। भगवद्भक्त कवि ही भगवान की महिमा का विस्तार करते है। रामायण, महाभारत और भागवत रूप कल्पलताओ की छाया में मोरोपन्त ने आजीवन विश्राम किया। वे सरस बादल की तरह इन महासागरो से अमृत खीच कर काव्यरसिको को जीवन-दान दिया करते थे, इन तीन महा-ग्रन्थो पर उन्होंने अपनी काव्य-सम्पत्ति निछावर कर दी।

मोरोपन्त के पूर्वज महाराष्ट्र के रत्नागिरी जनपद के राजापुर प्रान्त के सौदल गाव में निवास करते थे। मोरोपन्त के मूल पुरुष सोनोपन्त थे। उनके पिता का नाम रामजी पन्त था। मोरोपन्त का प्राकट्य जामदग्न्य गोत्र मे हुआ था। उनके कुलस्वामी भैरव देव थे। महाभागवत मोरोपन्त का जन्म सम्वत् १७८६ वि में पन्हाल गढ में हुआ था। पन्हाल गढ पराशर ऋषि की तपो-भूमि है, वह अत्यन्त रमणीय स्थान है। मोरोपन्त के पिता रामजी पन्त और माता लक्ष्मी बाई के धार्मिक आचार-विचार और भक्तिभाव ने मोरोपन्त के चरित्र-विकास पर बडा प्रभाव डाला। उनका कुल परम पवित्र था, भगवान के सगुण रूप का चिंतन करनेवाले महाभागवतो ने समय-समय पर उसमें जन्म लिया था।

मोरोपन्त के प्रारम्भिक तेइस-चौवीस साल पन्हाल गढ में ही व्यतीत हुए। उसके बाद वे सपरिवार बारामती चले आये। उनका बाल्यावस्था से ही रामभक्ति और दिव्य काव्यज्ञान में अनुराग था। शास्त्र, साहित्य और काव्यग्रन्थो की प्रतिलिपि करने में उनकी विशेष अभिरुचि थी। जिस किसी भी ग्रन्थ में भगवान की लीला-कथा मिल जाती उसे वे अपना प्राणधन समझते थे। उनका गृहस्थ-जीवन परम सुखमय और सरस था। मोरोपन्त की स्त्री रमाबाई अत्यन्त सती, साध्वी, सुशीला और सद्गुण सम्पन्न थी।

मोरोपन्त का स्वभाव प्रेममय, कोमल और मधुर था। उनका परिवार बहुत बडा था। उनके ऐसे प्रेमी, सात्विकवृत्तिसम्पन्न पुरुष ही उतने बडे परिवार का भरण-पोषण कर सकते थे। उन्होंने काशी की भी एक बार यात्रा की थी, काशी के पण्डितो ने उनकी कविता और भगवद्भक्ति को मान्यता दी।

उनकी लोकप्रियता बढ गयी। काशी से लौटते समय रास्ते मे उन्होंने इन्दौर की महारानी अहल्याबाई से उनके शिविर मे भेट की।

मोरोपन्त का जीवन अलौकिक घटनाओ और चमत्कारो से परिपूर्ण था। उनके उपास्य भगवान श्रीराम थे। पहले वे शालिग्राम की पूजा करते थे। अहमदनगर मे एक रामभक्त महात्मा थे। उनके पास रामपचायतन मूर्ति थी। भगवान श्रीराम ने उन्हे रात में स्वप्न में आदेश दिया कि मूर्ति की पूजा के अधिकारी बारामती-निवासी परम भक्त मोरोपन्त हैं। उनके पास मूर्ति पहुँचा दी जाय। महात्मा ने मोरोपन्त के पास मूर्ति पहुँचा दी। इस घटना से उनकी असाधारण रामभक्ति का पता चलता है।

मोरोपन्त बडे उदार, स्नेही और गुणग्राही थे। परम कृष्णभक्त रसिक-कवि रामजोशी से उनका मिलन मराठी साहित्य के इतिहास की एक मौलिक घटना है। दोनो एक-दूसरे की काव्यवाणी के रसिक थे, रामजोशी की हार्दिक इच्छा थी कि महाभागवत मोरोपन्त मुझे अपने दर्शन से कृतार्थ करें। भगवान की कृपा से ऐसा अवसर एक समय उपस्थित हो हो गया। रामजोशी महाराष्ट्र के शोलापुर के निवासी थे, वे कृष्णलीला के सम्बन्ध मे काव्य-रचना किया करते थे। उनकी रसिकताकी प्रसिद्धि से मोरोपन्त उनसे मिलने के लिये विवश हो गये। उन्होंने पत्र लिखा —'शोलापुर के राजश्री कविवर रामजोशी को साष्टाग नमस्कार। भेट कीजिये, ऐसी विनती है।' एक दिन दोनो मिल ही गये। रामजोशी देवमन्दिर में लावनी गा रहे थे, झूमझूम कर कविता की भाषा में श्रीराधाकृष्ण के लीला-सौन्दर्य का शब्दाकन कर रहे थे। दर्शको के सरस नयनो में कालिन्दी का चल अचल आन्दोलित था। विमल नवनीतोपम शारदीय ज्योत्स्ना में धोयी बालुका पर श्री कृष्ण रास कर रहे थे। सैकडो भक्तजन भागवत माधुर्य मे सम्मोहित होकर कीर्तन कर रहे थे। जनता आश्चर्य मे पड गयी, मन्दिर के उस दरवाजे पर गौरवर्ण के महापुरुष खडे थे, रामजोशी का कीर्तन सुन रहे थे, भीड मे खलबली मच गयी। 'महाकवि परम भक्त मोरोपन्त, जनता की रसना पर ये शब्द थिरक उठे। मोरोपन्त जोशी का कीर्तन सुनने के लिये अपने आप चले आये। रामजोशी का आलिंगन करने के लिये उनके वेष में साक्षात् राम भक्ति ही चली आयी। मोरोपन्त ने रामजोशी को गले लगाया। उन्होंने मागलिक वचन कहे कि 'ऐसी अमृतमयी मधुर वाणी जनता को विषय-कीच से बाहर निकालने में समर्थ है। तुम्हारा जन्म पृथ्वी पर सार्थक हो गया।

तुम्हारी विद्वता असाधारण कोटि की है। तुम कविवर हो। रामजोशी ने मोरोपन्त की चरणधूलि सिरपर चढाली। मोरोपन्त ने उनको धन्य कर दिया।

मोरोपन्त ने आजीवन भगवान और उनके भक्तो का चरित्र गाया। मराठी भाषा में उन्होने लाखो पदो की रचना की। राम-भक्ति के साहित्य का सागर उडेल दिया। जनता को सीधी-सादी भापा में भगवत्सेवाका मर्म बताया। वे भगवद्भक्त और कर्मनिष्ठ समान रूप से थे। वे सगुणोपासक और अद्वैतवादी दोनो थे। विनय के तो मूर्त रूप थे। स्वय सन्त थे पर सन्तो और भगवद्भक्तो की चरण-धूलि में उनकी अनुपम निष्ठा थी। कवीश्वर थे पर अपने आप को कवियो का सेवक मानते थे। महाबुद्धिमान थे पर अपने आप को मतिमन्द कहने मे ही गौरव की अनुभूति करते थे। बडे पुण्यशाली थे पर अपने आप को सदा अति लघु समझते थे। वे परमार्थ के बहुत बडे साधक थे, हरिभक्ति रसायन से उन्होने अपना ही नही, अनेक जीवो का भवरोग समाप्त कर दिया।

भगवान राम के चरणो में उन्होने अचल निष्ठा प्रकट की है। एक स्थल पर उनकी उक्ति है कि हे भगवान मेरी बडी इच्छा है कि आपके ही चरणो की सेवा में सदा मेरी रति बनी रहे

'मन हेचि फार इच्छी कि आता सेवणे तुझे पाय।
तुजवाचुनि इतराच्या भजनी मजलागिं होय फल काय।'

मोरोपन्त सूर और तुलसी के मराठी समन्वय-सस्करण थे। उन्होने अपनी काव्यकारिता को राम और कृष्ण दोनो की अविचल भक्ति से गौरवान्वित किया है। उन्होने अपने काव्य के एक पात्र-अगद के मुख से रावण के प्रति अचल राम भक्ति की सीख दी है। दयासागर राम की भक्ति से मोरोपन्त ने अपना समस्त काव्य दिव्य बना डाला। मन्त्र रामायण में मोरोपत ने जीव, जड और जङ्गम को राम के विरह-दुख में निमग्न कर दिया, जिस समय लीला मानव मर्यादा-वेश में जानकी का अन्वेषण कर रहे थे, उस समय पम्पा सरोवर पर राम के आने पर जीव जड शोकग्रस्त हो गये। प्रकृति की सहानुभूति का सुन्दर दिग्दर्शन उनकी उक्ति में हो सका है। भगवान राम की बालछवि के वर्णन में उनकी एक स्थल पर उक्ति है

'पीता स्तनाते क्षणमात्र राहणें
महादरे मातृमुखासि पाहणें।

वक्त्रात ते दुग्ध तसेचि वाहणें।
तेणेंचि फुत्कार करुनि नाहणे।
मुखातुनी दुग्ध गले सुनिर्मल,
उरावरी यें अति शुभ्र वोगल।
मन्दाकिनीचा गगनी प्रवाह तो,
चन्द्रप्रभा पाडुर काय वाहतो।
बैसोनि हर्षे जननीचि या कडे,
विलोकुनी तन्मुख नीरजा कडे।
स्मितामृता पूरित वोल बोवडे,
बोले तदा ब्रह्म सुख स्वयें दडे।'

उन्होने कृष्ण लीला-कथा का भी विस्तार अपने काव्य मे अत्यन्त उचित शैली में किया है। लक्ष्मी पति, दयामृतघन, रसमूर्ति श्रीकृष्ण का अपने 'कृष्ण विजय' ग्रन्थ में साढे तीन हजार पदो मे उन्होने यशोगान किया है। मोरोपन्त ने अपने काव्य को भगवच्चिंतन के मधुर रगमच पर प्रतिष्ठित कर जो भक्तिदान महाराष्ट्र और भारत को दिया वह एकनाथ और ज्ञानेश्वर के भागवत और गीता-विवृत्ति के दान से कम महत्वपूर्ण नही है। मोरोपत की असाधारण मान्यता थी—पूर्ण विश्वास था कि नर अपनी करनी से नारायण हो जाता है, दिव्य हो जाता है।

महाराष्ट्र के चण्डीदास रगीले कवि राम जोशी ने मोरोपन्त की वाणी के प्रति जो सम्मान प्रकट किया है उससे उनके काव्यमाधुर्य का साक्षात्कार होता है। उनकी प्रत्येक आर्या और पदावली में नित्य नवीन रस का आस्वादन-सुख मिलता है। मोरोपत की काव्यप्रतिभा महर्षि व्यास और वाल्मीकि के काव्यदान की आभारी थी। उनकी कोमल काव्य-साधना की पीठ पर एकनाथी भागवत का हाथ था। मोरोपन्त ने शुद्ध ,सरल, प्रौढ और अत्यन्त रसाल वाणी से समलकृत कवितावधू को श्रीभगवान के चरणो पर समर्पित कर दिया। उनका काव्य उनकी भगवद्भक्ति का फल है, भगवान का उपासना-वाङ्मय है। उनके काव्य-मानव ने सदा भगवान से भक्ति की याचना की। काव्य कारिता और भगवान की भक्ति दोनो एकात्मा के रूप में, जगत की मगल दात्री के रूप में दीख पडी। भारतीय काव्य परम्परा ने सदा रामायण, महाभारत और भागवत को ही अपनाया है। भागवत तो इसका सौन्दर्य-माधुर्य-रूप है, साक्षात्

नन्दनन्दन का चिन्मय साहित्य-विग्रह है। मोरोपन्त ने मन्त्र भागवत की रचना की। मोरोपन्ती महाभारत, रामायण, हरिवश, कृष्ण विजय आदि ग्रन्थो में मोरोपन्त की अद्भुत काव्य-शक्ति का दर्शन होता है। उनका सावित्री-गीत अत्यन्त मजुल और सरस है। कवि ने सावित्री के पातिव्रत का सुन्दर ढग से करुण रस में उत्तम विवेचन किया है। उनके शृगारपरक काव्यो में राधाविलास, रुक्मिणी विलास आदि अग्रगन्य हैं। उनकी काव्य भाषा ज्योत्सना और दूध की धवलिमा की तरह परम पवित्र और मनोहारिणी है। वात्सल्य रस के वर्णन में उनकी ओजस्विनी भाषा का मधुर प्रवाह अत्यन्त मनोरम हो उठा है। मराठी के तुलसीदास—महामति मोरोपन्त ने राम की बाललीला का वर्णन अत्यन्त सरस और सरल ढग से किया है।

भारतीय सन्त-साहित्य के इतिहास में उन्हे अमित गौरव पूर्ण पद प्राप्त है। उन्होने अपने समकालीन महाराष्ट्र का ही नही, भागवती चेतना से जाग्रत समस्त भरतखण्ड का कालिदास और तुलसीदास की तरह साहित्य में नेतृत्व किया। उनके मित्रमण्डल में तत्कालीन महाराष्ट्र के बडे बडे रसिक कवि, प्रख्यात साहित्यसेवी और उच्चकोटि के सन्त तथा श्रद्धास्पद भगवद्भक्त थे। पन्त के शिष्यतुल्य स्नेही रसिकवर रामजोशी, मैराल बोवा, विठोवा, तुकाविप्र और रामवडवे आदि ने अपने अनुपम साहचर्य से उनके काव्य की श्रीवृद्धि की। महाराष्ट्र के समस्त कीर्तनकार उनकी आर्या का कीर्तन करते थे। सागर के हरिदास बोवा, नाशिक के त्र्यम्बक बोवा, गोविन्द बोवा आदि ने उनके पदो का कीर्तन में प्रचार किया। सुमधुर काव्यमयी भगवद्भक्ति के रस से महाराष्ट्र के कण-कण सिक्त हो उठे, सराबोर हो उठे। मोरोपन्त महाराष्ट्र में गणेश के अवतार माने जाते थे, समस्त महाराष्ट्र मोरोपन्त की कविता का भक्त था। मोरोपन्त ने अपने काव्य में अपने मित्रमण्डल के प्रति अगाध स्नेह प्रकट किया है। रसिको, कवियो और भगवद्भक्तो की प्रसन्नता को वे अपने काव्य राज्य की मुकुट-मणि मानते थे। मोरोपन्त की काव्य कारिता की आधार शिला रामायण, महाभारत तथा भागवत आदि है। उनका काव्य भारतीय आर्ष ग्रन्थो का सारतत्व है। मन्त्र रामायण में परम भागवत मोरोपन्त की उक्ति है —

'वाल्मीकि विप्रोत्तम काव्यपद्म
श्रीराम लीला मकरन्द सद्म।

तेथें मयूरेश्वर भृग झाला,
सेवावया नित्य सुखें रसाला।'

इसी प्रकार महाभारत के सम्वन्ध में उनकी विज्ञप्ति है कि भगवान व्यास ने श्रुति, स्मृति, शास्त्र-पुराण आदि को महाभारत में भर दिया है, शब्दब्रह्म सागर का मन्थन कर इतिहासकलश में अमृत भर कर जडता रोग को हरने के लिये उन्होने सन्तो को दे दिया। भागवत के विषय मे उन्होने कहा कि यह मोह हरता है, जीवन्मुक्ति प्रदान करता है तथा हरिकी महिमा से परिपूर्ण है।

मोरोपन्त आदर्श गृहस्थ, परम भगवद्भक्त और महान सन्त थे। सन्त-महात्माओ के प्रति उनमें वडी पूज्य वुद्धि थी, अपने मित्रो के प्रति प्रेम था, परिवार वालो के लिये सेवा-भाव था तथा जीवमात्र के प्रति स्वाभाविक रूप से वे दयालु थे। वारामती-निवासी वावूजी नाइक से उनकी वहुत पटती थी, दोनो एक दूसरे के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त थे। मोरोपन्त ने अपने महाभारत के कर्णपर्व में वावूजी नाइक के सद्गुणो की वडी प्रशसा की है। वावूजी नाइक को उन्होने 'प्रभुज्ञानी' विशेपण से समलकृत किया है।

मोरोपन्त ससार के प्रतिपूर्ण विरक्त थे। वे भागवत कवि थे, उनकी अन्तरात्मा राममयी थी। भगवद्भक्ति ही उनकी वास्तविक सम्पत्ति थी। वे परमसज्जन और रामभक्ति के विशेपज्ञ थे।

सम्वत् १८५१ वि में चैत्र की रामनवमी को उन्होने धूमधाम से श्रीराम का जन्मोत्सव किया। एकादशी को उन्हे ज्वर आया, धीरे-धीरे ज्वर वढने लगा। मोरोपन्त के प्रेमी जन तथा परिवार के लोग एकत्र हो गये। मगलवार था। चैत्र पूर्णिमा के शुभ अवसर पर मोरोपन्त ने अत्यन्त हृदयद्रावक काव्य भाषा मे गोमाता, भूमाता, तुलसी, गगा माता और रामनाम तथा आप्त जनो और भक्तो का स्मरण किया। वस, कुछ ही समय मे अत्यन्त आस्तिकता के वातावरण में उनके प्राण देह से वाहर हो गये। जनता की ओर से उनके भक्त पाण्डुरग नाइक ने एक विशाल राममन्दिर का निर्माण उनके शुभ स्मरण के प्रतीक स्वरूप कराया। मोरोपन्त अपने समय की वहुत वडी काव्यशक्ति थे। भक्ति के प्रचारक और राम के महान भक्त थे।

रचना

मन्त्र भागवत, महाभारत, रामायण, हरिवश, कृष्णविजय, कुशलवा-

ख्यान, मदालसाचरित्र, दुर्गासप्तशती, सावित्री गीत, राधाविलास, रुक्मिणी विलास आदि मोरोपन्त की प्रसिद्ध कृति हैं।

वाणी

मन हे चि फार इच्छी की आता सेवणें तुझे पाय।
तुज वाचुनि इतराच्या भजनी मजलागि होय फल काय।

मेरे मन की बडी इच्छा है कि अब आपके चरणो का सेवन करूँ। हे भगवान, आपके विना दूसरो की सेवा करने मे मुझे किस फल की प्राप्ति हो सकती है।

श्रीरामाते गावे, श्रीरामा ते ध्यावे।
श्रीरामाते भावे। आठवावे ।।
रामाचे चरित, अमृत भरित।
सेवावे त्वरित, सर्वानी ही।।
श्रीराम दयेचा मेघ त्या समोर।
प्रेमें दास मोर, नाचताती।।

श्रीराम का ही यश गाना चाहिये। उन्ही का ध्यान करना चाहिये, राम के ही चिन्तन और स्मरण में तत्पर रहना चाहिये। उनके चरित्र अमृत मय हैं, सब को उनका सेवन करना चाहिये। श्रीराम दयाघन है, उनके सामने (मोरोपन्त) मैं प्रेम से नाचता हूँ।

दयामृत घन श्रीमानकृष्ण लक्ष्मीपती हरी।
करी भक्तमयूराते सुखी हृत्ताप सहरी।

लक्ष्मीपति हरि श्रीकृष्ण भगवान दयामृत घन हैं। उन्होने मेरे हृदय का सताप हर लिया, मैं उनकी कृपा से सुखी हो गया।

मुखी हरि! वसो तुझी कुशलधामनामावली।
क्षणात पुरवील जी सकल कामना मावली।।
कृपा करिशि तू जगत्रय निवास दासावरी।
तशी प्रगट हे निजाश्रित जना सदा सावरी।।

हे भगवान! मेरे मुख में आपकी मगलमयी नामावली का निवास हो, जिससे क्षणमात्र में मेरी सकल कामनायें फलवती हो जायें। जिस प्रकार आप

तीनो लोक के दासो पर कृपा करते है, उसी प्रकार , हे श्यामसुन्दर आप मुझ पर कृपा करे, मैंने आप का आश्रय ले रखा है।

मेघाचे प्रतिविम्व पाहुनि सुखें नाचेचिलागे भुले।
मानो सर्वमनोरथ द्रुम फली ओथवले आपुले॥
ऐसा भक्त मयूर चातकहि जो नेणे दुजी भावुके।
तो साक्षात् घन दर्शनी किती सुखी ते प्रेमला ठावुके॥

मेघ के प्रतिविम्व को देखकर आत्मविमोर होकर सुख से मन नाच उठता है मानो अपने सकल मनोरथो का द्रुम फल से परिपूर्ण हो उठा है। भाव से भरे ऐसे मुझ चातक रूपी मोरोपन्त को साक्षात् घन–भगवान के दर्शन से कितना सुख मिलता है, यह केवल मैं ही जानता हूँ।

सन्त सोहिरोबा नाथ

निरबैरी सब जीव सू, सत जना सोई।
दादू एकै आतमा, बैरी नहिं कोई॥
काहे कू दुख दीजिये, घट-घट आतमराम।
दादू सब सतोषिये, यहु साधू का काम॥

—सत दादू

सन्त सोहिरोबा नाथ की परिगणना महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्तो में की जाती है। अभी दो सौ साल पहले की बात है, उन्होने अपनी अखण्ड साधना और तपस्या से महाराष्ट्रीय सन्त-साहित्य-क्षेत्र में जो नाम कमाया उसका उल्लेख मध्यकालीन भारतीय इतिहास की एक महती घटना है। जिस समय मुगल राजसत्ता का सूर्य तीसरे पहर पर था, विदेशी प्रभुता के ग्रहण से स्वराज्य स्वधर्म और स्वदेश आतक-ग्रस्त होने वाला ही था, महाराज शिवाजी की शासन-परम्परा को जीवित रखने के लिये आमात्य प्रधान—पेशवा की ओर से एडी-चोटी का पमीना एक किया जा रहा था, भोसले, सिंधिया, होलकर और गायकवाड का महाराष्ट्रीय राजसघ अपनी प्रभुता की पराकाष्टा पर था, उस समय सोहिरोवा नाथ ने अपने आध्यात्मिक ऐश्वर्य और आत्मज्ञान के प्रकाश से जनता को सत्य का सन्देश दिया, घर-घर में भगवद्भक्ति का प्रचार किया। मराठी साहित्य में सन्त सोहिरोवा वहुत वडी आध्यात्मिक शक्ति स्वीकार किये जाते है। उनका समग्र जीवन पवित्रता और पुण्य का अप्रतिम प्रतीक था।

सोहिरोवा नाथ सारस्वत व्राह्मण थे। उनके पूर्वज गोवा प्रान्त के रहने वाले थे। वे परम धर्मनिष्ठ और सदाचारी थे। श्रीभगवान के स्मरण-चिन्तन में सम्पूर्ण परिवार की पूरी-पूरी निष्ठा थी। उद्योग-धन्धे के सम्बन्ध मे उनके पूर्वज गोवा से सावतवाडी चले आये। सावत वाडी के लब्ध प्रतिष्ठ लोगो से इस परिवार का थोडे ही समय में घनिष्ठ परिचय हो गया। राजकीय प्रतिष्ठा ने भी सोहिरोवा के पूर्व पुरुषो का आलिंगन किया। सावतवाडी से

चार कोस की दूरी पर वादे अथवा एदिलावाद ग्राम में ही उनके पूर्वजो ने अपना निवास स्थिर किया था। सम्वत् १७७१ वि मे एदिलावाद में ही सोहि-रोवा नाथ का जन्म हुआ था। उनके प्रकट होते ही केवल घर में ही नही, समस्त ग्राम में अलौकिक प्रकाश का अवतरण हुआ। वातावरण उनके जन्म की दिव्यता से प्रभावित हुआ। .. धीरे-धीरे उनकी अवस्था बढने लगी, उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रवन्ध था। साधु सन्तो की सेवा, गुरुजनो के आज्ञा-पालन और प्राणीमात्र के प्रति सहजरूप से अपनत्व प्रकट करने में उनको वडी प्रसन्नता होती थी। वडे होने पर उन्होने पूर्व पुरुषो की ही तरह कुलकर्णी का कार्य सम्हाला। वे वडी पवित्रता और निष्पक्ष बुद्धि से अपना कार्य-सम्पादन करते थे। उनके जीवनका पूर्वार्ध कुलकर्णी का कार्य करते ही वीता। सावतवाडी के शासक उन दिनो खेम सावत थे, उनकी अवस्था अल्प थी, उनकी अल्पवयस्कता में राजकार्य उनके चाचा सोम सावत ने सम्हाला। सोमसावन्त-आवा साहेव वडे व्यसनी, विलासी और अनुदार शासक थे। उनके अत्याचार और कुप्रवन्ध से जनता अमित अशान्त और उत्पीडित थी। सोम सावन्त ने कर उगाहने मे वडी निर्दयता का परिचय दिया। कुलकर्णी उनकी नीति से सदा आतकित रहते थे। कर-प्राप्ति के सम्वन्ध में सोम सावन्त ने सोहिरोवा नाथ को भी वुला भेजा। एक ईश्वरोपासक के रूप में सोहिरोवा की विशेप प्रसिद्धि थी। सोम सावन्त ने धमकी दी कि ईश्वर का दर्शन कराओ नही तो मृत्यु के मुख में जाना पडेगा। सोहिरोवा उनकी धमकी से तनिक भी विचलित नहीं हुए। थोडी देर में एक ज्वाला -सी दीख पडी। सोहिरोवा ने विनम्रता-पूर्वक निवेदन किया कि यह ज्वाला ईश्रवर के कोप के रूप में प्रकट हुई है, वहुत वडा अनर्थ होगा। कुछ दिनो के वाद आग में जलने पर आवा साहेव का प्राणान्त हो गया, सन्त को उत्पीडित करने के समान दूसरा पातक ही नही है, इस पाप का प्रायश्चित-विधान ही नही है, सन्त की कृपा और क्षमा से ही इस पाप-ताप का परिशमन होता है तो हो जाता है। -इस घटना से सोहि-रोवा का मन वैराग्य से परिपूर्ण हो उठा, उनका ईश्वर-विश्वास वढ गया तथा ससार के नश्वर रूप के प्रति अनासक्त हो उठे।

ससार की किसी भी वस्तु मे उनका राग नही रह गया। सन्त-महात्माओ के दर्शन की भूख निरन्तर वढने लगी। भगवान और सन्त की कृपा अधिकारी जीवको अनायास ही मिलती है। एक समय की वात है, सोहिरोवा नाथ एक

वन के मध्य से कही जा रहे थे। चारो ओर विचित्र और निर्जन उदासी छायी हुई थी। समस्त वनप्रान्त भयकर सॉय-सॉय कर रहा था। सोहिरोबा नाथ को वडी भूख लगी थी, उनके पास एक कटहर था, वे उसे फोड कर खाने ही वाले थे कि इसी वीच में उनके कान में शब्द पडे—'बाबू, मुझे कुछ देता है।' सोहिरोवा सावधान हो गये। उन्हे एक महात्मा दीख पडे, सोहिरोबा ने सम्पूर्ण कटहर सन्त के हाथ में रख दिया और विनम्रता पूर्वक निवेदन किया कि इस समय सेवक के पास आपके भोजन के लिये यही पदार्थ है। सन्त उनकी मनोदशा से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने कटहर फोड कर चार कोवे सोहिरोवा को प्रसाद रूप मे दिये। सन्त का प्रसाद था। उसे ग्रहण करते ही सोहिरोवा की चित्तवृत्ति वैराग्यमयी हो गयी, अध्यात्म की स्फटिक निर्झरिणी उनकी चेतना में रमणशील हो उठी, वे जागरुक हो गये। उन्होने सतचरण की धूलि-भागीरथी में अवगाहन कर परम पुण्य कमाया। महाराष्ट्र में ऐसी मान्यता है कि नाथ सम्प्रदाय के परम योगी गहिनी नाथ ने ही उन्हे कृपापूर्वक दर्शन देकर वैराग्य-मार्ग पर लगाया था, वे ही सन्त सोहिरोबा नाथ के दीक्षा-गुरु थे। इस समय सोहिरोबा की अवस्था पैंतीस साल की थी। उन्होने कुलकर्णी के पद से त्यागपत्र दे दिया और भगवानके भजन-पूजन मे लग गये। थोडे ही समय में सोहिरोबा नाथ वहुत वडे योगसिद्ध महात्मा के रूप में प्रसिद्ध हुए।

भारतीय जीवन में तीर्थयात्रा का बहुत वडा महत्व स्वीकार किया जाता है। सत और गृहस्थ-सब के सब इस विषय में एक मत हैं। सोहिरोवा नाथ ने तीर्थ-यात्रा का विचार किया। घर पर पुत्र वधू थी। वह विधवा थी। उस समय उसका पुत्र मरणासन्न था। उसने सोहिरोबा के चरणो में निवेदन किया कि इस समय असहाय अवस्था में मुझे घर पर अकेली छोड कर आप तीर्थ यात्रा न आरभ कीजिये। सन्त पुत्रवधू की प्रार्थना पर द्रवित हो उठे। वे ठहर गये। भगवान की कृपा से कुछ दिनो में मरणासन्न पौत्र स्वस्थ हो गया। सोहिरोवा घरवालो के पालन पोपण का कार्य-भार भगवान के चरणो में समर्पित कर तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। तीर्थयात्रा ने सोहिरोवा की दैवी सम्पत्ति-वृद्धि में महान योगदान किया।

तीर्थ यात्रा-काल मे ही वे ग्वालियर गये। महादजी सिधिया उस समय के प्रभावशाली मराठा शासक थे। ग्वालियर की राजसभा मे सोहिरोवा को पधारने का निमन्त्रण मिला। महादजी के सेनापति जिववा दादा सोहिरोवा

नाथ से अमित प्रभावित थे। उनकी साधुवृत्ति से परम मुग्ध थे। उनकी हार्दिक इच्छा था कि सोहिरोवा को ग्वालियर दरबार में महती ख्याति प्राप्त हो पर सन्त के जीवन में लोक-ऐश्वर्य का कोई महत्व ही नही है, सन्त-महात्मा तो आत्मानन्द के सागर में सदा मगन रहते है। जिववा दादा ने सोहिरोवा से प्रार्थना की कि सिंधिया एक अच्छे कवि हैं, वे आपको अपनी कविता दिखायेंगे, आप उनकी प्रशसा करेगे तो वे बहुत प्रसन्न होगे। सोहिरोबा ने मौन-धारण कर लिया। वे राजसभा में उपस्थित हुए। सिंधिया ने अपनी कविता दिखायी। सोहिरोवा को राजप्रभाव अपने वश में नही कर सका। उन्होने स्पष्ट कहा कि यह कविता मुझे तनिक भी पसन्द नही है, जिस कविता में भगवान का यश-वर्णन नही रहता है वह नितान्त तुच्छ, हेय और उपेक्षा की वस्तु है, वह वाणी असार और अपवित्र है जिसमें भगवद्रस नही रहता है। समस्त राजसभा सन्त सोहिरोवा की स्पष्ट और निर्भय उक्तिसे आश्चर्यचकित हो गयी। महादजी सिन्धिया अप्रसन्न हो उठे पर सोहिरोवा के कथन के विरुद्ध कुछ भी कहने की उनमें शक्ति नही थी, उनका राजमद उतर गया, वे पराजित हो गये। सोहिरोबा ने स्पष्ट कहा कि लोक-ऐश्वर्य से मुझे तनिक भी भय नही है, मेरी एक मात्र सम्पत्ति भगवान की परम ज्योतिमयी कृपा-दृष्टि है। सोहिरोवा नाथ ग्वालियर से उज्जैन गये, एक मठ की स्थापना कर उज्जैन में ही एकान्त-सेवन और भगवद्-भजन करने लगे।

सन्त सोहिरोवा नाथ महाराष्ट्र की बहुत बडी अध्यात्म-शक्ति स्वीकार किये जाते हैं। उन्होने सन्तमत की विजयिनी पताका फहरायी। ोविन्द के नामरसामृत-दान से उन्होने असख्य प्राणियो का सद्गति-विधान किया। उन्होंने कहा कि वाणी का शृगार भगवान के नाम का स्मरण है। भगवान का नाम सकीर्तन भवभय का नाश कर देता है। भगवान का यश-चिंतन विजय पद और आत्मानन्द प्रदान करता है। उनकी वाणी में ज्ञान और भक्ति का समीचीन समन्वय हुआ है, निर्गुण और सगुण परमात्म-चिंतन से उन्होने मराठी सन्तसाहित्य की विशेप रूप से श्रीवृद्धि की। उनके परमात्मा सर्वव्यापक होकर भी उनके हृदयदेवतारूप में अपना विशेप व्यक्तित्व रखते हैं – ऐसा उनकी भक्तिमयी वाणी से पता चलता है। उन्होंने राधा-कृष्ण के लीला-सम्बन्धी सरस शृगारपूर्ण पदो की भी रचना की थी, एक पद में उनकी उक्ति है -

'आनन्दे नाचे हा श्रीरग।
वाजवी अनाहत मारग।।
मोठा होताहे गजर।
नादें दुमदुमले अवर।।'

भगवल्लीला का चिंतन ही उनकी साधना का स्वरूप था। भगवन्नाम में उनका दृढ विश्वास था, अपरिमित श्रद्धा थी। उनकी उक्ति है कि निरन्तर अपने इष्ट राम के नाम का जप करना चाहिये, इससे स्वपद की प्राप्ति होती है और थकावट मिट जाती है, भक्ति, मुक्ति और विरक्ति में मन रमण करने लगता है, जगत के समस्त पदार्थों में मन अनासक्त हो उठता है, हृदय में निष्कामता आती है, अपने आपकी पहचान होती है, राम के नाम से ही आराम मिलता है। उन्होने कहा कि हे भगवान, आप को छोड कर दूसरा कुछ भी अच्छा नही लगता है। विषय-सुख में रस नही है।

सोहिरोबा नाथ विद्वान सन्त थे पर साथ ही-साथ उनका अनुभव भी उच्च कोटि का था। उन्होनें वैराग्य परक अनेक ग्रन्थो की रचना की। उन्होने अपने भीतर परम प्रकाशक सत्ता की खोज की। स्वयमेव साक्षीभूत परमात्मा के निरन्तर स्मरण पर उन्होंने अमित जोर दिया। उन्होंने कहा कि परमात्मा की परिव्याप्ति से शून्य यह शरीर केवल शवमात्र है, परमात्मा ही शरीर के चेतन अथवा प्राणतत्व हैं। इस लिये उनकी भक्ति जीव का स्वाभाविक धर्म है। एक पद में उनकी स्वीकृति है

'विसरूँ नको तो देव।'
जो साक्षीभूत स्वयमेव।'

. . .

'म्हणे सोहिरा त्यावाचुनि हे शरीर केवल शव।
स्वय प्रकाशक सत्ता ज्याची चालवि हे अवयव।।'

सोहिरोवा की वाणी में काव्यसौष्ठव और ब्रह्मानन्द का दिव्य दर्शन होता है। वे वाग्सिद्ध महात्मा थे। उनकी वहिन भी उनकी कृपा से मोक्षाधिकारिणी हो गयी। उन्होने सोहिरोवा के मुख से निकले पदो को लिपिवद्ध करने का भार अपने हाथ में लिया था। उनकी श्रममयी तपस्या से सोहिरोबा की काव्यकृति का दर्शन सुलभ हो सका।

समाधिस्थ होने के तीन साल पहले ही वे अदृश्य होकर तपोमय जीवन बिताने लगे। सम्वत् १८४९ वि की रामनवमी को वे ब्रह्मलीन हो गये। उस समय उनकी आयु अठहत्तर साल की थी। अन्तसमय में उनके दिव्य विचार थे कि हे भगवान, अनन्य भाव से में आप के ध्यान में सलग्न रहूँ, आप के ही रूप का रसिक होकर आप के स्वरूपभूत हो जाऊँ, आपके नामका सदा सकीर्तन कर परमानन्द रस में निमग्न रहूँ। सन्त सोहिरोबा अनुभवसिद्ध सन्त थे, विद्वान महात्मा और ज्ञानी तपस्वी थे।

रचना

अक्षय बोध में समाधिराज योग, अद्वैतयोग, वैराग्य योग और ज्ञान योग, सद्विवेक योग, विवेक योग, बोधलक्षण योग तथा मुक्तलक्षण योग का विवेचन है। महदनुभवेश्वरी, पूर्णाक्षरी, अद्वयानन्द और सिद्धान्त सहिता–सिद्धान्त सविता सन्त सोहिरावा के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वाणी

बोल रे नाम गोविंदाचे।
तनु मनधन ते जाणुनि अतरी।
घोष करी का निशिदिनि वाचे।
नामस्मरणी भवभय हरणी।
विजय पद निज सुखाचे।
सोहिरा म्हणे नाही मीतू पण।
हरेल भान विषयसुखाचे॥

भगवान गोविन्द का नाम बोलिये। तन, मन और धन से अपने हृदय में निरन्तर इसी का विचार करना चाहिये, इसी को सर्वस्व समझिये। व्यर्थ रात-दिन बक-बक करने से कुछ भी लाभ नही है, भगवान का नाम-स्मरण करने से भवभय मिट जाता है। समस्त सुख-विभूति मिलती है। केवल मुझे ही नही, आपको भी इसी भगवन्नाम का आश्रय ग्रहण करना चाहिये, इससे सासारिक विषय-सुख का मिथ्या मान नष्ट हो जाता है।

वदियला भगवन्त।
तो म्या वदियला भगवन्त॥

भवसिंधु तारक निजसुख कारक।
सकला आदि अत॥
सज्जन-रञ्जन अलख निरञ्जन।
भक्तजना कृपावत॥
वेद झाले मुके , शेष न स्तवू शके।
ज्याचे स्वरूप अनत॥
नव्हे नरनारी, गैबी सूत्रधारी।
हालवि जो जीव जत॥
सोहिरा म्हणे अनुभवी। पाहणें चित्सुखवप्रवसत॥

मैंने भगवान की वन्दना की। भगवान भवसिंधु से तार देते हैं, आत्मानन्द प्रदान करते है। वे ही सब के आदि अन्त है। सज्जनो का रञ्जन करनेवाले अलखनिरञ्जन हैं। भक्तो पर कृपा करते हैं, वेद उनके यशवर्णन में मूक हो जाते हैं, शेष स्तुति करने में असमर्थ हैं। वे अनन्त हैं। गुरु गहिनी नाथ को प्रणाम कीजिये। सोहिरा का अनुभव है कि भगवान दिव्य आनद देते हैं।

सन्त सहजोबाई

सुवर सतगुरु यों कह्या, सकल सिरोमनि नाम।
ताको निसुदिन सुमरिये, सुख सागर सुखधाम।।

—सन्त सुन्दरदास

सन्त सहजोवाई महात्मा चरणदास के सन्तमत, ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-मूलक सिद्धान्त की व्याख्याकार थी। उन्होने आजीवन अपने गुरु के पदचिह्नो पर चल कर प्रेममय परम तत्व—परमात्मा की उपासना की। सहजो वाई ने गुरु-भक्ति का अपनी रचनाओ में वहुत सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। अपने सहज प्रकाश ग्रन्थ में उन्होने गुरुतत्व की जो व्याख्या की है; गुरु के प्रति जो निष्ठा प्रकट की है वह मौलिक और नितान्त मर्मस्पर्शी है। सन्त साहित्य मे मीरा की ही तरह नारीसन्तो में उन्हे अमित महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनका जीवन पूर्ण वैराग्यमय था, वे ब्रह्मज्ञानी थी, ज्ञानयोगिनी थी।

वे विक्रम की अठराहवी शती में वर्तमान थी। ऐसा कहा जाता है कि उनका जन्म सम्वत् १७४० वि के लगभग हुआ था। चरणदास की ही तरह उनका भी जन्म ढूसर कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम हरिदास था। वे भगवद्-भक्त और सीधे-सादे स्वभाव वाले गृहस्थ थे। पिता के सद्गुणो तथा विनम्रता से ही सहजोवाई का जीवन अध्यात्म की ओर वढने लगा। वचपन से ही उनमें वैराग्य का उदय हुआ। विवाह का प्रस्ताव उपस्थित होने पर उन्होने स्पष्ट कहा कि मै विवाह नही करूँगी। भगवान की कृपा से यह शरीर मुझे हरि-भजन के लिये मिला है। उन्होनें आजीवन कुमारी रह कर ब्रह्मचर्यमय जीवन विताने का सकल्प किया। वे वहुत दिनो तक अपने जन्म स्थान— राजस्थान के मेवात प्रान्त के डेहरा ग्राम में ही निवास करती रही। उनके समकालीन सन्त चरणदास जी महाराज उन दिनो दिल्ली में निवास कर लोगो को सत्सग और भगवद्भक्ति का सुख प्रदान कर रहे थे। चरणदास सहजोवाई के जन्म-स्थान डेहरा के ही रहने वाले थे। सहजोवाई को कोई अदृश्य शक्ति वार-वार

दिल्ली जाकर चरणदास के चरण में सर्वस्व-समर्पण कर देने के लिये प्रेरित कर रही थी। वे उनके दर्शन के लिये चल पडी। उनका मन वार-बार यही सोच रहा था—उनकी उक्ति है, कि जिसे लोक-परलोक की वासना नही है वह ब्रह्म स्वरूप है, जिस प्रकार लहर को सागर में ही समाना पडता है इसी प्रकार आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। वे अपने सद्‌गुरु से मिलने जा रही थी,

'जाकी गुरु में वासना सो पावै भगवान।
सहजो चौथे पद वसे, गावत वेद-पुरान॥'

उन्होने महात्मा चरणदास के चरण पर मस्तक नत कर कहा कि मुझे भवसागर से पार उतारिये, मेरा इस ससार में आप के सिवा कोई नही है। चरणदास जी महाराज के आश्रम में रह कर साधना करने लगी। वे सदा अपने गुरु के सम्मुख निवेदन करती रहती थी।

'अब तुम अपनी ओर निहारो।
हमरे औगुन पै नहिं जावो, तुमही अपना बिरदसम्हारो॥
जुग-जुग साख तुम्हारी ऐसी, वेद-पुरानन गाई।
पतित उधारन नाम तिहारो, यह सुन के मन दृढता आई॥
मैं अजान तुम सव कछु जानो, घट घट अतर जामी।
मैं तो चरन तिहारे लागी, हौकिरपाल दयालहि स्वामी॥
हाथ जोरि के अरज करत हौं, अपनाओ गहि वाँही।
द्वार तिहारे आय परी हौं, पौरुष गुन मोमें कछु नाही॥
चरनदास सहजिया तेरी, दरसन की निधि पाऊँ।
लगन लगी और प्रान अडे है, तुमको छोडि कहो कित जाऊँ॥'

महात्मा चरणदास सहजोवाई की निष्ठा से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने मन्त्र दिया, उनको दीक्षित कर शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। सहजोवाई ने स्वीकार किया है कि कान में मन्त्र का शव्द पडते ही अज्ञान मिट गया, हृदय में प्रकाश आ गया, ससार का नश्वर रूप समझ में आ गया। मुझे सद्‌गुरु ने तत्व का दर्शन करा दिया। मैंने आत्मज्ञान के सहारे ब्रह्मानन्द में, परमात्मा के प्रेम-राज्य में प्रवेश किया।

वे आत्मानुसधान में लग गयी, यही उनका सवसे वडा काम था। उन्हें ज्ञान हो गया कि यह शरीर पानी के वुलवुले के समान है इसलिये प्रियतम

परमात्मा से मिलने का उपाय कर लेना ही जीवन की सार्थकता है। भगवान के भजन में ही परम सुख है। उन्होंने अनुभव किया .

'सब घट व्यापक राम हैं, देही नाना भेष।
राव रक चाण्डाल घर, सहजो दीपक एक।'

सहजोबाई ने सचराचर में अपने आराध्य की छवि देखी, ज्योति पायी। सहजोबाई ने भगवच्चिन्तन का स्वरूप प्रेममय स्वीकार किया, भगवत्प्रेम की उपलब्धि उन्होंने आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार के द्वारा सुलभ बतायी। निर्गुण-सगुण दोनो पक्ष पर उन्होंने पद रचे। दोनो की उपासना परम मधुर और रसमयी समझी। अपने गुरु चरणदास की ही तरह वृन्दावन-विलासी श्रीकृष्ण में उनकी बडी भक्ति थी, वे श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओ की गायिका थी, उन्होंने उनकी लीलाओ का चिंतन प्रेम और ज्ञान दोनो के स्तर पर किया उन्होंने बताया

'नाम नही, औ नाम सब, रूप नही, सब रूप।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है, हरि परगट हरि गूप॥'

अपने गुरु की कृपा से उन्होंने जीवन में अनेक बार भगवान की लीलाओ का साक्षात्कार किया। उनकी उक्ति है कि नन्द और यशोदा के भाग्य धन्य है, वृन्दावन की भूमि परम सौभाग्यवती है कि निरञ्जन ब्रह्म ने ग्वाल वेष में उन को धन्य किया।

'धन्य जसोदा, नन्दधन, धन ब्रजमण्डल देस।
आदि निरञ्जन सहजिया, भयो ग्वाल के भेस॥'

भगवान कृष्ण के रास का भी उन्होंने सजीव वर्णन किया है, उनके मुकुट की लटक, नृत्य, चाल, नूपुरध्वनि आदि में उन्होंने परमानद रस की अनुभूति की।

सहजोबाई के जीवन में गुरुनिष्ठा का अद्भुत प्रभाव था। उनकी गुरु-भक्ति असाधारण थी। उन्होंने कहा है कि यदि मुझे हरि को छोडना पडे तो मैं बडी प्रसन्नता से छोड सकती हूँ पर गुरु का त्याग मेरे लिये किसी भी स्थिति में सम्भव नही है। हरि तो जन्म देते हैं पर गुरु जन्म-मरण से मुक्त कर देते है। गुरुने मुझे आत्मदीपक दिया और मैंने उस दीपक के प्रकाश में आत्म साक्षात्कार कर लिया।

गुरुनिष्ठा और भगवद्‌रस-अनुभूति के गान मे ही उनकी साधना का दर्शन होता है। सहजो बाई ने सन्त साहित्य की श्रीवृद्धि में महान योग दिया। उनका 'सहज प्रकाश' ग्रन्थ मत-साहित्य को एक वहुत वडी देन है, यह ईश्वर की कृपा से ही विस्तार पा सका। सहजो वाई ने सम्वत् १८०० वि में इसकी रचना की, उनकी उक्ति है

'फाग महीना अष्टमी, सुकल पाख बुधवार।
सवत अठारह सै हुते, सहजो कियो विचार॥
गुरु अस्तुति के करन कू, बाढ्यो अधिक हुलास।
होते होते हो गई, पोथी 'सहज प्रकास'॥'

'सहज प्रकाश' में गुरुनिष्ठा, आत्मचिंतन और भगवद्‌भक्ति तथा साधना के विभिन्न अगो पर प्रकाश डाला गया है। दयाबाई एक उच्च कोटि की योगिनी थी, चरणदास की शिष्य थी, सहजो बाई से उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। दोनो एक दूसरे की साधना से प्रभावित थी। सम्वत् १८२० वि के लगभग सहजो बाई ने चोला छोडा। उनका जीवन धन्य था, वे ज्ञानयोगिनी थी, प्रेमोपासिका थी।

रचना

'सहज प्रकाश' सहजो वाई की प्रसिद्ध रचना है।

वाणी

परमेसुर सू गुरु बडे, गावत वेद पुरान।
'सहजो' हरि के मुकति है, गुरु के घर भगवान॥
गुरु आज्ञा मानै नही, गुरुहि लगावै दोष।
गुरु निन्दक जग में दुखी, मुए न पावै मोष॥
चिउँटी जहाँ न चढि सकै, सरसो ना ठहराय।
सहजो कू वा देस में, सतगुरु दई बसाय॥
जो आवै सतसग में जाति वरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल, मिलै सु गगा होय।
साध असगी सग तजै, आतम ही को सग॥
वोध रूप आनन्द में, पियै सहज को रग॥

हरि हरि जपलेनी, औसर बीतो जाय।
जो दिन गये सो फिरि नहिं आवैं, कर विचार मन लाय ।।
या जग बाजी साँच न जानो, तामें मत भरमाय।
कोई किसी का है नहिं बौरे, नाहक लियो लगाय ।।
अत समय कोई काम न आवैं, जब जम लेहि बोलाय।
चरनदास कहै सहजो बाई, सत सगत सरनाय ।।

जग में कहा कियो तुम आय।
स्वान जैसो पेट भरि के , सोयो जनम गँवाय।
पहर पछिले नाहिं जागो, कियो न सुभ करम।
आन मारग जाय लागो, लियो न गुरु धरम।
जप न कीयो तप न साधो, दियो न तैं दान।
बहुत उरझे मोह-मद मे, आपु काया मान।
देह घर है मौत का रे, आन काढे तोहि।
एक छिन नहिं रहन पावै, कहा कैसो होहि।
रैन दिन आराम ना, काटै जो तेरी आव।
चरनदास कहै सुन सहजिया, करो भजन उपाव ।।

परो मन हरि गुन गावन बान।
बिनु गोपाल और जो भाखो, तो तोहिं गुरु की आन।
वेद माहिं ब्रह्मा मुनि गावै, शकर सीगी माहि।
शेष सहस मुख निसदिन गावे, समय विचारत नाहिं।
वीण लिये नारद मुनि गावैं, गावे व्यास विचारि।
गणपति सारद गान करत हैं, गन्धरब सभी पुकारि।
गुणानुवाद गावत प्रभु-दरसन बढै भगति को भाव।
सुखदेव गावत चरणदास ही, सहजो को भी चाव ।।

सन्त गुलाल साहब

करें अब कौन बहाना, गवन हमरा नगिचाना ॥
सब सखियन मेरी चूनरमैली, दूजे पिया-घर जाना ।
तीजे डर मोहिं सास-ननद का, चौथे पिया देहे ताना ॥
प्रेम नगर की राह कठिन है, वहाँ रगरेज सियाना ।
एक बोर दे दियो चुनरी में, तासो पिय पहिचाना ॥
राह चलत सतगुरु मिले 'वहजन', उनका है नाम बखाना ।
मेहर भई उनकी जब मोपर, तब ही लगी ठिकाना ॥

—सत वहजन

सत्तनामी सन्तो में गुलाल साहब की परिगणना बडे आदर और श्रद्धा से की जाती है। उन्होने अपनी साधनामयी अनुभूतियो का बडे रोचक ढग से सरस भाषा में वर्णन किया है। वे विक्रम की अठारहवी शती के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। उस समय दिल्ली में औरगजेब तथा उसके उत्तराधिकारी सिहासनारूढ थे। गुलाल साहब ने शान्ति और प्रेम का सन्देश दिया, आत्मज्ञान का दीपक प्रज्वलित कर अध्यात्म पथ पर चलने वालो को प्रकाश प्रदान किया। राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समय अशान्तिमय था पर सन्तो ने तथा तत्कालीन महात्माओ ने जनता को सतुष्ट, शान्त और सुखी रखने का सत्प्रयत्न किया। गुलाव साहव ने घोषणा की कि विना हरि-भजन के भवसागर से पार उतरना कठिन है, सुर, नर, मुनि, नाग सवके लिये भगवद्भजन की आवश्यकता है। उनकी उक्ति है

'सुर नर नाग मनुप औतार, विनु हरि भजन न पावहिं पार।'

गुलाल साहव ने कहा कि अपने भीतर ही राम है, उनका दर्शन अपने आप में ही करने की आवश्यकता है। राम ही परमानन्द-सागर और कल्याण कल्पतरु हैं।

उत्तर भारत के गाजीपुर जनपद के वेंसहरि मण्डल के भुरकुडा ग्राम में एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल मे सम्वत् १७५० वि में महात्मा गुलाल साहव ने जन्म लिया था। वे साधारण जमीदार थे, खेती से गृहस्थी चलाते थे। साधु-सन्तो की सेवा में बडी निष्ठा थी।

उनको वुलाकी राम एक हलवाहे ने अध्यात्म के पथ में लगाया। बुलाकी राम उनके घर पर खेती करते थे। एक दिन वे खेत मे हल चला रहे थे। गुलाल साहव उनके कार्य का निरीक्षण करने गये हुए थे। उन्होने देखा कि वुलाकी राम ने खेत जोतना वन्द कर दिया है, वैल खेत में हल में नधे खडे हैं। उन्होने वुलाकी राम को आवाज दी पर वे ध्यानमग्न थे। गुलाल साहव ने समझा कि काम से जी चुरा कर वुलाकी राम मेडपर वैठ कर आराम कर रहे हैं, उनकी पीठ पर जोर से लात मारी, वुलाकी राम का ध्यान भग हो गया, गुलाल साहव ने देखा कि वुलाकी राम के हाथ से दही मेड पर छलक गया है, वे आश्चर्य चकित हो गये। उन्होने वुलाकी राम से कारण पूछा। वुलाकी राम ने भयभीत होकर कहा कि मालिक! भूल हो गयी, काम रुक गया, भविष्य मे ऐसा फिर कभी नही होगा। मै सन्तो की सेवा में लग गया था, सव सामग्री यथास्थान रख दी थी, दही परोस रहा था तब तक आप आ गये। गुलाल साहव वुलाकी राम के चरणो पर गिर पडे। उनके रोम-रोम सिहर उठे। उन्होने कहा कि अव इस खेती को छोड कर अध्यात्म की खेती का तरीका वताइये। गुलाल साहव ने कहा कि मै आप से यही वरदान माँगता हूँ कि सत के चरण में मेरी भक्ति हो। बुलाकी राम ने उनको दीक्षित कर अपना शिष्य वना लिया, गुरुतत्व का बोध कराया। गुलाल साहव की उक्ति है.

'अविगत जागल हो सजनी।
खोजत-खोजत सतगुरु पावल, ताहिचरनवॉ चितवा लागल हो सजनी।
सॉझि समय उठि दीपक वारल, कटल करमवामनुवाँ पागल हो सजनी।
चललि उवटि-वाट छुटलि सकलघाट, गरजि गगनवा अनहद वाजल हो सजनी॥
गइली अनदपुर भइली अगमसूर, जितली मैंदनवॉ नेजवा गाडल हो सजनी।
कहै 'गुलाल' हम प्रभु जी पावल, फरल लिलखा पपवा भागल हो सजनी॥'

वुलाकी राम ही प्रसिद्ध सत वुल्ला साहब थे। उन्होने भुरकुड़ा में रह कर गुलाल साहव आदि शिष्यो को भगवन्नाम की महिमा तथा सत्सग आदि का तत्व समझाना आरम्भ किया। गुलाल साहव गृहस्थ -भेप में ही रह कर साधना

करने लगे। उन्होने सन्त सद्गुरु की कृपा प्राप्त की, ससार की आसक्ति मिट गयी, मन स्वस्थ हो गया। गुलाल साहब अपना सर्वस्व गुरु के चरणो पर समर्पित कर निश्चिंत हो गये। उनकी उक्ति है

'सतगुरु किरपा अगम भयो हो, हिरदय बिसराम।
अब हम सब बिसरावल हो, निस्चय मन राम॥'

उन्होंने स्वीकार किया है कि भयकर नदी के किनारे मै नाव पर चढकर पार उतरना चाहता था, वातावरण मेरे अनुकूल नही था पर सत्गुरु ने कृपा की, उन्होने मुझे परम प्रेमास्पद परमात्मा के चरण तक पहुँचा दिया। सन्त गुलाल साहब नाम मार्गी थे, उनकी रचनाओ में नाम-महिमा भरी पडी है।

बुल्ला साहब के प्रसिद्ध शिष्य जगजीवन साहब ने सत्तनाम का प्रचार किया, उनके दूसरे गुरुमुख शिष्य गुलाल साहब ने भुरकुडा में शान्ति और सत्य की शीतल ज्योत्सना में भगवान के प्रेम की मन्दाकिनी प्रवाहित की। बुल्ला साहब के मूलसिद्धान्त-नामसाधना का प्रचार करना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य अथवा ध्येय था। गुलाल साहब की उक्ति है

'गगन, मगन धुनि गाजे हो, देखि अधर अकास।
जन 'गुलाल' बँसहरिया हो, तहँ करहि निवास॥'

उन्होंने सदा अपने मन को राम-नाम का स्मरण करने की ही सीख दी। उनके लिये भगवन्नाम ही भगवत्तत्व था। भगवान के नाम का जप ही गुलाल साहब के भगवच्चिन्तन का स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने भगवत्तत्व के सम्बन्ध मे कहा है कि भगवान न तो 'उपजते' पैदा होते है, न उनका विनाश ही होता है, उन्हे चौरासी लाख योनि में चक्कर नही करना पडता है। वे नितान्त एक हैं, सत्गुरु हैं, अजर-अमर और अविनाशी है। न उनके बाप है, न माता है, उन्हे मोह-माया का बन्धन नही सताता है, न उनके भोग हैं, न योग हैं, वे कही आते-जाते नही है। गुलाल साहब ने अनुभवी योगी की तरह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्व का आतमदृष्टि से समीचीन विश्लेषण किया, भगवान के सत्स्वरूप की साधना मे वे निरन्तर लगे रहते थे। उनका एक अत्यन्त मार्मिक पद है

'लागलि नेह हमारी, पिया मोर॥
चुनि-चुनि कलियाँ सेज बिछावो, करो मै मगलाचार।
एकौ घरी पिया नहिं अइलैं, होइला मोहिं धिरकार॥

आठो जाम रैन-दिन जोहौ, नेक न हिरदय विसार।
तीन लोक कै साहब अपने, फरलहि मोर लिलार ॥
सत्त सरूप सदा ही निरखो, सतन प्रान-अधार।
कहै 'गुलाल' पायो भरिपूरन, मौजे-मौज हमार ॥'

निर्मल ज्ञान का विचार ही उनकी साधना का उन्नत क्रम था। उन्होने अखण्ड ब्रह्म स्वरूप की दिव्यता की अनुभूति की। सन्त-साहित्य मे गुलाल साहब को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनकी वाणी परम मधुर, सतमयी और प्रेमतत्त्व से परिपूर्ण है। सन्तो में उनकी बडी निष्ठा थी। उनका कथन है कि सत-चरण-कमल की महिमा का वखान करना मेरे वश की बात नही है। सन्त और भगवान में तनिक भी अन्तर नही है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश सन्त के पीछे-पीछे चलते रहते हैं। सन्त के सग से नीच परम पद प्राप्त करता है।

सम्वत् १८१६ वि में उन्होने चोला-त्याग किया। सन्त गुलाल साहब अन्तिम समय तक लोगो को ससार का विनश्वर रूप समझाते रहे। वे परम गुरुभक्त, महान भगवन्निष्ठ और असाधारण तत्वज्ञानी थे।

रचना

गुलाल साहब की वाणी का एक सग्रह पाया जाता है।

वाणी

जनम सफल भैलो हो हम धन पिया की पियारी ॥
सोरहो सिंगार सपूरन पहिरल, देखल रूप निहारी।
तत्त तिलक दे माग सवारल, विनवल अचरा पसारी ॥
आठ पहर धुनि नौवत बाजे, सहज उठै झनकारी।
रीझि-रीझि निवछावर वारो, मुक्ता भरि-भरि थारी ॥
गगन मण्डल में परम पद पावल, जमहि कइल धरि छारी।
जन 'गुलाल' सुहागिन पिय सग, मिलली भुजा पसारी ॥

नदिया भयावनी, कैसे चढौ मैं वेरे।
घाट न चलत, वाट नहि पायो, सगी सुभग घनेरे।
दरव नही कछु हासिल देना, उतरल चहो सवेरे।

सुमिरो चरन सतगुरु गोविन्द, प्रेम-प्रीति हिय लेरे।
ठौर-ठौर घटवार ठिकाने, केलि गयो डेरे।
पायो घर मेटी सब ससा, सगी सकल छुटे रे।
दास 'गुलाल' दया सतगुरु की, निरभय है पद नेरे।

जो पै कोई प्रेम को गाहक होई।
त्याग करै जो मन की कामना, सीस दान दै सोई।।
और अमल की दर जो छोडै, आपु अपन गति जोई।
हरदम हाजिर प्रेम पियाला, पुलकि-पुलकि रस लेई।।
जीव पीव महँ पीव जीव महँ, बानी बोलत सोई।
सोई सभन महँ हम सबहन महँ, बूझत बिरला कोई।।
वा की गती कहा कोइ जानै, जो जिय साँचा होई।
कह 'गुलाल' वे नाम समाने, मल भूले नर लोई।

सो दिन लेखे जादिन सत मिलाहिं।
सत के चरन-कमल की महिमा, मोरे बूते बरनि न जाहिं।।
जल-तरग जल ही ते उपजै, फिर जल माहिं समाहिं।
हरि में साध, साध में हरि है, साध से अन्तर नाहिं।।
ब्रह्मा बिसुन महेस साध सग, पाछे लागे जाहिं।
दास 'गुलाल' साध की सगति, नीच परम पद पाहिं।।

राम के काम मोकाम नहिं करत नर, फिर ससार चहुँ ओर धाया।
करत सताप सब पाप सिर पर लिये,
साध और सत नहिं नेह लाया।।
बाधि है काल जजाल जमजाल में, रहत नहिं चेत सब सुधि हेराया।
कहै 'गुलाल' जो नाम को जानि है, जीति है काल सोइ ज्ञान पाया।।

सन्त भीखा साहब

राम भजहु लवलाइ प्रेम पद पाइया।
सफल मनोरथ होइ सत्तगुन गाइया॥
सत साध सों नेह न काहु सताइया।
कह 'गुलाल' हरिनाम तबहि नर पाइया॥

—सत गुलाल साहब

सन्त के सग, शब्द और दृष्टि में अद्भुत आकर्षण होता है, एक बार क्षण भर के लिये भी जो प्राणी सत के सम्पर्क मे आ जाता है उसका जीवन पुण्य नय हो उठता है, एक बार भी जिसका हृदय सन्त के शब्द -बाण से घायल हो जाता है वह परमात्मा के रस का आस्वादन करने में समर्थ हो जाता है, सन्त की दृष्टि यदि किसी पर पल भर के लिये भी पड जाती है तो उसका सासारिक बन्धन टूट जाता है। सन्त भीखा साहब का जीवन इसी प्रकार गुलाल साहब के सग, शब्द और दृष्टि से बदल गया था। भीखा साहब उच्च कोटि के अनुभवी सत थे, उन्होंने आजीवन रामनाम की उपासना की। वे विक्रम की अठारहवी सदी के उत्तरार्ध और उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध मे विद्यमान थे। उन दिनो दिल्ली मे मुगलो की राजसत्ता थी। औरगजेब और उसके उत्तराधिकारियो का समय था। राजनैतिक स्थिति सतोप जनक नही थी। केन्द्रीय राजशक्ति दिन-प्रति-दिन कम जोर होती जा रही थी। ऐसे वातावरण में भीखा साहब ने रामनाम के प्रकाश से लोगो को चैतन्य और सावधान किया। इस समय के साहित्य-महारथी भी रीतिकारिता और शृगार का ही वरण कर रहे थे, केवल सन्त-आन्दोलन ही लोगो को घोर निराशा के अन्धकार से बाहर कर आध्यात्मिक क्राति की ओर ले जा रहा था। सत्तनामी सन्तो, जगजीवन, गुलाल, भीखा आदि ने इस पुण्य कार्य के सम्पादन में असाधारण योग्यता दिखायी। भीखा साहब ने सन्त-मत का प्रचार किया सन्त भीखा साहब का जन्म सम्वत् १७७० वि के लगभग उत्तर भारत के आजमगढ जनपद के मुहमदाबाद मण्डल के खानपुर बोहना

ग्राम में चौबे ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे वचपन से ही सरल स्वभाव के थे, खेल-कूद मे उनका मन तनिक भी नही लगता था। गाँव मे साधु-सन्त आते थे तो उन्ही के पीछे लग जाते थे। सात-आठ साल की ही अवस्था से उन्हे सन्तो का सग सुलभ होने लगा। धीरे-धीरे उनके मन में वैराग्य की भावना दृढ होने लगी। बारह साल की अवस्था में उनका उपनयन-सस्कार सम्पन्न हुआ। माता-पिता ने उनको गृहस्थाश्रम में बाँधने की बडी चेष्टा की पर उन्हे तनिक भी सफलता नही मिली। उनके सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा, वे मौन रहे, लोगो ने समक्षा कि वे विवाह के लिये प्रस्तुत हैं। तिलक-उत्सव के दिन वाजा वजने लगा, घर में मगल-गान होने लगा, लोग रग-बिरगे कपडे पहन कर आमोद-प्रमोद में मग्न हो रहे थे। भीखानन्द सोच रहे थे कि ससारवाले मेरे पैरो में वेडी डालने जा रहे हैं, भाग निकलना ही मेरे लिये मागलिक और हितकर है। वे विना किसी को बताये घर से निकल पडे। रामनाम में उनकी प्रीति बढ गयी। वे सत्गुरु की खोज मे काशी के लिये चल पडे। उन्होंने काशी में निवास कर कुछ दिनो तक विद्याध्ययन किया पर उनकी आध्यात्मिक प्यास नही मिट सकी, गुरु नही मिल सके। अध्ययन समाप्त कर वे घर लौट रहे थे। वे भगवान से मन ही-मन प्रार्थना कर रहे थे कि मुझे सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय।

उस समय गाजीपुर जनपद के भुरकुडा ग्राम में सन्त गुलाल साहब लोगो को अपने सत्सग से लाभ पहुँचा रहे थे। वे उच्च कोटि के महात्मा थे। उनका पद लोग वडे प्रेम से गाया करते थे। दैवयोग से लौटते समय भीखानन्द चौबे भुरकुडा के निकट अमुआरा ग्राम में ठहर गये, उस गॉव के देव मन्दिर में वे दर्शन करने गये थे, उन्होने गुलाल साहब का एक पद सुना, कोई व्यक्ति प्रेम से गा रहा था, सन्त के शब्द थे, भीखानन्द पद सुनते ही मुग्ध हो गये। उनके हृदय में गुलाल साहव के शब्द-वाण चुभ गये। वे उनसे मिलने के लिये भुरकुडा की ओर चल पटे। उस समय गुलाल साहब सत्सग कर रहे थे। नयन चार हुए। दोनो एक दूसरे की ओर आकृष्ट हो गये। भीखानन्द ने निवेदन किया

'मोहि राखो जी अपनी सरन ॥
अपरम्पार पार नहिं तेरो, काह कहौ का करन।
मन क्रम वचन आस इक तेरी, होउ जनम या मरन ॥
अविरल भक्ति के कारन तुम पर, ह्वै वाम्हन देउ धरन।
जन 'भीखा' अभिलाख इही, नहि चहौं मुक्ति गति तरन ॥'

गुलाल साहब ने उनको मन्त्र देकर शिष्य बना लिया, भीखानन्द सत भीखा साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे भुरकुडा में गुरु गुलाल साहब के ही पास रह कर साधना करने लगे। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि बढने लगी। गुलाल साहब के चोला-त्याग के बाद भीखा साहब ही उनके उत्तराधिकारी हुए।

वे आजीवन राम-नाम की माला फेरते रहे। उनकी चितवृत्ति उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी होती गयी। सिद्धि उनके चरणो की परिक्रमा करने लगी। बडे-बडे सन्त-महात्मा उनके सत्सग में सम्मिलित होने लगे। भुरकुडा उनकी कृपा से सन्तो के लिये तीर्थक्षेत्र बन गया।

भीखा साहब सिद्ध सन्त थे। एक बार उनके आश्रम में एक साधु आया। उसने भीखा साहब से जलपान के लिये मथुरा का पेडा और त्रिवेणी का जल माँगा। भीखा साहब उसकी बात सुन कर मौन हो गये। साधु ने चमत्कार दिखाया, उसने उपस्थित लोगो को मथुरा के पेडे खिलाये और त्रिवेणी का जल पिलाया। भीखा साहब ने अपने लिये माँगा, साधु चेष्टा करते-करते थक गया, उसकी सिद्धि निष्फल हो गयी, वह उन्हे नही दे सका और लज्जित होकर चरणो पर गिर कर क्षमा माँगी।

उनके समकालीन प्रसिद्ध औघड सन्त कीनाराम भी उनसे मिलने भुरकुडा आये थे। उन्होने भीखा साहब पर अपनी सिद्धियो का प्रभाव डालना चाहा पर वे भी निष्फल ही रहे। ऐसा कहा जाता है कि औघड कीनाराम ने भीखा साहब से मदिरा माँगी, सन्त भीखा साहब ने अस्वीकार किया, औघड ने पानी को मदिरा बना दिया पर भीखा साहब ने जब स्वय जल पीना चाहा तो उन्हें स्वच्छ जल मिला, उनकी सिद्धि ने सन्त के सामने पराजय स्वीकार कर ली। सन्त तो सिद्धियो से दूर भागते है, वे तो परमात्मा के भजन को ही समस्त सिद्धियो का मूल समझते हैं।

भीखा साहब का सबसे बडा सिद्धान्त यह था कि जो राम का भजन नही करता है उसे कालरूप समझना चाहिये। उनका पद है

'प्रीति की यह रीति बखानो।।
कितनो दुख, सुख परै देह पर, चरन-कमल ध्यानो।
हो चैतन्य विचारि तजो भ्रम, खाड धूरि जनि सानो।।
जैसे चातक स्वाति-बूंद बिनु, प्रान समरपन ठानो।
'भीखा' जेहि तन राम-भजन नहि, कालरूप तेहि जानो।।'

हरिनाम में उनका अटल विश्वास था, नामचिंतन ही उनकी साधना का स्वरूप स्वीकार किया जाता है। आत्मा-राम को ही उन्होने अपना प्रेमास्पद समझा, धनधाम और सुख-दुख की अनासक्ति के त्याग का आजीवन उपदेश दिया। उन्होने सीख दी

'भीखा' सबते छोट होइ, रहै चरन लवलीन।
रामरूप को सो लखै, जो जन परम प्रवीन॥'

उन्होने आतमस्थ परमात्मा की पूजा को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म बताया। उन्होने कहा कि आत्मारामब्रह्म ही घट-घट मे व्याप्त है। भीखा साहब की स्वीकृति है

'राम भजै सो धन्य, धन्य वपु मगलकारी।
रामचरनअनुराग परम पद को अधिकारी॥'

भगवान के चरणो में उनकी दास्यभक्ति थी। भीखा साहब ने सीधी-सादी रसमयी भाषा में जीवात्मा, जगत, ब्रह्म, परमात्मा आदि के स्वरूप का अपनी रचनाओ में विश्लेषण किया है। भीखा साहब के शिष्यो में गोविंद साहब प्रमुख थे। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जनपदो में उनके अनुयायी अधिक सख्या मे पाये जाते हैं।

सन्त भीखा साहब ने सम्वत् १८२० वि मे चोला-त्याग किया। उनकी स्मृति मे विजयादशमी को भुरकुडा में बहुत बडा उत्सव मनाया जाता है। वे अनुभवी सन्त और आतमज्ञानी थे।

रचना

'राम जहाज', 'राम राग', राम सवद', आदि सत भीखा साहब की प्रसिद्ध रचनाये हैं।

वाणी

मन तुम रामनाम चित धारो।
जो निज कर अपनी भल चाहो, ममता मोह बिसारो॥
अदर में परपच बसायो, बाहर भेख सवारो।
बहु बिपरीति कपट चतुराई, बिन हरि भजन विकारो॥
जप तप मख करि विधि विधान, जत तत उदवेग निवारो।
बिन गुरु लच्छ सुदृष्टि न आवे, जनम मरन दुख भारो॥

ग्यान ध्यान उर करहु धरहु दृढ, सबद सरूप विचारो।
कह 'भीखा' लवलीन रहो उत, इत मति सुरति उतारो।।

देखो प्रभु, मन कर अजगूता।
राम को नाम सुधासम छोडत विषयारस ले सूता।।
जैसे प्रीति किसान खेत सो दारा धन औ पूता।
ऐसी गति जो प्रभु पद लावै सोई परम अवधूता।।
सोई जोग जोगेसुर कहिये जा हिये हरि हरि हूता।
'भीखा' नीच ऊँच पद चाहत, मिलै कवन करतूता।।

अस करिये साहब दाया।।
कृपा कटाच्छ होइ जेहिते प्रभु, छूटि जाय मन-माया।
सोवत मोह-निसा निस-वासर, तुमही मोहिं जगाया।।
जनमत मरत अनेक बार, तुम सतगुरु होय लखाया।
'भीखा' केवल एक रूप हरि, व्यापक त्रिभुवन राया।।

प्रभु जी करहु अपनो चेर।
मैं तो सदा जनम को रिनिया, लेहु लिखि मोहिं केर।।
काम क्रोध मद मोह लोभ यह, करत सबहिन जेर।
सुरनर मुनि सब पचि पचि हारे, परे करम के फेर।।
सिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक, ऐसे-ऐसे ढेर।
खोजत सहज समाधि लगाये, प्रभु को लाम न नेर।।
अपरम्पार अपार है साहिब, ह्वै अधीन तब हेर।
गुरु प्रताप साध की सगति, छूटे सो काल अहेर।।
त्राहि त्राहि सरनागत आयो, प्रभु देखो यहि बेर।
जन भीखा को उरिन कीजिये, अब कागद जिनि हेर।।

मन में आनन्द फाग उठोरी।
इगला पिंगला तारी देवै, सुख मन गावत होरी।
बाजत अनहद डक तहाँ धुनि, गगन में ताल परो री।
सत सगति चोवा अबीरकरि, दृष्टि रूप लै घोरी।
गुरु गुलाल जी रग चढायो, भीखा नूर भरो री।

रसिक सन्त नागरीदास

मोहन चोर, पकरि कैसे पाऊँ।
देखति हौ वृग भरि-भरि सजनी, परसन को रहि-रहि ललचाऊँ॥
दुर्‌यो निकुञ्जलता वन बीथिन, निपट निकट मे कहाँ बताऊँ।
'ललित माधुरी' ही मे जी सग, चित चौरे हौं आनि मिलाऊँ॥

——सत ललितमाधुरी

नागरीदास परम रसिक सन्त थे। उन्होने राजवैभव, ऐश्वर्य और सुख को तिलाञ्जलि देकर रसस्वरूप नन्द-नन्दन की केलिका आनन्द प्राप्त किया। विशाल राज्य पर लात मार कर रस-भूमि वृन्दावन मे राधा-कृष्ण की लीला का गान किया। वे रससिद्ध सन्त थे, अलौकिक कवि थे, महान भगवद्‌भक्त थे। भगवान श्रीकृष्ण के चरणो में उनका उच्च कोटि का अनुराग था।

राजस्थान प्रान्त का कृष्णगढ राज्य इतिहासप्रसिद्ध है। इस राज्य की स्थापना सम्वत् १६६८ वि में जोधपुर नरेश उदयसिंह के पुत्र कृष्णसिंह ने की थी। इस राज्य का सबन्ध दिल्ली की तत्कालीन केन्द्रीय राजसत्ता से बहुत घनिष्ठ था। कृष्ण गढ,के राजाओ का मुगल बादशाह बडा सम्मान करते थे। कृष्णगढ के प्राय सभी नरेश भगवद्‌भक्त थे। उनमें से अधिकाश वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ऐसे इतिहासप्रसिद्ध भगवदीय राजपरिवार में जन्म लेकर महाराज सावन्त सिंह अथवा नागरीदास ने व्रजरस का आस्वादन किया। उन्होने अपनी समकालीन जन-चेतना को भागवत प्रेमतत्व से विशेष रूप से समृद्ध किया, उनकी उक्ति है

रेलगनि को पैंड्यो न्यारो।
चातक स्वाति वूद रुचि मानै, सरसरिता जल खारो।
नेह नगर की डगरन पावै नेमी अघ विचारो।
'नागरीदास' सीस बकसीसैं तऊ नाहि निखारो॥

महाराज नागरीदास कृष्ण-भक्ति के विलक्षण मर्मज्ञ थे। उन्होंने कृष्ण-भक्तिरस की साधना की। मध्य काल के अन्तिम चरण के समस्त कृष्ण भक्ति के आचार्यों और सन्तो तथा महात्माओ के प्रति उन्होंने प्रगाढ निष्ठा का परिचय दिया। वे युगल-रूप-माधुरी के विशेपज्ञ थे।

महाराज नागरीदास का जन्म कृष्णगढ में सम्वत् १७५६ वि में पौष कृष्ण द्वादशी को हुआ था। उनके पिता राजसिंह वडे वीर और भगवद्भक्त थे। उनके उदात्त चरित्र का नागरीदास के पालन-पोपण पर वडा प्रभाव पड़ा। नागरीदास के पूर्वाश्रम का नाम सावन्तसिंह था। वचपन से ही वे विलक्षण प्रतिभा और वीरता से सम्पन्न थे। अपने कुलदेव कल्याणराय और नृत्य गोपाल के श्रीविग्रहो में उनकी विशेप अनुरक्ति थी। साधु-सन्तो को देखते ही हृदय प्रफुल्लित हो जाता था।

युवावस्था में प्रवेश करते ही भानगढ राज्य की राजकन्या से उनका विवाह कर दिया गया। गृहस्थाश्रम के सुख और राजवैभव मे उनका मन तनिक भी नहीं लगता था। मृगया आदि से उनकी रुचि घटने लगी। वे कभी-कभी दिल्ली दरवार में भी जाया करते थे। वडे-वडे राजा-महाराजाओ से उनका परिचय हो गया था पर राजसुख उन्हे कण्टक की तरह चुभता था।

उनका चित्त सदा वृन्दावन का चितन किया करता था। वे रात-दिन यही सोचा करते थे कि मैं नन्दनन्दन की केलि-भूमि--वृन्दावन का दर्शन कव करूँगा। उनकी कामना थी

'कव वृन्दावन धरनि में, चरन परेंगे जाय।
लोटि धृरि धरि सीस पर, कछु मुखहूँ में खाय।'

उनके रोम-रोम से ध्वनि निकलती थी कि श्याम सुन्दर ने मेरा मन मोहित कर लिया। नयनो से नयन मिलते ही मैं उनका हो गया। अव उनके विना कल ही नही पडता है, खान-पान में रुचि ही नही रह गयी है। प्रीति की वेदना वडी भयकर होती है, कोई समझ ही नही पाता है।

महात्मा नागरीदास के पूर्वज रूपसिह गोस्वामी विठ्ठल नाथ के पुत्र गिरिधर जी के तीसरे आत्मज गोपीनाथ जी के शिष्य थे। गोपीनाथ जी के पौत्र रणछोड जी नागरीदास के गुरु थे। नागरीदास की गुरुनिष्ठा उच्च कोटि की थी पर साथ ही-साथ वे हितहरिवश और हरिदास स्वामी आदि के भक्ति-

सिद्धान्तो से भी प्रभावित थे। नागरीदास यात्रा आदि के समय अपने सेव्य 'नृत्यगोपाल' की प्रतिमा साथ रखते थे। वृन्दावन-निवास के पहले युद्ध -यात्रा में सदा भगवान श्रीकृष्ण की आराधना-उपासना का ध्यान रखते थे। कृष्ण के चरण का चिंतन ही उनका सर्वश्रेष्ठ और परम पवित्र कर्म था।

सम्वत् १८०४ वि मे वे दिल्ली गये हुए थे। बादशाह मुहम्मद शाह उनकी वीरता से बहुत प्रभावित हुए थे। बादशाह के निज सचिव घनानन्द जो वहुत वडे रसिक कवि और कृष्णभक्त थे उनके घनिष्ट मित्र हो गये।

नागरीदास ने तीर्थयात्रा की। तीर्थयात्रा में उन्होने बडे-वडे सन्त महात्माओ का दर्शन किया। तीर्थयात्रा में उनकी वृन्दावन के प्रति विशेष अनुरक्ति बढ गयी। सम्वत् १८०९ वि के लगभग वे कमाऊँ के युद्ध से लौट रहे थे। वृन्दावन होते हुए कृष्ण गढ लौटना उन्होने उचित समझा। यमुना तट पर पहुँचते-पहुँचते रात हो गयी। चारो ओर घोर अन्धकार छाया था। नदी पार कर वृन्दावन जाने के लिये कोई उपाय न दीख पडा। नाववाले घर चले गये थे। उधर भगवान की आरती हो रही थी। महाराज सावन्तसिंह नागरीदास ने विचार किया कि शरीर तो क्षणभगुर है, प्राण के जाने का समय भी निश्चित नही है, इसलिये यदि शरीर और प्राण का भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये उपयोग हो तो कितना अच्छा है। वे भगवान की आरती का दर्शन करने के लिये इतने आतुर हो गये कि यमुना में कूद कर पार होना ही उन्हे सुगम दीख पडा। वे क्षणमात्र में कालिन्दीकी धारा में कूद पडे और भगवान की कृपा से उनकी आरती का दर्शन किया। ब्रज से नागरीदास कृष्ण गढ लौट गये। व्रज के रसिक सन्तो के सत्सग से वे इतने मुग्ध हुए कि उन्होने राजकार्य का परित्याग कर वृदावन में ही रहने का निश्चय किया।

नागरीदास की अनुपस्थिति में उनके भाई बहादुरसिंह ने राज्य पर अधिकार कर लिया था। नागरीदास ने मरहठो की सहायता से कृष्णगढ राज्य को अपने अधीन कर लिया पर अपने भाई के विश्वासघात से वे इतने क्षुब्ध हो गये थे कि राज्य के प्रति उनकी आसक्ति समाप्त हो गयी। उन्होने अपने पुत्र सरदार-सिंह को राज्य प्रदान कर ब्रज के लिये प्रस्थान किया। उनकी चित्तवृत्ति गृह-कलह से अशान्त हो गयी थी। उन्होने विचार किया कि कलह सुख के लिये शूल है, कलह का मूल राज्य है। इस प्रकार राज्य का परित्याग कर उन्होने कृष्णभक्ति के साम्राज्य-प्रेमराज्य वृन्दावन मे प्रवेश किया। उन्होने अपनी

मनोदशा का वर्णन करते हुए कहा है कि मैं अपने मूढ मन से रात-दिन भयभीत रहता हूँ कि कही ऐसा न हो कि वह वृन्दावन से विमुख हो जाय। वृन्दावन में उनकी उपपत्नी वनीठनी–'रसिकविहारिणी' विरक्त भाव से साथ थी। पहले सन्तो ने सुना कि कृष्णगढ-नरेश सावन्तसिह का आगमन हुआ है तो उन्होने उदासीनता का वरण किया पर जव वाद में उन्होने जाना कि सावन्तसिह ने राजकार्य से वैराग्य लेकर नागरीदास के रूप में व्रज में निवास स्थिर किया है तव वे वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने महात्मा नागरीदास को हृदय से लगा लिया। मन्दिर-मन्दिर में उनके पदो का गान होने लगा, स्थान-स्थान पर, कुज-कुज मे उत्सव होने लगे। महात्मा नागरीदास की रसिकता व्रज के कण-कण में परिव्याप्त हो उठी। वडे-वडे महात्मा उनसे मिल कर अपने आपको धन्य मानने लगे। उल्लेख मिलता है

इक मिलत भुजनि भरि दौरि दौरि,
इक टेरि वुलावत औरि औरि।
केउ चले जात सहजै सुभाय,
पद गाय उठत भोगहिं सुनाय।
जे परे घूरि मधि मत्त चित्त
तेऊ मिलत दौरि तजि रीति नित्त।
अतिसय विरक्त तिनके सुभाव
ते गनत न राजा रक-राव।
वे सिमिट सिमिट सव आय आय,
फिर छाडत पद पढवाय गाय।

वृन्दावन में उनकी प्रसिद्धि वढने लगी। वृन्दावन में सन्त-महात्माओ के सम्मान के लिये उन्होने क्षेत्र और आश्रम की स्थापना की। उन्होने अपने उपास्य देव भगवान नागरविहारी के मन्दिर का निर्माण कराया तथा उसमें उनकी स्थापना की। उनका समय राधाकृष्ण के लीलाचिंतन मे वीतने लगा। व्रजरस में पूर्ण रूप से विभोर हो गये। उनकी सरसउक्ति है, व्रजरस की महिमा का वखान है

हम तो वृन्दावन रस अटके।
जव लगि इहि रस अटके नाही
तव लगि वहु विधि भटके।

भये मगन सुख सिन्धु माँझ ह्या
सब तजि के जग पटके।
अब विलासरस-रासहि निरखत,
नागरि नागर नटके।

वृन्दावन में उनके परम मित्र घनानन्द भी उस समय निवास करते थे। राजकीय अशाति से क्षुब्ध हो कर उन्होने वैराग्य ग्रहण कर लिया था। दोनो व्रजरस के महान प्रेमी थे, एक-दूसरे के सत्सग से प्रभावित थे। नागरीदास रससिद्ध सन्त थे, घनानन्द वैराग्यसिद्ध रसिक थे, दोनो उच्च कोटि के भागवत कवि थे। महात्मा नागरीदास ने व्रजवास का फिर कभी त्याग नही किया।

नागरीदास भजनानन्दी महात्मा थे। गुरु की कृपा से भगवद् रस की प्राप्ति होती है—ऐसी उनकी मान्यता दीख पडती है। अपने समकालीन वृन्दावन के समस्त भक्ति-सम्प्रदायो के प्रति उन्होने अपनी रचनाओ में सम्मान प्रकट किया है। पुष्टिमार्ग की महत्ता के बखान में उनकी उक्ति है

परम पुष्टि रस जल अमित, उर्मी प्रेमावेस।
नागरि प्रगट आनन्दनिधि, वल्लभसुत विठलेस।

वल्लभ सम्प्रदाय में उनकी असाधारण निष्ठा थी। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्त की भी उन्होने बडी सराहना की है। हितहरिवश रसमार्गी महात्मा थे, नागरीदास ने कहा है कि उनके पथ पर चलना आसान बात नही है

'बडोई कठिन है भजन ढिग ढरिबो।
तमकि सिन्दूर मेलि माथे पर साहससिद्ध सती कैसी जरिबो॥
रणके चाय घायल ज्यो घूमै, मुरै न गरूर सूर कैसे लरिबो।
'नागरीदास' सुलभ जिनि जानो, हितहरिवश पथ पग धरिबो॥'

नागरीदास के भगवच्चिन्तन का मूलाधार रस कहा जाता है। उनकी साधना मे परम दिव्य भागवत रस की ही प्रधानता थी। वे सदा यही सोचा करते थे कि नन्दनन्दन किस प्रकार मिलेगे, उनका दर्शन कहाँ होगा? उन्होने राधा और कृष्ण की कुजकेलि तथा अन्य रसमयी लीलाओ की अनुभूति की तथा भक्तिपूर्वक उनके सम्बन्ध में पद लिखे। श्रीराधा मे उनकी बडी पूज्य भावना थी, उनका विश्वास था कि कृष्ण प्रेम के स्तर पर पूर्ण रूप से श्रीराधा के ही अधीन रहते है। उनके नयनो में सदा श्रीराधा-कृष्ण की दिव्य केलि का

रमणीय चित्र आलोडित होता रहता था। एक पद मे उन्होंने युगल स्वरूप माधुरी का परम पवित्र ध्यान किया है काव्य-दर्शन किया है '

'ह्वै गई भेंट अचानक वन में
गहवर ठौर विपम मग माई।
गिरि तरु सघन साझ अधियारो
तहँ दोउ लपटाने भुज भरनि सुहाई।
सुपनो समुझि नैन मूदि रहै
इत-उत छुटत न अकमाल सुधि विसराई।
अति आसक्त अमल मूछित मन
कपित देह सिथिल सियराई।
आय सखी सभराय निवारे
तव लोक लाज गुरुजन सुधि आई।
'नागरिया' चले चितवति फिरि-फिरि
लगनि अगाधा राधा कुँवर कन्हाई॥'

नागरीदास की साधना का उत्कृष्ट स्वरूप श्रीराधा-कृष्ण का प्रकट और अप्रकट विहार-दर्शन ही था। वे लीलारसिक थे। नागरीदास ने राधा-कृष्ण के लीला सम्बन्धी सरस साहित्य का निर्माण किया। सम्वत् १८२१ वि के लगभग उन्होंने नश्वर शरीर का त्याग कर श्रीराधा-कृष्ण के नित्य लीला धाम में प्रवेश किया। व्रज साहित्य मे उनको गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। वे उच्च कोटि के कवि, असाधारण महात्मा और आदर्श रसिक थे। उनका सम्पूर्ण जीवन सरस भक्ति से सम्पन्न था।

रचना

मनोरथ मजरी, रसिक रत्नावली, विहार-चन्द्रिका, निकुज विलास, व्रजयात्रा, भक्तिसार, पारायणविधि प्रकाश, गोपीप्रेम प्रकाश, और वनजन प्रशसा आदि नागरीदास की रचनाये हैं।

वाणी

तरुवर छाँह तीर जमुनाकी, कीर पढावत डोलै।
रूपरासि कोउ नवल किसोरी, मोहन कहि-कहि बोलै॥
झमकि झुकावत डारि कुज की वेनी पीठ भुजग कलोलै।

'नागरीदास' ध्यान रस माती मूँदि-मूँदि दृग खोलै ।।
एरी आली सुदर नन्दकुमार, ठाढो ललित कदम्ब तरे,
जमुनातट नवघन स्याम सरीर।
मोहत हैं बनमाल मोहित, महकि मालती रही चहूँ दिसि
भई भँवरन की भीर।
चलि री चलि बलि आजुनैननि, रूप अमीरस पान करहिं
किन हरहिं बिरह-उर-पीर।
तू गोरी वे स्याम जोरी, जगतविभूपन नवल 'नागरी',
वसिये धीर समीर।
मोको गयो री ठगि ग्वार।
कटि तट पीत पिछौरी बाँधे सावरे अग सुढार।।
मदन मत्र से बैन बोलि कछु नैना वक निहार।
'नागरीदास' मिलै फिरि मोही, करि राखो उर हार।।
राजति दोउ दीने गरबाही।
रही छाय निसि सरद जुन्हैया नव निकुज के माही।।
अरुझि रहे तन-मन आनन्द मे आधी रात द्रुमन की छाही।
'नागरीदास' लता रध्रनि लखि रीझि-रीझि बलि जाही।।
हो मेरो मन मोहि लियो स्याम सुजान।
नैननि नैन मिलाय भाय सो चितवनि करि सनमान।।
तब तैं कल न परत व्याकुल नित, भावत खान न पान।
'नागरीदास' प्रीति की वेदनि जानै न लोग अजान।।
जो मेरे तन होते दोय।
मैं काहू तें कछु नहि कहतो, मोते, कछु कहतो नहिं कोय।।
एक जु तन हरि विमुखन केसग रहतो देस-विदेस।
विविध भाँति के जग दुख सुख जह, नही भगति लवलेस।।
एक जु तन सत्सग रग रगि रहतो अति सुख पूर।
जनम सफल करि लेतो व्रजवसि, जह व्रजजीवन-मूर।।
द्वै तन बिनु द्वै काज न ह्वै हैं, आयुसु छिन छिन छीजै।
'नागरीदास' एक तन ते अब कहौ, कहा करि लीजै।।

सन्त महीपति

महीपतिच्या वाणी तें सेवुनि तरतात जेंवि गगे ते।
विषयात रगले जे जनमानस सद्यसींच रंगे तें।

—मोरोपन्त

सन्त-चरित्र के वखान का अवसर अनेक जन्म के पुण्यो का उदय होने पर ही मिलता है तो मिल जाता है। सन्त की महिमा का वर्णन असम्भव है। सन्तो की चरण रज-गगा का अवगाहन—स्नान परम आनन्दप्रद होता है, निर्मल भगवद्भक्ति, सरस विरक्ति और अचल मुक्ति का दान करता है। सन्तो के चरण-दर्शन से कोटि-कोटि जन्म के पाप का क्षय होता है। यह निश्चित वात है कि यदि सन्त की कृपा से जीवन सम्पन्न हो जाय तो भवसागर से पार होकर वह वैराग्य के साम्राज्य मे परमपद पर अधिष्ठित होता है। सन्त महीपति महाभागवत सन्त थे, उन्होने सन्तो की, भगवद्भक्तो की चरण-रज-गगा मे अवगाहन तो किया ही, अनेक प्राणियो को भी ऐसा करने का अवसर दिया। वे निस्सन्देह मराठी सन्त-साहित्य के नाभादास स्वीकार किये जा सकते है, अपनी रचनाओ में उन्होने भगवान के भक्तोका चरितामृत-सागर उढेल दिया है। सन्त महीपति भगवान के भक्ति -राज्य के नागरिक थे, पृथ्वी पर भागवती ज्योति के प्राकट्य के लिये ही उन्होंने जन्म लिया था।

महीपति के पूर्वज वडे सात्विक और भगवद्भक्त थे। भगवान पण्ढरी-नाथ की भक्ति उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। महीपति का जन्म सम्वत् १७७२ वि में महाराष्ट्र प्रदेश के ताहरावाद नगर मे हुआ था। वे ऋग्वेदीय वासिष्ट गोत्रीय ब्राह्मण थे। महीपति के पिता दादो जी पन्त पहले मुगल शासक की सेवा में थे पर किसी विशेप सुविवा मे आकृष्ट होकर उन्होने अहमदनगर जनपद के ताहरावाद के मुसलमान शासक की प्रसन्नता से मुगलो से सम्वन्ध-विच्छेद कर लिया और ताहरावाद मे आकर वस गये। वे नियम से भगवान पाण्डुरग का दर्शन करने के लिये पण्ढरपुर जाया करते थे, श्री विट्ठल पाण्डुरग की कृपा से

ही उन्हे महीपति ऐसे महाभागवत पुत्र की प्राप्त हुई। बचपन में महीपति भी अपने माता-पिता के साथ पण्ढरपुर की यात्रा में जाया करते थे। धीरे-धीरे उनमें भगवद्भक्ति वढने लगी। उनकी माता गगावाई सदा उन्हें सन्तो और महात्माओ की महिमा बताया करती थी। महीपति वचपन में अपने माता-पिता की देखा-देखी भगवान के पूजन और भजन में लगे रहते थे। उन्हे अच्छी तरह शिक्षा दी गयी। उनका स्वभाव कोमल, मधुर और प्रेममय था। उन्हे सस्कृत, हिंदी, गुजराती, कनाडी आदि भाषाओका अच्छा ज्ञान था।

महीपति ने सोलह साल की अवस्था में पण्ढरपुरकी यात्रा की। इसी समय उनके पिता का देहान्त हो गया। घर और परिवार की सभाल और भरण-पोषण का भार उनके कन्धो पर आ पडा। वे कभी-कभी ताहरावाद के शासक की राजसभा में भी जाया करते थे। उनका जीवन एक विशेप घटना से प्रभावित हुआ। वे कुलकर्णी का काम करते थे । एक दिन वे ताहरावाद के जागीरदार की कचहरी से समय से पहले आकर भगवत्पूजा में लग गये। थोडा-सा काम शेष रह गया था। जागीरदार का सिपाही आया। महीपति भगवान के ध्यान और चितन में सलग्न थे। भगवत्पूजा के समय व्यवधान होते देख कर उनके मन में बडा दु ख हुआ पर उन्होने किसी से कुछ नही कहा। जागीरदार की कचहरी में जा कर शेष कार्य पूरा कर दिया। घर आकर उन्होने अपने आपको धिक्कारा और प्रतिज्ञा की कि आज से कुलकर्णीका काम नही करूँगा। भगवत्गुणानुवाद के लिये ही अपनी लेखनी का सदुपयोग करूँगा। वे भगवान पाण्डुरग के भक्तिरग में पूर्ण रूप से रग गये। उन्होने सन्तो और भक्तो का गुणानुवाद आरम्भ किया। ऐसी मान्यता है कि उनके दीक्षागुरु सन्त तुकाराम थे। ऐसा कहा जाता है कि महीपति को सन्त तुकाराम ने स्वप्न में दर्शन देकर दीक्षित किया था। तुकाराम ने उनसे कहा कि मैंने अपने जीवन काल में नामदेव के अभग-पदो की रचना का शेष कार्य पूरा किया था, आप सन्तो और भक्तो के चरित्र का वर्णन कीजिये। सन्त तुकाराम की कृपा से उन्हे काव्य-स्फूर्ति प्राप्त हुई। महीपति ने सन्त तुकाराम की वन्दना मे कहा है उनका 'भक्ति-विजय' ग्रन्थ प्रमाण है

'नमू मद्गुरु तुकाराम, जेणे निरसिल भवभ्रम।
आपुले नामी देऊनि प्रेम, भववन्धन निरसिले॥'

अपने 'सन्तलीलामृत' और 'भक्तलीलामृत' में भी उन्होने तुकाराम को वडी श्रद्धा और भक्ति मे प्रणाम किया है। सन्त महीपति ने भगवान के भक्तो

के चरित्र-लेखन को ही स्वधर्म स्वीकार किया। उनकी भगवद्‌भक्ति निरन्तर वढने लगी।

सन्त महीपति उच्च कोटि के त्यागी थे। परोपकार और सेवा में वे सदा लगे रहते थे। एक वार महाराष्ट्र में भीषण अकाल का प्रकोप हुआ। महीपति ने अपने लिये केवल तुलसीपत्र रख कर अपना समस्त धन और अन्न अकाल पीडितो को दे दिया। भिक्षा माग कर दिन विताने लगे। कुछ दिनोंके वाद उन्होने अयाचक-वृति स्वीकार कर ली, वे विट्ठल के मन्दिर में रह कर सन्तो के चरित्र लिखने लगे। योग-क्षेम का भार प्रभु सम्हाल ही लेगे, ऐसा उनका अटल विश्वास था। रुक्मिणीनाथ विट्ठल की कृपा से उन्होने मराठी भक्ति-साहित्य में जो श्री-वृद्धि की वह मौलिक और परम महत्वपूर्ण है। उन्होने महाराष्ट्र को भक्ति-गगा मे स्नान करने का अवसर देकर असख्य पुण्य कमाये। महीपति भगवान पाण्डुरग के वडे भक्त थे। आपाढ कृष्ण दशमी से अमावास्या तक पाण्डुरग का उत्सव मनाने की प्रणाली उन्होने ही प्रचलित की थी। भगवद्-भक्ति के प्रचार मे उनकी बडी रुचि थी। भक्तिको भगवान का ही स्वरूप मानते थे। भगवान के स्वरूप-चितन की भक्ति -भूमिपर उन्होने कहा कि जो परम उदार हैं, जिनके गुणो का वर्णन शेष करते हैं, जिनका सदाशिव ध्यान करते है, वे जगजीवन हैं। जो ब्रह्मा के पिता हैं, चराचर की सृष्टि करने वाले हैं, मायापर नियन्त्रण करनेवाले है वे ही पाण्डुरग है, जो काल के शासक हैं, भव के श्रम को हरनेवाले हैं, अपने भक्तो के प्रति गौरव बुद्धि वाले हैं, स्वाभिमानी हैं, वे ही जगदात्मा पाण्डुरग है, पुराण जिनका वर्णन करते है, वेद जिनके सम्वन्ध में मौन धारण कर लेते हैं, जिनका सनक आदि ध्यान करते हैं, वे ही जगजीवन श्रीहरि है, जो भक्तो के कार्य करनेवाले हैं, जिन्होने पाण्डवो की सहायता की, जो विश्वलीला सूत्रको धारण करनेवाले हैं वे ही पण्ढरपुर में खडे हैं।

महीपति ने भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। सन्त-साहित्य के क्षेत्र में उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उन्होने भक्त-चरित्र-लेखन के लिये नाभादास और ऊधव चिद्‌घन के ग्रन्थो का आश्रय लिया। उनकी रचनामें सन्त मत और वैष्णव धर्म का समीचीन प्रतिपादन हुआ है। महीपति ने स्वीकार किया कि सन्तो और भक्तो के चरित्र-श्रवण से सत्वगुण--सद्‌गुण और भगवद्‌भक्ति का

उदय होता है, तमो गुण का क्षय होता है। जिन की हरिभक्तो के चरित्र में रुचि होती है वे ही वास्तविक परमार्थी है। ऐसे लोगो को पण्ढरीनाथ अपने प्राण से भी अधिक चाहते हैं--प्रेम करते हैं। महीपति ने कहा कि मैंने भक्त-चरित्र की रचना स्वय नही की, यह तो पाण्डुरग की कृपा का फल है, उनकी कृति है। उनकी स्वीकृति है

ति वि ग्रन्थ वदविता पण्ढरीनाथ, हे जाणवे निश्चित।
गन्थकर्ता पण्ढरीनाथ, प्रेमल भक्त जाणती॥'

महीपति ने अपने ग्रन्थो में अपनी अपार कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। उन्होने अपनी पुण्यमयी कृति में शास्त्र की मर्यादा अक्षुण्ण रखी है। महीपति सगुणोपासक और अद्वैतवादी सन्त थे। महाभागवत मोरोपन्त ने महीपति के ग्रन्थो की बडी प्रशसा की है। वे उनकी उक्तियो से बहुत प्रभावित थे।

सन्त महीपति ने पचहत्तर साल की अवस्था में सम्वत् १८४७ वि श्रावण कृष्ण द्वादशी को समाधि ली। उनका जीवन भगवद्भक्ति का दर्पण था, वे परम भागवत थे।

रचना

'भक्त विजय', कथासारामृत, भक्तलीलामृत और सतलीलामृत सन्त महीपति की प्रसिद्धि रचनाये हैं।

वाणी

भगवद्प्रिय व्यक्ति ही सौभाग्यवान हैं। उनका सौभाग्य असीम और अपार है। उनके पूर्वजन्म धन्य हैं। उनका यह जन्म सफल और धन्य है। उनका कुटुम्ब धन्य है, जाति धन्य है, ससार में जन्म ग्रहण करना धन्य है। जो श्रीहरि के शरणागत हैं उनका ज्ञान वन्य है, जन्म धन्य है। वे प्राणी धन्य है जो अनन्य भाव से हरि की शरण में हैं, उन्होने अपने पूर्वजो का उद्धार कर दिया और असख्य प्राणियो को भवसागर के पार कर दिया। भगवान के भक्त वडे पुण्यशाली होते है, उनका दर्शन करने से लोग भवसागर से तर जाते है। वेद और शास्त्रो

में वर्णन मिलता है कि भक्तो के लिये भवसागर मृगजल के समान है। इन्द्र और ब्रह्मा भी भगवान के भक्त की महिमा नही कह सकते है, वे पुरुषोत्तम नारायण के प्रियपात्र है और वैकुण्ठ-लोक में जाते है। वे वैकुण्ठ में निवास करते है और हृषीकेश के निकट रहते है। ऐसे महाभाग्यशाली है वे। ऐसे सन्तो के चरण पर मेरा मस्तक नत है।

हे नाथ ! चित्त में वासना है। आप के नाम में सिद्धि है। मैं अपग और अनाथ हूँ। आप अनाथो के नाथ है। आप सिद्धि-नामी हैं, मेरी सम्हाल कीजिये। मै असहाय हूँ। मुझ पर करुणा कीजिये।

भक्तो के चरित्र में पाण्डुरग की वडी रुचि है। उन चरित्रो का श्रवण करने वाले भवसागर से पार हो जाते हैं।
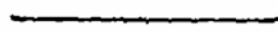
सन्त गरीबदास

दादू एकै आतमा, साहिब है सब माँहि।
साहिब के नाते मिलै, भेष-पन्थ के नाँहि ।।

—सन्त दादू

मध्यकालीन भारतीय सन्त-साहित्य ने समत्वयोग की सीख दी। घट-घट में परिव्याप्त आत्मसत्य का नारायणीकरण किया। सन्त कबीर ने इस दिशा में उचित पथ-प्रदर्शन किया। सन्त गरीबदास ने इस प्रकार की आत्मसाधना और अनुभूति की प्रगति मे बडा योग दिया। सचराचर में एक ही दिव्य चेतनता के परिलक्षण की ओर ध्यान आकृष्ट करना मध्यकालीन सन्तमत-परम्परा की मौलिकता है। सन्त गरीबदास ने अपनी पुण्यमयी साधना के बल पर कहा कि यह चारो युगो का प्रमाण है कि सन्त जो कुछ भी करते हैं वही सच है, भगवान उनकी आज्ञा का पालन करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं। वे दिन-रात सन्तो के पीछे-पीछे चलते रहते है। भगवान सत के अधीन रहते हैं।

सन्त गरीबदास यारी साहब की चिंतन-धारा से प्रभावित थे पर उनकी शिष्यपरम्परा से अलग थे। उनके जीवन काल में दिल्ली में मुगलो का आधिपत्य था। राजनैतिक शक्तिहीनता धीरे-धीरे बढती जा रही थी। विदेशी आक्रमण की आशका प्रत्येक क्षण बनी रहती थी। ऐसे अशान्तिपूर्ण समय में सन्त गरीबदास ने सत्यनाम की ज्योति फैलायी, निर्गुण धारा की भक्तिगगा मे लोगो को स्नान कराया, आश्वासन दिया। उन्होने सत्य का सरक्षण किया घोषणा की, जनता को विश्वास दिलाया

'राम कहै मेरे साधु को, दुख मत दीजै कोय।
साधु दुखावै मै दुखी, मेरा आपा भी दुख होय।'

उन्होने बताया कि प्राणीमात्र का परम धर्मकर्तव्य भगवान का चिंतन ही है, परमात्मा के भजन के लिये ही जीवन मिलता है, उसका दुरुपयोग माया-मोह में कभी नही करना चाहिये, सत्य का आचरण करना चाहिये।

महात्मा गरीबदास का जन्म सम्वत् १७७४ वि में वैशाख पूर्णिमा को पजाब प्रान्त के रोहतक जनपद के छुडानी गाँव में हुआ था। उनके पिता साधारण गृहस्थ थे। गरीबदास ने जाट कुल को समलकृत किया था। वचपन मे उनका मन काम-काज मे नही लगता था। उनकी चित्तवृत्ति किसी रहस्यमय तत्व की खोजमें लगी रहती थी। साधु-सन्तो के दर्शन से वे बहुत प्रसन्न होते थे, यदि कभी सन्त-सेवा का अवसर मिल जाता था तो अपने आपको बडा सौभाग्यशाली मानते थे। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी।

ऐसा कहा जाता है कि जब वे केवल बारह साल के थे तभी जगल में भैंस चराते समय उन्हे सत कबीर का दर्शन हुआ। कबीर ने एक भैंस की ओर सकेत कर दूध लाने को कहा। गरीबदास ने कहा कि यह भैंस दूध नही देती है पर कबीर की आज्ञा से वे भैंस के थन से दूध लेने गये। थनसे दूध निकलते देख कर वे आश्चर्य-चकित हो गये। उनके पैरो पर गिर पडे और उनको अपना गुरु स्वीकार किया। कबीर उन्हे मन्त्र देकर अदृश्य हो गये। ऐसा भी मत है कि सत कबीर ने उन्हे स्वप्न में दर्शन देकर गुरुमन्त्र प्रदान किया था। यह नितान्त असदिग्ध है कि वे कबीर की वाणी से प्रभावित थे। गरीबदास ने अपनी रचनाओ में उनके प्रति बडी श्रद्धा प्रकट की है। उनके सिद्धान्तो को स्वीकार किया है। उनकी उक्ति है

> 'ऐसा सतगुरु हमं मिला, तेज पुज के अंग।
> झिलमिल नूर जहूर है, रूप रेख नहि रग॥'

उन्होने कहा कि 'शब्द' गुरु है, चित्त चेला है। मुझे कबीरदास ने भक्ति प्रदान की। उन्होने घोषणा की कि ऐसे सद्गुरुकी शरण में जाना चाहिये जो 'शब्द' में समा गया हो, भवसागर में डूबने से सद्गुरु की कृपा ही बचा सकती है।

धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि बढने लगी, लोग दूर-दूर से उनके सत्सग में आने लगे। एक बार भीषण अकाल पडा। जनता भूख से तडप-तडप कर मरने लगी। गरीबदास से जनता की दशा देखी न गयी, उनकी दया से अनावृष्टि समाप्त हो गयी। रात-दिन उनके सामने दर्शनार्थियो और सत्सगियो की भीड लगी रहती थी, ऐसी स्थिति मे एकान्त में बाधा उपस्थित होते देख कर उन्होने छुडानी गाँव छोड देने का निश्चय किया पर ठीक इसी समय देश पर विदेशी आक्रमण हुआ। दिल्ली के मुगल बादशाह ने आक्रमण रोकने के लिये

उन्हे बुला भेजा। बहुत-से हाथी, घोडे और सिपाही भेजे गये। पहले तो सत गरीबदास ने जाना अस्वीकार कर दिया पर विशेष आग्रह होने पर एक घोडी पर सवार होकर तथा पाँच शिष्यो को साथ लेकर वे दिल्ली के लिये चल पडे। उन्होने चरणदास सन्त के आश्रम में निवास किया, तत्कालीन बादशाह को समझाया कि ईश्वर की कृपा में विश्वास करना चाहिये, आक्रमण का भय मिट जायेगा। बादशाह से उन्होंने कहा कि यदि तुम भोग-विलास और मदिरा-पान का परित्याग कर दोगे तो आक्रमण का सकट निस्सन्देह दूर हो जायेगा। बादशाह को उनके कथन पर सतोष न हुआ। वे कारागार में डाल दिये गये पर अपनी योगसिद्धि के बल पर वे छुडानी पहुँच गये। कारागार के फाटक और ताले अपने आप खुल गये। बादशाह ने उनको दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया पर वे नही गये, पाच गाँव की जागीर दी पर सन्त गरीबदास ने उसे अस्वीकार कर दी।

सन्त गरीबदास के सम्बन्ध में बहुत से चमत्कारपूर्ण कथा-विवरण मिलते हैं। एक घटना है कि आसोध गाँव के एक बनिये का पुत्र जिसका नाम सतोष दास था उनका शिष्य हो गया। वह साधु-स्वभाव का व्यक्ति था। एक दिन उसके पिताने सत्सग में आकर गरीवदास से कहा कि महाराज आपकी बहिन घर पर क्या करेगी। गरीब दास ने इस व्यग का समाधान किया कि भैया यदि तुम सतोपदास की पत्नी को मेरी बहिन कहते हो तो यह बात ठीक ही है, तुम देखोगे कि मेरी वहिन भी आश्रम पर ही आकर रहने लगी। दूसरे दिन सतोषदास की पत्नी ने किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से हाथ की चूडी फोड डाली, गृहस्थी से नाता तोड लिया, वैराग्य लेकर गरीबदास के आश्रम पर चली आयी। वह उनकी शिष्या हो गयी और अपने पति के माथ गरीबदास के निवास स्थान पर रहने लगी। सन्तो को किसी वात के लिये चुनौती देना महापाप है, उनकी कृपा से क्षणमात्र में, न जाने, क्या से क्या हो सकता है, वे पूर्ण समर्थ होते है। सन्त गरीवदास आजीवन गृहस्थ वेप में ही रहे। भगवान के भजन और चिन्तन में लगे रहना ही उनका सवसे वडा काम था, लोगो को सत्सग में चेतनता प्रदान करना उनका सवसे वडा धर्म था। उन्होने निर्गुण-सगुण से परे—अतीत अगाध रहस्यमय तत्व शब्द ब्रह्म की साधना की, कबीरदाम की ही तरह साहब की उपासना की। उन्होने सदा आत्मसाक्षात्कार की ही सीख दी। उन्होने कहा कि सुरत, निरत, मन और पवन के द्वारा ही शिव तत्व की कृपा से चौदहो भवन दीख पडते है, इन चारो पदार्थों के एकीकरण से गगन-मण्डल तक पहुँच हो पाती

है। भगवन्नाम में उनका वडा विश्वास था। वे नाममार्गी महातमा थे। उन्होंने सदा अपने 'पन्य' के सम्वन्व में कहा .

'दास गरीव कवीर का चेरा।
सत्त लोक अमरापुर डेरा॥'

कवीर में उनकी असावारण निष्ठा थी। उन्होंने वताया कि मैं 'उस' देश की अकय कहानी किस प्रकार कहूँ, मैं तो प्रेमोन्मत्त हूँ। वे भक्त और सन्त दोनो के विचित्र समन्वय थे। उन्होंने कहा कि भजन करना ही कर्तव्य है, इसी के लिये नर-देह की प्राप्ति होती है। सद्गुरु के शरणागत होकर भजन करने से भवसागर तरना सुलभ हो जाता है। सन्त साहित्य में गरीवदास को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्होने वाईस साल की ही अवस्था में असख्य साखी लिख डाली आजीवन अपनी अनुभूतियो का वर्णन करते रहे। उनकी सन्त अयवा सावु के सम्वन्ध में उक्ति है·

'धन जननी, धन भूमि धन, धन नगरी, धन देस।
धन करनी धन सुकुल धन जहाँ साध-परवेस॥'

उन्होने कहा कि परमात्मा अपने भक्तो को धन्य कर देते हैं, सेन नाई दो कौडी के जीव थे पर ईश्वर की कृपा से वे उच्च कोटि के सन्त हो गये, पीपा ऐसे महाराजा को भी उन्होंने—ईश्वर ने प्रसन्न होकर उच्च कोटि का सन्तपद प्रदान किया। इसी प्रकार गरीवदास ने सत कवीर की प्रशसा की है, उनके पदो में नामदेव-नरसीभगत, मीरावाई, तथा रैदास आदि के सम्वन्व में पूज्य भावना का दर्शन होता है, उन्होंने वडी श्रद्धा से उन सन्तो का स्मरण किया है। गरीवदास ने कहा कि सन्त की सवसे वडी पहिचान यह है कि वे सत्यवादी होते हैं। उन्होंने कहा कि सन्तो का पथ आदि और सनातन होता है।

गरीवदास ने आजीवन गृहस्थ वेप में रह कर असख्य प्राणियो को सत्य का प्रकाश दिया। सम्वत् १८३५ वि में इकसठ साल की अवस्था में भादो शुक्ल द्वितीया को उन्होंने चोला का त्याग कर परम घाम की यात्रा की। वे पहुँचे हुए सन्त थे, योगी और महातमा थे।

रचना

अन्तिम समय में चौवीस हजार पदो का सग्रह 'हिरखवोध' छोड गये जिनमें सत्तरह हजार पद गरीवदास के ही हैं। एक वीजक का भी पता चलता है।

वाणी

नाम रसायन पीजिये, यहि औसर यहि दाव।
फिर पीछे पछतायगा, चला-चली हो जाव॥
साहब सेती दोसती, सतो सेती प्यार।
तिन्ह को सका है नही, धरमराय दरबार॥
नाम रटत नहिं ढील कर, हरदम नाम उचार।
अमी महारस पीजिये, बहुतक बारम्बार॥
पीछे-पीछे हरि फिरै, आगे सत सुजान।
सत करै सोइ साच है, चारो जुग परमान॥
इस माटी के महल में, मगन भया क्यो मूढ।
कर साहब की वन्दगी, उस साईं कू ढूंढ॥
नगा आया जगत मे , नगा ही तू जाय।
बिच कर ख्वाबी ख्याल है, मन माया भरमाय॥

सुनिये सत सुजान गरव नहिं करना रे॥
चार दिना की चहर बनी है, आखिर तो कूं मरना रे।
तू जाने मेरी ऐसी निभेगी, हरदम लेखा भरना रे॥
खायले पीले विलस ले हसा, जोड-जोड नहिं धरना रे।
'दासगरीब' सकल में साहब, नही किसी सूं अडना रे॥

सन्त नागा निरंकारी

जगता कोटि लक्षेषु यावन्तः परमाणव.।
तेषामेकैकशोऽन्तः स्यान्सर्गान् पश्यत्यसङ्गधी॰।।

जिसकी बुद्धि सर्वथा माया से अलिप्त है वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को अपने भीतर उसी प्रकार देखता है जिस प्रकार अनेक कोटि ब्रह्माण्डो में परमाणु होते हैं।

—योगवासिष्ठ मु. प्र. १८।२७

सन्तो और महात्माओ की महिमा का वखान करना वडे सौभाग्य और परम पुण्य की वात है। सन्त नागा निरकारी परम अवधूत थे। उन्होने लोक-लोकान्तरो के आत्मरहस्य को जन्मजन्मान्तर से समझा था। प्रत्येक लोक में अपनी महती साधना-शक्ति के द्वारा वे निर्विरोध आ-जा सकते थे, यह उनके चरित्र-वैचित्र्य के सम्वन्ध में अतिशयोक्ति नही— वास्तविकता है। नागा निरकारी के अनुयायियो में यह मान्यता है कि वे महाभारतकालीन दिव्य जन्मधारी परमदानी महात्मा कर्ण के अवतार थे, इस मान्यता की परिपुष्टि उनके (नागा निरकारी महाराजके) उद्गार से भी होती है, समय-समय पर उन्होने वडे ऐतिहासिक और अधिकारपूर्ण ढग से इस रहस्य की ओर स्पष्ट सकेत भी किया था। महाभारत के वाद उन्होने अनेक जन्म लिये पर सदा निवृत्ति मार्ग में ही रहे, उन्होने कभी विपय भोग में रह कर प्रवृत्तिपरायणता का परिचय नही दिया। नागा निरकारी के वेप में शरीर धारण करने का समय विक्रमीय सोलहवी या सत्तरहवी शताब्दी में पड सकता है, उनकी अवस्था का अनुमान लगाना सहज नही है पर यह कहना सम्भव दीख पडता है कि उनकी आयु लगभग तीन सौ साल की रही होगी और महान आश्चर्य तो यह है कि उनके शरीर में कभी विकृति-परिवर्तन का दर्शन नही हुआ, वे परम हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ न जाने कितने समय से एक आकार-प्रकार में दीख पडते-से चले आ रहे थे, वे दिव्य शक्ति के पुञ्जीभूत चेतन रूप थे। उनकी प्रसिद्ध रचना ब्रह्मवाणी

के कुछ पदो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस समय मुगलो का शासन अपने मध्याह्न पर था उस समय वे सिद्धावस्था प्राप्त कर आत्मानुभूति से एकान्त में स्वस्थ होकर लोक-कल्याण मे लीन थे। सन्त कबीर और नानक के सम्वन्ध में उनकी अद्‌भुत उक्ति ब्रह्मवाणी में मिलती है तथा यवन-कालीन ऐतिहासिक विवरण का चित्र-सा आभासित होता है। ऐसा लगता है कि उन्होने नानक को देखा था, सिखो में दस नानक की मान्यता है, गुरुनानक से गोविन्द सिंह महाराज तक दस नानक की परिगणना होती है। उन्होने नानक को फेरी लगाते देख कर उनके सम्वन्ध में ब्रह्मवाणी मे पद-रचना की है। गोविन्दसिंह के बाद गुरु-परम्परा का अन्त हो गया, वे अन्तिम नानक थे। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि सत नागा निरकारी या तो उनके पहले थे या उनके समकालीन थे। यह सम्भव है कि वे पचम नानक गुरू अर्जुन देव के समकालीन रहे हो। ब्रह्म वाणी में उनका पद है

'भजले श्रीनागा निखान दीवाने मन।
जागो श्याम अब भोर हुआ है,
गुरु नानक करते फेरी दीवाने मन।'

ब्रह्मवाणी के इस पदाश के अतिरिक्त यह भी प्रमाणित है कि उनके तप का प्रारम्भिक काल पजाब में ही बीता उन्होने विक्रमीय बीसवी शती के अन्त में समाधि ली, इस लिये इतनी लम्बी आयु में तप के प्रारम्भिक काल में पजाब में पचम नानक को फेरी लगाते देखना नागा निरकारी के जीवन चरित्र का औचित्य स्वीकार किया जा सकता है। उन्होने अपनी ब्रह्मवाणी में एक ऐसे पद की भी रचना की है जिसमें मध्यकालीन युद्ध-परम्परा पर प्रकाश पडता है, युद्ध के सम्वन्ध में उनका यह सस्मरण सकेत करता है कि उन्होने उसे आँख से देखा था पद इस प्रकार है

'चढा है नागा लसगर वादशाह लेकर,
फौजे तम्बू साथ में हैं,
रावटी, तम्बू, निसान गोला दीद में गडे है॥
चारो ओर से फौज चढी है,
होन लगा मैदान वीच में वादशाह खडा है।
अव लडे हैं दोनो वादशाह, युद्ध हुआ है वडा घोर,
अव उखडे हैं झडा निशान,

नागा लई उडारी झण्डा गडा मैदान॥
तोप खजाना लूट लिये है, वादशाह है नादान ;
आगे खजाना सूना पडा है, लूटे चतुर सुजान।
नागा कहै सुनो भाई सन्तो,
सव पक्षी उड गये हैं, तू मूरख ले जान॥'

सन्त वाणी में इस पद का क्या रहस्य है यह तो सन्त की कृपा से ही समझा जा मकता है पर लोक वाणी में इसकी ऐतिहासिकता सिद्ध करती है रचयिता की मध्यकालीन उपस्थिति।

सन्त नागा निरकारी नाम रूप के आवरण से सत्स्वरूपस्थ महात्मा थे। उन्हे अपने द्वापरयुगीन जन्म की घटनाओ और सम्वन्धियो का समीचीन स्मरण था। उनको इस वात का भी पता था कि इस जन्म में उनके तत्कालीन जीवन से सम्वद्ध कौन-कौन-से व्यक्ति किन नामरूपो में है। वे अपने व्रत और नियमो के वडे पक्के थे। अन्न छोडा तो कई वर्षो तक अन्न के त्यागी ही वने रहे, वस्त्र छोड कर नगे फिरते रहने का सकल्प किया तो नागा वेप में ही विचरते रह गये। इसी प्रकार किसी स्थान विशेप में तप आरम्भ किया तो कई सालो तक उस स्थान पर ही ठहर गये। उनका जीवन-चरित्र उच्च-उच्चतर और उच्चतम सकल्पो का क्रियात्मक रूप कहा जा सकता है। सत नागा निरकारी ध्यान मे लोक-लोकान्तर में विचरण करते थे और अपने निकटवर्तियो से उन स्थानो की विचिन्न घटनाओ का वर्णन किया करते थे। एक वार उन्होने अपने अत्यन्त निकटवर्ती और प्रिय तथा ज्ञानी शिष्य सन्त पलक निधि 'पथिक' जी महाराज से कहा था कि 'हमे ध्यान में श्री लक्ष्मी जी ने सर्वत्र विजयी होने का वरदान दिया है। हमारे हाथ में लक्ष्मीजी की दी हुई छाप है। इस छाप को देख कर कोई भी शक्ति हमे कही जाने से रोक नही सकती। साथ ही हमें भगवान की ओर से अमृत का प्याला पिलाया गया, इसी से हम किसी के मारे नही—स्वेच्छा से मर सकते है।' कैलाश लोक के नीचे के समस्त लोको के अधिपतियो ने उनको अपने ऐश्वर्य की महिमा दिखा कर रोकना चाहा पर वे कही भी रुक न सके। उनके शिष्यो में यह मान्यता चली आती है कि उन्हे कैलाश धाम की प्राप्ति मे परम गुरु शुक्राचार्य ने सहायता दी थी। सन्त नागा निरकारी अपने इस जीवन की विभिन्न अवस्थाओ में हरनामदास, रामदास, नागा,

नागागिरिधारी, नागा बावा और नागा निरकारी आदि नामो से प्रसिद्ध हुए। वे पहुँचे हुए उच्च कोटि के अवधूत थे।

विक्रमीय अठारहवी शताब्दी के प्रथम चरण की बात है। पजाब प्रान्त में भगवती रावी नदी के तट पर अठीलपुर नगरमे, जिसका इस समय पता नही चलता है, एक समृद्ध राजपरिवार था। उस राज्य की रानी सन्तानहीन थी। एक बार राजप्रासाद में एक सन्त का आगमन हुआ। रानी ने सन्तान-प्राप्ति की कामना प्रकट की। सन्त ने आशीर्वाद दिया कि एक पुत्र पैदा होगा पर स्मरण रहे कि उसके सिर पर छूडा न फिरे नही तो वह घर को छोड कर वैराग्य ग्रहण करेगा। कुछ समय के बाद सन्त के आशीर्वादरूप में अठीलपुर के राजप्रासाद में नागा निरकारी का जन्म हुआ, चारो ओर आनन्द ही आनन्द छा गया। शहनाई की मधुरिम ध्वनि वातावरण के कण-कण में व्याप्त हो उठी, अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, राजकर्मचारी फूले नही समाते थे, असख्य असहायो, कगालो और सुपात्र ब्राह्मणो को दान दिया गया, अनेक प्रकार के रत्न और स्वर्ण आभूषणो से याचको को सतुष्ट किया गया। नवजात का जन्मोत्सव धूमधाम से मनाया गया। राजनगरी विशेष ढग से सजायी गयी। प्रजाने आमोदप्रमोद मनाये। जन्मकाल में नवजात का शरीर अत्यन्त छोटा था, उनके पिता और पितामह को बडी चिन्ता हुई कि इतने छोटे शरीर वाली सन्तान से किस प्रकार राजकार्य-सम्पादन होगा पर माता की ममता ने सन्तोष किया कि मेरी सन्तान जीवित रहेगी, यही क्या कम है। राजमाता पूर्व की अनेक सन्तानें मृत्यु के मुख से बाहर न निकाल सकी थी। माता ने अपने पति से कहा कि यदि मेरे बालक में राजकार्य चलाने की क्षमता नही होगी तो फकीरी करने की शक्ति तो रहेगी ही।

नागा निरकारी का पालन-पोषण बडी समृद्धि और सुखभोग के वातावरण में हुआ। वे ज्यो-ज्यो बडे हो रहे थे त्यो-त्यो जन्म-जन्म के पुण्य और दान के फलस्वरूप प्राप्त गम्भीरता और दैवी सम्पत्ति में भी अभिवृद्धि हो रही थी। राजप्रासाद के पीछे एक रमणीय सरोवर था। नागा निरकारी ने अपनी शैशव अवस्था के अनेक क्षण गम्भीर चिन्तन में उसी सरोवर के तट पर बैठ कर बिताये। कभी कभी बालमण्डली में बैठकर क्रीडा करते थे। माता उन्हे बहुत मानती थी, पिता की अपेक्षा उनका स्नेह अपनी प्यारी सन्तान पर अधिक था। माता उन्हे बहुमूल्य अलकारो से सजाकर बाहर खेलने के लिये

भेजा करती थी। एक बार वे कीमती हीरक अगूठी पहन कर राजप्रासाद के वाहर खेलने जा रहे थे। दैव योग से उन्होने एक भिक्षुक देखा, दया से उनके मन में दानशीलता का भाव जाग उठा, वे परमदानी के अवतार थे ही; उन्होने बिना मागे ही अपनी अगुली की अगूठी उतार कर भिक्षुक को दे दी। इसी प्रकार एक कीमती शाल खेल के समय में ही वे कही वाहर भूल आये। सासारिक पदार्थों में उनकी तनिक भी आसक्ति या रुचि नही थी।

जब वे केवल दस-बारह साल के ही थे पजाव पर मुसलमानो का भयकर आक्रमण हुआ। उनके पिता को शत्रुओ से लडने रण में जाना पडा। वे युद्ध क्षेत्र में मारे गये। कुलपरम्परा के अनुसार नागा निरकारी की मा सती हो गयी। सती होने के पहले उन्होने अपने पुत्र का प्यार किया, पीठ पर हाथ फेरा और ममता भरी दृष्टि से उन्हे देख कर परलोक मे पति से मिलने चली गयी। नागा निरकारी ने पिता और माता के स्वर्ग पधारने पर राजप्रासाद का परित्याग कर दिया। वे एक सन्त के आश्रम मे पहुँच गये। तेजस्वी वालरूप में नागा निरकारी को देख कर सन्त वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने उनका नाम हरनाम दास रखा। सन्त किसी औपधि के प्रयोग से चाँदी वना कर अपने शिष्यो की तथा अपनी जीविका चलाते थे। नागा निरकारी इस कार्य से वहुत दूर रह कर वाल क्रीडा में मग्न रहते थे। कुछ दिनो के वाद आश्रम का परित्याग कर वे तप करने के लिये निकल पडे।

वे वाल-अवधूत के रूप में निर्जन स्थानो में निवास कर तप करने लगे। वे तप के पहले वारह साल की अवधि में मौन रहे। नग-धडग दिगम्वर वेप में भ्रमण करते देखकर लोगो ने उनको नागा वावा की सज्ञा से विभूपित किया। वे वालको के ही साथ खेलते रहते थे। वारह साल के वाद मौन-व्रत भग करने पर उन्होने वाणी प्रतिध्वनि-व्रत का आचरण किया। उनसे मिलने पर या उन्हे देख कर जो व्यक्ति जैसा वचन बोलता था, नागा निरकारी उसे वैसा ही दोहरा दिया करते थे, चाहे वह प्रिय होता या अप्रिय होता। इस प्रकार के तप में उनके जीवन के अनेक साल वीत गये। वे अनेक स्थानो में भ्रमण कर तप करते रहे। वालको के साथ खेलना ही उनकी साधना का स्वरूप था। इस प्रकार की साधना के निगूढ भाव का अनुभव उनकी कृपा से ही सम्भव है। वालक खेलते-खेलते उन्हे जिस स्थान पर छोड कर चले जाते थे वे वही तव तक वैठे रहते थे, या खडे रहते थे जव तक साथ में खेलने वाले वालक उनका हाथ पकड कर दूसरे स्थान

पर न ले जाते। उन्हे भूख प्यास की तनिक भी चिंता नही रहती थी। यदि कोई खिला-पिला देता तो खा-पी लेते थे। इस प्रकार घोर तप में उनके जीवन का अधिकाधिक समय बीतने लगा। वे पूरी अवधूत-वृत्ति में थे।

सन्त नागा निरकारी ने अनेक प्रान्तो में भ्रमण कर तप किया पर सदा वे गुप्त रूप से ही विचरते रहते थे। उनके तपोमय जीवन का अधिकाश प्रयाग और कानपुर के बीच के जनपदो में बीता। उत्तर प्रदेश के फतहपुर जनपद में असोथर नामक उपनगर के निकटवर्ती वन मे उन्होने घोर तप किया। इसके पहले अयोध्या में उन्होने तप करते अपने जीवन का आधा भाग बिताया था। असोथर एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है, इतिहासप्रसिद्ध भगवन्तराय की पूर्व काल में यह नगरी राजधानी थी। यह स्थान महाभारत प्रसिद्ध अमर अश्वत्थामा के नाम से भी सम्बद्ध है। नगर से थोडी दूर पर अश्वत्थामा के मठ का ध्वशावशेष अवस्थित है। मठ से लगी हुई एक अत्यन्त प्राचीन और निर्जन कन्दरा में सन्त नागा निरकारी तप करने लगे। फतहपुर जनपद के प्रसिद्ध सन्त मगनानन्द स्वामी ने भविष्य वाणी की थी कि मेरे ब्रह्मलीन होने के बाद दो पजाब प्रान्तीय महात्मा आकर तप करेंगे, वे परम सम्मान्य सन्त हैं। उनकी भविष्य-वाणी की पूर्ति के रूप में ही नागा निरकारी का आगमन हुआ। उनके साथ एक और सन्त भी आये थे, कुछ समय तक गगा तट पर निवास करने के बाद वे समाधिस्थ हो गये। नागा निरकारी मौन व्रत ग्रहण कर असोथर-वाली कन्दरा में तप करते रहे। वे परम दिगम्बर और महामौनी थे। परम सौभाग्य का उदय होने पर व्यक्ति विशेष को उनका दर्शन हो जाया करता था। असोथर के एक साधारण गृहस्थ शिवमगल सिह (बचना) को उन्होने अपनी सेवा का सौभाग्य प्रदान किया था। धीरे-धीरे निकटवर्ती नगरो में उनकी कीर्ति फैलने लगी, वे 'नागा बाबा असोथर' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। तत्कालीन राजरानी उनके चरणो मे असाधारण श्रद्धा रखती थी।

उनमें दीर्घकालीन तप के परिणाम स्वरूप वाच्योक्ति का आरभ हो रहा था, पर वाच्यज्ञान नही था। किसी की बात सुन कर उसी प्रकार दोहरा दिया करते थे। यदि कोई कहता था—'बाबा जी बैठो', तो वे भी कह पडते थे ? 'बाबा जी बैठो।' लोग उन्हे अपने-अपने घर ले जाने लगे, उनकी चरण-धूलि से अपना घर पवित्र कराने लगे। साथ में बालको की मण्डली रहती थी, वे परमहसवृत्ति से बालको के साथ खेला करते थे। असोथर-निवास के प्रति उनका अनुराग

महाभारत काल में कर्ण के रूप में अश्वत्थामा से उनकी मैत्री का प्रतीक था। ऐसा कहा जाता है कि असोथर--अश्वत्थामा पुरीकी अश्वत्थामाने स्थापना की थी। असोथर के निवासियो ने पहले तो उनकी अवधूत-वृत्ति देख कर पागल समझा पर बाद में उनकी महत्ता के चरणदेश में वे नतमस्तक हो गये। असोथर में उन्होने घोरतम तप किया। असोथर-निवास काल में एक बार वे विचरण कर रहे थे। सयोग से उनकी एक थानेदार से भेट हो गई। नागाजी के साथ खेलनेवाली बालमण्डली भी थी। थानेदार ने पूछा, 'तुम इस तरह नगे क्यो घूमते हो।' नागा ने उसकी बात दोहरायी, 'तुम इस तरह नगे क्यो घूमते हो।' थानेदार ने कहा कि ठीक तरह जवाब दो। नागा बाबा ने उसकी बात फिर दोहरायी। इसी समय कुछ लोगो ने थानेदार से निवेदन किया कि ये सन्त पुरुष हैं, इन्हें छेडना नही चाहिए। थानेदार नागा बाबा को प्रणाम कर चला गया। इसी प्रकार असोथर के थानेदार को उनके पागल होने का भ्रम हो गया था। उसने बाबा को अस्थायी कारागार में डाल दिया। रात को नागा बाबा ने जोर-जोर से 'अलख' का उच्चारण आरम्भ किया। रानी साहब उनकी आवाज पहचानती थी। असोथर की राजरानी ने थानेदार को कडी धमकी दी और नागा बाबा कारामुक्त हो गये।

सन्त नागा निरकारी बालको के साथ खेलते और भ्रमण करते समय अपने आप को पूर्ण रूप से उन्ही की चेष्टाओ पर निर्भर कर देते थे। बालक बुलाते थे तो बोलते थे, खिलाते थे तो खाते थे, चाहे बालक उन्हे पानी में गिरा दे, चाहे उनको बालू में सुला दे, चाहे ढकेल दे, उन्हे उनकी प्रत्येक चेष्टा मान्य थी। कभी-कभी तो बालमण्डली के कारण उनके प्राण सकट में पड जाते थे, पर बाल-शक्ति के रूप में अदृश्य भगवत्शक्ति ही उनकी ऐसे अवसरो पर रक्षा करती थी। बालक जहाँ रात को लिटा देते, वही लेट जाते थे, कोई कुछ उढा देता था तो ओढ लेते थे, यदि ओढने का वस्त्र नीचे गिर जाता या खिसक जाता तो उसे फिर नही उठाते थे। इस प्रकार उन्होने अवधूत व्रत का पालन किया।

एक बार वे यमुना के किनारे बालको के साथ खेल रहे थे। जिस गाँव के वे बालक थे, वह यमुना-तट से थोडी दूर पर था। नागा बाबा एक कगार पर खडे थे। यमुना का वेग अत्यन्त तीव्र था। बालकों ने उनको यमुना में ढकेल दिया। वे प्रवाह के साथ बहते-बहते कोसो दूर चले आये। एक ग्राम तट के

निकट था। कुछ बालक खेल रहे थे। नागा बाबा बाहर निकल कर उनके साथ पहले की ही तरह खेलने लगे।

एक बार उन्होने यह धारणा बना ली थी कि जिस दिशा की ओर पैर बढें उसी ओर चलते रहना चाहिये, पीछे नही लौटना चाहिये। उत्तर दिशा की ओर चलने पर नैपाल जा पहुँचे, नैपाल से तिब्वत और तिब्वत से चीन पहुँच गये। चीन में वे किसी की भाषा नही समझ पाते थे। यदि कोई खाने-पीने को दे देता तो प्रसन्नता से खा लिया करते थे। किसी से कुछ माँगने की वृति तो थी ही नही। चीन में वे एक अग्रेज के बगीचे में जा पहुँचे, जब तक वे चीन मे थे, उसी बाग में उन्होने निवास किया। अग्रेज सज्जन ने उनको भारतीय सत समझ कर अनुकूल भोजन आदि का प्रबन्ध कर दिया, बडी सेवा की। चीन से आसाम, तथा ब्रह्मदेश में विचरते हुए भारत में प्रवेश किया।

सत नागा निरकारी की तपोभूमि के प्रतीक रूप मे उत्तरप्रदेश के कानपुर जनपद का पालीराज्य तथा प्रयाग जनपद का अटसराय स्थान स्मरणीय हैं। उन्होने पाली में इस जीवन के अन्तिम दिनो में निवासकर अपनी आत्मानुभूति से असख्य प्राणियो का कल्याण किया। वे पाली-निवास काल में अपनी सहजावस्था में थे। पाली के कण-कण में उनकी दिव्य अभिव्यक्ति का दर्शन होता है। पाली राज्य की राजमाता-सती साध्वी गिरिराज कुमारी और उनके पुत्र अमरनाथ ने नागा बाबा के चरणो में असीम श्रद्धा प्रकट कर उनकी महती सेवा का अधिकार प्राप्त किया।

अवधूत नागा के जीवन में बहुत सी अलौकिक और चमत्कार पूर्ण घटनायें घटी थी। एक समय आसुरी प्रकृति के कुछ व्यक्तियो ने उनकी योग शक्ति की कडी परीक्षा ली। उन्हे नग्न वेष में विचरण करते तथा बालको के साथ खेलते देखकर उन लोगो ने समझा कि नागा बाबा ढोग कर रहे हैं। नागा बाबा कानपुर जनपद के बरई ग्राम में बालको के साथ खेलते हुए भ्रमण कर रहे थे। रात होते ही एक कमरे में विश्राम के लिये उनको रख दिया तथा उनके ब्रह्मचर्य और योग शक्ति की कडी परीक्षा के लिये समझा-बुझा कर एक वेश्या को भीतर भेज कर बाहर से ताला लगा दिया। ..दूसरे दिन सबेरे ताला खोलने पर वे कमरे में नही थे, अदृश्य हो गये थे। वेश्या अर्धविक्षिप्त दशामें थी। उसने चेत होने पर कहा कि मैंने बाबा का आलिंगन करना चाहा पर वे मुझे स्त्री के रूप में दीख पडे और तत्काल अदृश्य हो गये। कुछ दिनो के बाद उस वेश्या का

प्राणान्त हो गया। इस प्रकार परीक्षा की कसौटी पर सन्त नागा निरकारी खरे निकले।

एक वार सक्रान्ति पर्व के अवसर पर नागा निरकारी पाली के भक्त राजपरिवार के साथ जाजमऊ नामक स्थान पर गगा-स्नान करने गये थे। वे गगा की रेती में वैठ कर भोजन कर रहे थे, अचानक 'वच गया' शब्द उनके मुख से निकल पडा। पूछने पर उन्होंने कहा कि गगा-यमुना के सगम पर एक नाव भँवर में फँस रही थी, एक व्यक्ति डूवने वाला था पर वच गया। नागा वावा इतना कहने के वाद मौन हो गये। किसी ने घटना के सम्वन्ध में कुछ पूछने का साहस नही किया। वाद में पता चला कि सक्रान्ति पर्व पर सगम-स्नान करने के लिये नागा निरकारी का एक भक्त नाव पर स्नान करने जा रहा था। थोडी देर में नाव भँवर में फँस गयी। डूवने ही वाली थी कि भक्त ने प्राणरक्षा के लिये अपने गुरुदेव नागा निरकारी का स्मरण किया। उसे तत्क्षण अनुभव हुआ कि एक अदृश्य शक्ति ने धक्का देकर नाव को भँवर से वाहर निकाल लिया। यही कारण था कि जाजमऊ मे नागा वावा के मुख से 'वच गया!' शब्द अचानक निकल पडा था। उनकी महती कृपा-शक्ति का वर्णन करना सावारण काम नही है।

सत नागा निरकारी उच्चकोटि के सिद्ध-पुरुष और परम भगवद्विश्वासी थे। वे कहा करते थे कि प्रत्येक अवस्था में भगवान पर निर्भर रहना चाहिये, यही सवसे वडी आस्तिकता है। एक समय वे भ्रमण करते-करते एक लम्वे और सघन वन में पहुँच गये। कोसो तक वस्ती का नाम नही था। वे तीन-चार दिन के भूखे-प्यासे थे। वन में उन्हे एक सती की समाधि दीख पडी। वे ध्यानस्थ होकर वैठ गये। थोडे समय के वाद सती थाली में भोजन तथा मेवे, मिष्ठान्न और फल लेकर प्रकट हो गयी। नागा निरकारी ने भोजन किया, सती अदृश्य हो गयी, इस प्रकार एक रहस्यमयी—भागवती शक्ति सदा उनकी रक्षा में तत्पर थी।

एक वार वे वदरीनारायण की यात्रा कर रहे थे। साथ में दो व्यक्ति और थे। सन्त नागा निरकारी लक्ष्मण झूला के मध्य-भाग से गगा में कूद पडे, गगाजी उस स्थान पर वहुत गहरी है, धारा अमित तेज है। साथ के व्यक्तियो ने सोचा कि वे स्नान करने के लिये कूद पडे पर वात कुछ और थी। लक्ष्मण झूला वाली घटना की कानपुर के किसी शिष्यको तार द्वारा सूचना देकर दोनो व्यक्ति

आगे वढे। कुछ समय के बाद फतहपुर जनपद मे बालमण्डली के साथ उनको खेलते और विचरते देख कर लोग आश्चर्यचकित हो गये। इस घटना के सम्वन्ध में उन्होने बताया था कि जब मै लक्ष्मण झूला पर था, मुझे ऐसा लगा कि गगाजी के नीचे ऋपिमण्डली हैं, मै मण्डली में सम्मिलित होने के लिये कूद पडा। बात ठीक थी। ऋषि मण्डली मे पहुँचने पर मेरा पैर एक चक्र में पड गया, ऋषियो को मेरी उपस्थिति से वडा आश्चर्य हुआ, उनसे बात कर मैं लौट आया। इस घटना से उनकी योगशक्ति का पता चलता है।

सन्त नागा निरकारी ध्यानयोगी थे। वे कहा करते थे कि ध्यान योग की बडी महिमा है। ध्यान योग से मैंने लक्ष्मी जी का दर्शन किया था और सती जी से भिक्षा प्राप्त की थी। ध्यान में मुझे लक्ष्मी जी ने दर्शन देकर मेरे दाहिने हाथ पर अपने हाथ के अगूठे की छाप लगा दी, कहा था कि 'तुमको भगवान के पास जाने में कोई नही रोक सकता। उस छाप की सहायता से मैं भगवद्धाम में गया, हनुमान जी ने रोकने की चेष्टा की पर छाप देख कर विवश हो गये, इसी प्रकार जय-विजय का भी प्रयत्न विफल हो गया। मैंने भगवान का परम दिव्य रूप देखा, उनके क्रीट, कुण्डल और मुकुट वडे दिव्य थे। ध्यानयोग में मुझे एक ऋषि-मण्डली में भी उपस्थिति होना पडा, अमृत बँट रहा था, मैंने शुक्राचार्य के सकेत से अमृत पी लिया, जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त हो गया। सन्त नागा निरकारी के जीवन की इन दिव्य घटनाओ का श्रद्धा और विश्वास के प्रकाश में दर्शन किया जा सकता है। नागा निरकारी ने अपनी ब्रह्मवाणी-रचना में ध्यान योग की दिव्य घटनाओ का वर्णन किया है।

सन्त नागा निरकारी सकल्प-विकल्पो से परे थे, सदा भगवद् आनन्दके पारावार में निमग्न रहते थे। एक समय उन्होने असोथर राज्य के कुँवर चन्द्र-भूषण सिह के विशेष आग्रह पर उनके राजप्रासाद को अपनी चरण-धूलि से पवित्र किया। कुँवर महोदय ने उनके शरीर पर एक कीमती दुशाला डाल दिया। उनकी इस चेष्टा का महादानी कर्ण के अभिनवरूप नागा निरकारी पर तनिक भी प्रभाव नही पडा। वे वाल-मण्डली के साथ खेलते-खेलते अपनी कुटी पर पहुँच गये। शाम का समय था। धूनी जल रही थी। धूनी के सामने बैठ गये। दुशाला धूनी में गिर कर जल गया। विरक्ति के हिमालय पर अवस्थित नागा निरकारी ने लोभ की ज्वालामुखी पर हाथ नही रखा। वे लोभ-मोह तथा माया से नितान्त परे थे।

वे परम तपस्वी थे। उनमें अपार आत्म तेज था। वदरीनारायण की यात्रा करते समय वे एक दिन एक चट्टी-विश्रामालय में विश्राम कर रहे थे। उनके साथ त्यागी जी उनके शिष्य थे। सन्त नागा ध्यान में लीन थे। त्यागी जी ने देखा कि साँप के आकार-प्रकार का एक लम्वा तेजोमय प्रकाश नागा जी के सामने आकर अदृश्य हो गया। ध्यान के वाद त्यागी जी ने इस घटना के सम्वन्ध में बात की। वे मुसकराने लगे। उनके उठने पर आसन के नीचे कुछ भी न दीख पडा। सन्त नागा निरकारी ने इस घटना के सम्वन्ध में वतलाया था कि साक्षात् वदरी नारायण अपने परम तेजोमय रूप में उन्हे दर्शन देने आये थे।

सन्त नागा निरकारी परमात्मा के विराट रूप के अखण्ड ध्यान मे तल्लीन रहते थे। उनकी विभूति – धूनी की राख परम शक्तिमती थी। उसके प्रयोग से सूखे वृक्ष हरे हो जाते थे, वीमारो का स्वास्थ्य लौट आता था और कुएँ का खारा जल पीने योग्य मीठा हो जाता था। यह केवल विश्वास या मान्यता ही नही है, परख और जानकारी की कडी कसौटी पर श्रद्धालुओ द्वारा कसी गयी वात है। सन्त नागा निरकारी माया से परम अलिप्त होकर आजीवन आत्मराज्य में स्वस्थ थे। वे प्रदर्शन और चमत्कार से सदा दूर रहते थे। भगवन्नाम-जप पर वे वडा जोर देते थे। जप और ध्यान योग में ही उन्होने अपनी तपोमयी साधना का परम स्वरूप स्थिर किया। उनकी सदा सहज समाधि लगी रहती थी, उनका प्रत्येक कार्य समाधि-अवस्था मे ही सम्पादित होता रहता था। वे परम-हस-पद में प्रतिष्ठित होकर अपनी दिव्य, अलौकिक दृष्टि से विश्वमय विश्वा-धार सत्स्वरूप परमात्मा का अनवरत दर्शन करते रहते थे। वे जन्म-जन्मान्तर से वैराग्य के अभय राज्य में विचरते हुए कुटीचक, वहूदक, हस, परमहस, तुरीयातीत तथा अवधूत–छ अवस्थाओ को पार कर कैलाश-विजय अथवा परमशिवमय तत्व की पूर्ण प्राप्ति के लिये नागा-निरकारी रूप में अभिव्यक्त हुए थे। अवधूत-अवस्था उनकी अन्तिम स्थिति थी। कर्मभोग से ऊपर उठने का एक मात्र उपाय उन्होने परमात्मा का भजन वताया। उन्होने निर्गुण निराकार। चिन्मय परमात्मा तत्व का ही स्तवन किया। ध्यानस्थ होने पर वे भगवान के विभिन्न स्वरूप का दर्शन करते रहते थे। ध्यान में उन्हे लोक-लोकान्तर के दृश्य दीख पडते थे। एक वार उन्होने अपने परम विश्वास पात्र एक शिष्य से ध्यानावस्था में ही कहा देखो, आकाश-मार्ग से रथ जा रहा है, उसमें दो मातायें अलौकिक शृगार से समलकृत है, वे इन्द्र के अखाडे की देवियाँ है, एक माता

दूसरी देवी से मेरे विषय मे सकेत कर रही हैं।' इसी प्रकार उन्हे ध्यान मे ही शिव, विष्णु आदि का दर्शन होता रहता था। सन्त नागा निरकारी कहा करते थे 'तत्वज्ञान भीतर से होगा, भजन करो, जप करो, ध्यान करो, जो कुछ भी करो उसे मन से करो। सब जीव परब्रह्म मे ही रहते है, पर ब्रह्म की खोज अपने भीतर करो। अपने को परम ब्रह्म में ही अनुभव करो।' उन्होने अपने साहब, परब्रह्मका अपनी प्रसिद्ध रचना ब्रह्मवाणी मे वडी विलक्षणता से बखान किया है। सन्त नागा निरकारी की उक्ति है

'भजले श्रीनागा निरवान गुरु जी। ।
साहब मेरा निरकार है श्री में तेज प्रकाश गुरु जी।
गगा सीस पर जटा जूट है, अखण्ड श्रीनारायण गुरुजी ॥
मूरति देव अखण्ड ध्यान है, पार ब्रह्म निरकार गुरुजी।
आदि जोति प्रकाश शक्ति की, परे पारब्रह्म गुरुजी ॥
अखण्ड पूजा अखण्ड भभूत है, बैठे धर्मराज गुरुजी।
'नागा' कहै सुनो भाई सतो, परे तत्व पहिचान गुरुजी ॥"

उन्होने अखण्ड, निर्विकार परम चेतन तत्व परमात्मा का भजन किया। इसी भजन के सहारे कैलाश-लोक की विजय की। नागा निरकारी का कैलाश लोक परम दिव्य लोक है जिसमें सनातन सत्य सत्ता का अखण्ड अधिवास है। इस दिव्य लोक में जीव की परम गति हो जाती है, वह योगस्थ-स्वस्थ हो जाता है।उन्होने ध्यान योग मे कैलाश का दर्शन भी किया था, उसमें अलख गगा वहती है, उसमे सत जन स्नान करते है, शिव जी 'अलख-अलख' का उच्चारण करते है। कैलाश में ही उन्होने गुरु नानक को भी देखा। उनकी उक्ति है, ब्रह्मवाणीसाक्षी है

'अव चले कैलाश दीवाने मन।
ऊँची कैलाश शिव जटा फटकार दिवाने मन।
आगे उनके झूला पडा है,
नानक नजर निहाल दिवाने मन।
गुरु जी की मण्डली में जा पहुँचे,
दर्शन अगम अपार दिवाने मन ॥'

इस प्रकार सन्त नागा-निरकारी ध्यान में ही दिव्य लोक-लोकान्तरो मे विचरते रहते थे। ध्यान मे ही उन्होने सुमेरू पर्वत को भी देखा था, सुमेरु

पर्वत को उन्होने सिद्धो का स्थान बताया है। वे इन्द्र लोक में भी गये थे। उन्होनें इन्द्रलोक का अनुभवपूर्ण वर्णन किया है, उनका पद है,

'भजले श्रीनागा निखान गुरुजी।
इन्द्र लोक में नागा गये है, छवि वरनी नहि जावे गुरुजी॥
इन्द्र कीलगी कचहरी, कवच कुण्डल कान में सोहै,
सीस पै मुकुट विराजे गुरु जी।
श्रीनागा जी बैठे सिहासन देव दर्शन को आये गुरुजी॥
लगी कचहरी राम नाम की परियाँ शव्द सुनावे गुरुजी।
'नागा' कहै सुनो भाई सतो दर्शन अगम अपार गुरुजी॥'

सन्त वाणी परम अनुभूतिमयी होती है, उसमें अविश्वास का प्रश्न ही नही उठता है। सन्त नागा निरकारी के प्रत्येक शव्द उतने ही सत्य है जितने सत्य परव्रह्म परमात्मा है।

सन्त-साहित्य उनकी महती देन—व्रह्मवाणी के लिये सदा आभारी रहेगा। नागानिरकारी की व्रह्मवाणी सन्त जगत की आलौकिक वस्तु है। नागा निरकारी की उक्ति है कि पुस्तक पढने से सत्य ज्ञान की प्राप्ति नही होती है, मन लगा कर भजन करने से हृदय निर्मल होने पर सत्य ज्ञान का उदय होता है तथा परम शान्ति मिलती है।

उन्होने अपनी रचनाओ में सन्त कवीर और नानक के प्रति अमित श्रद्धा व्यक्त की है, उनके प्रति नागा जी के वडे पूज्य भाव थे। उन्होने ध्यान में सन्त कवीर का भी दर्शन किया था।

वे जीव मात्र के प्रति दयालु थे, अपने लिये परम तपस्वी और सहनशील थे। दीन-दुखियो और अभाव पीडितो की सेवा और पापियो के समुद्धार के लिये ही उन्होनें शरीर धारण किया था। वे किसी की निन्दा-स्तुति के फेर में कभी नही आते थे। परम करुणामय थे।

उन्होने अपने परम-धाम-कैलाश-लोक-गमन की वात वहुत पहले ही कह दी थी। पाली की कुटी के सामने चने का एक खेत था। नागा जी ने कहा कि हमने ध्यान में देखा है कि इसी चने के खेत में लोग हमारे शरीर को चिता में जला रहे है। उन्होने सकेत कर दिया कि इसी स्थान पर मेरा समाधि-मन्दिर वनेगा। अपने ही कथन के अनुरूप सम्वत् १९९३ वि की कार्तिक शुक्ल

चतुर्दशी को उन्होने रात में शिव लोक-कैलाशधाम की प्राप्ति की। उनके शरीर का दाह-सस्कार कानपुर जनपद के पाली राज्य के उसी चने के खेत में विधि-पूर्वक सम्पन्न हुआ। उस स्थान पर उनका भव्य समाधि-मन्दिर जगत को सत्य, शान्ति और प्रेम का सन्देश देता हुआ अवस्थित है, वह उनकी तपस्या का दिव्य भौम स्मारक है, समाधि के दर्शनमात्र से मन शान्ति के गम्भीर सागर में निमग्न होकर दिव्य, शाश्वत अखण्ड सत्यामृत का रसास्वादन करता है। नागा निरकारी की समाधि की दिव्यता और नीरवता से सहसा मन मुग्ध हो उठता है। वे ब्रह्म-योगी थे, परम अवधूत और महान सत थे।

रचना

'ब्रह्मवाणी' उनकी प्रसिद्ध रचना है। जिसमें नागा निरकारीने अपने अनुभवो को पदबद्ध किया है।

वाणी

पारब्रह्म निरकार।
बैठे सिंहासन गुरुजी कृपाल, गगन ध्यान सुनकार॥
ब्रह्म ध्यान ओकार, तीन लोक में तेज अपार।
अनेक जोति प्रकाश, पार ब्रह्म निरकार॥

अब तो चेत मुसाफिर भाई॥
बार-बार पाहरू जगावत, छोडत नहिं अलसाई।
अब तो मिलना कठिन पियाका, उलटी भसम रमाई॥
घर है दूर मेरे साई को, जीव जत सब उडि जाई।
'नागा' कहै सुनो भाई सतो, सत्य नामकी करो दुहाई॥

पडी मेरी नइया विकट मँझधार।
यह भारी अथाह भवसागर, तुम प्रभु करो सहार।
आँधी चलत उडत झराझर, मेघ-नीर-बौछार।
झाँझर नइया भरी भारसे, केवट है मतवार॥
किहि प्रकार प्रभु लगू किनारे, हेरो दया दीदार।
तुम समान को पर उपकारी, हो आला सरकार॥

खुले कपाट-यन्त्रिका हिय के, जहँ देखू निरविकार।
'नागा' कहै सुनो भाई सतो, सत्य नाम करतार॥

भजले सत्य नाम गुरु जी।
यहाँ कोई न आवे काम गुरुजी॥
नदी अथाह प्रवाह बहत है, केवट है वेपीर गुरुजी।
नइया के ऊपर केवट वैठा, गहरा बाँस लगाओ गुरुजी॥
नइया पड गई मझधार में, ऊपर तम्बू तान गुरुजी।
चारो ओर से पवन चलत है, नइया वहुत उडान गुरुजी॥
नइया जाके लगी किनारे, ऊपर डोरी तान गुरुजी।
'नागा' कहैं सुनो भाई सतो दर्शन आठो याम गुरुजी॥

तू गोरिया वडी मूरख गँवारी॥
खेलत फिरत सखिन के सग यो नगे-वदन कुमारी।
अव छतियन मे यौवन उमगे मत तू खेल दुलारी॥
व्याह के वाजे वाजन लागे, करत है लोग तयारी।
पिया तुम्हारी वाह गहेंगे, लै जै है ससुरारी॥
आगे चलि है सइया का घोडवा पीछे से डोलिया तुम्हारी।
माई वाप घर रोय मरेगे, कहा करै हितकारी॥
सव सिंगार सजन पडी तुम का नई रसूम सचारी।
पाच पचीस मिलि मगल गावै गौने की देख तयारी॥
थर थर कापै क्यो जिय डरपै सेज की ओर निहारी।
सत्य नाम आशा तुव पूरी कह नागा गिरिधारी॥

सन्त रामप्रसाद

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद, प्रसीद, मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरिपाहि विश्व, त्वमीश्वरीदेवि चराचरस्य॥

शरणागत की पीडा का हरण करनेवाली देवी! आप प्रसन्न हो। अखिल जगत की जननी! प्रसन हो। विश्वेश्वरि, विश्व की रक्षा करें। देवि! आप चराचर की अधीश्वरी है।

—दुर्गासप्तशती

मृदुता की सौन्दर्यराशि—बगभूमि की भावनाप्रधान कोमल गरिमा अमित आनन्दमयी है, बगभूमि ने वडे-बडे सन्त महात्माओ, भक्तो और महापुरुषो को जन्म दिया है। उसकी पवित्र गोद में— कनक मयी धूलि-धवलिमा में अभिनव कृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने जिस मधुर और परम दिव्य लीला का परिचय दिया वह भगवत्ता के इतिहास की एक विशेषता है। चैतन्य महाप्रभु की जीवन-लीला की परिसमाप्ति के लगभग तीन सौ साल बाद बगभूमि ने शाक्त सन्त रामप्रसाद सेन का दर्शन किया। बगाल के गाँव-गॉव मे रामप्रसाद की शक्ति-भक्ति माधुरी से सम्पन्न गीत लोगो के कण्ठो के अलकार है। खेत में काम करने वाले किसान, सडक पीटने वाले मजदूर, गाय-भैंस चराने वाले लोग और अन्य कार्यों में लगे जन जिस समय राम प्रसाद के गीत-पद गाने लगते हैं उस समय ऐसा लगता है कि साक्षात् हिमाचलनन्दिनी ने साहित्य-अवतार लिया है—जन-जन के जीवन में काली का भक्ति-विग्रह अवतरित हुआ है। वगीय शाक्त-साहित्य में ही नही—भारतीय सन्त साहित्य मे सन्त रामप्रसाद का नाम अमर और अमिट है। रामप्रसाद लोकगायक सन्त थे। पढे-अनपढे सव-के-सब उनके गीतो को समझ लेते हैं— यह उनकी लोकप्रियता का वहुत वडा कारण है। उन्होंने आजीवन शक्ति की उपासना की।

सन्त रामप्रसाद वगाल प्रान्त के प्रसिद्ध शासक नवाव सिराजुद्दौला के समकालीन थे। उन दिनो ईस्ट इण्डिया कम्पनी सिराज को राज्यच्युत कर

अग्रेजी प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थी। भारत मे धीरे-धीरे अग्रेजो की शक्ति वढ रही थी और मुगल राजसत्ता का द्रुत गति से ह्रास हो रहा था। समय राजनैतिक उथल-पुथल का था, ऐसी विकट परिस्थिति में रामप्रसाद ने जन्म लेकर वगीय समाज को शक्ति की भक्ति से समृद्ध किया। उन्होंने शाक्त योग की साधना की। उन्होने दुर्गा-भक्ति के समुद्र मे पूर्ण अवगाहन कर अपना जीवन सफल और धन्य कर लिया। वे देवी के परम भक्त थे।

वगाल के घर-घर में शक्तिपूजा परम्परागत है। सन्त रामप्रसाद का परिवार भी शाक्त ही था। उनके पूर्वज साधारण गृहस्थ थे। सन्त रामप्रसाद ने वगाल प्रान्त के हालीशहर के निकट कुमारहट्ट गाँव में सम्वत् १७७५ वि में जन्म लिया। उनके पिता रामराम सेन थे। उनकी आयु वहुत कम थी। रामप्रसाद सेन का वचपन वडी गरीवी में वीता। वाल्यावस्था से ही उन्होने दुर्गा में भक्ति और अध्ययन में रुचि का परिचय दिया। उन्हे वगला, सस्कृत, फारसी और हिंदी का अच्छा ज्ञान था। जवान होने पर रामप्रसाद कलकत्ता चले आये। कलकत्ता में उनके परिचित वकुलचन्द्र घोपालने जो किसी राज्य के दीवान थे, वहीखाता लिखने के लिये उनको नियुक्त कर लिया। रामप्रसाद ने वही पर देवी के सम्वन्ध में अनेक पद रचकर लिख दिये। वही में उन्होने एक स्थान पर जगज्जननी से प्रार्थना की थी कि हे माता, मुझे वही खाता लिखने में तनिक भी आनन्द नही आता है, आप कृपापूर्वक मुझे अपने चरणो की भक्ति प्रदान कीजिये, आप ही मेरे लिये सव कुछ है, आप ही मेरी अक्षय निधि हैं।

आमाय देउ मा तविलदारी।
आमि निमकहराम नइ शकरी।
पदरत्नभाण्डार सवाइ लुटे, इहा आमि सइते नारि।
भाण्डार जिम्मा आछे जार से ये भोला त्रिपुरारि।
शिव आशुतोप स्वभावदाता तवु जिम्मा राख तारि।
अर्द्ध अग जायगीर तवुशिवेर माइना भारि।
आमि विना माइनेर चाकर, केवल चरणधूलार अधिकारि।
यदि तोमार वापेर धाराधर, तवे वटे आमि हारि।
यदि आमार वापेर धाराधर, तवे ते मा पेते पारि।
'प्रसाद' वले एमन पदेर वालाइ लये आमि मरि।
पदेर मत पद पाइलो से पद लये विपद सारि।

वही पर यह पद अकित देख कर मालिक चकित हो गया और मा के कृपापात्र को साधारण पद पर रखना ठीक नही समझा।

उनका मन नौकरी से उदासीन हो गया, दीवान ने वडा प्रयत्न किया कि वे अपने काम में लगे रहे पर रामप्रसाद का मन तो देवी के चरण-कमल-परिमल का रसास्वादन कर चुका था। दीवान ने उनकी जीविका के लिये बीस रूपये की वृत्ति की व्यवस्था कर दी। कृष्णनगर (नदिया) के राजा कृष्णचन्द्र की राज-सभा में उनका परिचय कराया, कृष्णचन्द्र, शाक्तो और वगीय जनता ने उनको कविरञ्जन की उपाधि से विभूषित किया। राजा कृष्णचन्द्र ने जीविका के लिये उन्हे सौ बीघा जमीन दी। रामप्रसाद ने जागतिक माया-बन्धन तोड कर शक्ति के भक्ति-राज्य में प्रवेश किया। उन्होने कहा कि काली का नाम-उच्चारण करना चाहिये। लोग कहेगे पागल हो गया है, वे गाली देंगे पर इसकी तनिक भी चिंता नही करनी चाहिये। ससार में भले बुरे दोनो हैं। भला—अच्छा कार्य करना ही श्रेयस्कर है। काली की नामरूपी तलवार से माया और सासारिक बन्धन को काट डालना चाहिये। जगत के प्रपच और माया ही विनाश के कारण हैं। रामप्रसाद को ससार से वैराग्य हो गया। वे देवी की उपासना में लग गये। रात-दिन काली के पदका चिंतन ही उनका प्रधान कार्य हो गया— धर्म हो गया। उन्होने साधना के क्षेत्र में प्रवेश कर जगद्धात्री अम्बिका के चरणो में आत्मनिवेदन समर्पित किया कि क्या मातृत्व केवल कथन-मात्र के ही लिये है ? केवल जन्म देना ही मातृत्व नही है। मा तो अपने शिशु की वेदना का ज्ञान रखती है। जन्म देनेवाली माता दसमाह और दस दिन तक गर्भ की वेदना का सहन करती हैं। पर मेरी मा पूछती तक नही हैं कि मैं कहा हूँ। वच्चे से भूल-चूक या अपराध हो जाने पर सासारिक माता-पिता उसे सही रास्ता वतलाते हैं। पर मां, आप देखती है कि मृत्यु मुझे मारने के लिये कितने वेग से वढती चली आ रही है पर आप निश्चिंत हैं। आप ने ऐसा आचरण कहाँ सीखा ? यदि आप भी अपने वाप-हिमाचल की ही तरह कठोरता का वरण करती है तो जगज्जननी नाम धारण करने का श्रेय छोड दीजिये। सन्त राम-प्रसाद के गुरु श्रीनाथ दत्त थे। गुरु के चरण कमलों में उनका दृढ अनुराग था। उन्होने मन को समझाया कि तुम सासारिक वैभव का परित्याग कर मृत्युञ्जय की शरण में अभय प्राप्त करो—भवरोग की यही औषध है।

एक वार गगा की मध्यधारा पर वगाल के तत्कालीन नवाव सिराजुद्दौला से उनकी भेंट हुई थी। ग्रीष्म ऋतु का समय था। राजनौका द्रुत वेगसे भागीरथी के जल में कल्-कल, छप-छप ध्वनि करती चली जा रही थी। राजनौका के ठीक सामने थोडी दूर पर एक साधारण नौका में सन्त रामप्रसाद सितार के तार छेड कर मधुर राग-रागिनी मे काली का मनोरञ्जन कर रहे थे। नवाव ने रामप्रसाद के दर्शन को अपना परम सौभाग्य समझा, राजनौका पर सन्त का आवाहन किया। वगाल का समग्र राजवैभव उनके चरणो पर नत हो गया। नवाव ने पद सुनाने की प्रार्थना की। उन्होने शास्त्रीय सगीत गाना आरम्भ किया। नवाव सिराज ने विनम्रता पूर्वक कहा कि महाराज, मुझे शास्त्रीय सगीत में तनिक भी स्वाद नही मिल रहा है, मुझे तो आपके हृदय प्रदेश से निकले कालीमहाशक्ति के स्तवात्मक पद सुनने की लालसा हें। सन्त रामप्रसाद ने पद-गान आरम्भ किया। समस्त वातावरण जगज्जननी जगदम्वा के भक्तिपरक स्तवन से परिव्याप्त हो उठा। नवाव सिराजुद्दौला उनसे वहुत प्रभावित हुए। वे उनकी निष्कपटता और सरलता से मुग्ध हो गये।

एक समय की वात है, रामप्रसाद वेडा वाध रहे थे। उनकी कन्या का नाम जगदीश्वरी था। भगवतीने जगदीश्वरी के रूप में प्रकट होकर वेडा वाधा, उनके अदृश्य होने पर पता चला कि जगदीश्वरी तो किसी और काम-में व्यस्त थी, रामप्रसाद की वाणी वडी करुण ध्वनि से वातावरण में परिव्याप्त हो उठी

मन केन मार चरण छाडा।
ओमन भाव शक्ति पावे मुक्ति।
वाघो दिया भक्ति दडा।
समय थाकते ना देखले मन
के मन तोमार कपाल पोडा।
मा भक्ते छलिते, तनया रूपे ते
वेंधेन आसि घरेर वेडा।
जेइ ध्यावे एकमने
सेइ पावे कालिका तारा।
ताई देखो कन्या रूपे
रामप्रसादेर वाँध छे वेडा।

सन्त रामप्रसाद का सबसे बडा कार्य शक्ति-भक्ति का पवित्र प्रचार था। जगदम्बा के चरणो में सर्वात्मभाव से समर्पण ही उनका सिद्धान्त अथवा उपासनाक्रम था। वे कालिका के पूर्ण भक्त थे। उनका समग्र जीवन असाधारण रूप से शक्तिमय था। उनकी जगदम्बा के प्रति उक्ति है कि हे माता, आप का विस्मरण होने पर मैं मन-ही-मन वेदना की जलन सहता रहता हूँ। माँ, मेरी प्रबल इच्छा यही है कि मै आप के अभयप्रद चरणो की धूलि हो जाऊँ। सन्त रामप्रसाद के पथ प्रदर्शक गुरु थे, शास्त्र ही उनके लिये दीपक था, साधना का मार्ग ही उनका विश्वास था—धर्म था। उन्होने भगवती जगदम्बा के चिन्तामणि-क्षेत्र की प्राप्ति को ही अपने जीवन का ध्येय स्वीकार किया। मन, वचन और कर्म से वे शाक्त थे, माँ के रूप में उन्होने परमात्मा का दर्शन किया, शक्ति में ही उनके आत्मराज्य की परमेश्वरी शक्ति प्रतिष्ठित हो उठी। शक्ति-चिंतन ही उनके साधनागत भक्तिमय जीवन का मूलाधार था। उन्होने करुण स्वर मे जगत् के अविद्या-माया-अन्धकार से आक्रान्त होकर माँ काली का आवाहन किया कि माँ, मै घोर विपत्ति में हूँ, चारो ओर अन्धकार है, अधेरी रात है। आप कठोर है। मैं तो कही का नही रहा, मानो चकोर को सुधा मिली ही नही, मेरे भाग्य का बधन ऐसा क्रूर है कि मैं करना कुछ चाहता हूँ पर कर बैठता हूँ कुछ, मेरा मन ऐसी सघर्षमयी परिस्थिति में विक्षिप्त सा हो गया है। उनकी भक्ति के अवर महाकाली के चरणदेश में स्पन्दित हो उठे कि माँ, मैंने क्या दोष किया है कि, आपने मुझे बन्धन में बाँध दिया है। 'माँ' शब्द तो ममता का प्रतीक है, बालक के रोने पर माँ अपनी गोद में बैठा लेती है। ससार की यही रीति है, सब मातायें ऐसा ही करती हैं। तो क्या मै ससार से अलग हूँ। आप माँ होकर भी मुझे प्यार नही करती है। मा, एक बार मेरी आँख की पट्टी हटा लीजिये, मुझे अपने श्रीचरणो का दर्शन करने दीजिये। एक स्थल पर राम प्रसाद की वडी विचित्र उक्ति है, माँ काली के प्रति एक व्यङ्गोक्ति है 'माँ, जिन चरणो की अभिलाषा स्वय भगवान शिव किया करते है उनको भय से आपने महिषासुर को दे डाला है। सच है, जिसके हाथ मे तलवार है आप उसी की बात सुनती हैं। प्राण बचाने के लिये आप महिषासुर की अक्षय और शाश्वत शरणगति हो गयी।'

सन्त रामप्रसाद ने शक्ति-उपासना का कठिन पथ स्वीकार किया। उनकी उपासना में तपोबल का आधिक्य है। उन्होने काली को उलाहना देते

हुए एक पद में उनकी कृपा की याचना की। उनका कथन है कि माता, मैं तो गृहस्थ था पर आप ने सन्यासी बना दिया। माँ, रात-दिन मै भयकर दुख की आग में जल रहा हूँ। उन्होने भगवती से मुक्ति माँगी। उन्होंने अपनी मनोदशा का परिचय देते हुए कहा कि मैं काशी जाकर क्या करूँगा, उस महा-नगरी मे निवास करने से क्या होगा ? मेरे पिता शिव जो मेरी विमाता को अपने सिर पर धारण करते हैं श्मशान में निवास करते है। उन्होने आत्मपरिचय के स्वर मे बताया कि हे माता, मैं टूटे-फूटे घर में रहता हूँ, मैं भयभीत होकर आपको पुकार रहा हूँ। मैं छ तस्करो से भयभीत हूँ जो कच्ची दीवार को पार कर भीतर आ जाते हैं।

सन्त रामप्रसाद ने भारतीय सन्त-साहित्य की समृद्धि-वृद्धि में बडा योग दिया। उनकी वाणी मे शक्ति के सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य का अद्‌भुत चित्राकन हुआ है। उनकी वाणी भक्तिरस से सनी लोकवाणी है। भगवती भागीरथी के तट पर जनता की अपार भीड उत्सुकतापूर्वक उनके कठसे निकली काव्य धारा मे अवगाहन कर अपना जीवन सफल मानती थी। उनके समकालीन कवि कमलाकान्त भट्टाचार्य उनकी वाणी से बहुत प्रभावित थे। सन्त रामप्रसाद मध्यकालीन शाक्त साहित्य के प्रमुख उन्नायको मे से एक थे। उन्होंने अपनी आत्मा के स्वर को भगवती महाकाली की चरण-भक्ति में सराबोर कर दिया। मधुर मालश्री रागिनी मे भक्तिपूर्ण पद रचकर रामप्रसाद ने आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रान्ति प्रस्तुत की। उन्होने प्रत्येक पद में, प्रत्येक शब्द और अक्षर में माता जगदम्बा के ऐश्वर्य का दर्शन किया। साहित्य और साधना के क्षेत्र मे उनके जीवन कालमें ही उनकी प्रसिद्धि दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढने लगी। उनका समग्र जीवन जगदम्बा की भक्ति का निर्मल दर्पण था। सन्त रामप्रसाद पर भगवती की असाधारण कृपा थी। वे नित्य गगास्नान करने जाया करते थे। एक दिन रास्ते मे उनसे एक स्त्री ने पद गाने के लिये कहा। रामप्रसाद ने कहा कि आप मेरे घर चलिये, मैं अभी गगा-स्नान से लौट कर आऊँगा, आप को पद सुना दूँगा। गगा-स्नान कर लौटने पर उन्होंने स्त्री की खोज की पर कही पता न चलने पर वे बहुत दु खी हुए। वे मन्दिर गये। मन्दिर मे उन्हे पता चला कि साक्षात दुर्गा ने ही काशी से आकर उन्हे दर्शन दिया। वे जगज्जननी के आदेश से काशी की ओर चल पडे। मन में श्रद्धा और भक्ति उमड रही थी, रसना पर माता के गुणानुवाद का माधुर्य था और नयनो से अश्रु प्रवाहित

हो रहा था। रास्ते मे वे वीमार पड गये। उन्होने पद गाया कि 'हे माता, मैं काशी नही जा सकता, आपके चरण ही मेरी काशी हैं।' स्वस्थ होने पर आगे बढना चाहा पर रोगग्रस्त हो गये, स्वप्न में उन्हे भगवती ने दर्शन दिया। रामप्रसाद ने कहा कि मेरे लिये काशी का उपयोग ही क्या है, माँ के चरण-कमल ही मेरे लिये तीर्थक्षेत्र हैं, उनका ध्यान करने पर मैं आनन्द-सागर मे निमग्न हो जाता हूँ। काली का नाम लेते ही पापो का क्षय हो जाता है। उन्होने कहा कि मै शक्कर नही बनना चाहता हूँ, मैं शक्कर खाना चाहता हूँ। आशय यह है कि उन्होने अद्वैत मत का खण्डन कर भगवती की भक्ति का रसास्वादन करने का ही पक्ष दृढ किया। उन्होने काली के चरणो में यही प्रार्थना की कि अन्त समय में मेरे प्राण आप के ही चरणो में अवस्थित हो।

सम्वत् १८३२ वि में उन्होने नश्वर शरीर त्याग दिया। मृत्यु के पहले उन्होने काली की विधिपूर्वक पूजा की और तत्पश्चात् पद-गान करते हुए माँ के धाम में प्रवेश किया।

बल देखि भाइ कि हय मोले।
एइ वादानुवाद करे सकले।
केउ बले भूत प्रेत हवि, केउ बले तुइ स्वर्गे जावि।
केउ बले सालोक्य पावि, केउ बले सायुज्य मेले।
वेदेर आभास तुइ घटाकास, घटेर नाश के मरण बले।
उरे शून्ये ते पाप-पुण्य गण्यमाण्य करे सब खोयाले।
एक घरे ते वास करि छे, पच जने मिले जुले।
से ये समय हले आपना आपनि जे जेखाने जाबे जाबे चले।
'प्रसाद' वले या छिल भाइ हरि रे निदान काले।
जेमन जलेर विम्व जले उदय लये हये मिशाय जले।

ऐसी मान्यता है कि काली-प्रतिमा का विसर्जन होते समय वे गगा में विरह-कातर होकर कूद पडे और दूसरे लोक में चले गये। अन्तिम समय में उन्होने कहा कि सावधान! नौका डूब रही है, हे असावधान मन, समय वीतता चला जा रहा है पर तुमने काली की भक्ति नही की। तुमने नौका पर अनुपयोगी पदार्थ रख कर उसको वोझिल वना दिया। दिन भर तुमने घाट पर प्रतीक्षा की, शाम को तुम धारा के पार हो जाओगे। तुमने अपनी पुरानी नौका पापो से लाद दी है, यदि तुम ससार-सागर को पार करना चाहते

हो तो केवट मल्लाह रूपी परमात्मा का स्मरण करो। भीषण और उत्तुग लोल लहरियो से भयभीत होकर छ मल्लाह—पाच कर्मेन्द्रिय और चित्त ने साथ छोड दिया है। परमात्मा ही पार लगायेंगे, विश्वास रखो। भगवती दुर्गा-परमात्मा शक्ति में उनका अटल विश्वास था, दृढ निष्ठा और भक्ति थी। उनकी भक्ति मौलिक थी। उन्होने मृत्यु से कहा कि तुम क्षण भर के लिये ठहर जाओ। मुझे जोर-जोर से मा का नाम-उच्चारण कर लेने दो। यद्यपि तुम मुझे ले ही जाओगे तो भी मुझे इस बात की तनिक भी चिंता नही है। क्या मैंने अपने गले में देवी के नाम की माला व्यर्थ पहनी है? महेश्वरी ही मेरी मालिक—जमीदार हैं और मै उनका सेवक हूँ— किसान हूँ। यद्यपि मैं स्वतन्त्र हूँ, मुक्त हूँ फिर भी मैंने उनका सारा-का-सारा कर दे डाला है, कुछ भी देना शेष नही है। क्या मा के जीवन-नाटक को दूसरे लोग समझ सकते हैं? जब त्रिलोचन— साक्षात शिव उनकी महिमा नही समझ पाते है, तब क्या मै उनका रहस्य जान सकता हूँ। दुर्गा का नाम ही मेरे लिये अमृतमय मुक्ति-क्षेत्र है। अन्तिम श्वास तोडते समय उन्होने करुणाभरी आवाज में कहा कि मा, मेरे जीवन का खेल समाप्त हो गया, अयि आनन्दमयी मा, समाप्त हो गया। खेल के लिये ही मैंने पृथ्वी पर जन्म लिया था। मैंने पृथ्वी की धूलि में अपना जीवन-खेल खेला। अयि, हिमाचलनन्दिनी! इस समय काल मेरे सिर पर नाच रहा है, मुझे मृत्यु का भय सता रहा है। बचपन के दिन मैंने खेल-कूद में नष्ट कर दिये, मुझे सारा समय प्रार्थना में लगाना चाहिये था। मा, अब मै शक्तिहीन और वृद्ध हूँ, मुझे बताइये कि क्या करना चाहिये। मा, आप शक्तिस्वरूपा है, मुझे भक्ति प्रदान कीजिये, मुक्ति के सागर में अवस्थित कर दीजिये। इस प्रकार शक्ति-उपासना का दीप जला कर उन्होने मा के धाम की यात्रा की। वे उच्च कोटि के सन्त थे।

रचना

उन्होंने अनेक शक्ति-सम्बन्धी पद रचे। दुर्गाभक्ति चिंतामणि विद्या-सुदर, काली कीर्तन, शिव सकीर्तन, कृष्ण कीर्तन आदि रामप्रसाद की रचनायें हैं।

वाणी

मा आमाय घुराबे कत।
कलुर चोख-ढाका बलदेर मत।

भवेर गाछे जुडे दिये मा पाक दिते छे अविरत।
तुमि कि दोपे करिले आमाय छटा कलुर अनुगत।
मा शब्द ममता युत कादले कोले करे सुत।
देखि ब्रह्माण्ड रइ एइ रीति मा आमि कि छाडा जगत।
दुर्गा दुर्गा दुर्गा वले तरे गेल पापी कत।
एक बार खुले दे मा चोखेर ठुलि देखि श्रीपद मनेर मत।

मा ! कोल्हू के वैल की तरह अव मुझे और कव तक घुमायेंगी। ससार वृक्ष में बाध कर निरन्तर ऐंठन दे रही हैं। मैंने क्या दोष किया है कि आप ने मुझे इस तरह बाध दिया है। 'मा' शब्द तो ममतापूर्ण है, बालक के रोने पर मा उसे अपनी गोद में वैठा लेती है। ससार की यही रीति है, सब मातायें ऐसा ही करती हैं। क्या मै ससार से अलग हूँ।'दुर्गा-दुर्गा' उच्चारण कर असख्य पापी तर गये। मा, एक बार मेरी आखो पर से पट्टी हटा लीजिये जिससे मैं आप के चरणो का दर्शन कर सकू।

एमन दिन कि हवे तारा,
जवे तारा तारा तारा बले
तारा वये पडबे धारा,
हृदि पद्म उठबे फुटे, मनेर आधार जाबे छुटे।
तखन धरातले पडब लुटे, तारा बले हव सारा।
तयाजिव सब भेदाभेद, घुचे जावे मनेर खेद।
ओरे शत शत सत्यवेद, तारा आमार निराकार।
रामप्रसाद रटे, मा विराजे सर्व घटे।
ओरे आखि अन्ध, देख माके, तिमिरे तिमिर-हरा।

मा तारा ! क्या ऐसा भी दिन आयेगा जव 'तारा तारा' पुकारते आँखो में आँसू की धारा उमड पडेगी, हृदय-कमल खिल उठेगा, अन्धकार नष्ट हो जायेगा और मै धरती पर लोट कर आप का नाम जपते-जपते धन्य हो जाऊँगा, भेदभाव छोड दूगा तथा मन का खेद मिट जायेगा। हे वेद, मेरी मा तारा निराकार है, वे घट-घट में विराजमान है। हे आँख के अन्धो, देखो, वे अन्धकार का नाश कर अन्धकार में ज्योतिमान हैं।

संत रवि साहब

रवि साहब गुरु सूरमा, काटी भवजञ्जीर।
कादर अपनो जानिके, ले गये भवजल-तीर॥

—सत कादर साहब

सत रवि साहब का नाम गुजरात के निर्गुण सत-साहित्य में स्वर्णाक्षरो में अकित है। उनकी वाणी में सतमत प्रतिपादित यौगिक साधना तथा तपस्या और अद्वैत ब्रह्म–निर्गुण निर्विकार राम के नाम-चितन का विलक्षण और दिव्य चित्राकन सुलभ है। रवि साहब ने विक्रम की अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण और उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध को अपनी मौलिक विचारधारा से प्रभावित किया। वे अनुभवी और उच्च कोटि के ज्ञानी थे। उन्होने गुजराती साहित्य को परमात्मा के सत्यरूप-चिंतन से समृद्ध बनाने में बडा योग दिया। उन्होने उस समय के गुजराती जन-समाज को आध्यात्मिक क्रान्ति से सचेत और सावधान किया। रवि साहब के जीवन-काल में दिल्ली की केन्द्रीय मुगलराज सत्ता तीसरे पहर में प्रवेश कर रही थी। देश के भीतर पुर्तगाल, फ्रान्स और इगलैड तथा हालैण्ड की व्यापारिक कम्पनियाँ अपने पैर जमाने की चेष्टा कर रही थी। मध्य भारत में शिवाजी महाराज के वशजो से सरक्षित और पेशवा–पन्त आमात्य द्वारा प्रतिष्ठित महाराष्ट्रीय शक्ति दिल्ली तक अपने आतक का विस्तार कर रही थी, बगाल के नवाब और दक्षिण के प्रान्तीय तथा स्वतन्त्र शासक उस महाशक्ति से आतकित थे। राजनीति करवट ले रही थी। राजस्थान अपनी मेवाडी स्वतन्त्र सत्ता के बल पर अडिग था। ऐसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक समय में सन्त रविसाहब ने सत्य, प्रेम और शाति के प्रचार के लिये शरीर धारण किया। अपने सन्तसद्गुरु देव महात्मा भाणसाहब की कृपा, आशीर्वाद और प्रसाद से उन्होने असख्य प्राणियो को भवसागर से पार उतार दिया। वे मस्त सन्त थे।

सत रवि साहब का जन्म गुजरात के आमोद मण्डल के तणछा ग्राम में सम्वत् १७८३ वि में हुआ था। वे जाति के वैश्य–श्रीमाली थे। उनके पिता

मनछा राम वडे सात्विक स्वभाव के व्यक्ति थे। इसी प्रकार उनकी माता इच्छा-बाई भी परम सती-साध्वी थी। दोनो के प्रभाव से रविदास-- रविसाहब की रुचि वचपन से ही अध्यात्म की ओर थी। साधु-सन्तो के प्रति हृदय में सहज अनुराग था, वे उनकी सेवा के लिये सदा इच्छुक रहते थे। धीरे-धीरे उनके मन में वैराग्य का उदय होने लगा और वे एक सद्‌गुरु की खोज में लग गये।

उन दिनो गुजरात, कच्छ और सौराष्ट्र में सन्त भाण साहब का नाम वहुत प्रसिद्ध था। उन्हे सत कवीर और दत्तात्रेय का अवतार माना जाता है। वे उच्चकोटि के सन्त और सिद्ध महात्मा थे। उनकी सरस वाणी में परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का अत्यन्त सफल चित्रण हुआ है। रविसाहव उनकी वाणी और साधना-पद्धति से बहुत प्रभावित थे। उन्होने उनको अपना गुरु बनाने की इच्छा प्रकट की। वे भाण साहव के शरणागत हुए। गुरु ने समझाया कि परमात्मा का ही नाम सच्चा है, अन्य आश्रय का त्याग कर परमात्मा का भजन करने से ही परम गति की प्राप्ति होती है। उनके चरणाश्रय में रवि साहब ने परम ज्योति का साक्षात्कार किया, उनके सामने से माया और अविद्या का परदा हट गया, अन्धकार मिट गया, वे गुरुतत्व के सहारे सच्चिदानन्द का रसास्वादन करने लगे। अपने गुरु देव के साथ रहने लगे तथा ससार और प्रपच का परित्याग कर उन्होने साधन और भजन तथा तप में अपने समय का सदुपयोग करना आरम्भ किया। गुरु के प्रति उनके हृदय में असाधारण निष्ठा थी, उन्होने पद-पद पर उनकी कृपा का अनुभव किया। उनके लिये गुरु का क्षणिक वियोग भी असह्य था। एक वार भाण साहब ने उनको साधना का रहस्य बताया, अध्यात्म तत्व के सम्बन्ध में उपदेश दिया। उन दिनो वे गुरु के साथ शेडखी में रहते थे। भाण साहव ने उनको शेडखी में ही रहने का आदेश देकर स्वय घोड़े पर सवार होकर कमिजडा के लिये प्रस्थान किया। भाण साहब उन्हे अपने साथ न ले गये। वे जानते थे कि रवि साहब उनके वियोग का दुख सह न सकेगे। इसलिये कमिजडा में रवि साहव की अनुपस्थिति में ही उन्होने जीवित समाधि ले ली। भाण साहव के महाप्रस्थान का समाचार पाते ही रवि साहब परम विरहापन्न हो उठे। वे वडे दुखी हुए। उन्होने गुरु के उपदेश के अनुसार स्थान-स्थान में घूम-घूम कर प्राणियो को आध्यात्मिक चेतना प्रदान करने तथा भगवद्-भजन में लगाने का दृढ व्रत लिया। उन्होने सोचा कि मेरे इस कार्य से गुरु की आत्मा को शाति मिलेगी। भाण साहव के पुत्र खीम साहव थे। वे भी एक

अच्छे महात्मा थे। पिता की मृत्यु से वे भी वहुत चिंतित हुए। रवि साहव ने उनको अपना शिष्य स्वीकार कर आतमज्ञान का उपदेश दिया। रवि साहव ने खीम साहव को समुद्र तट पर सायर स्थान में रहने का आदेश दिया। खीम साहव उच्च कोटि के सिद्ध सन्त थे।

अपने गुरु भाण साहव के ब्रह्मलीन होने पर सन्त रवि साहव ने गाँव-गाँव में घूम कर भगवद् भक्ति-प्रचार करने का व्रत लिया। भाण साहव लोहाणा जाति के थे इसलिये लोहाणो की उनमें वडी निष्ठा थी। सात हजार लोहाणों ने रवि साहव के शरणागत होकर उनके उपदेशामृत से अपना जीवन कृतार्थ किया। इसके वाद रवि साहव, अपने शिष्यो के साथ भ्रमण करने लगे। कुछ दिन तक सूरत में ठहर कर उन्होने लोगो को सत्सग-लाभ का भागी वनाया। तत्पश्चात् शेखडी में चले आये और सतवाणी की रचना करने लगे।

अपने भ्रमण काल में उन्होने गुजरात के भक्त कवि प्रीतमदास से भी भेंट की थी। शेखडी पहुँचने के पहले वे कुछ दिन के लिये लखारा गाँव में ठहर गये थे। प्रीतस दास ने रवि साहव का आगमन सुना, वे हर्षित होकर उनसे लखारा गाँव में मिलने आये। कुछ दिनो तक दोनो साथ-साथ गगा-यमुना के सगम की तरह रह कर एक-दूसरे के सत्सग का रसास्वादन करते रहे। शेखडी में रवि साहव ने अधिक दिनो तक ठहरना उचित नहीं समझा। उन्होने गिरिनार की यात्रा की। गिरिनार पर्वत पर तप करते समय उन्हे दत्तात्रेय और योगसिद्ध गुरु गोरखनाथ जी महाराज का दर्शन हुआ। कच्छ में उन्हे प्रसिद्ध सन्त निर्भय राम का समागम प्राप्त हुआ। इसी यात्रा में उन्होने खीम साहव के पुत्र गगा-साहव को अपना शिष्य स्वीकार किया। इस भ्रमण में उन्होने 'विमल सत वाणी' की रचना पूरी की। सत रवि साहव के जीवन का सवसे वडा कार्य और सिद्धान्त था भगवान की भक्ति का प्रचार। भाण साहव के तत्व ज्ञान की दो शाखायें हो गयी। सन्त रवि साहव ने जिस शाखाको चलाया उसका नाम 'नाद' है। दूसरी शाखा का नाम 'वुन्द' है जो खीम साहव से सरक्षित कही जाती है। रवि साहव ने राम-नाम की साधना पर वडा जोर दिया। भगवन्नाम में उनका अटल विश्वास था। उन्होने कहा कि समस्त साधनो को छोड कर राम-नाम का ही उच्चारण करना चाहिये, सन्तो ने सदा राम के नाम की ही शरण ली है। नाम-साधना ही उनके भगवच्चिन्तन का स्वरूप है। उन्होने वताया कि राम निरञ्जन देव हैं, उनका भेद भगवान शिव शकर जानते है, वे रात-दिन वडे

प्रेम से उनका नाम जपते रहते है। राम नाम ही सार तत्व है, सवका मूल है। राम अखिल रूप आनन्द है। बिना राम नाम के यह जगत एक महाजाल है, फन्दा है। उन्होने कहा

'रग-रग राम रमि रह्यो, निरगुन अगुन के रूप।
राम श्याम रवि एक ही, सुदर सगुन सरूप॥'

उन्होने अपनी वाणी में राम के निर्गुण और सगुण रूप का सरस समन्वय किया। साधना के स्तर पर रविसाहब ने सक्षेप में केवल इतना ही कहा कि जीभ से रामनाम का उच्चारण, कान से रामनाम का श्रवण, नयन से राम का दर्शन करना चाहिये, प्राणिमात्र का इतना ही कार्य है। ऐसा करने से ही लोक-हित तथा आत्महित सभव है। सन्त-साहित्य में रवि साहब को अमित गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्होने सीख दी कि मनुष्य का जन्म वार-बार नही मिलता है, हरि के भजन बिना जीवन धिक्कार है। उन्ही का भजन करना श्रेयस्कर है। नश्वर ससार के बन्धन में नही पडना चाहिये।

रवि साहव के अगणित शिष्य थे। उनमें खीम साहब, गग साहब, कादर साहब तथा मुरार साहव आदि वहुत प्रसिद्ध थे। मुरार साहब मारवाड के थराड नामक राज्य के राजकुमार थे। उन्होने बडौदा मण्डल के शेडखी ग्राम में आकर रवि साहब से दीक्षा ली और उनके आदेश से जामनगर के खभालिया गॉव में एक मन्दिर बना कर भगवान का भजन करने लगे। रवि साहव ने उनको वचन दिया था कि मै अन्तिम काल में खमलिया में ही रहूँगा और वही समाधि लूंगा। यात्रा-काल में सम्वत् १८६० वि के लगभग वॉकानेर में रविसाहव के प्राण निकल गये पर उन्होने मुरार साहव को वचन दिया था कि मै चोला-त्याग खभालिया में ही करूँगा। गुरु की—रविसाहव ऐसे सिद्ध सन्त की वाणी असत्य नही हो सकती, इसका मुरार साहब के मन म पूरा-पूरा विश्वास था। वे खभालिया से बॉकानेर के लिये चल पडे। वे गुरु के वियोग से व्याकुल थे। वे उनकी देह पालकी में पधरा कर खम्भालिया ले जाने लगे। पालकी जोर से चल रही थी। सन्त के चरित्र का प्रत्येक अग विचित्रता से पूर्ण रहता है। उनके अद्भुत चरित्र में जो विश्वास नही करते है वे अभागे होते हैं। पालकी के भीतर से आवाज आयी 'मुरार धीरे-धीरे ले चलो।' मुरार ने भीतर देखा, रवि साव ने करवट वदली। मुरार आश्चर्य चकित हो गये। रवि साहव ने उपदेश दिया तथा खभालिया में समाधि लेने का वचन पूरा किया। इस प्रकार

१८६० वि सम्वत् में रवि साहव ने खभालिया में समाधि ली। रवि साहबने सन्त मत का सम्पूर्ण सरक्षण किया, वे सिद्ध, सन्त, योगो सब कुछ थे।

रचना

रवि साहव ने 'ग्रन्था चिंतामणि' और 'विमल सत-वाणी' को रचना की। उनके अनेक पद और भजन मिलते है।

वाणी

राम भजन विना नहिं निस्तारा रे।
जाग-जाग मन क्यो सोता।
जागत नगरी में चोर न लूटे, झख मारे जमदूता।
जप-तप करता कोटि जतन कर कासी जाइ करवत लेता।
मुवा पीछे तेरी होय न मुकती ले जायेगा जमदूता।
जोगी होकर बसे जगलमें अग लगावे भभूता।
दमडी कारण देह जलावे, ये जोगी नहि रे जगधूता।
जाकी सूरत लगी राम से काम क्रोध गरदन लेता।
अधर तख्त पै आसन लगावै ये जोगी ने जग जीता॥
ऊँघ्या नर सो गया चौरासी जाग्या सो नर जग जीता।
कह 'रविदास' भाग परतापे अनुभविद्या अनुभव पोता॥

राम निरञ्जन देव भेद जाणें शिव शकर।
रात दिवस लवलाय रटत रामहिं निज अक्षर॥
उनहिं दिया उपदेश रह्या कवहूं नहि भूला।
राम-नाम इकसार तत्व सवही का मूला।
रामा रघुवशी सकल अखिल रूप आनन्द है।
'रविदास' एक श्रीनाम विनसकल जगत यह फन्द है॥

देखो ने माया महावलवन्ती रे, पण्डित परगट कर जोडे॥
राजा रक फकीर जोगी रे, माया देखि सव कोई दौडे।
ज्ञानी घ्यानी सवही माही, सवहि लिया चढते घोडे॥

अबोल बुनि आसन बैंठे रे, देखि महोर मुर्खाहि मोडे।
धन आया जब धीरज भागी, अैंसे तान माया तोडे ।।
सुदर नारी स्वरूपवतीरे, कामी ने मारे कोडे।
कई नरपति ने नजरो मा लूटचा, लई खप्पर मा बालोडे ।।
सद्‌गुरु ना अे बालक सबला, माया जाल तुरत तोडे।
कहे रविदास सो सत्त शिरोमणि, जो भव का बघन छोडे ।।

लोचनियु काजल बिना सूनु, हृदय सूनु हरिनाम बिना।
दीपक बिना जेम मन्दिर सूनु, रजनी सूनी जेम चन्द्रविना ।।
दशरथ बिना आयोघ्या सूनी, भरत सूना श्रीराम बिना।
स्नेह बिना जेम सगपण सूनु, परिवार सूनो सहु पुत्र बिना ।।
जल बिना जेम पोयणी सूनी, भ्रमर सूनो जेम कमल बिना।
भणे रविदास सुण सारग पाणि, निर्धनिया हरिनाम बिना ।।

सत अनेकन जे भये, कीन्ही राम पुकार।
'रवीदास' सब छोडि के, रार्मांहि राम उचार ।।

सन्त नजीर

निसि दिन जो हरि का गुनगायरे,
बिगडी बात वाकी सब बन जाय रे।
लाख कहूँ, माने नहि एकहु,
अब कहो, कब लग हम समझाय रे।
सोच विचार करो कछु 'यकरग'
आखिर बनत-बनत बन जाय रे।

—यकरंग

नजीर थे तो गृहस्थ पर उनके जीवन में जिस सन्त सुलभ अल्हडता–मस्ती का दर्शन होता है वह उनकी विशेषता का प्रमुख स्तम्भ है। उन्होने राजा-राव–किसी को भी कुछ नही समझा, परमात्मा की महत्ता और ससार के नश्वर स्वरूप के चिंतन में लगे रहना ही उनका दैनिक कार्यक्रम था। थे मुसलमान पर हिन्दू और मुसलमान के भेदभाव से बहुत ऊपर उठे हुए थे। रहीम और रसखान की तरह उन्होने भगवान कृष्ण तथा अन्य हिन्दू देवी-देवताओ के प्रति श्रद्धा प्रकट की तथा उनके अलौकिक चरित्र का चिंतन किया। वे अद्वैतवादी सन्त थे। सूफी मत तथा प्रेम-साधना से उनकी वाणी प्रभावित है। वे स्वाभिमानी थे, अपने सुख-दुख का निवेदन उन्होंने केवल परमात्मा से किया, किसी भी वस्तु के लिये उन्होने किसी के सामने हाथ नही पसारा। वे परोपकार और दीन-दुखियो की सहायता में यथाशक्ति तत्पर रहते थे। उनके हृदय की विशालता और सहृदयता तथा सरसता का पता उनकी दानशीलता से चलता है। सन्त नजीर प्रतिभाशाली महापुरुष थे। उनकी रचना मे मानवता और आध्यात्मिकता का समीचीन समन्वय हुआ है। उनके नयनो में सदा हृदय-देवता-सौन्दर्यराशि परम प्रियतम भगवान की रमणीय रूप-माधुरी आलोडित रहती थी तथा रसना में प्रियतम का गुणानुवाद विहारशील रहता था। नजीर की वाणी में अध्यात्म-रस का अत्यन्त सफल चित्रण हुआ है। वे निस्सन्देह मानवतावादी सन्त थे।

नजीर ने विक्रमीय उन्नीसवी शताब्दी को सुशोभित किया था। उनके जीवन काल में दिल्ली की बादशाही और अवध की नवाबी का सितारा धीरे-धीरे डूब रहा था। भारत का मानचित्र लाल रग से चित्रित होता जा रहा था, अग्रेजी प्रभुता अपने परवने फैला रही थी। ऐसी स्थिति में सम्वत् १७९२ वि में दिल्ली में सन्त नजीर का जन्म हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उनका जन्म-स्थान आगरा था। नजीर के पिता मुहम्मद फारुक की गणना दिल्ली के धनी-मानी व्यक्तियो में होती थी। उन्होंने नजीर के पालन-पोषण में किसी भी प्रकार की कभी नही आने दी। नजीर के बचपन का नाम वली मुहम्मद था। वे देखने में बडे सुदर और प्रतिभा सम्पन्न थे। बाल्यावस्था से ही राह चलते कविता बनाया करते थे। उन्हें देखने पर लोग कहा करते थे कि आगे चल कर वे महापुरुष होगे। यद्यपि खेल-कूद में उनका मन बहुत लगता था तो भी उनके अन्तर में एक शक्ति उन्हे किसी अलौकिक अपार्थिव लोक के रहस्यो के चिंतन की ओर सदा प्रेरित करती रहती थी। सम्वत् १८१८ वि के लगभग अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण होने पर नजीर आगरे चले आये और वही रहने लगे। लोगो ने उन्हे अधिकाधिक सम्मान प्रदान किया, प्रतिष्ठा दी। उस समय नजीर पूर्ण युवावस्था में थे। वे सन्त कवि के रूप में प्रसिद्ध ही चुके थे। पर भाग्य ने पलटा खाया। विधि ने मस्तक की रेखा दूसरी ही तरह अकित की थी। सुख के दिन चले गये, अभाग्य का आक्रमण हुआ। सम्वत् १८२६ वि के लगभग जाटो ने आगरा लूट लिया, इस लूट में नजीर भी लुट गये, वे गरीब हो गये। वे मकतब पढा कर जीविका चलाने लगे तथा साथ-ही-साथ परमात्मा का भजन करने लगे। ससार के प्रति पूर्ण रूप से अनासक्त हो गये। विलास राय नामक एक खत्री सज्जन से उनकी मित्रता हो गयी जिसके परिणामस्वरूप वे समय-समय पर सन्त नजीर की सहायता करते थे। नजीर का परमात्मा में पूर्ण विश्वास था, वे अच्छी तरह समझते थे कि परमात्मा जो कुछ भी करते हैं ठीक ही करते हैं। ससार के सुख-दुख नजीर को उल्लासित और उदविग्न नही कर सके, वे उनके प्रति सदैव उदासीन ही रहे। उन दिनो पेशवा आगरे में कैद थे, नजीर उनके लडके को पढाने जाया करते थे। सन्त ससार के सम्मान और अपमान से सुखीदुखी नही होते है, वे तो नितान्त सरल होते है। पेशवा ने उन्हे चढने के लिये घोडी दी थी। नजीर उसी पर बैठ कर पढाने आया करते थे। रास्ते में लडको का झुण्ड उन्हे तग

करता तो वे मुसकरा देते थे। नजीर को हिंदी, फारसी और अरवी का अच्छा ज्ञान था। उन्होने इस ज्ञान का सदुपयोग भगवद्भजन और जीविका-निर्वाह में किया। उन्होने एक पद में कहा है कि वीरात्मा वह है जो प्रत्येक परि-स्थिति को परमात्मा की देन समझ कर उसी में सुखी और सतुष्ट रहता है, यदि परमात्मा ने सोने के लिये चारपाई दी तो वह उसी पर सोता है, यदि हाट-वाट में सोना पडे तो भी उसे चिंता नही सताती है, वह टाट पर भी सोकर रात काट लेता है। सन्त नजीर के समग्र जीवन में सरलता और उच्च चिंतन का दर्शन होता है। निस्सन्देह वे तत्कालीन मानवता को परमात्मा की एक वहुत वडी देन थे। वैराग्य के तो वे मूर्तिमान रूप ही थे। अपनी रचनाओ में उन्होने जो कुछ भी कहा है उसका मूलाधार उनकी अनुभूति ही है। सन्त नजीर के जीवन से हमें निष्पक्ष भगवद्प्रेम की शिक्षा मिलती है।

सन्त नजीर वडे उदार और दानवीर थे। एक वार माह पूरा हो जाने पर उन्हे वेतन मिला। वे मकतव से वेतन लिये जा रहे थे कि रास्ते में एक दीन हीन व्यक्ति ने निवेदन किया कि मेरी लडकी के विवाहके लिये कुछ रुपयो की आवश्यकता है, वडी कृपा होगी, यदि आप सहायता रूप में कुछ दे दे। नजीर ने कहा कि इसमें कृपा की वात ही क्या है, भाई, आप की आवश्यकता मेरी आवश्यकता से कही वडी है। ऐसी स्थिति में मेरे पास जो कुछ भी है उसका आपको ही उपयोग करना चाहिये ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है। उन्होने पूरा वेतन उस असहाय व्यक्ति को दे दिया और घर की ओर चलते वने। गरीव ने उनको हार्दिक धन्यवाद दिया और उनकी सावुता की भूरि-भूरि प्रशसा की। वे मन-ही-मन यह सोच कर प्रसन्न थे कि .

'दौलत जो तेरे पास है रख याद तू ये वात।
खा तू भी और अल्लाह की कर राह मे खैरात॥'

सन्त नजीर अपने नियम और निश्चय के वडे कडे थे। वे टट्टू पर सवार होकर मकतव में विद्यार्थियो को पढाने जाया करते थे। एक दिन जा रहे थे कि टट्टू को धीरे-धीरे चलने पर चावुक मारा। चावुक टट्टू को न लग कर किसी राहचलने वाले की पीठ पर पड गया। इस घटना से सत नजीर वहुत दुखी हुए। उन्होने चावुक लेकर टट्टू पर कभी न वैठने का निश्चय किया। इस नियम का पालन उन्होने आजीवन किया।

सन्त नजीर ने कभी किसी के सामने हाथ नही पसारा। वे परमात्मा के दृढ भक्त थे। जो कुछ आवश्यक होता था उसकी माँग परमात्मा से ही करने में वे गौरव समझते थे। उन दिनो लखनऊ की गद्दी पर इतिहासप्रसिद्ध नवाव वाजिद अली शाह विराजमान थे। वे बडे कला प्रेमी और काव्य में रुचि रखने वाले थे। वे सन्त नजीर की वाणी से वहुत प्रभावित थे। उन्होने नजीरको लखनऊ वुलाने की वडी चेष्टा की पर असफल रहे। वाजिद अली शाह ने उनको प्रसन्न करने के लिये रुपये भेजे। रात में सन्त नजीर को उन रुपयो की चिंता में नीद न आयी। दूसरे दिन सबेरे रुपये लौटाने के वाद वे निश्चित हुए। उन्हे जागतिक वैभव परिभ्रमित नही कर सका।

सन्त नजीर ने अच्छी करनी पर वडा जोर दिया। सासारिक पदार्थों की नश्वरता पर प्रकाश डालते हुए उन्होने कहा कि ऊँचे महल, रुपये-पैसे, आभूपण, ठाट, बाट, हाथी-घोडे सब-के-सब पडे रह जायेंगे, वनजारा जव लाद कर चलने लगेगा तब ये सव यही रह जायेंगे, इसी लिये नेकी करना ही श्रेयस्कर है। उन्होने चेतावनी दी

'सब ठाट पडा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।'

वे रात दिन परमात्मा की याद करते थे। परमात्मा का स्मरण ही उनके जीवन का प्रमुख कार्य था, उन्ही के विरह में वे दीवाने बने रहते थे। उनकी उक्ति है

'रात-दिन हिज्र में जोगी सा बना फिरता हूँ।
बेकरारी से तेरे नाम की जपता सुमरन॥'

वे वेष से गृहस्थ थे पर हृदय भगवद्भक्ति के अमिट रग में पूर्ण रूप से रगा हुआ था। उन्होने तन-मन से परमात्मा को ही चाहा था, ऐसा नही था कि मन ने परमात्मा से प्रेम किया और तन आराम में रह गया, – इस स्थिति को नजीर ने वहुत वडा विश्वासघात वतलाया है। वे आत्माराम ब्रह्म के उपासक थे पर सूफी प्रेम साधना में आस्था रखते थे।

सन्त नजीर की रचनाओ में पवित्र और निर्मल भगवत्प्रेम का सुदर चित्रण हुआ है। उन्होने भगवान कृष्ण के वचपन की लीला का गान मौलिक ढग से किया है, उनकी मुरलीवादन-माधुरी की सरस अनुभूति की है। भगवान के प्रेम में सरावोर होकर सन्त नजीर ने कहा कि प्रियतम का रूप देखे विना मेरे प्राण विरह में कलप रहे हैं, कितनी विचित्रता है कि शलभ तो जल-जलकर प्राण

समर्पित कर रहा है, और दीपक की रुचि का पता ही नही चलता है उनकी उक्ति है -

'ना मेरे पख न पाँव वल, मैं अपख पिय दूर।
उड न सकू गिर गिर पडू रहूँ विसूर विसूर।
प्रीतम या मन मोहिके, कीन्हो मान गुमान।
विन देखे वा रूप के, मेरे कलपत प्रान॥
आह दई कैसी भई, अनचाहत को सग।
दीपक के भावे नही, जल-जल मरत पतग॥'

सन्त नजीर ने हरि के भजन को ही सर्वश्रेष्ठ कर्म स्वीकार किया और वताया कि हरि का ही भजन करना चाहिये, जो हरि का ध्यान करते है, हरि से ही किसी वस्तु की आशा करते हैं उनकी आवश्यकता की पूर्ति भगवान स्वय करते है नजीर की वाणी है -

'नित हरि भज हरि भज रे वात्रा,
जो हरि से ध्यान लगाते है,
जो हरि से आशा रखते हैं,
हरि उनकी आस वजाते हैं।'

उन्होने कृष्ण की लीलाओ के वर्णन में वडी रोचकता का अकन किया। भगवान की चित्तहरण-वशी-ध्वनि की जय वोल कर नजीर ने सन्त कवि रहीम और रसखान की परम्परा अक्षुण्ण रखी, उन्होने श्रीकृष्ण के वालपन में पूर्ण अलौकिकता का दर्शन किया, एक स्थल पर उनकी उक्ति है

'सव मिल के यारो, कृष्ण मुरारी की वोलो जै।
गोविंद-कुज छैल-विहारी की वोलो जै॥
दधि चोर गोपीनाथ, विहारी की वोलो जै।
तुम भी 'नजीर' कृष्ण मुरारी की वोलो जै॥
ऐसा था वाँसुरी के वजैया का वालपन।
क्या-क्या कहूँ मै कृष्ण कन्हैया का वालपन॥'

सन्त साहित्य के इतिहास में सन्त नजीरका नाम अमर है। नानक साहव आदि सन्तो का स्मरण उन्होने अपनी रचनाओ मे वडी श्रद्धा से किया है। उनकी उक्तियाँ सन्त साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं उनकी एक स्थल पर स्वभावोक्ति है

'जा पडें याद में उस शोख की जिस बस्ती में।
वही गोकुल है हमें और वही वृन्दावन॥'

सन्त नजीर निस्सन्देह योगसिद्ध पुरुष थे, हिन्दू-मुसलमान—सब के सब समान रूप से उनका आदर करते थे। उन्होने लोगो को मृत्यु से सदा सावधान रहने की सीख दी। उनकी रचनाओ में उनका जीवन-चित्र स्पष्ट देखने को मिलता है। उन्होने अनुभव के स्वर में गाया

'सर कापा चॉदी बाल हुए मुह पीला पलके आन झुकी।
कद टेढा, कान हुए बहरे और ऑखें भी चुधियाय गयी।
सुख-नीद गयी और भूख घटी दिल सुस्त हुआ आवाज मही।
जो होनी थी सो हो गुजरी अब चलने मे कुछ देर नही।
तन सूख कूबडी पीठ हुई घोडे पर जीन धरो बाबा।
अब मौत नकारा बाज चुका चलने की फिक्र करो बाबा॥'

उन्होने सीख दी कि ससार क्षणभगुर है, जीव एक अतिथि की तरह कुछ दिन के लिये इसमें आता है और भोग विलास कर चला जाता है। इस लिये सावधानी से भगवान का नाम लेते रहना चाहिये।

सन्त नजीर ने आजीवन अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार आचरण किया, उनका अन्तरसत्य में अडिग विश्वास था। सम्वत् १८८७ वि में नजीर का देहावसान हो गया। उनकी शव-यात्रा में असख्य हिंदू और मुसलमान सम्मिलित थे। उनकी लोकप्रियता आगरे में इतनी बढी-चढी थी कि मरने के बाद प्रत्येक वर्ष होली के अवसर पर उनकी समाधि पर बहुत बडा मेला लगा करता था।

सन्त नजीर उदार, सहनशील, दानवीर और मस्त स्वभाव के सिद्ध फकीर थे। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को उन्होने परहित-चिन्तन मे ही लगाया, उनमें आत्मबलिदान और त्याग की बडी ऊँची भावना थी।

रचना

सन्त नजीर ने भगवान कृष्ण की बाल्य कालीन लीला के अगणित पद लिखे। उनकी रचनाओ में ससार की नश्वरता पर भी प्रकाश डाला गया है। अनेक सग्रह प्रकाशित है।

वाणी

जब मुरलीधरनें मुरली को अपने अधर धरी,
क्या-क्या परेम-प्रीति भरी उसमें धुन भरी।
लै उसमें 'राधे-राधे' की हरदम भरी खरी,
लहराई धुन जो उसकी इधर और उधर जरी।
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बाँसुरी।
यारो, सुनो य दधि के लुटैया का बालपन,
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन।
मोहनसरूप नृत्य-करैया का बालपन,
बन-बन के ग्वाल गौवे चरैया का बालपन।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मै कृष्ण कन्हैया का बालपन॥
हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
वह दिलवर सबसे आला है।
उसने ही हमको जी बख्शा
उसने ही हमको पाला है।
दिल अपना भोला-भाला है,
और इश्क बडा मतवाला है।
क्या कहिये और नजीर आगे,
अब कौन समझने वाला है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी
हर वक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए
फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥
दुन्यिा में अपना जी कोई बहला के मर गया।
दिल तगियो से और कोई उकता के मर गया।
आकिल था वो तो आप को समझा के मर गया।
बे अक्ल छाती पीट के घबरा के मर गया।
दुख पाके मर गया कोई सुख पाके मर गया।
जीता रहा न कोई हर एक आके मर गया।

सन्त काठिया बाबा

'गृहे पर्यन्तस्थे द्रविणकणमोष श्रुतवता
स्ववेश्मन्यारक्षा क्रियत इति मार्गो ऽयमुचित ।
नरान्गेहाद्गेहात् प्रतिदिवसमाकृष्य नयत, .
कृतान्तात् किं शङ्का न हि भवति रे जागृत जना ।।'

पड़ोस के घर में चोरी होने की बात सुन कर अपने घर का प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है पर घर-घर से प्रति दिन मनुष्यों को पकड कर ले जाते हुए काल से, हे जागृत जनो, क्या भय नहीं लगता।

—शान्तिशतक

रामदास काठिया बाबा के स्मरण मात्र से नयनो में एक ऐसे सन्त का विचित्र चित्र अभिव्यक्त हो उठता है जिनकी सघन भूरी भूरी जटायें हैं, शरीर अम्बरहीन है तथा भस्मलेप के शीतल सौन्दर्य से ओत प्रोत है, वक्षस्थल तक लम्बी दाढी फहर रही है और जननेन्द्रियमें काठ की लगोटी तथा हाथ में विशाल कमण्डलु है, – कितना महिमामय दिव्य चित्रण है, कठियाबाबा के सन्तवेपका। वे मूर्तिमान तप और वैराग्य थे, उनके जीवन का प्रत्येक अग सिद्धि-सम्पन्न था। उन्होने आजीवन सन्यास कमाया। सन्तो के प्रति असाधारण अनुराग और सेवाभाव का उनमें असीम सम्मिश्रण था। उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे विक्रमीय सम्वत् १९१४ के प्रथम स्वाधीनता सग्राम के समय उपस्थित थे और उस समय भी उनकी अवस्था का अनुमान कठिनता से लग पाता था। यह बात निश्चित-सी लगती ह कि उन्होने कम-से-कम पौने दो सौ साल को अवस्था में शरीर छोडा। वे वज्र से भी कडे थे साधना, तपस्या और नियम के क्षेत्र में, वे कुसुम से भी कोमल थे सन्त-सेवा और जीवमात्र के प्रति दया के भाव-साम्राज्य में। निस्सन्देह वे उच्च कोटि के महात्मा थे।

दो सौ साल पहले की वात है। पजाव प्रान्त के अमृतसर जनपद में लोना-चमारी ग्राम के सन्निकट एक ग्राम में रामदास काठिया वावा ने सम्वत् १८०३ वि के लगभग जन्म लिया था। उनके पिता वडे सदाचारी और भगवन्निष्ठ ब्राह्मण थे। उनका स्वभाव अत्यन्त धार्मिक था। एक दिन अत्यन्त आश्चर्य-मयी घटना से घर वाले चकित हो गये। उस गाँव में एक परमहस रहते थे, वे एक पेड के नीचे वैठ कर भगवान का भजन करते थे। काठिया वावा उस समय केवल चार साल के थे। वे खेलते-खेलते परमहस जी के पास पहुँच गये। परमहस जी ने वडे ध्यान से उनकी ओर देख कर कहा, 'राम-नाम का भजन करो। राम का नाम लेने से मनुष्य वडा वनता है। रामनाम से सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है।' परमहस जी के कथन का चार साल के वालक पर अमित प्रभाव पडा। वे उनके कथन के अनुसार राम-नाम का एकान्त में वैठ कर नित्य-जप करने लगे। मातापिता ने सन्तान की भक्तिमयी रुचि पर वडा सतोप प्रकट किया, वे पालन-पोपण वडे प्यार से करने लगे। काठिया वावा में वचपन से ही साधु-सन्तो के प्रति अनुराग का उदय होने लगा। जव वे केवल सात साल के थे तव अपने घर की भैंस चराया करते थे। अभी उनका उपनयन-सस्कार नही सम्पन्न हुआ था कि एक दिन भैंस चराते समय उन्हे एक महात्मा का दर्शन हुआ। महात्मा वडे भूखे थे। उन्होंने काठिया वावा के किसी प्रारब्ध वश उनसे कुछ खाने के लिये माँगा, घर से वात-की-वात में आटा और घी लाकर उन्होंने साधु की आज्ञा का पालन किया। महात्मा ने आशीर्वाद दिया कि तुम वहुत वडे योगी होगे, जीवमात्र को सन्मार्गपर लगाओगे। उपनयन-सस्कार हो जाने पर पिता ने उनको ग्राम से थोडी दूर पर एक विद्यालय में अध्ययन करने के लिये भेजा। काठियावावा शिक्षा-काल में राम-नाम की जप-सख्या वढाते गये। उनमें वैराग्य का उदय होने लगा। अठारह साल की अवस्था मे शिक्षा पूरी कर घर लौटने पर माता-पिता ने उनके विवाह का विचार किया। काठियावावा ने विनम्रता और सरलता से प्रार्थना की कि वैवाहिक जीवन में मेरा मन तनिक भी नही लगेगा, मुझे राम-नाम के जप में जो रस मिलता है उसकी प्राप्ति भोगा-वस्था में किंचित् मात्र भी सुलभ नही ह। माता-पिता को इस विचार से वडी प्रसन्नता हुई। विवाह का प्रस्ताव टल गया। काठियावावा का समय साधन-भजन मे लगने लगा, ससार के प्रति आसक्ति मिट गयी।

काठिया वावा की गायत्री मन्त्र में वडी श्रद्धा थी। उन्होने मन्त्र का जप आरम्भ किया। उनकी श्रद्धा और भक्ति से प्रसन्न तथा सतुष्ट होकर गायत्री माता ने उनको दर्शन दिया। गायत्रीने उनको ज्वालामुखी जाकर शेप पचीस हजार मन्त्रो के जप का आदेश दिया। वे ज्वालामुखी गये और गायत्री माता के आदेश का पालन किया। ज्वालामुखी के रास्ते मे उनकी एक वडे सिद्ध महात्मा से भेंट हुई। वे निम्बकि सम्प्रदाय के सन्त थे। उनका नाम देवदास था। काठिया वावा पर उन्होने कृपा की, उनको सन्यासाश्रम में दीक्षित कर लिया। वे वराग्यपूर्वक अपने गुरु के पास रह कर भजन करने लगे। इस समाचार से उनके माता-पिता वहुत क्षुब्ध हुए। पिता ने देवदास के चरण में निवेदन किया कि मेरी पत्नी के प्राणाधार एकमात्र ये ही हैं, इनको आप घर पर ही रह कर भजन करने का आदेश दे दीजिये। गुरु की आज्ञा से सन्यासी काठियावावा घर पर ही रह कर तप और साधना करने लगे पर माता की ममता और वात्सल्यमयी विकलता को उन्होने अपने साधन-पथ में वहुत वडा विघ्न समझा। वे घर से थोडी दूर पर एक पेड के नीचे रह कर भजन करने लगे, उनका मन घर पर नही लग सका, वे शेष वन्धन काट कर पीजडे में बन्द पक्षीकी तरह उडने के लिये उत्सुक हो उठे। वे घर-घर भिक्षा माँग कर जीवन-निर्वाह करते थे और भगवान की भक्ति में लगे रहते थे। एक दिन वे सहसा अपने घर के सामने थे, दरवाजे पर खडे होकर उन्होने भिक्षा माँगी। माता ने भिक्षा लेकर बाहर आते ही सन्यासी पुत्र को देखा, नयनो से अश्रु की धारा प्रवाहित हो उठी, कठ अवरुद्ध हो गया। किसी तरह माता से भिक्षा लेकर रामदास काठिया वावा वटवृक्ष के नीचे आये, उन्होने गाँव छोड देने का दृढ निश्चय कर लिया। एक घटना से वे वहुत क्षुव्ध हुए। सन्यस्त जीवन में सबसे वडा विघ्न कामिनी और कचन से होता है, इसलिये महात्मा और सन्त इन दोनो की ओर कभी आँख उठा कर भी नही देखते है, निस्सन्देह दोनो पतन की ओर ले जाते ही है। वटवृक्ष के नीचे एक युवती कुलवधू कभी-कभी उनका दर्शन करने आया करती थी। महाराज के प्रति वह इतनी आकृष्ट हो गयी कि रात में भी आना आरम्भ किया। महाराज ने आने की मनाही की। पर वह किसी भी तरह मानती ही न थी। काठिया वावा सावधान हो गये, उन्होने उसको समझाया कि एकान्त में युवती स्त्री का साधु से मिलना प्रत्येक दृष्टि से परम निपिद्ध है, यह कदापि उचित नही है। एक दिन अचानक ही महाराज गाँव से वाहर हो गये और फिर कभी न आये, वे सयम-

नियम के बडे कडे थे। वे अपने गुरुदेव के सन्निकट गये और उन्ही की शरण में रह कर तप करने लगे। एक बार उनके गुरुदेव उत्तराखण्ड में तप कर रहे थे। वे कुटी में थे और काठिया बाबा बाहर धूनी तापते थे। गुरु ने उनकी बडी कडी परीक्षा ली। एक दिन रात को वर्फ गिरने से धूनी की आग ठडी हो गयी। रामदास काठियाबाबा ने गुरु के तप में विघ्न नही उपस्थित करना चाहा, वे कुटी के सामने खडे हो गये। भयानक शीतकाल था, उनका शरीर ठन्डक से कॉप रहा था, गुरु देव उनकी निष्ठा से वहुत प्रसन्न हुए। धूनी जलाने के लिये आग लेकर वे अपने स्थान पर चले आये तथा भजन करने लगे।

एक वार गुरु ने परीक्षा लेने के लिये कहा कि तुम पहाड से कूद पडो, काठिया वावा प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत हो गये, गुरुदेव ने उनकी इस वृत्ति की वडी सराहना की। इसी प्रकार एक दिन आदेश दिया कि मै एक स्थान पर जा रहा हूँ। मै जव तक लौट न आऊँ तुम इसी आसन पर वैठे रहना, कही वाहर मत जाना। दैवयोग से महात्मा देवदास आठ दिन के वाद लौट सके। काठिया वावा को उसी आसन पर अडिग देख कर वहुत प्रसन्न हुए और कहा कि तुम्हे इस निष्ठा के फलस्वरूप किसी-न-किसी दिन इसी जीवन में भगवान का साक्षात्कार अवश्य होगा।

वे अपने गुरु के आदेश से द्वारका गये। द्वारका से लौटने पर अपने गुरुदेव के अन्तर्धान होने की वात सुन कर वे वहुत चिंतित हुए। गुरुदेव ने एक दिन उनको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा कि मैंने चोला नही छोडा है। आत्मगोपन किया है, मैं नर्मदा के तट पर किसी विशेप कारण से निवास कर तप कर रहा हूँ। समय-समय पर तुम्हे दर्शन होता रहेगा।

गुरु साक्षात् भगवान के ज्ञान-विग्रह है, उनकी कृपा से क्षणमात्र में जीव ससारसागर के पार हो जाता है। गुरुभक्ति में वडी शक्ति होती है, किसी सौभाग्यशाली को ही गुरु के ज्ञानस्वरूप का दर्शन होता है। रामदास काठिया वावा गुरु-कृपा के विशेप पात्र थे। उन्होने गुरु के अन्तर्धान होने के वाद समस्त भारत के तीर्थो की अनेक वार पैदल-यात्रा की। गुरुदेव ने उनको आशीप दिया था कि तुम्हे भगवान का साक्षात्कार होगा। उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप उन्हे भरतपुर राज्य के सैलानो कुण्ड पर भगवान का दर्शन हुआ, काठिया वावा की इस सम्वध में स्वीकृ ति है, सत-वचन है

'रामदास को राम मिले हैं, सैलानी के कुडा।
सत सदा यह सच्ची मानें, झूठी माने गुडा।।'

सन्त की पहिचान सूक्ष्म बुद्धि से भी नही होती है, यह तो उनकी प्रसन्नता और कृपा से होती है, उनकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता दोनो में हित की महती भावना रहती है। एक बार वे एक राज्य में भिक्षा माँगने गये। उस राज्य में एक युवती विधवा रानी थी, वह परम रूपवती थी, उसके सौन्दर्य ने महाराज को आकृष्ट करना चाहा पर वे सावधान हो गये और उसके माया-जाल से भाग निकले।

भारतीय स्वाधीनता के प्रथम सग्राम का समय था। सम्वत् १९१४ वि की बात है। काठिया बाबा यमुना के तट पर विचरण करते हुए आगरा जा रहे थे। गोरे सिपाहियो ने समझा कि कोई विद्रोही वेष बदल कर भाग रहा है। उन्होने दो बार गोली चलायी, महाराज बच गये। तीसरी बार गोली चलाते समय बन्दूक हाथ से नीचे गिर पडी। सिपाहियो ने उनको सिद्ध पुरुष समझ कर चरण-धूलि ली, महाराज अपने विचरण में मस्त थे। इस घटना का उन पर कुछ प्रभाव ही न पडा।

रामदास काठिया बाबा का जीवन तपस्याप्रधान था। एक बार उन्होंने पचाग्नि तापने की इच्छा प्रकट की। एक साधु ने ईर्ष्यावश उनकी चारो ओर हजार कण्डे जला दिये। लोग घबडा गये कि इस भयकर पचाग्नि का क्या परिणाम होगा पर काठियाबाबाने भगवत्कृपा से पचाग्नितप की परीक्षा में भी सफलता प्राप्त की।

गुरु की शरणागति पर वे अधिक जोर देते थे, वे कहा करते थे कि गुरु के चरणाश्रय से अन्त करण शुद्ध होता है, माया और अविद्या के अन्धकार का नाश होता है, हृदय में भागवत्प्रकाश का उदय होता है। सद्‌गुरु की कृपा में विश्वास ही उनकी साधना का स्वरूप था, तप को उन्होने साधना के क्षेत्र में बडा महत्व दिया। भगवान का भजन ही जीवन का श्रेय है। यह उनका सुदृढ सिद्धान्त था। भरतपुर सैलानी कुण्ड पर कुछ दिनो तक तप करने के बाद वे वृन्दावन में आकर भगवान का भजन करने लगे। साधु-महात्माओ की सेवा मे उनको बडा रस मिलता था। वे दानावानल कुण्ड पर रह कर तपोमयी साधना में लग गये। नित्य जगल से तीन -चार मन लकडी काट लाते थे और उसे सन्तो की सेवा में

लगाते थे। वे यमुना के तट पर एकान्त स्थान में रह कर भजन करने में परमानन्द का अनुभव करते थे। बंगाल के प्रसिद्ध महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी वृन्दावन-निवास काल में कभी कभी उनके दर्शन और सत्संग के लिये आते रहते थे। वृन्दावन के महात्माओं में काठिया बाबा 'व्रजविदेही' नाम से प्रसिद्ध थे। सम्वत् १८६३ वि. में यमुनाके तट पर वे योगासन से समाविस्थ हो गये। रामदास काठिया बाबा तपस्या और भक्ति के अप्रतिम प्रतीक थे, परम तपस्वी सन्त थे।

रचना

उनके उपदेश ही अमर कृति के रूप में प्राप्य हैं।

वाणी

रात के चौथे पहर में निद्रा का परित्याग कर भगवान का भजन करना चाहिये। निंदा और स्तुति से परे रह कर सत्कर्म में लगे रहना चाहिये।

सद्गुरु की कृपा से ही मुक्ति प्राप्त होती है। सद्गुरुजी की कृपा के बिना जीव मुक्त हो नहीं सकता है।

भगवान सदा छाया की तरह साथ रह कर भक्तों की रक्षा करते हैं।

आलस्य छोड कर भगवान के विग्रह और साधु-सन्तों की सेवा करनी चाहिये। गृहस्थ और सन्यासी दोनों समान रूप से भगवत्प्राप्ति के अधिकारी हैं। भगवद्दर्शन केवल गुरु की कृपा से ही होता है।

सन्त पलटू दास

अव मैं राम सकल सिधि पाई। आन कहूँ तौ राम दुहाई॥
इहि चिति चाषि सबै रस दीठा। रामनाम सा और न मीठा॥
औरे रसि ह्वै है कफ गाता। हरि रस अधिक अधिक सुखदाता
दूजा बणिज नहीं कछूवावर। राम नाम दोऊ तत आषर॥॥
कहै 'कबीर' जे हरिरस भोगी। ताकू मिल्या निरजन जोगी

—सत कबीर

सन्त पलटूदास विक्रमीय उन्नीसवी शताब्दी के एक महान सन्त थे। वे उच्चकोटि के नाममार्गी महात्मा और योगी थे। उन्हे अभिनव कबीर की सज्ञा से विभूषित किया जाता है। पलटूदास की वाणी मे सन्तसाहित्य की समृद्धि भरी-पडी है। उन्होने नाम-साधना के स्तर से सत्य-तत्व अथवा निरञ्जन राम के रस का विश्लेषण किया। वे यारी साहब की परम्परा में सिद्ध सन्तो की श्रेणी में परिगणित होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जिस समय दिल्ली के राजसिहासन पर बादशाह शाहआलम प्रतिष्ठित थे तथा अवध प्रान्त में नवाब शुजाऊ द्दौला की तूती बोल रही थी उस समय सन्त पलटूदास 'सत्तनाम' की साधना के लिये पृथ्वी पर प्रकट हुए। महात्मा पलटूदास के जीवन-काल में राजनीति और समाज के क्षेत्र में जन-समाज अस्तव्यस्त और अशान्त था। अग्रेजी प्रभुता का उदय हो रहा था। अग्रेजी तथा यूरोपीय धर्मप्रचारिणी सस्थाओ का व्यापार अपने उत्कर्ष पर था। ऐसी विचित्र अराजकता पूर्ण स्थिति में महात्मा पलटू दास तथा सत्तनामी और अन्य मार्गी सन्तो ने सत्य का प्रकाश फैला कर भारतीय चेतना को समस्थिति प्रदान की। महात्मा पलटूदास ने सन्तमत-परम्परा का सरक्षण किया उन्होने कहा

'पलटू' सन्त जो कहि गये, सोइ वात है ठीक।
वचन सन्त के नहि टरै, ज्यो गाडी की लीक॥'

जनता ने सन्त पलटूदास के रूप में अपने परम हितैषी का दर्शन किया। उनके आध्यात्मिक नेतृत्व में विश्वास प्रकट किया। सत्स्वरूप निरञ्जन निर्विकार परमात्म तत्व का रहस्य समझने वालों में पलटूदास का स्थान पर-मोच्च है। सन्त पलटूदास ने उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जनपद में तमसा नदी के तट पर नगपुर जलालपुर ग्राम में विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में जन्म लिया था। वे काँदू बनिया थे। साधारण व्यापार-वृत्ति से जीविका चलाते थे। पलटूदास के भाई पलटूप्रसाद अथवा प्रसाद साहब ने जो स्वय एक अच्छे सन्त थे अपनी 'भजनावली' में पलटूदास का थोडा सा जीवन-परिचय दिया है। प्रसाद साहब ने लिखा है

'नग जलाल पुर जनम भयो है, बसे अवध के खोर।
कहै पलटू प्रसाद हो, भयो जक्त में सोर।
सहर जलालपुर मूड मुडाया, अवध तुडा करधनिया।
सहज करै व्योपारघटहि में, पलटू निरगुन बिनिया।'

पलटूदास जन्मजात विरक्त थे। से सत्सग और संतमिलन तथा भगवद्-भजन में बडी रुचि रखते थे। नगपुर जलालपुर में गोविन्द साहब नाम के एक अच्छे महात्मा हो गये हैं। वे सन्त भीखा साहब के शिष्य थे। पलटूदास के वे पुरोहित थे। दोनो एक-दूसरे के सम्पर्क और सत्सग से बहुत प्रभावित थे। दोनो ने जानकीदास नामक महात्मा से दीक्षा ली थी। ऐसा कहा जाता है कि गोविंद साहब ने ही मन्त्र-दीक्षा दी थी।

एक बार सार तत्व की खोज में गोविन्द साहब और पलटू साहब ने साथ-ही-साथ तीर्थयात्रा आरम्भ की। मार्ग में उन्होने सौभाग्य से भीखा साहब का दर्शन किया। सन्त भीखा साहब ने गोविंद साहब को सार तत्व का उपदेश दिया और अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। सन्त पलटू दास और गोविन्द दोनो जगन्नाथ पुरी जा रहे थे। पलटूदास की जगन्नाथ जी में असाधारण निष्ठा थी। दोनो रास्ते से ही नगपुर जलालपुर लौट आये और कठिन वैराग्य-साधना तथा तपस्या में प्रवृत्त हुए। इस तीर्थयात्रा और भीखा साहब के सत्सग का पलटूदास पर बडा प्रभाव पडा। वे नगपुर जलालपुर से थोडी दूर पर ही स्थित श्री अयोध्या में भी समय-समय पर निवास कर लोगो को सत्य और ज्ञान की बातें बतलाकर नाम-भजन की प्रेरणा देते रहते थे। अयोध्या के महन्तो और साधुओ ने उनके खरे उपदेश का बडा विरोध किया पर अन्त में सत्य के ज्ञान-

प्रकाश के चरण पर उनको नत होना पडा। गोविन्द साहब से दीक्षा लेने के बाद पलटूदास ने वैराग्य के दुर्गम राज्य में प्रवेश कर कडी-से-कडी साधना की। उन्होने कहा कि वैराग्य का पथ अत्यन्त कठिन है। गुरु की शरणागति पर उन्होने बडा जोर डाला, उन्होने कहा कि जीव अकेला जायेगा, इसलिये सद्‌गुरु की शरण ही उसे भवसागर से पार कर सकती है। उन्होने कहा कि जग की आशा नही करनी चाहिये, यह तो बन्धन में बाँधने वाली है। सन्त पलटूदास ने अपने जीवन का अधिकाश अयोध्या मे बिताया, अयोध्या में उनका भव्य मन्दिर ह अखाडा है और नगपुर जलालपुर मे कुटी है।

पलटू साहब अद्वैतवादी सन्त थे। उन्होने 'जोई जीव सोई ब्रह्म' की घोषणा की, कहा कि बीज में फल और फल में बीज है। लहर मे जल और जल में लहर है, जीव और ब्रह्म दोनो अभेद है। आत्माराधन का पथ उन्होने जीव और ब्रह्म की एकरूपता अथवा अभेदता में स्थिर किया। उनका सिद्धान्त था कि यदि जगत हँसी करता है तो उसे करने देना चाहिये, राम की ओर सदैव चित्तवृत्ति लगा कर अपने काम में—जप-तप आदि मे सलग्न रहना चाहिये। उन्होने कहा

'जगत हँसे तो हँसन दे, पलटू हँसे न राम।
लोक लाज कुल छाडि कै, करिलौ अपना काम॥'

उन्होने कहा कि देह धारण करने से जीव परमात्मा का दास हो जाता है, नही तो, सर्वथा और सर्वदा वह स्वरूपस्थ है ही। आदि-अन्त सब में उसी की स्थिति है, निवास है। उन्होने भगवद् भक्ति को ही ऐहिक जीवन का परम श्रेय स्वीकार किया, सन्तमत की परम्परा का सावधानी से निर्वाह करते हुए तथा शास्त्रगत भगवद्‌मर्यादा अक्षुण्ण रखते हुए कहा

'पलटूपारस के छुए लोहा कचन होय।
हरि को भजै सो बडा है जाति न पूछे कोय॥'

पलटू साहब ने अद्वैत ज्ञान को सन्तमत की कडी कसौटी पर कस कर घोपणा की कि जल से तरग उठ कर जल में ही समा जाती है, वे ही हरि हे, वेही माया हैं, वेद-पुराण उलझ गये है, उनकी समझ में यह रहस्य प्रस्फुटित नही हो सका। जिस प्रकार फूल में गन्ध है, काठ में आग है, दूध में घी है, घडे में जल है, उसी प्रकार निर्गुण मे सगुण ब्रह्म है, कुछ दूसरा नही है, दूसरा समझने

वाले को पाप लगता है। जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ही सन्त पलटू साहब के भगवच्चिन्तन का स्वरूप स्वीकार किया जा एकता है। उन्होंने कहा कि साहब से परदा नही करना चाहिये, उनके सौन्दर्य को अच्छी तरह निरखना चाहिये। उन्होने सावधान किया कि जो दिन चले गये वे चले गये, उनकी चिंता न कर हरि से प्रेम कर लेना चाहिये, समय की सार्थकता का सर्वोत्तम मार्ग यही है। पलटू साहब ने चेतावनी दी

'जैसे कामिनि के विषय कामी लावै ध्यान ।।
कामी लावै ध्यान रैन-दिन चित्त न टारै।
तन मन धन मरजाद कामिनि के ऊपर वारै।।
लाख कोऊ जो कहै कहा ना तनिक मानै।
विन देखै ना रहै वाहि को सरवस जानै।।
लेय वाहि को नाम वाहि की करै वडाई।
तनिक विसारै नाहि कनक ज्यो किरपिन पाई।।
ऐसी प्रीति अव दीजिये पलटू को भगवान।
जैसे कामिनि के विषय कामी लावै ध्यान ।।'

उन्होंने अपनी रचनाओ में अपने साधना-क्रम पर प्रकाश डालते हुए शब्द की महिमा का वखान किया है कि शब्द से राज्य छूट जाता है और शब्द से ही व्यक्ति फकीर हो जाता है। शब्द से ही राम की प्राप्ति होती है। जिन्हे शब्द लग जाता है उन्हे कुछ भी अच्छा नही लगता है। जो लोग शब्द के घाव से मरते हैं उन्हे कौन जिला सकता है। सासारिकता सिर पर हाथ धर कर रोती है और शब्द से मरने वाले का काम वन जाता है। शब्द की चोट को सहना कठिन है, जिन्हे लगता है वे जीते जी मर जाते हैं, ससार छूट जाता है और मन परमात्मा में लग जाता है। पलटू साहव ने कहा कि विना सत्सग के हरिनाम की कथा में आनन्द नही आता है, विना हरिनाम के मोह नष्ट नहीं होता है। जंव तक मोह का नाश नही होता है तव तक मुक्ति की प्राप्ति नही होती है। मुक्ति से अनुराग, अनुराग से भक्ति, भक्ति से प्रेम, प्रेम से राम, राम से सत की सुलभता होती है। इसलिये उन्होंने भगवान से सत्सगका ही वरदान मागा। सन्त पलटू साहव ने भगवन्नाम-जप में अमित आस्था प्रकट की। उन्होंने नामको अनाम वताया और कहा कि नाम का रहस्य सत जन ही समझ पाते है। उन्होने कहा

'मीठ बहुत सतनाम है पियत निकारै जान ॥
पियत निकारै जान मरै की करै तयारी ।
सो वह प्याला पियै सीस को धरै उतारी ॥
आँख मूंदि कै पियै जियन की आसा त्यागै ।
फिरि वह होवै अमर मुए पर उठ कै जागै ॥
हरि से वे है वडे पियो जिनि हरि रस जाई ।
ब्रह्मा बिस्नुमहेस पियत कै रहै डेराई ॥
पलटू मेरे वचन को ले जिज्ञासू मान ।
मीठ बहुत सतनाम है पियत निकारै जान ॥'

सन्त-साहित्य मे पलटूदास को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । उन्होने परिष्कृत और प्राञ्जल भाषा मे अपनी अनुभूति अभिव्यक्त की । उन्होने सत को महिमा के सम्बन्ध में मौलिक ढग से विचार किया है । सत-स्वभाव पर उनकी उक्ति है कि सत चन्दन और चन्द्रमा की तरह शीतल होते है, वे ससार का ताप शात करते है, जो जलता हुआ आता है उसे मधुर वचन सुनाते है, उनमें अपार धैर्य, शील और क्षमा का सगम होता है । अपने कोमल वचन से वे वज्र को पानी बना देते है । उनके दर्शन से तीनो तापो का शमन हो जाता है । उदर की ज्वाला शान्त हो जाती है । पलटू ने अपनी सन्त-वाणी में उस समय की वात का निरूपण किया है, जब चन्द्रमा, सूर्य, पानी, पवन, दिन और रात तथा ससार की उत्पत्ति नही हुई थी । ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने सृष्टि का प्रसार नही किया था, आदि ज्योति, वैकुण्ठ, शून्य, कैलाश, शेष, कमठ, दिग्पाल, धरती, अकाश, लोक और वेद आदि का अभाव था । उनकी उक्ति है

'लोक वेद पलटू नही कहौ मै तबकी वात ।
चाँद सुरज पानी पवन नही दिवस नहि रात ॥'

सन्त कवीर की ही तरह पलटू साहव भी उक्ति-वैचित्र्य में बहुत सफल हुए हैं । उन्होने वतलाया कि जिन-जिन लोगो ने वस्तु-तत्व की प्राप्ति की उन्होने उसको छिपाने की ही चेष्टा की । एक स्थल पर उन्होने परमात्म-तत्व का विचित्र ढग से निरूपण किया है, उनकी उक्ति है

'उलटा कूवा गगन में तिस मे जरै चिराग ।
तिसमे जरै चिराग विना रोगन विन वाती ।

छ रितु बारह मास रहत जरतै दिन राती।
सतगुरु मिला जो होय ताहि की नजर में आवै।
बिन सतगुरु कोउ होय नही वाको दरसावै।
निकसै एक अवाज चिराग की जोतिहि माही।
ज्ञान समाधी सुनै और कोउ सुनता नाही।
पलटू जो कोई सुनै ताके पूरे भाग।
उलटा कूवा गगन में तिस में जर चिराग॥'

उन्होने आजीवन लोगो को जगाते रहने की ही यथाशक्ति चेष्टा की। उन्होने कहा कि स्वार्थ-सिद्धि के लिये, सब जागते हैं पर दूसरे के स्वार्थ के लिये वे जागते है जिन पर गुरु की कृपा होती है। जागने से परलोक बनता है और सोने से बड़ा दुख मिलता है। मै ज्ञान की तलवार लिये जाग रहा हूँ, जो कुछ होना होगा, होगा। सुन्दर शरीर पाकर राम का भजन करना ही जीवन का सदुपयोग है। भजन मे तनिक भी विलम्ब नही करना चाहिये। पलटूदास खरे आलोचक थे, उन्होने साधना सम्बन्धी दोपो की टीका-टिप्पिणी की। अयोध्या के कुछ साधु उनकी प्रसिद्धि से ईर्ष्या करने लगे। उन्होने सन्त पलटू साहब को जीते जी जला दिया। सत्य के व्यापारियो को ऐसी यातना तो सहनी ही पडती है, सुकरात, ईसा, सरमद आदि को भी इसी प्रकार के पुरस्कार जनता की ओर से दिये गये। ऐसा कहा जाता है कि जलाये जाने के बाद वे अपने आराध्य जगन्नाथ के लीलाधाम पुरी में प्रकट हुए। एक दोहा प्रचलित है

'अवध पुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में पलटू सूते जाइ॥'

आशय यह है कि जलाये जाने के बाद उन्होने जगन्नाथ के चरणो में शाश्वत विश्राम प्राप्त किया। निस्सन्देह वे उच्च कोटि के ज्ञानी सन्त थे।

रचना

सन्त पलटूदास ने बहुत से अरिल्ल, छन्द, कुण्डलिया तथा अगणित पदो और दोहो की रचना की।

वाणी

प्रेम बान जोगी मारल हो कसकै हिया मोर।
जोगिया कै लालि लालि अखियाँ हो जस कँवल के फूल॥
हमरी सुरुख चुनरिया हो दूनो भये तूल।
जोगिया कै लेउ मिरगछलवा हो आपन पट चीर॥
दूनों कै सियब गुदरिया हो होइ जाबै फकीर।
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो ताकिन्हि मोरी ओर।
चितवन में मन हरि लियो है, जोगिया बड चोर॥
गग जमुन के बिचवाँ हो, वहै झिरहिर नीर॥
तेहि ठैयाँ जोरल सनेहिया हो, हरि लै गयो पीर॥
जोगिया अमर मरै नहिं हो पुजवल मोरी आस॥
कर लिखा बर पावल हो, गावै पलटूदास॥
मितऊ देहला न जगाय, निंदिया बैरिन भैली॥
की तो जागै रोगी, की चाकर की चोर॥
की तो जागै सन्त बिरहिया, भजन गुरु के होय॥
स्वारथ लाय सबै मिलि जागैं, बिन स्वारथ न कोय।
पर स्वारथ को वह नर जागैं, किरपा गुरु की होय॥
जागे से परलोक बनतु है, सोये वड दुख होय।
ज्ञान खरग लिये पलटू जागैं, होनी होय सो होय॥
सतन के सिर ताज है, सोइ सत होइ जाय॥
सोइ सत होइ जाय, रहै जो ऐसी रहनी।
मुख से वोलै साच करै कछु उज्जल करनी॥
एक भरोसा करे, नाहिं काहू से मॉगे।
मन में करै सतोप, तनिक ना कवहूँ लागे॥
भली वुरी कोउ कहै ताहि सुन नहिं मन माखे।
आठ पहर दिन रात नाम की चरचा राखे॥
पलटू रहे गरीव होय, भूखे को दे खाय॥
सतन के सिर ताज है, सोइ सत होइ जाय॥

केतिक जुग गये वीति माला के फेरते।
छाला परि गये जीभ राम के टेरते।
माला दीजै डारि मनै को फेरना।
अरे हाँ पलटु मुहँ के कहै न मिलै, दिलै विच हेरना।।
जो दिन गया सो जानि दे, मूरख अवहूँ चेत।
कहता पलटूदास है, करिले हरि से हेत।।
पलटू लिखा नसीव का, सत देत है फेर।
सोंच नही दिल आपना, तासे लागै देर।।

सन्त त्यागराज

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भव कलिमलप्रध्वसन चाव्यय
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुदरवर सशोभित सर्वदा ।
ससारामयभेषजं सुमधुर श्रीजानकीजीवन
धन्यास्ते कृतिन पिबन्ति सतत श्रीरामनामामृतम् ।।

जो ब्रह्म रूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ है, कलि-कल्मष को ध्वस करने वाला है, अव्यय है, सदा महादेव के मुख में सुशोभित है, ससाररोग की औषध है, मधुर है तथा जानकी का जीवनाधार है उस रामनाम रूपी अमृत का निरन्तर पान करने वाले धन्य है।

—रामचरितमानस

सन्त की महिमा अनन्त, अलौकिक और अपार होती है, सन्त की प्रसन्नता और अनुकूलता परमात्मा की सत्ता और भक्ति से भी अधिक महान और श्रेयस्कर परिगणित होती है। सन्त देश, काल और सम्प्रदाय से परे होते है। वे सत्य, शान्ति और आनन्द का दान देकर जीव-जड-जङ्गम का सदा भला मानाते रहते है। वह देश और कुल तथा जनसमूह परम पवित्र हो जाता है जिसमे सत लीलामृत की गगा वहती रहती है। भारतीय इतिहास ही नही, विश्व के इतिहास का मध्यकाल बडे-वडे सन्तो का दर्शन कर सका। भारत में सत कबीर, नानक, रैदास, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, बसवेश्वर आदि ने आदिकालीन सनातन परम्परा की सन्तधारा की जो अविच्छिन्नता प्रतिष्ठित की उससे हिमालय का ऐश्वर्य बढ गया, गगा की पवित्र शान्ति की आयु में विशेप अभिवृद्धि हुई, विंध्याचल की शक्ति में जनता की भक्ति बलवती हो गयी। गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के तट पर पुण्य के दिव्य तीर्थ उतर आये। रामेश्वर में भारतीय महासागर का गाम्भीर्य अधिकाधिक गौरवशाली हो उठा। समस्त देश ने राम और कृष्ण की भक्ति का वरण कर भागवत धर्म की विजयिनी पताका फहरायी। दक्षिण भारत के तुलसीदास महामति

सत त्यागराजने कावेरी के पवित्र भूमि-भाग में इसी अविच्छिन्न परम्परा का अनुगमन कर राम का यश-गान किया, अनार्यत्व का विनाश कर शुद्ध आर्यत्व का विजय-सन्देश दिया। उन्होंने मध्यकाल के उत्तरार्ध को राममय कर दिया, यही उनकी ऐतिहासिकता, विशिष्टता और मौलिकता है। सन्त त्यागराजने रामभक्ति की चन्द्रिका मे स्नान कर पाप-ताप से जलते जीवो को शीतल शान्ति से परितृप्त किया। भक्ति-ससार ने उनके भागवत कठ से नारद की वीणा का मधुर स्वर-सदेश सुना।

सन्त त्यागराजकी रामभक्ति उत्तर और दक्षिण भारत की सास्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक और आध्यात्मिक अभेदता की प्रतीक है। अवधपति राम के अनादि और परम प्रकाशक स्वरूप का ज्ञान कराया, वे तुलसीदास के अभिनव सस्करण थे। सन्त त्यागराज के लिये यह कहने का साहस होता है कि रामचरित मानस के रचयिता ने दक्षिण भारत में अवतार लेकर त्यागराज की आकृति में रामकथा का माधुर्य फैलाया तभी तो त्यागराज की वाणी राममयी, भक्तिमयी, मधुमयी और दिव्य तथा अलौकिक हो उठी। त्यागराज रामचरित मानस के साहित्य-अवतार थे। तुलसीदास के शब्दो में उन्होने राम की शरणागति की महिमा मे कहा कि राम की ही शरण में जाने से सवका भला है, राम ही परम पुरुष परमात्मा हैं, आकाश, पाताल और मृत्युलोक के मगलो के साक्षात् अधिष्ठाता है। सत त्यागराज कवि त्यागराज थे और कवि त्यागराज रामभक्त त्यागराज थे, उनकी कविता ही उनकी भक्ति की लावण्यमूर्ति थी। रावणरूपी भौतिकता पर—आसुरी सम्पत्ति पर उन्होने आध्यात्मिकता—दैवी सम्पत्ति और राम भक्ति की विजयिनी पताका फहरायी। असुर का अन्त ही उनके रामयशगायन का श्रेय था। राम-भक्ति में उन्होंने सच्चिदानद के अखण्ड सौन्दर्य की दिव्य झाँकी देखी, वे राम-कथा, रामभक्ति और राम-अनुरक्ति की पवित्र त्रिवेणी में विदेह हो उठे। वे रामके परम भक्त थे पर शास्त्रानुमोदित देवताओ के समन्वय में उनकी अपूर्व भक्ति—आस्था थी, उन्होने रामभक्ति की प्राप्ति के साधनरूप में देवताओ के पूजन में विश्वास प्रकट किया।

सन्तो का सन्त होना ही उनका परम पवित्र परिचय है। सन्त त्यागराज ने राम के यशवर्णन से भारतीय इतिहास के भक्तिपक्ष को जो सहयोग दिया वह उनके समकालीन भारत के लिये परम गौरवशाली स्वीकार किया जा सकता

है। दक्षिण भारत के चोल प्रदेश मे परम भाग्य सम्पन्न कावेरी के तट पर भगवान महेश्वर के लीला-क्षेत्र कमलाल्य (तिरुवरोर नगर) में भरद्वाज कुलभूषण, पण्डितवर, परम तपस्वी, शास्त्रवेत्ता, सगीतज्ञ और महान भक्त तेलुगु ब्राह्मण गिरिराज के ज्येष्ठ पुत्र रामब्रह्म रहते थे, उनकी सौभाग्यवती स्त्री शान्ता ने त्यागराज को सम्वत् १८१६ वि में जन्म दिया। रामब्रह्म की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी, जप्पेश और त्यागराज दोनो भाइयो का पालन-पोषण उनके लिये एक जटिल और गम्भीर प्रश्न था, उन्होने सपरिवार पचनद क्षेत्र की शरण ली। उन्होने सगीत-शिक्षण को जीविका-साधन बनाया और अवकाश में भगवद्भजन करते थे। धीरे-धीरे रामब्रह्म की ख्याति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढने लगी। तत्कालीन तञ्जोर नरेश ने उनको अपने राज्य में रहने के लिये प्रोत्साहित किया, राम-ब्रह्मने राजाश्रय का त्याग करना उचित नही समझा। वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन के लिये उन्होने दोनो पुत्रो को पाठ-शाला भेज दिया। त्यागराज आत्मा और जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध के प्रश्न में अधिक रुचि रखते थे, राम का नाम सुनते ही प्रेमानन्द में मग्न हो जाते थे? ईश्वरभक्ति में उनकी श्रद्धा और आस्था उत्तरोत्तर बढती गयी। राम ब्रह्मने त्यागराज को वीणा-वादन में पारगत भक्त शान्ति वेकटारमन अय्यर के चरणो पर सौंप दिया। उन्होने गानविद्या में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। त्यागराज का जीवन साधनामय होता गया। तेलुगु और सस्कृत का उन्हे बहुत अच्छा ज्ञान था।

त्यागराज का विवाह कर दिया गया। गृहस्थाश्रम उनके लिये पूर्ण रूप से राममय हो गया। पिता के जीवन-काल में भी वे घरमें एक एकान्त कमरे में कुलदेवता भगवान राम की उपासना किया करते थे। घर के कामकाज में उनका मन तनिक भी नही लगता था। वे ससार से पूर्ण अनासक्त हो गये। पिता का देहान्त होने पर दोनो भाइयो में बटवारा हो गया। पिता की आराध्य राम-मूर्ति त्यागराज के भाग्य में पडी, प्रभु ने दिखलाया कि त्यागराज को मैं नही छोड सकता। त्यागराज तप-साधना में लग गये। वे अपनी पत्नी के साथ दक्षिण कैलाश के मन्दिर में जाया करते थे, वे नित्य एक लाख अस्सी हजार रामनाम का जप करते थे। उनके जीवन में दिव्य आनन्द का सागर उमडने लगा। उनके ज्येष्ठ भ्राता ने राम की प्रतिमा नदी में फेंक दी। त्यागराज के मन पर इस घटना का वडा प्रभाव पडा। वे कई दिन तक भूखे पडे रहे और नयनो

से गगा और कालिन्दी की अविराम लहरे प्रवाहित होती रही। करुणामय प्रभु की दया में वाढ आ गयी, उनकी भक्ति ने करवट ली, उनका श्रीविग्रह नदी की मध्यधारा से अचानक तट-प्रदेश पर आ गया। त्यागराज प्रभु के प्रेम में मुग्ध हो उठे। उन्होने 'राम राम' की नामध्वनि के साथ राम के विग्रह को अक में भर लिया। उनके जन्म-जन्म के पुण्य सफल हो गये। समस्त नगर-निवासियो ने त्यागराज की चरण-धूलि मस्तक पर चढायी, सरिता-तट से उनके घर तक शोभा-यात्रा निकाल कर उन्हें भक्तराज की उपाधि से समलकृत कर अपनी प्रगाढ भक्ति का परिचय दिया, त्यागराज के जयनाद ने धरती और गगन को प्रकम्पित कर दिया। राम ही उनके परम धन थे, उनका दृढ विश्वास था कि राम की प्राप्ति समस्त अभावो का अभाव कर देती है। वे राम के विग्रह के सम्मुख वैठ कर सितार वजा-वजा कर स्वरचित पद गाया करते थे। उन्होने राम के सम्वन्ध में बीस हजार पद लिखने का सकल्प किया, ऐसा कहा जाता है कि गणेश ने साक्षात् दर्शन देकर कहा था कि यह सकल्प अवश्य पूरा होगा। सत त्यागराज गलियो में घूम-घूम कर राम का मधुर यश-गान करते थे, भीख में जो कुछ भी मिल जाता था उसी से जीविका चलाते थे।

एक वार तञ्जोर के महाराजा शर्भोजी ने उन्हें भेंटस्वरूप अधिकाधिक धन देना चाहा, धन लेने की वात तो दूर रही उन्होने राजा की सभा में जाना तक अस्वीकार कर दिया। उन्होने राजा के पास कहला भेजा, 'धिक्कार है भूमि या स्वर्णादि द्रव्य को। यदि उन्हे ही मैं मूल्यवान समझता होता तो राम की सोने की मूर्ति बेच कर मै धनी हो गया होता। दुनिया के सुख-भोग मेरे करतलगत हो जाते। मेरा मन ऊपर के सुनहले रग पर नही रीझ सकता। वह तो रीझा है भीतर के सौन्दर्य पर। इन्हीं प्यारे राम के मोह मे फस कर मैंने उनकी मूर्ति नही वेची। उन्हे छोड कर मै किसी भी धनाभिमानी राजाको नही प्रसन्न कर सकता।' तञ्जोर-नरेश वडे कलाप्रिय थे। वे त्यागराज का सगीत सुनने के लिये वडे उत्सुक थे, त्यागराज के अस्वीकार करने पर उन्होने वलपूर्वक ले आने के लिये अपने कर्मचारी भेजे, राजा के पेट में घोर पीडा उत्पन्न हुई, मन्त्री की सहायता से उन्होने सन्त त्यागराज से क्षमा माँगी। एक वार उनका सगीत सुनने के लिये राजा अधेरी रात में त्यागराज के घर पर आ गये, छत में सूराख कर गाना सुनने लगे। त्यागराज ने मन को समझाते हुए गाया कि हे मन, सुन्दरराज मार्ग रहते हुए तुम गलियो में क्यो

घूमते हो। मुक्ति के लिये भक्ति मार्ग सुलभ है, फिर कुमार्ग में क्यो नष्ट होते हो ? राजा ने समझा 'हे सुन्दर राज, मार्ग रहते हुए तुम छिप कर रहस्य मार्ग से क्यो घरमें आते हो ? राजा शाप से भयभीत होकर उनके सामने आये और क्षमा माँगी। त्यागराजने उनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर अनेक गीत सुनाये तथा भगवद्भक्ति प्रदान की।

सन्त त्यागराज सन्यास और त्याग के मूर्तिमान स्वरूप थे। भगवान के कीर्तन और भजन में ही उनका सारा समय बीतता था। जन्म से ही उन्हे राम-भक्ति सिद्ध थी। काचीपुर से आकर एक सन्यासी ने उन्हे राम तारक मन्त्र की बचपन में ही शिक्षा दी थी, त्यागराज ने आजीवन उसी महामन्त्र का जप किया। ऐसा कहा जाता है कि सन्यासी के रूप में साक्षात् नारद जी ही थे और उन्होने त्यागराजको एक स्वरार्णव नामका ग्रन्थ भी प्रदान किया था। उन्हे सीता और लक्ष्मण सहित भगवान राम ने दर्शन देकर धन्य किया था। सन्त त्यागराज ने अपने आराध्य के चरण-कमल नयनो की अपार जल राशि से पखवारे थे। त्याग-राजकी जीवन-गाथा अलौकिक और दिव्य चमत्कारो से सर्वथा सम्पन्न है।

त्यागराज के सगीतो में विलक्षण माधुरी थी। एक बार त्रिवेन्द्रम के राजकुमार स्वाती तिरुनाल के सामने त्यागराज के शिष्य कन्हैया भागवत नें उनके कुछ गीत गाये। राजकुमार के मन पर उन भक्तिपरक गीतो का बडा प्रभाव पडा। उन्होने अपनी राजसभा के गायक वादिवेलु को उन्हे लाने के लिये भेजा, राजवैभव त्यागराज को आकृष्ट न कर सका, रामभक्त सन्त नें राजभक्ति के सामने मस्तक नत नही किया, वे त्रिवेन्द्रम नही जा सके। त्यागराज नें कहलाया, 'पदवी तो सद्भक्ति ही है। भगवान के चरणो में अनुराग ही परमपद है। उनके चरणो से जिसकी बुद्धि विचलित नही होती, जिसका मन नही डिगता, वही प्रशसनीय है। पद और सम्मान तो उसी के है जिसका पवित्र-निर्लेप भाव भगवान में है अपनी पदवी आप फेर ले, मुझे इसकी चिन्ता नही है।'

एक वार राममगलम ग्राम के प्रसिद्ध गायक गोविन्द मरार ने उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की, पहले कुछ कारणोंसे यह वात सभव न हो सकी। सम्वत् १८९५ वि में त्यागराज के काशी जाते समय उन्होने भेंट की, उन्होने त्यागराज से पद गाने के लिये कहा पर इच्छा पूरी न होते देखकर वे स्वय वीणा

लेकर गाने लगे। त्यागराज ने उनकी गान-शैली से प्रसन्न होकर स्वय गाना आरभ किया, पॉच गीत गाये जो 'पचरत्न' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

त्यागराज अपनी साधना में सदा सतुष्ट रहते थे। एकबार वालजापेट के वकटरमन की प्रार्थना स्वीकार कर उन्होने उनके ग्राम की यात्रा की, रास्ते में तिरुपति के मन्दिर में भी गये। मन्दिर में भगवान की प्रतिमा और उनके वीच में एक परदा लटक रहा था। उनके नयन हरि-दर्शन के लिये आकुल हो रहे थे, उन्होने कहा कि यह परदा ही पाप का पट है, माया का जाल है जो मुझे श्रीभगवान का दर्शन नही करने देता है, उनका उर-अन्तर विरह-वेदना से तडप उठा। वे करुण रागिनी का आवाहन कर प्रभु के चरणो में सगीत समर्पित करने लगे। भगवान भक्त का विरह अधिक देर तक न सह सके। उनकी कृपा से परदा गिर पडा और त्यागराज के प्यासे नयनो में घनश्याम समा गये।

त्यागराज ने ऊषाकाल में तिरुपति मदिर के निकटस्थ भाग से एक अत्यन्त करुण स्वर सुना। उन्होने एक स्त्री को रोते देखा जिसका पति तिरुपति-मन्दिर के कूप में कूद पडा था। त्यागराज का हृदय दया से पिघल उठा, पाषाण से अहल्या की सृष्टि करने वाले राम के स्तवन में उन्होने पद गाया, ब्राह्मण जी उठा। तिरुपति से लौटते समय वे अपने शिष्य सुदरेश मुदालियर की विशेष प्रार्थना पर कोवूर में भी थोडे समय के लिये रुक गये। शिष्य ने श्रद्धा और भक्ति से उन्हे प्रसन्न कर चलते समय वहुत-सा धन देना चाहा पर वे तो थे त्यागराज ही, उन्होने कुछ भी न लेने में ही अपनी पूर्ण प्रसन्नता का परिचय दिया। शिष्य ने उनसे छिपा कर कुछ धन पालकी में रख दिया। जिस समय पालकी जगल के मध्य में थी, डाकुओ ने आक्रमण किया, त्यागराज को इस घटना का कुछ भी पता नही था, पालकी ले चलने वालो ने देखा कि कुछ सैनिक उनके पीछे आ रहे थे। और कुछ आगे जा रहे थे, उनके विस्मय का अत न रहा, वे रक्षक थे या लुटेरे थे– केवल इसी का विवेचन करते वे आगे वढ रहे थे। पालकी ज्यो ही जगल से वाहर हुई कि डाकुओ के सरदारने उसे रोक ली और त्यागराज से निवेदन किया कि मै तो आप को लूटना चाहता था पर दो राज-कुमारो ने जिनके हाथो में धनुष-वाण थे, हमारे दल का सामना किया और पराजय दी। त्यागराज ने डाकू को गले लगा कर कहा कि तुम्हारा कुल परम पवित्र है, तुम परम भागवत हो, तुमने राम और लक्ष्मण का दर्शन पाकर अपनी कीर्ति अमर कर ली। त्यागराज के नयनो से अश्रु की धारा वरसने लगी।

डाकू ने कहा कि महाराज मैं तो आप पर पत्थर की वृष्टि कर रहा था और आपने बदले में फूल समान वचनो से हमारा पाप-ताप से सतप्त हृदय शान्त किया, उसने त्यागराज की चरण-धूलि मस्तक पर चढा कर साष्टाग दण्डवत-प्रणाम किया। त्यागराज आत्मस्थ हो गये, उनके मुखमण्डल पर शान्ति का साम्राज्य था। राम के परम भक्त होते हुए भी त्यागराज की निष्ठा अन्य देवी-देवताओ में समान रूप से थी, वे उन्हे अपने आराध्य राम का ही स्वरूप समझते थे। वे भगवती अम्बिका धर्म सर्बाधिनीके बडे भक्त थे। उनके मन्दिर मे जाया करते थे। एक दिन उन्होने अपनी पत्नी को घरमे किसी से वात करते सुना, आश्चर्य चकित हो गये कि घर में है कोई नही और वे वात किससे कर रही है ? उन्होने देखा कि उनकी पत्नी एक परम सुन्दरी रमणी से वाते कर रही हैं, बात-की-बात में रमणी अदृश्य हो गयी। त्यागराज को पूछने पर पता लगा कि साक्षात अम्विका ही उनके घर आयी थी। पत्नी ने कहा कि देवी मुझे बुलाने आयी थी। इस घटना के कुछ ही दिनो के बाद उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। वे अम्बिका के चरणो मे लीन हो गयी। त्यागराज के वैराग्य ने अपना पूरा रूप प्रकट किया, भगवान के भजन के सिवा उनके लिये अव और दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ही नही रह गया। उन्होने अपनी कन्या सीतालक्ष्मी को ससुराल भेज दिया और पूर्ण निष्ठा से भगवद्भक्ति में लग गये।

अठ्ठासी साल की अवस्था मे राम ने त्यागराज को दर्शन दिया। राम ने कहा कि इस पृथ्वी पर तुम्हें दस दिन और रहना है, दूसरे जन्म में तुम जीवन-मरण के वधन से मुक्त हो जाओगे। प्रभु इतना कह कर अन्तर्धान हो गये। त्यागराज ने विचार किया कि दूसरा जन्म तो इसी समय हो सकता है, सन्यास ही दूसरा जन्म है। उन्होने गृहस्थाश्रम के शेष वन्धनो को तोड कर अखण्ड भगवद्भक्ति-पूर्ण राममयी मुक्ति प्राप्त करने के लिये सन्यास का वरण कर लिया। सम्वत् १९०४ की पौष कृष्ण पचमी को उन्होने चोला छोड कर साकेत धाम की यात्रा की। अन्तिम दिन उन्होने निर्जल रह कर कावेरी के तट पर राम-नाम का जप किया, कीर्तन किया। प्राण निकलते समय सिर फट गया और उसमें से एक दिव्य तेज निकल कर आसमान की ओर चला गया। उनका समाधि-मन्दिर कावेरी सरिता के पवित्र तट पर अवस्थित है।

त्यागराज दक्षिण भारत के नादब्रह्म थे। सगीत-सन्त थे। उनकी सन्त-परम्परा ने वैदिक धर्मका खण्डन नहीं, मण्डन किया। उन्होने तेलुगु साहित्य

में राम काव्य का कनकाभिषेक किया। वे भक्त और सन्त होने के साथ-ही-साथ उच्च कोटि के कवि थे। वे राम के कथाकार थे। उन्होंने तेलुगु सन्त-साहित्य को रामभक्ति का रस प्रदान किया। हरिनाम की अनमोल सम्पत्ति दी। वे महान भगवदीय थे, सन्त थे।

रचना

नौका-चरित, दिव्य नामावली, रागरत्नमालिका, भक्त विजय, प्रह्लाद चरित तथा 'गीतपचरत्न' आदि त्यागराज की प्रसिद्ध रचनायें हैं।

वाणी

हे मन ! सुन्दर राज-मार्ग रहते हुए तुम क्यो गलियो में घूमते हो। मुक्ति के लिये भक्ति-मार्ग सुलभ है, कुमार्ग में पड कर क्यो नष्ट होते हो।

हे मन ! सुख किसमें है—धन कमाने में या राम की सेवा करने में ? रामचन्द्र के सेवकों—भक्तो का भला राजाओ की सभा में क्या काम है?

राम, आप कालहरण क्यो कर रहे हैं। सीताराम ! यह कालयापन कैसा है ! हे सुगुणजाल ! करुणामय, प्रभो, जिस प्रकार दिन भर घूम-घाम कर पक्षी सध्या को वृक्ष की खोज करता है उसी प्रकार जन्म लेते ही आप के चरण पकडने वाले मुझ दास को उबारने में कालहरण क्यो करते हैं। दिन-प्रतिदिन दुनिया में भ्रमण कर मैंने आप के चरण में शरण ली है, तनमन-धन आप को अर्पित है। आप क्यो कालहरण कर रहे हैं।

रे मन ! नादसुधारस ही पृथ्वी पर नराकृति ले बैठा है। यह निगमागम तथा पुराण और शास्त्र का आधार है। अपूर्व कोदडधारी नाद का, भजन बडे भाग्य का विषय है इसमें स्वय शकरजी मग्न रहते हैं।

हे भगवान ! मुझे ज्ञान दीजिये। यही उपयुक्त समय है। मुझसे इस ससार में नहीं रहा जाता है। मुझे अपने सन्निधान में ले चलिये।

महात्मा वनखण्डी

अनपेक्ष शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।

जो पुरुष अपेक्षारहित, निर्मल, उदासीन और व्यथासे परे है तथा समस्त आरम्भोंका त्यागी है वह मुझे प्रिय है।

—भगवद्गीता १२।१६

महात्मा वनखण्डी तपस्वी और ज्ञानी सन्त थे। उदासीन सम्प्रदाय के महात्माओ में आचार्य श्रीचन्द्र की परम्परा में उनका नाम विशेष महत्व रखता है। उन्होने सिन्ध प्रान्त के सक्खर नगर में सप्त सिन्धु-गगा के सगम क्षेत्र में पवित्र साधुवेला तीर्थ की स्थापना कर सनातन धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण रखने में जो श्रम किया वह उनके तपोमय विरक्त जीवन का विशिष्ट अग स्वीकार किया जा सकता है। माया-ममता से परे होकर उन्होने ज्ञान-स्वरूप परमात्म-ज्योति की अखण्ड धूनी जलाकर मानवता को आध्यात्मिक समृद्धि प्रदान की। परब्रह्म अलख निरञ्जन का चिंतन कर उन्होने असख्य प्राणियो को भवसागर से पार उतारकर महान पुण्य-सचय किया। महात्मा वनखण्डी ने माया-मोह मे जकडे जीव को सचेत किया कि नरजन्म दुर्लभ है, इस क्षणभगुर ससार में उसे पाकर जो ज्ञानपूर्वक मोक्ष का भागी नही होता है वह अभागा है। ऐसे तो उदासीन सम्प्रदाय अनादि है, वेद, उपनिषद, भागवत तथा गीता आदि शास्त्रो में उदासीन प्रवृति का समीचीन चित्राकन हुआ है पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर पता चलता है कि सन्त नानक के आत्मज आचार्य श्रीचन्द्र ने इसका लगभग चार सौ साल पहले पुनरुत्थान किया। महात्मा वनखण्डी के जीवन-काल मे देश की राजनैतिक सत्ता का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा था। योरपीयो का आगमन आरम्भ हो गया था, योरपीय कम्पनियो की ओर से अपनी अपनी प्रभुता की स्थापना का प्रयत्न हो रहा था। नादिरशाह और

अहमदशाह अव्दाली के आक्रमणो के फलस्वरूप भारतीय राज शक्ति जर्जर हो चुकी थी। पानीपत की तीसरी लडाई में भारत की पराजय हो चुकी थी। वगाल और विहार मे अग्रेजी शक्ति वढ रही थी, वारेन हेस्टिग्ज अपने कुचक्र में प्रयत्नशील थे, उत्तर प्रदेश में अवध के नवाव, महाराष्ट्र में पेशवा और दक्षिण में हैदरअली और टीपू सुलतान को नीचा दिखला कर अग्रेज शासक भारत के मानचित्र को लाल रग से रग देने की चेष्टा में सलग्न थे। सिन्ध प्रान्त पर भी अग्रेजो की वक्र दृष्टि पड चुकी थी। ऐसे आतकपूर्ण काल में महात्मा वनखण्डी ने उदासीनाचार्य श्रीचन्द्र की तपस्या के मूर्तिमान रूप में प्रकट हो कर सिन्ध में ही नही , सम्पूर्ण भारत में सत्य, शान्ति और प्रेम का विस्तार किया, लोगो को आत्मनिर्भरता के उपदेश से सावधान कर भारत की आध्यात्मिकता का सरक्षण किया, यही उनके प्राकट्य की ऐतिहासिकता है। सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की भक्ति प्रदान करने का सकल्प लिया और भगवान की कृपा से उन्होने अपने सकल्प को चरितार्थ करने में जो सफलता प्राप्त की उससे सनातन धर्म का, भारतीयता का मस्तक उन्नत हो गया। देश उनकी आध्यात्मिक शक्ति के चरणो पर नत हो गया।

विक्रम की उन्नीसवी शताव्दी के प्रारम्भ में इतिहास प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र नगर मे रामचन्द्र नाम के एक गौड व्राह्मण रहते थे। वे वडे धर्मनिष्ठ और सात्विक प्रवृति के गृहस्थ थे। उनकी पत्नी मनोरमा देवी वडी सती-साध्वी थी। दम्पति का साधु-सन्तो की सेवा में वडा मन लगता था। उन दिनो उत्तर भारत में मण्डलेश्वर उदासीन साधु मेलाराम सौ साधुओ के साथ नगर-नगर में भ्रमण कर भगवद्भक्ति का प्रचार कर रहे थे। एक वार वे कुरुक्षेत्र आये। उनके आशीर्वाद से मनोरमा देवी ने चैत शुक्ल सप्तमी को सम्वत् १८२० वि में एक दिव्य वालक को जन्म दिया। वालक का नाम भालचन्द्र रखा गया। भालचन्द्र ही महात्मा वनखण्डी के नाम से प्रसिद्ध हुए। भालचन्द्र धीरे-धीरे वढने लगे। वे वडे गम्भीर और शान्त स्वाभाव के थे। एकान्त में रहना उन्हे अधिक प्रिय था। माता-पिता—दोनो को ऐसा लगता था कि भालचन्द्र सन्यासी न हो जाय। उन्होने उदासीन महात्मा मेलाराम को वचन दिया था कि अपनी पहली सन्तान हम आपको सौंप देंगे। दस साल की अवस्था में पूर्वसकल्प के अनुसार उन्होने भालचन्द्र को महात्मा मेलाराम के हाथो में सौंप दिया। उन दिनो मेला राम जी पटियाला राज्य के फुलैंली ग्राम में थे। भालचन्द्र उनकी प्रसिद्धि से

प्रभावित होकर घर पर बिना किसी को बताये उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिये निकल पडे थे। माता-पिता को इस बात का जब पता लगा तब उन्होने फुलैली पहुँच कर तथा हृदय कडा कर अपने पुत्र को मेलाराम के शरणागत कर दिया। मेलाराम ने भालचन्द्र को दीक्षित कर उनका नाम वनखण्डी रखा। इस प्रकार दस साल की अवस्थामें वे उदासीन सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गये। वनखण्डी तो जन्मजात उदासीन थे, ससार के पदार्थों और सम्बन्धो में उनकी तनिक भी आसक्ति नही थी। उन्होने अपने गुरु की देख-रेख में योगाभ्यास प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे यौगिक सिद्धियो पर अधिकार पाने लगे। फुलैली के वन में आखेट खेलते हुए तत्कालीन पटियाला नरेश महाराजा अमर सिंह मेलाराम जी का दर्शन करने आये। उन्होने वनखण्डी महाराज को देखा। उनके सौन्दर्य और मुखमण्डल की प्रदीप्ति से वे आश्चर्यचकित हो गये। उन्होने मेलाराम जी से निवेदन किया कि मै इनको अपने राजमहल में ले जाना चाहता हूँ, शाम को आप के पास पहुँचा जाऊँगा। गुरु की आज्ञा से ग्यारह साल के बाल योगी वनखण्डी महाराज पटियाला नरेश के साथ उनके राजभवन में गये। रानियो का मन मुग्ध हो गया। उन्होने वनखण्डी महाराज को रात में रोकना चाहा पर शाम होते ही वे राजप्रासाद से बाहर आकर एक वृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो गये। वे तो वनवासी योगी थे, उनका मन राजभवन में लगता ही किस तरह ? दूतो ने पटियाला नरेश को सूचना दी तो वे स्वय उनके पास गये और साथ लेकर मेलाराम जी के आश्रम में पहुँचा दिया। वनखण्डी महाराज को राज महल की माया अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। भगवान की कृपा से उनका वैराग्य अक्षुण्ण रहा। मेलाराम जी उनके इस आचरण से बहुत प्रसन्न हुए।

बहुत दिनो तक योगाभ्यास करने के बाद गुरुकी आज्ञा से उन्होने हरिद्वार, मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, काशी, नैपाल, वैद्यनाथ, गगा सागर, कामाक्षा, जगन्नाथ, द्वारिका, रामेश्वर आदि पुण्यक्षेत्रो की यात्रा की। उन्होने सोलह साल की अवस्था में तीर्थाटन आरम्भ किया। साढे तीन साल की यात्रा पूरी कर वे अपने गुरु के पास लौट आये। योग-साधना का उन्होने विशेप अभ्यास किया।

दक्षिण भारत के तीर्थ-भ्रमण काल में उन्हे एक विचित्र परिस्थिति का सामना करना पडा। जिस समय वे मदुरा में पहुँचे, उन्हे पता चला कि देवी के मन्दिर में राजा की ओर से नरवलि चढाने की व्यवस्था नित्य होती रहती है।

राजा के वन्दीगृह में वहुत-से साधु-सन्त और स्त्रियो का समूह था जिनकी वलि चढ़ायी जाने वाली थी। वनखण्डी महाराज ने योग-वल से वन्दीगृह के दरवाजे खोल कर लोगो को मुक्त कर दिया। मदुरा-नरेश ने उनके चरणो पर मस्तक नत कर नरवलि वन्द कर देने का वचन दिया। यात्रा-समाप्त कर वन-खण्डी महाराज ने वम्वई में अपनी धूनी जलायी। साधु-सन्त और भक्त-दर्श-नार्थी जन उनका दर्शन करने के लिये एकत्र होने लगे। वम्वई में साधुवेला तीर्थ की स्थापना कर उन्होंने सिन्ध प्रान्त में प्रवेश किया। ठट्ठा नगर में श्रीचन्द्र आचार्य की धूनी को प्रणाम किया। उन्होंने साधुवेला तीर्थ की स्थापना की। उस सुरम्य प्रदेश में निवास कर वे तप करने लगे। उनकी तपस्या से साधुवेला तीर्थ सिन्ध प्रान्त में काशी क्षेत्र वन गया। साधु-सन्तो के समागम, सदाव्रत, दान, हरिकथा और कीर्तन से साधुवेला के कण-कण में पवित्रता और दिव्यता परिव्याप्त हो उठी।

लगभग तीन साल तक साधुवेला में योगाभ्यास और तप करने के वाद वनखण्डी महाराज ने एक वार फिर तीर्थयात्रा आरम्भ की। वे अमरनाथ गये। अमरनाथ में शिवलिंग का दर्शन कर वे साधुवेला लौट आये।

सनक-सनन्दन-सनत्कुमार के आदि सम्प्रदाय के उदासीन वृत्तिपरक सिद्धान्तो के प्रचार में महात्मा वनखण्डी आजीवन लगे रहे। सदा भगवद्ध्यान में तल्लीन रहना ही उनके जीवन का दैनिक कार्यक्रम था, वे सनातन धर्म के वहुत वडे सरक्षक थे। गुरु में उनकी वडी निष्ठा थी। उनकी सेवा को वे साधनगत प्रगति की आधारशिला स्वीकार करते थे। गुरु के प्रसाद से ज्ञान होने पर अज्ञान मिट जाता है—ऐसी उनकी स्वीकृति है। उनकी वाणी है

'गुरुप्रसाद सुने जव ज्ञान, गुरु प्रसाद मिटे अज्ञान।
गुरुप्रसाद शास्त्र को सार, 'वनखण्डी' गुरु कृपा धार॥'

उन्होंने सनातन वैदिक धर्म को ही मान्यता दी। उन्होंने कहा कि वेद साक्षात् परमेश्वर की आज्ञा है, वेदवचन के अनुसार आचरण करने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है, जो वेदो में श्रद्धा रखता है उसका ससार-सागर से उद्धार हो जाता है। उन्होंने वताया कि भक्तो और सन्तो के कल्याण के लिये परमात्मा निराकार से साकार हो जाते है, ऐसे कृपामय प्रभु का नित्य-प्रत्येक क्षण स्मरण करते रहना ही जीवन की सार्थकता है। भगवान् ही जगत है और जगत भगवान्

का स्वरूप है—इस रहस्य को जानने वाला कभी शोकग्रस्त और भयभीत नही होता है, सदा ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है। उनकी उक्ति है

'हरी जगत हैं, जगतहरि, हरि जग को नहिं भेद।
जो जानै यह ज्ञान तिहिं 'वनखण्डी' नहिं खेद॥'

आत्मसाक्षात्कार को ही उन्होने साधना का अन्त माना, सिद्धि का प्रतीक बताया, भगवद्प्राप्ति स्वीकार किया। आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता ही जीवद्वारा शिवबोध है— ऐसा उनका कथन है।

'स्वस्वरूप को भूल के, भजो आप यह जीव।
जब जाने मै भिन्न नहिं, 'वनखण्डी' यह शीव॥'

आत्ममग्न होने पर ही अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है, सहज नाम से समाधि लग जाती है और मोक्ष धाम का पथ मिल जाता है – ऐसा वनखण्डी महाराज का विश्वास था। रामनाम में उनकी सुदृढ श्रद्धा थी, रामनाम को उन्होने मन्त्रराज कहा। रामनाम का उच्चारण करने वाला ससार से तर जाता है – ऐसा उनका कथन है 'जो जन बोलै राम हरे, 'वनखण्डी' ससृति से तरे।' विक्रम की उन्नीसवी सदी के उदासीन सन्तो के वे शिरोमणि थे। सन्त और परमेश्वर की एकरूपता में उन्होने आस्था प्रकट की। स्पष्ट कहा

'सन्त ईस के नित अवतार, करे सग होवे भवपार।
'सन्त ईस में भेद न माने, 'वनखण्डी' भेद हि को भाने॥'

उनका सन्तत्व निस्सन्देह उच्चकोटि का था। वे सत्य के अन्वेषक ही नही, अनुभवी भी थे।

अग्रेजो की सिन्ध-विजय के बाद शिकारपुरका पहला अग्रेज अधिकारी फ्रैंक विल्स था। एक दिन सिन्धु नदी में नाव पर घूमते-घूमते साधु-बेला तीर्थ के सामने जा पहुँचा। स्थान की रमणीयता और स्वच्छता ने उसका मन मोहित कर लिया। महात्मा वनखण्डी के आश्रम को नष्ट कर वह अपना बगला बनवाना चाहता था। उसने इस कार्य के लिये कुछ मजदूर नियुक्त किये पर दिन भर जो भी काम हुआ था, वह रात में किसी अदृश्य शक्ति द्वारा नष्ट हो जाता था। दो-तीन दिनो तक यही क्रम रहा। विल्स महोदय ने आदेश पत्र निकाला कि महात्मा वनखण्डी को इस द्वीप से वाहर निकाल दिया जाय। महात्मा वनखण्डी अन्तर्धान हो गये। रात को विल्स के उदर में भयकर शूल उठा, उसे विश्वास

हो गया कि सन्त के प्रति मेरे दुराचरण का ही यह परिणाम है। उसने नतमस्तक होकर क्षमा माँगी, साधुबेला तीर्थ सदा के लिये उनको सौंप दिया।

महात्मा वनखण्डी देखने में नित्य किशोरसे लगते थे। उनके अग-अग दिव्य और चित्ताकर्षक थे। वे चोगा और लम्बासा टोपा पहनते थे। रग-विरगी एक गुदडी भी धारण करते थे। उसका नाम उन्होने योगगुदडी रखा था। जीवन के अन्तिम दिनो में उन्होने साधुबेला तीर्थ में ही निवास कर योगाभ्यास, सत्सग और तपका क्रम चलाया।

सम्वत् १९२० वि. में आषाढ कृष्ण द्वितीया को दो बजे रात में 'शिवोऽहं' का विशेष योगध्वनि से उच्चारण कर उन्होने महाप्रयाण किया। सिन्धु-नदी में उन्हे जल समाधि दी गयी। ब्रह्म-निर्वाण के समय असख्य भक्त और सत उपस्थित थे।

रचना

वनखण्डी महाराज के वचन और उपदेश ही अमर कृति हैं।

वाणी

ओम सच्चिदानन्द प्रभु, अकल कला भरपूर।
व्यापक जग करता हरि, 'वनखण्डी', जगदूर॥
मोक्ष ज्ञान से होत है, गुरु से होवे ज्ञान।
यही वेद सिद्धान्त है, 'वन खण्डी' तू जान॥
सत चिद आनन्द ईस है, नाम रूप ससार।
मिलि पाँचो यह जग वन्यो, 'वनखण्डी' नहिं पार॥
नाम रूप को छोड के, सत चिद आनन्द जोय।
अविनासी अज स्वयभू, 'वनखण्डी' तू सोय॥
गुरु-ईस में भेद न जाने, गुरु उपदेश वेद हम माने।
वेद सत गुरु कर विश्वास, 'वनखण्डी' हो ज्ञान प्रकास॥
हरि से भये लीन हरि माहि, मध्य हरी जगमिथ्या आहि।
करि विचार यो निश्चय करे, 'वनखण्डी' भवसागर तरे॥
सव से प्रथम नाम में प्रेम, नाम जपन को लेवे नेम।
कलि युग में है नाम प्रताप, 'वनखण्डी' निसिदिन आलाप॥

बाबा कीनाराम

सिपाही मन दूर खेलन मत जैये ॥
घटही में गगा घट ही में जमुना तेहि बिच पैठि नहैये ।
अछेहो बिरिछ की शीतल छहिया तेहि तरे बैठि छहैये ॥
माता-पिता तेरे घट ही में, नित उठि दरसन पैये ।
'शिवनारायण' कहि समुझावे, गुरु के सबद हिये कैये ॥

—सत शिवनारायण

सत् असत् के विकार से अतीत होकर, परमानन्द पद में तल्लीन होकर, आत्मचिंतन के अथाह और अपार सागर में चित्तवृत्तिनिरोध कर रमणशील हो जाना ही सन्त का अवधूत स्वरूप है। ऐसे अवधूत के लिये गुणअवगुण रूप मे अधिष्ठित जगत आत्मरूप हो जाता है, वह प्रियता और अप्रियता के बन्धन से स्वतन्त्र होकर आत्मविज्ञान में समस्थिर हो जाता है। इसी तरह के अवधूत वाबा कीनाराम थे, वे सिद्ध अघोर सन्त थे। आत्मविज्ञान में रमण करनेवाले परम विरक्त महात्मा थे। वाबा कीनाराम की एक स्थल पर उक्ति है कि मैं देवालय और देवता तथा पूजा और पूजारी हूँ मैने हो वृन्दावन में कृष्ण रूप में गोपी और ग्वालो के साथ नृत्य किया। मैने ही हनुमान के रूप मे राम का हितकार्य-सम्पादन किया। यह उक्ति उनकी एकरसता– एकात्मबोध की परिचायिका है। वावा कीनाराम निर्मल उपाधिरहित निरञ्जन-चिन्मय सत्य के उपासक थे, सत कवीर की वाणी और विचारो का उन पर विशेष प्रभाव पडा था, उन्होने खरा सत्य कहा। उन्होने कहा कि यह बडे आश्चर्य की बात है कि सत्य तत्व अपन आप में परिपूर्ण है पर बताने वाले उसे अपने से अलग और अप्रकट वतलाते है। उनकी उक्ति है

"अधहि अधा डगर वतावत,
वहिरहि वहिरा वानी।
'रामकिना' सतगुरु सेवा विनु,
भूलि मरयो अज्ञानी।"

बावा कीनाराम पहुँचे हुए सत थे, उनकी सिद्धि उच्च कोटि की थी। काशी के निकटस्थ चदौली मण्डल में वाणगगा नदी के तट पर स्थित रामगढ गाँव में सम्वत् १६८४ वि के चैत मास में वावा कीनाराम ने जन्म लिया था। उनके पिता अकवरसिंह वडे सुशील गृहस्थ थे, उन्होंने अपने पुत्र का पालन-पोषण वडे प्यार से किया, शिक्षा-दीक्षा की भी समुचित व्यवस्था थी। कीनाराम अपने तीन भाइयो में सबसे वडे थे, परिवार और गृहस्थी की सारी आशा उन्ही पर केन्द्रित थी। माता-पिता समझते थे कि बडा होने पर कीनाराम घर सम्हाल लेगे पर कीनाराम तो समस्त जगत के माता-पिता के घर को आत्मज्ञान के आलोक से प्रकाशित करने आये थे। बचपन से ही उनमें आध्यात्मिकता के प्रति सहज आकर्पण था। वे जन्मजात सत थे। अल्पवयस्क होने पर भी वे अपने साथियो से रामनाम का उच्चारण करवाते थे। राम नामामृत कान में पडते ही प्रसन्नता से नाच उठते थे। जब वे छोटे थे तभी उनका विवाह कर दिया गया। लगभग तेरह साल की अवस्था में उनके गौने की तिथि निश्चित की गयी। नाच-बाजे की तैयारी होने लगी। घर में आनन्द मनाया जाने लगा। निकट के सगे-सम्बन्धियो को निमन्त्रित किया गया। एक दिन पहले ही बरात की तैयारी देख कर मा से कीनाराम ने कहा कि मैं दूध-भात खाना चाहता हूँ। मा ने समझाया कि शुभ अवसर पर दूध-भात खाने का निपेध है, गौने के समय इस तरह के अमागलिक भोजन की माँग अनुचित है। कीनाराम ने मा का कहना नही माना, उन्होंने हठपूर्वक दूध-भात खा कर ही सास ली। दूसरे दिन कीनाराम की बरात जाने ही वाली थी कि तत्काल ससुराल से समाचार आया कि वधू का देहान्त हो गया है, अन्त्येष्टि के लिये शव सैदपुर घाट पर लाया गया है। कीनाराम के दूधभात खाने का रहस्य लोगो को विदित हो गया। इस घटना के बाद वे अधिक दिनो तक घर पर नही ठहर सके।

उन दिनो कारो नामक स्थान मे रामानुजी सम्प्रदायक के एक प्रसिद्ध महात्मा वावा शिवाराम जी रहते थे। रामकीना के मन में उनके प्रति बडी श्रद्धा थी। वे उनके दरवार में उपस्थित हुए। शिवाराम जी महाराज की सेवा में लग गये। उन्होंने निवेदन किया कि मुझे शिष्य रूप में स्वीकार कर मेरा भववन्धन काट दीजिये। शिवाराम जी महाराज ने उनको शिष्य रूप मे ग्रहण करना स्वीकार नही किया। एक दिन विचित्र घटना हुई; शिवाराम जी

के साथ कीनाराम गगातट पर खडे थे, शिवाराम ने पूजन का सामान और वाघम्बर देकर जल में स्नान करने के लिये प्रवेश किया, उन्होने देखा कि गगाजल वढ कर तट पर खडे कीनाराम के चरण का स्पर्श कर रहा है। वे चकित हो गये, उन्होने वडी प्रसन्नता से कीनाराम को मन्त्र देकर अपनी शरण में ले लिया। कीनाराम ने उनके स्तवन में एक स्थल पर कहा है

"कल्पन हूँ के कल्पतरु गुरु दयाल जिय जानि।
शिवाराम है नाम शुचि रामकिना पहिचानि॥"

वे अधिक दिनो तक शिवाराम जी के पास न रह सके, परिस्थिति से विवश होकर वाबा कीनाराम ने कारो छोड दिया। वे भ्रमण के लिये चल पडे। उन्होने आसन उठा लिया, नैगडीह गाँव मे आये, वहाँ एक बुढिया को रोते देख कर रोने का कारण पूछा।

'वावा, तुम अपनी राह जाओ।' वुढिया ने इतना कहा ही था कि वावा ठहर गये। अन्त में बूढी स्त्री ने कहा कि जमीदार का कर बाकी है, वह उसे उगाहने के लिये मेरे लडके को बलात् पकड ले गया है। बाबा बुढिया के साथ जमीदार के घर गये, लडका कडाके की धूप में खडा किया गया था। वावा कीनाराम ने जमीदार से कहा कि इसे छोड दो पर वह टस-से-मस न हो सका। उसने बावा से कहा कि भिक्षा चाहते हो तो लेकर अपनी राह पकडो। यदि मन न मानता हो तो सारा कर तुम्ही दे दो। महाराज को यह बात लग गयी। उन्होने लडके से उस स्थान से हट जाने को कहा और जमीदार से कहा कि इस स्थान को खोदने पर रुपया मिलेगा, जितना मन हो ले लो। जमीन खोदी गयी, रुपया देखकर जमीदार ने उनके चरणो पर गिर कर क्षमा-याचना की।

'अपना लडका ले जा,' महाराज ने वुढिया को आदेश दिया।

वुढिया ने कहा, 'कृपानाथ, यह पुत्र आप का है।' उसने उसको महाराज के चरण में समर्पित कर दिया, वावा ने उसका नाम वीजाराम रखा, वीजाराम की गणना कीनाराम के प्रसिद्ध और मुख्य शिष्यो में की जाती है। बावा नये शिष्य के साथ तीर्थ-भ्रमण करने लगे। कई सालो के वाद वे लौट कर गाँव आये, गाँव के दक्षिण वाणगगा सरिता के निकट ही एक जगल मे वट वृक्ष के नीचे आसन लगाया। भजन करने लगे। धीरे-धीरे दर्शनार्थियो की भीड बढने लगी। वावा कीनाराम ने एक कुआँ वनवाया जो पक्का था। इसी प्रकार उस स्थान पर उन्होने एक पक्का वरामदा वनवाया पर उसकी छत को उपलो से पटवा दिया।

और कहा कि तुम पक्की हो जा। उनके ऐसा कहते ही छत पक्की हो गयी, कुआँ रामसागर नाम से प्रसिद्ध है, इस तपोभूमि के निकट ही कीनेश्वर महादेव का मन्दिर भी है। वावा दर्शन करने वालो की भीड से उकता कर तीर्थ-भ्रमण के लिये निकल पडे। वे जूनागढ आये। नगर के वाहर आसन लगा दिया। वीजाराम को केवल तीन घर से भिक्षा माँगने का आदेश था। नगर में भिक्षा के लिये प्रवेश करते ही सिपाहियो ने उनको जेल में डाल दिया, वहुत-से साधु-पुरुष जेल में वन्द थे, उनके पीसने के लिये ९८१ चक्कियाँ थी। इधर वीजाराम के आने में विलम्व देख कर उन्होने ध्यान में ही सारी घटना समझ ली। नगर में स्वय भिक्षा माँगने आये। उन्हें भी जेल में डाल दिया गया और आटा पीसने का आदेश मिला। वावा ने चक्की पर एक दडा मारा और वह चलने लगी; उसी की तरह अन्य चक्कियाँ भी चलने लगी। नगर में यह वात विजली की तरह फैल गयी। नवाव ने वावा कीनाराम से क्षमा माँगी और हीरे-मोती से भरी थाल भेंट में दी, वावा ने दो-चार हीरे-मोती मुख में रख कर वाहर फेंक दिया, उपेक्षा दृष्टि से कहा कि न तो ये खट्टे है, न मीठे हैं। नवाव ने भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की; वावा ने कहा कि मेरी सवसे वडी भेंट यही है कि तुम्हारे नगर में जितने यति-सन्यासी आयें उतने लोगो को ढाई-ढाई पाव आटा दिलाने की व्यवस्था हो जाय। नवाव ने उनकी आज्ञा शिर पर धारण की और ऐसे सिद्ध सन्त के दर्शन से अपने आप को कृतार्थ और धन्य माना। जूनागढ से वावा कीनाराम गिरनार पहुँचे, उन्हे उस स्थान पर परम अवधूत भगवान दत्तात्रेय का दर्शन हुआ। वावा कीनाराम ने उनसे मन्त्र-दीक्षा ली। इस घटना के सम्वन्ध में वावा कीनाराम की उक्ति है

> पुरी द्वारिका गोमती गगा सागर-तीर।
> दतात्रय मोहि कहँ मिले हरनमहा भवपीर।
> मोहि प्रवोधे विविध विधि त्रिकालज्ञ भगवान।
> अतरहित होते भये वानी सत्य प्रमान॥

यह सन्त वाणी है, सिद्ध महात्मा की यथार्थ उक्ति है कि उन्हे दतात्रेय का साक्षात्कार हुआ था, इस तरह के कथन में सशय के लिये तनिक भी स्थान नही है।

तीर्थ-भ्रमण के वाद वावा कीनाराम ने काशी में आकर केदार घाट श्मशान पर डेरा डाला, प्रसिद्ध अघोरी सन्त कालू राम से उनकी भेंट हो

गयी। कालूराम सिद्ध सन्त थे; कीनाराम देखा कि कालूराम शव की खोपडी को तट पर बुला कर चना खिला रहे हैं। कीनाराम ने कहा कि यह कैसा खेल कर रहे है, स्थान पर चलिये। थोडी दूर पर गगा में एक शव बहता चला आ रहा था। कालूराम ने कहा कि मुर्दा आ रहा है। कीनाराम ने कहा कि यह तो जिन्दा है। कालूराम उनकी वात सुनकर आश्चर्य में पड गये। देखते-ही-देखते बाबा कीनाराम ने मुर्दे से कहा कि इधर आओ और वह खडा होकर घाट पर आ गया। घर जाने पर लोग मुर्दे को जीवित लौटते देख कर आश्चर्य में पड गये। माता ने अपने जीवित पुत्र को बाबा कीनाराम के चरणो में सदा के लिये समर्पित कर दिया। बाबा ने उसका नाम रामजियावन रखा। कालूराम इस तरह की अनेक सिद्धियो से प्रसन्न होकर बाबा कीनाराम को अघोर मन्त्र प्रदान कर अदृश्य हो गये। इस घटना के सम्बन्ध में लिखा है।

"कीना कीना सब कहै काल कहै न कोय।
कालू कीना एक भये, राम करै सो होय।"

ऐसी मान्यता है कि कालूराम के वेप में भगवान दत्तात्रेय ने ही उनको दर्शन देकर धन्य किया था। कालूराम के गुप्त होने पर बाबा काशी में ही कृमि-कुण्ड पर रहने लगे। उनकी सिद्धि से आकृष्ट होकर लोग अधिकाधिक सख्या में उनके अनुयायी बनने लगे।

बाबा कीनाराम का सिद्धान्त यह था कि अत्यन्त अगाध और अगम निर्वाण पद की प्राप्ति गुरु की कृपा से ही सम्भव है। उनकी दृष्टि मे ॐ मन्त्र की सिद्धिभूमि रामनाम में ही प्रतिष्ठित थी। रामनाम उनका प्राणमत्र था। बाबा कीनाराम का वचन है

'अमर बीज विज्ञान को कह्यौं समुझि कर लेहु।
ॐ सो मन्त्र विचारि कै रामनाम चित देहु।'

उनका तत्वनिरूपण सीधी सादी और हृदय को पिघला देने वाली भाषा में है। उन्होने वतलाया कि सत्य पुरुष सत्य नाम मे स्थित है, रूप-रेख से नितात अतीत है। उन्होंने सर्वत्र व्याप्त चिदानन्द सुखधाम आत्माराम की ही वन्दना की। बाबा कीनाराम ने अनुभव के सहारे कहा

'व्यापक व्याप्य प्रकाश महँ चिदानन्द सुखधाम।
बहिरतर जहँ तहँ प्रगट वन्दौ आतमाराम॥'

वावा ने अनुभव किया कि मैं ही योगी, युक्ति और मुक्ति तथा आत्मा का ज्ञाता हूँ। तरुवरमूल तथा फल-फूल-सब में मेरा ही अधिवास है, अभेद और भेद सब कुछ मेरी ही सत्ता में स्थित है। मैं ही खोटा खरा तथा खेदगत और खेदरहित हूँ। मैं ही परम सत्य हूँ, जगत में मुझसे परे किञ्चित मात्र भी नही है। उनका शब्द है

'शब्द का रूप साचो जगतपुरुप है,
शब्द का भेद कोई सत जानै।
शब्द अज अमर अद्वितीय व्यापक पुरुष,
सत गुरु शब्द सुविचार आनै॥
चद में जोति है जोति में चद है
अरथ अनुभव करै एक मानै।
'राम किना' राह यह अगम वाकी निपट,
निकट को छाडि के प्रीति ठानै॥'

सत्य के यौगिक निरूपण के स्तर पर कितना मार्मिक रहस्यवाद इस कथन में अभिव्यक्त है!

उनकी विवेकसार पुस्तक आध्यात्मिक तत्वज्ञान से परिपूर्ण है, इसमें शिष्य और गुरु के सम्वाद-माध्यम से अलौकिक जीवन की गतिविधि पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वर्णित है कि रज, तम, सत, जल, अग्नि, पवन, गगन, पृथ्वी,—समस्त सृष्टि सत्यपुरुष की शक्ति से सृजित और परिव्याप्त है। समझने पर ज्ञान और न समझने पर अज्ञान की उपलब्धि होती है, समझते-समझते जीवात्मा विज्ञान कक्ष में पहुँच जाता है। वावा कीनाराम ने उपदेश की भापा में कहा:

'साँच कहिय साँचो सुनिय साँचो करिय विचार।
साँच समान न और कछु साँचो सग सम्हार॥'

वावा ने कहा कि रामनाम समस्त भगवन्नाम की मौलि है, उसे सम्हाल कर रखना चाहिये। सद्‌गुरु चरण में आश्रय लेने से जीवात्मा अभय हो जाता है। गुरु के स्वरूप-चिंतन में वावा कीनारामका वचन है:

'ब्रह्मानन्द सुवोधमय आतम अनघ अकाम।
छदरहित आकाशवत अलख निरञ्जन नाम॥'

उन्होने कहा कि समस्त ब्रह्माण्ड का दर्शन पिण्ड में सम्भव है, भगवत्-तत्व के साक्षात्कार के लिये दूर नही जाना पडता है, वह तो अपने आप में ही परिव्याप्त है। प्रेम-तत्व पर बाबा ने बडा जोर दिया। प्रेम की गली अमित 'अटपटी' है– ऐसी उनकी स्वीकृति है।

बाबा कीनाराम ने मारुफपुर, रामगढ, देवल, हरिहरपुर, आदि स्थानो में अपनी गद्दी स्थापित की। काशी नरेश महाराज बलवन्त सिंह बाबा कीनाराम में बडी श्रद्धा रखते थे, वे उनका अच्छी तरह आदर-सत्कार करते थे। बाबा कीनाराम ने काशी में ही अपने कृमिकुण्ड मठ में ही एक सौ बयालीस साल की अवस्था में सम्वत् १८२६ वि मे शरीर त्याग दिया। वे उच्च कोटि के परमहस अवधूत थे। उत्तरी भारत की सन्त साहित्य-परम्परा में उनका नाम अमर है।

रचना

बाबा कीनाराम की प्रसिद्ध रचनायें रामरसाल, रामगीता, रामचपेटा, राममगल, पोथीविवेकसार आदि है।

वाणी

रामनाम-सत्सग सम साधन और न कोइ।
श्रुतिसिद्धान्त विचार यह जानै बिरला कोइ॥
स्वाती जल सतगुरु वचन थल विशेष गुन होइ।
'रामकिना' गजकुभमनि नाग सीस विप होइ॥
राम नाम सब कोइ कहै रामहि लखै न कोइ।
'राम किना' जौ राम हित रूठि करै का कोइ॥
सत्य पुरुष को सत्य कहि सत्य नाम को लेखि।
रूप रेख नहि सभवै कहिये कहा विशेषि॥
माया अगम अनन्त की पारन पावै कोइ।
सो जानै जाके कछूकाया परिचय होइ॥
अनुभव सोइ जानिये, जो नित रहै विचार।
'रामकिना' सत शब्द गहि, उतरि जाय भौ पार॥
चाह चमारी चूहडी, सब नीचन ते नीच।
तू तो पूरन ब्रह्न था, चाह न होती बीच॥
जिन्ह गाया तिन गाया नाही, अनगाया सो गाये माही।

जिन्ह जाना तिन्ह जाना नाही, अनजाना सो जानेहि माही।
जिन्ह वूझा तिन्ह वूझा नाही, अनवूझा सो वूझेहि माही।
जिन्ह देखा तिन देखा नाही, अनदेखा सो देखे माही ॥
जिन्ह लेंखा तिन लेखा नाही, अनलेखा सो लेखेहि माहीं ॥
जिन्ह समुझातिन समुझा नाही, अनसमुझा सो समुझे माही।
जिन्ह सुनिया तिन सुनिया नाही, अनसुनिया सो सुनिया माही ॥
जिन्ह वोला तिन वोला नाहीं, अनवोला सो वोले माही।
जिन्ह गुनिया तिन गुनिया नाही, अनगुनिया सो गुनिया माही ॥
जिन्ह पाया तिन पाया नाही, अनपाया सो पाया माही।
जिन्ह चाखा तिन चाखा नाही, अनचाखा सो चाखे माही ॥
जिन्ह धाया तिन धाया नाही, अनधाया सो धायेहि माही।
जो वैठा सो वैठा नाही, अनवैठा सो वैठे माही ॥
जो भीना सो भीना नाही, अनभीना सो भीनेहि माही ॥

मैं जोगी मैं जुक्ति मुक्ति मैं आतमज्ञाता।
मैं तरुवर मैं मूल साख मैं फल रगराता ॥
मही पच्छ मही पत्र रहित मैं जरद श्याम अति ॥
मैं अरक्त मैं श्वेत अग-सग मैं मेरी गति ॥
मैं अन्तर अन्तररहित मैं अभेद सव भेद मैं।
'राम किना' खोटो खरो, सहितखेद गतखेद मैं ॥

सन्त प्रीतमदास

'कहा रसखानि सुख सम्पति सुमार मह
कहा महोयीगी ह्वै लगाये अग छारको।
कहा साधै पचानल, कहा सोये बीच जल,
कहा जीति लाये राज सिंधु वारपार को॥
जप बार-बार तप सयम बायार व्रत
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
सोई है गँवार जिहि कीन्हो नहि प्यार,
नहीं सेयौ दरबार यार नन्द के कुमार को॥'

—भक्तकवि रसखान

भगवान सम्पूर्ण प्रेममय है, जो सुख नन्दनन्दन के दरबार में मिलता है वह अन्यत्र परम दुर्लभ है। सम्पत्ति के सुमेरु की प्राप्ति हो जाय, जप और तप की साधना से बडी-से-बडी सिद्धि मिल जाय, असख्य तीर्थों के सेवन का फल मिल जाय पर भगवदीय प्रेम की तुलना में सब कुछ निरर्थक और व्यर्थ है। जो प्राणी राम के रूप-सौन्दर्य का एक बार भी सच्चे हृदय से रसास्वादन कर लेता है वह जन्मजन्मान्तर के लिये जागतिक प्रपञ्च और विषयासक्ति से विमुक्त हो जाता है, भगवद्रसकी महिमा वर्णन से परे की वस्तु है, वह चिदानन्दमय और सहज दिव्य है। सत प्रीतमदास भगवद्रस के परम मर्मज्ञ थे। भगवान के पवित्रतम रूपरस सागर में सम्पूर्ण निमग्न होकर उनका जीवन सरस और सफल हो गया। गुजराती साहित्य में उनको अमित महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नरसी मेहता की सरस वाणी से कृतार्थ गुजरात सत प्रीतमदास के ज्ञानमूलक साहित्य की सरसता से धन्य हो गया। प्रीतमदास गुजराती वाङ्मय के प्रमुख स्तम्भ शामल के समकालीन थे। उन्होंने गुजरात के हृदय-देश में सरसता पूर्ण आध्यात्मिक चेतना भर दी। प्रीतमदास विवेकपूर्ण वैराग्य के साकार रूप थे। प्रीतमदास उच्च कोटि के ज्ञानी भक्त थे, अपने आप को परम अकिञ्चन और साधारण प्राणी

मानते थे, उनका वैराग्य उच्च कोटि का था। अपने प्रेमियो और अनुयायियो में वे प्रीतम स्वामी के नाम से प्रसिद्धि थे।

सत प्रीतमदास का जन्म गुजरात के वावला ग्राम में सम्वत् १७७४ वि के लगभग वारोट (भाट) कुल में हुआ था। उनके पिता का नाम प्रभातसिंह और माता का नाम जयकुवरि वाई था। ऐसा कहा जाता है कि वे जन्म से ही अधे थे। साधु सन्तो के प्रति वचपन से ही उनके मन में सहज अनुराग था। वे भगवद्सम्वन्धी वातो में वडी अभिरुचि प्रकट करते थे। पन्द्रह सोलह साल की ही अवस्था से वे सरस पदो की रचना करने लगे।

उनकी वाल्यावस्था में एक वार गाव में रामानन्दी सम्प्रदाय के साधुओ की जमात आयी, प्रीतमदास सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गये। वे जमात के महन्त भाईदासजी के पास जा पहुचे। उन्होने मधुर और विनयपूर्ण वाणी में सन्त के चरण देश में निवेदन किया कि महाराज मुझे वह मार्ग वताइये जिस पर चल कर मैं परमात्मा का चितन कर सकू, उनके भजन और कीर्तन में तत्पर रहूँ। घरवाले मुझे पराये-से दीखते हैं, आप मुझे अपने से लगते है। उन्होने महन्त के चरण पर मस्तक नत कर दिया। भाईदास वालक के सत्सग-प्रेम और भगवद् सम्वन्ध की वातो से आश्चर्यचकित हो गये। उन्होने प्रीतम को मन्त्र-दीक्षा दे दी। वे प्रीतमदास के रूप में प्रसिद्ध हुए। सन्त मण्डली के साथ मृदु अवस्था में ही घर का त्याग कर वे चूडा रायपुर गये। कुछ दिनो तक महन्त का सत्सग कर वे नदियाड मण्डल के सदेसर ग्राम में चले आये। वीतराग सन्यासी की तरह भजन-कीर्तन करते हुए वे आजीवन सदेसर में रह गये। धीरे-धीरे उनकी स्याति दूर-दूर तक वढने लगी, लोग उनके दर्शन के लिये अधिकाधिक सख्या में सदेसर में एकत्र होने लगे। असख्य जीवो को उन्होने आत्मतृप्ति प्रदान की, ब्रह्मानन्द रस का निर्मल और पवित्र रसास्वादन कराया।

वेदान्त, पुराण, भागवत आदि में वर्णित भगवत् तत्त्व को उन्होने अपनी सरस वाणी में निरूपित किया। उनके पदो में कृष्णभक्ति का विवेचन वडी सुदर और मधुर शैली मे हुआ है। उनकी उक्ति है कि जीवन का सौन्दर्य सद्भाव और सद्ज्ञान में सन्निहित है, प्रत्येक प्राणी सुन्दर भाव और निर्मल ज्ञान से परमात्मा के प्रेम की प्राप्ति कर सकता है। विना हरि के भजन के ससाररूपी सरिता-प्रवाह को पार नही किया जा सकता है। वीर आत्मा ही

हरिकी भक्ति के पथ पर चल सकता है, कायरो के लिये भगवत्तत्त्व का अनुभव दुर्लभ और अगम है। सत प्रीतम दास की वाणी है

'हरिभजन बिना, दुख दरिया ससार
नो पार न आवे।'

उनके पदो में भक्ति और वैराग्य की वाते भरी-पडी हैं। उन्होंने कहा कि भक्ति वही प्राणी कर सकता है जिसके धड पर सिर नही होता है, परमात्मा के लिये सिर कटाने को जो सदा प्रस्तुत रहता ह वही भक्ति का अधिकारी है: सन्त प्रीतमदास का कथन ह

"भक्ति अेवी रे भाई अेवी,
तरस्याने पाणी रे जेवी।
भक्ति जुग मा करे नर सोई,
जाके धड पर शीश न होई।
भक्ति छे रे खाडा नी धार,
अेने साधे कोई साधन हार।"

भक्ति तो तलवार की धार है, इस पर वीर पुरुष ही चलने का अधिकारी है। सन्त प्रीतमदास ने समझाया कि भगवान के प्रेम का पथ सब से न्यारा है, प्रेम रूपी अमल आख में चढने पर उतरता ही नही है। सन्त कवि प्रीतमदास की प्रेम-व्याख्या है

'प्रेम नो पथ छे न्यारो सर्व थी,
प्रेम नो पथ छे न्यारो।
जे जाणशे ते शिर साटे माणशे
अेमा न थी उधारो।
प्रेम नो अमल आव्यो जेनी,
आँख माँ ते ऊतरे नही उतार्यो।'

सर्वस्व समर्पण करने पर ही भगवत्प्रेम-रस की प्राप्ति होती है– ऐसी उनकी दृढ मान्यता थी।

प्रीतमदास के पद गेय और ओजपूर्ण शैली में लिखे गये हैं। उनके पदो से सुविचार और ऊँची प्रेरणा प्राप्त होती है, उनकी रचनाओ का पाठ करने से जीवन विशुद्ध होता है। ग्राम्य भापियो और साधारण जनता के समझने के

लिये उन्होंने गुजराती भाषा में भगवद्गीता, अध्यात्मरामायण और श्रीमद्-भागवत के एकादशस्कन्ध का सरल-सुबोध दान दिया। अनेक काव्यग्रन्थ रचे। उनकी सरस गीता अमित मधुर रचना है, पढते ही मन में भक्ति की सरस तरगिणी प्रवाहित हो जाती है। पढने वाले की आखो से निरन्तर अश्रु प्रवाहित होता है। उन्होंने अनुभव पूर्ण भगवद्प्रेम का गान गाया, उनके मुख से निकले पद शिष्य लोग लिख लिया करते थे। गोपी-प्रेम की अनुभूति उनके पदो की प्राण-सजीवनी है। गुजरात के प्रसिद्ध सन्त रविसाहब की उनके चरणो में अपार श्रद्धा और भक्ति थी। महात्मा प्रीतम दास ने किसी नये पथका प्रवर्तन नही किया। जीवन के अनुभवपूर्ण सत्य के प्रेमज्ञान में वे निरन्तर रमण करते रहे।

प्रीतमदास रामानन्दी पथ के त्यागी महात्मा थे। सदेसर में उनका मन्दिर सदा त्यागी सन्यासी और महात्माओ से भरा रहता था। भारत के कोन-कोने से और विशेष रूप से गगा-यमुना की पवित्र भूमि के सन्तो का सत्सग उन्हे समय-समय पर मिलता रहता था इसलिये उनके सम्पर्क में हिंदी भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था। सम्वत् १८५४ वि की वैशाख कृष्ण द्वादशी को वे परमात्मा में लीन हो गये। वे ज्ञानी और रसिक महात्मा थे।

रचना

प्रीतमदास की प्रसिद्ध रचनाये सरसगीता, ज्ञानककहरा, अध्यात्म रामायण ब्रह्मलीला, ज्ञानप्रकाश आदि है।

वाणी

भाई अमे वावा रे भाई वावा॥
हाथे माला, गोविन्द गुण गावा, भाई अमे वावा॥
अमे माथे नाख्यो छे छेडो, हवे ना कोई अमने छेडो।
नही तो थाशे हरि साथे हेडो, भाई अमे वावा॥
ऊपर आभ ने हेठे धरती, हरि विना बीजा नही वरती।
अमे मूकी सारी ने नरती, भाई अमे वावा॥
अमारे घरेणा मा गेरु, घर रहे वाने देवल देहेरू।
सुख सज्जा धरती ने वेलु, भाई अमे वावा॥

कहे प्रीतम ममता मूकी, डग भरिअे, फूकी फूकी।
नव पडीअे चोराशी मा चूकी, भाई अमे बावा॥
हरिनो मारग छे शरानो, नहि कायरनु काम जोने।
परथम पहेलु मस्तक मूकी वलती लेवु नाम जोने॥
सुत वित दारा शीश समर्पे, ते पामे रस पीवा जोने।
सिधु मध्ये मोती लेवा माही पड्या मरजीवा जोने॥
मरण आँगमे ते भरे मूठी दिलनी दुग्धा वामे जोने।
तीरे ऊभा जुये तमासो ते कोडी नव पामे जोने॥
प्रेमपथ पावक नी ज्वाला भाली पाछा भागे जोने।
माँही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने॥
माथा साटे मोघी वस्तु, साँपडवी नहि सहेल जोने।
महापद पाम्या ते मरजीवा, मकी मननो मेल जोने॥
राम अमल माँ राता माता, पूरा प्रेमी परखे जोने।
प्रीतमना स्वामीनी लीला, ते रजनी दन नरखे जोने॥

महात्मा रामसखा

राम रहस के ते अधिकारी।
जिनको मन मरि गयउ और मिटि गई कल्पना सारी॥
चौदह भुवन एकरस दीखै, एक पुरुष इक नारी।
'केसी' बीज मन्त्र सोइ जानै, ध्यावै अवधविहारी॥

—सत मञ्जुकेशी

निस्सन्देह वह प्राणी कितना पुण्यशील और भाग्यशाली है जिसका मन भ्रमर राघवेन्द्र विश्वविमोहन राम और उनकी प्राणप्रियतमा जनकनन्दिनी के चरणारविन्द-मकरन्द का आस्वादन कर विपयातीत हो उठता है। श्री अवधक्षेत्र की महिमा कितनी रसमयी और चिन्मय है। श्री अयोध्या के प्रमोदवन में भगवान सीताराम के सरस रूप-सौन्दर्य से समलकृत और नित्य प्राणमय नृत्य राघवकुञ्ज और श्रावणकुञ्ज के दर्शन मात्र से ही परम रसिक रामसखा जी महाराज का भावलावण्य नयनो में थिरक उठता है, वे भगवान राम के लीलारस के सिद्ध भावस्वरूप थे। श्रीरामसखा जी महाराज ने विक्रम की उन्नीसवी शती के आरम्भ में अयोध्या को अपनी सरस उपस्थिति से रस-वृन्दावन में परिणत कर दिया। वे विन्दुसम्प्रदायाचार्य अनन्त श्रीविभूपित सत रामप्रसाद जी महाराज के समकालीन थे, उनके पवित्र निवास से अयोध्या के कण-कण में रस की सरयू प्रवाहित हो उठी। यह कहना समीचीन है कि वे अयोध्या के श्रीभट्ट थे, जिस प्रकार वृन्दावन में महारसिक श्रीभट्ट ने प्रिया-प्रियतम का शास्त्र सम्मत शृगार गाया उसी प्रकार सत रामसखा जी ने सख्य-भाव के स्तर से राम का सरस लीलायश गाया।

रामसखा जी महाराजने विक्रम की अठारहवी शती के अन्तिम चरण में राजस्थान के जयपुर मे एक कुलीन गौड ब्राह्मण वश में शरीर धारण किया था। बचपन से ही उनके सस्कार असाधारण, अलौकिक और दिव्य थे, साधु-सन्तो और भगवान के भक्तो के प्रति उनके मन मे वडा आदर-भाव था। वे वड़े

मृदुल स्वभाव के थे। राम की सरस लीलाओ के स्मरणमात्र से ही वे आत्म-मुग्ध हो जाया करते थे। वे भगवान के जन्मजात सखा थे।

रामसखा जी का मन घर पर नही लगा। वे जयपुर की गलिता गादी की ओर आकृष्ट हुए। उन्होने गलिता स्थान के आचार्यचरणको अपने भगवद्-भावो से प्रसन्न कर लिया, कभी-कभी रामलीला में उन्हे लक्ष्मणरूप में उतरना पडता था, एक बार लक्ष्मण के रूप में उन्होने भगवान राम के प्रति सख्य का अद्भुत परिचय दिया। गलिता के आचार्य ने इस घटना से प्रसन्न होकर उन्हे रामसखा की उपाधि दी, वे उसी समय से भगवान श्रीरामभद्र के सखारूप से प्रसिद्ध हुए।

रामसखा ने तीर्थ-भ्रमण आरम्भ किया, वे दक्षिण में उडपी पहुचे, उडपी मे माध्व सम्प्रदाय के प्रसिद्ध महात्मा वशिष्टतीर्थ महाराज के चरणो में नत होकर द्वैतमत के अनुसार उन्होने राम की उपासना-पद्धति अपनायी। उनकी स्वीकृति है

'माध्व भाष्य निज द्वैत मत, मिलनद्वार हनुमान।
रामसखे विधि सम्प्रदा, उडपी गुरुस्थान ॥'

उडपी में गुरु की सेवा में उन्होने बडी निष्ठा दिखायी, धीरे-धीरे उनके मन में श्रीअवध के प्रति अनुराग उत्पन्न होने लगा, उनको भगवान-राम ने प्रेरणा दी कि तुम मेरे अभिन्न सखा हो, तुम्हे इधर-उधर नही भटकना चाहिये, मेरी राजधानी तुम्हारी उपस्थिति से परम धन्य हो उठेगी। राम सखा ने सोचा कि जिन राघवेन्द्र ने समुद्रपार कर सीता जी को सकट से मुक्त किया उन्ही की शरण में समस्त दुखभार का अन्त हो जायेगा। वे श्रीअवध चले आये और प्रमोद वन में निवास करने लगे। उनकी उक्ति है

"विषय-भोग जग स्वप्नवत, समुझि परै मन माह।
'रामसखे' भजु राम को, वन प्रमोद द्रुम छाह ॥"

उनकी उपस्थिति से राम की रूप-श्री प्रमोद वन मे व्याप्त हो उठी, श्रीअवध की दिव्यता धन्य हो गयी। उनका निवास-स्थान नृत्यराघव-कुञ्ज के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उनके दर्शन के लिये रात-दिन अयोध्या के बडे-बडे सिद्ध सन्तो की भीड लगी रहती थी, रामसखा जी महाराज ने अवध-निवास काल मे नृत्यराघव-मिलन ग्रन्थ की रचना की, इस पवित्र ग्रन्थ मे भगवान राम की सरस भक्ति का निरूपण उत्तमोत्तम ढग से हुआ है।

अवध में सत रामसखा जी महाराज का मन लग गया। उनके नयनो ने देखा कि सरयू सरिता के घाट मणिनिर्मित हैं, उनकी शोभा अद्‌भुत है, प्रमोद वनमे नित्यवसन्त रात-दिन दिव्य प्रकृति का शृगार करता रहता है, जलकमल और स्थलकमलो पर अलिगण गूज रहे है, कोकिल की स्वर-लहरी और मयूर की नृत्यछवि से समस्त वातावरण रसमय है, अयोध्या मे स्वय प्रकाश सीताराम इतने दिव्य है कि उसमें रवि और शशि की दीप्ति और चन्द्रिका का रग ही नही चढता है। सन्त रामसखा की वाणी ऐसे श्री अवध के सौन्दर्य स्तर से मुखरित हो उठी

"काम रूप सब अवधनिवासी।
रघुपति सम छवि भोगविलासी॥
तह रघुवीर वेप नृप सोहहिं।
कोटिन कामन की छवि मोहहिं॥
द्वै भुज राम अखण्डित रूपा।
तैसहिं द्वै भुज सिया स्वरूपा॥
वय किशोर दोउ रहत सदाही।
करत सुराज्य अवध जग माही॥"

उन्होने राम और जनकनन्दिनी की सरस झाकी से अपनी मधुरवाणी पवित्र की कि नित्यदम्पति सीताराम अशोक वन के नित्यनवीन कुञ्ज के एक मण्डप में कमल पर समासीन है, कमला-चन्द्रकला आदि उनकी छवि के सागर में आत्मविभोर है, राम अनेक रमणीय कुञ्जो में सीता के साथ रमणशील है। उनके पदकञ्ज में अनेक भ्रमर रमण कर रहे हैं, प्रभु ने रासविलास का वेप अपनाया है, अनेक सखी उनकी रासोचित सेवा में तल्लीन हैं। राम सखा की उक्ति है

रासादिक वहु चरित प्रभु, करत महासुखकेतु।
रामसखे अति प्रेम सो, अवध जनन के हेतु॥

राम के इस राज्य में गुरु की अखण्ड कृपा से ही प्रवेश हो पाता है—ऐसी उनकी मान्यता थी। अवध में दर्शनार्थियो की भीड वढती देख कर उन्होने चित्रकूट में निवास किया। चित्रकूट में अनेकानेक सिद्धिया उनके चरणो की दासी हो गयी। उन्होने उस पवित्र भूमि में वारह साल तक भजन किया, चित्रकूट में भी प्रेमियो की भीड वढने लगी, वे भजनानन्दी रससिद्ध महात्मा थे। उन्होने

मैहर राज्य में नीलमती गगा के तट पर कुटी वनायी और मानसिक ध्यान, पूजा और भगवद् भजन में लग गये।

महाराज ने कहा कि चित्रकट साक्षात् राम का स्वरूप है रामसखा जी की उक्ति है

'चित्रकूट रघुनाथ स्वरूपा।'

नृत्यराघव-मिलन ग्रन्थ मे सन्त रामसखा की वाणी है

'अवध नगर ते आइके, चित्रक्ट की खोर।
रामसखे मन हरि लियो, सुन्दर युगल किशोर॥
बडे बडे नयना मारने, घूघुर वारे बार।
रामसखे मन बस गयो, सुन्दर राजकुमार॥
रतन क्रीट कटि पीत पट, कर धनुही अरु तीर।
रामसखे मन बसत नित, वनमाली रघुवीर॥'

महात्मा रामसखा के ध्येय सखा रूप में भगवान राम थे, उनकी अपने सखा के प्रति बडी आदर-बुद्धि थी। वे अपनी प्रत्येक क्रिया से भगवान को प्रसन्न करने की चेष्टा करते थे, उनके किसी काम में तनिक भी असावधानी के लिये स्थान नही था। भगवान में उनकी प्रगाढ प्रीति थी, अनुपम सख्य था उनकी वाणी है

"प्रीति रीति अति कठिन है, कहिबे की कछुनाहिं।
रामसखे जा तन लगी, सो जाने जिय माहिं॥"

उन्होने राम से कहा कि मैंने आप को अपने तन-मन दे दिये पर आप ने मेरी प्रीति की ओर देखा तक नही, आप की यह कितनी बडी अनरीति है! उन्होंने भगवान को उलाहना दी

'तुम हमसे रूठे रहत, हम तुम्हरे आधीन।
रामसखे नहिं चाहिये, ऐसी तुम्है प्रवीन॥'

अवध-निवास-काल में महाराज रामसखा नित्य कनक भवन में भगवद्-सखा के आचरण के अनुरूप ही प्रभात काल मे और सध्या को राघवेन्द्र सरकार और जगदम्वा जानकी का कुशल-समाचार लेने जाया करते थे। उनकी सख्य-निष्ठा उच्च कोटि की थी। वे कभी कनक-भवन-मन्दिर में प्रवेश नही करते थे, वाहर के प्रधान दरवाजे से ही लौट आया करते थे। उनमें इस वातका वडा अभिमान था कि मै जगदीश्वर राम का मित्र हूँ। वे आठ कहार की

पालकी पर ही कनक भवन जाया करते थे, यह सोच कर कि उनके सखाराम विश्वपति हैं, विश्व के हित में रात-दिन व्यस्त हैं, दर्शन न करने का नियम लिया था, द्वारपाल पालकी देखते ही सम्मुख खडा हो जाता था, महाराज पालकी से बाहर निकल कर पूछते थे कि सरकार सकुशल तो है, और जगदम्बा के चरणो में प्रणाम निवेदन कर अपने नृत्यराघव-कुञ्ज में चले आया करते थे, अवध-निवास-काल में एक दिन के लिये भी इस नियम मे शिथिलता नही आने पायी।

उनका दृढ सिद्धान्त था कि जीव परमात्मा (राम) का नित्य सखा है। जगत में उसकी रति जब बढ जाती है तब वह अपने आराध्य प्रभु को भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म में आबद्ध होकर अनेक देह धारण कर स्वर्ग-नरक में भ्रमण करता रहता है। परमात्मा में सख्य भाव की सिद्धि कर वह अनुपम भक्ति पा जाता है। महाराज का कथन है

'जिय ईश्वर कर सखा निज, यामें नहिं सन्देह।
जग रति करि प्रभु को बिसरि, धरत अनेकन देह॥'

महाराज का श्रीराम के चरण में अटल विश्वास था, जगत के किसी भी पदार्थ के वे आश्रित नही थे। वे अनन्य रसिक और रामभक्त थे। उनकी उक्ति है

'रामरास रस जे मतवारे।
तिनको लगत सकल मत खारे॥'

उन्होने अपने राम को देही-देह-विभाग से परे देखा, वे नित्यसच्चिदानन्द रूप में उन्मत्त थे। उन्होने राम का रूप सम्पूर्ण अनुरागमय अभिव्यक्त किया। उन्हे राम पूर्ण शृगारमय दीख पडे। उनकी सबसे बडी कामना यही थी कि सीता और रामचन्द्र उनके नयनो में सदा निवास करे, उनके हृदय में इन्ही दोनो चन्द्रो का पूर्ण आधिपत्य रहे। उनकी दृढ मान्यता थी कि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति ही रघुपति की प्राप्ति में सहायक है। वे निरन्तर राम के ही ध्यान और चिंतन मे तन्मय रहते थे। सीताराम का रास ही उनका मननीय विषय था। अत्यन्त मधुर ढग से उन्होने रासतत्व का विवेचन किया है। रामसखा महाराज सख्य के माध्यम से राम के मधुरभाव के उपासक थे। उन्होंने अवध की सरस भगवदीय लीला में अप्रकट और प्रकट निकुञ्ज रस की दिव्य भूमिका प्रस्तुत की। महाराज की वाणी साक्षी है

'विपिन प्रमोद अवध निजधामा।
जहँ नहिं माया कर कहुँ नामा ॥
तहँ चिन्तामनि भूमि सुहाई।
सो रसिकन बाटे लिखि पाई॥
अद्भुत रत्न पुलिन सरयू तट।
झरत तहाँ द्युति सुधा सोमवट॥
नटत राम तहँ नित्य विहारी॥
लीन्हे संग सिया सुकुमारी॥
कोटिन सखी सखा नर्म घेरे।
लिये यन्त्र गावहिं प्रभु नेरे॥
रत्नागिरि तहँ करत उज्यारी।
कोटि चन्द्र द्युति तापर वारी॥
हरित पीत सित श्याम सुरंगा।
फूले लतन फूल बहुरंगा॥
चम्पक बकुल कदम्ब अशोका।
सोहत लतन माधुरी ओका।'

ऐसे मधुर वातावरण में जनक नन्दिनी के मन में राम के प्रति मान का उदय होता है, पर भगवान उन्हे मनाकर अपने अनुकूल कर लेते हैं। सहसा भगवान अन्तर्धान हो जाते है पर सीता उन्हे खोज लेती है। साथ ही साथ सखियो द्वारा उनके अन्वेषण का क्रम आरभ होता है। बहिरगा और अन्तरगा भक्ति के आवेश में उनके द्वारा भगवान की उपासना होती है। वे राम के वियोग में मग्न होती हैं। शरद-ज्योत्सना में सरयू के कुजो में वे उनको खोजती है। पूरे प्रसङ्गका वर्णन महाराज रामसखा की वाणी का अद्भुत अलकार है

तिन महँ सिया मान अति करही।
राम मनाइ अक पुनि धरही॥
अन्तरध्यान होहिं क्षण में हरि।
ढूढि लेहिं सिय तबहि प्रेम करि॥
अन्तरध्यान रासमहँ प्यारो।
लहहिं सखी सुभक्ति करि चारो॥

+ + +

कबहुँ सखी पूजहिं मन लाई।
रामवेष कोउ सखी बनाई॥
क्रीट शीश धनुही कर धारहिं।
तन मन प्राण निरखि छवि वारहिं॥
चमर छत्र बिजनादिक ढोरहिं।
करि प्रणाम हाँथन पुनि जोरहिं॥

बहिरगा लीला के बाद अन्तरङ्ग लीला में वे प्रवेश करती हैं, मानसिक ध्यान और चितन में लीन होती है। उनकी विरह-दशा के निरूपण में रसिक सन्त रामसखा की भारती का कठ कह उठता है

छुटे केश दृग अजन बहई।
उमडि उमडि आँसुन हिय दहई॥
कित गये राम बूझती डोलहिं।
प्रेम पुलकि वचनन मृदु बोलहिं॥
सुन सरयू तैं परम पियारी।
देखे तैं कहुँ अवधविहारी॥
हे प्रमोदवन तैं प्रमोद कर।
तो मधि बसत मिलाय धनुषधर॥
कहहिं नाम तव विपिन अशोका॥
राम बताइ दूर करु शोका॥
कहुँ ढूढहिं कचुकी परस्पर।
लुकिन रहेउ कहुँ राम रसिकवर॥

वे विरह में इतनी तन्मय चित्रित की गयी है कि अपने आप में राम की विभिन्न लीलाओ का आरोप कर रही हैं। वे कहती है कि विश्वामित्र के साथ जाकर मैं ने ही ताडका का वध किया था, सुबाहु को जलाया था और गौतम पत्नी अहल्या का उद्धार किया था शाप से। मैंने शकर का धनुप तोड कर सीता के साथ गाँठ जोरी थी। मै प्रमोद वन मे निवास करने वाला रघुपति हूँ, नटवर वेषधारण कर रास विलास में मग्न रहता हूँ। बहुत-सी सखियाँ प्रेमाभक्ति मे विमुग्ध चित्रित की गयी हैं। रामसखा की वाणी है सरयूतट पर गम्भीर रास रस का फल-कथन है

रघुनन्दन तब तत्क्षण आये।
युवती सकल प्राण से पाये॥

लिये ललित धनुही कर तीरा॥
जनु अद्भुत कोउ काम शरीरा॥
राम धनुष माधुर्य अपारा।
देखि काम निज धनुप विसारा॥

\+ + +

कोउ तिय हाथ पकरि मुख देखहि।
कोउ मुख चूमि सुफल जिय लेखहि॥
कोउ तिय दावि चरण सुखदाई।
मेटत बिछुरन दुख हिय लाई॥

राम-मिलन में सन्त रामसखा ने पराभक्तितत्व का निरूपण किया है। रसमय रामनाम उनकी साधना का प्राण है। महाराज की स्वीकृति है

'रामनाम यह रसमय नामा।
रसिक अनन्यन को सुखधामा॥
रामनाम कर जो गति पावहिं॥
ताकहँ और इष्ट नहिं भावहिं॥'

सत रामसखा जी महाराज ने आजीवन राम की सरस भक्ति का प्रचार किया। भगवान की सरस झाँकी का चिंतन करते हुए उन्होंने साकेत धाम में प्रवेश किया। विक्रमीय उन्नीसवी शती के प्रथम चरण की समाप्ति के लगभग उन्होंने शरीर का त्याग किया।

रचना

रामसखा महाराज ने 'नृत्यराघवमिलन' ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने अनेक भावपूर्ण और भक्तिपरक सरस दोहे भी लिखे।

वाणी

निराकार साकार पुनि, निर्गुण-सगुण विचारि।
ये सव नाम ज् राम के, ताकहँ जपत पुरारि॥
रामनाम कर अर्थ यह, जानत रसिक उदार।
राम सखे जे रसमगन, डूबें रूप अपार॥
जुल्फैं छोडे वदन पर, मारत राम सुजान।
रामसखे अब क्यो वनै, जप-तप सयम ध्यान॥

जिनके हिय पिघले नही, देखि रूप सुन तान।
रामसखे तजिये तुरत, वे नर महा परवान ॥
काम क्रोध औ लोभ हूँ तजे होत कछु नाहि।
राम सखे दृग राम के लगे न जो दृग माहि ॥
राम भजे दोऊ मिले, भुक्ति मुक्ति जग माहि।
राम सखे सो पेखिये, भुसुडि विभीषन पाहि ॥
मलयागिरि के निकट वसि, बाँस न लहत सुवास।
सुधरत नहि ज्यो निरस नर, वसि सतन के पास ॥
अरे शिकारी निरदयी, करिया नृपति किशोर।
क्यो तरसावत दरस विनु राम सखे चित चोर।
वस्तु भेद समझे विना निवहत नही सनेह।
गजमुक्तन तजि भीलनी, ल्यावत गुजन गेह।
ए दोउ चन्दा वसो उर मेरे।
दशरथ सुत अरु जनक नन्दिनी,
अरुण कमल कर कमलन फेरे ॥
वैठे सघन कुज सरयू तट,
आसपास ललना गण घेरे।
चन्द्रवती सिर चमर डुलावत
चन्द्रकला तन हँसि-हँसि हेरे ॥
ललित भुजा द्वै अग परस्पर,
झुकि रहे केस कपोलन नेरे।
'राम सखे' छवि कहि न परत तव
पान पीक मुख झुकि झुकि गेरे ॥
श्री रामचन्द्र नख चन्द्र चारु अति, चरण कमल दोऊ भ्राजै।
कमठ पीठ सम परम मनोहर, काग रग रूचि राजै ॥
अरुण तरुण सम सुभग चरण तल, रेख वेप दोऊ सोहै।
रथ ध्वज अष्ठ कोन हल मूशल, श्री अम्वर मन मोहै ॥
चमर छत्र नर कज अष्ट दल, अकुश मीनहि लेखो।
पवि स्वस्तिक सुदर सिहासन, मुकुट चक्र रवि पेखो ॥
सर्प वाण यमदण्ड ऊर्ध्व शुभ, दक्षिण पद जयमाला।

वायें पद गोपद सरयू क्षिति, अर्घ त्रिकोण विशाला ।।
जीव आत्म तहँ विन्दु शक्ति युक्त, काम वान विधु राका ।
जम्बू फल पटकोण अर्ध शशि, शख गदा सुपताका ।।
त्रिवली वीन चन्द्रिका वशी, सुधाकुण्ड धनु हसा ।
तूण सहित उनचास चिह्न ये, दुखदल करण विध्वसा ।।
जे दक्षिणपद रेख कुवर के, ते कुमारिके वायें ।
राम सखे भव भूलि जात उठि सुमिरि प्रात के गाये ।।

सन्त दयाराम भाई

अलमलमलमेका प्राणिना पातकाना
निरसनविषये वा कृष्ण कृष्णेति वाणी।
यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा,
करतलकलिता सा मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी ॥

प्राणियो के पापो का अन्त करने में 'कृष्ण, कृष्ण' ऐसा एक बार भी कहना पर्याप्त है, यदि भगवान मुकुन्द में आनन्दघनमयी प्रेमभक्ति हो जाय तो मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी ही हस्तगत हो जाय।

—मुकुन्दमाला

दयाराम भाई का नाम-स्मरण होते ही हृदय में श्रीराधाकृष्ण की सरस भक्ति प्रवाहित हो उठती है, रसना पर रसामृत की गगा आलोडित हो उठती है, नयनो में श्रीवृन्दावन की केलि-माधुरी समा जाती है। दयाराम भाई परम भागवत सन्त थे, महान भगवद्रसिक थे। भक्ति-साहित्य के इतिहास मे उनकी सरस वाणी का सिंदूर अमिट है, वे गुजराती साहित्य के कर्णधारो मे से एक स्वीकार किये जा सकते है। जिस प्रकार मराठी भक्ति-साहित्य में नामदेव के अभिनव सस्करण के रूप मे तुकाराम ने भगवच्चिन्तन किया, पाण्डुरग विट्ठल का गुणानुवाद गाया उसी प्रकार गुजराती भक्ति-साहित्य में नरसिंह मेहता के नवीन सस्करण के रूप में दयाराम भाई ने कृष्ण की लीला से अपनी वाणी सफल की, श्रीनाथ नन्दनन्दन का चरित्राकन किया।

दयाराम भाई के जीवन काल मे राजनीति के क्षेत्र मे मुगल राजसत्ता अपने तीसरे पहर पर थी। प्लासी के युद्ध से बगाल और बिहार तथा उत्तर प्रदेश में अग्रेजी कम्पनी की शक्ति बढ रही थी, पानीपत के तीसरे ऐतिहासिक युद्ध के परिणामस्वरूप मराठा राजशक्ति की वृद्धि को बडा धक्का लगा, मराठे विविध राजसघ में विभक्त हो गये तथा दिल्ली के पैर उखड गये। अवध के नवाब स्वतन्त्र बादशाह हो गये, निजाम ने हैदराबाद में अपनी स्वतन्त्र सत्ता

स्थापित कर ली। ऐसी विकट और अशान्ति पूर्ण राजनैतिक स्थिति में भगवती नर्मदा के तट पर दयाराम भाई ने जन्म लिया। कृष्ण-भक्ति से भारतीय चेतना को पुष्पित और पल्लवित कर उन्होने वल्लभकुल के चरणाश्रय से पुष्टि-मार्ग के इतिहास में गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। वे वल्लभाचार्य के मत के परम रसवेत्ता थे। वे कवि, भक्त और सन्त के अलौकिक समन्वय थे। उनके भक्ति पूर्ण गरबो--पदो का गान कर गुर्जर रमणी आत्मविभोर हो जाया करती हैं। नरसिंह मेहता ने गुर्जर काव्य-देवी के मन्दिर का द्वार खोला, प्रेमानन्द ने उनका सौन्दर्य-दर्शन कराया तो दयाराम भाई ने उनकी भक्ति प्रदान की। दयाराम भाई ने गुजराती लोक-जीवन को भागवत प्रेम और दिव्य विरह के मधुर आनन्द और सरस पीडा की अनुभ्ति से मम्पन्न किया। उनकी रसमयी स्थिति श्रीकृष्ण मे थी।

दयाराम भाई के पूर्वज नागर ब्राह्मण थे। उनका कुल परम वैष्णव था। उसमें बडे-बडे विद्वानो और भक्तो ने समय-समय पर जन्म लिया था। उनके मूर्व पुरुष राघव भट्ट बडे विख्यात थे। राघव भट्ट के वशज प्रभुराज जी बडे विद्वान और भक्त थे। उनकी पत्नी महालक्ष्मी अथवा राजकुँवर बाई थी। प्रभु राम जी बडे शान्त, सुशील और सात्विक स्वभाव के थे तथा राजकुँवर बाई अष्टाक्षर मन्त्र का जपकर शेपशायी नारायण का नित्य दर्शन करने जाया करती थी। भगवानकी कृपा से भाद्रपद द्वादशी—वामनद्वादशी को सम्वत् १८३३ वि मे दयाराम भाई को सौभाग्यवती राजकुँवर ने जन्म दिया। उस समय राजकुँवर बाई अपने पिता के घर डमोई-दर्भावती में थी। प्रभुराम नर्मदा के तट पर चाणोद ग्राम में रहते थे। दयाराम भाई के विकास पर माता-पिता के सच्चरित्र का बडा प्रभाव पडा था। उनकी देखरेख में दयाशकर अथवा दयाराम भाई का पालन-पोषण हुआ। दयाराम भाई की बाल्यावस्था में उनके घर पर एक ज्योतिषी आये। ज्योतिपी ने उनकी हस्तरेखा देख कर माता-पिता को वतलाया कि आप के घर में वहुत बडे भगवद्भक्त ने जन्म लिया है, वे असख्य जीवो को भगवान श्रीकृष्ण की पदारविन्दभक्ति प्रदान कर आप के कुल का यशविस्तार करेगे। उनकी कृपा से असख्य प्राणी कलि के प्रकोप से मुक्त हो कर भक्ति के साम्राज्य मे निवास करेगे। उनके पिता की बडी इच्छा थी कि दयाराम भाई अधिकाधिक विद्या पढें तथा पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तो के अनुयायी वने। दयाराम भाई ने पिता का स्वप्न सत्य मे रूपान्तरित कर दिया।

दयाराम भाई को भगवन्निष्ठा प्रदान करने में प्राकृतिक वातावरण की दिव्यता और पवित्रता का बहुत बडा योग स्वीकार किया जा सकता है। नर्मदा नदी के रम्य तट पर स्थित चाँणोद के निवास ने दयाराम भाई के जीवन में सात्विकता भर दी । शेपशायी भगवान के मन्दिर की सीढी पर बैठ कर वे नित्य नर्मदा के अप्रतिम सौन्दर्य का निरीक्षण किया करते थे। उन्हे इस वातावरण ने कविता प्रदान की, कवि हृदय से विभूपित किया। उल्लेख मिलता है

'अति शुभ गुर्जर मवि दछिन प्रयागरुचिर,
महासरित श्रीनर्मदा अति शुचि उत्तर तीर ,
निकट निपट ह्वाँ चण्डीपुरी विप्रन को शुचि थान,
जिहि राजत हे सदा श्री शेपशाइ भगवान
सो पुरी मध्य निवास कवि।'

'प्राचीन काव्य माल' के इस उल्लेख से दयाराम भाई के पवित्र जीवन पर विशेष प्रकाश पडता है।

वाल्यकाल में दयाराम भाई अपनी माता के साथ शेपशायी भगवान के मन्दिर में जाया करते थे। वे देखने में वडे सुदर और मृदुल तथा मधुर स्वभाव के थे। कभी-कभी पुजारी से कहा करते थे कि महाराज एक वार मुझसे भी भगवान की सेवा करा लीजिये । पुजारी का उनमें वडा स्नेह था। सेवा का अवसर पुजारी की कृपा मे उन्हे मिलता रहता था। वे मदिर से पान लेकर उछलते-कूदते घर आते थे। माता-पिता ऐसे भगवद्भक्त वालक को देखकर अपने अनुपम सौभाग्य की सराहना करते थे। इस प्रकार उनकी भगवन्निष्ठा धीरे-धीरे वढती गयी। वे पद लिख कर प्रेम से भगवान को सुनाया करते थे। दयाराम भाई ने शेपशायी का स्तवन किया, उनकी भारती प्रस्फुटित हो उठी

'प्रथम प्रणमु श्री गुरुना पाय रे शेपशायी छोगाला।
श्री मद्वल्लभ विठ्ठल व्रजराय रे शेपशायी छोगाला ॥
सदा शोभावे वैकुण्ठधामरे शेपशायी सुखसिंधु।
नित्य लीला नूतन अभिराम रे शेपशायी सुखसिंधु ॥
म्होरु मनोहर मदिर भासेरे श्रीपति शेप शायी।
दर्शन थी पाप ताप दूर न्हासे रे श्रीपति शेपशायी ॥
व्हालो आनन्द मगल रूप रे, शात रूप शेपशायी जी।
विभु अखिल भुवनना भूप रे शात रूप शेपशायी जी ॥'

दयाराम भाई ने भगवान शेष शायी की कृपा के फलस्वरूप नर्मदा तट को वैकुण्ठ के रूप में देखा। उन्होंने नर्मता की स्तुति की कि हे नर्मदा, मैं आप की शरण मे हूँ। हे भवनन्दिनी, मुझे आप का दर्शन परम आनन्द देता है। आप पतित पावनी और अधम उद्धारिणी हैं। ब्रह्मा आपका पार नही पा सके। जो आप के निर्मल जल मे स्नान करते है उन्हे सकल पदार्थ प्राप्त होते है। मैं आपका दास हूँ, प्रेम से स्तवन करता हूँ।

श्री कृष्ण की लीला-कथाओ मे दयाराम भाई को बड़ा आनन्द मिलता था। विवाह की बात उठने पर उन्होंने मा से कहा कि मेरा सम्बन्ध श्रीकृष्ण से करना चाहिये। वे रात-दिन कृष्ण-प्रेम में निमग्नरहते थे। सुख-दुख मे उन्हे भगवान कृष्ण की ही लीला का अनुभव होता था। पिता ने गगा नाम की कन्या से उनका विवाह कर दिया। जब वे दस साल के बालक थे, गृहस्थी का भार उनके कोमल कधो पर छोड कर प्रभुराम भट्टस्वर्ग चले गये। घर मे हाहाकार मच गया पर इस सकटमयी परिस्थिति मे भी दयाराम का भगवद्-विश्वास अडिग रहा। उनकी दृढ धारणा थी

'मूल कृष्ण इच्छा विना, डोले नही इकपात।
ऐही दृढ चित्त राखिये, लाख बात की बात॥
सुख-दुख लाभ अलाभ सब, सहज होय, मतरोय।
लिखि राख्यो नन्दलाल सो मेटि सके न कोय॥'

निस्सन्देह उनका बाल्यजीवन अद्‌भुत था। पूर्ण रूप से प्रभु के चरण कमल में उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया था। भगवान कृष्ण के चिंतन और स्मरण मे अपने समय का सदुपयोग करने लगे। माता राजकुवर के उपदेशो से वे वैराग्यमय जीवन की ओर द्रुत गति से बढने लगे। भक्त कवियो के पद और भजन गा कर प्रभु को रिझाते रहना ही उनके जीवन का परम ध्येय हो गया। माता ने उन्हे ससार की असारता का स्वरूप समझाया तथा भागवत चेतना प्रदान की। दयाराम भाई ने कृपा की लीलाओ का वर्णन करना आरम्भ किया और वैकुण्ठवास की पवित्र तथा निष्काम याचना की, भक्ति माँगी, निवेदन किया।

"दयो'दाम भूतल भक्ति माँगे ने
छु दास माहेलो दास।
दर्शन देजो दिल मा रहेजो।
देजो वैकुण्ठ मा वास॥'

उनके मन में पत्नी के प्रति वैराग्य भाव बढता गया। गृहस्थाश्रम मे वैराग्य का वरण भगवान की भक्ति का भूषण कहा जाता है। वे ससार के प्रति अनासक्त हो उठे। कुछ दिनो के बाद उनकी माता का देहावसान हो गया। वे भगवद्भजन के लिये पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गये। उनके जीवन पर इच्छा राम भट्ट का बडा प्रभाव पडा था। इच्छा राम भट्ट भगवद्भक्त थे। उनके समागम से दयाराम भाई के हृदय में कृष्ण भक्ति की बाढ आ गयी। ज्यो-ज्यो आयु बढती गयी त्यो-त्यो उनके मन में श्रीकृष्ण की रसमयी भक्ति पुष्ट होती गयी। दयाराम भाई की चेतना एक नवयुवती की तरह कृष्ण की रस-केलि मे आसक्त हो उठी। सत दयाराम भाई का यौवन-काल परम रसमय था। वे काव्य और सगीत के सहारे भागवत रस की अनुभूति अपने जीवन में उतार रहे थे। इच्छा राम भट्ट महान भगवदीय थे। दयाराम भाई को उन्होंने भागवत धर्म के प्रचार की प्रेरणा दी। वे कभी-कभी डाकोर में रणछोड जी के दर्शन के लिये आया करते थे। एक बार दयाराम भाई चाणोद से डभोई जा रहे थे। उस समय सयोग से इच्छा राम भट्ट शेषशायी भगवान के दर्शन के लिये चाणोद आये हुए थे। वे वैष्णवो की मण्डली में कथा कह रहे थे। सत दयाराम भाई कथा में उपस्थित थे। इच्छा राम भट्ट की कृपा-दृष्टि उन पर पड गयी। उन्होने दयाराम भाई को भगवान का गुणानुवाद करने की आज्ञा दी। दयाराम भाई के कीर्तन और पद गान से महाभागवत इच्छा राम बहुत प्रसन्न हुए।

दयाराम भाई से उन्होंने एकान्त मे कहा कि तुम तो साक्षात् नरसिंह मेहता के अवतार हो। भगवान ने तुम्हे अपनी रसमयी भक्ति के प्रचार के लिये ही धरती पर भेजा है। उनके सम्बन्ध मे पद रच कर भागवत धर्म का विस्तार करो, तीर्थों मे घूम-घूम कर सन्त-महात्माओ का सत्सग-लाभ करो। जीवन सफल हो जायेगा। इच्छाराम भट्ट की शिक्षा के अनुसार दयाराम भाई ने सम्पूर्ण भगवदीय आचारण अपनाया। वे मार्गशीर्ष और सावन मास मे डाकोर जा कर रणछोड रायजी का दर्शन करते थे और इच्छाराम जी का सत्सग करते थे। उन्होने एक पदमे अनुभव लिखा है, उनकी उक्ति है.

'राजरूपाला द्वारकाधीश रे धन्यजेणे नयणे निरख्या रे।
जेने तरसे छे वेदविधि ईश रे धन्य जेणे नयनो निरख्या रे॥'
चालो निरखिअे रणछोड रायरे ठाकोर डाकोर ना॥

दयाराम भाई ने भगवान शेष शायी की कृपा के फलस्वरूप नर्मदा तट को वैकुण्ठ के रूप मे देखा। उन्होने नर्मता की स्तुति की कि हे नर्मदा, मैं आप की शरण में हूँ। हे भवनन्दिनी, मुझे आप का दर्शन परम आनन्द देता है। आप पतित पावनी और अधम उद्धारिणी हैं। ब्रह्मा आपका पार नही पा सकें। जो आप के निर्मल जल मे स्नान करते हैं उन्हे सकल पदार्थ प्राप्त होते हैं। मै आपका दास हूँ, प्रेम से स्तवन करता हूँ।

श्री कृष्ण की लीला-कथाओ मे दयाराम भाई को बडा आनन्द मिलता था। विवाह की बात उठने पर उन्होने मा से कहा कि मेरा सम्बन्ध श्रीकृष्ण से करना चाहिये। वे रात-दिन कृष्ण-प्रेम मे निमग्नरहते थे। सुख-दुख में उन्हे भगवान कृष्ण की ही लीला का अनुभव होता था। पिता ने गगा नाम की कन्या से उनका विवाह कर दिया। जब वे दस साल के बालक थे, गृहस्थी का भार उनके कोमल कधो पर छोड कर प्रभुराम भट्टस्वर्ग चले गये। घर मे हाहाकार मच गया पर इस सकटमयी परिस्थिति मे भी दयाराम का भगवद्-विश्वास अडिग रहा। उनकी दृढ धारणा थी

'मल कृष्ण इच्छा विना, डोले नही इकपात।
अेही दृढ चित्त राखिये, लाख बात की बात।।
सुख-दुख लाभ अलाभ सब, सहज होय, मतरोय।
लिखि राख्यो नन्दलाल सो मेटि सके न कोय।।'

निस्सन्देह उनका बाल्यजीवन अद्भुत था। पूर्ण रूप से प्रभु के चरण कमल मे उन्होने आत्मसमर्पण कर दिया था। भगवान कृष्ण के चिंतन और स्मरण में अपने समय का सदुपयोग करने लगे। माता राजकुवर के उपदेशो से वे वैराग्यमय जीवन की ओर द्रुत गति से वढने लगे। भक्त कवियो के पद और भजन गा कर प्रभु को रिझाते रहना ही उनके जीवन का परम ध्येय हो गया। माता ने उन्हे ससार की असारता का स्वरूप समझाया तथा भागवत चेतना प्रदान की। दयाराम भाई ने कृपा की लीलाओ का वर्णन करना आरम्भ किया और वैकुण्ठवास की पवित्र तथा निप्काम याचना की, भक्ति मॉगी, निवेदन किया।

"दयो'दाम भृतल भक्ति मॉगे ने
छु दास माहेलो दास।
दर्शन देजो दिल मा रहेजो।
देजो वैकुण्ठ मा वास।।'

समय था। महाराज श्री से भोग आने पर श्रीनाथ जी ने कहा कि आज मेरा मन अप्रसन्न है। चाणोद वाले नागर ब्राह्मण दयाराम भाई ने आज मुझे ऐसी खरी-खोटी सुनायी है जो सुनाने योग्य न थी। दयाराम ने कहा है कि पाण्डवो को सताप मिला और कौरवो ने सुख पाया, हरिश्चन्द्र को विश्वामित्र ने सताया पर उन्हे दण्ड नही दिया गया, शिशुपाल और अजामिल तथा गणिका आदि वैकुण्ठ गये पर परम भक्त हनुमान भूतल पर भ्रमण करते हैं, अघासुर ने सद्गति पायी पर दशरथ को गति न मिल सकी। श्रीनाथ जी ने महाराज श्री को बताया कि दयाराम भाई को मन्दिर से बाहर निकालने पर ही मैं राजभोग स्वीकार करूँगा। प्रभु की विचित्र गति का रहस्य निगमागम से परे है, उनकी लीला का पता मानवीय बुद्धि को किस तरह लग सकती है। महाराज श्री ने दयाराम भाई को मन्दिर से बाहर कर दिया। दयाराम भाई को तनिक भी दुख न हुआ। इसमें उन्होने अपने आराध्य की प्रसन्नता का अनुभव किया। वे मन्दिर से थोडी दूर पर नदी के तट पर जाकर बैठ गये। अष्टाक्षर मन्त्र का जप करने लगे। 'श्रीकृष्ण शरण मम' मन्त्र सारे वातावरण में परिव्याप्त हो उठा। उन्होने अन्न-जल का त्याग कर दिया। भगवान का दर्शन न मिले-इससे बढ कर दूसरा अभाग्य है ही क्या ? वे प्रभु के विरह में कातर होकर रोने लगे। नयनो से अश्रु-प्रवाह उमडने लगा। उन्होने बडे दैन्य और भक्ति से श्रीनाथ जी का स्तवन किया

'शरण पडयो छुरे श्रीहरि
न थी मारे अवर आश विश्वास।
श्री वल्लभवर ना रे लाडिला
अनन्य आप तणे हुँ दास॥'

दूसरा पद गाया कि हे गिरिधर लाल मुझे अपना दर्शन दीजिये। वृन्दावन के कुज में मुझे अपने चरण का दास्य प्रदान कीजिये। तीसरे पद में उन्होने हृदय की सारी करुणा अकित कर दी। उनके अश्रु की बाढ से विरह का परदा हट गया। अपने प्रणेश्वर श्रीनाथ जी को मन्दिर के बाहर से ही करुण स्वर में दयाराम भाई ने पद सुनाया, अपनी ओर आकृष्ट किया

'हो श्रीनाथ जी मोपे रहे क्यो रिसाय,
मेरे पियु सुखदाय, हो श्रीनाथ जी,
दरस-परस की प्यासी तलफत अखियाँ

रणछोड राय के चरणो में सन्त दयाराम भाई ने निवेदन किया

'दुर्लभ दर्शन रे श्री डाकोर नाथ तणु।
जेने मली झाँकी रे तेनु तो उग्र भाग्य घणु॥'

वे इच्छा राम जी के आदेश से तीर्थयात्रा के लिये निकल पडे। इस समय उनकी अवस्था केवल अठारह साल की थी। भगवान की कृपाशक्ति के चरणो में अपने योगक्षेम का भार समर्पित कर वे निश्चित हो गये। उन्होने श्रीनाथ द्वारा की यात्रा की, अपने आराध्य देव श्रीनाथ जी की दिव्य शृगार मयी छवि देखने के लिये उनका मन परम आकुल था। उनकी वीणा के तार श्रीनाथ जी के शृगार के पद गाने के लिये विकल हो उठे। श्रीनाथ जी के समक्ष उन्होने जो निष्ठा प्रकट की वह पुष्टिसिद्धान्त साहित्य में एक सरस वैचिश्र्य है। श्रीकृष्ण उनके परम प्रियतम प्राणाधार थे, हृदयेश्वर थे।

श्रीनाथद्वारा में उन्होने महाराज श्री की कृपा से निवास कर भगवान के प्रेम का लोगो को आस्वादन कराया। वे तीन मास तक रह गये। नित्य नये पद सुनाकर श्रीनाथ जी का मनोरञ्जन किया करते थे। उन्होने प्राणाधार मधुखेष धारी नटवर नन्दकुमार के शोभा-वर्णन से श्रीनाथद्वारा में भक्तिरस की सरिता प्रवाहित कर दी। सत कवि दयाराम भाई की भक्ति से प्रसन्न होकर ललित त्रिभङ्गी लाल श्रीनाथ जी ने उनको प्रत्यक्ष दर्शन दिया, दयाराम भाई की वाणी साक्षी है

'श्री गोवरधनलाडिलो रे, सगे श्यामा प्यारी।
युगल स्वरूप आ जोइने, ठरे आँषडी म्हारी॥'

भगवान् की कृपा से ही जीव को उनका दर्शन होता है, उनके रूप-लावण्य की माधुरी का आनन्द प्राप्त होता है। भक्त की प्रत्येक वात में भगवान को सुख मिलता है और भगवान की प्रत्येक लीला से भक्त आनन्दित होता है। दोनो की चरित्र-लीला एक-दूसरे के सुख-सम्वर्धन के लिये होती है। एक वार दयाराम भाई ने श्रीनाथ जी को उलाहना दी, उपालभ का पद सुनाया कि जो आप का भजन करता है उसे आप सताप देते है पर जो विमुख रहता है उसे आप सुख प्रदान करते हैं। भजन सुनाकर तथा भगवान को प्रणाम कर वे मन्दिर मे वाहर चले आये। सेवक ने सेव्य के प्रति ऐसा भाव दिखलाया। श्रीनाथ जी की लीला का स्रोत उमड पडा। वे उलाहना सुन कर रूठ गये। राजभोग का

दयाराम भाई श्रीनाथद्वारा से काँकरोली गये। काँकरोली से मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि की यात्रा की। यमुना जी की वडी सुदर स्तुति की। हृदय में युगलरूप की उपस्थिति का वरदान माँगा, कहा कि हे माता, मुझे एक बार अपना पुत्र कह कर स्वीकार कर लो। गिरिराज में उन्हे युगल-स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। वे चन्द्रसरोवर–आदि वृन्दावन गये। उन्होंने सम्पूर्ण व्रज मण्डल–चौरासी कोस की परिक्रमा की। व्रजरस की अनुभूति से अपनी काव्यमयी वाणी का शृगार किया। उन्होने तीर्थयात्रा मे सात साल लगाये। द्वारका की भी यात्रा की थी। उन्होने नन्दनन्दन की वशी ध्वनि और कुजकेलि की रमणीयता तथा पुष्टिमार्ग उपासना की सरस्वती, कालिन्दी और गगा के परम पवित्र सगम पर स्नान कर अपना जीवन अलौकिक, दिव्य और भागवत वना लिया।

तीर्थयात्रा से लौटने पर दयाराम भाई ने वडौदा के गोस्वामी श्रीवल्लभ लाल जी महाराज से ब्रह्म-सम्बन्ध लिया। महाराज श्री ने उन्हें भगवान मदन मोहन जी की सेवा सौंपी। गुरु मे उनकी वडी निष्ठा थी। गुरु-सेवा को उन्होंने अपने जीवन मे वडी महत्ता दी। उन्होंने गुरु के सम्बन्ध मे एक स्थल पर कहा है।

'महा मगल रूप श्रीगुरु देव श्रीमहाप्रभो
जाके पद पद्मको प्रथम सिर नाइये।
नाम लेत उदय होत आनन्दकन्द,
पाप-ताप टरत छवि ध्याइये।।
ब्रह्मा शिव विष्णु पर ब्रह्म सो गुरु राइ
सकल तीरथ आदि अघ्रि रज नाइये।
'दयो' कहे आचरज अधिक को दूजो नाहि
गुरु सेवा चितामनि इच्छित फल पाइये।।'

बाईस साल की अवस्था में सत दयाराम भाई ने डभोई को ही अपना स्थायी निवास स्थान चुना। डभोई में वैष्णवो की सख्या अधिक थी, उनके मध्य में भगवच्चर्चा करने मे उनको वडी सुविधा होती थी। वे कभी-कभी वडौदा, चाणोद, अहमदावाद, सूरत और भरुच तथा श्रीनाथद्वारा आदि स्थानो में भी जाया करते थे। वे आठो याम भगवान की सेवा का रसास्वादन करते रहते थे।

सन्त दयाराम भाई पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। पुष्टि-सिद्धान्त के अनुसार भगवद्भजन करते रहना ही उनके जीवन का परम ध्येय था। पुष्टिमार्ग के

श्रीमुख देहो देखाय हो, श्रीनाथ जी।
दोष समुझ के दूर रहत हो श्रीनाथ जी
किंकरी कहो कहाँ जाय, हो श्रीनाथ जी।
हाँ हाँ करि कर जुरी नक घस कहुँ
अचरा पसार परूँ पाय हो श्रीनाथ जी।
कहा बडाई पैहो, समरथ प्रभु,
दीन दासी तरसाय, हो श्रीनाथ जी।
अवल आशपूरक दया प्रीतम
अव मोहि केहो अपनाय, हो श्रीनाथ जी॥'

तीन दिन तक भक्त भूखा रहे और भगवान भोजन स्वीकार करे—यह असम्भव बात थी प्रभु के कृपा-साम्राज्य में। राजभोग आने पर श्रीनाथ जी ने महाराज श्री से कहा कि मेरा भक्त तीन दिनो से मन्दिर के बाहर विना अन्न-जल ग्रहण किये मेरा चिंतन कर रहा है, मैं तीन दिनो से भोग नही स्वीकार कर रहा हूँ। महाराज श्री आश्चर्य चकित हो गये, निवेदन किया कि प्रभु, आप की लीला कितनी अद्भुत है! आप के ही सकेत से दयारामभाईके लिये मदिर के पट वन्द कर दिये गये थे, आप का चरित्र समझ में नही आ सकता है। श्री नाथ जी ने महाराज श्री को प्रेरणा दी कि मै तो बालक था, मेरे कहने से आपने दयाराम भाई को बाहर क्यो निकाल दिया। आप को तो विवेक था, आपने क्यो नही विचार किया। मैंने तो यो ही कह दिया था। आप उन्हे शीघ्र वुलाकर प्रसन्न कीजिये। भोजन कराइये तव मैं राजभोग स्वीकार करूँगा। श्रीनाथजी की वैभवश्री भक्त के चरण देश में नत हो गयी। दयाराम भाई को यह जान कर वडा दु ख हुआ कि प्रभु मेरे कारण तीन दिन तक भूखे रह गये, कितना बडा अपराव हो गया प्रभु के प्रति। उनके हृदय को वडा धक्का लगा। वे मन्दिर में गये। महाराज श्री ने भोजन करने का आग्रह किया, दयाराम भाई ने कहा कि मेरे कारण प्रभु को तीन दिनो तक भूखा रहना पडा। महाराज श्री ने कहा कि जव तक आप प्रसाद नही ग्रहण करेगे प्रभु भोग नही स्वीकार कर सकते। लोगो के समझाने-वुझाने पर उन्होने थोडा-सा दूध ग्रहण कर लिया, प्रभु ने भक्त को प्रसन्न कर राजभोग स्वीकार किया। श्रीनाथद्वारा से विदा होते समय उन्हे महाराज श्री ने श्रीनाथ जी का उपरणा प्रदान किया जिसे वे प्रेमपूर्वक वहुत दिनो तक ओढते रहे।

'गुजरिया तू क्यो न बोले, तेरो पियजी बोलावे तो बोल।
श्रीराधे तू क्यो न बोले, तेरो पियजी बोलावे तो बोल ॥
देखन देरी तेरो वदन चन्द्र मोहियो कर लियो चितचोर।
मत कर हठ गोरी मन मोहन सो, हँस कर घूंघट खोल।
'दया' के प्रीतम जी के प्राण की प्यारी, कोई त्रिया नही तेरे तोल ॥'

राधाकृष्ण के लीला-स्मरण में ही उनकी साधना का स्वरूप प्रतिष्ठित है।

उन्होने अपने मन को सावधान किया कि तुम श्रीकृष्ण की ही शरण में रहो, ससार-सागर से तरने के लिये श्रीकृष्ण नाम की नौका का आश्रय ग्रहण करो। संसार में वही सुरक्षित है जिसका हाथ नन्दनन्दन ने पकड लिया है। दयाराम भाई का मन भगवान कृष्ण के भक्तिरस में पूर्ण मुग्ध और आसक्त था।

सत दयाराम भाई ने गुजराती साहित्य के भगवद्भक्तिपक्ष को अपनी रचनाओ से विशेष रूप से समलकृत किया। उन्होने शृगाररस और उसके देवता श्रीकृष्ण का एकात्म बोध प्राप्त किया, दोनो की एकरसता का अनुभव किया। पुष्टि सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता प्रचलित है कि वे किसी गोपी के अवतार थे, प्रणय -कलह होने पर उन्हे विरह हुआ, कलियुग में श्रीकृष्ण का यश गाने के लिये उन्होने जन्म लिया। सत दयाराम भाई की उक्ति ह कि श्रीकृष्ण से प्रेम हो गया। पूर्व प्रीति का अनुभव मेरे मन में फिर से जाग गया है। उन्होने गोपीभाव में पूर्ण विभोर होकर श्रीकृष्ण को अपने प्रियतम के रूप में देखा। यह भी मान्यता है कि गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी महाराज के शिष्य–अष्टछाप के नन्ददास के अवतार थे। भगवान ने उनको एक बार स्वय बताया था कि तुम हमारे सखा नन्ददास के अवतार हो। दयाराम भाई का अमित कडा नियम था कि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मैं किसी दूसरे के सम्बन्ध में नही लिखूंगा। दयाराम भाई के काव्य का विभाजन भगवद् लीलात्मक, भगवद् गुणात्मक, सिद्धान्तात्मक तथा उपदेशपरक और आख्यानात्मक है। उनका काव्य स्नेह-शास्त्र है, भागवत प्रेम-साहित्य है। कवि का कथन है कि स्नेहशास्त्र में व्रज की गोपी ही परम मर्मज्ञा है। दयाराम भाई के गरबे गुजराती कठ के शृगारालकार हैं, भागवतरस मे ओतप्रोत है। सन्त दयाराम भाई का प्रत्येक कार्य श्रीकृष्ण की ही प्रसन्नता के लिये था, उन्ही के लिये खाते-पीते, ओढते-पहनते, सोते-जागते और रोते-हँसते थे। वे उच्च कोटि के भगवद्रसिक थे। उनके तन पर झीनी हरीकिनारी वाली अहमदावादी धोती, झीने मलमल की चौबन्दी और अगरखे, लाल रंग

सिद्धान्त सक्षेप में ये है कि 'जगत सत्य है। जगत, जीव, अन्तर्यामी अक्षर आदि का निमित्त और उपादान कारण शुद्ध निर्गुण ब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ही एक हैं। जीव-अविद्या से कल्पित अहताममतात्मक ससार मिथ्या है। जीव अणु ह, शुद्ध निर्गुण ब्रह्म का अश है। व्यापक नही है। परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का धाम अक्षर ब्रह्म गणित आनन्द है। सर्वोपरि वेदादि शास्त्र प्रतिपादित परमोत्कृष्ट वस्तु श्रीकृष्ण हैं। एक श्रीकृष्ण की सेवा ही जीव का धर्म है। आत्म निवेदन और प्रभु की प्राप्ति के बिना कुछ और धर्म है ही नही। दयाराम भाई की इन सिद्धान्तो में पूरी-पूरी आस्था थी, इन्ही के अनुसार उनका सम्पूर्ण आचरण था। भगवच्चिन्तन को ही दयाराम भाई ने विश्वधर्म, स्वधर्म और परम धर्म स्वीकार किया। उन्होने अष्टछाप के कवियो—सूरदास-नन्ददास तथा अन्य कृष्ण काव्यकार चन्द्रसखी, सुखरामदास, मीराबाई, नरसिह मेहता और प्रेमानन्द, सामल तथा भालण आदि की रचनाओ से भवगच्चिन्तन की काव्यमयी प्रेरणा प्राप्त की। जागतिक जीवन में भगवत्सम्बन्ध को ही उन्होने वास्तविक सम्बन्ध स्वीकार किया। उन्होने दिव्य प्रेम-साम्राज्य में केवल गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण को ही स्वामी वताया। उनकी उक्ति है.

'एक वर्यो गोपीजन वल्लभ नही स्वामी बीजो,
नही स्वामी बीजो रे म्हारे नही स्वामी बीजो।
और कोईनु काम म्हारे रीझो के खीजो,
श्रीकृष्ण करे ते प्रमाण, कारज वणसो के सीजो॥'

उनका समग्र जीवन श्रीकृष्ण के चरण पर समर्पित था। श्रीकृष्ण ही उनके परम प्रेमास्पद थे, सत दयाराम भाई की साधना गोपीप्रेमपरक थी। श्रीकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति ही उनकी पराभक्ति की दिव्य प्रतीक थी। दयाराम भाई ने भगवान के लीलारूप की व्याख्या में अपने 'सम्प्रदायसार' ग्रन्थ में कहा है, वैदिक सिद्धान्त की परिपुष्टि की है

'ब्रह्म एक निजरमणहित, पृथक नाम वपु वारि।
क्रीडत सव जग आप नित, निगमागम उच्चारि॥'

उन्होंने गुजराती साहित्य को श्री राधाकृष्ण की सरस विहार-लीला से समृद्ध किया है। उन्होने राधारानी के मानिनी-स्वरूप का एक पद में अत्यन्त मौलिक चित्रण किया है।

'गुजरिया तू क्यो न बोले, तेरो पियजी बोलावे तो बोल।
श्रीराधे तू क्यो न बोले, तेरो पियजी बोलावे तो बोल॥
देखन देरी तेरो वदन चन्द्र मोहियो कर लियो चितचोर।
मत कर हठ गोरी मन मोहन सो, हँस कर घूंघट खोल।
'दया' के प्रीतम जी के प्राण की प्यारी, कोई त्रिया नही तेरे तोल॥'

राधाकृष्ण के लीला-स्मरण में ही उनकी साधना का स्वरूप प्रतिष्ठित है।

उन्होने अपने मन को सावधान किया कि तुम श्रीकृष्ण की ही शरण में रहो, ससार-सागर से तरने के लिये श्रीकृष्ण नाम की नौका का आश्रय ग्रहण करो। ससार मे वही सुरक्षित है जिसका हाथ नन्दनन्दन ने पकड़ लिया है। दयाराम भाई का मन भगवान कृष्ण के भक्तिरस में पूर्ण मुग्ध और आसक्त था।

सत दयाराम भाई ने गुजराती साहित्य के भगवद्भक्तिपक्ष को अपनी रचनाओ से विशेष रूप से समलकृत किया। उन्होने शृगाररस और उसके देवता श्रीकृष्ण का एकात्म बोध प्राप्त किया, दोनो की एकरसता का अनुभव किया। पुष्टि सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता प्रचलित है कि वे किसी गोपी के अवतार थे, प्रणय -कलह होने पर उन्हे विरह हुआ, कलियुग में श्रीकृष्ण का यश गाने के लिये उन्होने जन्म लिया। सत दयाराम भाई की उक्ति ह कि श्रीकृष्ण से प्रेम हो गया। पूर्व प्रीति का अनुभव मेरे मन में फिर से जाग गया है। उन्होने गोपीभाव मे पूर्ण विभोर होकर श्रीकृष्ण को अपने प्रियतम के रूप में देखा। यह भी मान्यता है कि गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी महाराज के शिष्य–अष्टछाप के नन्ददास के अवतार थे। भगवान ने उनको एक वार स्वय वताया था कि तुम हमारे सखा नन्ददास के अवतार हो। दयाराम भाई का अमित कडा नियम था कि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मै किसी दूसरे के सम्बन्व में नही लिखूंगा। दयाराम भाई के काव्य का विभाजन भगवद् लीलात्मक, भगवद् गुणात्मक, सिद्धान्तात्मक तथा उपदेशपरक और आख्यानात्मक है। उनका काव्य स्नेह-शास्त्र है, भागवत प्रेम-साहित्य है। कवि का कथन है कि स्नेहशास्त्र में व्रज की गोपी ही परम मर्मज्ञा है। दयाराम भाई के गरवे गुजराती कठ के शृगारालकार है, भागवतरस मे ओतप्रोत हैं। सन्त दयाराम भाई का प्रत्येक कार्य श्रीकृष्ण की ही प्रसन्नता के लिये था, उन्ही के लिये खाते-पीते, ओढ़ते-पहनते, सोते-जागते और रोते-हँसते थे। वे उच्च कोटि के भगवद्रसिक थे। उनके तन पर झीनी हरीकिनारी वाली अहमदावादी धोती, झीने मलमल की चौवन्दी और अगरखे, लाल रंग

की नागरी पगडी का शृगार अद्भुत और परम मनोमोहक दीख पडता था। एक बार वे बनठन कर कही जा रहे थे, किसी ने उनसे पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं, दयाराम भाई ने उत्तर दिया कि मैं अपने प्रियतम प्राणाधार श्रीकृष्ण से मिलने जा रहा हूँ।

सन्त दयाराम के जीवन की विभूति विनम्रता थी, वे मधुर और शान्त स्वभाव के प्राणी थे। एक बार डभोई में गायकवाड नरेश महाराजा फतहसिंह का आगमन हुआ। महाराज ने उनका दर्शन किया और पद गाने की प्रार्थना की। दयाराम भाई ने तानपूरे पर दो तीन पद गाये। उन्होने नरसिंह मेहता का 'वृषभानुसुता राधिका रहित वाधिका' पद गाया। फतहसिंह ने कहा कि महाराज आप साक्षात् नरसिंह मेहता हैं। दयाराम भाई ने दैन्यपूर्वक विनम्रता से कहा कि मैं तो उनके चरणो की धूलि हूँ—यही मेरा परम सौभाग्य है।

दयाराम भाई बडी स्वाभिमानी प्रकृति के सत थे। श्रीकृष्ण मे उनकी अव्यभिचारिणी रति थी। एक बार पेटलाद से एक नागर गृहस्थ उनसे मिलने आया। दयाराम भाई के सामने भगवतत्त्व की विवेचना करने लगा। वे शान्त होकर उसकी सारी बाते सुन रहे थे। वह शैव था। बात-ही-बात में वह शिव की स्तुति में बह कर श्रीकृष्ण की निंदा कर बैठा। दयाराम भाई से अपने प्रियतम की निंदा नही सही गयी। वे शीलपूर्वक घर में चले गये, बाहर न आये। नागर गृहस्थ को अपनी भूल का ध्यान आया, चला गया। दयाराम भाई आशुकवि थे। श्रीकृष्ण की भक्ति ही उनकी कविता की आधारशिला थी। उन्होने आजीवन श्रीकृष्ण का शृगार गाया। उन्होने प्रेमरस की गगा बहायी, अलौकिक प्रेम का दान दिया। नर्मदा का चिरन्तन कलख उनकी काव्य-गरिमा का अक्षय प्रतीक है।

उनका अन्तिम समय पूर्ण रसमय था, भगवद्मय था। दयाराम भाई के अन्तिम पन्द्रह दिनो के उद्गार अत्यन्त करुण और हृदयद्रावक हैं। उनके शिष्य वसन्त राय तानपूरा बजाते थे तथा रणछोडदास गाते रहते थे। दयाराम भाई बडे मनोयोग से उनके पदगान का रसास्वादन करते थे। एक बार अवस्था अधिक बिगडने पर वसन्तराय ने एक वैद्य बुलाया। दयाराम भाई ने वैद्य से कहा कि महाराज, मुझे ऐसी दवा दीजिये जिससे मरण-भय का रोग चला जाय। दुख-सुख तो सहना शरीर का धर्म ही है। दयाराम भाई ने तानपूरा लेकर स्वय एक भजन गाया कि हे मन, अपने प्रियतम के देश में चलना चाहिये। गोलोक-प्राप्ति के आठ दिन पहले ही उन्होने अपनी अन्त्येष्टि क्रिया की विधि

समझा दी। अन्त समय मे तमूरे पर रणछोडदास ने एक पद गाया कि हे मन' अन्त समय है, असावधान होकर सोना नही चाहिये। दयाराम भाई ने कहा कि भाई मै तो सावधान था। शिष्य ने दूसरा पद गाया

'मारा अत समे अलवेला मुजने मूकशो मा।
दरसन दो नीरे दास ने मारा गुणनिधि गिरिधरलाल॥'

सम्वत् १९०९ वि में माघ वदी पचमी को प्रभात काल में कृष्ण का स्मरण कर वे गोलोक गये। अन्त समय में रमण रेती यमुना जी के जल और श्रीनाथ जी की गाय के गोवर का उनके लिये उपयोग किया गया। वे परम रसिक, महान भगवदीय और विलक्षण सन्त थे।

रचना

अद्भुत मञ्जरी, वृदावनविलास, सारावली, रसिकवल्लभ आदि ग्रन्थ तथा अनेक सरस गरवो की दयाराम भाई ने रचना की।

वाणी

मोहन रट लागी श्री राधे-राधे।
प्रानप्यारी हे कीर्ति कुमारी, श्री रसरूप आगाधे॥
रोम रोम रमा रमि रही, लागी प्रेम समाधे।
मुंदे नैन, चैन विनु वोले वचन आधे-आधे॥
गुन अनूप अकल गति ईस अवाधे।
सो हरि 'दया' प्रीतम पिय सो, क्यो न सरस रति साधे-साधे॥

हे जी वशी वारे के नोकीले नैन।
भला वशी वारे के नोकीले नैन॥
वीर मोहे तीर सो, भटु, मोहे तीर सो लगे,
मेरे प्यारे के नोकीले नैन।
वशी वारे के नोकीले नैन॥
रैन दिवस मोहि कल न परत पल,
रैन द्योस हो विकल रहत हो,
हे जी भला पलक परत नही चैन।

हे जी वशी वारे के नोकीले नैन।
हँसी मन्द मानो मदन की फाँसी वे
हे जी सुधा बोरे सलोने बैन।
'दया' के प्रीतम बिन रह्यो न परत वे
'दया' के प्रीतम बिन रह्यो न परत पल
हे जी भला छिन-छिन सतावत मैन।
हे जी वशी वारे के नोकीले नैन।

श्रीकृष्ण गोविंद गोपाल गोकुलेश,
गोपी जन वल्लभ, गोबरधन धरन धीर।
परब्रह्म पुरुषोत्तम प्राणनाथ पद्मनाभ
पद्मकान्त, हरत तन-पीर।।
भक्तवत्सल दीनबन्धु, दुष्ट निकन्दन
जगन्नाथ जगद्गुरु, बालकृष्ण बलवीर।
यशोदोत्सगलालित नन्दलाल, राधिकेश
'दया' विहरत श्री यमुना तीर।

श्रीगिरिधारी प्रानप्रिया राधा, नाम सो भागे भव-बाधा।
कृपा सागरी तु कल्यानी, वल्लभा वृन्दावन रानी।।
पिता वृषभानु कीरति माता, शेष शिव जननी सुखदाता।
दया करि 'दयो' शरन राखो, दास तिहारो श्रीमुख भाखो।।

महात्मा रामचरण

प्राणी कर लो राम सनेही।
विनस जायगी एक पलक में या गंदी नरदेही॥
रातो मातो विषय स्वाद में परफूलित मन माहीं।
जीव तणा आया जमकिंकर पकडि ले गाया बाहीं॥
मूरख मगन भयो माया में मेरी करि करि माने।
अंतकाल में भई बिगाणी सूतो जाय मसाने॥
राग रग रूप नर नारी सब ह्वय जाहिगे खाका।
'जन हरिराम' रहेगा अम्मर एक नाम अल्ला का॥
—रामसनेही हरिरामदासजी

उस प्राणी के अभाग्य का विवेचन नही किया जा सकता है जो, यह जान कर भी कि ससार असार है, इसके सम्बन्ध क्षणिक है, देह नश्वर है, सिर पर काल नाच रहा है, भगवान का भजन नही करता है। निम्सन्देह सर्वगुणातीत, सर्वगुणमय निर्गुण-सगुण और निगुर्ण सगुण से भी परे निरञ्जन तथा सर्व-जनरञ्जन सर्वलोकलोकेश्वर राम के पदारविंद-मकरन्द का रसास्वादन जन्म-जन्मान्तर के पुण्ययज्ञ का महाप्रसाद है। वह प्राणी धन्य है जो भगवान के ही चिंतन, ध्यान, मनन और स्मरण में आत्मविभोर रहता है। महात्मा रामचरण एक ऐसे ही उच्च कोटि के महात्मा थे, वे निरन्तर रामरस की असीम समाधि में आत्मलीन रहते थे। वे रामसनेही सम्प्रदाय के उच्चकोटि के सन्त-महात्माओं में परिगणित हैं। जो कार्य महाराष्ट्र मे सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रामदास और तुकाराम ने किया उसी का सम्पादन राजस्थान में महात्मा रामचरण के हाथ से सम्पन्न हो सका। रामसनेही-सम्प्रदाय वैष्णव पथ है। मारवाड में रवेडापा, मालवा मे उज्जैन और मेवाड में शाहपुरा इसके मुख्य केन्द्र है। रामचरण जी महाराज ने शाहपुरा को पवित्र किया था। शाहपुरा उनकी तपस्या से चिर गौरवान्वित है। रामसनेही साधु-सन्त राजस्थान और मध्य-भारत मे अधिक पाये जाते है।

उस स्थान के लोगो का परम सौभाग्य है जिसके कण-कण सन्त-महात्माओ की उपस्थिति से प्रतिक्षण धन्य होते रहते है, वहाँ के लोग कितने पुण्यशाली होते हैं जहाँ सन्त जन्म लेते है। महाराज रामचरण का प्राकट्य राजस्थान में ढूढाड मण्डल के सोडा नामक ग्राम में स १७७६ वि की माघ शुक्ल चतुर्दशी को हुआ था। वे वीजावर्गीय वैश्य कुल में पैदा हुए थे। उनके पिता वकत राम जी बडे गरीब थे। उनके सस्कार उच्च कोटि के थे। उनके सच्चरित्र ने रामचरण जी के जीवन-विकास को अमित प्रभावित किया। रामचरण जी का वचपन का नाम रामकृष्ण था। वे बडे होनहार और प्रतिभासम्पन्न थे। साधु-सन्तो के प्रति उनके मन में स्वाभाविक प्रेम था, यद्यपि वे दूकान पर बैठे रहते थे तथापि उनका मन भगवान के ध्यान में निरन्तर लगा रहता था। रामनाम का उच्चारण सुनते ही वे प्रसन्नता से नाच उठते थे। एक दिन वे सो रहे थे, अचानक एक ब्राह्मण ने उनके चरण में वज्र का चिह्न देखा, वह आश्चर्यचकित हो गया कि ये तो महान सत हैं, इकतीस साल के हो जाने पर भी ये छिपे क्यो रह गये। रामकृष्ण की ममता राम में वढती गयी, सासारिक प्रपच और विपय विकार से उनका मन ऊबने लगा।

एक दिन दोपहर को वे दूकान पर बैठे थे। अचानक उनकी आँख लग गयी। उन्होने स्वप्न मे देखा, "एक वहुत वडी नदी द्रुत गति से वह रही थी, उसमें मै स्नान कर रहा था कि इतने में डूबने लगा, नदी के किनारे एक महात्मा खडे थे, मै चिल्लाया—'वचाओ, वचाओ।' महात्मा ने मुझे डूवने से वचा लिया।" आँख खुलने पर नदी और महात्मा दोनो अदृश्य हो गये। रामकृष्ण जी ने स्वप्न की गम्भीरता पर विचार किया कि यह ससार एक भयानक नदी के समान है, इसमें डूवते प्राणियो की रक्षा सन्त-महात्मा ही कर सकते हैं। उन्होने दूकान को प्रणाम किया और स्वप्न में देखे हुए महात्मा की खोज मे निकल पडे। वनो में भटकते रहे, मठो को देखा पर उनको महात्मा न दीख पडे। इस यात्रा में धीरे-धीरे उन्हे ससार की अनित्यता का वोध होने लगा अन्त करण निर्मल हो गया, भगवान ही परमाश्रय है — यह वात उनके मन में वैठ गयी। परिस्थि-तियो मे विकट सघर्प करते हुए वे मेवाड के दाँतडा ग्राम में आ पहुँचे, वहाँ उन्हे कृपाराम जी सन्त का सत्सग प्राप्त हुआ था। उन्होने सत के चरण में निवेदन किया कि महाराज, यह ससार मुझे काट खा रहा है, इसके विपय-सुख विप से भी कडे हैं, इनमें शान्ति का सर्वथा अभाव है, मै ससार के ताप से जल रहा

हूँ, मुझे मुक्ति का पथ बताइये। कृपाराम जी महाराज ने सोचा कि कहीं ऐसा तो नही है कि रामकृष्ण अपने घर मे चिढ कर भाग आये है, उन्होने घर लौट जाने की सम्मति दी पर रामकृष्ण की दृढ निष्ठा और वैराग्य-प्रवृत्ति से वे मत्रदीक्षा देने के लिये विवश हो गये। उन्होने योग्यता की परख की और भगवत-तत्त्व का उपदेश दिया। रामकृष्ण का नाम सत की कृपा से रामचरण हो गया। महाराज कृपाराम ने सन्त रामचरण को रसोई का काम सौंपा। एक दिन वे भोजन बना रहे थे। चूल्हे में लकडी लगा रहे थे। एक लकडी में अनेक चीटियाँ थी, आग के प्रकाश से वे लकडी मे से निकल कर बिल की ओर भाग रही थी। महात्मा रामचरण के हृदय में दया का स्रोत उमड पडा

'महाराज! ससार आपके सम्पर्क मे भी मेरा पीछा नहीं छोडता है।' उन्होने करुण स्वर से कृपाराम के सम्मुख आत्मोद्धार की प्रार्थना की। कृपाराम ने उनके मन का भाव समझ लिया। उन्होने राममत्र का उपदेश देकर एकान्त में जाकर भजन-साधन करने का आदेश दिया। रामचरण भीलवडी में आकर सयमपूर्वक भगवान राम का भजन करने लगे। उनकी ख्याति से आकृष्ट होकर अधिकाधिक सख्या में लोग उनका दर्शन करने के लिए आने लगे। शाहपुरा नरेश उनसे बहुत प्रभावित थे, वे उनसे कभी-कभी मिलने आया करते थे। उन्होने महात्मा रामचरण से शाहपुरा में पधारने और निवास करने की प्रार्थना की। पहले तो सन्त रामचरण ने जाना अस्वीकार कर दिया पर बाद मे राजा की श्रद्धा-भक्ति ने उनको विवश कर दिया। उन्होने राजा से कहा कि मैं शाहपुरा में नदी के तट पर श्मशान में रहूँगा। सन्त रामचरण जी शाहपुरा के श्मशान में रहने लगे। उस स्थान पर उन्हे एक सिद्ध महात्मा की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे उनकी सेवा में लग गये। सन्त ने रामचरण महाराज की सेवा से प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे हाथ से जगत का उद्धार होगा। तुम्हारे सम्पदाय की निर्मल कीर्ति सौ साल तक निरन्तर बढती ही रहेगी। सन्त के स्वर्गवास के बाद रामचरण महाराज विकट तपस्या में लग गये। उन्होने गूदड-वेष धारण किया और पचीस साल तक तप करते रहे। तीन-तीन दिनो तक उनकी समाधि लगी रहती थी। समाधि-काल में उनके श्रीमुख से निकले पद शिष्य लोग लिख लिया करते थे। महाराज को जब इसका पता लगा तो उन्होने पदसग्रह नदी मे फेंकवा दिया और प्रभु से क्षमा-प्रार्थना की कि मैं कुछ नही करता, सब कुछ (राम) आप करते है, यदि मुझमें करने का अभिमान हो जाय तो

यह मेरी बहुत बडी भूल है। मना करने पर भी शिष्यो ने अमूल्य पद लिखना बन्द न किया, रामचरण जी महाराज ने छत्तीस हजार से अधिक साखियो की रचना की। रामसनेही-पथ में उनकी वाणी वेद के समान आदरणीय है।

रामचरण जी महाराज निर्गुण रामतत्व के उपासक थे। उनकी गुरुनिष्ठा उच्च कोटि की थी। गुरुतत्व की महिमा का बखान उनके पदो और साखियो में अधिकता मे मिलता है। वे अपने शिष्यो को निर्गुण राम-महामन्त्र का उपदेश देने थे। निर्गुण-रामतत्व के सम्बन्ध में रामचरण महाराज की उक्ति है कि राम बडे कृपालु है, वे जीव को अपनी भक्ति में प्रतिष्ठित कर समत्वयोग का दान देते हैं उनको वाणी है

'शिव सनकादिक शेष लो रटत न पावै अत।
रामचरण वदन करै नमो निरञ्जन कत॥'

रामचरण जी महाराज के राम चिदानन्दघन सुख-राशि है, निरालब, निर्लेप और अकल तथा अन्तर्यामी है, वे लोक-लोकान्तर में परिव्याप्त चिन्मय परम प्रकाश है। सत रामचरण ने कहा

'नमो राम रमतीत सकल
व्यापक घणनामी।
सव पोपै पतिपाल सवन
का मेवक—स्वामी।
करुणामय करतार कर्म
सव दूर निवारै।
भक्त वछलना विरद भक्त
तत्काल उधारै।
गमचरण वदन करै सव
ईसन के ईस।
जगपालक तुम जगत गुरु
जगजीवन जगदीस।'

निर्गुण राम और गुरु में उन्होंने तनिक भी भेद नही माना। सारे ससार का पालन करने वाले जगदगुरु जगदीश राम के चरण देश में महात्मा गमचरण ने सव कुछ समर्पित कर दिया। श्रीराम में उनका अटिग विश्वाम था। उनकी उक्ति है

'राम राम सब कोइ कहै, ब्रह्मा विष्णु महेश।
रामचरण साचा गुरु, देवे यो उपदेश॥'

महात्मा रामचरण जी महाराज रामसनेही सम्प्रदाय के मूलाचार्य स्वीकार किये जाते है। उन्होने बाह्याचार के स्थान पर मानसी उपासना-अन्तर्मुखी पूजा-पद्धति पर विशेष जोर दिया। इस सम्प्रदाय में आचरण और यति-जीवन के नियम कड़े है, अत्यन्त सयत जीवन ही इस सम्प्रदाय के महात्माओ का ध्येय रहता आया है। रामचरण महाराज ने यति-धर्म-पालन को बड़ा महत्व दिया। उनकी अपने शिष्यो के प्रति सीख थी कि गुरु देव ही मुक्ति के साधन है। उनकी कृपा से जीव भवसागर के पार लग जाता है। उन्होने अहिंसा को अपनाने की सीख दी। महाराज रामचरण ने कहा कि गुरु की सेवा करने से ही निर्गुण-निरञ्जन तत्व का अनुभव होना है, परम ज्योति का दर्शन प्राप्त होता है, गुरु में निष्ठा भाव करने मे गोविंद मिलने ही है, इस उक्ति में सशय नही करना चाहिये,--ऐसा उनका दृढ मत था शिष्यो के प्रति उनकी उक्ति है

'प्रथम कीजे गुरु की सेवा।
ता सग लहे निरजन देवा॥'

'प्रथम गुरु सू भाव वढावे।
गुरु मिलिया गुविन्द कु पावे॥'

रामचरण महाराज ने राम-नाम को ही जागीर माना, उनके शिष्यो में योगिराज रामजन जी महाराज असाधारण कोटि के सत थे।

रामचरण महाराज ने शाहपुरा में ही स १८५५ वि की वैशाख कृष्ण पचमी को शरीर त्याग दिया। ऐसा कहा जाता है कि महाराज का शरीर जब चिता पर उठा कर रखा जा रहा था तब उठाते समय शरीर मे से रामनाम की ध्वनि हुई और उससे समस्त वातावरण आलोकित हो उठा। चिता में महाराज की माला और कौपीन को आगने तनिक भी स्पर्श नहीं किया। शाहपुरा में उनकी सगमरमर की समाधि है। प्रतिवर्ष फाल्गुन मे उनकी समाधि पर बहुत बडा मेला लगता है। रगपचमी से ही सतो की मण्डली आने लगती है और रामनवमी को वे अपने-अपने स्थान के लिये चल पड़ते है, उत्सव का विशेष आयोजन रहता है और सन्तो को आदरपूर्वक विदा किया जाता है। महाराज रामचरण की समाधिस्थली का नाम राम-निवास है, इस स्थान पर सदा तीन-

चार सौ साधु-महात्मा रहा करते हैं। रामचरण जी महाराज साकार वैराग्य और तप थे।

रचना

रामचरण महाराज की प्रसिद्ध रचनाओं में 'नामप्रताप' और 'शब्द-प्रकाश' विशेष उल्लेख्य है।

वाणी

कहबो सुणबो देखबो चित की चितवन जाण।
'रामचरण' इनके परै अकहब्रह्म पीछाण॥
रामराम रसना रटौ, पालो शील सँतोष।
दया भाव क्षमा गहो, रहो सकल निर्दोष॥
मन खण्डे रामहि भजे तजे जगत गृह कूप।
'रामचरण' तब परसिये आतम शुद्ध स्वरूप॥

निशिवासर हरि, आगे नाचू।
चरणकमल की सेवा जाचू॥
स्वर्गलोक का सुख नहिं चाऊँ।
जन्म पाय हरिदास कहाऊँ॥
चार पदारथ मना विसारूँ।
भक्ति विना दूजो नहिं धारूँ॥
रिधि-सिधि-लक्ष्मी काम न मेरे।
सेवू चरण शरण रहुँ तेरे॥
शिव सनकादिक नारद गावै।
सो साहिब मेरे मन भावै॥

रूठा राम रिझाय मनाऊँ, निशिवासर गुण गाऊँ हो।
नटवा ज्यूँ नाटक कर मोहूँ, सिधू राग सुणाऊँ हो॥
शील सँतोष दया आभूषण, क्षमा भाव बढाऊँ हो।
सुरति-निरति साँई में राखूँ, आन दिशा नहिं जाऊँ हो॥
गर्व गुमान पाव से पेलूँ, आपो मान उडाऊँ हो।

साहिब की सखियन सूँ कबहूँ, राग द्वेष नहिं लाऊँ हो ॥
पाँचूँ पकड पचीसूँ चूरूँ, त्रिगुण कूँ बिसराऊँ हो।
चौथो दाव चेत कर खेलू, मौज मुक्ति की पाऊँ हो ॥
इस विधि करके राम रिझाऊँ, प्रेम प्रीति उपजाऊँ हो।
अनत जनम को अन्तर भागो, 'रामचरण' हरिभाऊँ हो ॥

आनँदघन सुखराशि चिदानँद कहिये स्वामी।
निरालब निरलेप अकल हरि अन्तरयामी ॥
वार पार मध्य नाहि कौन विधि करिये सेवा।
नहि निराकार आकार अजन्मा अविगत देवा।
'रामचरण' बदन करै अलह अखण्डित नूर।
सुखम थूल खाली नही रह्या सकल भरपूर ॥

महात्मा सरयूदास

वंदा कर ले वदगी पाया नर-तन सार।
जो अब गाफिल रह गया, आयु बहे झख मार॥
आयु वहे झखमार, कृत्य नहिं नेक बनायो।
पाजी वेईमान कौन विधि जग में आयो॥
कहत दीनदरवेश फँस्यो माया के फन्दा।
पाया नर-तन सार बदगी कर ले बदा॥

—सत दीनदरवेश

परम भागवत नरसी मेहता, महाज्ञानी भक्त अखा, और रसिक भक्त दयाराम भाई की सरस वाणी से स्निग्ध गुजरात की धरती ने असख्य ज्ञानी, भक्त, योगी और सन्त-महात्माओ को अपनी वात्सल्यमयी गोद का समय-समय पर स्नेह-दान दिया है। इसी परम पवित्र भूमि में महात्मा सरयूदास ने अभी कुछ ही दिन पहले भगवद्भक्ति और कथा-कीर्तन से अगणित प्राणियो का जीवन चिर गौरवमय कर दिया। उन्होने भौतिक विज्ञानप्रधान युग को धर्म और विश्वास से आश्चर्यचकित कर आत्मज्ञान और भगवद्भक्ति से सम्पन्न किया, यही उनके भागवत जीवन की ऐतिहासिकता है। उनका जीवन विनम्रता, सत्यवादिता और मित भाषणकारिता का प्रतीक था। वे जगत के सुख-दुख से परम निरपेक्ष रह कर निर्भयतापूर्वक भगवच्चिन्तन किया करते थे। अपरिग्रह और जड-चेतन—समस्त सृष्टि के प्रति समदृष्टि का उनमें आधिक्य था। परोपकार को महात्मा सरयूदास वहुत वडा पुण्य मानते थे। दीनहीन असहाय जनो की सेवा-सुश्रूषा के लिये वे लोगो को अधिकाधिक प्रोत्साहन देते रहते थे। वे आत्मानन्दी महात्मा थे, सदा अपने आप में दिव्य शाति का अनुभव करते थे।

महात्मा सरयूदास का जन्म अहमदावाद जनपद के पाटडी ग्राम में सम्वत् १९०४ वि की श्रावण कृष्ण अष्टमी को हुआ था। उनके पिता प्रभुदास और माता गगा वहिन की आस्तिकता और भगवन्निष्ठा ने सरयूदास के वाल्य जीवन

को सात्विकता और दिव्य गुणो से सम्पन्न कर दिया था। सरयूदास का परिवार परम पवित्र और भागवत था। सरयूदास के भाई का नाम गोविन्द था, काशी और जमुना नाम की दो वहिने भी थी। उनकी वाल्यावस्था मोशल में बीती, मोशल के वजा भगत और जोइताराम भगत के सम्पर्क में उन्होने सत्सग और ईश्वरभक्ति का अपार आनन्द प्राप्त किया। उनके वचपन का नाम भोगीलाल था। उनके मामा ने उनको दूकान का कार्य सौप दिया, वे उन्हें घर-गृहस्थी के कार्य में व्यस्त रखना चाहते थे। मामा को प्रसन्न रखने के लिये वे दूकान पर बैठे रहते थे पर मन अनवरत भगवान का चरण-चिंतन किया करता था। उनके समस्त सस्कार भक्तिमूलक थे। भगवान के प्रति अडिग विश्वास ही उनका एक मात्र धन था।

अल्पायु में ही उनका विवाह हो गया था। थोडे ही समय के वाद पत्नी का देहावसान हो गया। उन्होने इस घटना में प्रभु का मगलमय विधान देख कर अपने आप को वन्धनमुक्त अनुभव किया। सगे-सवन्धियो ने दूसरे विवाह का प्रस्ताव रखा, महात्मा सरयूदास ने अस्वीकार कर दिया। धीरे धीरे उनकी वैराग्य-वृत्ति वढने लगी। एक दिन ग्राम में चार-पाच सत आये। दोपहर का समय था। भिक्षा माँगने का समय समाप्त हो गया था। भोगीलाल की दृष्टि सन्तो पर पड गयी। उनके देखते सन्त भूखे ही रहते किस तरह? भोगीलाल ने घर में आटे की खोज की पर आटा केवल ढाई सेर था, इतने से काम चलने वाला नही था, वे स्वय आटा पीसने बैठ गये और आनन्दपूर्वक पर्याप्त आटे से सन्तो के भोजन की व्यवस्था की। यह घटना सकेत करती है कि सन्त-सेवा मे उनकी कितनी रुचि थी।

एक दिन वे अपने मामा की दूकान पर बैठे हुए थे। शाम का समय था। अचानक मन्दिर मे घटानाद सुन पडा। भगवान की आरती हो रही थी। वे समस्त वाह्यज्ञान से शून्य होकर आरती-दर्शन के लिये मन्दिर की ओर चल पडे। दूकान में ताला लगाने तक की वात का स्मरण न रहा। दूसरे दिन मामा विगडने लगे तो वे मौन और उदासीन हो गये। तनिक भी सतप्त न हुए।

भोगीलाल पाटडी में रहने लगे। एक समय पाटडी में दैवयोग से नगवाडा की ओर से महात्मा भगवानदास जी का आगमन हुआ। उनके साथ अनेक शिष्य थे। वे वड के नीचे धूनी रमा कर बैठ गये। भोगीलाल उनके सत्सग से प्रभावित हुए। भगवानदास के शिष्य आत्मा राम भोगीलाल के वैराग्य पूर्ण जीवन से

बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने अपने गुरु से भोगीलाल को शिष्यरूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की। महात्मा भगवानदास ने भोगीलाल को गुरुमन्त्र प्रदान कर उनका नाम सरयूदास रखा। गाँववालो मे कानाफूसी आरम्भ हो गयी कि इतनी कम अवस्था में भोगीलाल का सन्यास लेना कदापि उचित नही है। उन्होने भोगीलाल को एक कमरे में तीन दिनो तक बन्द रखा पर इसका कुछ भी परिणाम न हुआ। महात्मा भगवानदास ने पाटडी छोड दिया। इधर बन्धनमुक्त होते ही महात्मा सरयूदास गुरु की खोज में चल पडे। गुरु से भेंट होने पर वे उन्ही के साथ पर्यटन करते-करते अहमदाबाद आये। इस पर्यटन-काल में उन्होनें गुरु की सेवा की और निश्चित मन से शास्त्रो का अध्ययन किया।

दरियापुर वाडी ग्राम मे त्रिकमदास पटेल ने सरयूदास महाराज की सेवा में मुरलीधर मन्दिर समर्पित किया, महाराज तो स्वच्छन्द रूप से विचरते रहने वाले सन्त थे, यह समर्पण उनके लिये भार का विषय था पर भगवान की कृपा से मन्दिर में अन्नक्षेत्र की स्थापना हो गयी और सरयूदास महाराज का भार हलका हो गया। कुछ दिनो के पश्चात् महात्मा भगवानदास ब्रह्मलीन हो गये। मुरलीधर-मन्दिर में भगवद्विग्रह की सेवा का कार्य आत्माराम जी ने सम्हाला। महात्मा सरयूदास एकान्त-सेवन करने लगे। उनके जीवन का अधिकाश भगन्नाम-कीर्तन, कथा और सत्सग में ही बीतने लगा। कुछ दिनो तक अहमदाबाद में निवास कर वे पर्यटन के लिये निकल पडे। वे पूर्ण रूप से सन्यासी हो गये, मा का देहावसान होने पर वे उनके अग्नि-सस्कार में सम्मिलित हुए थे, उनकी अन्त्येष्टि की थी, इसके अतिरिक्त वे किसी भी लौकिक कार्य में नही पडे थे।

महात्मा सरयूदास आत्मानन्दी महात्मा थे। नश्वर शरीर का उनकी दृष्टि में कुछ भी महत्व नही था। समस्त जड-चेतन में वे आत्मदर्शन करते थे। एक बार गुजरात में बडा भयकर अकाल पडा। लाखो प्राणी भूख से मरने लगे। सब में अपने आप को देखनें वाले महात्मा सरयूदास का हृदय दया से द्रवित हो उठा। वे अकाल के दिनो में नित्य पचीस मन अनाज का रोट बनवाने लगे। प्रत्येक अतिथि को एक सेर रोट और दाल देने की व्यवस्था थी। इस प्रकार उन्होंने भगवान की कृपा से असख्य प्राणियो के प्राण बचाये। परोपकार और असहायो की सेवा में उनकी बडी रुचि थी।

जड-चेतन सब में उनकी ईश्वर-भावना थी। उन्होने किसी को भी शिष्य

के रूप में स्वीकार नही किया। यदि कोई श्रद्धालु व्यक्ति माला और तिलक आदि से समलकृत करना चाहता था तो स्पष्ट कह दिया करते थे कि भगवान मुरलीधर को समर्पित कर दो। वडी सावधानी से रास्ता चला करते थे कि कहीं ऐसा न हो कि पैर के तले कोई जीव दव जाय। यदि कोई वृक्ष का पत्ता लेने आता था तो उससे कह दिया करते थे कि वृक्ष में भगवान का निवास है, पत्ता तोड कर ले जाने के पहले वृक्ष से क्षमा-याचना करो।

वे नित्य शाम को मुरलीधर-मन्दिर में नियम पूर्वक श्रीमद्भागवत की कथा कहा करते थे, प्रात काल पारस भाग की कथा कहने का नियम था। उनकी कथा में अगणित व्यक्ति सम्मिलित होते थे। विशेप आगह पर उन्होने स्त्रियो के लिये भी कथा में वैठने की व्यवस्था करा दी थी। अन्त्यजो को भी महाराज की कृपा से कथा-श्रवण की पूरी-पूरी सुविधा प्राप्त थी। महाराज का सम्पूर्ण जीवन ही साधनामय था, भक्ति का प्रचार ही उनकी साधना का स्वरूप था। महाराज ने गुजरात में भागवत धर्म का प्रचार किया।

महाराज में हिन्दू, सिख, पारसी, ईसाई सव-के-सव समान रूप से श्रद्धा रखते थे। ढोलकावाले डाह्याभाई मनोरभाई पटेल वडे अकडवाले व्यक्ति थे। वे किसी के भी समाने मस्तक नही नत करते थे। एक वार उन्होने महाराज मे श्रद्धा व्यक्त करते हुए पत्र लिखा और महाराज की कथा मे गये। महाराज ने कहा, 'कृपानाथ, आप ने ही पत्र लिखा था।' सन्त की मीठी वाणी थी, सुनते ही पटेल महोदय महाराज के चरणो पर नत हो गये। उन्होने महाराज के दर्शन से अपने आप को धन्य कर लिया।

महाराज विनम्रता की मूर्ति थे। एक वार वे रेल की तीसरी श्रेणी मे वैठ कर डाकोर जा रहे थे। उनकी वगल में एक पठान वैठा हुआ था। सरयूदास महाराज को चिढाने के लिये वह अपने पैर उनकी ओर रह-रह कर वढाता और ठोकर मारता था। महाराज पूर्ण रूप से सावधान थे। उन्होने स्वाभाविक श्रद्धा से पठान के पैर पकड कर कहा, 'भैया, आप को चोट अवश्य लगी है, मुझे दिखाओ, सकोच मत करो।' पठान महाराज के नस्पर्श से आनन्दमग्न हो उठा, वह अपनी भूल के लिये पश्चात्ताप करने लगा और कहा, 'महाराज, आप औलिया है। वह उनके पैरो पर गिर पडा और क्षमा-याचना की।'

महाराज में लोभ नाम की वस्तु ही न थी। उनके पूर्वाश्रम की वहिन जमुना वाई अहमदावाद मे एक गरीव घर में विवाहित थी। महाराज के सम्पर्क

मे एक धनी व्यक्ति श्रीकम भाई आया करते थे। उन्होने महाराज से कहा कि बाई को प्रत्येक मास सौ रुपये सहायता रूप में देने का विचार है। महाराज उनके सामने तो मौन रहे पर जमुना बाई से उन्होने कहा कि इस प्रकार की सहायता स्वीकार करना उचित नही है, घर पर नित्य दस सेर आटा पीस कर मेहनत मजदूरी से रोटी-शाक पर जीवन बिताना कही हितकर है, बाई ने महाराज की सीख पर आजीवन आचरण किया। इस प्रकार महाराज की उच्च कोटि की त्याग-वृत्ति का पता चलता है।

महाराज सरयूदास मुरलीधर-मन्दिर मे नित्य भागवत की कथा कहते थे। एक दिन उनको कथा मे आने में देर हो गयी। बात यह थी कि महाराज कथा में आने के पहले नित्य साबरमती नदी में स्नान करने जाया करते थे। उस दिन महाराज को नदी तट पर एक रोगी दीख पडा। महाराज उसकी सेवा में लग गये। कथा मे जाने का ध्यान ही न रहा। विशेष विलम्ब हो चुका था, वे चल पडे। रास्ते में अहमदाबाद के मुरलीधर-मन्दिर से निकल कर आने वाले श्रोताओ ने कहा, 'महाराज, आज तो आप की कथा परम अमृतमयी थी, ऐसी कथा आपने किसी दिन और पहले तो कही न थी।' महाराज आश्चर्यचकित हो गये, उन्होने कहा, 'भैया, चिढाओ मत, आज मुझसे देर हो गयी, मै तो नदी के तीर पर रोगी की सेवा में लग गया।' श्रोताओ ने कहा कि 'महाराज, आप कहते क्या हैं ? आप सत्यवादी महात्मा है। हमने आप के मुख से भगवद् कथामृत का अपूर्व ढग से रसास्वादन किया है।' महाराज के नयनो से प्रेमाश्रु छलक पडा, उन्होने कहा कि आप लोग धन्य है, आज भगवान ने आप लोगो को साक्षात् दर्शन दिया, मै कितना अभागा हूँ, प्रभु को मेरे कारण इतना कष्ट उठाना पडा। महाराज आनन्दमग्न हो उठे भगवान की कृपा-वत्सलता पर।

महाराज लोक-प्रसिद्धि से वहुत दूर भागते थे। जन-सम्पर्क में उनका मन नही लगता था। एक समय की वात है। सात-आठ वजे रात के लगभग महाराज दूधेश्वर घाट पर काश्मीरी महादेव के मन्दिर में आकर नारायण जी महाराज की समाधि के निकट भगवान का स्मरण करने लगे। भीतर से एक साधु वाहर आये, उन्होने आत्मानन्द जी महाराज से कहा कि समाधि पर कोई सन्त भजन कर रहे है। आत्मानन्द जी ने एक गुंदडी दी, साधुपुरुष ने महाराज के पास रख दी पर महाराज ने उसका उपयोग न किया। दूसरे दिन सवेरे आत्मानन्द जी ने कहा कि आप भीतर क्यो न आये, आप ऐसे उच्चकोटि

के महात्मा का हम लोग तनिक भी स्वागत न कर सके। महाराज ने कहा कि आप की कृपा से एकान्त में वैठ कर प्रभु का स्मरण करता रहा, इससे वड कर दूसरा स्वागत क्या हो सकता है।

महाराज वडे सहनशील थे। एक समय दाहिने कान के नीचे गाँठ निकल आयी, शल्यचिकित्सा के लिये वम्वई से डाक्टर आया। महाराज ने क्लोरोफारम का उपयोग न होने दिया उन्होने आँख मूंद ली और शल्यक्रिया विधिपूर्वक सम्पन्न हुई। इसके वाद कई एक गाँठो के निकलने से उनकी कमजोरी वढती गयी। सम्वत् १९६८ वि की कार्तिक कृष्ण तृतीया को महाराज सरयूदास ने महासमाधि ली, समस्त अहमदावाद शोक-सागर में निमग्न हो गया। उनके शव को पालकी से श्मशान-भूमि में ले जाकर श्रद्धालुओ ने चन्दन काष्ठ की चिता पर दाह-सस्कार सम्पन्न किया। उस समय असख्य व्यक्ति उपस्थित थे। सरयूदास जी उच्च कोटि के महात्मा थे, विरक्त सत थे।

रचना

सरयूदास के उपदेश और वचन ही अमरकृति है।

वाणी

मृत्यु और ईश्वर का वार-वार स्मरण रखना चाहिये। दूसरे का धन पत्थर के समान और परस्त्री को माता के समान समझना चाहिये।

सत्य, हितकारी और प्रिय वचन वोलना चाहिये। विना पूछे कोई वात नही वोलनी चाहिये।

वैर का वदला वैर से नही—प्रेम से लेना चाहिये। परोपकार से वढ कर न तो कोई पुण्य है और दूसरे को दुख देने से वढ कर न तो कोई पाप है।

प्रेम करना सहज है, निभाना कठिन है।

दश इन्द्रियो और मन को वश में रखना चाहिये। अपने आप को तथा जगत को ब्रह्मरूप मानना चाहिये। परब्रह्म परमात्मा राधा-कृष्ण युगल स्वरूप के श्रवण, कीर्तन, भजन तथा ध्यान में रहना चाहिये, कलियुग में ईश्वर-प्राप्ति का यही मार्ग है।

दुख में धैर्य और सुख में प्रभु को धन्यवाद देना उत्तम भजन है।

'सव में मेरी आत्मा है'—सव में इस प्रकार का सर्वात्म भाव रखना चाहिये। आत्मा का नाता सत्य है, मिथ्या माया के वने पदार्थ का सम्वन्ध नच नही है।

योगिराज गम्भीरनाथ

आपा भाजिबा सतगुरु षोजिबा,
जोग पन्थ न करिबा हेला।
फिरि फिरि मनिषा जनम न पाइबा,
करि लै सिध पुरिस सू मेला॥

अहकार तोडना चाहिये—नष्ट कर देना चाहिये। सत्गुरु की खोज करनी चाहिये। योगपथ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बार-बार मानव योनि नहीं मिलती इसलिये सिद्ध पुरुष का सत्सग करना चाहिये।

—गोरखनाथ

योगिराज गम्भीरनाथ सिद्ध पुरुष थे। उन्होने हठयोग, राजयोग और लययोग के क्षेत्र मे आत्मसिद्धि प्राप्त की। नाथयोग-परम्परा मे इधर सात-आठ सौ वर्षों में उनके ऐसे योगी का दर्शन नही हुआ था। निस्सन्देह महात्मा गम्भीरनाथ पतञ्जलि और गोरखनाथ के समन्वय -सस्करण थे। ऋद्धियो और सिद्धियो ने उनके चरण-चिन्तन को अपना सौभाग्य -सिन्दूर समझा। वे शान्ति और गभीरता के उज्ज्वलतम रूप थे। वडे-वडे सन्तो और महात्माओ ने उनके चरणमें अपनी श्रद्धा सर्मापित कर आत्म मोक्ष का विधान प्राप्त किया। हिमालय से कन्या अन्तरीय तक के भूमि-भाग में वीसवी शताव्दी में इतने वडे योगी का दर्शन अन्यत्र दुर्लभ था। उन्होने मानवता को योग -शक्ति से सम्पन्न किया। उन्होंने योग-ब्रह्म—शिव का आत्मसाक्षात्कार -लाभ किया। भारत के प्राय ममस्त तीर्थों को अपनी चरण-धूलि प्रदान कर योगिराज गम्भीरनाथ ने उनकी महिमा मे विशेप अभिवृद्धि की। माना, योगिराज का प्राकट्य उस समय हुआ था जव भारत विदेशी शक्ति की अधीनता में था पर योगिराज गम्भीरनाथ के लिये तो भौतिक जगत की पराधीनता का कोई महत्व ही नही था, वे तो जागतिक प्रपच से अतीत थे। वे रहस्यपूर्ण ढग से आध्यात्मिक क्रान्ति का सृजन कर रहे थे, उनके योग-उदय काल में विदेशी शासन को निकाल वाहर करने के लिए

सन्त योगीराज गम्भीरनाथ

योगिराज गम्भीरनाथ

आपा भाजिबा सतगुरु षोजिबा,
जोग पन्थ न करिबा हेला।
फिरि फिरि मनिषा जनम न पाइबा,
करि लै सिध पुरिस सू मेला ॥

अहकार तोडना चाहिये—नष्ट कर देना चाहिये। सत्गुरु की खोज करनी चाहिये। योगपथ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बार-बार मानव योनि नहीं मिलती इसलिये सिद्ध पुरुष का सत्सग करना चाहिये।

—गोरखनाथ

योगिराज गम्भीरनाथ सिद्ध पुरुष थे। उन्होने हठयोग, राजयोग और लययोग के क्षेत्र में आत्मसिद्धि प्राप्त की। नाथयोग-परम्परा में इधर सात-आठ सौ वर्षों मे उनके ऐसे योगी का दर्शन नही हुआ था। निस्सन्देह महात्मा गम्भीर-नाथ पतञ्जलि और गोरखनाथ के समन्वय -सस्करण थे। ऋद्धियो और सिद्धियो ने उनके चरण-चिन्तन को अपना सौभाग्य -सिन्दूर समझा। वे शान्ति और गभीरता के उज्ज्वलतम रूप थे। वडे-वडे सन्तो और महात्माओ ने उनके चरणमे अपनी श्रद्धा समर्पित कर आत्म मोक्ष का विधान प्राप्त किया। हिमालय से कन्या अन्तरीय तक के भूमि-भाग में वीसवी शताव्दी में इतने वडे योगी का दर्शन अन्यत्र दुर्लभ था। उन्होने मानवता को योग -शक्ति से सम्पन्न किया। उन्होंने योग-ब्रह्म—शिव का आत्मसाक्षात्कार -लाभ किया। भारत के प्राय ममस्त तीर्थो को अपनी चरण-धूलि प्रदान कर योगिराज गम्भीरनाथ ने उनकी महिमा में विशेप अभिवृद्धि की। माना, योगिराज का प्राकट्य उस समय हुआ था जव भारत विदेशी शक्ति की अधीनता में था पर योगिराज गम्भीरनाथ के लिये तो भौतिक जगत की पराधीनता का कोई महत्व ही नही था, वे तो जागतिक प्रपच से अतीत थे। वे रहस्यपूर्ण ढग से आध्यात्मिक क्रान्ति का सृजन कर रहे थे, उनके योग-उदय काल में विदेशी शासन को निकाल वाहर करने के लिए

सन्त योगीराज गम्भीरनाथ

सन्त नागा निरकारी

वगाल तथा अन्य प्रान्तो मे सशस्त्र राजक्रान्ति की योजना कार्यरूप में परिणत हो रही थी, महात्मा गम्भीरनाथ ने राजनीतिक क्रान्तिकारियो की आध्यात्मिक पिपासा की तृप्ति की, अगणित वगीय युवको ने उनके पथ-प्रदर्शन में गम्भीर, अखण्ड और शाश्वत स्वतन्त्रता ज्योति--आत्मशान्ति का दर्शन किया।

महात्मा गम्भीरनाथ ने सिद्धयोगपीठ—गोरखनाथ की तपोभूमि गोरख-पुर को अपनी तपस्या से अक्षय समृद्धि प्रदान की। वे निरन्तर योगस्थ थे। वे श्रीगीता की भागवत-घोपणा —

'योगिनामपि सर्वेपा मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मा स मे युक्ततमो मत ॥'

—सम्पूर्ण योगियो मे भी जो श्रद्धावान् योगी मेरे में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझे ही निरन्तर भजता है वह मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है'— मे अटल विश्वास रखते थे। वे अन्तरात्मा में स्वस्थ थे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ योगी थे— धर्मतत्व के मर्मज्ञ और असाधारण आत्मज्ञ थे। उनके समकालीन महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी की मान्यता थी कि हिमालय के देश में—भारत देश में उनके ऐसा योगी कोई दूसरा नही है। विजय कृष्ण उनकी परम योगविभूति से वहुत प्रभावित थे। महात्मा गम्भीरनाथ की योग-साधना शैव दर्शन के सिद्धान्त की प्रतीक थी, वे शैव योगी होते हुए भी शुद्ध सच्चिदानन्द तत्व के निरपेक्ष और निष्पक्ष दृष्टा थे। उनका योग गोरखनाथ की योग-पद्धति का अनुगामी था। महात्मा गम्भीरनाथ ने गोरख की योग-साधना पद्धति का वीसवी शताब्दी में पूर्ण प्रतिनिधित्व किया और आजीवन अपने साम्प्रदायिक—नाथयोग परम्परागत सिद्धान्त पर अडिग रह कर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त किया। योग और ज्ञान का समन्वय किया।

महात्मा गम्भीरनाथ के पूर्वाश्रम के सम्वन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से कहना या लिखना आसान नही है। उनका जन्म विक्रमीय उन्नीसवी शताब्दी के चौथे चरण में काश्मीर राज्य के एक गाँव मे समृद्ध परिवार मे हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा साधारण ढग की थी। वचपन से ही उनके जीवन में योगाभ्यास के साम्राज्य मे प्रवेश करने के पहले विपय-सुख की सुविधा उपलब्ध थी पर उनका ध्यान उसकी ओर तनिक भी नही था। पूर्वाश्रम के सम्वन्ध मे पूछने पर वे कहा करते थे कि पपञ्च से क्या होगा। उनकी सासारिक पदार्थों में तनिक भी आस्था नही थी। धन-परिवार आदि से वे स्वाभाविक रूप से विरक्त थे।

जब वे युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे, उन्हे सूचना मिली कि गाव में एक योगी का आगमन हुआ है। योगी ने श्मशान में अपना निवास चुना था। वे योगी से श्मशान में मिलने गये। उन्होने वडी श्रद्धा से कहा कि महाराज, घर पर मेरा मन,नही लगता है। ससार के विपय-भोग मुझे काट खाते हैं। मै योगाभ्यास करना चाहता हूँ।'

योगी नाथ-सम्प्रदाय के थे। उन्होने गम्भीरनाथ से कहा, 'तुम, गोरखपुर जाकर गोरखनाथमठ के महन्त योगी बाबा गोपालनाथ जी महाराज से योग-दीक्षा लो। मै तुम्हारी महत्वाकाक्षा से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम उच्च कोटि के योगी होगे।'

गम्भीरनाथ योगी के आदेश से गोरखपुर के लिये चल पडे। वे गोरखनाथ मठ में आये। लोग उन्हे देख कर आश्चर्य चकित हो गये। उनके पास पर्याप्त रूपये थे, उन्होने अच्छे से अच्छा रेशमी कपडा पहन रखा था। वे देखने में बडे सौम्य और सुदर थे। महन्त गोपालनाथ से मिलने पर उनके चरणो में उन्होने आत्मार्पण कर दिया। गोपालनाथ महाराज ने नाथ -सम्प्रदाय के योगमार्ग में दीक्षित कर लिया। राजकीय वेष का परित्याग कर गम्भीरनाथ ने कौपीन धारण कर योगसाधना के निष्कटक राज्य में प्रवेश किया। गोपालनाथ जी महाराज ने उनकी शान्त मुद्रा से प्रसन्न होकर 'गम्भीरनाथ' नाम प्रदान किया, निस्सन्देह वे गम्भीरता के परम दिव्य सजीव समुद्र ही थे। वावा गोपालनाथ की महती कृपा-दृष्टि पाकर मठ में निवास कर योगाभ्यास करने लगे। उनकी गुरुनिष्ठा उच्च कोटि की थी। वे गुरु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे। उन्होने वडी तत्परता और तप से अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। वे मौन रहा करते थे, सत्यचितन और मठ के आवश्यक कार्यों के समीचीन सम्पादन में लगे रहते थे। वावा गोपालनाथ ने धीरे-धीरे उनको मठ के उपास्य की पूजा-अर्चा में नियुक्त करना आरभ किया, गम्भीरनाथ की उपस्थिति से गोरखनाथ मठ में शान्ति साकार हो उठी। उन्हे गुरु ने प्रसन्न होकर पुजारी का कार्य-भार सौंपा। इस प्रकार गम्भीरनाथ के तपोमय साधना-जीवन में कर्मयोग-भक्तियोग के उदय ने ज्ञानयोग—परम अन्तरस्थ ज्योति के दर्शन का पथ प्रशस्त कर दिया। वावा गोपालनाथ की प्रसन्नता और कृपा से अभिभूत गम्भीरनाथ की प्रारम्भिक योग-भावना पर देवी-पाटन के योगी शिवनाथ का भी अमित प्रभाव था।

गम्भीरनाथ ने योग-साधना के लिये काशी की पैदल यात्रा की। वे वनमार्ग से विना भूख-प्यास की चिंता किये चले जा रहे थे। उनका प्रभु की कृपा पर दृढ विश्वास था। तीसरे दिन वे भूख से नितान्त परिश्रान्त हो गये पर शेष शारीरिक शक्ति पर निर्भर होकर वे पुनीत महातीर्थ की ओर बढते जा रहे थे। रास्ते में उनकी एक परिचित ब्राह्मण से भेंट हुई। वह उन्हे देखते सारी स्थित समझ गया। निकटस्थ गाँव से दूध-चूरा लाकर भोजन करने का आग्रह किया, वह जानता था कि गम्भीरनाथ ने भोजन के सम्बन्ध में रास्ते मे किसी से कुछ बातचीत न की होगी। गम्भीरनाथ ने भगवत्कृपा समझ कर भोजन कर लिया। काशी पहुँचने पर उन्होने कुछ दिनो तक गगा के एक निर्जन तटीय स्थान में रह कर योगाभ्यास आरम्भ किया। वे नित्य गगा मे स्नान कर भगवान विश्वनाथ का दर्शन करने जाया करते थे। भीड से बहुत दूर रहते थे, इसलिये भिक्षा माँगने नही जाते थे। उनकी त्यागमयी वृत्ति ने साधको और जिज्ञासुओ को खीच लिया। योगी गम्भीरनाथ ने जन-सम्पर्क को साधना का बहुत बडा विघ्न समझा, उन्होने काशी छोड दिया। वे प्रयाग आ गये। प्रयाग में गगा-यमुना के पुनीत सगम की दिव्यता से सम्प्लावित झूसी तट की एक गुफा में रह कर वे तप करने लगे। दैवयोग से मुकुटनाथ नाम के एक नाथयोगी ने उनके भोजन तथा सेवा आदि की व्यवस्था की। बाबा गम्भीरनाथ अनवरत रात-दिन उस गुफा में योगाभ्यास करने लगे। इस प्रकार वे प्रयाग में तीन साल तक रह गये। उनका आध्यात्मिक स्तर उच्च तल पर पहुँच गया, उन्होने महती योग-शक्ति प्राप्त की।

साधक को छ अवस्थाओ से निकलना पडता है, वे कुटीचक, बहूदक, हस और परमहस तुरीयातीत और अवधूत की स्थिति है। एक स्थान पर रह कर साधना करने वाले को कुटीचक विशेषण से अलकृत किया जाता है। बहूदक अनेको स्थानो मे घूम-घूम कर तप और साधना करने वाले की सज्ञा है। हस, परमहस, तुरीयातीत और अवधूत की अवस्था मे साधक जीवन्मुक्ति तद्ज्ञानप्राप्ति और आत्मसाक्षात्कार से समृद्ध होता है। योगिराज गम्भीरनाथ ने अभी तक कुटीचक-व्रत का अनुष्ठान किया। प्रयाग मे तप करने के बाद उन्होने बहूदक जीवन अपनाया। उन्होने अकेला फिरने का सकल्प किया, महायोगी गोरखनाथ की उक्ति —

'ग्यान सरीपा गुरु न मिलिया चित्त सरीपा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया तीथै गोरख फिरै अकेला॥'

—ज्ञान के समान गुरु नही मिला, न चित्त के समान चेला मिला, इस-लिए गोरख अकेला फिरते हैं— उनकी स्मृति मे जाग उठी। उन्होने परिव्राजक जीवन में प्रवेश किया। उन्होने पूरे छ साल तक परिव्राजक जीवन का रसास्वादन किया। वे प्राय पैदल भ्रमण करते थे। उन्होने कैलाश, मानसरोवर, अमरनाथ, द्वारका, गगासागर तथा रामेश्वर आदि तीर्थों को अपनी उपस्थिति से धन्य किया। उन्होने भगवती नर्मदा की परिक्रमा चार साल में पूरी की और अमर कण्टक पर अधिक समय तक रह गये। नर्मदा-परिक्रमा के समय उनके जीवन मे एक विलक्षण घटना घटी थी जो उनकी अपार योगशक्ति और महती तपस्या की परिचायिका है। गम्भीरनाथ नर्मदा की परिक्रमा कर रहे थे। एक तटीय रम्य स्थान में उनका मन लग गया, वहाँ एक कुटी थी। गम्भीरनाथ ने उसी कुटी में निवास किया। पहले दिन उन्हे एक बहुत बडा साँप दीख पडा। वह उनका दर्शन कर अदृश्य हो गया। दूसरे और तीसरे दिन भी प्रभात काल मे गम्भीरनाथ ने उसको देखा, उन्होंने इस ओर कुछ ध्यान न दिया, वे अपने गम्भीर चितन में तल्लीन थे। तीसरे दिन कुटी मे रहने वाला एक ब्रह्मचारी जो कुछ दिनो के लिये बाहर था, आ गया। वह उस कुटी में बारह साल से निवास करता था। गम्भीरनाथ के आगमन से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने आप बीती सुनायी कि मैं इस कुटी मे बारह साल से रहता हूँ। इसी के निकट एक बहुत बडे महात्मा सर्प के वेप में रहते है। उन्ही के दर्शन के लिये मैं ठहरा हूँ। महात्मा गम्भीरनाथ ने सर्प-दर्शन की बात कही, ब्रह्मचारी आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा कि महाराज, आप का तपोबल स्तुत्य है, जिस कार्य को मैं बारह साल में भी न कर सका, वह बिना किसी प्रयास के आप ने कर दिखाया, आप धन्य है कि सर्प-वेप मे रहने वाले महात्मा ने तीनो दिन आप पर कृपादृष्टि की। गम्भीरनाथ ने नर्मदा-परिक्रमा समाप्त की।

सम्वत् १९३७ वि में योगी गोपालनाथ ने शिवधाम प्राप्त किया। गम्भीरनाथ ने परिभ्रमण-काल मे इस घटना को सुना। वे गुरु के प्रति आदर प्रकट करने के लिये गोरखपुर आये, तत्कालीन महन्त बलभद्रनाथ के विशेप आग्रह पर वे कुछ दिनो तक मठ में रह गये। उसके बाद वे बिहार प्रान्त के गया जनपद के कपिलधारा स्थान में आकर तप करने लगे।

गया की पहाडियो में चिरकाल से तपस्वी, योगी और सन्त जन अपना निवास बनाते आये है। गयानगर मे थोडी दूर पर अत्यन्त शान्त, रमणीय और

निर्जन कपिल धारा स्थान मे योगी गम्भीरनाथ ने तब तक तप करने का निश्चय किया जब तक अवधूत अवस्था की प्राप्ति न हो जाती। अक्कू नाम के एक व्यक्ति ने उनके चरणो में श्रद्धा समर्पित की और उनके भोजन आदि की व्यवस्था तथा सेवा का सहज अधिकार प्राप्त कर लिया। गम्भीरनाथ के पास कौपीन, एक कम्वल और खर्पर के सिवाय और कुछ भी न था। कुछ दिनो के बाद नृपतिनाथ नाम के एक श्रद्धालु योगसाधक ने अक्कू का कार्य हलका कर दिया। नृपतिनाथ ने योगी गम्भीरनाथ की सेवा मे बडी तत्परता दिखायी। योगी गम्भीरनाथ की प्रसिद्धि बडी तेजी से बढने लगी। वे सदा शान्त चित्त से ध्यानस्थ रहते थे, मौन उनकी वाणी का अलकार था, सकेत उनके भावो का प्रहरी था, निर्जनतामयी योगसाधना ही उनकी जीवन-सगिनी थी, प्रकृति की कमनीय कान्ति से सम्पन्न कपिलधारा पहाडी की दिव्यता उनकी लीला की रगभूमि थी। रात में दूसरी पहाडियो पर तप करने वाले सिद्ध महापुरुष और योगी जन उनका दर्शन करने तथा सत्सग प्राप्त करने आया करते थे। गया के एक धनी पण्डा माधव लाल ने उनके आशीर्वाद से एक गुफा का निर्माण कराया। योगी गम्भीरनाथ उसी गुफा में प्रवेश कर तप करने लगे। दर्शको और मिलने वालो की भीड अपने आप कम होने लगी। गुफा में कोई दूसरा व्यक्ति नही प्रवेश कर सकता था। वे केवल एक पाव दूध नित्य लेते रहते थे। प्रत्येक मगलवार को थोडी देर के लिये वे गुफा से बाहर आकर दर्शको और भक्तो को अपने दर्शन से तृप्त करते थे। तीन वर्ष तक उन्होंने यही क्रम रखा। उसके बाद वे प्रत्येक पूर्णिमा और अमावास्या को गुफा के बाहर आते थे। बारह साल के कठिन योगाभ्यास के बाद उन्होंने इस नियम को भग कर दिया। उसके बाद वे तीन मास तक गुफा से बाहर न आये। श्रद्धालुओ की विकलता बढने पर उन्होने दर्शन दिया। इस प्रकार कपिलधारा में उन्होंने अवधूत-अवस्था प्राप्त कर ली। उनकी पवित्र उपस्थिति से उस तपोभूमि में सत्य, शान्ति, अहिंसा और दिव्यता का साम्राज्य स्थापित हो गया।

कपिल धारा आश्रम में एक बार रात को कुछ चोर आये। उन्होंने आश्रम पर पत्थरो के टुकडे बरसाये। योगिराज एक कम्बल ओढ कर कुटी के बाहर लेटे हुए थे। पत्थर के एक टुकडे से उन्हे थोडी-सी चोट आ गयी। योगी नृपतिनाथ तथा दूसरे भक्तो ने चोरो का पीछा करना चाहा। गम्भीरनाथ ने चोरो से कहा कि साधुओ को तग नही करना चाहिये। उन्होने बडे प्रेम और मधुरता से कहा

कि कुटी का दरवाजा खुला हुआ है, तुम भीतर जा कर जो कुछ भी आवश्यक समझो, ले लो। उनके आदेश से नृपतिनाथ ने दरवाजा खोल दिया। चोर आश्चर्य चकित हो गये। वे बाबा के चरण पर नत मस्तक हो गये, कहा कि महाराज, हम गरीब हैं, हमारे परिवार वाले कई दिनो से भूखे मर रहे है। बाबा ने कहा 'वत्स, मैं तुम्हारी विवशता समझता हूँ। तुम जब चाहो, कुटी से आकर भोजन ले जा सकते हो, तुम्हे कोई न रोकेगा।' चोरो ने अपनी आवश्यकता के अनुसार थोडा बहुत सामान ले लिया। बाबा की चरण-धूलि मस्तक पर चढा कर चल पडे। दूसरी बार आश्रम मे आने पर उनके जीवन मे बहुत बडा परिवर्तन देखा गया। वे चोर नही, सत्यवादी हो गये। बाबा गम्भीरनाथ के आशीर्वाद के रूप मे उन्होने चावल, कम्बल आदि सामग्री प्राप्त की। गम्भीरनाथ की करुणा ने उनकी कृतज्ञता को श्रद्धा और भक्ति में रूपान्तरित कर दिया। बाबा प्रेम, माधुर्य, अहिंसा और शान्ति के साकार-सजीव विग्रह थे।

बाबा गम्भीरनाथ सिद्ध महापुरुष थे पर वे सिद्धि और चमत्कारो के प्रयोग से बहुत दूर रहते थे। शान्ति को ही वे बहुत बडे चमत्कार की वस्तु स्वीकार करते थे।

परिव्राजक-काल में महाराणा उदयपुर तथा महाराजा काश्मीर आदि ने बडी चेष्टा की कि योगीराज की चरण-धूलि राजप्रासाद मे पड जाय पर ऐसा कभी सम्भव नही हो सका। बाबा के प्रसिद्ध सेवक माधव लाल पण्डा ने बडा प्रयत्न किया कि एक क्षण के लिये भी बाबा मेरे घर चले पर बाबा गम्भीरनाथ अपने नियम पर अडिग रहे। एक बार उनका निजी सेवक बहुत बीमार पड गया। उसका भाई मुन्नी दौडता हुआ बाबा के पास आया, आँखो में अश्रु भर कर कहा कि महाराज अक्क का अन्तिम समय है, उसे जीवन प्रदान कीजिये अथवा चलते समय उसे अपनी चरण-धुलि से आशीर्वाद दीजिये, वह आपके दर्शन के लिये विकल है। करुणासमुद्र परमशान्तिमय बाबा गम्भीरनाथ आसन से उठ बैठे। वे अक्कू के घर आये, शरीर ठन्डा हो रहा था, प्राण निकलने ही वाले थे कि बाबा का दर्शन करते ही अक्कू की चेतना लौट आयी। बाबा ने उसे प्राण दिया, स्वस्थ होने पर वह बाबा की सेवा में सलग्न हो गया। बाबा गम्भीरनाथ की महिमा अकथनीय है। जिस समय कपिलाश्रम मे योगिराज गम्भीरनाथ तप कर रहे थे, उसी समय महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी आकाश-गगा पहाडी पर अपने कुछ भक्तो के साथ साधना में तल्लीन थे। वे योगिराज की

योग-शक्ति मे वहुत प्रभावित थे और उनके चरणो में अडिग श्रद्धा रखते थे। वे कभी-कभी योगिराज का दर्शन करने कपिल धारा आया करते थे और प्राय आधीरात के समय पधार कर दो-एक घटे उनके सम्पर्क मे रह कर सत्सग और भजन की सात्विकता और मधुरता का आस्वादन करते थे। महात्मा गम्भीर-नाथ आधी रात में सितार वजाकर भगवान का भजन गाया करते थे। उनकी सगीत-माधुरी और दिव्य वादन-कलासे हिंसक जीव जन्तु दिव्य प्रेमोन्माद में अहिंसक वन कर उनकी चरण-धूलि मे अपने आप को परम तृप्त मानते थे। कभी-कभी कपिल धारा की पहाडी की चोटी पर गम्भीरनाथ के सितार और भजन से आकृष्ट होकर आधीरात में प्रेमोन्माद से विह्वल होकर महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी आया करते थे। एक दिन रात की निर्जनता में वावा गम्भीरनाथ पहाडी पर सितार वजाते हुए घूम रहे थे, भगवान के चरणो में हृदय का मधुर सगीत समर्पित कर रहे थे। चारो ओर ज्योत्सना फैली हुई थी। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने शिष्यो से कहा, 'अहा, कितना मधुर सगीत वावा गम्भीरनाथ अपने आराध्य देव के चरणो में अर्पित कर रहे है। वावा, साक्षात् प्रेमरूप है, ऐसे योगी का दर्शन भारत वर्ष में, इस समय दुर्लभ है। वावा में सृष्टि स्थिति, प्रलय की शक्ति है। वे क्षणमात्र में ससार का सृजन और सहार कर सकते है। उन्होने प्रेम का माधुर्य इस तपोभूमि के कण-कण मे भर दिया है।'

सम्वत् १९५० वि में वे कपिलधारा आश्रम से प्रयाग कुम्भ मेला में पधारे हुए थे। उनकी गम्भीर मुद्रा और शान्ति तथा तप-माधुरी ने दर्शको का मन सहज में ही मुग्ध कर लिया। प्रत्येक समय उनके निवास-स्थान पर सन्तो और साधुओ की भीड लगी रहती थी। अपने शिष्यो के साथ महात्मा विजय कृष्ण उनका दर्शन करने आये थे। महात्मा विजय कृष्ण के शिष्य मनोरञ्जन ठाकुर ने कुम्भ की एक घटना का वर्णन किया है जिससे वावा की तपस्या और शान्तिमयी त्याग-वृत्ति का पता चलता है। एक धनी-व्यक्ति ने योगिराज के हाथ से सौ कम्वलो का वितरण कराना चाहा। वावा उस समय गम्भीर चिंतन में थे। थोडी देर के वाद उन्होने आँख खोली, अपने सामने कम्वलो का ढेर देखा। उन्होने हाथ से वितरण का सकेत किया और क्षण मात्र मे सारे दीन-दुखियो, असहायो में वितरित कर दिये। कुम्भ मे लोगो के विशेष आग्रह पर वे गोरखनाथ मठ के अध्यक्ष का उत्तरदायित्व स्वीकार कर गोरखपुर आये और जीवन के

अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपना कार्य बडी सात्विकता और पवित्रता से सम्पादित किया। नाथ-सम्प्रदाय के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ योगी के रूप में उनकी ख्याति चारो ओर फैल गयी। वे जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँच गये थे। साधु मण्डली में सिद्ध पुरुष के रूप में विख्यात थे। गोरखनाथ मठ में आगमन के बाद लोग उन्हे 'बूढ़ा महाराज' के विशेषण से समलकृत कर उनके प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट करते थे। उनके आगमन से ऐसा लगता था कि मानो गोरखनाथ की तपोभूमि में हठ, लय और राजयोग ने ही त्रिमूर्ति शिव के रूप में प्रवेश किया हो।

गोरखपुर में गोरखनाथ-मठ-निवास-काल में एक बार उन्होंने अद्‌भुत यौगिक चमत्कार दिखाया था। एक धनी परिवार की विधवा का एकलौता पुत्र लन्दन में बारिस्टरी का प्रमाणपत्र प्राप्त करने गया था। चार-माह तक उसके सम्बन्ध में माता को कोई समाचार नही मिला था। वह योगिराज गम्भीर नाथ के पास आयी। उस समय उनके पास स्थानीय राजविद्यालय के प्रधानाध्यापक रायसाहब अघोरनाथ अपने सहकर्मी अटल बिहारी गुप्त के साथ बठे हुए थे। विधवा ने निवेदन किया कि महाराज मेरा पुत्र लन्दन में है। उसके मित्र का तार आया है कि वह वहाँ नही है। हम लोगो की आँख का तारा है। आप विदेश में उसकी रक्षा कीजिये। महाराज ने कहा कि मै तो एक साधारण-सा मनुष्य हूँ। मैं इस सम्बन्ध में क्या कर सकता हूँ। महिला उनके चरणो पर सिर रख कर फूट-फूट कर रोने लगी। उसकी ममता ने योगिराज के हृदय को द्रवित कर दिया। वे तो असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव करने वाले थे। बडी शान्ति के साथ वे एक कोठरी मे चले गये। उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया। बुधवार था। आधे घटे के बाद वे बाहर आये। लोगो ने देखा कि वे किसी गहरे चिंतन मे थे। उन्होंने विधवा से कहा कि तुम्हारा लडका स्वस्थ और सुरक्षित है। वह सोमवार को पहुँच जायेगा।

अगले बुधवार को एक नवजवान रायसाहब अघोर नाथ की कोठी पर उनको प्रणाम करने गया। दैवयोग से अटल बिहारी गुप्त उपस्थित थे। राय साहब ने कहा कि ये महाशय विधवा महोदया के पुत्र है जो पिछले बुधवार को योगिराज के पास गयी थी। विधवा का पुत्र यह नही समझ सका कि किस विषय में बात हो रही है। रायसाहब नवजवान को साथ लेकर बाबा का दर्शन करने गये। अटल बिहारी गुप्त भी साथ थे। नवजवान ने बाबा के चरण पर सिर रख कर प्रणाम किया। देखते ही आश्चर्य चकित हो गया।

'आप कब आये' उसने बाबा को देखते ही तत्क्षण प्रश्न किया।

'तो क्या तुम बाबा को जानते हो,' राय साहब अघोरनाथ ने बारिस्टर से पूछा, वह उनका विद्यार्थी था।

नवजवान ने बाबा से कहा कि मैं बम्बई में उतरते ही इम्पीरियल मेल में सवार हुआ पर गाडी में आप को नही देखा। उसने राय साहब से कहा कि हमारे जहाज को बम्बई पहुँचने में एक दिनशेष रह गया था। मेरे कैबिन के सामने बाबा जी खडे थे। भारतीय साधु को देख कर बातचीत करने की उत्सुकता हुई। मैंने अपने कैबिन के बाहर आकर बाबा से पाँच मिनट तक बात की। उसके बाद बाबा चले गये। न तो फिर मैंने उनको स्टीमर में देखा और न वे रेल गाडी में ही दीख पडे। अटल बिहारी गुप्त के समय पूछने पर उसने कहा कि पिछले बुधवार की शाम की बात है। समय ठीक वही था जब बाबा ने आध घंटे के लिये कोठरी का दरवाजा बन्द कर लिया था। योगिराज बडी शान्ति से उसकी बाते सुन रहे थे। नवजवान को अपनी माता के बाबा से मिल कर समाचार पूछने का तनिक भी पता नही था और न वह यही जानता था कि अटल बिहारी और राय साहब के सामने कितनी महत्वपूर्ण घटना घट चुकी है। इस घटना का विवरण अटल बिहारी गुप्त महोदय ने अपनी बगला पुस्तक 'मृत्यु और पुनर्जन्म के बाद' में विस्तार से दिया है। बाबा गम्भीरनाथ की साधना, न जाने, कितने यौगिक चमत्कारो से भरी पडी है।

सम्वत् १९७३ वि की बात है। गोरखनाथ-मठ में एक बार वे अपने शिष्यों और भक्तों के साथ बात कर रहे थे। उस समय प्रथम महायुद्ध चल रहा था। एक भक्त ने बाबा से पूछा कि महाराज, यह युद्ध कब समाप्त होगा। बाबा ने गम्भीरता पूर्वक उतर दिया कि युद्ध दो एक साल में समाप्त हो जायेगा पर थोडे समय के बाद एक विश्वव्यापी महायुद्ध का आरम्भ होगा जिसमें विश्व के सारे राष्ट्र किसीन-किसी रूप में भाग लेगे। इस युद्ध का जगत की गति विधि पर बहुत बडा प्रभाव पडेगा। एक भक्त ने साहसपूर्वक पूछा कि भारत का क्या होगा।

बाबा गम्भीरनाथ ने कहा 'हिन्दुस्थान का भला हो होगा, अच्छा ही होगा!'

योगिराज की दोनो बाते सत्य हुई। वे वाक्सिद्ध महायोगी थे। कथनी और करनी—दोनो में सर्वसमर्थ थे।

योगिराज परम कृपालु और उदार थे। एक बार वे गम्भीर चिन्तन की मुद्रा में गोरखनाथ मठ के ठीक सामने एक चौतरे पर बैठे हुए थे। उनके पास एक बंगाली शिक्षित शिष्य भी थे। थोडी देर में एक रूपवती महिला जो कीमती परिधान में थी, गाडी से उतर कर मन्दिर में गयी। भीतर जाकर उसने देवता के पदपद्म में श्रद्धा समर्पित की--प्रणाम किया। समाधि का दर्शन कर वह बाबा के पास आयी, उसने उनकी चरण-धूलि मस्तक पर चढायी और गाडी मे बैठ कर चली गयी। देखने मे वह बडी शिक्षित और सभ्य थी पर योगिराज के शिष्य को ऐसा लगा कि वह वेश्या है। वह यह देख कर आश्चर्यचकित हो गया कि समाधि-मन्दिर में एक वेश्या ने किस तरह प्रवेश किया। महाराज गम्भीरनाथने शिष्य के मन की बात समझ ली और बडी करुणा और मधुरता से पूर्ण वाणी में कहा कि हिन्दू होने के नाते उसे भी मन्दिर में जाकर देवता का दर्शन करने का पूरा-पूरा अधिकार है। वह देवता की पूजा कर सकती है। सन्त की दृष्टि में पापी और पुण्यात्मा मे भेद नही रह जाता है, वे तो केवल कृपा करना जानते है, सब के साथ भागवत नियम का पालन करते है। वे योग-मानव थे। उन्होने अनुभव कर लिया कि 'यही मन शिव है, यही मन शक्ति और पॉच तत्वो से निर्मित जीव है। शिव, शक्ति और जीव सब-के-सब एकाकार हैं। माया के सयोग से ही ब्रह्म मन के रूप में अभिव्यक्त होता है। मन से ही पचभूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है, मन को उन्मनावस्था में लीन करने से साधक सर्वज्ञ हो जाता है।' बावा गम्भीरनाथ योग-रहस्य के सर्वमान्य मर्मज्ञ थे। बाबा गम्भीरनाथ ने आदिनाथ --शिव द्वारा प्रवर्तित गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित योग की साधना की। माया के बन्धन से पूर्ण मुक्त सिद्ध पुरुष थे। गोरखनाथ ने अपनी साधना के सम्बन्ध में एक स्थल पर कहा है --

'बाहरि न भीतरि, नेडा न दूर,
खोजत रहे ब्रह्मा अरु सूर।
सेत फटिक मनि हीरैं बीधा,
इहि परमारथ गोरख सीधा।'

परब्रह्म आत्मतत्व न बाहर है, न भीतर है, न निकट है, न दूर है। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते ही रह गये पर उसका रहस्य न पा सके। श्वेत स्फटिक मणि को हीरे ने बेध लिया। ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया, इसी परमार्थ के लिये गोरखनाथ ने साधना सिद्ध की। उनकी परम्परा पर चलने वाले

योगिराज गम्भीरनाथ ने इसी परमार्थ–योगतत्व के लिये सिद्धि के राज्य में आधिपत्य प्राप्त किया। उन्होंने नाथयोग के सिद्धान्त के अनुसार शिव और शक्ति की एकात्मकता का योगमाध्यम से अनुभव किया। वे अपने आप को सदा गोरखनाथ का अनुयायी बताया करते थे। उनका दृढ विश्वास था कि महायोगी गोरखनाथ भगवान शिव के अवतार थे– अभिव्यक्त रूप थे। उनका योगाभ्यास गोरखनाथ की योगप्रक्रिया के आधारभूत था। योगिराज गम्भीर-नाथ ने सदा कान में कुण्डल और वक्ष पर नाद धारण किया। उन्होंने योग के स्तर पर स्थित होकर दिव्य सत्य का साक्षात्कार किया। वैराग्य उनकी योग साधना का प्राण था। नाम-जप मे उनकी वडी निष्ठा थी। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी की उक्ति है कि मुझे भगवन्नाम-निष्ठा वावा गम्भीरनाथ की कृपा से प्राप्त हुई। ज्ञान, शक्ति और ऐश्वर्य पर योगिराज गम्भीरनाथ का पूर्ण अधिकार था। वे ज्ञानी हठयोगी थे। योगिराज की श्रीमद्भगवद्गीता मे अपूर्व श्रद्धा थी। वे मायातीत, त्रिगुणातीत और युक्तयोगी थे। वे सत्यान्वेषक थे। वे राम-लीला, कीर्तन, भजन आदि के लिये विशेष अवसरो पर अपने भक्तो और शिष्यो को प्रोत्साहित किया करते थे। गीता के सम्वन्ध में उनकी उक्ति थी कि यह सव युग के लिये सत्य ग्रन्थ है। सत्य के अन्वेषको के लिये एक गीता ही वहुत है। यह सार्वजनिक तथा सनातन शास्त्र है। भगवच्चिंतन के विषय में उनकी उक्ति थी कि अहता और ममता का परित्याग कर ईश्वर के चरणो पर समर्पित हो जाना चाहिये। वे योगक्षेम का वहन करते ही है। उनसे केवल सत्य और प्रेम की ही मॉग करनी चाहिये। वे भगवन्नाम-साधना पर वडा जोर देते थे। 'भगवान के नाम से सव कुछ हो जायेगा।' यह उनकी घोषणा थी। कहा करते थे कि 'रूप वहुत है, स्वरूप एक ही है, सव परमात्मा स्वरूप है।' योगिराज कहा करते थे कि मुक्ति-प्राप्ति के लिये साधना और अधिकार की वडी आवश्यकता होती है। शिष्य के सद्प्रयत्न से ही यह सम्भव है। गुरु साधना और सिद्धि घोट कर पिला थोडे ही देंगे।

सनातन धर्म के अनुरूप आचरण वनाने को वे वहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उनकी उक्ति है कि सनातन धर्म शाश्वत, विश्वव्यापी, अपौरुषेय और आदिसत्य से परिव्याप्त है। जव कोई व्यक्ति उनसे उपदेश देने की प्रार्थना किया करता था तव वे वडी विनम्रता से कहा करते थे कि मैं वास्तव में कुछ भी नही जानता हूँ, मेरे पास कोई उपदेश नही है, मैं क्या शिक्षा दे सकता हूँ।

विक्रमीय बीसवी शताब्दी के सन्तसाहित्य में योग-सिद्धि के क्षेत्र में उनका महत्व असाधारण है। उन्होंने नाथ सम्प्रदाय के योग-सिद्धान्त का फिर से प्राकटय किया। उनकी भगवन्नाम-साधना निर्गुण-सगुण वादी नाम-चिंतन परम्परा नही — योगसिद्धान्त-प्रतिपादित थी। उन्होने योग के प्रकाश में सत्य और भगवन्नाम का साक्षात्कार किया, भारतीय सन्त साहित्य की प्रगति मे यह उनकी ऐतिहासिक मौलिकता है। समस्त जगत के कार्यों को वे ईश्वर की लीला समझते थे। उनकी घोषणा है कि 'विचार ही तपस्या है।' वे बार-बार अहकार के नाश की शिक्षा दिया करते थे, अपने भक्तो और शिष्यो को सावधान करते थे—"'मैं' नही रखना।" वे समाधि-योगी थे।

बाबा गम्भीरनाथ सदा ज्ञान में योगस्थ रहते थे। सत्य तत्व का चिंतन किया करते थे। वे सद्गुरु थे। उनकी उक्ति है कि जो शिष्य को बन्धन से मुक्त कर देते हैं वे ही सद्गुरु हैं।

जीवन के अन्तिम दिनो में उन्हे मोतियाबन्द का रोग हो गया था। वे उसे ठीक कराने के लिये कलकत्ता गये हुए थे। डाक्टर मानरड ने उस रोग को ठीक कर दिया। बाबा को देख कर मानरड ने कहा 'अरे, ये तो साक्षात् ईसा की ही तरह दीख पडते हैं।'

योगिराज ने गोरखपुर में सम्वत् १९७५ वि की चैत कृष्ण त्रयोदशी को सवा नव बजे प्रात काल परम धाम की यात्रा की। गोरखनाथ मन्दिर के निकट ही उनका समाधि-मन्दिर है जो शाश्वत सत्य और शान्ति का दिव्य प्रतीक है, उसमें उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। नित्य नियम पूर्वक प्रतिमा की पूजा-आरती होती है। शिष्यो को वे कभी-कभी स्वप्न में दर्शन देकर उनका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। योगिराज गम्भीरनाथ योग, ज्ञान, तपस्या और भक्ति के चिन्मय प्रतीक थे।

रचना

उनकी मौन योग-साधना और शातिमय उपदेश ही अमर कृति के रूप में प्राप्त है।

वाणी

विश्वास रखना, विचार करना, सब तरफ अच्छा ही होगा।

सद्‌गुरु वह है जो अपने आप मे आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है और दूसरो को आत्मनिष्ठा से सम्पन्न करता है।

देव स्वरूप में भेद-दृष्टि नही रखनी चाहिये, रूप और नाम से वे भिन्न हैं पर उनमे एक ही तत्व का अधिवास है। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायो द्वारा विभिन्न प्रकार से एक ही परमात्म तत्व की उपासना और विचार को कार्यान्वित किया जाता है।

भूत के चिन्तन और भविष्य की चिन्ता से दूर रहना चाहिये। अपने वर्तमान कर्तव्य का सत्यता से पालन करना ही श्रेयस्कर है और विश्वास, धैर्य और आशा के प्रकाश में आगे बढते रहना चाहिये। स्मरण रहे कि ईश्वर अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा मगल किस बात में है और वे उसी का विधान करते है।

सदा सत्य बोलना चाहिये। छल-प्रपच से दूर रहना चाहिये। 'अह' में नही चिपकना चाहिये। दूसरो को कभी बुरा-भला नही कहना चाहिये। समस्त धर्मों और मत-मतान्तर का आदर करना चाहिये। भिखारियो, दीन-दुखियो और असहायो को बडे प्रेम से भिक्षा देनी चाहिये और विचार करना चाहिये कि इस प्रकार हम ईश्वर की पूजा कर रहे हैं।

विश्वास की शक्ति से असम्भव भी सम्भव होता है। रूप बहुत हैं, स्वरूप एक ही है। सब ही परमात्मा-स्वरूप हैं।

महात्मा रामलिंगम

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

इस जीवन में यदि परब्रह्म को जान लिया, तब तो कुशल है, नहीं तो महान् विनाश है। बुद्धिमान पुरुष प्रत्येक प्राणी में परब्रह्म को विचार कर इस लोक से प्रयाण कर अमरत्व प्राप्त करते हैं।

—केन उपनिषद् २।५

महात्मा रामलिगम ब्रह्मयोगी थे, निर्गुण सगुण भगवदीय तत्व की समन्वयभूमि पर उन्होने परमात्मा की— परम शिव की उपासना की, भक्ति की। उन्होंने अपने आप में आत्मा में परमानन्दमयी सनातन चिन्मय भागवती ज्योति की अनुभूति की, उन्होंने अपने श्वास-श्वास में, प्राण के स्वर-स्वर मे अक्षर ब्रह्म का ही चितन किया। जिस समय दक्षिणेश्वर के शक्ति-मन्दिर मे रामकृष्ण परमहस भक्ति की भागीरथी प्रवाहित कर रहे थे, वृन्दावन में महात्मा ललित किशोरी जी प्रेम की कालिन्दी के तट पर लीलापति नन्दनन्दन की रूप-माधुरी का आस्वादन कर रहे थे, उमी समय दक्षिण भारत में योगी रामलिंगम परम शिव की ज्ञान-सरस्वती के विमल तट पर अमरता का आवाहन कर रहे थे। यही उनके चरित्र की ऐतिहासिकता है। महात्मा रामलिंगम भागवती कृपा के काव्यकार थे, वे दिव्य सगीत के स्रष्टा थे। उनकी वाणी मे परमात्मा के स्तवन के रूप में साक्षात् सामवेद उतर आया। उन्होंने प्राणी मात्र को सावधान किया कि केवल अपना ही नही, समस्त लोक का हितचिंतन करना चाहिये, समष्टि के सुख में ही व्यष्टि का कल्याण समस्थित है।

दक्षिण भारत में चिदम्बरम् एक इतिहास प्रसिद्ध स्थान है, वह तीर्थक्षेत्र है। उसमें भगवान नटराज का प्रसिद्ध मन्दिर अवस्थित है। चिदम्बरम् के निकट मरुदरूर नामक स्थान में विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के चौथे चरण में

एक शिवभक्त परिवार रहता था। उसमे रामय्य पिल्ले और उनकी पत्नी चिन्न-मल शिव के वडे भक्त थे। रामय्य पिल्ले का हृदय परम निर्मल था, वे तपोमय जीवन विताते थे। उनका अधिकाश समय भगवच्चिंतन में ही लगता था। घरपर साधु-सन्तो के आगमन से वे और उनकी पत्नी-दोनो प्रसन्नता का अनुभव करते थे। एक दिन दोपहर के समय एक योगी का आगमन हुआ, योगीने चिन्नमल को खाने के लिये भभूत देकर आशीर्वाद प्रदान किया कि तुम पुत्रवती होगी। योगी की कृपा से रामय्य पिल्ले दम्पति ने सम्वत् १८८० वि में एक पुत्र की प्राप्ति की। इस प्रकार रामलिगम ने जन्म लिया। जव वे छ माह के थे, उनके पिता ने शिवलोक की यात्रा की। रामलिगम का पालन-पोषण उनके वडे भाई सभापति ने किया। पिता की मृत्यु के वाद सभापति मरुदरूर से मद्रास चले आये। नवसाल की अवस्था से ही रामलिगम में वैराग्य का उदय होने लगा, वे ससार के नश्वर स्वरूप पर विचार करने लगे। उनका मन भगवान सुब्रह्मण्य मे अनुरक्त हो गया। उन्होने नव वर्ष की ही अवस्था में एक स्तोत्र रच कर अपने आराध्य के चरण में समर्पित किया। उन्होने भगवान सन्मुखम् से निवेदन किया कि मै आप के उन भक्तो का सग चाहता हूँ जिनकी आप के ही चरण में भक्ति है। रामलिगम की प्रवृत्ति से सारे घर में आध्यात्मिक ज्योति फैल गयी, कण-कण में भक्तिमयी कविता का स्फुरण होने लगा।

विद्यालय में पढने-लिखने में उनका मन वहुत कम लगता था। एक वार माता ने उनको वहुत समझाया। उन्होने माता को पढने का वचन दिया और एक दर्पण लेकर घर के कोठे पर चले गये। एक कमरे में एकान्त भाव से दर्पण के सामने वैठ कर स्तोत्रो और गीतो से अपने हृदयदेवता सन्मुखम् को रिझाने लगे। लोगो ने समझा कि वे अध्ययन कर रहे है। इस प्रकार अल्पावस्था में ही उनकी साधना का श्रीगणेश हुआ। धीरे-धीरे वे सन्तो के सम्पर्क में आने लगे। उनसे वेदान्त ज्ञान और ब्रह्म के सम्वन्ध में विचार करने लगे। वे मद्रास से तिरुवोर्रजूर के मन्दिर में कभी-कभी भगवान शिव के दर्शन के लिये आया करते थे। वे मन्दिर में अपने मधुर काव्य की धारा वहाते रहते थे। इस समय उनकी आयु केवल सोलह साल की थी। एक दिन किसी विशेष उत्सव के अवसर पर मन्दिर में भगवान शिव की परिक्रमा कर रहे थे। उन्होने अपने सामने एक अद्भुत योगी देखा, वे योगी के पैरो पर गिर पडे। योगी ने उनको आश्वासन दिया कि मै सदा तुम्हारे साथ हूँ। तुम भयभीत मत हो, अपने मधुर गीतो से तुम

सदा मेरी पूजा करोगे। योगी ने रामलिंगमकी आँख मे आँख मिला कर देखा और मन्त्र दीक्षा दी। बात-की-बात मे योगी के अन्तर्धान हो जाने पर रामलिंगम को पूरा विश्वास हो गया कि साक्षात् तिरुवोरुंजूर के अधिपति महादेव ने मुझको अपने दर्शन से कृतार्थ किया है। उनके रोम-रोम सिहर उठे। उन्होने आत्मनिवेदनकी भापा में कहा कि हे देव, मैं पूर्ण रूप से आप के शरणागत हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये, अपनी कृपा और भक्ति का दान दीजिये। वे नित्य नये-नये पद रच कर समर्पित करने लगे तथा दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव सन्त माणिक वाशहर के ग्रन्थ तिरुवाचक का पाठ करते थे। इस प्रकार उनकी भक्ति नित्य प्रति बढने लगी, लोग उनकी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर उनके अनुयायी बनने में गौरव समझने लगे।

एक दिन विचित्र घटना हुई। उन्हे आधीरात को बडी भूख लगी। वे भगवच्चिंतन में इतने तन्मय हो गये थे कि उन्हे भूख की सुधि ही न रह गयी। मन्दिर के पुजारी के वेष में साक्षात् भगवान ने दर्शन देकर उनको कृतार्थ किया—ऐसा उन्होने अपनी एक रचना में कहा है। एक महात्मा के रूप में उनकी प्रसिद्धि बढ़ गयी।

माता, वहिन और भाई ने विवाह कर गृहस्थाश्रम स्वीकार करने के लिये वहुत आग्रह किया। उन्होने माता की प्रसन्नता के लिये विवाह कर लिया तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। मा का देहान्त होने पर मद्रास से चिदम्बरम् चले आये। रास्ते में पाडीचेरी में भी उन्होने वडे-वडे विद्वानो से भेंट की। उन्होने चिदम्वरम् के अधिपति से कहा कि हे परमेश्वर, आप ने कृपापूर्वक मुझको आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। मुझे पूर्ण तथा परम निर्मल व्रह्म-ज्ञान प्रदान कीजिये। उन्होने अन्य प्रसिद्ध मन्दिरो में जाकर अपने आराध्य देव का दर्शन किया। इस प्रकार उनकी प्रभु में अनन्यता बढ गयी। वे उन्हें छोड कर किसी दूसरे के सामने हाथ पसारना बहुत बडा पाप मानते थे। एक वार उनके एक सम्वन्धी ने उनके द्वारा अपने हित की बात पहुँचानी चाही, सम्वन्धी ने सोचा कि रामलिंगम के कहने से अमुक धनी व्यक्ति द्वारा मेरा काम अवश्य वन जायेगा। रामलिंगम ने निस्सकोच कहा कि मैं प्रभु को छोड कर किसी भी वस्तु के लिये दूसरे के सामने हाथ नही पसार सकता। यदि मेरे शरीर के टुकडे-टुकडे होने की भी सम्भावना उठ खडी होगी तो भी मैं किसी दूसरे की शरण में नही जा सकता। मेरे प्रभु सर्वसमर्थ हैं, सारे ससार के सृजन, पालन

और सहार के मूलाधार हैं। महात्मा रामलिंगम अपनी जन्मभूमि के निकट ही करनकुजी स्थान में रहने लगे। यही उनके भाई की मृत्यु हो गयी। इसी स्थान पर महात्मा रामलिंगम ने पानी से दीप जलाया था। बड़े-बड़े विद्वान इस घटना से उनके चरणो पर नत हो गये। उनके भावनामय जीवन का यह व्रत हो गया कि मैं समस्त ससार और प्राणीमात्र का हित करूँगा। उनकी भावुकता ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। उन्होने भगवान से निवेदन किया कि क्या मैं आप को भूल सकता हूँ। जिस क्षण मैं आप को भूल जाऊँगा उसी समय मेरे प्राण उड़ जायेंगे क्या आप मुझे भूल जायेंगे ? हे देव, तब मैं क्या करूँगा, कहाँ जाऊँगा मैं किससे बात करूँगा। हे भगवान, आप मुझ पर मेरी माता से भी अधिक कृपालु है, यदि आप भूल भी जायेंगे तो आप की विश्वव्यापी कृपा मुझे कभी नही भूलेगी। इसी विश्वास के बल पर मैं प्रसन्नता और सुख का अनुभव करता हूँ, मुझे आप मत भूलिये, मुझे आप अपनी दिव्य ज्योति–कृपा से कृतार्थ कीजिये, इसके लिये यही समय ठीक है।

एक दिन मेलकुपम कुटी में उन पर दिव्य ज्योति का अवतरण हुआ। इस घटना के स्मृतिरूप में एक दीप उस समय से जलता आ रहा है। उन्होने पन्द्रह सौ छन्दो में दिव्य ज्योति–भागवती कृपा का अरुलपा के रूप में गान किया। अरुलपा उनकी अमर कृति है।

उनसे आध्यात्मिक ज्योति प्राप्त करने के लिये साधको की सख्या तेजी से बढ़ने लगी। उनके उपदेशो पर वेदान्त का प्रत्यक्ष प्रभाव था। उन्होने लोगो को दिनरात भगवान की उपासना में निमग्न रहने की सीख दी– भगवान की निरन्तर उपासना करना ही उनका सिद्धान्त था। उन्होने लोगो से कहा कि समस्त सम्बन्धो का परित्याग कर केवल परमात्मा का भजन कीजिये। भगवान के पवित्र चरणो का ही सदा चिंतन कीजिये–अमरता का यही प्रशस्त पथ है।

उन्होने अपने आध्यात्मिक कार्य को स्थायी रूप प्रदान किया। उन्होने करनकुजी के निकट ही वदलूर नामक स्थान को अपना कार्यक्षेत्र चुना। उन्होने उसका नाम उत्तर ज्ञान चिदम्बर रखा, समरस सघ की स्थापना की और दीन-दुखियो तथा असहायो को भोजन देने के लिये सत्यधर्मशाला बनवायी। एक भजनाश्रम का भी निर्माण कराया गया। उसमें सत्य-ज्योति–अरुल पेरुम ज्योति की पूजा होती है। उन्होने व्यर्थ के वाद विवाद का परित्याग कर साधना-

मय जीवन बिताने की लोगो को प्रेरणा दी। उन्होने कहा कि मै सच कहता हूँ कि ऐसा करने से आप को परम पवित्र दिव्य ज्योति मिलेगी, दिव्य प्रेम प्राप्त होगा। भगवान पूर्णरूप से प्रेमस्वरूप है। उन्होने भक्ति के माध्यम से भगवान से कहा कि हे देव, आप एक तथा अनेक रूप मे व्याप्त है। आप की दिव्यता के पर्वत पर अमृत का स्त्रोत बहता रहता है, मै इस पृथ्वी पर उसका आस्वादन करना चाहता हूँ। हे विराट् रूप वाले परमेश्वर, आप चिन्मय ज्ञान स्वरूप है, दरवाजा खोलिये। उन्होने साधना के स्तर पर बताया कि शुद्ध सन्मार्ग–पवित्र आध्यात्मिक पथ वेदान्त, योगान्त, नादान्त, कालान्त से परे है। यह शाश्वत ज्योति का अविनश्वर–चिरन्तन पथ है।

दक्षिण भारत के ही नही–सम्पूर्ण भारत के सन्त साहित्य मे उनको गौरव-पूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्होने सन्तविचार-धारा को समरस सन्मार्ग से समलकृत किया, समरस सन्मार्ग सन्तमत की सनातन परम्परा है पर इसमें महात्मा राम लिंगम ने अपनी मौलिकता की छाप लगा दी। उन्होने सहनशीलता और सदाचार को प्रधानता दी। उनके दिव्य काव्य में सत्य के शिव और सौन्दर्यरूप का दर्शन होता है – माधुर्य और भक्तिरस उनके काव्य के प्राणवान अग हैं। उनकी रचना 'अरुलपा' उच्च विचारो की अक्षय निधि है, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम का पवित्र साहित्य-प्रतीक है, इसमें भगवान की कृपा का अक्षर-अक्षर में दर्शन होता है।

महात्मा रामलिंगम ससार में रह कर भी जल मे कमल के समान थे। जीवन के अन्तिम चरण में उन्होंने कडी-से-कडी तपस्या अपनायी। वे अधिकाश समय व्रत और उपवास में बिताते थे। सरलता, विनम्रता और सदाचारण की चिन्मय भूमि पर उन्होने अपनी तपोसिद्धि की सत्यता चरितार्थ की। उनकी करनी-कथनी मे अद्भुत समरसता थी। केवल दो वस्त्रो से शरीर ढकते थे, उनकी त्यागवृत्ति उच्च कोटि की थी। किसी ने उनको कभी विश्राम करते या सोते नही देखा। वे सावधान करते रहते थे कि मेरी पूजा मत कीजिये, परम पिता परमात्मा ही उपास्य हैं, आत्मा में उनकी अनुभूति कीजिये। आध्यात्मिकता की समभूमि पर चलते रहना ही सन्मार्ग है।

अन्तिम दिनो में वे एक झोपडी मे रहा करते थे। दो साल पहले ही उन्होने बतला दिया था कि मै चौवन साल की अवस्था में इस शरीर से अदृश्य हो जाऊँगा। वे बहुधा मौन ही रहते थे। अन्तिम समय उपस्थित होने पर शिष्यो ने उनको आराम से सुला दिया। वे कहने लगे 'मै कुछ समय के लिये अदृश्य हो रहा हूँ।

यह शरीर जलाने अथवा समाधि के लिये नहीं मिल सकेगा। मैं शुद्ध निर्विकल्प समाधि में हूँ। मैं सिद्ध की तरह परिभ्रमण करूँगा, केवल भारत ही नहीं पाश्चात्य देशो मे मुझे कार्य करने के लिये जाना पडेगा। मैं दिव्य शरीर धारण कर लौट आऊँगा। खिडकी और दरवाजे चारो ओर से वन्द कर दीजिये।' उनकी आज्ञा के अनुसार दरवाजे वन्द कर दिये गये, उनमे ताले लगा दिये गये। लोग वाहर खडे होकर दरवाजो की ओर सावधानी से देख रहे थे। दरवाजो के खुलने पर कुटी में शून्य के सिवा और कुछ भी न दीख पडा। इस प्रकार सम्वत् १९३२ वि के मकर मास की उन्नीसवीं तिथि को वे शरीर सहित अन्तर्धान हो गये। वे सिद्ध पुरुष थे। क्षण मात्र में लोगो का मन अध्यात्म की ओर आकृष्ट कर लेने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। वे प्राय अपने शिष्यो की दृष्टि से ओझल होकर कई दिनो तक अदृश्य रहा करते थे। उनमें हठयोग और राजयोग का समीचीन समन्वय था। मानवता के आध्यात्मिक उत्थान मे उन्होने जो योग दिया वह निस्सन्देह चिरस्मरणीय है। वे महात्मा, योगी, सन्त सब कुछ थे।

रचना

महात्मा रामलिंगम की प्रसिद्ध रचना 'अरुलपा' है जिसमें उन्होंने अगणित पदो में भगवान की कृपामयी ज्योति की महिमा गायी है।

वाणी

आभूषण पहनने के लिये नाक और कान छेदने वालो, यदि शरीर में इन छेदो की आवश्यकता होती तो ईश्वर ने आप को ऐसा ही बनाया होता। सोचिये, सोचिये।

जीव मात्र के प्रति दया—जीवकारुण्य से आप भगवत्कृपा प्राप्त करते हैं।

ईश्वरीय विधान-आत्म नियम का अनुसरण कीजिये, अपने मन को सदा भागवती चेतना में लगाये रखिये, उसे कभी दिव्य विचार-धारा से अलग मत होने दीजिये।

विश्वमात्र के प्रति दयाभाव ने ही मुझे इतने उच्च स्तर में पहुँचा दिया है। एक परमात्मा को सब में व्याप्त देखने और समझने पर ही मन में दयाभाव का उदय होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

एतोन्विन्द्र स्तवाम सखाय स्तोम्य नरम्।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्॥

हे मित्रो, आओ और स्तुति के योग्य ऐश्वर्यशाली परमेश्वर की स्तुति करें, वे समस्त विश्व के शासक हैं।

—सामवेद अ ४ । खण्ड ४।७

स्वामी दयानन्द का नाम-स्मरण होते ही रोम-रोम में वेदामृत की असख्य निर्झरिणी प्रवाहित हो उठती हैं। उन्होने अखण्ड, एकरस, निर्विकल्प, सम्पूर्ण निर्गुण निराकार परम चेतनतत्व परमेश्वर की उपासना का मार्ग प्रशस्त कर विश्व को दिव्य चेतना से सम्पन्न किया। उन्होने भारतीय अध्यात्म-चेतना का वैदिकीकरण किया। वे स्वराज्य, स्वदेश-भक्ति और स्वधर्माचरण के अग्रदूत थे। उन्होने वेदगत दिव्य और भागवत सत्य के प्रकाश में जन-जीवनको अविद्या अन्धकार से बाहर निकलने के लिये सावधान किया। स्वामी दयानन्द महर्षि थे - विक्रमीय उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे अग्रेजी कम्पनी-सरकार ने भारत का अविकाश लाल रग से रग दिया था, डेलहौजी की आक्रमक नीति अपनी सफलता की पराकाष्ठा पर थी, विदेशी धर्म प्रचारक भारतीय सास्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना की खिल्ली उडा कर गलत ढग से अपने मत का प्रचार कर रहे थे। देश मे अनेक मत जन्म ले रहे थे, लोग आदि वैदिक धर्म से विमुख हो रहे थे, सत्य और ज्ञान के प्रकाश का अभाव निरन्तर वढता जा रहा था। ऐसे ऐतिहासिक समय में महर्षि दयानन्द ने वैदिक धर्म का प्रचार कर स्वदेश, स्वराज्य और स्वधर्म की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखी। वे वहुत वडे क्रातिकारी थे। राष्ट्रीयता के महान सरक्षक थे। शकराचार्य के वेद-अवतार थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विदेशी शासन, सस्कृति और धर्म को चुनौती दी कि भारत जगद्गुरु है। महर्षि दयानन्द सम्वत् १९१४ वि के स्वतन्त्रता-आन्दोलन और महात्मा गाधी द्वारा सचालित सत्याग्रह के मध्य के एक अविच्छिन्न,

अखण्ड और अडिग, अटल तथा अमर सूत्रधार थे। उन्होंने अभारतीय तत्वों के उन्मूलन के लिये अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। बगाल, बिहार, मद्रास, पजाब, सिंध, काश्मीर-समस्त दक्षिण और उत्तर भारत ने ही नही– विश्व के एक बहुत बडे भाग अफरीका योरप, अमेरीका आदि ने भी उनकी सत्य-ज्ञान-गरिमा के चरण देश पर मस्तक नत कर दिया। रामकृष्ण परमहस और केशव-चन्द्र सेन के बगाल ने उनके सन्देश से प्राण प्राप्त किया, विदेश से थियोसफी आन्दोलन के नेता आलकाट और ब्लेवटस्की ने भारत आकर उनके दर्शन से अपने आप को गौरवान्वित किया। स्वामी दयानन्द ने आत्मनिर्भरता और निर्भयता प्रदान की। उन्होंने कहा कि आत्मा नित्य और अविनाशी है, उसका नाश नही हो सकता है, इसलिये प्रत्येक प्राणी को आत्मोत्थान मे लगना चाहिये। दयानन्द ने सत्य और एकता का बीजारोपण किया। उन्होंने प्राणीमात्र को सत्य-ज्योति और पवित्रता से समृद्ध बनाया। छल, दम्भ और पाखण्ड का उन्होंने खण्डन किया, सत्य, ज्ञान, आत्मतत्व और विद्या का मण्डन किया। उन्होंने वेदवाणी के माध्यम से कहा, ऋग्वेद का मन्त्र दोहराया।

'तत्सवितुर्वृणमिहे वय देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठ सर्वधातम तुर भगस्य धीमहि॥'

हे मनुष्यो! हम लोग सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त अतिशय उत्तम तथा पालनीय और भोग्य करने योग्य वस्तु धारण करने वाले, अविद्या आदि दोषो का नाश करनेवाले जगदीश्वर को स्वीकार करते है, वे ही उपास्य है। दयानन्द ने वेदज्ञान के द्वारा आध्यात्मिक क्रान्ति उपस्थित की, नया जीवन-दान किया। स्वामी दयानन्द ने गुजरात मे दुर्गन्धिरा राज्य के निकटवर्ती मोरवी राज्य के टकारा ग्राम में सम्वत् १८८१ वि मे एक अत्यन्त प्रतिष्ठित कुल मे जन्म लिया था। उनके पिता अबाशकर सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। वे शिव के अनन्य भक्त थे। अपनी श्रद्धा और भक्ति के अनुरूप उन्होंने दयानद का नाम मूल शकर रखा। मूलशकर बडे मेधावी और प्रतिभाशाली थे। उन्होंने समृद्धि की गोद में अपना बचपन बिताया। उनके पिता की प्रसिद्धि दूर-दूर के गाँवो मे थी। वे मोरवी राज्य में एक बडे महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त थे, ग्रामकर एकत्र कर राजा के खजाने में भेजा करते थे।

धीरे-धीरे जब मूलशकर की आयु दस साल की हो गई, तब मा के आग्रह से उन्होंने शिवरात्रि-व्रत रखना आरम्भ किया। उन्होंने एक बार व्रत रखा था।

शिवमन्दिर गाव के बाहर था। वे अपने पिता तथा अन्य शिवभक्तो के साथ मन्दिर में रात-जागरण कर रहे थे। वे जागते रहे। लोगो को मीठी-सी झपकी आ गयी पर वे अडिग थे। आधीरात का समय था। भगवान शिव ने उन्हें अपनी कृपा-ज्योति प्रदान की। मूलशकर ने देखा कि शिव जी की पिण्डी पर चढ़े अक्षत खाने के लिये चूहिया इधर-उधर फुदक रही है। उनकी अन्तरात्मा ने शिव के दर्शन का सकल्प किया। पाषण-प्रतिमा में प्रतिष्ठित शिव के चैतन्य स्वरूप को समझने के लिये उन्होने अपने पिता को जगाया। पिता उनके प्रश्न का यथोचित समाधान न कर सके। मूलशकर घर आये, उन्होने मा से घटना बतायी और शिवतत्व को समझने का आशीर्वाद प्राप्त किया। पिता की आज्ञा से अपनी जमीदारी में काम सम्हालने चले गये। पर शिव-दर्शन की स्मृति बनी रही।

एक बार वे अपने परिवार मे ही किसी विशेष अवसर के उपलक्ष्य में नृत्योत्सव में सम्मिलित हुए थे। थोडी ही देर में उन्हें अपनी चौदह साल की बहिन की बीमारी की सूचना मिली। बहिन को देखने गये। दो घण्टे के बाद उसने परलोक की यात्रा की। मृत्यु का रूप दयानन्द की आँखो में नाच उठा। ससार के नश्वर रूप के प्रति उनके मन में घृणा उत्पन्न हो गयी। कुछ ही दिनों के बाद उनके चाचा का भी देहावसान हो गया। दयानन्द बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने लोगो से अमरता का उपाय पूछा। लोगो ने योगाभ्यास और वैराग्य की ओर सकेत किया। दयानद ने गृह-त्याग का सकल्प किया। इस समय वे युवावस्था में प्रवेश कर रहे थे। उनकी आयु बीस सालकी थी। पिता ने बहुत समझाया-बुझाया। धीरे-धीरे विवाह की बात चलने लगी। मूलशकर-दयानन्द ब्रह्मचर्यमय जीवन विताना चाहते थे। उन्होने विवाह रोकने की प्रार्थना की और एक दिन अवसर पाकर उन्होने घर का परित्याग कर दिया और सद्ज्ञान-प्राप्ति के लिये पथप्रदर्शक की खोज मे निकल पडे।

उन दिनो शैलानगर में लाला भक्त नाम के एक योगी की बडी प्रसिद्धि थी। मूल शकर योगी से मिलने चल पडे। रास्ते में एक वैरागी से भेंट हुई। मूलशकर के शरीर पर सोने के आभूषण देख कर वैरागी ने कहा कि आभूषणो के रहते योगाभ्यास कठिन है। मूलशकरने स्वर्ण आभूषण वैरागी को दे दिये। लालाभक्त योगी से वे योग सीखने लगे। उनका मन शैलानगर में न लगा। मूलशकर को पता चला कि अहमदावाद के निकट किसी गाँव में अच्छे वैरागी

आये हुए है । वे अहमदावाद की ओर चल पडे । वैरागियो के साथ तीन मास रहे । वैरागियो के साथ एक राजमहिषी भी थी । उसने मूल शकर को अपने रूप जाल मे जकडना चाहा पर वे तो सावधान थे । उन दिनो अपने पूर्ण यौवन पर थे, रेशमी कपडे पहनते थे, ठाट-वाट से रहते थे । उन दिनो उनकी प्रसिद्धि ब्रह्मचारी नाम से थी ।

वे सिद्धपुर के योगी-समागम मे सम्मिलित हुए । सिद्ध पुर मेले मे उनको एक परिचित व्यक्ति से भेंट हो गयी । उस व्यक्ति ने उनके पिता को सूचना दी । दयानन्द नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर मे ठहरे हुए थे । पिता उनको घर ले गये । सिपाहियो का कडा पहरा लगा दिया । दयानन्द को तो सत्यतत्व की जानकारी प्राप्त करनी थी । एक दिन शय्या का परित्याग कर वे सवेरे-सवेरे घरसे वाहर निकल पडे । दिन भर घर के सामने ही एक वृक्ष पर वैठे रहे । किसी को पता न चल सका । शाम होते ही उन्होने गाँव छोड दिया । अहमदावाद होते हुए वे वडौदा आये । वडौदा में चैतन्य मठ के ब्रह्मानन्द स्वामी से.वेदान्त के सम्वन्ध में विचार किया । जीव और ब्रह्म की एकता में विश्वास वढ़ाने लगे । चाणोद में कुछ दिनो तक निवास कर उन्होने ज्वालानन्दपुरी तथा शिवानन्दगिरि से योग की क्रियायें सीखी । योग-दीक्षा लेने पर उन्होने अपना नाम दयानन्द रखा । वे दयानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए । चाणोद मे उन्होने पूर्णानन्द स्वामी से सन्यास-आश्रम की दीक्षा ली । व्यासाश्रम गये, योगानन्दसे योगाभ्यास सीखा । अहमदावाद के पास दुग्धेश्वर मन्दिर मे कुछ दिनो तक निवास कर स्वामी दयानन्द ने योगविद्या के गूढ तत्व सीखे । आवू पर्वत पर भी कुछ दिनो तक विचरण करते रहे ।

उन्होने भ्रमण और तप आरम्भ किया । वे सद्गुरु की खोज मे तल्लीन थे । उन्होंने दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर भारत के कुछ तीर्थों मे भी भ्रमण किया । सयोग से उन्हे मथुरा मे सद्गुरु का दर्शन हुआ । वे प्रज्ञाचक्षु थे । उनका नाम विरजानन्द था । वे वेद के परम मर्मज्ञ और व्याकरण के पूर्ण पण्डित थे । ग्यारह साल के अथक परिभ्रमण के वाद उन्होने गुरु की प्राप्ति की थी । इसके पहले वे उत्तराखण्ड में लम्वे अरसे तक तप कर चुके थे । इस समय दयानन्द छत्तीस साल के थे और विरजानन्द की अवस्था अस्सी साल की थी । उनके पास पहुँचते ही दयानन्द को पहला आदेश मिला कि यदि तुम मुझसे सद्विद्या प्राप्त करना चाहते हो, तुमने जिन ग्रन्थो के सहारे अध्ययन आरम्भ किया है

उन्हें यमुना में प्रवाहित कर दो। दयानन्द ने गुरु की आज्ञा का श्रद्धापूर्वक पालन किया। गुरु विरजानन्द ने नियम से उन्हे सद्शास्त्रो का अध्ययन कराया। गुरु के चरणो में स्वामी दयानन्द की अनन्य निष्ठा थी। विरजानन्द यमुना-जल से ही स्नान किया करते थे। गुरु की सेवा में उनके स्नान के लिये बारह घडे जल दयानन्द नित्य लाते थे। एक दिन गुरु ने शिष्य को बडी कडी ताडना दी। बात यह थी कि स्वामी दयानन्द झाड़ू दे रहे थे। सयोग से थोडा-सा कूडा कही पडा रह गया और उस पर गुरु के पैर पड गये। गुरु ने पीटना आरम्भ किया। दयानन्द ने पीटे जाने के बाद गुरु का हाथ सहलाया और कहा कि मेरे वज्र शरीर पर डडे लगाने से आप के कोमल हाथो को पीडा होती होगी। विरजानन्द बहुत प्रसन्न हुए और इस कडी परीक्षा में मफलता प्राप्त करने पर हृदय से आशीर्वाद दिया।

विरजानन्द का बडा कडा नियम था कि वे भूला पाठ नही पढाया करते थे। उन्होंने दयानन्द को आदेश दिया था कि यदि भूला पाठ स्मरण में न आये तो मेरे पास आने की अपेक्षा यमुना में डूब कर प्राण देना उचित होगा। एक दिन स्वामी दयानन्द पाठ भूल गये। उसका स्मरण करने की उन्होंने बडी चेष्टा की पर असफल हुए। गुरु की आज्ञा के अनुसार निर्जन यमुना तट पर एक पेड के नीचे बैठ गये और निश्चय किया कि यदि पाठ नही याद कर पाऊँगा तो यमुना में प्राण-विसर्जन कर दूँगा। थोडी देर में झपकी आ गयी, एक व्यक्ति ने प्रकट होकर विस्मृत पाठ की व्याख्या की। दयानन्द ने गुरु को घटना बतायी, वे बहुत हर्षित हुए और उनकी गुरुनिष्ठा और तन्मयता की सराहना की। स्वामी दयानन्द गुरु के पास लगभग तीन साल रहे। अध्ययन समाप्त करने पर आध सेर लौंग गुरुदक्षिणा लेकर उपस्थित हुए। विरजानन्द ने प्रेम से कहा कि लौंग से गुरुदक्षिणा पूरी नही होगी। मेरी हार्दिक इच्छा है कि तुम ससार को वेद ज्ञान प्रदान करो। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान से भारत ही नही, समस्त विश्व का कल्याण होगा। यही मेरे लिये उचित गुरुदक्षिणा है। दयानन्द ने गुरु के चरणो पर मस्तक नत कर वचन दिया 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' और गुरु के आशीर्वाद से वैदिक धर्म के प्रचार कार्य में लग गये। प्रभु के चरणो में आत्मा-पर्ण कर वे वैदिक सस्कृति के प्रचार के लिये निकल पडे। हरिद्वार में कुम्भ मेला के अवसर पर उन्होंने आर्य धर्म-वेदधर्म के प्रचार का प्रण किया। वे हरिद्वार गये। 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' के नीचे उन्होंने लोगो का आवाहन किया।

लोगो ने उनके सन्देश का स्वागत किया। दयानन्द स्वामी ने विचार किया कि वैदिक धर्म के प्रचार के लिये मुझे पहले तपस्वी वनना चाहिये। तप करने लगे। तप के वाद उन्होंने वैदिक सिद्धान्त के प्रचार का वीडा उठाया। स्थान-स्थान पर और नगर-नगर में शास्त्रार्थ आरम्भ हो गये। जनता ने स्वामी दयानन्द के रूप में अपने आध्यात्मिक और सास्कृतिक नेता का दर्शन किया। प्रयाग-काशी आदि स्थानो मे घूम-घूम कर वे वेदसम्मत सद्ज्ञान और ईश्वर-भक्ति से लोगो को अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। उनकी कृपा से घर-घर में वैदिक ऋचाओं का पाठ होने लगा। उन्होंने देश का भ्रमण आरम्भ किया। स १९३२ वि में उन्होंने वम्वई में आर्यसमाज की स्थापना की। वम्वई में आर्यसमाज की स्थापना के पहले राजकोट मे वे उसका शिलान्यास-सस्कार सम्पन्न कर चुके थे। देश में वैदिक क्रान्ति की लहर-सी आ गयी। पूना में महादेव गोविन्द रानाडे ने स्वामीदयानन्द का वडे स्वागत-सत्कार से अभिनन्दन किया। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की पताका के नीचे लोगो को एकत्र कर कहा कि सत्य विद्याका और उससे जो पदार्थ जाने जाते हैं उनका मूल परमेश्वर है। ससार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। केवल अपनी ही उन्नति से सतुष्ट नही रहना चाहिये, दूसरो की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये। उन्होंने पजाव, वगाल तथा समस्त भारत में आर्यसमाज की स्थापना का सकल्प कार्यान्वित किया।

वगाल-भ्रमण काल में ब्राह्म समाज के प्रसिद्ध नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने उनका भव्य स्वागत किया। केशवचन्द्र तो उनके विचारो से इतने प्रभावित हुए कि कहा कि यदि आप अग्रेजी भाषा जानते होते तो आपको विदेश ले चलता, अच्छा प्रचार होता। स्वामी दयानन्द की स्वदेश, स्वधर्म और भारतीय सस्कृति तथा साहित्य में प्रगाढ रुचि थी। उन्होंने सेन महोदय को उत्तर दिया कि यदि आप सस्कृत जानते होते तो आप अपने देशवासियों का निस्सन्देह वडा कल्याण करते।

एक वार स्वामीजी से किसी व्यक्ति ने कहा कि आप अपने उपदेश में यह मत कहा कीजिये कि अमुक वात वेदसम्मत है, आप को कहना चाहिये कि मुझे ईश्वर ने साक्षात् यह वात वतायी है। स्वामीजी ने तत्काल समाधान किया कि मै सत्य के प्रचार के लिये असत्य का सहारा कभी नहीं ले सकता।

सम्वत् १९३४ वि मे लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार किया। देश के प्रमुख नेतागण उस समय दिल्ली में ही उपस्थित थे। सरसय्यद अहमद और केशवचन्द्र सेन भी थे। स्वामी दयानन्द दिल्ली गये। उन्होने नेताओ को अपने निवास-स्थान पर आमन्त्रित किया और उनसे वैदिक धर्म की पताका के नीचे एकत्र होकर देशकल्याण में लग जाने की याचना की। वे आजीवन वैदिक ज्ञान के प्रचार मे लगे रहे। उन्होने अमृतस्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा का चिंतन किया।

स्वामी दयानंन्द ने राष्ट्र को जगाया, लोगो को जागृति का सन्देश दिया कि धर्म का अनुष्ठान करे, सद् शास्त्रो को पढे-पढावे, सत्पुरुषो का सग करे और 'ओ३म' परमात्मा के नाम का विचार-पूर्वक जाप करे। आत्मा को परमात्मा के आज्ञानुसार समर्पित कर दें। उन्होने लोक-जीवन का वैदिकीकरण किया। वे आध्यात्मिक जागृति के भारतीय लूथर थे, जिस प्रकार लूथरने शाश्वत सत्य के सहारे बाइबिल के सिद्धान्तो का समर्थन किया उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने सनातन परम्परा-गत सत्य को वेद ज्ञान के अनुसार जीवन मे उतारा। वे समन्वयवादी महात्मा थे, धर्म-दार्शनिक–महर्षि थे। स्वामी दयानन्द ने वेदाध्ययन पर बहुत जोर दिया। वेदो की अपौरुषेयता में उन्होने अटल विश्वास प्रकट किया। वेदसम्मत आचरण की पवित्रता में स्वदेशभक्ति का बीजारोपण किया। ईश्वरोक्त सत्यविद्या से सम्पन्न ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को ही सहिता की सज्ञा प्रदान की– यह उनके चरित्र की असाधारण मौलिकता है। स्वामी दयानन्द ने कहा कि शास्त्र वह है जो सत्यविद्या के प्रतिपादन से पूर्ण है तथा जिससे मनुष्य को सत्य की शिक्षा मिलती है। उन्होंने स्वीकार किया कि सत्यविद्या की निधि एकमात्र वेद ही है।

स्वामी दयानन्द की ईश्वर-भक्ति सर्वथा वेदज्ञान पर ही निर्भर है। उन्होने ईश्वरचिंतन के माध्यम से कहा कि जो ब्रह्म विमल, सुखकारक, पूर्ण काम सदा तृप्त और जगत में व्याप्त है वही सब वेदो से प्राप्य है। जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता अथवा यथार्थज्ञान है वही मनुष्य भगवान के आनन्द का भागी है। वही सदैव सबसे अधिक सुखी है। ऐसा मनुष्य धन्य है। जो नर इस ससार में अत्यन्त प्रेम, धर्म, विद्या, सत्सग, सुविचार, निर्वैरता, जितेन्द्रियता आदि शुभ गुणो तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से परमेश्वर का आश्रय लेता है वही सौभाग्यशाली है, वह सत्य विद्या के द्वारा सम्पूर्ण दुखो से छूट कर परमानन्द

परमेश्वर का नित्य सग—मोक्ष प्राप्त करता है। जन्ममरणरूपी दुखसागर को नहीं प्राप्त होता है। चेतन-अल्पज्ञ जीव का एकमात्र कर्तव्य परमानन्द की प्राप्ति ही है — इस सत्य को दयानन्द ने वेद के सद्ज्ञानप्रकाश में स्वीकार किया।

स्वामी दयानन्द ने धर्म के अभ्युत्थान से सामाजिक और सास्कृतिक क्रान्ति का आध्यात्मीकरण किया। सत्य, शिव और सुन्दर के वैदिक स्वरूप की खोज की। उन्होने कहा कि भारतवासियो के लिये एक भापा, एक वेप तथा एक ही प्रकार के भाव की नितान्त आवश्यकता और अपेक्षा है। उन्होने मानवता का पाठ पढाया। स्त्री जाति की शिक्षा तथा दलित वर्ग के अभ्युत्थान की ओर विशेप ध्यान दिया। गुरुकुल स्थापित किये तथा गोरक्षा की महत्ता पर प्रकाश डाला।

अपने सत्सिद्धान्त के परित्याग के लिये उन्हे वडे-वडे प्रलोभन दिये गये पर वे कभी विचलित न हुए। उदयपुर के महाराणा ने अपने शिवमन्दिर का उनको महन्त बनाना चाहा और कहा कि मन्दिर में असख्य सम्पत्ति है। स्वामी दयानन्द ने कहा कि मैं आपकी वात मानूँ या परमेश्वर की आज्ञा का पालन करूँ।

स्वामीजी वडे उदार और दयालु थे। वे वडे सहनशील थे। वैदिक धर्म के प्रचारकार्य में उन्हे वडी-वडी आपत्तियो का सामना करना पडा पर वे अपने पथ पर चलते रहे। अनूपशहर में एक विरोधी ने पान में विप खिला दिया। स्वामी जी ने गगा-तट पर जाकर यौगिक क्रिया से विप का कोप शान्त किया। अनूपशहर के तहसीलदार ने अपराधी को कारागार में बन्द करा दिया। जब स्वामी जी को पता चला, वे वहुत दुखी हुए। तहसील दार उनसे मिलने आया। स्वामी जी ने कहा कि मै वन्धन नही, मुक्ति देने आया हूँ। अपराधी कारागार से मुक्त हो गया।

उनमें ब्रह्मचर्य का अपार वल था। एक वार वे कुछ व्यक्तियो के साथ एक पगडन्डी पर टहल रहे थे। सामने एक वहुत वडा साड़ आता दीख पडा। लोग पथ से हट गये। स्वामीजी चलते रहे। साड रास्ते से दूसरी ओर हो गया। लोगो ने पूछा कि यदि साड आक्रमण करता तो आप क्या करते ? उन्होने कहा कि मै हाथ से पकड कर हटा देता। मथुरा निवास-काल में आर्थिक प्रलोभन देकर लोगो ने उनको पथ भ्रष्ट करने के लिये एक युवती वेश्या भेजी, वह देखने में वडी रूपवती थी, उसने समस्त अलकार पहन लिये। स्वामी जी को देखते

ही लौट आयी। समझाने पर दूसरी बार गयी। उसके उद्धार का समय निकट था। वह स्वामी जी के चरणो पर गिर पडी, फूटफूट कर रोने लगी। उसने वेश्या-कर्म का त्याग कर दिया। स्वामी दयानन्द की कृपादृष्टिसे उसका जीवन वदल गया। स्वामी दयानन्द अपने समय की बहुत वडी आध्यात्मिक विभूति थे।

सम्वत् १९४० वि मे जोधपुर नरेश के आमन्त्रण पर वे जोधपुर गये। राजा उनको अपना गुरु मानते थे। बडा सम्मान और आदर करते थे। एक दिन स्वामी जी बिना सूचना दिये ही दरबार में चले गये। उस समय राजा की रखेल नन्ही जान वेश्या उपस्थित थी। स्वामीजी ने राजा से कहा कि सिह और कुतिया का सग अनुचित है। राजा लज्जित हुए। नन्ही जान को पालकी पर चढा कर भेज दिया। नन्हीजान स्वामी जी की जान लेने पर तुल गयी। उसने जगन्नाथ रसोइये को कुछ रुपये देकर स्वामीजी को भोजन मे विष दिलवाया। स्वामी जी ने जगन्नाथ को बहुत से रुपये दिये और राज्य के बाहर जाने की सम्मति दी। वे चिकित्सा के लिये अजमेर ले आये गये। दशा बिगडती गयी। वे सम्वत् १९४० वि की दीपावली की ज्योतिमयी तिथि को परमात्मा में लीन हो गये। उन्होने अन्त समय मे कहा कि हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान आपकी यही इच्छा है। यह इच्छा पूर्ण हो। अहा, अच्छी लीला की! दयानन्द ने वेद के आधार पर विश्व-धर्म दिया। वे आत्मविश्वास, परमेश्वर की भक्ति और लोककल्याण के समन्वय-प्रतीक थे। वे असाधारण महात्मा थे।

रचना

सत्यार्थ प्रकाश, सस्कारविधि, व्यवहारभानु, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदाग प्रकाश, आर्याभिविनय आदि स्वामी दयानन्द की अमर कृति हैं।

वाणी

जो परमात्मा सब के आत्मा, सत्चिद् आनन्दस्वरूप, अनन्त, अज, न्यायकारी, निर्मल, सदादयालु, सर्वशक्तिमान और इष्ट देव हैं वे हमारी नित्य सहायता करे जिससे कठिन-से-कठिन कार्य-सम्पादन मे हम सफल हो। हे कृपानिधे। यह काम आप ही सिद्ध करने वाले हो, हम आशा करते हैं कि आप हमारी कामना अवश्य सिद्ध करेगे।

जिनके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतन हैं, अद्वितीय हैं, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त, आदिसत्य,

अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अज है तथा जिनका कर्म जगत की उत्पत्ति, पालन और विनाश है तथा समस्त जीवो को पाप-पुण्य के अनुसार फल ठीक-ठीक पहुँचाना है, वे ही ईश्वर है।

अपने पूर्ण पुरुपार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मो की सिद्धि के लिये परमेश्वर की सहायता लेने का नाम प्रार्थना है। अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण-ग्रहण मे पुरुपार्थ और अत्यन्त प्रीति प्रार्थना का फल है।

जिससे ईश्वर ही के आनन्द स्वरूप मे अपने आत्मा को निमग्न करना होता है वह उपासना है।

जिससे सव वुरे कर्म और जन्म-मरणादि दुख-सागर से छूट कर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर जीव आनन्दमग्न हो जाता है वही मुक्ति है।

जो सत्य का आचरण करता है वही ईश्वर को प्रिय है। सत्य सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है।

वेद सभी सच्ची विद्याओ के भाण्डार है, वे ज्ञान की अनुपम निधि है। उनका स्वाध्याय करना-कराना सत्पुरुपो और आर्यो का कर्त्तव्य है। पुरुप-स्त्री, छोटे-वडे सभी वेदाध्ययन के अधिकारी है।

परमेश्वर की नित्य प्रति प्रार्थना और उपासना सवको अनन्य चित्त होकर अवश्य करनी चाहिये, जो मनुष्य नित्य प्रेमभक्ति से ईश्वर की उपासना करते है, उन्ही उपासको को परम करुणामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षरूपी सुख प्रदान कर सदा के लिये आनन्द का भागी वनाते है।

हे न्यायाधीश प्रभो। आप अपनी कृपा से मुझको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेप, विपय-तृष्णा, निष्ठुरता आदि दुर्गुणो से मुक्त कर श्रेष्ठ कार्य में ही स्थिर करे। मै अति दीन होकर आपसे यही मॉगता हूँ कि मै आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ।

रामकृष्ण परमहंस

'हमारे सद्‌गुरु रामकृष्ण परमहस ने स्पष्ट घोषणा की कि समस्त धर्मों का मूलस्रोत एक ही है, अन्य आचार्यों ने अपने-अपने विचार और सिद्धान्त के अनुरूप अनेक मत-मतान्तरोको जन्म दिया पर उन्नीसवीं शताब्दी के इन परम सन्त ने किसी भी धर्म या मत पर आक्षेप नहीं किया, उन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया कि सब मत-मतान्तर एक ही शाश्वत ईश्वरीय धर्म के आवश्यक अग हैं।'

—विवेकानन्द

परमहस रामकृष्ण उन्नीसवी शताब्दी की आध्यात्मिक चेतना के दिव्य दूत थे, उनके उपदेशो और साधना-पद्धति की मौलिकता ने आध्यात्मिक जगत के प्राणियो को आश्चर्यचकित कर दिया। उनकी शक्ति-भक्ति की सात्विक सरिता और दिव्य मृदुता ने ज्ञानी, योगी, वैरागी, सन्यासी, तान्त्रिक, शाक्त, शैव और वैष्णव—सवको समानरूप से प्रभावित किया। परम पूज्य परमहस रामकृष्ण का स्मरण होते ही ज्ञानचक्षु तप की रजत पीठिका पर समाधिस्थ एक ऐसे सन्त, महासिद्ध, महात्मा का दर्शन कर लेता है जो पवित्रता की निष्कलक प्रतीक शुभ्र ज्योत्सना की दिव्य मूर्ति है, जो ससार में भगीरथ की तरह सत्य-शिव का सौन्दर्य उडेलने के लिये शक्ति-साक्षात् शिवमयी हैमवती की चरण धूलि की तरल कणिकामात्र मस्तक से स्पर्श कर कल्याणमन्दाकिनी धरती पर उतार लाना चाहता है। यह है पुण्यसलिला भगवती भागीरथी के तट पर स्थित दक्षिणेश्वर मन्दिर में शक्ति के महासाधक रामकृष्ण परमहस का एक शब्द-चित्र। उन्नीसवी शती में कम्पनी सरकार के पाप का घडा भर गया था, भारत देश उस समय गोरो के अत्याचार और उत्पात से त्रस्त था। ऐसे समय में स्वामी रामकृष्ण जैसे तेजस्वी सत ने जन्म लेकर एक वहुत वडी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की और ब्राह्म समाज के मायाजाल से वगाल को मुक्त तो किया ही, अखिल भारत में हिमालय से कन्या अन्तरीप तक उन्होंने

आध्यात्मिक ज्योति मे नव-जागरण का सन्देश भी दिया। देश ने करवट ली, भौतिकता अध्यात्म के चरणो पर नत हो गयी।

ईश्वर की शक्ति-रूप में उपासना करने वालो में परमहस रामकृष्ण का स्थान सर्वोच्च है। वे महासाधक, अनुभूतिजन्य आत्मज्ञान के महापण्डित और महादार्शनिक थे। रामकृष्ण ने सनातन परम्परा की ओर ध्यान आकृष्ट किया, उस समय किसी विजेता के नही—मत के सदेश की आवश्यकता थी। प्राणीमात्र के प्रति सहानुभूति का भाव दिखाकर उन्होने सिद्ध कर दिया कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना लोककल्याण का उत्तम साधन है। जीवमात्र एक ही ईश्वर के अश है। उन्होने सस्कृति और धर्म के आदर्शों के सरक्षण मे अमूल्य योग दिया, उनका जीवन धर्माचरण की सजीव कथा कहा जा सकता है।

बगाल प्रान्त के हुगली जिले में रेलकी सडक से पचीस मील दूर कामारपूकूर में (१८ फरवरी सन् १८३६ ई) सम्वत् १८९३ वि में चरित्रनायक रामकृष्ण ने बालक गदाधर के रूप में जन्म लिया। उनके पिता खुदीराम चट्टोपाध्याय गरीब और निष्ठावान ब्राह्मण थे। विश्वसाहित्यकार रोम्यारोला के शब्दो में रामकृष्ण परमहस भारत के नर-नारियो की दो सहस्राब्दिव्यापी आध्यात्मिक तपस्या के चिरवाछित वरदान के रूप में प्रकट हुए। उनके पिता सनातन परम्पराओ और रूढिगत भावनाओ के उदार पोषक थे। भगवान के सीधे-सादे भक्त थे। इन बातो का गदाधर के चरित्र-विकास पर बडा प्रभाव पडा। उनमें धर्मानुराग और सन्तसेवा के प्रति स्वाभिमान था। सात साल की ही अवस्था में उनके पिता चल बसे, सत्रह साल की अवस्था में अपने बडे भाई रामकुमार के बुलाने पर वे कलकत्ता चले गये। थोडे ही दिनो के बाद उन्हे अपने बडे भाई के साथ रानी रासमणि के दक्षिणेश्वर मन्दिर में रहना पडा। उनका जीवन बदल गया, शक्ति के चरणो में उन्होने अपना मस्तक नत कर आत्म जागरण का महामत्र जगाया।

बडे भाई की मृत्यु होने पर पूजा का भार उन्ही के कन्धो पर आ पडा। वे शक्ति की भक्ति में इतने अनुरक्त हो उठे कि उन्हे लोग पागल तक कहने लगे। वे घटो समाधि की ही अवस्था मे काली के ध्यान में मग्न रहने लगे। जगद्धात्री का प्रत्यक्ष साक्षात्कार और दर्शन करने के लिये वे आकुल हो उठे। वे जगदीश्वरी से एकान्त में, नीरवता की निर्विकल्प समाधि में माता के दरवाजे पर धरना देकर कहते थे भगवती, तुम इस प्रस्तर प्रतिमा में हो भी या केवल

भक्तो की भावुकता और कवियो की कोरी कल्पना ने ही तुम्हारा सृजन किया है। एक दिन तो आधीरात में माता के दर्शन के लिये इतने व्याकुल हो उठे कि मदिर की दीवार पर टगी नगी तलवार लेकर उन्होने जीवन का अन्त ही कर डालना चाहा था पर तत्क्षण तेज का अगाध पारावर उमडता दीख पडा और उनके नयनो की गगा-यमुना की लहरे उसमें समा गयी, साधना का अन्त हो गया और युगदेवता ने देवी की कृपा से सिद्धि का वरण किया, वे स्वामी और परमहस हो उठे। काली की प्रस्तर-प्रतिमा उनके लिये चिन्मयी, सजीव, और प्रेममयी मा हो गयी। वे मा के चरण-पायल की मधुर ध्वनि सुनने लगे। वे उनके लिये परब्रह्म थी। उन्हें मा का नित्य प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा।

दैवी शक्ति जगत के कण-कण में रात-दिन विचरण करती रहती है और अधिकारियो को अपनाने का अवसर ढूढा करती है। सन्त राम कृष्ण परमहसपर मा काली की पूर्ण कृपा हो गयी। उनको घटो समाधिस्थ देख कर लोग कहा करते थे कि वे पागल हो गये। यह बात उनके गाँव कामारपुकूर में भी बिजली की तरह फैल गयी। रामकृष्ण की पत्नी साध्वी शारदामणि देवी दक्षिणेश्वर गयी। परमहस ने कहा कि मैं स्त्री मात्र को मा काली का रूप समझता हूँ। मेरी तुम्हारे प्रति यही भावना है। पर ससार की दृष्टि में मेरा तुमसे विवाह हुआ है, यदि तुम्हारी इच्छा मुझे ससार में ही रखने की है तो मैं प्रस्तुत हूँ। स्त्री-पुरुष का भेद तो शरीर से होता है, आत्मा की सत्ता में तो सब मा के ही रूप हैं। शारदा मणि ने केवल साथ रहने की इच्छा प्रकट की। रामकृष्ण ने आज्ञा दे दी और उनको उच्च कोटि के ब्रह्मज्ञान से शिक्षित किया। अपने त्यागमय दिव्य जीवन को उन्होने पति के चरणोपर अर्पित कर दिया। सत और सज्जन का सग दैवी कृपा के परिणामस्वरूप ही मिलता रहता है। एक दिन दक्षिणेश्वर मन्दिर के सामने की ओर भगवती गगा के तट पर वे खडे थे। बयार का आलोडन धीरे-धीरे स्वच्छ जल का स्पर्श कर महाभाव में स्थित रामकृष्ण का अग-प्रत्यग शीतल कर रहा था। प्रकृति शात और नीरव थी। इतने में गगा की सुदूर लहर पर एक नौका देखकर उनका मन नाच उठा, उन्होने उस पर एक काषाय वेष धारिणी रमणी को बैठे देखा, उनके हृदय में आह्लाद ने करवट ली, सहसा हृत्तन्त्री के तार बज उठे। ऐसा लगता था कि सिद्धि साधक को धन्य करने आ रही है, गगा ने तपस्वी शिव की जटा से उतर कर भगीरथ की तपस्या फलवती करने के लिये योगिनी का रूप धारण कर लिया

है। परमहम ने योगिनी की चरण-धूलि मस्तक पर चढा ली। उसने उन्हे अभय दान दिया। वह तत्र और भक्ति योग मे पारगत थी। उसने उन्हे शिष्य की तरह तत्र और योग सिखाया। वह मन्दिर में ही रहने लगी।

रामकृष्ण के आध्यात्मिक विकास पर तोतापुरी नामक एक वेदान्ती ने भी काफी प्रभाव डाला था। रमते सन्यासी तोतापुरी रामकृष्ण के प्रेम से आकृष्ट होकर दक्षिणेश्वर मे ग्यारह मास तक ठहर गये। आध्यात्मिकता के उच्च स्तरो मे पहुँचा कर उनकी प्रकृति ने उनको परमहस बना दिया। उन्होंने सत्य, शिव और सुदर की झाकीका रसास्वादन कर लिया। ब्राह्मसमाजी केशवचन्द्रसेन और नरेन्द्रदत्त (स्वामी विवेकानद) ने उनके सम्पर्क मे आध्यात्मिक ज्योति पायी तथा भारत के नव जागरण मे योग दिया।

रामकृष्ण परमहस सदा माता से प्रार्थना किया करते थे कि मेरे मस्तिष्क मे ऊँच-नीच के भेद-भाव का अन्त हो जाय, सब प्राणियो में आपकी चिन्मयी सत्ता परिव्याप्त है। यही उनके सतसम्मत जीवन का मूल सिद्धात था। न उन्होने किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना की, न नया मत खडा किया। वे अपने जीवन के अन्तिम बीस सालो मे प्रारभिक जीवन के बीस वर्षो की अनुभूति वितरित करते रहे। इस काल में उन्होंने उत्तर भारत के विभिन्न तीर्थ स्थानो—काशी, वृन्दावन, प्रयाग आदि की यात्राये भी की थी। उनके ज्ञान और सिद्धान्तो के प्रचार मे स्वामी विवेकानन्द ने बडा योग दिया। रामकृष्ण ने सदा आत्मज्ञानका पक्ष लिया, वे आतमा के समक्ष धन और भौतिक शक्ति का कुछ महत्व ही नही स्वीकार करते थे।

उन्नीसवी शती के अन्तिम चरण मे भारत को ही नही—अपितु विश्वमात्र को इसी तरह की आत्मज्योति की आवश्यकता थी। भारतीय सस्कृति ने राम-कृष्ण परमहस के रूप में विश्व को आत्मज्ञान का दान किया। परम्परावादियो और तार्किको दोनो ने समान रूप से उनके उपदेशो में आस्था प्रकट की। समस्त देश ने उनको भारतीय सस्कृति के रक्षक के रूप में देखा। उनके प्रति सम्मान और आदर की भावना दिखायी। निस्सन्देह उन्होंने सब धर्मों की मूलभूत एकता का ईश्वर के रूप मे साक्षात्कार कराया। वे समन्वयवाद के प्रतीक थे। यूरोप और भारत दोनो को उनका सदेश सुनना था और तदनुरूप आचरण बना कर आत्म-ज्ञान से तृप्त होना था। भारतीय क्षेत्र मे उनका महत्व किसी यूरोपीय नास्त, इगनातियन लायला या वेस्ली से कम नही था। उन्होंने सारे मत-मतान्तरो

और सम्प्रदायो के अन्तर्देश में एक ही प्रभु की ज्योति की अनुभूति की। वे कहा करते थे कि जिस तरह एक ही चीनी से अनेक प्रकार के मिष्ठान्न बन जाते है उसी तरह परम मधुर भगवती के ही नाना रूपो की अनेकानेक देशो में समय-समय पर आराधना और उपासना होती रहती है। उनकी उत्कृष्ट साधना का स्वरूप मधुर भाव के राज्य में प्रवेश करना था। वे महाभाव में निमग्न रहते थे। उनका अटल विश्वास था कि जिस तरह दिग्दर्शक यन्त्र की सूची सदा उत्तर की ओर रहती है और उसके सहारे नाविक पथ भ्रष्ट नही होता है उसी प्रकार ईश्वरोन्मुख हृदय कभी भवसागर की उत्ताल तरगो में नही पड सकता। पहले ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये, आत्मज्ञान के पश्चात् पवित्र आध्यात्मिक वातावरण में ससार मन की शाति को विकृत नही कर सकता। अपने आपको शक्ति स्वरूपिणी भागवती सत्ता के चरणो पर यन्त्रवत् सौंप देना ही परम शाति का साधन है। वे कहा करते थे कि निष्काम सेवा से भगवत्प्राप्ति होने में कुछ भी सदेह नही रहता है। जिस तरह प्रतिमा में भगवन्निष्ठा की जाती है उसी तरह जीव में भी भगवान का निवास स्वयसिद्ध है।

उनके आध्यात्मिक जीवन का चरित्राकन सकेत करता है कि वे सत्य के देवदूत थे। उन्होंने जो कुछ भी कहा वह धर्म और शास्त्रसम्मत था। सन्तवाणी कभी सत्य, धर्म और शास्त्र के मूल सिद्धान्तो की न तो उपेक्षा करती है, न विरोध करती है। रामकृष्ण की वाणी सन्तवाणी थी।

वास्तव में वे परमहसत्व के सजीव चित्र थे। उनको देखने पर नास्तिक-से-नास्तिक की बुद्धि ने भी अपने आप में विवेक उतारकर विवेकानन्द की सज्ञा से अपनी आत्मा का शुभ परिणय-सस्कार सम्पन्न किया। आस्तिकता का केसरिया बाना पहनकर अमेरीका और यूरोप को मार्टिन लूथर के इतिहास का स्मरण करा दिया। रामकृष्ण शक्ति के चरणो में आत्मसमर्पण कर आत्मज्ञान की भीख मागते थे। उनके जीवनका अधिकाश समय समाधि मे ही बीता। (पन्द्रह अगस्त १८९६ ई) सम्वत् १९५३ वि में उन्होंने दिव्य धाम की यात्रा की, महासमाधि मे लीन हो गये। सेवाग्राम के सन्त महात्मा गाधी के शब्दोमे—'उनका जीवन धर्म को व्यवहार-क्षेत्र में उतार कर मूर्त स्वरूप देने के प्रयास की एक अमर गाथा है।' कामारपुकूर की शस्य श्यामला स्वर्णमयी धरती का सौभाग्य सर्वदा और सर्वथा सराहनीय और स्तुत्य है कि उसने अपनी गोद में इतने बडे सन्त को खेलाया। स्वामी रामकृष्ण

परमहस का समग्र जीवन सच्चिदानन्द के ऐश्वर्य, माधुर्य और स्वारस्य का अप्रतिम प्रतीक था।

रचना

स्वामी राम कृष्ण के उपदेश और वचन सग्रहरूप मे सुलभ है।

वाणी

पहले साधन करना चाहिये। इसके सिवा दूसरा मार्ग ही नही है, विना साधन के सच्ची भक्ति प्राप्त ही नही हो सकती है।

जिस पुण्यात्मा को परमेश्वर की दिव्य मूर्ति का साक्षात् दर्शन हो जाता है उसकी वृत्ति बालक के समान सरल हो जाती है। जगत का स्वरूप निराला दीख पडने लगता है।

ईश्वर अनन्त हो या चाहे जितने बडे हो— उनकी इच्छा होने से उनके भीतर की सार वस्तु मनुष्य के भीतर से आ सकती है और आती है।

भक्तिपथ आप का पथ है। यह वहुत अच्छा और सहज पथ है। अनन्त ईश्वर क्या जाने जा सकते है? उनको जानने की आवश्यकता ही क्या है? दुर्लभ मानव जन्म पाकर हमे इसी की आवश्यकता है कि उनके पादपद्म म किस तरह भक्ति हो।

सबसे पहले ईश्वर की प्राप्ति करनी चाहिये, ईश्वर ही साध्य है, इसके बाद दूसरे काम करने चाहिये।

जब तक ईश्वर का साक्षात्कार नही होता है तब तक इस बात का मानव को ज्ञान नही होता है कि वे भक्त के लिये विभिन्न रूप और भाव में व्यक्त होते है। ईश्वर शुद्ध आत्मावाले सच्चे भक्त के लिये अवतार लेते है।

ईश्वर के चरण-कमल में लीन होने वाला ही इस ससार में धन्य है, वह शूकर योनि में भले ही उत्पन्न हो पर उसका उद्धार अवश्य होता है।

काली मेरी माता है, वे जगत के आधार-आधेय है, निमित्त और उपादान कारण है। उनका रग काला नही है, वे परम मनोहर है तथा मानव के ज्ञान के लिये अगम है। उनके साक्षात्कार के बाद पता चलता है कि निर्गुण-सगुण ब्रह्म वे ही है। उनकी कृपा-दृष्टि से मनुष्य ससार-सागर से पार हो जाता है। वे लीलावती है, समस्त ससार उनकी लीला है। वे लीलामात्र—इच्छामात्र मे ही अपने भक्तो को ससार-बन्धन से मुक्त कर देती है।

सन्त वामाक्षेपा

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ॥
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तुते ॥

हे सर्वस्वरूपिणी सर्वेश्वरी सर्वशक्तिमयी दुर्गे, भय से हमारी रक्षा कीजिये, आपको नमस्कार है।

—दु स. ११/२३

स्वर्णिम बगभूमि शक्ति-उपासना और तान्त्रिक साधना की प्रधान पीठिका है। इस परम पवित्र भूमि में भक्ति और शक्ति के प्रेममय माधुर्य और दिव्य ज्ञानमय ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति समय-समय पर अमित समीचीन ढग से हो सकी है। सन्त रामप्रसाद की कालीउपासना और रामकृष्ण परमहस की शक्ति साधना से चिरगौरवान्वित इस तपोमयी भूमि में प्रसिद्ध अघोरी सन्त वामाक्षेपा ने तारा देवी—महाकाली श्यामा की उपासना कर शाक्त जगत में जो नाम कमाया उसका मूल्याकन लेखनी के वश की वात नही है। वामाक्षेपा सिद्ध महात्मा थे, जगत के कण-कण में—जड और चेतन में उन्होने अपनी आराध्य जगज्जननी तारा की ही अभिव्यक्ति देखी, वे आजीवन देवी के ही अनन्त ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्य के सागर में निमग्न रहे। सत वामाक्षेपा रामकृष्ण परमहस के समकालीन थे, जिस समय दक्षिणेश्वर मन्दिर में रामकृष्ण काली के पदपद्म की आराधना में तल्लीन थे उस समय वे वग भूमि में द्वारिका नदी के तट पर तारापीठ में भगवती तारा का मनोरञ्जन कर रहे थे। तारापुर बगाल केवीर भूमि जनपद का एक प्रसिद्ध स्थान है। यह द्वारिका नदी के तीर पर अवस्थित है, यही तारादेवी के मन्दिर में वडे-वडे शाक्त सन्तो ने सिद्धि प्राप्त की थी। इसी वीरभूमि जनपद ने गीत गोविन्द के रचयिता परमकृष्ण-भक्त महाकवि जयदेव और नित्यानन्द अवधूत को जन्म दिया था। तारापीठ में ही वशिष्ठ ने प्राचीन काल में तारादेवी की आराधना कर सिद्धि प्राप्त की थी। तारापीठ में ही सती के नयन का तारा गिरा था, इसीलिये यह स्थान शाक्तो के लिये सिद्ध पीठ वन गया।

मध्यकाल के अन्तिम चरण में तारापुर मुसलिम शासक के अधीन था, नाटोर राज्याधीश्वरी रानी भवानी ने तारापुर किसी दूसरे भूमिभाग के वदले में ले लिया था। नाटोर राज्य के शाक्त शासक राजा रामकृष्ण तारा देवी के वडे भक्त थे। उन्होने राज्य की ओर से तारादेवी के भोग आदि की व्यवस्था कर दी थी। वामाक्षेपा के गुरु मोक्षदानन्द और उनके गुरु आनन्दनाथ तारापीठ के कौलिक पद को सुशोभित कर चुके थे। अघोरी सन्त वामाक्षेपा तारादेवी के ही उपासक थे। अघोरी सन्तो में उन्हे गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त है। वामाक्षेपा देखने में वाह्याकृति से वडे भयकर और भीपण लगते थे पर उनसे साहस पूर्वक मिलने के वाद उनके उदार और कोमल हृदय तथा शिष्टता और शील का पता लगता था। वे अपने आप को लोक ससर्ग से दूर रखने के लिये पागल की तरह आचरण करते थे। तारापुर के श्मशान में निरन्तर निवास कर उन्होने तारा देवी की चरणभक्ति से जीवन में शिव का साक्षात्कार किया।

वामाक्षेपा ने तारापुर से थोडी दूर पर आटलाग्राम में सम्वत् १८९१ वि में एक धार्मिक ब्राह्मण परिवार मे जन्म लिया था। उनके पिता सर्वानन्द चट्टोपाध्याय वडे सदाचारी और भगवद्भक्त थे। उनकी पत्नी भी वडी सुशील और सती साध्वी थी। वामाक्षेपा के वचपन का नाम वामाचरण था और उनके छोटे भाई का नाम रामचन्द्र था। उनकी दो वहिने थी। वाल्यावस्था में वामाचरण काली की मूर्ति वनाकर खेल-ही-खेल में पूजा किया करते थे। भगवान के चरित्र—विशेप रूप से राम लीला में उनकी वडी रुचि थी। शैशवावस्था में ही पिता का परलोकवास हो जाने से उनकी शिक्षा—दीक्षा का उचित प्रवन्ध न हो सका। यौवन के प्रथम कक्ष मे प्रवेश करते ही परिवार के भरण-पोषण का भार वामाचरण के कन्धो पर आ पडा, विवाह का समय उपस्थित देख कर माताने उनको काम-काज करने की प्रेरणा दी। वामाचरण निरुत्तर हो गये, वे तारादेवी के मन्दिर में गये, उन्होने तारा माता से निवेदन किया, जगज्जननी की कृपा से उन्होने काम-काज करने की प्रेरणा प्राप्त की। वामा ने घर जाकर अपनी मा से कहा कि मै काम करूँगा। वाहर जाकर रुपया कमाऊँगा। माता ने ममता भरी दृष्टि से वामा को देखा, कहा, 'तू मेरा पागल लडका है, मै तुम्हें अपने प्राण से भी अधिक चाहती हूँ, तुम घर पर रह कर खेती करो।' वामा ने कहा 'मा, मै ब्राह्मणकुमार हूँ, यद्यपि मेरी शिक्षा-दीक्षा नही के वरावर है, तो भी मै ठाकुरमन्दिर में जाकर पुजारी का काम तो कर ही सकता हूँ।' मा ने

स्वीकृति दे दी। कुछ दिनो तक वे एक मन्दिर में ठाकुर की पूजा करते रहे पर बाद में उन्होने मालिक से ठीक ठीक बात बता दी कि मैं अयोग्य हूँ, मुझसे भगवान की पूजा नही हो सकती है। वामा ने पुजारी का काम छोड दिया। इस समय उनकी अवस्था लगभग बारह साल की थी। वे अपनी बहिन के घर आकर रहने लगे पर उनका मन स्थिर न रह सका। उनके हृदय में वैराग्य और साधना की तरगें उठ रही थी। उन्होने अल्पावस्था में घर का त्याग कर दिया, तारापीठ में चले आये। उस समय प्रधान कौलिक मोक्षदानन्द थे। उनके सम्पर्क में रह कर वामा शाक्त साधना मे प्रवृत हुए, श्मशान-निवास उनके लिये परमानन्द-प्रद हो उठा, मोक्षदानन्द उनकी तपोमयी प्रवृत्ति से बहुत प्रसन्न रहते थे। वामा कभी-कभी अपनी विधवा माता को आश्वास्त करने के लिये घर आया करते थे पर यह आना दो एक घटे के ही लिये होता था। थोडे समय के बाद मोक्षदानन्द के तारापद में लीन होने पर अल्पावस्था में ही वामाक्षेपा प्रधान कौलिक पद पर प्रतिष्ठित हुए।

एक दिन वे द्वारिका नदी में स्नान कर रहे थे, नदी बाढ पर थी। चारो ओर पानी ही-पानी का राज्य था। नदी की दूसरी ओर उन्हे दूर से ही 'हरिनाम' की ध्वनि सुनायी पडी। वामा ने अपने स्वजनो को देखा कि वे शव-दाह के लिये नदी-तट पर उपस्थित हैं। वे तारा पीठ की ओर श्मशान में शवका दाह सस्कार न कर नदी की उसी ओर अन्त्येष्टि सम्पन्न करना चाहते थे, बाढ के कारण श्मशान भूमि में शव ले आना कठिन था। वामा समझ गये कि मेरी मा ने महा-प्रस्थान किया है। महायोगी वामा क्षेपा जिन्हे गाव वाले नितान्त क्षेपा—पागल कह कर पुकारते थे बाढ के वेग का सामना कर दूसरी ओर पहुँच गये। मातृ-वियोग ने वामाक्षेपा ऐसे महायोगी को भी विचलित कर दिया। उनके नयनो से अश्रुपात होने लगा। उन्होने तारा देवी को सम्बोधन कर कहा जगज्जननी क्या आप के मन्दिर के निकट श्मशान में मेरी मा शरण न पायेगी ? अवश्य पायेगी। वे लाश को लेकर नदी में कूद पडे और बात-की बात में तारापीठ के निकट श्मशान में पहुँच कर उन्होने बडे समारोह से मातृशव का दाह-सस्कार किया। ब्रह्मभोज-श्राद्ध दिवस के दो दिन पहले ही घर जाकर उन्होने अपने छोटे भाई रामचन्द्र से कहा, 'आगे का मैदान साफ कर लो। सात आठ गाव के ब्राह्मणो को श्राद्ध-भोज के लिये निमिन्त्रित कर दो।' रामचन्द्र ने पागल भाई की बात पर ध्यान नही दिया। श्राद्ध के दिन दूर-दूर से खाद्य पदार्थ—दही-चूडा

आदि के भार आते देख कर रामचन्द्र तथा गाँव के अन्य लोग आश्चर्य चकित हो गये। बहुत से निमन्त्रित ब्राह्मण उपस्थित हो गये। तारा पीठ से स्वय वामाक्षेपा भी आये हुए थे। थोडी देर मे आकाश काले-काले मेघो से आच्छन्न हो उठा, वृष्टि होने ही वाली थी। सब लोग चिंतित हो उठे।

'दादा, जिस प्रकार आप ने समस्त प्रबन्ध किया उसी प्रकार वृष्टि भी रोक दीजिये।' रामचन्द्र ने वामा के चरण का स्पर्श किया।

वामा ने जगज्जननी तारा का ध्यान किया कि मा यदि ब्राह्मण बिना भोजन किये ही चले जायेंगे तो मेरी जननी का श्राद्ध अधूरा रह जायेगा। तारा ने वागसिद्ध वामाक्षेपा की मनोकामना पूरी की। उनकी कृपा से आकाश निर्मल हो गया, वृष्टि की सभावना का अन्त हो गया। विधिपूर्वक श्राद्ध और ब्राह्मण-भोजन सम्पन्न होने पर वामाक्षेपा तारापीठ चले आये। उनकी सिद्धि ने उपस्थित जनता का मन मुग्ध कर लिया, वह वामा के चरण में नत हो गयी। उनका समस्त जीवन तारा के चरणो में समर्पित था, उन्होंने अपने आप को मा की गोद मे सुरक्षित कर निर्भयता प्राप्त कर ली थी। वे बालक की भाँति बाह्यज्ञान से सर्वथा शून्य होकर मा की प्रेममयी-वात्सल्यमयी गोद में खेला करते थे, मा भोजन दिलाती तो खा लेते थे, कपड़ा पहनाती तो पहन लेते थे। बालक की तरह दो एक बार तारा के सामने उन्होंने मूत्र त्याग भी कर दिया, उनकी दृष्टि में यह आचरण सर्वथा दोपरहित था, बालक तो ऐसा किया ही करता है। नाटोर राज्य के तारापीठस्थ राजकर्मचारियो ने मन्दिर के भोग आदि की व्यवस्था अपने हाथ में ले ली, माता के मन्दिर को अपवित्र करते रहने का उन पर दोप लगाया। वामा का प्रसाद पाना बन्द हो गया। वे कई दिन तक निराहार रहे पर एक क्षण के लिये भी उन्होंने मा का नाम विस्मृत नही होने दिया। भूख और प्यास बढने पर वे मा के नामामृत से तृप्त हो जाया करते थे। उनके मुख से निरन्तर 'तारा-तारा' का उच्चारण होता रहता था। अचानक एक दिन नाटोर राज्य का प्रधान कर्मचारी मन्दिर में उपस्थित हुआ, यद्यपि देवी की पूजा समाप्ति हो गयी थी तथापि उसने षोडसोपचार विधि से भगवती की पूजा करायी और वामाक्षेपा को आदरपूर्वक भोजन कराया। कोई व्यक्ति प्रधान कर्मचारी की आज्ञा का विरोध न कर सका। शाम को उसने समस्त कर्मचारियों तथा पुजारी आदि को एकत्र कर कहा, कि रानी मा ने स्वप्न देखा है, तारा देवी ने स्वप्न में आदेश दिया है कि मै तीन-चार दिन से भूखी हूँ, मेरी पूजा

विधि पूर्वक नही हो रही है। मै उन्ही के आदेश से यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। मैंने भी दो-तीन दिन से कुछ नही खाया है। यहाँ आने पर पता चला कि वामा चार दिनो से भूखे हैं, उन्हें मा का प्रसाद नही दिया गया है। हम लोग वामाक्षेपा के महत्व को नही समझ सकते है, वे असाधारण सिद्ध हैं, अघोरी सन्त है, तारा के परम प्रिय पात्र है। मा के भोग के पहले ही उन्हे प्रसाद दिया जायेगा। वामा को प्रसन्न कर प्रधान राजकर्मचारी नाटोर चला गया। वामाक्षेपा की प्रसिद्धि चारो ओर बढने लगी। दूर-दूर से लोग उनकी पवित्र चरण-धूलि से धन्य होने के लिये आने लगे। वे अपनी साधना में लग गये। देवी का नाम ही उनके जीवन का आधार हो गया।

वे तारापीठ के निर्जन वातावरण में, श्मशान की नीरवता में, द्वारिका नदी की वालुका में लेट कर तथा कभी-कभी बैठ कर तारा का नाम-जप किया करते थे। मूक भाषा के माध्यम से अपनी आराध्या के चरणदेश मे श्रद्धा समर्पित किया करते थे। वे कभी-कभी प्रसिद्ध बगीय शाक्त सत रामप्रसाद के गीत गाया करते थे। प्राणो का कपाट खोल कर हृदय मे जब तारा का आवाहन करते थे तब उनके रोम-रोम सिहर उठते थे, नयनो से अश्रु का प्रवाह उमड पडता था। वे मा-तारा की भक्ति प्राप्त करने के लिये सदा आतुर रहते थे। उनके मन में किसी भी प्रकार का विकार नही था। जीव-जड जगम में वे मा की परिव्याप्ति की ही अनुभूति करते थे। रामप्रसाद और वामा दोनो एक श्रेणी के शाक्त थे पर अन्तर केवल इतना ही था कि रामप्रसाद गृहस्थ सन्त थे, वामाक्षेपा आजन्म ब्रह्मचारी थे। वे मद्य का ग्रहण मद्य रूप में नही करते थे, वे मद्य को आदि-शक्ति विश्वेश्वरी तारा का साक्षात् चरणामृत समझ कर पीते थे, वे जागतिक ज्ञान वाह्य ज्ञान से नितान्त परे हो कर तारा से विश्वास और भक्ति की याचना करते थे। वे भक्त सन्त थे। तारा की कृपा से उन्होने बडे-बडे अलौकिक कार्य सम्पन्न किये। तारापीठ के सन्निकट नदीतटीय पचवटी वन में ही उन्होने सिद्धि-प्राप्ति के लिये घोर तपस्या की और मा की कृपा से उनकी तपस्या सफल हो कर ही रही। अघोरी वामा अपने साथ एक कुत्ता भी रखते थे, उसका नाम उन्होने कालू रखा था। उनका दृढ विश्वास था कि तारा के भक्ति-सागर में निमग्न होने पर बडे-बडे रत्नो-सिद्धियो की प्राप्ति होती ही है। वे तारापीठ के निकट शाल्मली वृक्ष के नीचे बैठ कर तारा का स्मरण करते थे, कभी वृक्ष और पक्षियो की ओर अगुली से सकेत कर नाचने लगते थे, इस प्रकार वे सवेरे

से शाम तक शाल्मली वृक्ष के नीचे बैठ कर माता तारा का ध्यान किया करते थे। शाल्मली के नीचे वशिष्ठ के योगासन पर बैठ कर कभी-कभी वामाक्षेपा ज्योत्सना भरी रातों में साधना किया करते थे। उनकी उपस्थिति ने तारापीठ की नीरव रमणीयता का सौन्दर्य बढा दिया।

वामा उच्च कोटि के त्यागी थे। किसी भी वस्तु में उनकी ममता नहीं थी। वे अपरिगही महात्मा थे। वे सबको 'साला' कह कर पुकारा करते थे, उनके 'साला' शब्द में उनके हृदय की प्रेममयी व्यञ्जना का दर्शन होता है। एक बार एक सज्जन ने उनकी परीक्षा ली। उन्होंने वामा को रत्नालकार समर्पित किया। वामा ने रत्नालकार हाथ में लेकर फेंक दिया, हड्डियों की माला दिखला कर उन्होंने कहा कि मेरा रत्नालकार तो यह है।

एक समय वसन्त कालीन दोपहरी में शाल्मली वृक्ष के नीचे वामाक्षेपा अपने सियार और कुत्ते के साथ विश्राम कर रहे थे। एक परिचित व्यक्ति आकर उनसे बात करने लगे।

'तान्त्रिक साधक की महिमा मैं कुछ भी नही जानता हूं। मेरे घर के निकटस्थ घर मे एक तान्त्रिक साधक आया था। उसे देखते ही मुझे घृणा हो गयी।' परिचित अन्तरग व्यक्ति ने वामा के चरणो मे निवेदन किया।

वामा ने कुछ देर तक सोचा, उसके बाद हो-हो कर हसने लगे। उन्होंने कहा 'तुम तान्त्रिक की बात समझ ही किस तरह सकते हो? जिसे जगत घृणा की दृष्टि से देखता है, उसे मा तारा अपनी गोद मे स्थान देती हैं। तुम ऐसे तान्त्रिक साधक को किस तरह जान सकते हो?' परिचित व्यक्ति को तान्त्रिक साधना का मर्म समझाया। आश्विन की नवरात्र में सारा बगाल महाकाली की भक्ति मे विभोर हो उठता है। एक बार आश्विनशारदीय सप्तमी तिथि को एक विद्यालय के अध्यापक तारा की पूजा देखने के लिये तारापुर मे उपस्थित हुए। उन्होंने वामाक्षेपा का भी दर्शन किया। वे निटकवर्ती कनकपुर के विद्यालय में अध्यापन करते थे। वामा ने उनको बडे आदर से अपने पास बैठाया। एक सज्जन ने कहा कि पण्डित जी कनकपुर में पढाते है। वामा ने कहा कि मैं तो निरक्षर हूँ, मूर्ख हूँ। पण्डितजी ने कहा कि बाबा! आप तो पाशमुक्त हैं, शिव स्वरूप हैं। मुझे गुरुमन्त्र -जप का मर्म समझाइये।

वामा ने पण्डितजी की श्रद्धा और भक्ति से प्रसन्न होकर कहा कि तुम कलि के जीव हो। जप से सिद्धि मिलती है। निर्जन एकान्त स्थान में मा के नाम

का जप करो, सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी। ऐसा कह कर वामाक्षेपा प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगे। दर्शको ने उनकी चरण-धूलि से अपने आप को धन्य किया।

निस्सन्देह श्मशान में रहते-रहते अघोरी वामा अघोरस्वरूप शिव हो उठे। एक समय बडी विचित्र घटना हुई। कई दिनो से मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। शाम को जगदम्बा की आरती समाप्त होने पर वामा अपनी कुटी में आये। घोर वृष्टि हो रही थी, वातावरण जन-समागम से सर्वथा शून्य था, आकाश मेघाच्छन्न था और धरती पर अन्धकार का भीषण साम्राज्य था, बिजली कडक रही थी। वामा अपने कुत्ते कालू के साथ कुटी में थे, कुटी में उन्होने वहुत-से नरमुण्ड एकत्र किये थे, इस भयावनी रात को वे और भी भयकर रूप प्रदान करते थे। वामा जोर-जोर से जगदीश्वरी तारा का नाम लेकर नाच रहे थे। वे माता के नामामृत-पान से प्रमत थे। इधर कालू भौ-भौ भूक रहा था, वामा को काट रहा था। अघोरी वामा कुत्ते को स्नेह से थपथपा कर कहते जाते थे कि कालू मुझे मत काटो। उनके देह से रक्तपात हो रहा था पर वे अपनी मस्ती में मग्न थे। इसी समय एक परिचित व्यक्ति ने कुटिया में प्रवेश कर वामाक्षेपा की चरण-धूलि अपने मस्तक पर चढायी। वामा ने उसे गाने का आदेश दिया, वह मत्त होकर शाक्त सन्त रामप्रसाद का गीत गाने लगा और वामाक्षेपा नाचने लगे। गान सुनकर वे प्रेम विभोर हो गये, उनके नयनो से अश्रु झडने लगे। इस प्रकार वामा ने अपने साधनामय जीवन का अधिकाश जगदम्वा के भक्तिपूर्ण आनन्द राज्य में विताया। भारतीय सन्तसाहित्य की शक्ति-साधना के क्षेत्र में वे स्वर्णभूमि बगाल की दिव्य देन थे।

वामा अन्तर्यामी सन्त थे। एक समय एक जमीदार तारादेवी के दर्शन के लिये आये हुए थे। वे नदी के तट पर बैठ कर आह्निक—सध्या आदि कर रहे थे। वामाक्षेपा जल में क्रीडा कर रहे थे। उन्होने जमीदार पर जल के छीटे फेंके। जमीदार ने वामा को रोका और कहा कि आह्निक में विघ्न उपस्थित करना उचित नही है। वामा उनकी वात सुनकर हँसने लगे, कहा कि वहुत वडे आह्निक करने वाले हो, शरीर से जप करते हो, मन मूर कम्पनी में जूते खरीद रहा है। जमीदार उनकी वात सुन कर आश्चर्य चकित हो गये। वात ठीक ही थी, जप करते समय वे सोच रहे थे कि तारापुर से कलकत्ता जाऊँगा, मूर कम्पनी में जूते खरीद कर घर जाऊँगा। वे वामा के चरण पर नतमस्तक हो गये, सन्त से अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना की। वामा मौन हो गये।

वे माता की कृपा से सब कुछ साध्य समझते थे। एक समय हरिद्वार में एक व्यक्तिको देख कर एक महात्मा ने दीर्घ श्वास लिये। उन्होंने व्यक्ति से कहा कि एक सप्ताह में तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। एक महात्मा काशी में रहते है, उनसे उपाय मिल सकता है। व्यक्ति ने काशी वाले महात्मा से मृत्यु से बचने का उपाय पूछा, महात्मा ने कहा कि मृत्यु से तुम्हे सन्त वामाक्षेपा बचा सकते है। वे तारापुर में रहते है। व्यक्ति तारापुर आया, उसके जीवन का अन्तिम दिन था। उसने वामा का चरण पकड कर कहा 'ठाकुर, मेरी रक्षा कीजिये।' वामा ध्यानमग्न थे। नेत्र खोलते ही उन्होने देखा कि एक सॉप दशन के लिये व्यक्ति का पीछा कर रहा है। वामा के दृष्टिपात करते ही सॉप भाग गया। वामाक्षेपा ने व्यक्ति से कहा 'आज आधी रात को सॉप तुम्हे अवश्य काटेगा पर तुम एकाग्र मन से तारा का जप करो, प्राण-रक्षा अवश्य होगी।' वामा ने एक वृत्ति खीच दी, व्यक्ति ने उसमे प्रवेश किया और मा का नाम जपने लगा। सॉप ने आधीरात को उसे काट लिया। वह सज्ञाहीन हो उठा। भक्तो ने देखा कि वामा एक स्त्री से कह रहे हैं कि मा उसके प्राण बचा लीजिये, स्त्री तो जगदम्बा ही थी, तारा की कृपा से व्यक्ति ने चेतना प्राप्त की। इस प्रकार वामा ने मृत्यु के पजे से उसे मुक्त कर लिया।

मातृ-शक्ति की उपासना ही उनके जीवन का मुख्य सिद्धान्त था। उनकी योगशिक्षा किसी गुरु के निकट नियमित रूप से नहीं हुई थी। उनकी साधना के मूलाधार भक्ति और विश्वास थे। वे कहा करते थे– 'जपात् सिद्धि ।' विश्वेश्वरी के नाम के जपने की ही उन्होने सीख दी। वे 'सत्य' को ही कलि का धर्म मानते थे। उनकी दृष्टि में माया नाम के किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं था। उन्होंने माया को महामाया का स्वरूप बताया। जगदीश्वरी के चरण में निष्ठा ही उनकी भक्ति का स्वरूप है। उनकी तारा माता ही भगवद्भक्ति स्वरूपा महाशक्ति है। वे निवृत्ति अथवा योग मार्ग के सिद्ध सन्त थे। वे कहा करते थे कि केवल आर्त्त भाव से पुकार पर ही मा की प्राप्ति हो जाती है, वे कृपापूर्वक दर्शन देती है। मैं योग-याग कुछ भी नहीं जानता हू, केवल आर्त भाव से मा को पुकारना ही मेरा स्वधर्म है। वे कृपापूर्वक दर्शन देती ही है–यह नितान्त असदिग्ध है।

उनकी साधना का स्वरूप एकमात्र जप ही था। अपने आपको मा के चरण देश मे डाल देना ही तान्त्रिक साधना अथवा शक्ति-उपासना की चरम

अवस्था है –ऐसा उनका दृढ़ मत था। इसी को वे निवृत्ति-पथ कहा करते थे। उनकी उक्ति है कि कर्म और भोग के शेष होने पर ही साधक निवृत्ति पथ में अग्रसर होता है। उनका दृढ विश्वास था कि तन्त्र के अनुसार काली-साधना करने पर ही ईश्वर-उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। काली और ईश्वर में उनकी भेद दृष्टि नही थी। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक साधक को ईश्वर-उपासना के पूर्व तान्त्रिक साधना के मार्ग से चलना पडता है। उनकी उक्ति है कि वेद का कर्मकाण्ड ही तन्त्र है, वेद के समस्त क्रिया-कलाप तन्त्र हैं, महादेव इसके वक्ता हैं, भगवती इसके श्रोता हैं।

सन्त साहित्य की श्रीवृद्धि में वामाक्षेपा ने महान योग दिया। उन्होने सात्विक, राजसिक और तामसिक–तीन श्रेणी की साधना बतायी। सात्विक को परम निवृत्ति का पथ कहा। बाह्य आचार तमाशा, नाच आदि में व्यस्त रहने को तामसिकता का रूप दिया। राजसिक भाव को तान्त्रिक उपासना में परिगणित किया। गीता और योगवाशिष्ठ रामायण में वामा की बडी निष्ठा थी। सत्य को वे उपासना का सारतत्व कहा करते थे। उनकी सीख है कि सत्य की रक्षा में मन को सदा तत्पर रखना चाहिये। इससे मन पवित्र होता है, मन की पवित्रता से मा की कृपा प्राप्त होती है।

वामाक्षेपा तारापीठ के विशेष उत्सवो पर मग्न होकर मा के सामने नाचा करते थे। नाचते-नाचते कौपीन गिर पडता था, वे दिगम्बर हो जाते थे, कहा करते थे कि मेरी मा तारा और पिता चन्द्रचूड शकर दोनो ही दिगम्बर है।

उन्होने अपने महाप्रस्थान की सूचना कुछ दिनो पहले ही दे दी थी। महाप्रयाण के पूर्व उनमें विशेष भावान्तर देखा गया था, वे बाहर-भीतर दोनो ओर से कोमलता की प्रतीक हो उठे। सम्वत् १९६८ वि में श्रावणमास में उन्होने तारापद में महासमाधि ली। तारापीठ के निकट शाल्मली वृक्ष के नीचे उनके स्मारक स्वरूप एक मन्दिर अवस्थित है। वे परम अवधूत, महायोगी अघोरी सन्त थे।

वचन

वामाक्षेपा के वचनामृत ही उनकी अमरकृति है।

रचना

भक्त की साधना बडी गुप्त होती है। यह लोगो के देखने समझने की

वस्तु नही है। गुरुजनो की उक्ति है 'गोपयेत् मातृजारवत्' साधक की साधना गोप्य ही है, कोई नही जान पाता है।

मा—तारा का दर्शन बहुत ही सहज है। आर्तभाव से पुकारने पर वे दीख पड़ती है। भक्ति और विश्वास से ही मा की प्राप्ति होती है, अन्य किसी वस्तु से वे नही मिलती है। मै तो योग-याग कुछ भी नही समझ पाता पर आर्तभाव से पुकारने पर मा मिल जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीता की ही तरह तन्त्र भी अपौरुषेय है, भगवान शिव के श्रीमुख से नि सृत है। यह केवल कलि के ही लिये नही, समस्त युगो के लिये है। ऐसा न होता तो वशिष्ठ देव किस प्रकार सिद्ध होते, यह तो इस युग की बात नही है।

तान्त्रिक साधक मा के आधार पर रहते है पर जो सात्विक भावापन्न नही हैं उन्हे मा अपनी गोद में नही रखती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति-साधना के दो मार्ग है, जन्म-जन्मान्तर की विषय-भोग-इच्छा पर विजयी होने के बाद ही साधक निवृति-योग मार्ग पर आता है . उसे पतन का भय नही रहता है, कर्म और भोग के क्षय होने पर निवृत्ति पथ की यात्रा होती है।

काल की शक्ति काली है, तन्त्र के अनुसार काली की साधना न करने पर साधक ईश्वर-उपासना का अधिकारी नही हो सकता है।

चरित्र मनुष्य की अमूल्य सम्पत्ति है। चरित्र के नष्ट होने पर मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है। उन्नति की आशा नही रह जाती है। साधना-क्षेत्र में एक अघोरी अवस्था है — अवधूत अथवा ब्रह्म-ज्ञान अवस्था या मृत अवस्था है। इस अवस्था में किसी प्रकार का विचार नही रह जाता है, यह साधना की चरमावस्था है, इस अवस्था में अहता नही रह जाती है, 'तत्त्वमसि' की प्राप्ति हो जाती है, इस अवस्था वाले मनुष्य को सहज मे ही नही पहचाना जा सकता है। उसे किसी बाह्य विषय का ज्ञान नही रह जाता है, देह सम्बन्ध मिट जाता है, जगत के साथ कोई सम्बन्ध नही रह जाता है, मा के साथ सम्बन्ध रखकर अन्य सम्पर्क का त्याग कर देना पड़ता है। क्या यह अवस्था सहज है, बाबा!

कर्म से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति और विश्वास की स्थिति है—भक्ति और विश्वास से निर्वाण —मुक्ति की प्राप्ति होती है। मैं तो मूर्ख हूं, तन्त्र नही जानता हूँ और न जानना भी चाहता हूँ। मेरी तो केवल 'तारा-तारा' ही बोलते रहने की इच्छा है। निर्वाण क्या है, बाबा! मेरी तारा मा ही सब कुछ है। ज्ञान-भक्ति और विश्वास सब कुछ तारा मा की ही कृपा से मिलते है।

महात्मा रूपकला

सीता लखन समेत प्रभु सोहत तुलसीदास ।
हरषत सुर बरषत सुमन सगुन सुमगल बास ।।

—तुलसीदास

श्री अवध सौन्दर्य ब्रह्म राम की लीला भूमि है। उसके प्रत्येक कण में दिव्यता का मनोरम रमण है। भगवती सरयू के रमणीय तट से विचुम्बित अवध क्षेत्र में निवास करने का सौभाग्य दशरथनन्दन राम की ही कृपा से मिलता है। महात्मा रूपकला रामके परम कृपापात्र थे, उन्होने सीताराम के चरण कमल में शरणागत होकर उनकी मधुर रति के रसास्वादन से असख्य प्राणियो को जो परितृप्ति प्रदान की वह उनके चरित्र का एक सरस अग स्वीकार किया जा सकता है। विक्रमीय बीसवी शती का अवधक्षेत्र उनकी पवित्र उपस्थिति से वृन्दावन हो गया। चरणो में पायल बाधकर अपने प्रत्येक श्वास के कम्पन पर थिरक थिरककर सीता के कैकर्य रस से प्रमत्त, राम के अनन्य उपासक के रूप में रूपकला ने जो दिव्य यश प्राप्त किया वह रामभक्तो की रसप्रियता-प्रेमोपासना अथवा मधुर रति के इतिहास की एक मौलिक घटना है'। उन्होने विहार और अवध को ही राम की सरस भक्ति से सम्पन्न नही किया, समस्त रामभक्ति विभूषित भूमि को उनके सरस लीला-चरित्र का परिज्ञान कराया। वे रसिक सन्त थे, प्रेमी महात्मा थे। उन्होने गृहस्थाश्रम में गृहस्थ की तरह आचरण कर भगवान राम की कृपा प्राप्त की और सन्यासाश्रम में राम की लीलामाधुरी का अनुभव किया। भगवन्नाम-कीर्तन और भगवद्प्रेम के प्रचार में ही उन्होने अपना समय सार्थक किया, वे परम रामभक्त थे।

महात्मा रूपकला का प्राकट्य विहार प्रान्त के छपरा जनपद से सात मील की दूरी पर मुवारकपुर ग्राम में हुआ था। उनके पितामह केवल कृष्ण जी अपने भ्राता से न पटने के कारण इलाहाबाद जनपद के आलमगज उपनगर में रहने लग गये थे। वे नीलकोठी में प्रमुख कार्यकर्ता के पद पर नियुक्त थे। उनके पुत्र तपस्वी राम जो वडे कोमल हृदय के भगवद्भक्त थे, रूपकला के पिता थे।

रूपकला की माता का नाम शिवव्रती देवी था। रूपकला ने आलमगज मे सम्वत् १८९७ वि श्रावण कृष्ण नवमी को जन्म लिया था। तपस्वी राम के ज्येष्ठ भ्राता तुलसी राम बहुत बडे भगवद्भक्त थे। उनकी देख-रेख में रूपकला का पालन-पोषण हुआ। रूपकला के बचपन का नाम भगवान प्रसाद था। वे जब छोटे-से बालक थे तभी पत्थर के छोटे-छोटे टुकडो को एकत्र कर उनमें शालिग्राम की भावना करते थे तथा बडी श्रद्धा और प्रेम से उनका पूजन किया करते थे। इस प्रकार भगवान की लीला में उनकी बचपन से ही अनुरक्ति बढने लगी। साधु-सन्तो को देख कर बडे आनन्दित होते थे। माता-पिता के सात्विक जीवन का उनके चरित्र-विकास पर बडा प्रभाव पडा था। भगवान राम के प्रेम में वे बाल्यावस्था से ही उन्मत्त रहते थे। बचपन के आठ साल आलमगज में ही उन्होंने पूरे किये तथा बडे मनोयोग से शिक्षा प्राप्त की।

आठ साल की अवस्था में वे मातापिता के साथ अपने पैतृक निवास स्थान मुबारकपुर में चले आये। मुबारकपुर में दो सौ साल पहले एक सिद्ध फकीर मुबारक शाह रहते थे। उनकी उपस्थिति से आध्यात्मिक वातावरण बहुत अच्छा हो चला था। इसी पुण्य भूमि में भगवानप्रसाद ने निवास कर भगवद्भक्ति कमायी। उनकी शिक्षा-दीक्षा का अच्छे-से-अच्छा प्रबन्ध कर दिया गया। धीरे-धीरे वे युवावस्था में प्रवेश करने लगे। मुबारक पुर में रामलीला का समारोह हुआ करता था। भगवान प्रसाद राम और सीता के स्वरूप के निकट खडे होकर चमर डुलाया करते थे और घटो युगलस्वरूप की मधुर और दिव्य झाँकी से अपने नेत्र तृप्त किया करते थे।

रूपकला बचपन से ही भगवान के नाम मे दृढ विश्वास रखते थे। एक बार शिक्षण-काल में वे नदी में स्नान करने गये। साथ में दो मित्र और थे। स्नान करते समय उनके एक मित्र नन्दकुमार बाबू गगा में डूब गये। रूपकला भगवान के नाम का स्मरण करने लगे। वे प्रभु से प्रार्थना करने लगे कि हे देव, यदि नन्दकुमार डूब जायँगे तो मेरी हँसी नही होगी, आप के नाम की महिमा घट जायेगी। थोडी देर में बडे जोर से एक लहर उठी और नन्दकुमार बाबू उनके पैरो के पास आ पडे, इस प्रकार रूपकला के भगवद्विश्वास ने नन्दकुमार के प्राण की रक्षा की।

उच्च कक्षा के अध्ययन-काल मे रूपकला ने 'तन-मन की स्वच्छता' नामक पुस्तक लिखी और उसको शिक्षा-निरीक्षक फैलेन महोदय के कर-

कमलो में समर्पित कर दिया। फैलेन उनकी प्रतिभा से बहुत प्रसन्न हुए और उनको उप-शिक्षा-निरीक्षक के पद पर नियुक्त करा दिया। नौकरी पाने के पूर्व ही वे गृहस्थाश्रम स्वीकार कर चुके थे। छपरा जनपद के रेपुरा गाँव के रहने वाले तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्तार ठाकुरप्रसाद की सौभाग्य-वती कन्या से उनका विवाह हो गया। वे ससुराल के निकट ही एक महात्मा कान्हर-दास से बहुत प्रभावित थे। उन्होने कान्हरदास से गुरुमुख होने की इच्छा प्रकट की तो कान्हरदास ने सम्मति दी कि अपने कुलगुरु महात्मा रामचरणदास से ही दीक्षा लेना उचित है। महात्मा रामचरण दास छपरा से थोडी दूर पर परसा नामक स्थान में रहते थे। वे अच्छे सन्त थे। भगवान प्रसाद को गुरुमन्त्र प्रदान कर उन्होंने उनका नाम सीताराम शरण भगवान प्रसाद रखा। गुरुकी कृपा से उनका भगवत्प्रेम वढने लगा।

थोडे समय के वाद पिता और पत्नी की मृत्यु से उनका वैराग्य-भाव बढ गया। ससार की नश्वरता का ज्ञान हो गया तथा सीताराम की अभय पद-प्राप्ति के लिये उनका मन समुत्सुक हो उठा, उनके नयनो में दशरथनन्दन राम और जनकनन्दिनी सीता की छवि आलोडित हो उठी। उनपर भागवती कृपा का अवतरण होने लगा।

एक वार ऋण देने के लिये उनको कुछ रुपयो की आवश्यकता थी। उन्होंने वडी चेष्टा की पर रुपयो का प्रवन्ध न हो सका। उनके मन में दृढ विश्वास था कि भगवान की कृपा से प्रवन्ध हो ही जायेगा। वे उन पर भरोसा कर वैठ गये। अचानक एक व्यक्ति आया, उसने सबके सामने उनके हाथ में एक लिफाफा रख कर कहा कि इसे अपने पास ही रखिये, मै थोडी देर में आकर ले जाऊंगा, वह व्यक्ति फिर न दीख पडा। रूपकला ने लिफाफा नही खोला। दो-तीन दिनो के वाद उसमें उतने ही रुपये थे जितने ऋण मे देने थे। एक पैसे की भी भूल नही थी। रूपकला ने इसको प्रभु की कृपा मानकर स्वीकार कर लिया और ऋण की भरपायी कर दी। उन्होने सोचा कि गृहस्थाश्रम में रहने से प्रभु को मेरे लिये चिन्ता करनी पडती है। उन्होंने अयोध्या जाने का सकल्प किया। इसी वीच में उनके जीवन पर एक अद्भुत घटना ने प्रभाव डाला। वे निरीक्षण-कार्य के लिये विहटा रेलवे स्टेशन से थोडी दूर एक दिहात में गये हुए थे। उन दिनो शिक्षा-विभाग के सचालक क्राफट महोदय कलकत्ता से पटना आये हुए थे और शीघ्र ही कलकत्ता जाने वाले थे। दिहात में ही सीताराम

शरण भगवान प्रसाद को शिक्षा-निरीक्षक मारटिन साहब का एक पत्र मिला जिसमें पटना जाकर सचालक महोदय से किसी आवश्यक विषय पर सम्मति लेने का आदेश दिया गया था। वे विहटा स्टेशन पर आये, गाडी जा चुकी थी। इधर पटना स्टेशन पर गाडी आने का समय हो चुका था, क्राफट महोदय इसी गाडी से कलकत्ता जाने वाले थे। भगवान प्रसाद को वडी चिंता हुई, वे विश्रामालय में वैठ गये। थोडी ही देर में उन्होंने आवश्यक कागजो के साथ अपने आपको पटना स्टेशन के प्रतीक्षालय में पाया, सचालक से वात की तथा कलकत्ता के लिये गाडी छूटने पर वे प्रतीक्षालय में चले आये और आश्चर्य की वात तो यह हुई कि थोडी-सी झपकी आने के वाद उन्होने अपने आप को विहटा स्टेशन के प्रतीक्षालय में पाया। प्रभु की लीला उनकी समझ में न आ सकी। उन्हे नौकरी का मोह तनिक भी न रह गया। त्याग-पत्र देकर वे अवधधाम चले आये। जीविका-वृत्ति प्राप्त करने में एक साल शेप था पर उन्होने पेन्सन की चिंता नही की, अयोध्या आने के वाद सरकार ने उनकी पेन्सन की स्वीकृति दे दी। इस प्रकार गृहस्थाश्रम का परित्याग कर वे अपने आराध्य सीताराम के लीलाक्षेत्र श्री अवध में आ गये।

अवध में आते ही उनके मन पर भगवान के प्रेम का मधुर रग चट गया। वे मन्दिर-मन्दिर में घूम-घूम कर अपने प्रियतम का दर्शन कर निहाल होने लगे तथा साधु-सन्तो के समागम से भगवान की लीला-कथा का रसास्वादन करने लगे। उनके आगमन से अवध सरस हो उठा, सरयू की निर्मल धारा को दिव्यता और सरसता वढ गयी। रामरसरग मणि तथा पण्डित रामवल्लभाशरण आदि सन्तो से उनकी घनिष्ठता वढने लगी। उनका जीवन सरस और पवित्र हो उठा।

'कान्ताभाव' की दीक्षा उन्होने भागलपुर गुरहट्टा के महन्त श्री हसकला जी से ली थी। रामानन्दी सम्प्रदाय के दीक्षागुरु रामचरण दास जी थे। महाराज हसकला ने ही उनको रूपकला नाम प्रदान किया था। एक वार अयोध्या-निवास काल मे वे रात को सोते-से उठ वैठे। लोगो ने कारण पूछा तो कहा, कि गुरुदेव का विमान जा रहा है, विदा लेने आये हुए थे। दूसरे दिन तार द्वारा पता लगा कि ठीक उसी समय हसकला जी महाराज ने साकेत लोक के लिए महाप्रस्थान किया था। यह घटना रूपकला जी की अनन्य गुरुनिष्ठा की द्योतक है।

भगवान श्रीराम और सीता की प्रेम भक्ति-मधुररति का स्वानुभव ही

उनका जीवन-सिद्धात था। यदि रूपकलाजी से कोई शिष्य रूप मे स्वीकार करने का प्रस्ताव करता था तो उसे वे हनुमान गढी के प्रसिद्ध महात्मा गोमतीदास अथवा जानकीघाट पर निवास करन वाले महात्मा पण्डित रामवल्लभाशरण जी के पास दीक्षित होने के लिये भेज दिया करते थे। सीताराम के पद-चिंतन के अतिरिक्त उनके लिये कोई और दूसरा कार्य ही नही था। वैशाखशुक्ल नवमी को वे जानकी जी की जयन्ती बडी धूमधाम से मनाते थे, उस दिन उनके प्रेमी तथा कृपापात्र जन दूर-दूर से आकर उत्सव में सम्मिलित होनें का सौभाग्य प्राप्त करते थे। महात्मा रूपकला के उपास्य देव युगलस्वरूप सीताराम थे, अपने उपास्य के चरण-कैंकर्य में उन्होने परमानन्द का अनुभव किया। सत्सग और सम्प्रदाय की मर्यादा में उनकी बडी निष्ठा थी। उनकी उक्ति है

'तजि कुसग, सत्सग नित, कीजिय सहित विवेक।
सम्प्रदाय निज की सदा, राखिय सादर टेक॥'

भगवान की प्रेमाभक्ति मे व्रजगोपी प्रेम के अनुकरण स्वरूप वे पूर्ण आसक्त थे। श्री सीताराम-भक्ति के मधुर रति-क्षेत्र मे उनकी उपमा व्रजरसिक स्वामी हरिदास और व्यासदास अथवा महात्मा ललित किशोरीसे दी जा सकती है। भगवान के भजन, नाम-कीर्तन और जानकी-जन्म महोत्सव को उन्होने उपासना का प्रधान अग स्वीकार किया। इन तीनो को उन्होनें साधन और साध्य दोनो माना। उन्होने कहा कि हे सखि, जिसके उर में श्री जानकी के पदकमल का निवास है उसपर अनायास ही भगवान श्रीराम की कृपा हो जाती है। महात्मा रूपकला की श्री जानकी में सख्यभक्ति थी। उनकी रूप-माधुरी पर उन्होंने तन-मन, और प्राण निछावर कर दिये। उनकी वाणी में साकेत-धाम की महिमा का सुन्दर चित्रण मिलता है। उनकी एक स्थल पर उक्ति है कि रसस्वरूप आह्लादिनी आदि शक्ति जनकनन्दिनी की विहार-स्थली का नाम साकेत है। साकेत के मध्य में रमणीय विहार-स्थल है जो श्रीभवन अथवा कनक भवन कहलाता है। यह नित्यरस से परिपूर्ण और देश काल के वन्धन से परे है। मध्य भाग में एक आयताकार कुज है जिसके दक्षिण भाग में रत्नसिंहा-सन अवस्थित है। उस पर सहस्रो सखियो से परिवेष्ठित सनातन अनादि व्रह्म नित्य किशोर मूर्ति राम पराशक्ति सीता के साथ शोभित होते हैं। महात्मा रूपकला सदा दिव्य रस के चिंतन में लगे रहते थे, यही उनकी साधना का स्वरूप था। वे भगवान से अपने हृदय का विरह-निवेदन करते रहते थे। श्रीहनुमान

जी में भी उनकी बडी श्रद्धा और भक्ति थी। श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय की टीका में उन्होंने हनुमान का अत्यन्त मौलिक ढग से चिंतन किया है- हनुमान से उन्होंने सीताराम की भक्ति माँगी है, उनकी उक्ति है·

'पुनि-पुनि विनवो जोरि कर, मोहि कृपा करि देहु।
श्रीसिय, सियपियपदकमल, अविरल विमल सनेहु॥
पुनि गुरुकपि निजचरन रति, सियपद मम मन-गेह।
सियसेवा, दम्पति चरन, भक्ति सुसगति देहु॥'

सीताराम की भक्ति को ही साधना के क्षेत्र मे उन्होंने प्रधानता दी। उन्होंने कहा कि मैंने ज्ञान, वैराग्य, तप और योग को तिलाञ्जलि दे दी, केवल अपने परम प्रियतम की भक्ति हृदय में रख ली है। उनकी चितवन और बाकी झाँकी ही मेरी अक्षय निधि है। उनकी महत्वपूर्ण स्वीकृति है

'प्राण तोर, मैं तोर, चित्त वुद्धि यश तोर सव।
एक तुही मोर, काह निवेदउँ तोहि पिय॥
जिय को फल, पिय, तवहि, जव आठ पहर तव नाम।
पिय तेरे सुमिरन विना, जियवो कौने काम॥'

सन्त-साहित्य की उन्होंने भगवान की रसमयी भक्ति से श्रीवृद्धि की। सन्तो और महात्माओ की कृपा और सहायता से उन्होंने महात्मा नाभादास के भक्तमाल की टीका लिखी जो निस्सन्देह एक सफल कृति है। उनका सम्पूर्ण जीवन भक्तिमय था। वे सखी भावापन्न सन्त थे।

अन्त समय में सीता जी के अरुण चरण-कमल मे उनकी अनुरक्ति इतनी वढ गयी कि वे कहा करते थे

'सिया जी के अरुणारे दोउ तरवा।
इनसे लगन नही तो विरथा दण्ड कमण्डल करवा॥'

अपने उपास्य का विरह सहना उनके लिये कठिन हो गया। वे विरहोन्माद में अपने प्रेमियो से मनोदशा का निरूपण किया करते थे :

'गगा-जमुनवा के निरमल नीरवा,
पिय विनु पियलो न जाय।'

सम्वत् १९८९ वि की पौष शुक्ल द्वादशी को उन्होंने चालीस साल के अखण्ड अवध-वास के वाद साकेतधाम के लिये महाप्रस्थान किया। विहार

प्रान्त के अमावा राज्य की अधीश्वरी रानी साहब ने उनको एक घडी दी थी। रूपकला ने उसका नाम रानी घडी रखा था। अन्त समय से थोडी देर पहले वह घडी वन्द हो गयी। उनकी आज्ञा से फिर चलायी गयी और आधे घण्टे के वाद लगभग तीन बजे रात को महात्मा रूपकला सदाके लिये युगल स्वरूप के चरणो मे लीन हो गये। महाप्रयाण के समय रानी घडी फिर वन्द हो गयी। वे उच्च कोटि के रसिक थे, विरही और प्रेमी, विरक्त और भक्त दोनो थे। उन्होने सौन्दर्य ब्रह्म राम के रसीकरण से उनकी आह्लादिनी शक्ति सीता की भक्ति प्राप्त की। अवधक्षेत्र में रस राज्य स्थापित किया।

रचना

प्रेम गग तरग, प्रणयवतीसी, भक्तमाल की टीका, रामायण रस विन्दु मानस अप्टयाम आदि रूपकला की अमर कृति है।

वाणी

सुधि न लीन्हि पिय विरहिन हिय की॥
सखि मोहि कत दिन तरसत बीते,
सुधि न लीन्हि पिय विरहिन हिय की।
आह धुआँ मुख हिय विरहागी,
ठाडि जरो जैसी वाती दिय की॥
अधिक दाह चित चातक कोकिल,
बिरह अनल जिमि आहुति घिय की।
सव उर व्यापक अन्तर जामी
जानत है पिय रुचि तिय जिय की॥
साँचहु स्वप्नेहु कव लगि देखि हौं,
मधुर मनोहर छवि सिय पिय की।
क्षमानिधान विलोकि है निज दिसि,
करि है खोज न मेरे किय की॥
कृपानिधान दया सुख सागर,
मनि है, सखि, विनती लघु तिय की।
"रूपकला" बिनवति हनुमत ही,

चन्द्रकला अरु गिरिवरधिय की ॥
एको उपाय न सूझत आली,
मोहि आसा केवल श्रीसिय की ॥
मनि मानस, स्वाती जलद, जल ससि अवध किसोर।
'रूपकला' फणि हसिनी, चातक मीन चकोर ॥
धन्य धन्य जे ध्यावही, चरण चिह्न सियराम के ॥
धनि धनि जन जे पूजहि, साधुसत श्रीवाम के ॥
श्री जानकि पद कज सखि, करहि जासु उर ऐन।
विनु प्रयास तेहि पर द्रवहि, रघुपति राजिव नैन ॥
खात पियत बीती निसा, अचवत भा भिनसार।
'रूपकला' धिकधिक तोहि, गर न लगायो यार ॥
दोष-कोप मोहि जानि पिय, जो कछु करहु सो थोर।
अस विचारि अपनावहु, समुझि आपनी ओर ॥
ज्ञान योग वैराग तप, दीन्हेउ सकल बहाइ।
वाकी चितवन पीय की, राख्यो हिय अटकाइ ॥
तन-मन-धन सब वारि, मन चितहिय अति प्रेम ते।
सम्मुख आँखिन चारि, चितइये राजिव नैन-छवि ॥

महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी

'सत्यव्रत सत्यपरत्रिसत्य सत्यस्य योनिं निहित च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्र सत्यात्मक त्वा शरण प्रपन्ना॥'

सत्य जिनका व्रत है, जो सत्य परायण, तीनो काल में सत्य, सत्यस्वरूप, ससार के उद्भवस्थान और अन्तर्यामी रूप से सत्य में निहित हैं तथा सत्य और ऋत जिनके नेत्र है उन सत्य के सत्य आप सत्यस्वरूप की हम शरण में है।

—श्रीमद्भागवत १०।२।२६.

महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने सत्यरसामृत, ब्रह्मानन्द के वितरण के लिये शरीर धारण किया था, उन्होने आजीवन सत्य-ब्रह्म के शिव-मय दिव्य सौन्दर्य का चिंतन किया, असख्य प्राणियो को अपने ब्रह्म-सगीत से मोहित कर लिया। निस्सन्देह उनकी उपस्थिति से केवल शस्यश्यामला, कोमल कान्तिमयी स्वर्णिम वगभूमि ही नही, आसेतु हिमाचल की दिव्य गरिमा धन्य हो गयी। वे रामकृष्ण और विवेकानन्द के समकालीन थे, योगी गम्भीरनाथ की साधना और तपस्या से पवित्र उत्तरापथ मे सचरण कर उन्होंने ब्रह्म के दिव्य गान से भारत की धरती के कण-कण पवित्र कर दिये। ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों को भारतीय शास्त्र मर्यादा और भागवत चेतना की कसौटी पर कस कर उन्होने सास्कृतिक और आध्यात्मिक सरक्षण तथा जागरण मे महान सहयोग दिया। उन्होंने अपने समय की अध्यात्म-चेतना को भागवत रस से सम्पूर्ण सप्लावित कर दिया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उपदेशामृत-पान से उनकी अन्तरात्मा ज्योतित हो उठी, महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने सत्य का साक्षात्कार किया। विजय कृष्ण गोस्वामी का जीवन भव-बन्धन से मोक्ष और राष्ट्रीय अभ्युत्थान अथवा निर्माण का प्रतीक था। उनके जीवन का अधिकाश वगाल में ही बीता। वे महात्मा, भक्त और सन्त—सव के अद्भुत और असाधारण समन्वय थे।

महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने परम भागवत कुल में जन्म लिया था। उनके पूर्वज चैतन्य देव के समकालीन परम वैष्णव, अद्भुत ब्रह्मानन्दी कृष्ण-

भक्त अद्वैताचार्य महाशय थे जिन्होने शान्तिपुर में जन्म लेकर, नवद्वीप धाम को अपनी सरस भगवद्भक्ति से गौरवान्वित कर महाप्रभु चैतन्य की रसमयी लीला का विस्तार किया था, उनके 'जीवे दया नामे रुचि' महा मन्त्र ने वगाल को व्रज मे परिवर्तित कर दिया था। विजय कृष्ण के शरीर में अद्वैताचार्य महाशय का पवित्र रक्त प्रवाहित था। अद्वैताचार्य महाशय की जीवन-कथा से उन्होंने अपार प्रेरणा प्राप्त की थी। वे ऐसे परम पवित्र कुल में भगवान की कृपा से जन्म प्राप्त कर अपने आप को अमित सौभाग्यशाली समझते थे। अपने पूर्वजो के प्रति उनके मन मे अगाध श्रद्धा, असाधारण गौरवबुद्धि और पूज्य भावना थी। भगवद्भक्ति उनकी पैतृक सम्पत्ति थी।

वगाल प्रान्त के नदिया जनपद में परम पवित्र भगवती भागीरथी के तट पर शान्तिपुर मे उनका निवास स्थान था। विजयकृष्ण गोस्वामी के पिता आनन्द किशोर लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी पत्नी का नाम स्वर्णमयी थी। दैवयोग से माता स्वर्णमयी अपने नैहर गयी हुई थी। स्वर्णमयी का नैहर नदिया जनपद के शिकारपुर ग्राम के निकटवर्ती दहकूल ग्राम था । उन्होने सम्वत् १८९८ वि में झूलन पूर्णिमाको (सन् १८४१ ई २ अगस्त को) वियजय कृष्ण गोस्वामी को जन्म दिया। शान्तिपुर और दहकूल दोनो ग्रामो में प्रसन्नता और आनन्द की वाढ आ गयी, स्वजन और सगे सम्वन्धी नवजात के आगमन से हर्षित हो उठे। विजय कृष्ण के माता-पिता वडे सात्विक स्वभाव के थे, उन्होंने अपने प्राणप्यारे पुत्र के सुचारु पालन-पोपण में अमित सावधानी का परिचय दिया। कभी विजय कृष्ण मामा के घर रहते थे तो कभी अपने घर शान्तिपुर में रहते थे। इस प्रकार उनकी शिक्षा का कोई निश्चित क्रम न था, कभी वे शान्ति-पुर की पाठशाला में पढने जाते थे तो कभी दहकूल के विद्यालय में शिक्षा पाते थे। वचपन से ही माता-पिता के सात्विक सम्पर्क के कारण साधु -सन्तो और देवी-देवता तथा भगवान में उनकी श्रद्धा वढती गयी। वे अद्भुत प्रतिभाशाली और वुद्धिमान थे। यद्यपि देखने में वडे चचल थे पर स्वभाव कोमल और मधुर था। मन में दया का भाव था। घर में भगवान गोविंद देवकी पूजा होती थी। विजय कृष्ण वडे प्रेम से अपने गृहदेवता गोविंद देव को साथ में खेलने के लिये वुलाया करते थे और जव यह देखते थे कि भगवान नही आते हैं तव उन पर क्रोध प्रकट करते थे। इस प्रकार वाल्यावस्था में ही उनमे भगवान के प्रति विश्वास और अगाध प्रेम की वृद्धि होने लगी। ग्राम पाठशाला का अध्ययन

समाप्त होने पर संस्कृत के अध्ययन के लिये वे कलकत्ता आये। उन्हे हिन्दू शास्त्रो के अध्ययन का सुदर अवसर मिला। कलकत्ता के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानो के सम्पर्क में उन्होने बहुत कुछ सीखा। उनकी देवेन्द्रनाथ महर्षि से घनिष्टता बढ गयी, उनके उपदेशो से उन्हे आत्मज्ञान का प्रकाश मिला। उन्होने मेडिकल कालेज में प्रवेश किया। थोडे समय के बाद उनका विवाह कर दिया गया। उनकी पत्नी का नाम योगमाया देवी था जो बडी सती साध्वी और उदात्त चरित्र की रमणी थी। विजयकृष्ण गोस्वामी ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद महर्षि देवेन्द्र नाथ के उपदेशो से प्रभावित होकर ब्राह्म धर्म की दीक्षा ले ली और मेडिकल कालेज की शिक्षा छोड दी। महर्षि देवेन्द्रनाथ के मुख से निकले उपदेशो ने उनके हृदय में भागवत माधुर्य भर दिया। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने ब्राह्म समाज के लोगो मे निर्मल भगवद् उपासना-पद्धति का प्रचार किया, ब्राह्म समाज के मूलमें लगे वैदेशिकता के कीडो का अन्त कर डाला। पहले उन्होने पूर्व बंगीय जनपद ढाका, खुलना, नोआखाली और मैमनसिंह आदि मे ब्राह्मसमाज का प्रचार किया, जनता को नवीन ज्ञान-प्रकाश में भागवत चेतना दी, ब्रह्म-उपासना की विधि समझायी, उसके बाद केशव चन्द्रसेन के साथ उत्तर-पश्चिम मे प्रचार-यात्रा की। देश के कोने-कोने में ब्राह्म-समाज का प्रचार करना ही उनका जीवन-व्रत था। कुछ दिनो के बाद उन्होने स्वतन्त्र रूप से प्रचार-कार्य किया।

वे कलकत्ता से शान्तिपुर आते-जाते रहते थे। उन दिनो उनके मन में भगवद्भक्ति बडे वेग से बढ रही थी। एक बार वे शान्तिपुर आये हुए थे। उनके जीवन पर नवद्वीप के चैतन्यदास बाबा ने बडा प्रभाव डाला। शान्तिपुर निवास-काल में महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी भगवान के भजन के लिये बडे व्याकुल रहते थे, सदा भगवच्चिंतन में लगे रहना ही उनका दैनिक कार्यक्रम हो गया था। वे नित्य भागीरथी के तट पर वासन्ती ज्योत्सना में विचरण करते थे तथा उद्विग्न होकर अपने प्रेमास्पद की खोज करते थे। दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्य की पवित्रता का नयनो में आलोडन होते ही उन्हे अपने प्रियतम का स्मरण हो जाया करता था। एक दिन विजय कृष्ण गोस्वामी ने अपने मन की भावना शान्तिपुर-निवासी हरिमोहन प्रामाणिक के सम्मुख रखी, हरि मोहन ने उनके भगवद्प्रेम से विशेष प्रसन्न होकर उन्हे पढने के लिये चैतन्य चरितामृत ग्रन्थ दिया। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी के हाथ मे चैतन्य चरितामृत ग्रन्थ

का आना था कि उनके रोम-रोम में अखण्ड और अतर्क्य भगवन्निष्ठा जाग उठी। जीव मात्रके प्रति दया, भगवन्नाम में भक्ति और रुचि तथा अनन्याश्रय की भावना से उनके विरहदग्ध हृदय को वडी शान्ति मिली। एक दिन विजय कृष्ण चैतन्य दास वावा से मिलने गये, उनके साथ उनके वन्धु नीलकमल देव थे। उन्होने वावा से भगवद्भक्ति-लाभ का उपाय पूछा। चैतन्य दास वावा के रोम-रोम सिहर उठे, उन्होने वडे प्रेम से विजय कृष्ण की ओर देख कर कहा कि भक्ति तो तुम्हारे ही घर की सम्पत्ति है, अद्वैताचार्य के वशजो के रोम-रोम मे भक्ति का निवास है। वावा ने विजय कृष्ण से कहा कि यदि प्रेम-भक्ति के लाभ की मन में इच्छा है तो ससार के प्रति अनासक्त हो कर दीन हीन और अकिचन अवस्था का वरण कर लेना चाहिये। मन मे अहकार की एक कणिका भी रहने पर भगवान की भक्ति नही मिल सकती है। विजय कृष्ण के मन पर चैतन्य दास वावा के कथन का वडा प्रभाव पडा। उनके मन में भगवद्भक्ति-प्राप्ति की आकाक्षा जाग उठी। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने भक्ति-व्रत ग्रहण किया। एक वार वे शान्तिपुर से नवद्वीप जा रहे थे। रास्ते में कृष्णनगर के नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के घर वे ठहर गये। उन्होने नगेन्द्रनाथ से कहा कि मुझे चैतन्य दास वावा ने भक्तिपरक उपदेश देकर कृतार्थ कर दिया। उन्होने मुझे भोजन करने के लिये दिया, मेरे भोजन करने के उपरान्त वे स्वय मेरे पत्तल पर भोजन करने आये, मैने निवेदन किया कि मै ब्रह्म ज्ञानी हूं, मेरे पत्तल पर भोजन करना निषिद्ध है। चैतन्यदास वावा ने कहा कि तुमने अद्वैत के वश में जन्म लिया है, तुम परम भागवत हो। मै उनके सम्पर्क से धन्य हो गया।

एक दिन वे शान्तिपुर मे गगातट पर रात में विचरण कर रहे थे। प्रकृति शान्त थी, चॉदनी रात थी, मन्द-मन्द समीर वह रहा था, वे भगवच्चिन्तन मे विमुग्ध हो उठे। उन्होने निश्चय किया कि विना भगवद्भक्ति और दिव्य प्रेम के ब्राह्म समाज का कल्याण नही हो सकता। दूसरे दिन सवेरा होते ही ब्राह्म-समाज मे भक्तिरस भरने के लिये कलकत्ता चले गये। उन्होने नवीन ब्राह्म समाज का जीवन सरस वना दिया। भक्तिविषयक उपदेश और रचना मे लग गये, सगीतो की रचना की जो भक्तिरस से परम समृद्ध थे। पूर्व वगाल की यात्रा की और घर घर मे भक्ति चेतना का उदय सभव किया। उनकी यात्रा सफल हो गयी। उन्होने ब्राह्म समाज के साधारण नियमो की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया कि सदा परमेश्वर की महिमा का चितन करते रहना

चाहिये, उनमें भक्ति और श्रद्धा सुदृढ करनी चाहिये। निरन्तर परमात्मा के स्मरण और प्रार्थना मे अपने समय का सदुपयोग करना चाहिए। ज्ञान, और कर्म के समन्वय से ब्रह्मानन्द की माधुरी का रसास्वादन करना चाहिये। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने साधारण ब्राह्म समाज की स्थापना की और उसके प्रचार में तन-मन से लग गये। उन्होने भक्ति साधना का व्रत लिया। वे निर्जन स्थान में तप करने के लिये आकुल हो उठे। योग-साधना के साम्राज्य में प्रवेश करना चाहते थे। वे तप करने के लिये गया आये। गया कि पहाडियो में उन्होने परिभ्रमण कर सत्य तत्व के अनुसन्धान का व्रत लिया। उन दिनो सिद्धपुरुष परम योगी गम्भीर नाथ जी महाराज कपिलधारा पहाडी पर तप कर रहे थे। विजय कृष्ण गोस्वामी ने आकाशगगा पहाडी को अपना तपोस्थान चुना। वे कभी-कभी आकाशगगा से कपिल धारा पहाडी पर गम्भीर नाथ जी महाराज से यौगिक साधना के सम्बन्ध में विचार करने आया करते थे।

कभी-कभी रात को वे उन्मत्त की भाँति आकाशगगा से उतर कर कपिल धारा पहाडी की ओर बाबा गम्भीर नाथ के सितार-वादन से मुग्ध होकर दौड पडते थे। कपिलधारा पहाडी की चोटी पर बैठ कर नीख आधीरात में बाबा गम्भीर नाथ सितार पर भजन गाया करते थे। विजय कृष्ण गोस्वामी झाडियो और काँटो को रौंदते हुए गम्भीरनाथ के पास पहुँच जाते थे। एक बार चाँदनी रात थी। आधीरात के समय गम्भीर नाथ जी सितार बजा कर भजन गा रहे थे। विजय कृष्ण गोस्वामी ने उन्मत्त होकर शिष्यो को जगाया और कहा, 'सुनो, कितना मधुर भजन बाबा गम्भीर नाथ भगवान के चरणो में समर्पित कर रहे है।' विजय कृष्ण गोस्वामी योगी गम्भीर नाथ से बहुत प्रभावित थे। वे उन्हे प्रेम की सजीव मूर्ति कहा करते थे। महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी ने गम्भीर नाथ जी से गुरुतत्व के सम्बन्ध में बात की। योगी ने सकेत किया कि तुम्हें गुरु की प्राप्ति होगी और उनके सकेतानुसार एक गुप्त सतने जो आत्मविज्ञापन से बहुत दूर रहते थे विजय कृष्ण को दीक्षित किया। आकाशगगा-निवास-काल में उन्होने गुरुतत्व का बोध प्राप्त किया। गया से विजय कृष्ण कलकत्ता आये। वे स्वामी रामकृष्ण परमहस से मिलने दक्षिणेश्वर गये। उन्होने गेरुआ वस्त्र-धारण कर लिया था, गृहस्थाश्रम का परित्याग कर दिया था। रामकृष्ण परमहस से अध्यात्म पथमें निरन्तर बढते रहने का उन्होने आशीर्वाद प्राप्त किया।

वे भगवद्भक्ति प्रचार में लग गये। उन्होंने 'साधारण ब्राह्म समाज के प्रचारक के पद का त्याग कर दिया। उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि हे प्रभु मेरी यही वासना है कि आप के श्रीचरण सदा मेरे हृदय में रहे, इससे मेरा मन शान्त होगा, दुख मिट जायेगा तथा अमूल्य धन की प्राप्ति होगी। मैंने यह सुना है कि विना पापी या पुण्यात्मा का विचार किये ही भव सागर से आप पार उतार देते हैं इसलिये मैंने आप की शरण ली है। उन्होंने मधुर कोमल-कान्त पदावली में आत्मनिवेदन किया

'प्रेम गिरि कन्दरे योगी हइये रहिव,
आनन्द निर्झरवारि दुहाते पान करिव।
मिटाते विषय तृषा ससारेर कूप जले आर जाव ना,
हृदय करग भरि शान्ति वारि पान करिव।'

वरीसाल के अश्विनी कुमार दत्त, कृष्णनगर के नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय तथा, मनोरञ्जन गुह ठाकुर और नवकुमार विश्वास आदि ने उनके सम्पर्क और पथ-प्रदर्शन से ब्रह्मानन्द का मर्म– रहस्य समझा।

गया से लौटने पर उन्हे पारिवारिक वियोग-दुख सहना पडा। वे अपने परिवार के साथ कभी कलकत्ता में रहते थे तो कभी शान्ति पुर चले जाते थे। पुत्र और कन्या के विवाह के उपरान्त उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। गोस्वामी महोदय ने पत्नी के समाधि-मन्दिर की स्थापना की।

विजय कृष्ण गोस्वामी के जीवन में अनेक विलक्षण घटनाओं का उल्लेख मिलता है पर उनमें से एक तो अत्यन्त मार्मिक है। एक बार ब्राह्म समाज के प्रचार-कार्य के लिये वे लाहौर गये हुए थे। एक धर्मशाला में वे ठहरे हुए थे। उन्होंने सोचा कि ससार की दृष्टि में तो मैं उपदेष्टा हूँ पर मेरा जीवन पाप-चिंता के अधीन है। इसकी रक्षा करना अनावश्यक है। आधी रात का समय था। उन्होंने आत्महत्या का निश्चय किया। शय्या का परित्याग कर रात की नीरवता में वे भगवती रावी के तट पर गये। उन्होंने डूब कर तन-त्याग करना चाहा। वे रावी की गोद में अवस्थित होने वाले ही थे कि उन्हे एक महात्मा का दर्शन हुआ। महात्मा ने विजय कृष्ण गोस्वामी को समझाया कि तन का त्याग करने से पाप का नाश नहीं होता है। अभी तुम्हारे शरीर-नाश का समय नहीं है। ईश्वर सब कुछ पहले से निश्चित रखते हैं। विश्वेश्वर परमात्मा की लीला

का दर्शन करो, भला होगा। महात्मा इतना कह कर अन्तर्धान हो गये। विजय कृष्ण गोस्वामी ने आत्महत्या का विचार छोड दिया।

ब्राह्म समाज का प्रचार ही उनके जीवन का परम पवित्र कार्य था तथा भगवच्चिन्तन ही सिद्धान्त था। उन्होने न तो कोई नवीन सम्प्रदाय को ही जन्म दिया और न कोई नया मत ही चलाया। ईश्वर-प्रेम में रात-दिन उन्मत्त रहना ही उनके जीवन का ध्येय था। उन्होनें कहा कि भक्ति धर्म का प्राण है, जीवन है, जीव की शान्ति हैं, पापी की गति है– भक्तिशून्य धर्म का जीवन में कोई स्थान नही है। ब्राह्म धर्म का प्राण भक्ति है। ब्रह्म के चरण की उपासना परम शान्ति का दान करती है। एक बार उनसे केशव चन्द्रसेन ने कहा कि किसी नूतन मतका अवलम्बन करो। गोस्वामी महोदय ने विनम्रतापूर्वक कहा कि मै नया-पुराना कुछ नही जानता हूँ। भगवल्लाभ के लिये मैंने ब्राह्म समाज में प्रवेश किया, मुझे प्रभु के सत्स्वरूप के दर्शन की आकाक्षा है। आशीर्वाद दीजिये। वे सत्य-तत्व के महान अन्वेपक थे। उन्होने अनन्त, असीम, सच्चिदानन्द भगवान की भक्ति की, उपासना की। उन्होने भगवान को सर्वव्यापी, निराकार और चैतन्य स्वरूप वताया। अलौकिक, अप्राकृत तथा सर्वथा दिव्य ब्रह्म तत्व का गान गाया। उन्होने भगवान के श्रीचरणो में निवेदन किया, उनका एक गीत ह

'ओहे जगदीश आमार आर केह नाइ
तोमा विना ए ससारे।
आमार केवल पापे मति,
ओहे, कि हइबे गति वल्हे आमारे।
आमि देखितेछि मव, एइ जे वैभव,
एक सकल नय नाथ आमारि कारण।
आमि तोमार कारणे, दयामय ए ससार अरण्ये,
ओह आसियाछि तोमाय पाइवार तवे।'

उन्होनें स्पष्ट कहा कि हे दीनवन्धु मैं और कुछ नही चाहता। मैं नराधम, अवोध और मूर्ख हू। हे दयालु, हे कगालवन, आप वडे दयालु है। यदि आप दयालु होकर ऐसा वोध न करायेंगे तो रक्षा किस तरह होगी। मेरे हृदय वन, मैं कुछ नही जानता हूँ, किम तरह वोल सकता हूँ। मेरी इच्छा है कि मेरे रोम-रोम में आप के नाम का गुजार हो। आप मेरे प्राण की वस्तु है, मै आप की शरण में हूँ। विजय कृष्ण गोस्वामी ने साधना के माध्यम से कहा कि हे प्रभु

आप मेरे हृदय के स्पर्शमणि हैं, आप का दर्शन मेरे नयनो का भूषण है, मेरे मुख की शोभा आप का नाम-सकीर्तन है। आप के चरण की सेवा मेरे हाथो का अलकार है। आप का नामश्रवण ही मेरे कानो का आभूषण है। मैंने प्रेममणि-हार धारण कर लिया है तो अब कौन-सा भूषण बाकी ही रह गया। यह है महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी की साधना का स्वरूप। वे सदा भगवान से दर्शन देने की प्रार्थना किया करते थे। उनकी उक्ति है

'वासना करेछि मने, देखिबे तोमाय,
तोमार करुणा विना ना देखि उपाय हे।
पापे मलिन आमि दिवस यामिनी।
दया करि त्राण कर देखि दीन हीन हे।
दयामय नाम तोमार शुनिया श्रवणे
लयेछि शरण पिता देह दरशन हे।'

उन्होंने बताया कि ईश्वर-भक्ति तो प्राणीमात्र का अधिकार है। भक्ति में विचार नही है, वह साधनातीत है। अहैतुकी है। वे योगसाधना को बडा महत्व देते थे। जीवन के अन्तिम दिनो में उन्होंने अगणित शिष्यो को योग-साधना की शिक्षा दी। हरिद्वार, प्रयाग आदि के कुम्भ मेलो में सम्मिलित हुए। उन्होंने कुछ दिन वृन्दावन में भी निवास किया। वृन्दावन में उन्होंने ईश्वर भक्ति का प्रचार किया, वैष्णवो की उनमें श्रद्धा हो गयी। वे तीर्थभ्रमण को धर्म साधन का बहुत बडा अग मानते थे।

उन्होंने जीवन का अन्तिम समय पुरी में बिताया। चैतन्य महाप्रभु के नीलाचल का दर्शन उन्हे आकृष्ट करने लगा। एक दिन कलकत्तानिवास काल में वे पुरी का वर्णन सुन कर प्रेम विभोर हो गये। 'शचीनन्दन, शचीनन्दन' कह कर चैतन्य महाप्रभु के प्रेम में उन्मत्त हो गये। उन्होंने कहा कि मेरा कोई सगी-साथी नही है। मैं जगन्नाथ देव का दर्शन करने के लिये पुरी जाऊँगा। मेरे पूर्वज अद्वैताचार्य ने पुरी में चैतन्य देव की कृपा से जगन्नाथ का दर्शन कर अपना जीवन धन्य कर लिया था। मेरे पिताने शान्तिपुर मे साष्टाग दण्डवत करते-करते पुरी की यात्रा की थी, उनके पद क्षत-विक्षत, और रक्ताभ हो गये, उनमें छाले पड गये पर वे निरस्त न हो सके। मै लाठी लेकर पुरी जाऊँगा, मै पैदल जाकर चैतन्यमहाप्रभु की लीला माधुरी से सम्पन्न जगन्नाथ क्षेत्र में अपना जीवन कृतार्थ करूँगा। मेरे इस पवित्र कर्म से अद्वैताचार्य की आत्मा को बडी शान्ति

मिलेगी। वे पुरी की ओर चल पडे। उन्होने कहा कि मैं अकेला जाऊँगा। मेरे साथ कोई नही जायेगा। विदा का दृश्य बडा ही करुण था। उन्होने कहा कि आप लोग मुझे आशीर्वाद दें कि जगन्नाथ जी मुझे अपना ले। वे पचास शिष्यो के साथ पुरी में उपस्थित हुए। पुरी-प्रवेश के समय वे प्रेममग्न हो कर नृत्य करने लगे। उन्होने समुद्र में स्नान कर भगवान जगन्नाथ का दर्शन किया। उन्होने ज्योतिस्वरूप चिदानन्दघन जगदाधार की झॉकी देखी, प्रभु के पादपद्मो में निवेदन किया, उनका पद है

'चिर दिन ज्वलिव कि हृदय अनले प्रभो।
कँ विषय वासना, पापेर वेदना एखनोत घूचिल ना।
देउ दरशन, जुडाइ हे नयन, नाहि प्रयोजन अन्य कोनधन।
प्रभु तोमार चरण अमल्य रतन, आमि शुनेछि हे।
दुखानले दग्ध हल रे जीवन, ओहे दीनानाथ लइलाम शरण।
दरिद्रेर दुख कर हे मोचन, दरिद्रेर दुख हारी हे।'

वे नित्य समुद्र-स्नान करने के लिये जाया करते थे। समुद्रतट के स्वर्णिम वालुका-कणो में लोट-लोट कर बडे उल्लसित होते थे। पुरी में उन्होने दरिद्र नारायण की सेवा का व्रत लिया था। देह क्षीण होने पर शिष्यो ने कलकत्ता चलने का प्रस्ताव किया तो कहा कि मेरे एक मात्र आश्रय जगन्नाथ देव हैं, मै उन्हे छोड कर कही नही जा सकता। महाप्रसाद के साथ उन्हे किसी दुष्ट आत्मा ने विप खिला दिया। उनका शरीर रुग्ण हो चला। सम्वत् १९५६ वि के ज्येष्ठ मास की कृष्ण द्वादशी को दस वजे दिन के लगभग उन्होने ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया। पुरी में नरेन्द्र सरोवर के उत्तर शिप्यो ने उन्हे समाधि प्रदान की। उनका जीवन भक्ति ज्ञान और कर्म का मधुर समन्वय था। वे अलौकिक प्राणी थे, अद्भुत महात्मा थे।

रचना

शिप्यो और ब्राह्म वन्धुओ को लिखे गये पत्र तथा दिये गये उपदेश में उनके विचार प्राप्य हैं। अनेक ब्रह्म-सगीत की रचना की।

वाणी

असत्य का परित्याग करो। कुसस्कार का परित्याग कर सत्य के शरणापन्न हो जाओ। तभी सत्य का साक्षात्कार सम्भव है, मुख से जो वोलो और मन

में जिसका विश्वास करो उसे कार्य में चरितार्थ करो, तभी वास्तविक स्वाभाविक जीवन का लाभ होगा।

स्वार्थपरता ही समस्त पापो का मूल है। साधारण औषध से इस रोग का निवारण नही होता है। ससार असार है, अनित्य है, साधु सग में इसका चिन्तन और आलोचन करते-करते इस रोग का निवारण होने पर वैराग्य का उदय होता है।

हे प्रभु, आप ही सब कुछ है। जीवन में आप की कृपा कभी नही भूलूगा। हे ठाकुर, आप सर्वस्व है। समस्त ब्रह्माण्ड आप की रचना है। आप की दया का परिचायक है। आप माता-पिता और भाई-बहिन-सब कुछ है। आप दाता, राजा और प्रजा है। सार, वस्तु और प्रयोजन है। इहलोक, स्वर्ग लोक, यमलोक, सत्य-लोक, जनलोक, तपोलोक, ब्रह्मलोक, पितृलोक, मातृलोक, वैकुण्ठ और गोलोक सब कुछ है। मैं कुछ नही हूँ। आप हमारे घर-बार हैं, दर्पण है। आप मधुर है, मधुर है, मधुर हैं। मधुर, मधुर, मधुर है।

भक्ति को कृपण के धन की तरह गुप्त रखना होगा। शास्त्रकार युवती के स्तनो के साथ उसकी तुलना किया करते है। बालिका खुले शरीर घूमती-फिरती है पर युवती होने पर स्तनो को वस्त्र से ढक लेती है। स्वामी के अतिरिक्त-पिता, माता, गुरु-कोई भी उन्हे देख नही पाता है। भक्ति का भी यही रूप है। उसे भी सावधानी से सभी के सामने गुप्त रखना चाहिये। भक्ति गोपनीय है।

सन्त ललित किशोरी

कदा नु वृन्दावनकुञ्जमण्डले
भ्रमन्भ्रम हेमहरिन्मणिप्रभम्।
सस्मृत्य सस्मृत्य तदद्भुत प्रिय
द्वय द्वय विस्मृतिमेतु मेऽखिलम्॥

वृन्दावन के निकुञ्जो में घूम-घूम कर स्वर्ण और हरितमणि के समान कान्ति वाले राधा-कृष्ण के अति अद्भुत और प्रिय युगल रूप का स्मरण कर मैं कब सब कुछ भूल जाऊँगा ?

—वृन्दावनशतक

सन्त ललित किशोरी भक्तिरस के सख्यभाव के परम मर्मज्ञ थे। उन्होंने जीवन के अन्तिम समय तक राधा रानी और नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, माधुर्य और सरस तथा चिन्मय प्रेम से समुज्ज्वल वृन्दावन के रमणीय भागवत केलि कुज-मण्डल मे निवास कर रसब्रह्म की उपासना की। उन्होंने निगमागम से परे अगम राधातत्व के अनुभव से अपना जीवन सफल कर लिया। ललित किशोरी और उनके सहोदर ललित माधुरी ने अपनी व्रजरस-अनुभृति से असख्य प्राणियो को भवसागर से पार उतार दिया। दोनो में अगाध प्रेम था और दोनो के इष्ट राधाकृष्ण थे। ललित किशोरी की वाणी का सिन्दूर भागवत सौन्दर्य से अमर और चिन्मय हो उठा। रसिकवर कविहृदय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की महात्मा ललितकिशोरी के प्रति श्रद्धाञ्जलि है

'प्रथम लखनऊ बसि श्रीवन सो नेह बढायो।
तहँ श्री जुगल सरूप थापि मन्दिर बनवायो।
द्वापर को सुखरास राम कलिजुग में कीनी।
सोइ भजन आनन्द भाव सहचरि रगभीनी।
लाखन पद ललित किसोरिका नाम प्रगटि विरचे नये।
कुल अग्रवाल पावन करन कुदन लाल प्रगट भये॥'

विक्रमीय वीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे लखनऊ में राजनैतिक क्रान्ति उपस्थित थी। देश के कोने-कोने मे अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह की आग भडक रही थी। लखनऊ के नवाबी महलो मे षडयन्त्र और पारस्परिक कलह का बोलवाला था। अंग्रेजी कम्पनी सरकार की कुदृष्टि लखनऊ की सुखशान्ति पर पड चुकी थी। ऐसी राजनैतिक स्थिति में नवाबी शक्ति के पतनकाल मे महात्मा ललित किशोरी ने अपने जन्मस्थान लखनऊ का परित्याग कर वृन्दावन के लिये प्रस्थान किया। उनके साथ उनके भाई शाह फुन्दनलाल (ललित माधुरी) ने भी वृन्दावन जाकर सखी भाव से भगवान कृष्ण और उनकी प्राणप्रियतमा की उपासना आरम्भ की।

लखनऊ के जौहरियो मे शाह गोविन्दलाल का नाम उन दिनो अमित प्रसिद्ध था। लखनऊ के नवाबो से भी उनकी अच्छी बनती थी। शाह कुन्दन लाल और फुन्दन लाल दोनो उन्ही के सगे पुत्र थे। दोनो भाइयो की जोडी राम लक्ष्मण की जोडी थी। उनमे बडा प्रेम था। दोनो श्रीकृष्ण के भक्त थे। उनका मन घर गृहस्थी में नही लगता था। बडे भाई कुन्दनलाल—महात्मा ललित किशोरीने व्रज में निवास कर राधाकृष्ण का भजन करने का सकल्प किया। शाह फुन्दनलाल—ललितमाधुरी ने उनसे साथ ले चलने का विनम्रतापूर्वक आग्रह किया। ललित किशोरी से कहा कि भैया, वृन्दावन तो परमानन्दमय है, उसमें नवल शरद-निशि, नव वसत, नव राका, नव चन्द्रमा, नव मोर, पिक, कीर कोकिला, मलिन्द की छवि परम रमणीय है, शीतल मन्द सुगन्धित समीर सदा राधा-माधव रटता रहता है, उसमे नवल किशोर-किशोरी रास-रस-केलि करते रहते है। मुझे वृन्दावन ले चलिये। ललित किशोरी उनके अनुराग से परम प्रसन्न हुए और उन्हे भी अपने साथ लेते गये। महात्मा ललित किशोरी ने वृन्दावन के लिये प्रस्थान करते समय अपने मन को समझाया·

'मन पछितैहो भजन विन कीने।
धन-दौलत कछु काम न आवै,
कमल-नयन गुन चित विन दीने।
देखत को यह जगत सगाती,
तात-मात अपने सुखभीने।
'ललित किशोरी' दुद मिटै ना,
आनन्द कन्द बिना हरि चीने।'

उनके मन में निर्मल वैराग्य का उदय हो गया। वे सावधान हो गये। जागतिक मायामोह का अन्त हो गया। उन्होंने संसार को तिलाञ्जलि देकर भगवान की रस-केलि अपने अंक में भर ली। कुल की भौतिक मर्यादा का परित्याग कर वृन्दावन के रसराज्य में प्रवेश किया।

वृन्दावन में महात्मा ललित किशोरी के आगमन से नवीन प्राण आ गया। वे प्रभु की प्रेम-लीलाओं का गान करने लगे। उन्होंने राधारमणीय गोस्वामी राधागोविन्द जी से दीक्षा ली। उन्होंने संगमरमर का एक मन्दिर बनवाया, उसका नाम ललितनिकुंज रखा और उसमें भगवान राधारमण की मूर्ति स्थापना की। सखीभाव से भजन करने लगे। वे भगवान की वृन्दावन-लीला के प्रेम-संगीत में आत्मविभोर हो गये। वे परम प्रियतम प्राणाधार नन्दनन्दन से दर्शनयाचना करने लगे। उनके भजन का आदर्श भागवत में वर्णित गोपी-प्रेम था। वे उन्मत्त होकर गाया करते थे

दुनिया के परपंचों में हम मजा कछू नहिं पाया जी।
भाई बंधु-पिता-माता, पति सब सो चित अकुलाया जी।।
छोड-छाड घर, गाँव-नाँव, कुल, यही पंथ मन भायाजी।
'ललित किसोरी', आनन्दघन सो अब हठि नेह लगाया जी।।

महात्मा ललित किशोरी ने आजीवन ब्रजरस का आस्वादन किया। वे सखीसम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस में भगवान से सख्य भाव का सम्बन्ध स्थापित कर उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय की दृढ मान्यता है कि सखीभाव से उपासना किये बिना किसी को निकुञ्जसेवा का अधिकार नहीं मिलता है। ललित किशोरी ने सदा सखी भाव से सम्पन्न होकर यही कहा कि भगवती कलिन्दनन्दिनी के तट पर सघन कुंज के द्रुम पर बैठकर मैं कोकिल-सा कूकता रहूँ—सदा अपने प्रियतम का नाम लेता रहूँ, अपने प्रियतम के पदपंकज का मधुप होकर गुंजता रहूँ सदा ब्रजरज में ही निवास करूँ, उसका परित्याग कर क्षणमात्र के लिये भी कहीं बाहर न जाऊँ। उन्होंने अनुभव की वाणी में कहा:

'गौर-स्याम बदनारविंद पर जिसको बीर मचलते देखा।
नैन-बान, मुसक्यान संग फँस, फिर नहिं नैक सँभलते देखा।।
'ललित किशोरी' जुगल इश्क में बहुतों का घर घलते देखा।
डूबा प्रेमसिंधु का कोई हमने नहीं उछलते देखा।।'

महात्मा ललित किशोरी भगवान श्यामसुदर के प्रेमसिंधु में निमग्न रहते थे।

तत्कालीन रसिक सन्तो में महात्मा ललित किशोरी का नाम बडे आदर से परिगणित होता है। उनके समकालीन नथुनी वावा उच्च कोटि के रसमार्गी महात्मा थे। सखी सम्प्रदाय के सन्तो में दोनो को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। नथुनी वावा नाक मे नथ पहना करते थे। वे एक टूटे-से मन्दिर के कुज में रह कर भगवान का भजन करते थे। प्रत्येक छ मास के वाद कुज का द्वार खुलता था और बडे-वडे सन्त और महात्मा उनका दर्शन कर अपने आपको धन्य मानते थे। एक वार दर्शन के अवसर पर सन्त ललित किशोरी भी अपने आराध्य राधा-रमण का प्रसाद लेकर उपस्थित थे। उनको देखते ही परकीयाप्रेमरस के उपासक नथुनी वावा ने कहा कि सखी, प्रियतम को पाने के लिये कुछ भी उठा न रखना। ललित किशोरी जी ने तत्काल उत्तर दिया कि आप के पास इसी लिये तो आगमन हुआ है, मेरी अभिलापा पूरी कीजियेगा। वे प्रेममोन्मत्त होकर गाने लगे

'कोई दिलवर की डगर वताय दे रे।
लोचन कज कुटिल भृकुटी कच कानन कथा सुनाय देरे।।
'ललित किसोरी' मेर वाकी चित की साँट मिलाय दे रे।
जाके रग रग्यो सव तन-मन, ताकी झलक दिखाय दे रे।।'

नयुनी वावा पद सुनकर वहुत प्रसन्न हुए। सत ललित किशोरीने उन्हे ललित कुज में पधारने का आमन्त्रण दिया पर नयुनी वावा ने कहा कि मेरे प्रियतम मुझे छोडते ही नही है। इस उत्तर से सत ललित किशोरी आनन्द मग्न हो उठे।

महात्मा ललित किशोरी ने कार्तिक शुक्ल द्वितीया, सम्वत् १९३० वि मे निकुज-प्रवेश किया। वे आदर्श रसिक और प्रेमी सन्त थे। निकुजरस-माधुरी के परम मर्मज्ञ थे।

रचना

महात्मा ललित किशोरी ने रामविलास, अष्टयाम, समयप्रवन्ध सम्वन्धी अनेक मधुर पद रचे। वृहत्रसकलिका और लघुरसकलिका दो प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

वाणी

लाभ कहा कंचन तन पाये।
भजे न मृदुल कमल दललोचन
दुख मोचन हरि हरखि न ध्याये।।
तन-मन-धन-अरपन न कीनें
प्रान प्रानपति गुननि न गाये।
जोवन, धन, कलधौत धाम सब
मिथ्या आयु गँवाय गँवाये।।
गुरुजन-गरब, विमुख रंग राते,
डोलत सुख-सम्पति बिसराये।
'ललित किशोरी' मिटै ताप ना
बिन दृढ़ चिंतामनि उर लाये।।
साधो, ऐसेइ आयु सिरानी ।

लगत न लाज लजावत संतन, करतहिं दंभ छंदब विहानी।।
माला हाथ ललित तुलसी गर, अंग-अंग भगवत छाप सुहानी।
वाहिरपरम विराग भजन रत, अंतस मति पर-जुवति नसानी।।
मुख सो ग्यान ध्यान वरनत बहु, कानन रति नित विषय-कहानी।
'ललित किसोरी' कृपा करौ हरि, हरि संताप सुहृद सुखदानी।
लटकि-लटकि मन मोहन आवनि।
झूमि-झूमि पग धरत भूमिपर गति मातंग लजावनि।।
गोखुर-रेनु अंग-अंग मण्डित उपमा दृग सकुचावनि।
नवघन पै मनु झीन वदरिया सोभा रस वरसावनि।।
विगसति मुख लों कांति दामिनी, दसनावलि दमकावनि।
बीच-बीच घनघोर माधुरी, मधुरी वेनु वजावनि।।
मुकतमाल उर लसी छबीली, मनु वगपांति सुहावनि।
विंदु गुलाल गुपाल-कपोलन, इन्द्रवधू छवि-छावनि।।
झनन-झुनन किंकिनि-धुनि मानो हंसनि की चुहचावनि।
विलुलित अलक धूरि धूसर तन, गमन लोटि भुव आवनि।।
जघिया लसनि कनक-कछनी पै, पटुका ऐंचि वँधावनि।

पीताम्वर फहरानि मुकुट छवि, नटवर वेस वनावनि ॥
हलनि वुलाक अघर तिरछौंहीं, वीरी सुरग रचावनि।
ललित किसोरी फूल-झरनियाँ मधुर-मधुर वतरावनि ॥
'अव तो तेरिय हाथ विकानी।
मृदु वोलन मुसक्यान माधुरी, तन मन नैन समानी ॥
लोक-लाज, कुल-कानि तजी सव, जामें तुव रुचि चीनी।
धरम-करम व्रत नेम सवै सो, तोई रग-रस भीनी ॥
तुव कारन यह भेप वनायो, प्रगट उघरि करि नाची।
नाऊँ कुनाऊँ धरौ किन कोऊ, हौ नाहिन मति काँची ॥
होनी होय सो होय भले ही, तन मन लगन लगी है।
'ललितकिसोरी' लाल तिहारे, मति अनुराग पगी है ॥
वन-वन फिरना विहतर हमको रतन-भवन नहि भावे है।
लता तरे पड रहने में सुख नाहिन सेज सुहावै है ॥
सोना कर धरि सीस भलाअति तकिया ख्याल न आवै है।
'ललित किसोरी' नाम हरी का जपि-जपि मन सचु पावै है ॥
मै तुव पदतर रेनु रसीली।
तेरी सखरि कौन करि सकै, प्रेममई मूरति गरवीली ॥
कोटिहु प्रान वारने करि कै उरिन न तोसों प्रीति रगीली।
अपनी प्रेम-छटा करुना करि, दीजै दान दयाल छवीली ॥
का मुख करौं वडाई, राई 'ललित किसोरी' केलि हठीली।
प्रीति दसास सताम तिहारी, मोमें नाहिन नेह नसीली ॥

सन्त साईं बाबा

आपा-पर सब दूरि करि, रामनाम रस लागि।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि॥

—सन्त दादू

सन्त-चरित्र के चिंतन और स्मरण की अलौकिकता– दिव्यता भवसागर से पार उतरने की तरणी है। सन्त-चरण की एक धूलि-कणिका कोटि-कोटि गगा से भी नही तौली जा सकती है। जिस प्राणी पर सन्त की कृपा-दृष्टि अनायास पड जाती है उसके जन्म-जन्मान्तर के पापो का क्षय हो जाता है, पुण्य की समृद्धि वढ जाती है। साईं वावा एक ऐसे ही सन्त थे जिन्होने अभी कुछ ही समय पहले पृथ्वी पर उतर कर अपनी अलौकिक चरित्रलीला, विमल चरण-धूलि-कणिका और दिव्य कृपा से असख्य प्राणियो को परमात्मा का प्रकाश प्रदान किया। आत्मतत्व का साक्षात्कार कराया और अध्यात्म राज्य की स्थापना की। जिस समय भारत अपनी स्वाधीनता की पहली लडाई अग्रेजी शक्ति के विरुद्ध लड रहा था , विठूर, झाँसी, लखनऊ और दिल्ली तथा वरेली में स्वदेशी सैनिक-शक्ति स्वधर्म, स्वदेश और स्वराज्य के लिये नानासाहव, महारानी लक्ष्मीवाई, हजरत महल, वहादुरशाह और वखत खान की अध्यक्षता में अग्रेजो को लोहे के चने चववा रही थी, उस समय साईं वावा का एक वहुत वडे जनसमूह को सत्य, शान्ति और प्रेम का सन्देश देने के लिये, भगवद्भक्ति और आत्मज्ञान से सम्पन्न करने के लिये प्राकट्य हुआ। उन्होने शुद्ध आध्यात्मिक शक्ति का विजय-केतन फहराया। सत्य, शान्ति और तप ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे।

अपने अनुयायियो में वे दत्तात्रेय के अवतार के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे सदा त्याग के उच्चाति-उच्च शिखर पर ही निवास करते थे। महादानी थे, दिन में जो कुछ भी मिलता था उसे साधु-सन्तो और असहाय तथा दीन-दुखियो की सेवा में लगा कर दूसरे दिन फिर महाभिक्षुक के रूप मे दीख पडते थे।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सबके-सब उनमें श्रद्धा रखते थे और उनके चरणधूलि-कण से पवित्र होने में अपना सौभाग्य मानते थे। ऋद्धि-सिद्धि सदा उनके पैर चूमती थी पर वे कभी उनकी ओर तनिक भी ध्यान नही देते थे। सदा सहज समाधि मे निमग्न रह कर परमात्मा का स्मरण करते रहना ही उनका जीवन बन गया था। काम, कामिनी और काचन—तीनो पर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। वे सत्य तत्व के परम ज्ञाता थे, दार्शनिक सत थे। परम पवित्र भगवती गोदावरी नदी के तट पर, अहमदनगर जनपद के पथरी ग्राम में सम्वत् १९१३ वि मे एक ब्राह्मण कुल मे सत साईबावा ने जन्म लिया था। दैवयोग से पालन-पोषण के लिये उनको एक फकीर के हाथ में सौंप दिया गया। बाल्यावस्था से ही वे बडे विनम्र, कोमल और मधुर स्वभाव के थे। उन्हे देख कर लोग कह पडते थे कि भविष्य मे ये बहुत बड़े महात्मा होगे। सन्त का बचपन भी दिव्य और चमत्कारपूर्ण होता है। साई बावा के गुरु का नाम वेंकुसा कहा जाता है। बाल्यावस्था में वे अपने गुरु के साथ चावडी मे निवास कर बडी श्रद्धा और भक्ति से उनकी सेवा करते थे। उनकी दृढ मान्यता थी कि गुरु मे श्रद्धा और विश्वास रखने से समस्त पाप मिट जाते है। वे कहा करते थे कि ब्रह्म मेरा पिता है, माया मेरी माता है तथा जगत् ही मेरा ग्राम है। गुरु के समाधि लेने पर साईंने अज्ञात वास का निश्चय किया, उस समय उनकी अवस्था केवल सोलह साल की थी। उन दिनो शिरडी में देवदास नाम के एक साधु की बडी प्रसिद्धि थी। चाँदभाई के साथ बड़े आग्रह के बाद वे शिरडी आ कर महात्मा देवदास के साथ रहने लगे। साई का रूप देख कर लोग उनकी ओर आकृष्ट हो गये। उनकी प्रसिद्धि सुन कर दूर-दूर से सन्त जन उनका दर्शन करने के लिये आने लगे। नित्य प्रति सत्सग होने लगा। शिरडी ने सन्त साई बावा के निवास से भक्ति और ज्ञान तथा प्रेम की गगा, सरस्वती और कालिन्दी का सगम उतर आया। वातावरण आध्यात्मिक दिव्यता से परिपूर्ण हो उठा। वे 'शिरडी के सत' के नाम से प्रसिद्ध हो चले।

शिरडी में साईबावा तप करने लगे। शिरडी-आगमन के सम्बन्ध में एक विशेष घटना का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। चावडी मे गुरु के समाधिस्थ होने पर साई बावा ने अज्ञात-वास का व्रत लिया था। धूपखेडा ग्राम के पटेल चाँदभाई का घोडा दो माह से अदृश्य था, उसका कहीं भी पता नहीं लगता था। दैवयोग से चाँदभाई को साई बावा ने बतला दिया कि घोडा

अमुक स्थान पर मिलेगा। उनकी बात ठीक निकली, उन्होने इसी प्रकार कुछ और चमत्कार दिखाये, चॉदभाई उनके चमत्कार से मुग्ध हो गये और उन्हे शिरडी ले आये। साईंबाबा शिरडी में एक मसजिद में रह कर भगवान का भजन करने लगे। मसजिद का नाम उन्होने द्वारिकामाई रखा था, वे भिक्षा से भोजन का प्रवन्ध करते थे, भिक्षा मॉगना तथा दिन भर मसजिद के सामने आम के वृक्ष के नीचे वैठ कर भगवान का भजन करना ही उनका काम था। वे दाढी रखते थे, चीथडे पहनते थे। त्यागवृत्ति से जीवन-निर्वाह करते थे। दिन-प्रतिदिन सत्सगियो और दर्शको की भीड वढती गयी। उनकी धूनी की राख पाते ही बीमार अच्छे हो जाते थे, असहाय और गरीबो की दरिद्रता दूर हो जाती थी। इस प्रकार उनका प्रताप चारो ओर वढने लगा। शिरडी तथा अडोस पडोस के लोग उन्हे सनकी और पागल समझते थे पर साईं वावा अवाध गति से अपनी आत्मसाधना और भगवद् भजन मे तल्लीन रहते थे। एक दिन की विचित्र घटना से शिरडी वाले उनके चरणो पर नत होकर उनके सत्यसन्देश के दूत वन गये। दीपक जलाने के लिये तेल नही था। बावा ने तेल मॉगा तो शिरडी के निवासियो ने देना अस्वीकार कर दिया । साईं वावा ने तेल के वदले पानी से चिराग जलाया और शिरडी के नागरिको को आश्चर्य चकित होना पडा कि चिराग पानी के सहारे रात भर जलता रहा। दूसरे दिन प्रात काल मसजिद में वहुत वडी भीड एकत्र हो गयी। लोगो ने वावा के चरण में मस्तक नत कर क्षमा-याचना की, कहा कि महाराज, हमें आप की शक्ति का तनिक भी पता नही था। आप सन्तशिरोमणि हैं, आप के प्रति अपराध कर हम लोगो ने महापाप किया है, हम आप के शरणागत है, हमें अपना लीजिये। वावा मन्द-मन्द मुस-कराने लगे, उनके नयनो से शीतल कृपा की ज्योति निकलने लगी। वावा ने अपने प्रेमियो और भक्तो को शिक्षा दी कि अपने-अपने धर्म के अनुकूल आचरण कर भगवान के भजन में निरतर लगे रहना ही क्षणभगुर ससार में जन्म लेने का पुण्यफल है। भागवत शास्त्र में वावा की वडी अनुरक्ति थी, वे अपने वहुत-से अनुयायियो को भागवत तथा अन्य भक्तिपरक शास्त्र पढने का समय-समय पर आदेश देते रहते थे। वे मसजिद में एकान्त में योगाभ्यास किया करते थे। उन्होने वहुत दिनो तक देह से अलग रहने का अभ्यास किया। विशेष अवसरो पर साईं वावा अपनी यौगिक सिद्धि से लोगो को आश्चर्यचकित कर दिया करते थे। वीमारो को 'हरि-हरि' उच्चारण का आदेश दिया करते थे और स्मरणीय

बात तो यह है कि ऐसा करने से बडी-से-बडी बीमारी चली जाती थी और 'हरि हरि' उच्चारण करने वाले पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाते थे।

जल तत्व पर साईं बाबा का पूरा-पूरा नियन्त्रण था। अपनी सिद्धि के बल से बडी-से-बडी जलवृष्टि को रोक देते थे। एक बार शिरडी में जोर की जल-वृष्टि होने लगी, हवा बडे वेग से चलने लगी, और बिजली के कडकने और चमकने से लोगो का धैर्य नौ-दो ग्यारह होने लगा। लोग थर-थर कापने लगे। बाबा उस समय मसजिद में ही थे। लोगो ने सोचा कि बाबा के शरणागत होने पर ही प्राण की रक्षा हो सकेगी। वे पशुओ को साथ लेकर मसजिद में पहुँच गये। बाबा से प्रार्थना की 'महाराज, हमारे प्राणो की रक्षा कीजिये।' सन्त तो सहज ही कृपालु होते हैं। साईं बाबा से लोगो का दुख न देखा गया। वे मसजिद से बाहर आकर खडे हो गये, आसमान की ओर देखने लगे। थोडी ही देर में बाबा की कृपा-दृष्टि से जल-वृष्टि बन्द हो गयी। लोग 'साईं बाबा की जय' बोलते अपने-अपने घर आये।

एक बार एक व्यक्ति के साथ शिरडी में एक डाक्टर आये। उस व्यक्ति ने डाक्टर महोदय को बाबा की महिमा बतायी और दर्शन के लिये चलने का आग्रह किया। डाक्टर ब्राह्मण थे, वे ब्राह्मणोचित आचार, विचार से रहते थे। उन्होने बाबा के पास जाकर उनके पैरो पर पडना अस्वीकार कर दिया। उनको उस व्यक्ति ने बताया कि बाबा न तो किसी व्यक्ति को पैर पकडने का आदेश देते है और न उनकी ऐसी इच्छा ही है कि कोई पैर पकडे। डाक्टर भगवान रामचन्द्र के भक्त थे। उस व्यक्ति के साथ वे साईं बाबा के दर्शन के लिये द्वारिका माई–मसजिद मे गये। बाबा ने उनको भगवान राम के रूप में दर्शन दिया। डाक्टर महोदय ने साष्टाग दण्डवत प्रणाम किया और बाबा के उपदेशो से अपना समय सफल किया।

साकोरी के सन्त उपासनी महाराज पर साईं बाबा की बडी कृपा थी। ऐसा लगता है कि उपासनी महाराज ने साईं बाबा की सेवा के ही लिये जन्म लिया था और साईं बाबा ने पूर्ण अखण्ड अध्यात्म ज्ञान और भगवद् भक्ति से उपासनी महाराज को सम्पन्न करने के ही लिये शिरडी मे तपस्या की थी। उपासनी महाराज ने शिरडी में आकर बाबा का दर्शन किया पर उनका मन एक मुसलिम सन्त के सरक्षण में रहने के लिये प्रस्तुत नही था। उन्होंने

वावा से कहा कि मैं जाना चाहता हूँ, बाबा ने प्रसन्नतापूर्वक जाने की आज्ञा दे दी पर साथ-ही-साथ यह भी कहा कि तुम आठ दिनो के बाद चले आना। उपासनी महाराज लौट कर शिरडी नही जाना चाहते थे पर उनके मन को कोई आन्तरिक शक्ति नियत समय पर शिरडी पहुँच जाने के लिये प्रेरित कर रही थी। वावा की योग-शक्ति ने उनको अपने चरणो में उपस्थित होने के लिये विवश किया। साईं बाबा ने उनके शिरडी पहुँचने पर आज्ञा दी कि तुम श्मशान भूमि के निकट खण्डोवा मन्दिर में निवास कर साधना करते रहो, आत्मसाक्षात्कार में चार साल का समय लगेगा, उसके वाद तुम सिद्ध महात्मा हो जाओगे। उपासनी महाराज ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। वे शिरडी में खण्डोबा के जीर्ण-शीर्ण प्राचीन मन्दिर मे निवास कर एकान्त में तप करने लगे और चार साल के बाद एक वहुत वडे महात्मा के रूप में प्रसिद्ध हुए। साईंबाबा ने उन्हे आत्मसाक्षात्कार प्रदान किया।

उपासनी महाराज की खण्डोवा मन्दिर के निवास काल में कई बार साईं वावा ने परीक्षा ली थी। उन्होने उपासनी महाराज को वतलाया कि गुरु और ईश्वर दोनो अभेद है, अभिन्न हैं, गुरु के चरणो में श्रद्धा और विश्वास रखने पर ईश्वर की कृपा और भक्ति मिलती है।

एक वार खण्डोवा मन्दिर से उपासनी महाराज मसजिद—द्वारका माई में अपने गुरुदेव से मिलने गये। साईं वावा चिलम पीते थे, उन्होने उपासनी महाराज को चिलम पीने का आदेश दिया और पूछा कि क्या तुम्हारे पास मन्दिर मे कोई जाता है? महाराज ने 'नही' उत्तर दिया। 'अच्छा, तो मै एक दिन आऊँगा। क्या तुम मुझे चिलम पिलाओगे?' साईं ने कहा। उपासनी मन्दिर में चले गये। उन्होने भोजन वनाया और थाली मे रख कर अपने गुरुदेव को समर्पित करने के लिये द्वारिका माई की ओर चल पडे। मन्दिर के निकट एक काला कुत्ता था। उपासनी महाराज ने सोचा था कि पहले गुरुदेव को भोजन दे आऊँ, उसके वाद कुत्ते को खिला दूँगा। पर रास्ते में उनका मन वदल गया। वे मन्दिर की ओर जाना चाहते थे पर कुत्ता अदृश्य हो गया।

वावा ने कहा, 'तुम धूप में क्यो आ गये? मैं तो मन्दिर के सामने ही प्रतीक्षा करता था।

उपासनी महाराज को कुत्ते वाली वात का स्मरण हो आया, वे पछताने लगे।'मैं कुत्ते के वेप में तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।' वावा ने समाधान किया।

दूसरे दिन उपासनी महाराज ने मसजिद मे बाबा के पास भोजन ले जाते समय मन्दिर के निकट एक शूद्र भिखारी को देखा पर पहचान न सके कि साईबाबा उनकी परीक्षा के लिये उपस्थित है। बाबा ने बतलाया कि 'शूद्र के वेष में मै ही प्रतीक्षा कर रहा था।' घट-घट में एक ही परमात्मा का निवास है, प्राणीमात्र में आत्मानुभूति ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। उन्होने कहा कि कण-कण मे मेरी-आत्मा की ही चेतनसत्ता परिव्याप्त है। इसका अनुभव करना ही परमात्मा का भजन है। बाबा अपने शिष्यो और सत्सगियो से कहा करते थे कि जो मसजिद-द्वारिका माई की सीढी पर पैर रख देता है वह मेरे ही समान है, मुझमें और उसमे कुछ भी भेद नही रह जाता है। मेरे पास आने वाले को जो दुख देता है वह मुझे ही दुख देता है, उन्हे जो सुख पहुंचाता है वह मुझे ही सुखदेता है।

साईं बाबा अपने अनुयायियो पर समान रूप से कृपा-दृष्टि रखते थे। विश्व-प्रेम और लोक-कल्याण की सीख देते थे। सत्यानुराग और लोक कल्याण उनके उपदेशो में भरे-पडे है। उनके सिद्धान्त और भगवच्चिन्तन की पद्धति अत्यन्त रहस्यपूर्ण है, उनके विचारो को समझना अमित कठिन है, उनकी कृपा से ही उनकी बाते समझ में आती है तो आ जाती है, उनके अनुयायियो ने उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करने में तत्परता दिखायी। साईंबाबा अखण्ड जाग्रत, पूर्ण सावधान तथा अविकल रूप से प्रेम मग्न हो कर भगवान के भजन में लगे रहते थे। भगवन्नाम में उनकी बडी आस्था थी। सत्य-स्वरूप परमेश्वर के नाम में श्रद्धा अभिव्यक्त कर उन्होने सन्तमत की सनातन परम्परा अक्षुण्ण रखी। 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है' इस वेदान्तप्रतिपाद्य सत्य को उन्होने अपने जीवन में सम्पूर्ण रूप से चरितार्थ किया। उन्होने सच्चिदानन्द की अनुभूति की। सदाचार पर साईबाबा विशेष जोर देते थे, सदाचार को आत्म साधना अथवा भगवान की उपासना का वे बहुत बडा अग स्वीकार करते थे।

मुसलमान उन्हें उच्च कोटि का औलिया और हिन्दू महान सन्त मानकर उनकी पूजा करते थे। वे कहा करते थे कि भिन्न भिन्न धर्मो के प्रति सदा समता का भाव रखना चाहिये। समस्त विश्व ही उनके शरीर के लिये एक मन्दिर था। वे भक्तो के दुख अपने-आप भोग लिया करते थे। भक्त और शिष्य उनसे दर्शन देने की प्रार्थना करते तो बाबा कहा करते थे कि मै तो तुम्हारे ही दर्शन से ईश्वर की कृपा से कृतार्थ हो गया। बाबा को अन्नपूर्णा की सिद्धि थी। वे

वाक्सिद्ध महात्मा थे।

शिरडी में ही बाबा अन्तिम समय तक रहे। विजयादशमी उनके जीवन की अन्तिम तिथि थी। सम्वत् १९७५ वि में अद्वैतावस्था में स्वरूपगत ब्रह्म का चितन करते हुए उन्होने परम गति प्राप्त की। समाधिस्थ होने के बाद भी विशेष भक्तो को वे सदेह दर्शन देते रहते हैं और कुसमय में उनकी सहायता करते रहते है। साईं बाबा परदु खभजन थे। वे निरपेक्ष और निष्पक्ष सन्त थे। शिरडी में हजारों की सख्या में उनके अनुयायी और भक्त लोग प्रत्येक दशहरा और दीवाली को एकत्र होकर बाबा की समाधि पर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।

रचना

'साईं वाक्सुधा' में उनके अनेक उपदेश और वचन सग्रहीत हैं।

वाणी

रात-दिन ईश्वर का नाम लेते रहना ही सब से बडी साधना है। नाम रत्न को पाने वालो ने सदा उसे छिपा कर ही रखा।

बुद्धि से ईश्वर को पहचानना चाहिये। ईश्वर ही गरीबो के रक्षक हैं, उनके सिवा गरीवो का दूसरा कोई है ही नही।

जिस प्रकार ईश्वर रखते हैं उसी प्रकार रहना चाहिये। भले की भलाई भले के पास और बुरे की बुराई बुरे के पास रहती है।

एक बार सद्गुरु के हाथ में जीवन की डोरी सौंप देने पर चिंता की बात नही रह जाती है। सब कुछ ईश्वर ही ईश्वर है।

गरीबी-दैन्य बादशाही है। गरीबो के भाई भगवान हैं—ऐसा मेरा वचन है।

पागल हरनाथ

नाह विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाह वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोघन्निखिल परमानन्दपूर्णामृताब्धे
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

न मै ब्राह्म हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ और न शूद्र ही हूँ, मै न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थ हूँ और न सन्यासी हूँ, किन्तु सम्पूर्ण परमानन्द मय अमृत के उमडते हुए महासागर रूप गोपीकान्त श्रीकृष्ण के चरण कमल के दास का दासानुदास हूँ। —सार्वभौम वासुदेवभट्टाचार्य

पागल हरनाथ प्रेमरसोन्मत्त सन्त थे, उन्होने आजीवन भगवद्प्रेम-रसामृत के असीम सागर मे निमग्न रहने में ही अपनी भक्ति –उपासना का सौभाग्य समझा। उनके रोम-रोम में भगवान के परम मधुर नाम का उच्चारण होता रहता था, उनका समग्र जीवन कृष्णमय था, वे अपने आराध्य राधा-गोविन्द का ही निरन्तर चिंतन किया करते थे, वे भगवद्रस और दिव्य प्रेम के एकीभूत रूप थे। उन्होंने असख्य प्राणियो को भगवान के सरस प्रेम में परमोन्मत्त कर दिया। निस्सन्देह वे भक्तिसिद्ध अलौकिक प्राणी थे, भागवत पुरुष थे।

यद्यपि महात्मा हरनाथ ने विक्रमीय वीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध को अपनी उपस्थिति से पवित्र किया था तो भी उनकी ऐतिहासिकता तीन सौ साल पहले से ही सुरक्षित है। महात्मा हरनाथ की जन्मभूमि बगाल प्रान्त के बाकुडा जनपद का सोनमुखी गॉव है। इस स्थान में पहले जगल था और उसमें बडे-बडे तपस्वियो ने तप तथा भगवद्भजन किया था। परम प्रसिद्ध वैष्णव सन्त मनोहर दास जी महाराज सम्वत् १६४९ वि में सोनमुखी आये हुए थे। उस समय उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि इस पवित्र स्थान पर तीन सौ साल के बाद एक ऐसे महात्मा का प्राकट्य होगा जो महाप्रेमलीलावतार होंगे—

साक्षात्प्रभु के प्रेमविग्रह-रूप में प्रकट होकर वे असख्य प्राणियो को प्रेमरस का दान करेगे। वे गौराग चैतन्य महाप्रभु के अभिनव रूप होगे और उनकी शेष लीला की अभिव्यक्ति से ससार का मन मुग्ध कर लेगे। वे गृहस्थ वेष में रह कर भगवान के प्रेम का प्रचार करेगे। सन्त मनोहर दास की रसमयी भविष्यवाणी के दिव्य प्रतीक महात्मा हरनाथ थे। महात्मा की पहिचान महात्मा और सत जन किया करते हैं। अभी कुछ ही दिनो की बात है कि नैनीताल के एक जगल में पदमपुरी सोमवारी बाबा, जो सिद्ध पुरुष थे, तप कर रहे थे। उन्होने पागल हरनाथ के सम्बन्ध में कहा था कि बाह्य इन्द्रियो से, नेत्रो और वुद्धि आदि की सहायता से हरनाथ महाराज का स्वरूप नही समझा जा सकता है। बाहर से तो वे एक दाढीवाले प्राणी के रूप में लोगो को भ्रमित कर देते हैं पर भीतर से उनकी महानता को समझना मेरे भी वश की बात नही है। स्वय हरनाथ जी महाराज कहा करते थे कि मेरी बाते तो बिना सिर-पैर के होती है, उनकी एक पागल की उक्ति समझ कर भले ही उपेक्षा कर दीजिये, भले ही मेरे सम्वन्ध में विचार न कीजिये पर मुझे भूलिये नही। इसी प्रकार एक बार उन्होने सकेत किया था कि मै चराचर में परिव्याप्त हूँ, यह विश्व-ब्रह्माण्ड मेरा ही स्वरूप है। उनके कथन की निगूढता अत्यन्त रहस्यमयी है, उनकी कृपा से ही यह समझ में आ सकती है।

महात्मा हरनाथ के जन्म और कर्म दोनो अलौकिक थे। बाकुडा जनपद का सोनमुखी ग्राम एक तीर्थ क्षेत्र है, उसी ग्राम में जयराम नाम के एक धनी व्यक्ति निवास करते थे। कलकत्ता में उनका छोटा मोटा काम भी होता था। जयराम वन्द्योपाध्याय वडे आस्तिक प्राणी थे, इसी प्रकार उनकी पत्नी सुदरी देवी भी वडी सती-साध्वी थी। वे शिव, विष्णु और दुर्गा आदि में समान रूप मे भक्तिनिष्ठ थी। सम्वत् १९२२ वि में आषाढ शुक्ल तृतीया को सौभाग्यवती सुन्दरी देवी ने अपने घर की एक गोशाले में ही हरनाथ को जन्म दिया। हरनाथ के प्रकट होते ही चारो ओर दिव्यता छा गयी, ऐश्वर्य और सौन्दर्य के प्रस्फुरण से कण-कण में प्रसन्नता की लहर दौड गयी। जयराम दम्पति ने दिव्य वालक के जन्मोत्सव में यथाशक्ति दान-पुण्य किये। उनके आरभ के शुभ सस्कार सम्पन्न कराये गये। सवसे वडी विलक्षण वात तो यह दीख पडी कि शैशवावस्था में जव कभी हरनाथ रोते थे तव लोगो के मुख से हरिनाम का कीर्तन सुन कर चुप हो जाते थे। इस प्रकार वे कभी-कभी अपनी दिव्य लीलाओ का

परिचय कराते रहते थे। उनके प्राकट्य से घर की शोभा ही नही वढ गयी, सोनमुखी की ही दिव्यता की अभिवृद्धि नही हुई, सारे वातावरण में दिव्यता और भगवत्ता का साम्राज्य उतर आया।

हरनाथ की वाल्यावस्था में एक विचित्र घटना से असख्य प्राणी आश्चर्य-चकित हो गये। सोनमुखी गाँव से पचीस मील की दूरी पर एक मेला लगता है उस स्थान पर भगवती दुर्गा का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। उस समय हरनाथ की अवस्था दो साल की रही होगी। उनके माता-पिता मेले में उन्हे अपने साथ ले गये थे। मन्दिर के प्रागण में एक किनारे हरनाथ खेल रहे थे। लोग मन्दिर से लगे एक छोटे से तालाव मे स्नान कर रहे थे। दोपहर तक तालाव सूख गया। मन्दिर के प्रागण में एक वहुत दिनो का सूखा नाला था। हरनाथ खेलते-खेलते उसमें खडे हो गये। उनके चरणस्पर्श मात्र से ही नाले में स्वच्छ जल के अगणित स्रोत फूट पडे। लोगो ने स्नान किया। हरनाथ के इस अलौकिक चरित्र से सव लोग विस्मित हो उठे। जयराम और उनकी सौभाग्यवती पत्नी ने ऐसे अनुपम दिव्य आत्मा को पाकर अपने भाग्य की सराहना की और देवी से हरनाथ के दीर्घायु होने की प्रार्थना की।

हरनाथ लगभग तीन साल के रहे होगे कि उनके पिता जयराम ने परलोक-यात्रा की। उनकी माता सुदगी देवी ने शिक्षण और पालन-पोषण का भार सम्हाला। पाच साल की अवस्था मे हरनाथ को विद्यारम्भ कराया गया। विद्यारम्भ के पहले उनसे वेलपत्र से महादेव-शिव की पूजा करायी गयी तथा उन्हे भगवान श्याम सुदर का दर्शन कराया गया। सौभाग्य से हरनाथ के अध्यापक महोदय श्री राधाकृष्ण के भक्त थे। उन्होने हरनाथ को वर्णमाला का वोध कराना आरम्भ किया। हरनाथ ने कक्षा में वडी विनम्रता पूर्वक उठ कर कहा 'महाशय वर्णमाला का वोध कराने के पहले कृपापूर्वक मुझे सिखाइये कि मैं अपने परम प्रेमास्पद राधा गोविन्द के मधुर नाम का उच्चारण किस प्रकार करूँ? अध्यापक उनके प्रश्न से वहुत प्रसन्न हुए। उन्होने हरनाथ तथा अन्य विद्यार्थियो के साथ राधा गोविन्द के मधुर नाम का उच्चारण करना आरम्भ किया। इस प्रकार पाठशाला में पहले ही दिन हरनाथ ने भगवन्नाम का मधुर प्रचार किया। एक दिन हरनाथ ने सव विद्यार्थियो से पाठशाला की दीवार पर कागज चिपका कर राधागोविन्द का नाम लिखने को कहा। थोडे ही समय में पाठशाले की दीवार भगवन्नाम से अकित हो गयी। अध्यापक ने समझ लिया कि हो-न-हो

यह कार्य हरनाथ के ही सकेत से किया गया है। उन्होने हरनाथ को बुलाया हरनाथ ने बडी सरलता और मधुरता से उत्तर दिया कि महाशय, कागज तो गन्दे हो जायेंगे पर उन पर अकित भगवान राधाकृष्ण के सरस नाम दिव्य रत्न की तरह सदा चमकते रहेगे।' अध्यापक उनके उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए और उनकी वुद्धि की सराहना की। छ साल की अवस्था से ही सोनमुखी गाँव के घर-घर में उन्होने हरिभक्ति का प्रचार करना आरम्भ किया। स्वाभाविक रूप से उनके हृदय और रसना से भगवद्भक्ति की मधुरतम धारा प्रवाहित होने लगी और लोग उसमें स्नान कर अलौकिक आनन्द की अनुभूति करने लगे।

उनकी अलौकिक प्रवृति ने सोनमुखी गाँव का वातावरण दिव्य और भक्तिमय बना दिया। ससार के अनित्य सुखो के प्रति उनके मन में तनिक भी आसक्ति न रह गयी। अडोस-पडोस के गाँवो में घूम-घूम कर हरिभक्ति की शिक्षा देना ही उनका कार्य हो गया। धीरे-धीरे दीन-दुखियो और असहायों की सेवा में उनकी रुचि वढने लगी। जव वे केवल बारह साल के थे, अडोस-पडोस के गावो में कीर्तन का प्रचार करने जाया करते थे। एक वार वे निकटस्थ गाँव में कीर्तन का प्रचार कर घर लौट रहे थे, रास्ते में एक झोपडी में उन्होने एक बूढे आदमी की जो बीमार था स्वेच्छा से सेवा-सुश्रुषा की। बूढा व्यक्ति उनकी कृपा से स्वस्थ हो गया। कुछ दिनो के बाद हरनाथ के बीमार पडने पर वह उनके घर आया और उसकी सेवा से वे अच्छे हो गये। इस प्रकार दूसरे के सुख-दुख से सुखी-दुखी होने की भावना उनके मन में सुदृढ होने लगी।

थोडे समय के वाद सोनमुखी के ही रहने वाले कन्दर्प सुन्दर भट्टाचार्य की कन्या अखण्ड सौभाग्यवती कुसुम कुमारी देवी से उनका विवाह कर दिया गया। कुसुम कुमारी देवी के भक्तिमय जीवन ने महात्मा हरनाथ को अध्यात्म पथ में वढने में असाधारण सहायता दी, उन्होने आदर्श गृहस्थ और भगवद्भक्त बनने में वडा योग दिया। महात्मा हरनाथ के शिष्यो में दोनो के प्रति अगाध श्रद्धा और आदर का भाव पाया जाता है। दोनो पूज्य और उपास्य हैं।

हरनाथ को माध्यमिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के वाद विद्याध्यायन के लिये कट्टियाखोल आना पडा। प्रवेशिका-परीक्षा में सफल होने पर उन्होने वर्दवान राजा कालेज–विद्यालय, कलकत्ता में नाम लिखाया। वे कक्षा में सदा मौन रहते थे, उन्हे देखने पर ऐसा लगता था कि उन्होने सहज समाधि लगा ली हो। इस प्रकार अमित शान्तिपूर्ण वातावरण में उन्होने विद्याध्ययन समाप्त

किया। ऐसे तो वे साक्षात् विद्यानिधि ही थे, ईश्वर-प्रेम समस्त विद्याओं का मूलाधार है, फिर भी महापुरुष अपने चरित्र में दूसरों के आदर्शस्वरूप लोक-जीवन उपस्थित करते हैं।

महात्मा हरनाथ का शरीर यन्त्र की भाँति चलता रहता था पर उनका मन लोक-लोकान्तरों में परिभ्रमण करता रहता था। एक बार वे अपने कुछ मित्रों के साथ टहल रहे थे। उनका शरीर यन्त्रवत आगे बढ रहा था पर वे थे शरीर से बाहर ही। इस स्थिति में वे एक मसजिद में पहुँच गये। इब्राहिम नाम का एक व्यक्ति नमाज पढ रहा था। हरनाथ ने भगवद्प्रेम के आवेश में उसका आलिंगन किया। उनके नयनों से प्रेमाश्रु बहने लगा।

वे भगवान के सुमधुर नाम राधा-गोविंद को मन्त्रराज मानते थे। सदा इसी मधुर नाम-रस में मग्न रहते थे। एक बार उनकी पत्नी को साँप ने काट लिया। उस समय हरनाथ निद्राभिभूत थे। मान्त्रिकों ने मन्त्र उच्चारण किये पर चेतना न लौट सकी। निद्रा में ही अचानक हरनाथ के मुख से 'राधा-गोविंद' का नाम निकल पडा। लोगों ने राधा गोविन्द कहना आरंभ किया, कुसुम कुमारी देवी स्वस्थ हो गयी, उनकी चेतना लौट आयी। इस प्रकार महात्मा हरनाथ की अलौकिक प्रवृत्ति से लोग प्रभावित होने लगे और उनके प्रति पूज्य भाव रखने लगे।

हरनाथ भगवन्नाम-संकीर्तन में इतने तन्मय हो गये कि उनकी कालेज की शिक्षा अधूरी ही रह गयी। परिवार के पालन-पोषण का प्रश्न बहुत जटिल हो गया। एक दिन शाम को भगवन्नाम का प्रचार कर घर आये। उनके भाई शिवराम ने कहा कि बेकार रहने से काम नहीं चल सकता, जब तक कहीं अच्छी नौकरी नहीं मिल जाती, घर के दरवाजे बन्द हैं। हरनाथ को उनकी बात लग गयी। वे नौकरी के लिये चिंतित हो उठे। भगवान की कृपा से उन्हें मोतीगुजी के निकट अयोध्या में अध्यापन का कार्य मिल गया और कुछ दिनों के बाद वे काश्मीर में किसी अच्छे पद पर नियुक्त हो गये। काश्मीर में तथा हिमालय के अन्य प्रदेशों में उन्होंने तपस्वियों और साधु महात्माओं से घूम-घूम कर कहा कि महाराज, केवल ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, भक्ति भगवान के मधुर नाम-कीर्तन से प्राप्त होती है, भगवद्प्रेम ही जीवन का साफल्य है। इस प्रकार वे गृहस्थ वेष में रह कर भी साधु-सन्तों को भगवान के नामामृत का रसास्वादन कराते रहे। महाराजा काश्मीर उनका बडा सम्मान करते थे, वे उनके अनुयायी हो गये।

हरनाथ ने काश्मीर राज्य के धर्मार्थविभाग में कुछ समय तक काम किया। उसके बाद वे सोनमुखी लौट आये। काश्मीर-निवास-काल में वे देश के प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र वृन्दावन, प्रयाग, हरिद्वार, जगन्नाथपुरी और काशी आदि में विख्यात हो गये, उनकी प्रसिद्धि बढ गयी। अटल बिहारी नन्दी महात्मा हरनाथ के प्रधान शिष्यो में परिगणित होते है। वे हाथरस में रेलवे स्टेशन मास्टर थे। एक दिन दोपहर को एक अपरिचित व्यक्ति ने उनसे हाथरस से वृन्दावन का टिकट माँगा। नन्दी महोदय ने कहा कि वृन्दावन के लिये अब दूसरी गाडी कोई नही आने वाली है। अपरिचित ने कहा कि गाडी आ रही है। थोडे समय के बाद ही एक स्पेशल गाडी आ पहुँची और नन्दीमहोदय के देखते-ही-देखते अपरिचित उसमें बैठ गये। नन्दी आश्चर्य चकित हो गये। अपरिचित के वेष में पागल हरनाथ ही थे। उन्होने कहा 'नन्दी मै तुमसे फिर मिलूगा।' नन्दी महोदय ने हरनाथ ठाकुर को प्रणाम किया।

अटल बिहारी नन्दी का घर बगाल के हुगली जनपद में था। एक बार हरनाथ ठाकुर उनके अतिथि थे। नन्दी की पत्नी शरिमा उनमें बडी निष्ठा रखती थी। शरिमाने सोचा कि ठाकुर ब्राह्मण है,हम लोग उनसे नीच वर्ण में हैं। इसलिये भोजन की व्यवस्था पडोस की ही एक विधवा ब्राह्मणी के घर में कर दी गयी। विधवा की एक कन्या थी, जो विवाहित थी। कन्या का पति चरित्रभ्रष्ट था, वह रेलवे में नौकर था। जब ठाकुर ब्राह्मणीके घर भोजने करने गये तब उस कन्या का मन ठाकुर के दिव्य शरीर-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। उसका भाव हरनाथ से अपवित्र सम्बन्ध स्थापित करने की ओर हो गया। उसने ठाकुर को भोजन कराया और बार-बार उन्ही की ओर देखती रही। ठाकुर से शरिमा ने भोजन के सम्बन्ध में पूछा, हरनाथ ने कहा कि भोजन अमित पवित्र था पर उसमें प्रेम का अभाव था। उन्होने आग्रह किया कि मा, मै आप के हाथ का भोजन करूँगा, ब्राह्मणी के घर नही जाऊँगा। सीधी-सादी श्रद्धामयी शरिमा ने मन में विचार किया कि ठाकुर दो एक दिनके अतिथि है इसलिये उनके वर्ण की मर्यादा अक्षुण्ण रहे तो अच्छा है। उसने ठाकुर से दूसरे दिन भी विधवा ब्राह्मणी के ही घर भोजन करने का आग्रह किया, उसे पता ही नही था कि ठाकुर भगवान के प्रेम-साम्राज्य के नागरिक है, वर्णातीत है। ठाकुर ने स्वीकार कर लिया। ठाकुर भोजन करने गये। कन्याने किसी बहाने से अपनी मा और नोकर को बाहर भेज कर दरवाजा बन्द कर लिया

उसके मन में काम-पिपासा जाग उठी। ठाकुर बन्द करने से अदृश्य हो गये रूपवती कन्या ने उनके स्थान पर भगवान सदाशिव की एक संगमरमर की प्रतिमा देखी। वह अचेत हो गयी। मा के घर में आने पर उसने सारा रहस्य बताया। पागल हरनाथ ने इस घटना के सम्बन्ध में कहा कि उस कन्या की मा धन्य है जिसने उसको जन्म दिया, वह भगवान की परम भक्त है। ठाकुर महोदय की प्रेरणा से उस कन्या का पति चरित्रवान हो गया और उसने उसको स्वीकार कर लिया। दोनों सुखी हो गये। महात्मा हरनाथ सदा भगवत्प्रेम में विभोर रहते थे। एक बार काश्मीर-निवास काल में जब उनकी अवस्था इकतीस साल की थी, अचानक उनका शरीर अप्राकृत हो उठा। वे तांगे पर बैठ कर जम्मू से श्रीनगर लौट रहे थे। आधी रात का समय था। वे अचेत हो गये, उनका हृदय धड़कने लगा और थोड़े समय में शरीर निष्प्राण-सा दीख पड़ा। उनके साथी घबड़ा गये। ..आधी रात बीतने पर मृत शरीर में से आवाज आयी 'हर, तुम जानते हो कि तुम मर गये।' प्रत्युत्तर हुआ 'देव मुझे ज्ञात है।' 'तो शरीर से बाहर आओ' शब्द सुनायी पड़े।..इसके बाद ही इनके शरीर में चेतना लौट आयी, काला शरीर बात-की-बात में दिव्य और अप्राकृत हो उठा। ठाकुर हरनाथ ने बताया कि चैतन्य महाप्रभु ने मुझे प्राण-दान दिया। सन्त-महात्मा का चरित्र नितान्त विलक्षण होता है। हरनाथने संवत् १९७१ वि. में नौकरी छोड़ दी, लोगों को भक्तिभावापन्न करना ही केवल उनका काम हो गया। चोला छोड़ने की अवधि तक वे भगवद्भक्ति के ही प्रचार में लगे रहे।

उनके जीवन-काल में ही कई स्थानों पर उनके नाम से आश्रमों की स्थापना की गयी। कलकत्ता में हरनाथ सत्त-प्रचारिणी सभा स्थापित हुई तथा वृन्दावन में हरनाथ कुसुम कुंज का सूत्रपात हुआ। असंख्य प्राणियों ने उनके उपदेशामृत से अपना जीवन सफल किया।

सन्त कृपापूर्वक अधम से अधम प्राणी को भवसागर से तार दिया करते हैं, दूसरों का पाप से उद्धार उनकी जीवन-लीला का एक प्रसिद्ध अंग होता है। हरनाथ कटक के एक जंगल में परिभ्रमण कर रहे थे। शिष्यों ने उनको जंगल में जाने से रोका। जंगल में राम खान नामका एक डाकू रहता था। वह दिन-दहाड़े यात्रियों और पथिकों को लूट लिया करता था। उसके पाप पराकाष्ठा पर थे। राम खान के उद्धार का समय निकट आ गया। महात्मा हरनाथ ने जंगल में प्रवेश किया। दैव योग से डाकू उनके सामने खड़ा हो गया। प्रेमयोगी

हरनाथ ने बडे प्रेम से कहा कि भैया, तुम बडे पुण्यात्मा हो, तुम्हारा दर्शन करते ही मेरे पाप-ताप का अन्त हो गया। सन्त की वाणी थी, राम खान का हृदय कठोरता का परित्याग कर अपने अधम कृत्यो के ताप से द्रवित हो उठा। वह सिसकने लगा। उसने निष्कपटता पूर्वक ठाकुर हरनाथ के चरणो पर गिर कर क्षमा माँगी और कहा कि महाराज, मुझे प्रकाश दीजिये। मैं महानीच हूँ, मुझे वताइये कि मैं क्या करूँ। हरनाथ ने उसका प्रेमालिगन किया, उनकी कृपा से राम खान ने बहुत बडे सन्त की प्रसिद्धि पायी। राम खान ने वृदावन को अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया। पागल हरनाथ ठाकुर सदा चैतन्य समाधि की स्थिति में रहते थे। एक वार वे कटक में थे। उस समय एक योरपीय सज्जन का पुत्र जो इगलैंड में था, बहुत बीमार था। तीन दिन पहले उनको सूचना मिली थी कि बीमारी असाध्य है, शल्यचिकित्सा होगी। ईश्वर पर भरोसा रखना चाहिये, सब कुछ ठीक होगा। योरपीय सज्जन को पता चला कि कटक में एक महात्मा आये हुए है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य—सब का ज्ञान रखते हैं। वे उनकी खोज में निकल पडे। ठाकुर उस समय एक चायपान में थे। योरपीय सज्जन से चाय-पान की समाप्ति पर उन्होने विना पूछे ही कहा कि आपरेशन ठीक ढग से हो गया, आप के पुत्र का स्वास्थ्य ठीक है, टेली ग्राम लेकर वगले पर चपरासी प्रतीक्षा कर रहा है। योरपीय सज्जन ने बगले पर जाकर हरनाथ के कथन के अनुसार सब कुछ ठीक पाया।

'अमृतबाजार पत्रिका' के सम्पादक महात्मा शिशिर कुमार घोप हरनाथ ठाकुर के प्रमुख प्रशसको में से एक थे। 'अमृतवाजार पत्रिका' विश्व-व्यापी पत्र है। वे समय-समय पर 'अमृतबाजार पत्रिका' में उनके उपदेश तथा प्रवचन आदि प्रकाशित किया करते थे। एक वार अमेरीका के दो सज्जनो ने 'अमृतवाजार पत्रिका' में ठाकुर के सम्वन्ध में पढ़ कर उन्हे 'हरनाथ, विश्व' के पते से पत्र लिखा और सोचा कि यदि वे चैतन्य समाधि की स्थिति में रहते हैं तो हमारे पत्र की प्राप्ति अवश्य स्वीकार करेगे। वे पागल हरनाथ ठाकुर का पत्र पाकर आश्चर्य चकित हो गये, पत्तोत्रर था – "मुझे आप का पत्र यथासमय मिल गया। जिस समय आप पत्र लिख रहे थे, उस समय मैं आप के पास था।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण उनके जीवन में मिलते है, वे रहस्य के प्रतीक थे।

महात्मा हरनाथ का सिद्धान्त यह था कि मनुष्य का जो भी मत हो—वह ठीक है। पर नाम राधाकृष्ण का ही लेना चाहिये, यह परम मधुर नाम

है, इसमें तनिक भी सदेह नही है। मन्दिर में ठाट-बाट से कभी नही जाना चाहिये, ऐसा करने पर मनुष्य का सारा समय अपनी ही चिंता और व्यवस्था में समाप्त हो जाता है, भगवान के सामने दीन भाव से जाना चाहिये, भगवान को भक्त का दैन्य बडा प्रिय होता है, वे क्षणमात्र में अपना कर सर्वसमर्थ बना देते हैं। अत्यन्त मधुर हरिनाम को अपने कठ का हार बना लेना चाहिये। भगवान राधागोविन्द के मधुरतम नाम-जपको ही उन्होने भगवच्चिन्तन का स्वरूप स्थिर किया। भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति को ही उन्होंने जीवन का उद्देश्य बताया। उन्होने कहा कि सासारिक दु खो से भयभीत नही होना चाहिये, जिस प्रकार बच्चा भयभीत होकर माता की गोद का आश्रय लेता है, उसी प्रकार सासारिक दुख आने पर भगवान के नाम की शरण में चले जाना चाहिये। जिस प्रकार एक बच्चा सदा अपनी मा का ही चिंतन करता रहता है, केवल मा की ओर ही उसका ध्यान रहता है उसी प्रकार हमें श्रीकृष्ण की ही ओर देखना चाहिये। भगवान के नाम से सारे दुख चले जाते हैं, परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिये एक क्षण के लिये भी कृष्ण का नाम नही भूलना चाहिये।

साधना के सम्बन्ध में उन्होने कहा कि काम और आराम करते समय, जागते और सोते समय भगवन्नाम का ही जप करना चाहिये। नाम लेते समय यही ध्यान रखना चाहिये कि यह क्रिया पूरे मन से हो रही है। नाम-जप से प्रेम का उदय होता है और प्रेमोदय से श्रीकृष्ण मिलते है। भगवान के किसी भी नाम का उच्चारण किया जा सकता है, भगवन्नाम में बड़ी शक्ति होती है, आप देखेंगे कि हरनाय के नाम में कितनी शक्ति है? इसका पता मेरे अन्तर्धान होने के बाद चलेगा। मैं एक बार गौराग चैतन्य के रूप में प्रकट हुआ था। आप जिस रूप में मेरा स्मरण करेंगे उसी रूप में मैं आप के साथ रहूँगा। निस्सन्देह पागल हरनाय ठाकुर का प्राकट्य और अप्रकट होना दोनो रहस्य-पूर्ण हैं।

बीसवी शती के सन्त-साहित्य मे पागल हरनाय ठाकुर को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वे रसिक और प्रेमी सन्त थे। भगवान के दिव्य प्रेम के प्रचार के लिये ही धरती पर उन्होने शरीर धारण किया था। सहस्रो प्राणी—बगाली, बिहारी, उडिया और विदेशी लोग उनके शिष्य हैं, आन्ध्र, गुजरात और मद्रास का बहुत बड़ा जनसमूह उनके चरणकमलो का उपासक है। सन्त हरनाय

नें अपने अनुयायियो और भक्तो को बतलाया कि एक क्षण के लिये भी मन से परमात्मा का नाम नही भूलना चाहिये। वे ही सब के मूल हैं। आनन्द के परम आधार हैं। बिना उनके कोई सुखी ही नही हो सकता है।

सम्वत् १९८४ वि (सन् १९२७ ई, २५ मार्च) को वे सोनमुखी में ही थे। उनके सीने में मीठा-मीठा शूल होने लगा। वे तन्मयता से अपने आराध्य देव राधागोविंद के नाम का जप करते थे। दो-तीन घन्टे रात बीतने पर वे अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्ण के लीलाधाम में चले गये। सोनमुखी में ही उनके उद्यान वाले अनन्त कुण्ड में नश्वर शरीर का दाह-सस्कार सम्पन्न हुआ। इस प्रकार आजीवन भगवन्नाम का मधुर रसास्वादन करते हुए उन्होने प्राणियों को सरस आध्यात्मिक चेतना से समृद्ध किया। उनका जीवन धन्य था।

रचना

उनके उपदेश ही अमर रचना के रूप में सरक्षित हैं।

वाणी

भगवान के किसी भी नाम का जप कीजिये पर यह आवश्यक है कि उससे आप का हृदय द्रवित हो जाय। नाम-जप से भगवत्प्रेम की उत्पत्ति होती है। तपस्या और साधना से भगवन्नाम में विश्वास होता है। भगवान से भगवन्नाम कही अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण है।

पापी ही वास्तविक–क्रियात्मक शिक्षक अथवा उपदेशक हैं। वे अपने उपदेश नही, आचरण से मानवता की सेवा करते हैं, उनसे घृणा नही करनी चाहिये। पुण्यात्मा नहीं, पापी के ही लिये भगवान अवतार लेते हैं।

कृष्ण को प्राप्त करने का एक मात्र साधन उनका नाम ही है। देखिये, यदि आप ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में सोचिये जिसे आप नही जानते हैं पर उसका नाम ज्ञात है, तो कोई-न-कोई व्यक्ति जो उसे जानता है या उसका सगा है, ठीक समय पर उसके सम्बन्ध में आप को प्रत्येक सूचना दे सकता है और आप को उसके पास ले जा सकता है या उसके पास तक पहुँचने में आप का सही-सही पथप्रदर्शन कर सकता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कृष्ण को जो आसानी से पकड में नही आते हैं, प्राप्त करना चाहता है तो उसे निरन्तर उनके नाम का

स्मरण और चिंतन करना चाहिये। किसी महात्मा या व्रजाङ्गना के द्वारा जिन्हे कृष्ण की पूरी-पूरी जानकारी है, कृष्ण को प्राप्त करने का रहस्य ज्ञात हो जायेगा।

अत्यन्त मधुर हरिनाम को अपने गले का हार वना लीजिये . । मनुष्य की आँखो में धूल झोकने के लिये हरिनाम का चोला न पहनिये। श्री कृष्ण की प्राप्ति ही जीवन का परम उद्देश्य वना लीजिए।

संत वारिस अली शाह

आली पिया के दरस की, मिटै न मन की आस ।
रैन दिनों रोवत फिरूँ, लगी प्रेम की फाँस ।।
लगी प्रेम की फाँस, श्वास-उश्वास सँभारे ।
मैं उन की हुइ रोय, पीव नहिं हुए हमारे ।।
कहत 'दीनदरवेश', आस नहिं मोह जिया की ।
मिटै न मन की प्यास, आस मोहि दरस पिया की ।।

—सत दीनदरवेश

सन्त की अमृतमयी कृपा-मन्दाकिनी में स्नान करने पर जन्म-जन्म के पापो का नाश तो हो ही जाता है, साथ-ही-साथ पवित्र अन्त करण में निर्मल भगवद् रस का सागर उमड पडता है और आत्मा परमात्मा के प्रेम में सहज रमणशील हो उठता है, दिव्य प्रेमोन्माद भगवत् साक्षात्कार की ओर ले जाता है। लगभग डेढ सौ साल पहले की बात है, परमात्मा के दिव्योन्माद में सराबोर मस्त सूफी सन्त वारिस अली शाह ने जिस प्रेमरस की सरिता बहायी उससे उत्तरी भारत की सन्त साहित्य-परम्परा के विकास मे असाधारण योग मिला। जिस समय पृथ्वीपर उनका आगमन हुआ उस समय भारत में राजनैतिक विश्रृंखलता अपनी चरम सीमा पर थी, केन्द्रीय राजसत्ता कमजोर हो गयी थी, महामुगलों के वशधर के हाथ से अग्रेजी कम्पनी के प्रतिनिधि शासन छीनने का कुचक्र रच रहे थे, मराठे और राजपूत अपनी शक्ति-स्थापना में प्रयत्नशील थे, लखनऊ के नवाबो पर विलासिता का इलजाम लगाकर अगेंजी प्रभुता के ठेकेदार अवध पर अधिकार करने के सपने देख रहे थे। सन्तोप की बात यह थी कि इस राजनैतिक उथल-पुथल की पहाडी जमीन पर सन्तमत का मीठा झरना कलकल स्वरलहरी से बहता आ रहा था। सत जन राम-रहीम के पवित्र नाम-उच्चारण से समाज की कल्याण-साधना में सलग्न थे। ऐसे सन्तो मे प्रसिद्ध सूफी सन्त वारिस अली शाह को एक अमित महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। दयानिधि वारिस अली शाह ने अपनी पवित्र प्रेममयी वाणी का दान कर कलिकाल से सत्रस्त असख्य जीवो

की रक्षा की, उनको सत्पथ पर लगाया। सन्त मत के प्रपात के उद्गम पर उनकी उपस्थिति का ऐतिहासिक महत्व भी अमित है। उनकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान ही नही, समस्त प्राणी एक ही प्रेममय परमात्मा की सन्तान हैं।

उत्तर भारत के अवध क्षेत्र के वाराबकी जनपद के प्राचीन और ऐतिहासिक ग्राम देवा मे प्रसिद्ध और पवित्र सैयद कुल मे सम्वत् १९७९ वि. मे सन्त वारिस अली शाह ने जन्म लिया। उनके पिता कुरवान अली वडे ही शिक्षित, शिष्ट और उच्च विचारो के महापुरुष थे। उनकी शिक्षा वगदाद नगर मे हुई थी। उन्होने अपने पुत्र को वडे प्रेम से पालना आरभ किया पर अचानक काल ने उन पर आक्रमण कर दिया। वारिस अली अभी केवल तीन ही साल के थे, उनके पिता कुरवान अली चल वसे। और दैव का विधान ऐसा था कि मा ने भी उसी साल उनको छोड कर मत्यु का आलिगन कर लिया। उच्च कोटि के सन्तो के जीवन में ऐसी घटनायें होती रहती है, यदि परमात्मा की ओर से ऐसे विधान न हो तो वे सन्तरूप में अभिव्यक्त ही नही हो सकते हैं। दिव्य विभूतियो के प्रत्येक कार्य दिव्य और अलौकिक होते हैं। वारिस अली ने वचपन मे पाँच साल से सात साल तक की अवधि में सम्पूर्ण कुरान कण्ठ कर डाला, कितनी विलक्षण वात है यह। आध्यात्मिक वातो में उनका मन वहुत लगता था। अन्य वातो और विषयो में उनकी लेशमात्र भी रुचि नही थी। सासारिकता तो उनका स्पर्श नही कर सकी थी। वे सदा एकान्त मे वैठ कर कुछ-न-कुछ सोचते रहते थे। एक दिन तो लोग उन्हे न पाकर वहुत चिन्तित हो उठे। खोज होने लगी। वे निकटस्थ ही एक सघन जगल में वैठ कर एकान्त में मनन कर रहे थे। लोग उन्हे इतनी अल्प अवस्था में ऐसी स्थिति में देख कर आश्चर्यचकित हो गये। उन दिनो उनके निकट के सम्वन्धी खादिम अली शाह ने जो उच्च कोटि के सूफी थे उनकी शिक्षा-दीक्षा का भार सम्हाला। वारिस अलीशाह जव ग्यारह साल के हुए, उन्हे सूफी मत में विधिपूर्वक दीक्षित कर लिया गया। चौदह साल की अवस्था मे वे परमात्मा के प्रेम में पूर्ण रूप से रग उठे, धीरे-धीरे उनके प्रेम-प्रवचन सुनने के लिये अनुयायियो की सख्या वढने लगी। उन्होने अपनी सम्पत्ति का अधिकाश दरिद्रनारायण की सेवा में दान कर शेप अपने सम्वन्धियो में वितरित कर दिया, पुस्तकालय भी सम्वन्धी को दे दिया और पन्द्रह साल की अवस्था मे विदेश-भ्रमण के लिये निकल पडे। उनका जीवन पहले से ही तप से परिपूर्ण था, तीन दिनो के वाद

एक वार भोजन किया करते थे। उन्होने मक्का की तीर्थयात्रा की, वे बारह साल तक अरब, सीरिया, फिलस्तीन, मेसोपोटामिया, फारस, तुर्की, रूस, जर्मनी आदि में भ्रमण करते रहे। इस यात्राकाल मे उन्होने दस वार हज किया। विदेशो में एक पवित्र हृदय के दरवेश के नाते उन्हे अमित सम्मान मिला। जर्मनी के सबसे वडे तत्कालीन महापुरुष विस्मार्क ने उनकी बडी आव-भगत की। असख्य लोग उनके शिष्य और अनुयायी हो गये।

घर वापस आने पर लोग उन्हे पहिचान न सके। सन्त वारिस अली शाह ने देखा कि उनका घर नष्टप्राय सा हो गया है, ससार की निर्ममता पर उन्हे तनिक भी आश्चर्य न हुआ। किसी ने उनका स्वागत-सत्कार भी नही किया। इस समय भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम चल रहा था। वारिस अली शाह देवा से सम्वत् १९१४ वि में लखनऊ आये, उन्होने फिर विश्व-भ्रमण आरम्भ किया। सम्वत् १९५६ वि में शिष्यो की विशेष प्रार्थना से वे देवा आये और आजीवन सूफी सिद्धान्तो की व्याख्या करते हुए अपनी जन्म-भूमि में ही रह गये।

शाह साहव ने आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत निवाहा, सदा परमात्मा के सरस और प्रेममय चिन्तन मे आत्मविभोर रहते थे। वे उच्चकोटि के मितभाषी थे। विशेप आवश्यकता के समय दूसरो के हित के लिये कुछ मीठे वचन कभी-कभी वोल दिया करते थे। वे वाहर-भीतर समान थे, उनकी कथनी-करनी एक-सी थी। देखने में वडे सुन्दर थे पर सदा आँखें नीची कर प्रभुका चिंतन किया करते थे। भूमि पर ही शयन करते थे, तकिया नही लगाते थे। रात मे वहुत कम सोते थे, किसी ने उनको कभी सोते देखा ही नही था। उनका सम्पूर्ण जीवन सयमित था। शाह साहव ने पन्द्रह से चालीस साल की अवस्था तक सदा सात दिनो के वाद एक वार भोजन किया करते थे। उनका अन्त करण ईश्वरीय प्रेम से परिपूर्ण था, वे इसी दिव्य प्रेम की व्याप्ति समस्त प्राणीमात्र मे देखना चाहते थे, प्रेम के रग मे विश्व को रग देना ही उनका सिद्धान्त था, वे कहा करते थे कि भागवत प्रेम ही साध्य है। शाह साहव सूफी मत के कादरी और चिस्ती सिद्धान्त के पोपक थे। उन्होने ससार को दिव्य प्रेम का दान किया। शाह साहव ने कहा कि ईश्वर सर्वत्र है, कावा, मसजिद, मन्दिर और गिर्जाघरो मे एक ही ईश्वर व्याप्त हैं। उनका एक क्षण के लिये भी विस्मरण नही होना चाहिये, वे प्रेम के अधीन है, प्रेम में ही उनका निवास है। उन्होने ईश्वर में अक्षुण्ण

विश्वास रखने की सीख दी, पूर्ण समर्पण का मार्ग वताया। उन्होने कहा कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास हो जाने पर ससार के किसी भी पदार्थ की प्राप्ति की चिंता नही रह जाती है।

शाह वारिस अली की इस्लाम धर्म में सुदृढ आस्था थी। उन्होने मक्का की भारत से सात वार यात्रा की थी और सवसे वडे आश्चर्य की वात तो यह है कि सात वार में तीन वार वे भारत से मक्का तक पैदल गये थे।

सन्त वारिस अलीशाह प्रेमधर्मी दरवेश थे। उनका विश्वास था कि परमात्मा के प्रति प्रेम उनसे एकात्मवोध है। उन्होने भागवत प्रेम के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार किया। उनका जीवन परमात्मा के प्रेम के चरणदेश में पूर्ण शरणागत था। उनकी धारणा थी कि भागवत प्रेम की प्राप्ति अपने प्रयत्न से कदापि सम्भव नही है, यह तो सहज है और आध्यात्मिक विकास का फल है। शाह साहव ने एक वार कहा था कि परमात्मा का सिंहासन केवल आसमान में ही नही है, उसका अन्वेषण अपने हृदय मे करना चाहिये।

शाह साहव के पास भागवत प्रेम को छोड कर अपनी कहलाने वाली वस्तु कुछ भी नही थी। उन्होने अपनी सम्पत्ति का वितरण गरीव और असहायो में कर दिया था। वे अपने शिष्यो को वहुत मानते और चाहते थे। उनकी उक्ति है कि मेरे शिष्य मेरे पुत्र के समान हैं, उन्हे भाई-भाई की तरह रहना चाहिये। सत्तर साल की अवस्था में सम्वत् १९६२(वि १७ अप्रैल सन् १९०५ ई) मे उन्होने देवा में ही परमात्मैक्य प्राप्त किया, देवा में उनकी समाधि असख्य प्राणियो की श्रद्धा की प्रतीक है। निस्सन्देह शाह वारिस अली भागवत प्रेम की सजीव प्रतिमा थे। अपने समय की दिव्य प्रेममयी आध्यात्मिक शक्ति थे।

रचना

सन्त वारिस अली शाह के वचन ही उनकी अमर कृति के रूप में सुरक्षित हैं।

वचन

परमात्मा का प्रेम आत्मप्रयत्न से साध्य नही है, यह तो आध्यात्मिक विकास का फल है।

प्रेम नियम की अपेक्षा नही रखता है। प्रेम दूरी का विचार नही करता है। यदि तुम मुझसे प्रेम करते हो तो हजार मील दूर रहने पर भी मैं तुम्हारे पास हूँ।

परमात्मा से कुछ भी नही मागो, चाहे तुम भूख से ही क्यो न मरते हो। प्रभु जानते है कि तुम्हारी क्या आवश्यकता है।

स्वामी विवेकानन्द

यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति।

मन के सहित वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ जहाँ से उसे न पाकर लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला महापुरुष किसी से भी भय नहीं करता है।

—तैत्तिरीयोपनिषद् २।९।१.

स्वामी विवेकानन्द अपने समय के विश्व की वहुत वडी आध्यात्मिक शक्तियो में से एक थे, उन्होने वेदान्तसवेद्य ब्रह्म की विश्वव्यापी अनुभूति के माध्यम से भारतीय सस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप का अपने समकालीन विश्व को परिचय दिया। दक्षिणेश्वर के शक्ति-ब्रह्मोपासक परमहस रामकृष्ण की चरण-कृपा की ज्योति के विस्तार से उन्होने अविद्या-अन्धकार का नाश कर आत्मगत सत्य की चेतनता से मानवता का कल्याण किया। उनका प्राकट्य वहुत वडी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रतीक था। वास्तव में वे अपने आप के स्वामी थे, महात्मा थे।

विक्रम की उन्नीसवी शताव्दी तथा वीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में भारत मे पूर्ण रूप से अग्रेजी राजसत्ता–प्रभुता की स्थापना हो चुकी थी। देश में विदेशी मिशनरियो का धर्मप्रचार-कार्य सावेग आगे वढ रहा था। भारतीय सस्कृति और धर्म की विदेशी मिशनरी द्वारा खिल्ली उडायी जा रही थी। ऐसे समय में राजा राममोहन राय की देखरेख में ब्राह्म समाज की स्थापना हुई, महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशव चन्द्र सेन ने परमात्मा की उपासना की एकता-सिद्धि के लिये अथक परिश्रम किया, वगाल से ब्राह्मसमाज के सरक्षण में शुद्ध आत्मज्ञान और भगवद्रस का उदय आरम्भ हुआ। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में परमहस रामकृष्ण ने घोषणा की कि परमात्मा की उपासना का जीव मात्र को अधिकार है। वातावरण में यह उपदेश परिव्याप्त हो उठा

कि मुख बन्द कर हृदय खोलना चाहिये, प्राणीमात्र की उन्नति में सचेष्ट रहना चाहिये। इसी समय स्वामी दयानन्द के शुद्ध वैदिक धर्म सम्बन्धी उद्घोष ने लोगो को सचेत कर दिया। थियोसफी आन्दोलन के सूत्रपात ने भी आध्यात्मिक जागरण के मार्ग में महत्वपूर्ण योग दिया। स्वामी विवेकानन्द ने इस अलौकिक और दिव्य आध्यात्मिक प्रकाश मे अपने गुरुदेव की कृपा से पाश्चात्य देशो—अमेरीका तथा यूरोप के, जापान और चीन के निवासियो को अपने उपदेश के द्वारा समझाया कि भारत महान देश है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति की तुलना मे विश्व का कोई देश नही ठहर सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने ब्रह्मविद्या का प्रचार किया और विदेशी चिंतन-पद्धति पर भारतीय अध्यात्मज्ञान की विजय स्थापित की।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष सभी को ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नही कर सकते, तुम्हे केवल सेवा करने का अधिकार है। प्रभु की सन्तान की —यदि भाग्यवान हो— तो स्वय प्रभु की सेवा करो। ईश्वर के अनुग्रह से यदि उनकी किसी सन्तान की सेवा करोगे तो धन्य हो जाओगे। सेवा तुम्हारे लिये पूजा के तुल्य है।

वगाल प्रान्त के शिमला जनपद में एक परम आस्तिक भागवत कायस्थ कुल में स्वामी विवेकानन्द जी का प्राकट्य हुआ था। उनके पूर्वजो की भगवान शिव में महती निष्ठा थी। अपने अडोस-पडोस में उनके पूर्वज बडे सम्मानित समझे जाते थे। सम्वत् १९२० वि (सन् १८६३ ई की १२ जनवरी को प्रात काल) मकर सक्रान्ति में धरती पर विवेकानन्द का ससार में आत्म-ज्योति फैलाने के लिये अवतरण हुआ। उनके घर में तथा अडोस-पडोस के लोग आनन्द—सागर में मग्न हो गये। उनके पिता विश्वनाथ और माता भुवनेश्वरी देवी ने शिव की कृपा से ऐसे अद्भुत बालक की प्राप्ति की थी। उनकी माता तो साक्षात् अन्नपूर्णा ही थी, शील-स्वभाव की विनम्रता और मधुरता से वे अपने परिवार की लक्ष्मी थी, उनकी देख-रेख में बालक नरेन्द्रदत्त—विवेकानन्द का पालन-पोषण होने लगा। बचपन में उनके कई एक अद्भुत चरित्र देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये। रोते समय यदि किसी के मुख से वे भगवान शिव के नाम का उच्चारण सुनते थे तो अनायास ही रोना बन्द कर खिलखिलाने लगते थे. दरवाजे पर साधु सन्तो के आगमन से वे हर्षित हो उठते थे। एक दिन दरवाजे पर एक साधु का आगमन हुआ, भिक्षा मागने पर नरेन्द्रने एक कपडा

दे दिया। लोगो ने पूछा तव निर्भय होकर कह दिया कि साधु ने भिक्षा माँगी और मैंने कपडा दिया। इस प्रकार वचपन में ही उन्होने आध्यात्मिक जीवन का पाठ पढना आरभ कर दिया। माता भुवनेश्वरी देवी उन्हे रामायण पढ कर सुनाया करती थी। रामनाम के प्रति नरेन्द्र का आकर्पण वढने लगा। उन्होने सीताराम की मिट्टी की प्रतिमा वाजार से खरीदी और उसकी फूल, चन्दन आदि से पूजा करते थे। इधर ठीक इसी समय दक्षिणेश्वर के मन्दिर में स्वामी रामकृष्ण परमहस नरेन्द्र को विवेकानन्द की आकृति देने के लिये तप कर रहे थे, भगवती शक्ति से कृपा-याचना कर रहे थे। जिस प्रकार भगवान कृष्ण के जीवन में अर्जुन और महात्मा वुद्ध के जीवन में आनन्द का महत्वपूर्ण योग था उसी प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहस के अध्यात्म-जीवन के प्रमुख स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द जी महाराज थे। दोनो अभिन्न आत्मा थे।

जव नरेन्द्र छ साल के थे तव उनको पाठशाला में अध्ययन के लिये भेजा गया। धीरे-धीरे उनकी शिक्षा का क्रम वढने लगा और उन्होने युवावस्था में प्रवेश किया। उच्चशिक्षा के साथ-ही-साथ उनकी अभिरूचि व्राह्म समाज में भी वढने लगी, व्राह्म समाज उन दिनो अध्यात्म ज्ञान का केन्द्र समझा जाता था। नरेन्द्र अपने शिक्षा-काल में प्राय कहा करते थे कि किसी वात को ठीक इसी लिये नही मानना चाहिये कि वह पुस्तक में लिखित है या किसी ने कही है, उसका सत्यज्ञान स्वय प्राप्त करना चाहिये। यही साधना का स्वरूप है, अनुभूति है। नरेन्द्र की युवावस्था पर उनकी प्रारम्भिक आध्यात्मिक रूचि, पारिवारिक वातावरण और शिक्षा-दीक्षा तथा स्वामी रामकृष्ण परमहस के सम्पर्क का विशेप प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। जिस सीमा तक पारिवारिक वातावरण का सम्वन्ध है उसमें उनके पिता का वहुत वडा हाथ था। पाश्चात्य रीति-रिवाजो और शिक्षा-दीक्षा से भी प्रभावित थे। उनके सम्पर्क में नरेन्द्रदत्त ने पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन आरम्भ किया, व्राह्म समाज के वडे-वडे नेताओ से भी व्रह्म-विद्या पर उनका वादाविवाद चलता रहता था, व्राह्म समाज की मान्यता के अनुसार निर्गुण-निराकार व्रह्म की कोरी और नीरस उपासना में उनका मन वहुत दिनो तक न लग सका। वे तो भगवान की कृपा-ज्योति और मधुर उपासना—सरस भक्ति पाने के लिये विकल हो उठे। स्वामी रामकृष्ण परमहस उनकी इस प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति के चिन्मय भागवत प्रतीक

थे। नरेन्द्रदत्तने बडी श्रद्धा और भक्ति से रामकृष्ण परमहस के दर्शन के लिये दक्षिणेश्वर मन्दिर में जाना आरम्भ किया। रामकृष्ण परमहस ने उनको मधुरस्नेह का दान दिया।

दक्षिणेश्वर में अपने गुरु के प्रथम दर्शन और स्पर्श से ही नरेन्द्र रामकृष्ण परमहस के हो गये। जब वे पहले पहल स्वामी रामकृष्ण से मिलने दक्षिणेश्वर में गये, रामकृष्ण उन्हे देखते ही आश्चर्यचकित हो गये कि कलकत्ता ऐसे विषय-भोग प्रधान नगर से इस तरह के भी व्यक्ति का आगमन हो सकता है। नरेन्द्र का मुख दिव्यता से चमक रहा था, ब्रह्मचर्य के ऐश्वर्य से वे पूर्ण सम्पन्न थे। परमहस रामकृष्ण ने उनका स्पर्श किया, आशीर्वाद दिया। नरेन्द्र से एक गीत गाने का आग्रह किया , बाल योगी नरेन्द्र ने सगीत गाया

'हे मेरे मन इस दुनिया से दूर
अपने परम धाम को चलो
तुम यहाँ एक अपरिचित की
तरह क्यो घूम रहे हो।'

रामकृष्ण गीत का रसास्वादन कर समाधिस्थ हो गये। नरेन्द्र आशीर्वाद लेकर चले गये। नरेन्द्र को उन्होने अपने प्रेम में आबद्ध कर लिया।

एक बार तो परमहस देव नरेन्द्र के लिये बहुत विकल हो गये। नरेन्द्र बहुत दिनो से उनके पास नही आये थे। कलकत्ता के दो व्यक्ति परमहस देव के दर्शन के लिये दक्षिणेश्वर आये। रामकृष्ण ने उनसे कहा कि नरेन्द्र क्यो नही आया, अच्छा, बता देना कि मैंने बुलाया है। सयोग से दोनो व्यक्ति रामदयालु, और बाबूराम मठ में ही रात को रह गये। परमहस देव ने आधीरात के बाद कई बार उठ-उठ कर उन दोनो से कहा कि तुम मेरे नरेन्द्र से अवश्य कह देना कि मैंने बुलाया है । इस घटना से नरेन्द्र के प्रति तत्कालीन अध्यात्म देवता रामकृष्ण परमहस के स्नेहपूर्ण, स्निग्ध आकर्षण का पता चलता है। नरेन्द्र उनके अपने थे। वे माता काली के सम्मुख निवेदन किया करते थे कि 'मैं बिना नरेन्द्र को देखे जीवित नही रह सकता। मै रोता रहा फिर भी नरेन्द्र नही आया, मुझे उसके बिना कितना दुख सहना पड रहा है पर उसे चिंता ही नही है।' रामकृष्ण देव ने उनको वेदान्त के पथ पर ही ले चलना उचित समझा। नरेन्द्र ने उनसे अद्वैत ज्ञान की दीक्षा प्राप्त की और गुरुदेव की आज्ञा से वेदान्त-

दर्शन की जानकारी प्राप्त करने के लिये उन्होने अष्टावक्र सहिता तथा अन्य वेदान्तपरक ग्रन्थो का अध्ययन किया। गुरु की कृपा से उन्होने ज्ञान मार्ग का आश्रय ग्रहण किया। उन्होने प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म और ब्रह्म में प्रत्येक पदार्थ का दर्शन किया। ब्राह्म समाज के आध्यात्मिक चिंतन से परिष्कृत मस्तिष्क ने अद्वैत ज्ञान का गूढ रहस्य सहज में ही समझ लिया। परमहस देव में नरेन्द्रदत्त की श्रद्धा उत्तरोत्तर वढती गयी।

नरेन्द्र की रामकृष्ण ने एक बार कडी परीक्षा ली। नरेन्द्र दक्षिणेश्वर मन्दिर में उनका दर्शन करने आया करते थे पर परमहस देव उनसे कुछ भी वात नही करते थे। नरेन्द्र को कई बार आते देख कर उन्होने पूछा कि मै तुमसे इतना खिचा-खिचा-सा रहता हूँ फिर भी तुम क्यो आते रहते हो ? नरेन्द्र ने कहा कि क्या आप यह समझते है कि मैं आप को केवल सुनने के लिये आता हूँ ? मैं आपसे प्रेम करता हूँ, आपको देखने आता हूँ। दक्षिणेश्वर आते रहने का एकमात्र कारण यही है। रामकृष्ण इस उत्तर से वहुत प्रसन्न हुए और कहा कि मै तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।

एक वार फिर परीक्षा ली। उन्होने कहा कि मैं देवी की कृपा से तुम्हे सिद्धि और शक्ति से सम्पन्न करना चाहता हूँ। नरेन्द्र ने रामकृष्ण देव के चरणो में विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि मुझे उनकी तनिक भी आवश्यकता नही है, मै तो पहले भगवद् प्राप्ति चाहता हूँ, उसके वाद निश्चय हो सकेगा कि मुझे शक्ति और सिद्धि की कितनी आवश्यकता है। रामकृष्ण उनके उत्तर से विमुग्ध हो गये।

नरेन्द्र के पिता कभी-कभी उन्हे दक्षिणेश्वर जाने से रोक देते थे, उन्हे आशका थी कि कही नरेन्द्र पर गृहत्याग और सन्यास का रग न चढ जाय। ऐसी स्थिति मे नरेन्द्र कहा करते थे कि तुम लोग नही समझते हो और न मैं ही समझ पाता हूँ कि मैं दक्षिणेश्वर क्यो जाता हूँ पर मेरी समझ में इतनी वात अवश्य आती है कि मै वूढे सन्यासी रामकृष्ण से प्रेम करता हूँ और उनके दर्शन के लिये मुझे जाना ही पडता है। यदि किसी कारण वश नरेन्द्र परमहस रामकृष्ण से मिलने नही जा पाते थे तो वे स्वय उनसे कलकत्ता मिलने चले आया करते थे। गुरु और शिष्य के सम्वन्ध का असाधारण निर्वाह हुआ।

नरेन्द्र जिस साल वी ए में थे उसी साल उनके पिता का देहावसान हो गया। अभी परीक्षा-फल भी नही प्रकाशित हुआ था। समस्त परिवार के

भरण-पोषण तथा अपनी शिक्षा का भार उन्ही के कन्धो पर आ पडा। आर्थिक स्थिति चिंताजनक थी। बी ए में उत्तीर्ण होने के बाद उन्होने कानून पढना आरम्भ किया पर यह क्रम अधिक दिनो तक नही चल सका। अर्थाभाव में उन्होने पढना छोड दिया और नौकरी खोजने लगे। वे हाथ में आवेदन-पत्र लेकर कडी-से-कडी धूप में कलकत्ता की सडको पर एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय का चक्कर काटने लगे, माया उनकी परीक्षा ले रही थी; मृत्यु की काली परिछायी उनके पीछे-पीछे घूम रही थी पर वे ईश्वर-विश्वास मे अटल रहे कि प्रभु उन्हे जीविका का सहारा प्रदान करेगे ही। उन्हे नौकरी न मिली, उनके मन मे शका उठ खडी हुई ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में लोगो ने कहना आरम्भ किया कि नरेन्द्र तो नास्तिक हो गये। इस समाचार से रामकृष्ण परमहस बडे उदास हो गये पर उन्होने समाचार देनेवालो से कहा कि ऐसा असम्भव है, मा काली मुझे सान्त्वना दे रही है कि नरेन्द्र पर कभी नास्तिकता का रग ही नही चढ सकता है।

एक दिन तो विचित्र घटना हुई। नौकरी की खोज में भूख और चिंता से व्यथित होकर नरेन्द्र घर लौट रहे थे। रास्ते में बडे जोर की जलवृष्टि हुई। वे सडक पर अचेत होकर गिर पडे। उन्होने अनुभव किया कि किसी अदृश्य शक्ति ने मेरा स्पर्श किया। वे स्वस्थ हो गये। थकावट और चिंता का अन्त हो गया। उन्होने गृहत्याग का सकल्प कर लिया। घर आये। उनके घर पर उसी रात को रामकृष्ण परमहस उन्हे देखने आये और अपने साथ ही नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर लेते गये। दक्षिणेश्वर पहुँचने पर रामकृष्ण ने उनसे स्नेहपूर्वक कहा कि मैं जानता हूँ कि मा के कार्य-सम्पादन के लिये पृथ्वी पर तुम्हारा आगमन हुआ है, तुम ससार के होकर बहुत दिनो तक नही रह सकते पर जब तक मै जीवित हूँ तुम्हे अभी ससार में रहना ही होगा—ऐसा कह कर परमहस रामकृष्ण फूट-फूट कर रोने लगे। दूसरे दिन नरेन्द्र घर लौट आये।

एक बार नरेन्द्र ने सोचा कि मेरे गुरु देव सर्वसमर्थ है, शक्ति के बहुत बडे उपासक हैं, यदि वे काली से निवेदन कर देंगे तो मेरा अर्थसकट समाप्त हो जायेगा। नरेन्द्र दक्षिणेश्वर गये। उन्होने गुरुदेव के सम्मुख अपनी बात रखी। रामकृष्ण परमहस ने कहा कि तुम मा काली से स्वय कहो। वे तुम्हारा कल्याण करेंगी। रात में नरेन्द्र ने भगवती की प्रतिमा के सामने उपस्थित होकर कहा कि मुझे विवेक, त्याग, ज्ञान और भक्ति प्रदान कीजिये। मैं आपका

अनवरत दर्शन करता रहूँ। मा की कृपा-ज्योति उनमे उतर आयी। उन्होने परिवार की सुख-समृद्धि की याचना की ओर ध्यान ही न दिया। गुरुदेव ने उन्हे दूसरी-तीसरी वार भी भेजा पर उन्होंने मा से त्याग, ज्ञान और भक्ति ही माँगी। मा की प्रतिमा के चैतन्य स्वरूप में उनका दृढ विश्वास हो गया। रामकृष्ण देव उनसे कहा करते थे कि किसी वात को इसी लिये मत स्वीकार कर लो कि उसे मै कहता हूँ। उसे स्वय समझो, जीवन का ध्येय अनुभवगम्य है। रामकृष्ण ने नरेन्द्र में अपनी सारी चेतना भर दी। एक दिन स्वप्न मे परमहस ने उनसे कहा 'मेरे साथ आओ, तुम्हे राधा गोपी का दर्शन होगा।' नरेन्द्र उनके पीछे-पीछे चलने लगे और यह देख कर आश्चर्य में पड गये कि स्वय गुरुदेव ही राधा में परिणत हो गये। ब्राह्म समाज के रग मच पर निर्गुण ब्रह्म के गीत गानेवाले नरेन्द्र ने राधाप्रेम पर गीत गाना आरम्भ किया। वे दार्शनिक से भक्त वन गये।

नरेन्द्र के पिता के देहावसान पर रामकृष्ण अपने शिष्यो और भक्तो से कहा करते थे कि कितना अच्छा हो कि तुम में से कुछ लोग उसकी सहायता करते। लोगो के चले जाने पर नरेन्द्र गुरुदेव से कहा करते थे कि लोगो से आपने ऐसा क्यो कहा। रामकृष्ण का उत्तर होता था कि मैं तुम्हारे लिये दरवाजे-दरवाजे पर भीख माँग सकता हूँ। जव नरेन्द्र के विवाह की वात चलने लगी, परमहस रामकृष्ण, काली से प्रार्थना किया करते थे कि मा, नरेन्द्र का विवाह-सम्वन्ध विच्छिन्न कर दो, मेरे नरेन्द्र को ससार के विषयभोग में मत जकडो, मा। ऐसा ही हुआ। रामकृष्ण ने नरेन्द्र को तपस्या और त्याग के पथ का पथिक वना दिया। ससारासक्त होने से वचा लिया। उन्होंने गुरुदेव से साधना का तत्वज्ञान प्राप्त किया। दक्षिणेश्वर में नरेन्द्र ने अपने गुरुदेव के सान्निध्य-सुख का छ साल तक रसास्वादन किया। तपस्या और साधना में लगे रहे। राम-कृष्ण परमहस अन्तर्ज्योति और सिद्धि थे तो नरेन्द्र उनके व्याख्याकार थे। नरेन्द्र ने उनको ईश्वर नही, ईश्वर के मानव-रूप में देखा। सम्वत् १९४२ वि में परमहस देव के बीमार पडने पर उन्होंने उनकी पूरी-पूरी सेवा की। गुरु ने प्रसन्न होकर राममन्त्र प्रदान किया। यह नरेन्द्र के लिये महामन्त्र था। सम्वत् १९४३ वि में रामकृष्ण देव ने महासमाधि ली। काशीपुर से उनके शरीर को अन्तिम क्रिया के लिये वडनगर पहुँचाया गया। गुरुदेव के महानिर्वाण के वाद नरेन्द्र वडनगर मठ के अध्यक्ष चुने गये। अपने गुरुदेव के आध्यात्मिक सदेश के प्रचार के लिये नरेन्द्र तथा अन्य भक्तो और शिष्यो ने सन्यास का व्रत लिया।

वडनगर मठ आध्यात्मिक साधना का प्रतीक बन गया। ज्ञान, भक्ति और दर्शन का केन्द्र हो उठा। रामकृष्ण की महासमाधि के बाद विवेकानन्द तथा उनके गुरु भाइयो ने तीर्थ-यात्रा की। केवल रामकृष्णानन्द वडनगर मठ में रह गये। स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्र दत्त) पहले बनारस गये। बनारस में उन्होने द्वारकादास के आश्रम में निवास किया, स्वामी भास्करानन्द का सत्सग प्रात किया। बडनगर मठ लौट आये। बडनगर से अयोध्या, लखनऊ, और आगरा होते हुए वे वृन्दावन गये। वृन्दावन में कुछ दिन तक रसिक सन्तो का सत्सग प्राप्त कर वे हरिद्वार और ऋषीकेश की ओर बढ गये। हिमालय की शीतल, शान्त गोद में उनके तपोमय जीवन का आरभ हुआ। वे पतित पावनी भागीरथी के कल-कल प्रवाह की रमणीय छवि से आत्मविभोर हो गये। उन्होने वद्रीनारायण और केदारनाथ की यात्रा का सकल्प किया पर न जा सके और वडनगर मठ की ओर उतर पडे। कुछ दिनो तक मठ में रह कर उन्होने शास्त्रो का अध्ययन किया। वडनगर से वे एलाहाबाद और एलाहाबाद से गाजीपुर गये। गाजीपुर में प्रसिद्ध सत पयहारी बाबा से उनकी भेंट हुई। उनके सत्सग से स्वामी विवेकानन्द बहुत प्रभावित हुए। गाजीपुर से स्वामी जी वडनगर लौट आये। उन्होने हिमालय की गोद में वैठ कर तप करने का निश्चय किया। वे वडनगर से बनारस और अयोध्या होते हुए ऋपिकेश पहुँच गये और प्रकृति की दिव्यतम रमणस्थली—तपोभूमि—ऋपिकेश में तप और साधना करने लगे।

स्वामी जी ने राजस्थान का परिभ्रमण आरम्भ किया। अलवर राज्य के दीवान ने उनको अपने निवासस्थान पर आमन्त्रित किया। तत्कालीन अलवर-नरेश शिव मगल सिह भी उपस्थित थे। स्वामी जी आत्मज्ञानी थे, घट-घट में ब्रह्म का दर्शन करने वाले थे। उन्हे परमात्मा को छोडकर और किसी का भय नही था। अलवर नरेश ने कहा कि स्वामी जी मै मूर्ति-पूजा में विश्वास नही रखता। दीवान के कमरे में अलवर नरेश का एक चित्र टगा हुआ था। स्वामी जी ने दीवान से कहा कि इस चित्र पर थूक दो। दीवान ने उत्तर दिया कि यह चित्र हमारे महाराजा का है, मै ऐसा नहीं कर सकता, वे मेरे पूज्य और आदरणीय है। स्वामी जी ने अन्य उपस्थित लोगो से भी कहा तो उन्होने भी उत्तर दिया। अलवर नरेश, दीवान तथा अन्य लोग आश्चर्यचकित हो गये। स्वामी जी ने महाराजा से कहा कि एक तरीके से आप इस चित्र में नही है, यह कागज मात्र है, दूसरे तरीके से आप इसमें अवस्थित है, दीवान और जनता के

मन में इस चित्र के प्रति श्रद्धा है। यही वात प्रतिमा में इष्ट के विषय में समझनी चाहिये। अलवर नरेश उनके पैरो पर गिर पडे। उनके शिष्य हो गये। अलवर से अजमेर आये। आबू पहाडी पर खेतडी नरेश ने उनका दर्शन किया। खेतडी नरेश के साथ वे खेतडी आये। महाराजा ने उनके सत्सग से प्रभावित होकर उनको अपना गुरु बना लिया। खेतडी से वे अहमदाबाद आये। स्वामी जी ने गुजरात और दक्षिण भारत का भ्रमण किया, तीर्थस्थानो की यात्रा की, रामेश्वरम्, मदुरा तथा कन्याकुमारी आदि में भ्रमण कर अद्वैत ज्ञान का प्रचार किया। सिन्धु नदी के तट पर एक बूढे व्यक्ति को उन्होने ऋग्वेद की ऋचाओ का पाठ करते देखा

आयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि
गायत्रि छन्दसा मातर्ब्रह्मयोनि नमोस्तुते।

इस प्रकार दिन-प्रति-दिन उनमें यौगिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता गया। अपने परिव्राजक जीवन में एक वार कुछ भिक्षा न मिलने पर भूख से परिश्रान्त होकर एक सघन वन में आ गये। शाम का समय था। उन्होने अपनी ओर एक सिंह को आते हुए देखा। उन्होने विचार किया कि मैं भूखा हूँ, सिंह भी भूखा है। मेरा शरीर भगवत्प्राप्ति में अभी तक सफल नही हो सका, इसको रखना व्यर्थ है। यदि यह सिंह का ग्रास वन जाये तो यही इसका सवसे वडा सदुपयोग है। पर आश्चर्य की वात तो यह हुई कि सिंह उनकी ओर नही आ सका। स्वामी जी ने जगल में ही रात वितायी। उन्होने मद्रास और हैदरावाद का भ्रमण किया। पुत्रोत्सव के उपलक्ष में महाराजा खेतडी के विशेप आग्रह पर खेतडी गये। महाराजा की विशेप प्रार्थना से अमेरीका के शिकागो नगर में होने वाले धर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिये वे अमेरीका गये। अमेरीका जाने के अवसर पर ही उन्होने खेतडी नरेश के कहने से 'विवेकानन्द' की सज्ञा अपनायी थी। चीन और जापान होते हुए वे अमेरीका पहुँचे। गेरुआ वस्त्र में दिव्य सन्यासी ने अमेरीका की विपय भोग-प्रधान भूमि पर चरण रखे, ऐसा लगता था मानो भौतिकता को स्वाहा कर देने के लिये साक्षात् अग्नि देवता प्रकट हो गये। सम्वत् १९५० वि (सन् १८९३ ई में ग्यारह सितम्वर को दस वजे दिन) में उन्होने शिकागो के धर्मसम्मेलन में प्रवेश किया। देश-देश के धर्मप्रतिनिधि उनके दिव्य सौन्दर्य को देख कर मुग्ध हो गये। जिस समय उन्होने उपस्थित जनता को 'वहन और भाइयो' के रूप

में सम्बोधन किया उस समय अमेरिका का मस्तक भारतीय सस्कृति और आध्यात्मिक ज्योति के मूर्तिमान रूप स्वामी विवेकानन्द के चरणो पर श्रद्धा और भक्ति से, प्रेम और आदर से विनत हो गया। उनके जयनाद से समस्त वातावरण आनन्द सागर में सम्प्लावित हो उठा। उन्होने अमेरिका मे सिंहनाद किया कि हिन्दू धर्म विश्व धर्म है, समस्त ससार को उसने सहिष्णुता, सत्य, शान्ति और प्रेम का पाठ पढाया है। उन्होने हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के समन्वय पर प्रकाश डाला और कहा कि दोनो एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। हिन्दू धर्म समस्त धर्मों के स्वतन्त्र विकास को मान्यता प्रदान करता है। अमेरीका में स्वामी जी का धूम-धाम से स्वागत हुआ, बडे-वडे नगरो में उनके प्रवचन हुए। उन्होने सात्विकता और ईश्वर भक्ति का प्रचार किया। अमेरीका से उन्होने योरप की यात्रा की। इग्लैंड आदि देशो में स्वामी विवेकानन्द का विशेष स्वागत हुआ। लोगो ने साक्षात् बुद्ध और महात्मा ईसा के रूप में उनका दर्शन किया। विदेश-परिभ्रमण के वाद अपना अध्यात्मसन्देश सुनाने के लिये तथा ऋपियो द्वारा अनुभूत ब्रह्मज्ञान–वेदान्त धर्म की गौरवगाथा गाने के लिये वे भारत लौट आये। देश ने उनका वडी श्रद्धा से स्वागत किया। मद्रास और वगाल प्रान्त में उनके प्रवचन आरम्भ हो गये। रामनाद के राजा ने उनकी शोभायात्रा की गाडी अपने हाथ से खीची। स्वामी जी ने रामेश्वर और मीनाक्षी का दर्शन किया। वगाल आये। उनके कार्यक्रम वढने लगे। देश विवेकानन्द के जयनाद से मुखरित हो उठा। स्वामी जी ने मद्रास और वगाल का भ्रमण समाप्त कर स्वास्थ्य-लाभ और विश्राम की दृष्टि से अलमोडा की ओर प्रस्थान किया। अलमोडा से उन्होने काश्मीर और पजाव में अध्यात्म ज्ञान के प्रचार का सकल्प किया। लाहौर में स्वामी रामतीर्थ से उनकी भेंट हुई। उस समय स्वामी रामतीर्थ ने सन्यास नही लिया था। उनका नाम तीर्थराम था, वे स्थानीय कालेज में गणित के प्राध्यापक थे। स्वामी विवेकानन्द जव लाहौर से चलने लगे तव रामतीर्थ ने उनको उपहाररूप में एक सोने की घडी दी। विवेकानन्द ने वडे प्रेम से घडी स्वीकार कर ली और उसको रामतीर्थ की जेव में रखते हुए कहा कि मित्र, मै इस घडी को इसी जेव में पहना करूँगा। दोनो एक-दूसरे के प्रेम मे प्रभावित हुए। स्वामी विवेकानद विश्राम करने के लिये देहरादून आये। राजा खेतडी की विशेप प्रार्थना पर वे राजस्थान गये। इस यात्रा मे वे अलवर भी गये। अलवर में जिस समय वडे-वडे धनी और

प्रतिष्ठित लोग उनके स्वागत के लिये रेलवे स्टेशन पर खडे थे, गाडी से उतरते ही उन्होंने अपने परिचित राममनेही को देखा, वह गरीब था। जब पहली वार स्वामी जी अलवर आये थे, वह उनका शिष्य हो गया था। स्वामी जी उसका नाम ले कर जोर-जोर से पुकारने लगे और बिना किसी दूसरे प्रतिष्ठित व्यवित की चिता किये ही वे भीड से वाहर निकल कर उसके पास पहुँच गये और कुशल-समाचार पूछने लगे। खेतडी में वे कुछ दिनो तक ठहर गये। वे नित्य नियमपूर्वक घोडे पर सवारी कर प्राकृतिक दृश्यो के अवलोकन के लिये भ्रमण करने जाया करते थे। लोग अद्‌भुत राजसन्यासी को देख कर आश्चर्यचकित हो गये। कुछ दिनो के वाद वे अलमोडा आ गये। अलमोडा से वे कलकत्ता गये। वेलूर (आलमवाग) मठ मे उनका कार्य वढ गया। स्वामी जी के आग्रह और निमन्त्रण पर मिस मारगरेट नोवुल–सिस्टर निवेदिना ने भारत आकर स्वामी जी के सिद्धान्तो के प्रकाशमें तथा भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा की समन्वय-भूमि पर शिक्षा आदि के प्रचार का कार्य आरभ किया।

स्वामी विवेकानन्द एक वार अलमोडा में थे। वगाल के स्वदेशभक्त सन्त महात्मा अश्विनी कुमार दत्त उनसे मिलने गये। अलमोडा पहुँचने पर उन्होंने सुना कि यहाँ एक साधु रहते है जो घोडसवारी करते है, अग्रेजी वोलते है और राजकीय ठाट से रहते है। अश्विनी कुमार ने जव साधु के वारे में पता लगाया तो एक रास्ता चलने वाले ने उनसे कहा कि आपका अभिप्राय घोडसवारी करने वाले सन्यासी से तो नही है! इतने में स्वामी विवेकानन्द टहल कर आ गये। वे घोडे पर सवार थे। उनके आश्रम से एक अग्रेज शिष्य निकला, घोडे की लगाम थाम ली। विवेकानन्द भीतर चले गये। अश्विनी कुमार ने अग्रेज से पूछा कि क्या नरेन्द्र हैं। अग्रेज शिष्य ने कहा कि नरेन्द्र तो मर गये, यहाँ विवेका-नन्द रहते है? स्वामी विवेकानन्द ने भीतर से ही कहा कि तुमने क्या कह डाला!
स्वामी जी ने आदरपूर्वक अश्विनी कुमार का आलिगन किया और कहा कि आप का नरेन्द्र यहाँ है। दोनो का मिलन-सुख अपूर्व था।

अलमोडा से स्वामी विवेकानन्द काश्मीर गये। अमरनाथ की यात्रा की। सिस्टर निवेदिता उनके साथ थी। स्वामी जी ने अमरनाथ -शिवलिंग का दर्शन तथा स्तवन किया। वगाल के शाक्त सत रामप्रसाद के गीत-गान से उन्होंने पवित्र वातावरण को धन्य कर दिया। वे काश्मीर से कलकत्ता आये। शिष्यो

तथा गुरुभाइयो द्वारा 'उद्बोधन' पत्रिका के सचालन से वे वहुत प्रसन्न हुए। कलकत्ता से वे वैद्यनाथ धाम गये।

उन्होने दूसरी बार अमेरीका और योरप की यात्रा की। सिस्टर निवेदिता साथ थी। पाश्चात्य जगत की भौतिकता के प्रागण में वे निर्भय होकर आध्यात्मिकता का प्रचार करते रहे। भारत लौटने पर पहले वे मायावती आश्रम गये और उसके बाद बेलूर मठ में निवास किया। लोग देश के कोने-कोने से उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आने लगे। बेलूर मठ-निवास काल में उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरने लगा। इसी समय जापान के एक प्रभावशाली व्यक्ति ओकारा का बेलूर मठ में आगमन हुआ। ओकारा के अनुरोध से स्वामीजी बौद्ध गया और बनारस गये। यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। बनारस से वे बेलूर लौट आये। एक बार स्वामी जी ने कहा—'ब्रह्म, ब्रह्म सर्वत्र है। इसी समय है। यहाँ है। हस्तामलकवत् वह देखा जा सकता है, जाना जा सकता है।' उन्होने कहा कि जो पुरुष आत्मसाक्षात्कार कर लेता है वह महान शक्ति का केन्द्र वन जाता है। उसकी इच्छा शक्ति मात्र से उसके निकट आने वाले लोग आध्यात्मिक ज्योति से सम्पन्न हो जाते है। यही कृपा है।

स्वामी विवेकानन्द ने आजीवन अद्वैत भगवत्तत्व का प्रचार किया। वे अपनी साधना की सीमा में अपने लिये परम भगवद्भक्त थे, शिष्यो , प्रेमियो और अनुयायियो के लिये महान आत्मज्ञानी सन्त थे, वे निस्सन्देह स्वामी थे, आत्मतत्व के योगी थे। उन्होने अपने वेदान्तपरक सिद्धान्त के प्रचार के लिये सत्य को वहुत वडा अवलम्ब स्वीकार किया। उन्होने कहा कि साहस पूर्वक सत्य बोलो। सत्य सनातन है। सभी आत्माओ की प्रकृति सत्य ही है। सत्य प्रकाश प्रदान करता है, स्फूर्ति और चेतनता का दान करता है, सत्य को ऐसा होना ही चाहिये। स्वामी जी ने वतलाया कि अद्वैतवाद की शिक्षा से यह ज्ञान होता है कि दूसरो की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करते हो क्यो कि वे तुम्हारे ही स्वरूप है। राजा के रूप में तुम्ही प्रासाद में लाखो का भोग कर रहे हो, रास्ते के भिखारी के रूप में तुम्ही अपना दुखमय जीवन विता रहे हो। अज्ञानी और ज्ञानी दोनो में तुम्ही हो। दुर्वल और सवल तुम्ही हो। इस तत्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हे सब के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिये। स्वामी जी ने भगवच्चिंतन के माध्यम से कहा कि सत्य परम चिन्मय है, वही ब्रह्म है, भगवान है। स्वामी जी ने भावना के सम्बन्ध में कहा कि ज्ञान की प्राप्ति के

लिये साधना ही सर्वोत्तम मार्ग है। विवेकानन्द जी उच्च कोटि के निष्काम भगवत्प्रेमी थे। गोपी प्रेम को उन्होने प्रेम का सर्वोत्तम स्तर स्वीकार किया। उनकी उक्ति है, 'गोपी-प्रेम उपलब्ध करना बडा कठिन है। जिन्होने इस गोपी प्रेम का वर्णन किया, वे और कोई नही—आजन्म शुद्ध व्यासतनय शुकदेव हैं। हृदय में स्वार्थपरता के रहते भगवत्प्रेम की प्राप्ति असम्भव है। काचन, नाम, यश और क्षुद्र तथा मिथ्या ससार के प्रति आसक्ति छोडने पर ही गोपी-प्रेम समझ मे आता है। यह इतना शुद्ध है कि विना सब कुछ छोडे इसको समझने की चेष्टा करना ही अनुचित है। आत्मा पूर्ण रूप से पवित्र होना चाहिये। कृष्ण-अवतार का मुख्य उद्देश्य गोपी-प्रेम की शिक्षा है। दर्शन शास्त्रशिरोमणि गीता भी उस प्रेमोन्मत्तता की समता नही कर सकती है। गीता में साधक को धीरे-धीरे चरम लक्ष्य मुक्ति के साधन का उपदेश दिया गया है। गोपी प्रेम में ईश्वर-रसास्वाद की उन्मत्तता—घोर प्रेमोन्मत्तता विद्यमान है। आत्मा कृष्ण वर्ण में रग जाती है।' विक्रमीय उन्नीसवी और वीसवी शताब्दी के सन्तो मे स्वामी विवेकानन्द को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्होने अपने गुरुदेव की कृपा के वल पर सन्त जगत में महती क्रान्ति उपस्थित की—वह औपनिषद क्रान्ति थी, वेदान्तगत परम शान्ति की उदयगिरिकन्दरा थी। स्वामी विवेकानन्द की सरस उक्ति है

'स्थापकायच धर्मस्य स्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नम ॥'

स्वधर्म के प्रतिष्ठाता और स्वधर्म स्वरूप अवतार श्रेष्ठ सद्गुरु रामकृष्ण देव को प्रणाम है। इस प्रणति मे स्वामी विवेकानन्द ने आत्मधर्म का प्राण भर दिया। विवेकानन्द ने सन्तजगत को वताया कि 'जो कुछ भी आप के पास आता है वह आनन्दमय अनन्त प्रभु का भिन्न-भिन्न रूप है। प्रभु ही हमारे माता-पिता तथा वन्धु है। हमारी आत्मा ही हमारे साथ खेल कर रही है। भगवान को पिता कहने की अपेक्षा एक और उच्चतर भाव है, साधक उन्हे माता कहते है। इससे भी एक पवित्रतर भाव है उन्हे प्रिय सखा कहना। उसकी अपेक्षा एक और श्रेष्ठ भाव है उन्हे अपना प्रेमास्पद कहना। प्रेम और प्रेमास्पद में कुछ भेद न देखना ही सर्वोच्च भाव है। स्वामी विवेकानन्द ने आत्म प्रेम को भागवत रूप प्रदान किया। जीवनके अन्तिम दिनो में उनकी व्यस्तता वढती गयी। स्वास्थ्य की तनिक भी चिंता किये विना वे काम में लगे रहे। ब्रह्म-निर्वाण

के कुछ दिनो पहले लोगो ने प्रश्न किया कि क्या आप जानते हैं कि आप कौन थे ? स्वामी जी ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'हाँ मै जानता हूँ।' किसी ने पूछने का साहस ही नही किया। उनके दर्शन के लिये विश्व के प्रत्येक भाग से शिष्य-गण उपस्थित होने लगे।

महाप्रस्थान के तीन दिन पहले ही गगा तट के एक रमणीय स्थान की ओर सकेत करते हुए उन्होने स्वामी प्रेमानन्द को बताया था कि मेरा अन्तिम सस्कार यही किया जाना चाहिये और उनकी इच्छा के पूर्तिस्वरूप उसी स्थान पर उनकी अमर समाधि मृत्यु को चुनौती देती हुई स्थित है। उन्हे मृत्यु के आगमन का पता चल गया। उनका अन्तिम दिन पूर्ण साधनामय था। प्रात काल के ग्यारह बजे दिन तक वे एकान्त चिंतन करते रहे। उनकी आज्ञा से मठ में कालीपूजा सम्पन्न हुई। उन्होने बडे ध्यान से यजुर्वेद सहिता के निम्न-लिखित मन्त्र का श्रवण किया 'सुषुम्ण सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्यनक्षत्रा-रायप्सरसो भेकुरयो नाम। सन इद ब्रह्म क्षत्र पातु तस्मै स्वाहा वाट्ताम्य स्वाहा॥'

शाम को अपने कमरे में वे गगा की स्वच्छ लहरियो की ओर मुख कर चिंतन करने लगे। रात में नव बजने के कुछ ही मिनटो के बाद वे परमात्मा में लीन हो गये। इस प्रकार (चार जुलाई सन् १९०२ ई को) सम्वत् १९५९ वि में उन्होने महाप्रस्थान किया। वे उनतालीस साल पॉच माह चौबीस दिन तक पृथ्वी पर जीवित रहे। वे कहा करते थे कि मैं जीवन के चालीस साल नही देख सकूगा। स्वामी विवेकानन्द विवेक और आनन्द, आत्मा और प्रेम के योगरूप थे।

रचना

प्रेमयोग, व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि विवेकानद की प्रसिद्ध रचनायें है।

वाणी

इस ससार में मनुष्य धन, स्त्री और मान के पीछे दौडते रहते है। कभी-कभी उन्हे ऐसी ठोकर लगती है कि उनकी ऑख खुल जाती है। उन्हे ससार के यथार्थ रूप का पता चल जाता है। इस ससार में कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड कर अन्य किसी वस्तु से यथार्थ प्रेम नही कर सकता है। उसे पता लग जाता है कि मनुष्य-प्रेम पोला—नि सार है।

जब तक हम मनुष्य हैं तब तक मनुष्य रूप में ही हमें ईश्वर की आराधना और पूजा करनी होगी। बाते चाहे जैसी करो, प्रयत्न चाहे जैसा करो, तुम परमात्मा को मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में देख ही नही सकते।

ईश्वर सर्वव्यापी हैं, वे प्रत्येक प्राणी में अपने आप को व्यक्त करते है। मनुष्य के लिये तो वे मनुष्य के ही रूप में दीख सकते और पहचाने जा सकते है। जब उनका प्रकाश उनकी व्यापकता—आत्मा मनुष्य के दिव्य मुखपर चमकती है तभी और केवल तभी मनुष्य उन्हे समझ पाता है।

अच्छा-बुरा कुछ न देखो, सभी वस्तु और कार्य की उत्पत्ति आत्मा से होती है। यही विचार करो। आत्मा सब में है। यही कहो कि जगत नाम की कोई वस्तु नही है। बाह्य दृष्टि बन्द करो और उन्ही प्रभु को स्वर्ग-नरक सभी स्थानो में देखो। जीवन और मृत्यु—सब में उन्ही की उपलब्धि करो।

प्रत्येक मनुष्य के भाव में विभिन्नता है। मनुष्य का जन्म भावो की विभिन्नता में ही होता है। मनुष्य भाव की विभिन्नता का कभी भी अतिक्रमण नही कर पाता है। समस्त ससार किसी समय एक धर्मावलम्बी नही हो सकता। इसका कारण भावो की विभिन्नता है। ईश्वर करे, जगत कभी भी एक धर्मावलम्बी न हो। यदि कभी ऐसा हो जाय तो ससार का सामञ्जस्य नष्ट होकर विशृखलता आ जायेगी।

प्रत्येक मनुष्य में आस्तिक-बुद्धि होती ही है। कुछ उसे समझते हैं और कुछ उसके ज्ञान से विमुख रहते हैं। जो चेतन एक शरीर में है, वही समस्त ससार मे है। उस चेतन की उत्पत्ति या नाश नही होता है। एक शरीर में जो चेतन है वह जीवात्मा है और जो सर्वव्यापक ह, वह परत्मात्मा हैं, दोनो अच्युत हैं।

दूसरो के दोप देखने में आप जितना समय लगाते है उतना अपने दोप सुधारने में लगाइये। आप अपना चरित्र सुधारेगे, अपना आचरण पवित्र बनायेंगे तो ससार आप ही सुधर जायेगा। ..आप स्वय पवित्र बनने के उद्योग में लगिये, यही कर्म का रहस्य है।

महात्मा गांधी

एकला चलो रे।
यदि तोर डाक सुने केउ न आसे तबे एकला चलो रे ।।
एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे।।
यदि केउ कथा न कय, ओरे ओ ओ अभागा।
यदि सवाई थाके मुख फिराये, सबाई करे भय।
तबे परान खुले।
ओ तुई मुखे फुटे तोर मनेर कथा एकला बोलो रे ।।
यदि सवाई फिरे जाय, ओरे, ओरे ओ अभागा।
यदि गहन पथे जावार काले केउ फिरे न चाय—
तबे पथेर कॉटा,
ओ तुई रक्तमाखा चरन तले एकला दलो रे।।
यदि आलो न घरे, ओरे, ओरे ओ अभागा।
यदि झड़ बादले आंधार राते दुआर देय घरे—
तबे वज्रानले,
आपन वुकेर पाजर ज्वालिये निये एकला जलो रे ।।

—महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

महात्मा गाधी सत्य-पुरुप थे, महामानव थे, उन्होने राम-भक्ति के वल पर स्वराज्य-साधना की, सत्याग्रह-सचालन किया। वे असाधारण तपस्वी और परम भागवत सन्त थे, परम वैष्णव थे, सत्य-योगी थे। उन्होंने मानव की शारीरिक-मानसिक पराधीनता का नाश कर भौतिक जगत में आध्यात्मिक क्रान्ति उपस्थित की। महात्मा गाधी के जीवन-चरित्र को समझना आसान काम नही है। बहुत दिनो तक उनके माथ रहने वाले हेनरी पोलक महोदय ने एक वार कहा था, 'तुम नही कह मकते कि गाधी यह वस्तु हैं, वह वस्तु हैं। विश्वाम के माथ तो तुम इतना ही कह मकते हो कि वे यहाँ है, वहाँ है। प्रत्येक

स्थान पर उनका प्रभाव शासन करता है, उनका अधिकार राज्य करता है, उनका व्यक्तित्व प्रत्येक स्थान पर फैल गया है और ऐसा तो होना ही चाहिये, यह बात सभी महा पुरुषो के लिये सत्य है कि वे परिभाषा के परे और अगम्य है।' महात्मा गाधी असाधारण व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। उनके जन्म-काल में देश पूरा पराधीन हो चुका था, बीसवी शती का भारत बुद्धकालीन भारत की ही तरह राजनैतिक तथा सामाजिक विषमताओ से उत्पीडित था, महात्मा गाधी ने इसका मूल कारण विदेशी सत्ता का अधिकार-आधिपत्य समझा और उनके मन मे यह बात बैठ गयी कि जब तक विदेशी राजत्व का उन्मूलन नही कर दिया जाता है, भारत आराम और शान्ति से नही रह सकता है।

महात्मा गाधी वैष्णवजन थे, विश्व मात्र के दुख से दुखी थे, वे हरिजन थे, उन्होने हरिजन को भगवद्भजन का अधिकार दिया। जो साधारण मानव वेष में रह कर, काम कर, सोकर, जाग कर और चल कर असाधारण मानवता का परिचय देता है वही महामानव है। शताब्दियो के बाद ऐसे महामानव का जन्म धरती पर होता है। गाधी जी बीसवी शती के महामानव थे। महात्मा गाधी ने आत्मदान दिया, उन्होने विश्व को स्वात्मगत देखा, अपना समझा, अहिंसा और सत्य के परिणय-उत्सव में मानवता का सिन्दूर जब उनकी अगुलियो पर थिरकने लगा तब विश्वमात्र ने उनके सस्कृत स्वरूप का दर्शन किया। गाधी जी का सम्पूर्ण जीवन भगवद्प्रार्थनामय था। वे विश्वासी भक्त, भक्त ज्ञानी और ज्ञानी कर्मी थे। गाधी जी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी सब-कुछ एक ही साथ थे।

गुजरात के काठियावाड के पोरबन्दर नगर में एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में सम्वत् १९२६ वि (सन् १८६९ई २ अक्टूबर) में गाधी जी का जन्म हुआ था। यह धौत नगर ओमन सागर की उत्ताल तरगो का निरन्तर स्वच्छतम स्पर्श पाता रहता था। गाधी जी के पितामह उत्तमचन्द और पिता काबा गाधी पोरबन्दर राज्य के दीवान पद पर प्रतिष्ठित होते आये थे। काबा गाधी की तृतीय पत्नी पुतली बाई गाधी जी की माता थी। वे बडी धर्मनिष्ठ और भगवद्भक्त थी। गाधी जी-मोहनदास करमचन्द उनके साथ बचपन में हवेली-विष्णु मन्दिर में भगवान का दर्शन करने जाया करते थे। माता ने उनमें भगवान की भक्ति का बीजारोपण किया। गाधी जी में धार्मिक भाव उनकी माता ने भरे थे, सत्य, दया और सदाचार की प्राप्ति उन्होने माता की ही कृपा से की। जब

वे सात साल के थे, उनके पिता सपरिवार पोरबन्दर से राजकोट चले आये, राजकोट में दीवान के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। गाधी जी की प्रारम्भिक प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था राजकोट में की गयी। वे सीधे-सादे स्वभाव के थे। बारह साल की अवस्था में उच्च शिक्षा के लिये उन्होंने अलफ्रेड विद्यालय में प्रवेश किया। तेरह साल की अवस्था में पोरबन्दर के एक व्यापारी गोकुलदास मकनजी की कन्या कस्तूरबा से उनका विवाह सम्पन्न हुआ।

अध्ययन-काल में एक बार श्रवण कुमार नाटक पढा। श्रवण कुमार की मातृ-पितृ-भक्ति से वे बहुत प्रभावित हुए, उनके मन ने तत्काल ही निश्चय किया कि मुझे अपने जीवन को श्रवण कुमार के आदर्श चरित्र से सम्पन्न करना चाहिये। एक बार वे हरिश्चन्द्र नाटक देख रहे थे, सत्य के लिये तथा धर्म के नाम पर हरिश्चन्द्र को अनेक कष्ट झेलते देख कर वे अचानक कह उठे, 'सब लोग हरिश्चन्द्र की ही तरह सत्यवादी क्यो नही हो जाते?' गाधी जी अपने समय का सदुपयोग बडी सावधानी से करते थे। साधारण खेल-कूद आदि में उनकी तनिक भी रुचि नही थी, सत्य-प्राप्ति ही उनके जीवन का धीरे-धीरे ध्येय बनता गयी।

जब गाधीजी केवल सोलह साल के थे, उनके पिता ने तिरसठ वर्ष की आयु में परलोक की यात्रा की। उन्नीस साल की अवस्था में गाधी जी जूनागढ के एक वकील के साथ बारिस्ट्री का प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिये इगलैंड गये। वे शाकाहारी थे, उन्हें लन्दन का वातावरण विचित्र-सा दीख पडा, उन्होंने एक शाकाहारी समाज से सम्बन्ध स्थापित किया। लन्दन-निवास-काल में उन्हे अपनी बुद्धि-विकास का अच्छा अवसर मिला। उनका दो थियोसफीस्टो से सम्पर्क हुआ, उन्होने लन्दन में ही पहले पहल भगवद्गीता पढी, भगवान की श्रीवाणी से उनका ध्येय उनके लिये और भी स्पष्ट हो गया, उन्हे अरनल्ड कृत 'लाइट आफ एसिया'—बुद्धचरित महाकाव्य पढने का भी अवसर मिला। मैडम वलेवटस्की और डाक्टर एनीबीसेंट के सत्सग ने भी उनके बौद्धिक विकास पर बडा प्रभाव डाला। वे इगलैंड में लगभग तीन साल रहे, बारिस्ट्री का प्रमाणपत्र ले कर गाधी जी भारत लौट आये। गाधी जी ने पहले बम्बई मे बारिस्ट्री आरम्भ की। वे छ माह के बाद राजकोट चले आये। इस समय उनकी अवस्था लगभग बाईस साल की थी। राजकोट में उनकी मासिक आय तीन सौ रुपये के लगभग थी। इस प्रकार सत्य और अच्छी नीयत से वे पैसा कमा कर

अपनी गृहस्थी का कर्तव्य पूरा करने लगे। ऐसा दैवी नियम है कि जिन्हे ईश्वर अपने कार्य-सम्पादन के लिये ससार में भेजते है उन्हे ऐसी परिस्थिति और स्थान में रख देते है कि कार्य करने में भागवत प्रेरणा प्राप्त हो। ईश्वर की कृपा से दादा अब्दुल्ला और कम्पनी के कार्य के लिये गाधी जी को अफ्रीका जाने का निमन्त्रण मिला। गाधी जी ने 'सत्य का प्रयोग' अफ्रीका में ही आरम्भ किया। उनकी ईश्वर-भक्ति उस महादेश में निखर उठी। वे सीधे-सादे वेष में अफ्रीका गये, एक बात स्मरणीय है कि वे अपने साथ तुलसी की माला भी ले गये जिसे उनकी माता ने दी थी। अफ्रीका उनके भगवद्‌विश्वास से धन्य हो गया। नैटाल अथवा डरबन नगर का महत्व उनकी तपोमयी उपस्थिति से बढ गया।

वे डरबन की कचहरी मे थे। मजिस्ट्रेट ने उनसे पगडी उतारने के लिये कहा, गाधी जी के आत्म-सम्मान ने ऐसा करना अस्वीकार कर दिया, वे मजिस्ट्रेट के कमरे से बाहर आ गये। असत्य के विरोध का यह शुभ क्षण था। महात्मा गाधी ने असत्य का सामना किया अपने अन्तस्थ सत्य-बल पर।

गाधी जी डरबन से प्रीटोरिया जा रहे थे। उनके पास प्रथम श्रेणी का टिकट था पर उनका सबसे बडा दोष यह था कि वे काले थे और भारत—पराधीन देश के नागरिक थे। मारित्‌जबर्ग स्टेशन पर उनसे एक रेलवे अधिकारी ने उतर कर वैन मे जाने को कहा। गाधी जी ने अस्वीकार किया। उन्हे डब्बे से बाहर उतार दिया गया। गाडी निकल गयी। गाधी जी गम्भीर हो उठे। भयानक शीत की रात थी, चारो ओर सघन अन्धकार था। वे प्रतीक्षालय की ओर बढे पर उसमें एक गोरा विश्राम कर रहा था। गाधी जी ने सोचा कि मुझे भारत लौट जाना चाहिये या सघर्ष का सामना करना चाहिये। अन्तरात्मा ने कहा कि असत्य का विरोध ही मानवता की सब से बडी सेवा है, गलत को सही रास्ते पर लाना ही परोपकार है, सदाचार ही धर्म है। उन्होने ईश्वर का आश्रय लिया। महात्मा गाधी की उक्ति है कि उसी दिन मेरी सक्रिय अहिंसा ने जन्म लिया। वे तीन साल तक अफ्रीका में रहे। जन-सेवा के व्रत से उन्होंने लोगों का मन मुग्ध कर लिया। उन्होने अफ्रीका में सपरिवार रहने का निश्चय किया। कस्तूरबा को लेने के लिये उन्हें भारत आना पडा। बम्बई, पूना आदि नगरो में उच्च चोटी के भारतीय नेताओ से मिल कर उन्होने दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो की दुर्दशा का परिचय दिया। नेताओ ने उनके कार्य की प्रशसा की। वे कस्तूरबा को लेकर दक्षिण अफ्रीका आ गये। इस बार उनके जीवन ने तपोमय

सघर्ष का वरण किया, उन्होने सरकार को भारतीयो की स्थिति सुधारने के लिये विवश किया। उनके जयनाद से दक्षिण अफ्रीका के धरती-गगन गूज उठे। अफ्रीका से विदा होते समय उन्होने उपहार में प्राप्त समस्त वस्तुओ को जनता की सेवा के लिये वैंक में रखने का सकल्प किया। कस्तूरबा ने एक सोने का हार रखना चाहा। गाघी जी ने लौटाने का आग्रह किया। कस्तूरबा ने कहा कि आपने जनता की सेवा की और आपकी सेवा मैंने की, इसलिये उपहार की वस्तु में मेरा भी अधिकार है। गाघी जी अपने निश्चय पर अटल रहे। कस्तूरबा ने हार लौटा दिया। नैटाल के भारतीयो ने गाधीजी को प्रेमामृत में स्नान कराया। गाधीजीने भारत में कुछ दिन निवास कर अफ्रीका के लिये फिर प्रस्थान किया। वे नैटाल से १९६० वि में प्रीटोरिया आये।

जोहान्स वर्ग में पोलक ने गाधी जी से भेंट की। उन्होने अग्रेजी साहित्यकार रसकिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टू दी लास्ट'—'सर्वोदय' गाधीजी को पढने के लिये दी, पुस्तक ने गाधीजी के विचारो पर बडा प्रभाव डाला। वे इसे पढने के वाद इस परिणाम पर पहुँच सके कि व्यष्टि का हित समष्टि का हित है। वकील और नापित दोनो के श्रम का मूल्य समान है, दोनो को अपनी जीविका कमाने का अधिकार है।

सम्वत् १९६३ वि मे गाधी जी लन्दन गये। दादा भाई नौरोजी से उनकी भेंट हुई। भारत में वग-भग-आन्दोलन जोर पकड रहा था, वन्दे-मातरम्—सगीत की प्रसिद्धि वढ रही थी। सम्वत् १९७१ वि में दक्षिण अफ्रिका के व्रिटिश शासक स्मट्स और गाधीजी में अस्थायी समझौता हो गया। गाधीजी ने अफ्रिका का सत्याग्रह स्थगित कर दिया। महात्मा गाधी के सत्तरवे जन्म-दिवस पर जेनरल स्मट्स ने श्रद्धा समर्पित करते हुए स्वीकार किया था कि 'इतने महान आत्मा का विरोधी होना मेरे लिये वडे सौभाग्य की वात थी। गाधी जी जव जेल मे थे तव उन्होने मेरे पहनने के लिये पादत्राण वनाये थे,जेल से छूटने पर उन्होने पादत्राण मुझे भेट किये थे, मैंने उनको वहुत समय तक पहना।' गाधी जी ने जो कुछ सत्य समझा उसी का सम्पादन किया, वे भोग-विषय, स्वार्थ और प्रसिद्धि तथा प्रचार से वहुत दूर रह कर सीधा-सादा भगवद्मय जीवन विताने को ही परम श्रेयस्कर मानते थे। उनके शरीर को वन्धन में डाला जा सकता था, वे कारागार में शरीर से रह सकते थे पर उनकी आत्मा अजेय थी, उसे वश में करना नितान्त कठिन-सा काम था।

सम्वत् १९७१ वि में गाधी जी अफ्रिकासे इगलैड गये। लन्दन में उनकी गोखले से भेंट हुई। एक साल के वाद भारत लौटने पर गाधी जी ने कहा कि अव भारत में ही रहने का विचार है, मैं आजीवन अपनी मातृभूमि की सेवा में लगा रहूँगा। वे शान्ति निकेतन गये। इसी समय उन्हे गोखले की मृत्यु का समाचार मिला। गावी जी ने उनका मृत्यु-शोक वर्ष भर मनाया और उनकी आत्मा को सम्मानित करने के लिये तथा शान्तिप्रदान करने के लिये वे नगे पाँव यात्रा करते थे। उन्होने दक्षिण भारत की यात्रा की, जनता उनके दर्शन से धन्य हो उठी। महात्मा गाधी ने स्वराज्य का मन्त्र जगाना आरभ किया। गाधीजी ने अहमदावाद के जनपद में अपना सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया। उन्होने देश की परिस्थिति समझने के लिये दौरा किया। वे विहार प्रान्त के चम्पारन जनपद में गये। चम्पारन में उन दिनो नील की खेती होती थी, किसानो पर निलहे गोरो का अत्याचार वड रहा था। गाधी जी ने अपने अहिमक सत्याग्रह की भूमिका सम्वत् १९७३ वि में चम्पारन में ही प्रस्तुत की। चम्पारन-काण्ड ने व्रिटिश शासन सशकित हो गया। गावी जी ने समस्त देश को साव-धान किया कि मुझे प्रसिद्धि नही चाहिये, मुझे सम्मान की आवश्यकता नही है, मेरी केवल यही कामना है कि मेरा सत्याग्रह-सिद्धान्त लोग अपने जीवन में उतार ले। स्वराज्य की प्राप्ति सत्य से होगी, भगवान की कृपा से होगी। वाल गगाधर तिलक, एनी वीसेट और गाधी के नेतृत्व में देश ने घरेलू राज्य होमरूल की माँग की।

सम्वत् १९७६ वि में गाधी जी ने दासता के विरुद्ध आवाज उठायी। महात्मा गाधी ने अहिसात्मक आन्दोलन का सूत्रपात किया, असहयोग की हवा वह चली, देश के कोने-कोने में 'महात्मा गाधी की जय' ने विद्रोह की आग सुलगा दी। गावी जी ने कहा कि विना दु ख की आग में पवित्र हुए कोई देश कभी उन्नत नही हो सका है। मृत्यु से ही जीवन आता है। क्या भारत विना दुख की आग में पविन्न हुए ही दासता से मुक्त हो सकता है? अहिमा केवल ऋषियो-मुनियो की ही वस्तु नही है, उसे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में उतार सकता है। 'एक साल में स्वराज्य मिल जायेगा' लोग इस कथन में दृढ विश्वास करने लगे। गाधीजी ने असत्य, अत्याचार और दासता से युद्ध करने के लिये भारत को विद्रोह-साहित्य दिया जो अहिसा के मन्त्र से नितान्त अभिमन्त्रित था। जनता का विश्वास गाधीजी मे वडने लगा। प्रत्येक मन्दिर

और मसजिद मे जाकर उन्होने स्वतन्त्रता का आवाहन किया। उन्होने सिर के बाल कटा दिये, खद्दर का एक झोला ले लिया और पहननेके लिये एक हाथ चौडे खद्दर का परिधान था। इस प्रकार वे जनता के मध्य में एक नगे फकीर के रूप मे घूमने लगे। जब बिहार प्रान्त का दौरा कर रहे थे, एक बुढिया मूसलाधार-वृष्टि मे उनका दर्शन करने आयी। उसकी आयु एक सौ पाच साल की थी। बुढिया ने कहा कि मैंने दो-दो मन्दिर बनवाये है। उनमें भगवान राम और कृष्ण की स्थापना की है। मृत्यु आ रही है। मेरा विश्वास है कि बिना गाधी जी को देखे मै मर नही सकती। इस प्रकार असख्य प्राणी गाधी जी के प्रेम में उन्मत्त हो गये। लोग उनका दर्शन कर अपने आप को धन्य मानने लगे। यह उनके तपोमय आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव था। गाधी जी ने सविनय अवज्ञा-आन्दोलन को कार्यरूप देने के लिये गुजरात के सूरत जनपद का वारडोली स्थान चुना। वे स्वराज्य-आन्दोलन के नेतृत्व का भार अपने कन्धो पर रख कर मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त करने के लिये कटिवद्ध हो गये। उन्होने असहयोग करने के लिये सत्य, अहिंसा और चरखा को अपने अस्त्र-शस्त्र का रूप प्रदान किया। गाधीजी ने कहा कि 'सत्याग्रह ऐसा उपाय है जिसमे सत्याग्रही के ही कष्ट उठाने की बात रहती है। विरोधी पक्ष को कष्ट देने का हेतु रहता ही नही है। सत्याग्रही झूठी प्रतिष्ठा के फेर में नही रहता है। जव विपक्षी अपने सहयोग का सर्वथा दुरुपयोग करता जान पडे, उसके द्वारा निर्दोष को पीडा पहुँचती दीख पडे तब असहयोग उचित और आवश्यक हो ही जाता है।

सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के लिये सरदार वल्लभभाई की देख-रेख में वारडोली की जनता प्रस्तुत थी पर इसी वीच मे चौरीचौरा काण्ड से गाधी जी ने आन्दोलन रोक दिया। इधर खिलाफत-आन्दोलन भी ठन्डा पड गया था। गाधी जी ने कहा कि 'चौरी-चौरा की घटना सिद्ध करती है कि देश में सविनय-अवज्ञा के वातावरण का अभी अभाव है। सत्य और अहिंसा का अभी आधिपत्य नही स्थापित हो सका है। गाधी जी ने घोपणा की कि "मै ईश्वर का दर्शन—साक्षात्कार करना चाहता हूँ— सामने-सामने देखना चाहता हूँ। ईश्वर सत्य है। ईश्वर को जानने के लिये अहिंसा ही मेरा साधन है। मै भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये जी रहा हूँ और उसी के लिये मर जाऊँगा। भारत की स्वतन्त्रता सत्य का अग है। केवल स्वतन्त्र भारत ही सत्स्वरूप परमात्मा

की उपासना कर सकता हूँ। मेरा जीवन ईश्वर-विश्वासी और प्रार्थना-मय है। यदि मेरे शरीर के टुकडे-टुकडे हो जायँ, तो भी मेरा विश्वास है कि मुझे ईश्वर यह स्वीकार करने की शक्ति देंगे कि वे हैं।" देश का दौरा करने के वाद वे इस निश्चय पर पहुँचे कि सारे धर्म सत्य हैं। वे मेरे लिये उतने ही प्रिय हैं जितना हिन्दू धर्म प्रिय है। सम्वत् १९८५ वि मे वे सावरमती आश्रम में निवास कर मौन के अभय राज्य मे सत्य की साधना करने लगे। महात्मा गाधी ने वडे विवेक और सावधानी से काम लिया। उन्हे सदा इसी वात का ध्यान रहता था कि ऐसा न हो कोई कदम गलत उठ जाय। गाधी जी ने उत्तर प्रदेश का दौरा आरम्भ किया। उन्होंने वृन्दावन, गोवर्धन आदि स्थानों का भी निरीक्षण किया। वे गोवर्धन में गायो की दुरवस्था देख कर वहुत चिंतित हुए। उन्होने कहा कि गोवर्धन के ब्राह्मणों की दशा अत्यन्त चिन्तनीय है। वे मगन-से दीख पडते हैं। प्राचीन काल मे व्रज के ब्राह्मणो ने भगवान कृष्ण का सहवास प्राप्त किया था, उन्होंने प्रत्यक्ष भगवान का दर्शन किया था और लोगो को भगवद्दर्शन का रहस्य वताया था। वे धर्मज्ञ थे। अध्यात्मज्ञान-दान के वदले में लोग उनकी जीविका की व्यवस्था करने में गौरव का अनुभव करते थे। वे मानवता के सच्चे सेवक थे। गोवर्धन में आज उनका सर्वथा अभाव दीख पडता है।' गाधी जी ने अपने परिभ्रमण से लोगो को सद्ज्ञान और ईश्वर-विश्वास तथा सद्धर्म के मर्म से समुत्थित—जागृत किया। पाप और अत्याचार की शक्ति को पराजित करने के लिये सचेत किया।

गाधी जीने १९८७ वि (२६ जनवरी, १९३० ई को) पूर्ण स्वराज्य की माग की। गाधीजी ने अठहत्तर साथियो के साथ दाण्डी-यात्रा आरभ की नमक-कानून के विरोध में। यह उनकी स्वराज्य-प्राप्ति के लिये एक पवित्र तीर्थ-यात्रा थी। उन्होने कहा कि जव तक मुझे स्वराज्य की प्राप्ति नही होगी मैं आश्रम में नही आ सकता। उनके पीछे-पीछे लाखो व्यक्ति चल रहे थे। वे नियम से नित्य दस मील पैदल चल कर दाण्डी की ओर वढ रहे थे, उन्होंने कहा कि अमरनाथ और वद्रीनाथ की ही यात्रा की तरह दाण्डी-यात्रा मेरे लिये पवित्र और महत्वपूर्ण है। समुद्रतट पर दाण्डी एक ग्राम था, आश्रम से दो सौ मील की दूरी पर था। दाण्डी पहुँचने पर नगे फकीर ने समुद्र में अपने अनुयायियो के साथ स्नान किया। वाहर निकल कर हाथ में नमक का एक टुकडा लिया। घोषणा की कि प्रत्येक भारत वासी अपनी सुविधा के अनुसार नमक

वनाकर उसे काम मे ला सकता हैं। उन्होने निकटवर्ती गावो में घूम-घूम कर नमक-कानून के विरोध के लिये जनता को प्रोत्साहित किया। गाधी जी पकड लिये गये। अधिकारियो को जनता का भय था। उन्होने आधी रात को गाधीजी को पकडा। कुछ दिनो के वाद भारत के तत्कालीन वाइसराय ने गाधी जी और उनके अनुयायियो को मुक्त कर दिया। कारागार से बाहर आने पर गोलमेज परिषद में सम्मिलित होने के लिये गाधी जी ने लन्दन जाना स्वीकार कर लिया। लन्दन में भारतीय सत का दर्शन कर लोगो को विश्वास हो गया कि गाधी के रूप में साक्षात् ईसा का ही आगमन हुआ हैं। घर-घर में प्रसन्नता की लहर दौड गयी। नगे फकीरके रूप मे लगोटी धारण कर वादशाह जार्ज पाचवे से वकिंघम राजमहल मे मिलने गये। वादशाह ने कहा कि आप उस समय बहुत अच्छे थे जव चौदह साल पहले अफ्रिका-आगमन के अवसर पर मुझ से भेंट की थी। गावीजी मौन थे। सम्राट ने कहा कि राजपुत्र के भारत गमन के अवसर पर आप ने उनके स्वागत का विरोध क्यो किया? महात्मा गाधी ने वडी-निर्भीकता से उत्तर दिया कि मैंने राजपुत्र नही – ब्रिटिश शासन के प्रतिनिधि के स्वागत का विरोध किया था। सम्राट ने कहा कि भारत मे राज्य के विरोध में किसी भी प्रकार का विद्रोह फलने-फूलने नही दिया जा सकता है, राज्य चलाने के लिये उसे कुचलना ही पडेगा। महात्मा गाधी ने उत्तर दिया कि सम्राट को इस सम्वन्ध में वात-चीत चलाने की आशा मुझसे नही रखनी चाहिये।

गाधी जी की लोकप्रियता इगलैंड में वढती गयी। इगलैंड-निवास काल में एक व्यक्ति ने कहलवाया कि मुझे गठिया है, इस लिये मैं नही मिल सकता। गावी जी स्वय मिलने गये। सेट एन्ड्रूज अस्पताल में एक अन्धा आदमी था। उसने गावी जी से मिलने की उत्सुकता प्रकट की। दो दिन वाद अस्पताल के लोग सवेरे-सवेरे नये अतिथि-गावीजी के आगमन से आश्चर्यचकित हो गये। अन्वे व्यक्ति ने उनसे वात की।

गोलमेज परिपद समाप्त हो गयी। गाधी जी इटली गये। मुसोलिनी ने उनके प्रति यथेष्ट समान प्रदर्शित किया। मुसोलिनी ने पूछा कि आप मेरी फासिस्ट नीति के सम्वन्व में क्या विचार रखते हैं? महात्मा जी ने कहा कि आप ताश का महल वना रहे हैं। गाधी जी भारत आये। वे वर्धा आश्रम मे रहने लगे। हरिजन और दरिद्रनारायण की सेवा का व्रत लिया।

उन्होंने हरिजनो के लिये रुपया एकत्र करना आरम्भ किया। एक समय एक दिहाती लडकी ने गाधी के हाथो में फूल का गुच्छा रखा। महत्मा जी ने कहा 'अगूठी क्यो नही देती ?' लडकी ने हरिजन-सहायता के लिये अगूठी उतारी। महात्मा जी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा 'ठीक है, ठीक है, इसे अपने ही पास रखो। माता-पिता पूछेंगे।' लडकी उदास हो गयी। महात्मा जी ने उसका मन रखने के लिये हरिजन-सहायता-कोप मे उसकी अगूठी स्वीकार कर ली। महात्मा जी दक्षिण भारत का दौडा कर रहे थे। सम्वत् १९८१ वि मे वडे जोर का भूकम्प आया। बिहार का अधिकाश ध्वस्त हो गया। महात्मा जी भूकम्पपीडितो की सहायता करने के लिये बिहार गये। उन्होंने सन्देश दिया कि ईश्वर को डरने वाले और उनके द्वारा सृजित प्राणियो की सेवा करनेवाले ही पवित्र आत्मा हैं। उन्होंने आसाम और उडीसा के दौरे का कार्यक्रम समाप्त कर दिया। उन्होंने काग्रेस मे सक्रिय भाग लेना बन्द कर दिया और ग्रामोत्थान तथा उद्योग-धन्धो के विकास की ओर ध्यान दिया। वर्धा आकर वे रचनात्मक कार्य में लग गये। वे वर्धा की मगन वाडी से उसी जनपद के सेगॉव मे आकर ग्रामीणो के मध्य मे झोपडी वना कर रहने लगे तथा दीन-दुखियो, असहायो और बीमारो की सेवा में लग गये। इस प्रकार क्रियात्मक रूप से वे ग्रामोन्नयन में प्रवृत हुए। व्यक्तिगत उदाहरणो के द्वारा उन्होंने ग्रामीणो को प्राकृतिक चिकित्सा आदि की शिक्षा दी। एक समय सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद और जवाहर लाल उनसे मिलने सेगाव-आश्रम गये। गाधी जी किसी रोगी की चिकित्सा मे इस तरह व्यस्त थे कि उन्होंने उनकी ओर ध्यान ही नही दिया। सरदार पटेल ने कहा कि यदि आप के पास समय न हो तो हम लोग जा सकते है। गाधी जी ने मुसकराते हुए कहा कि रोगियो की सख्या बढ जाने पर उन्हे सम्हालना कठिन हो जाता है। पण्डित जवाहरलाल ने कहा कि क्या यह प्रयत्न वादशाह कैनूट द्वारा समुद्र की लहरो को रोकने के समान नही है ? महात्मा जी ने हँस कर उत्तर दिया कि यही कारण है कि हम लोगो ने तुम्हे वादशाह कैनूट के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है कि तुम और लोगो की अपेक्षा इस कार्य को ठीक ढग से कर सको।

हिटलर ने योरप में युद्धघोपणा की। ब्रिटेन ने विना भारतीयो कीसम्मति के ही भारत को अपने युद्धप्रयत्न का अग घोषित किया। गाधी जी ने विज्ञप्ति प्रकाशित की कि स्मरण रहे कि यदि सविनय अवज्ञा आरम्भ होती है तो इसे

पहले की अपेक्षा कही अधिक अहिंसक और विनियमित रूप प्रदान करना होगा, दुनिया के युद्ध में तत्पर देशो को दिखलाना होगा कि भारत ऐसा महादेश अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये अहिंसक सग्राम लड सकता है।

ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध-प्रयत्न में भारत का शोषण करने लगी। महात्माजी ने वाक् स्वतन्त्रता और लेखनी के स्वत्व पर जोर दिया। उन्होने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। विनोबा भावे पहले सत्याग्रही थे। उनके पकडे जाने पर जवाहर लाल का क्रम था पर सरकार ने उनको पहले ही कारागार में डाल दिया। गाधी जी ने कुछ दिनो तक वारडोली में सरदार पटेल के आश्रम में विश्राम किया। इसी समय चागकाई सेक सपत्नीक भारत आये। कलकत्ता में गाधी जी से मिल कर उन्होने आशीर्वाद प्राप्त किया। उनको धनुप तकली पर काम करते देख कर मैडम च्याग ने गाधी जी से कहा कि इसे मुझे सिखाना होगा। गाधी जी ने वडी प्रसन्नता से कहा कि 'तुम सेवाग्राम आओ, चागकाई शेक तुम्हे अपना राजदूत बनाकर मेरे आश्रम में भेज दें और मै तुम्हें अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार कर लूगा।'

जापान ने रगून पर अधिकार कर लिया। वह भारत के समुद्रतट पर आना ही चाहता था कि महात्मा जी ने घोपणा की कि 'हमें डट कर अहिसात्मक ढग से सामना करना होगा।' सम्वत् १९९९ वि के वैशाख मास में इगलैड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने क्रिप्स-मिशन भेजा। गाधी जी इस मिशन से तनिक भी प्रभावित नही हुए। क्रिप्स असफल होकर इगलैंड लौट गये। अमेरीकी पत्रकार लुई फिशर ने सेवाग्राम में गाधी जी से भेंट की। युद्ध की गतिविधि पर उनसे वाते की। गाधी जी ने काग्रेस की अहिसक विरोध-पद्धति पर प्रकाश डाला।

गाधी जी ने वम्वई में 'भारत छोडो' प्रस्ताव रखा और सरकार को भारत छोड कर चले जाने की खुली चुनौती दी। गाधी जी पकड लिये गये। वे कस्तूरवा और महादेव के साथ पूना के आगाखान-महल में भेज दिये गये। काग्रेस कार्यसमिति के सदस्य अहमदनगर के किले में वन्द कर दिये गये। भारतीय जनता ने स्वतन्त्रता घोपित कर दी, विद्रोह की भीपण आग प्रज्वलित हो उठी।

आगाखान-महल में एक सप्ताह के निवास के वाद गाधी जी के निजी सचिव महादेव देसाई ने परलोक की यात्रा की। गाधीजी इस असामयिक

घटना से वहुत दुखी हुए। उनके 'महादेव-महादेव' करुण उद्गार ने महल को प्रकम्पित कर दिया। उन्होने अपने हाथ से उनके शव को स्नान कराया, उस पर चन्दन छिडक कर श्वेत वस्त्र में आवेष्टित कर दिया। फूल रखे। कहा, 'महादेव मैं समझता था कि यह तुम मेरे लिये करोगे। पर मुझे ही करना पड रहा हैं।' थोडी देर मे शव को वाहर ले जाने के लिये सरकारी लारी आयी। तपस्वी गाधी ने कहा कि यह असम्भव है, मै अपने पुत्र का शव अपरिचितो को नही दे सकता। यदि अन्त्येष्टि-क्रिया के लिये अधिकारी मुझे वाहर नही जाने देंगे तो मै महादेव भाई का दाहसस्कार इसी महल में करूँगा। अधिकारियो को नत होना पडा। एक हाथ में दण्डा और दूसरे में आग लेकर महात्मा जी महल के वाहर निकल पडे और अत्यन्त करुण और निर्जन तथा नीरव वातावरण में अपने हाथ से उन्होने महादेव देसाई की अन्त्येष्टि सम्पन्न की। ठीक छ माह के वाद (२२ फरवरी सन् १९४३ ई) कस्तूरवा ने स्वर्ग प्राप्त किया। गाधी जी के हृदय को कस्तूरवा की मृत्यु से वडा धक्का लगा। वे जलती लाश के सामने कडी धूप मे छ घण्टे तक दण्डे के सहारे खडे रह गये। शाम होते ही एक पेड के नीचे वैठ कर महातमा जी ने कहा कि कस्तूरवा के विना मेरा जीवन शून्य हो गया, उसका कोई अर्थ ही नही है।

सम्वत् २००१ वि में सरकारने गाधीजी को मुक्त कर दिया। वे पूना के निकट पचगिनी की पहाडी पर विश्राम करने चले गये। इधर समझौते का प्रयत्न चलता रहा। जापान की पराजय के वाद युद्ध समाप्त हो गया। इगलैंड में चर्चिल का मन्त्रि-मण्डल समाप्त हो गया। चुनाव में मजदूर दल की विजय के परिणाम स्वरूप मजदूर सरकार स्थापित हुई। सरकार ने भारत छोडने की घोपणा कर दी और समझौते के कदम आगे वढाये। वगाल के पूर्वी भाग की वहुसख्यक जनता उन्मत्त हो उठी। उसने अल्पसख्यको पर मन माना अत्याचार किया, नोआखाली आदि जनपदो में दानवता ने अवला के वक्षस्थलो, शिशुओ के मस्तको और वुढ्ढो के कटि-प्रदेश को रक्त से रग दिया, मानवता सिहर उठी, इतिहास सहम उठा। महात्मा जी ने वगाल की यात्रा की। गाधी जी ने जाते समय दिल्ली में घोपणा की कि मै नही जानता हूँ कि कव लौटना होगा। ईश्वर मानवजाति के उद्धार के लिये पूर्वी वगाल मे मेरी उपस्थिति आवश्यक समझते हैं। वगाल की तरह विहार प्रतिहिंसा की भावना से उन्मत्त हो उठा।

गाधी जी ने पूर्व बगाल में प्रवेश किया। उनकी उपस्थिति से अल्प-सख्यको का प्राण हरा हो गया। चारो ओर रामनाम की ध्वनि से वातावरण ने निर्भयता और आश्वासन का अनुभव किया। वे सतहत्तर साल की अवस्था में भी अठारह घटे परिश्रम करते थे, किसी न किसी ध्वस्त क्षेत्र में पैदल चल कर या नाव से यात्रा कर वे लोगो को सत्य का बल प्रदान करते थे। मन्दिरो में उनके आगमन से घटियो का बजना आरम्भ हो गया। महात्मा जी ने उत्पीडित व्यक्तियो से कहा कि मै आप लोगो के मध्य मे रहने आया हूँ, जब तक पूर्ण शान्ति नही स्थापित हो जायेगी, मै इस प्रदेश को नही छोड सकता। वे हाथ में एक लम्बा-सा बॉस का डण्डा लेकर यात्रा कर रहे थे। चॉदपुर के निकट भटियालपुर ग्राम में गाधी जी ने एक परिवार में पहुँचकर उसके मन्दिर में कुलदेवता राधा-कृष्ण की पुनर्प्रतिष्ठा की। शिरण्डी ग्राम में पहुँच कर उन्होने अनशन करने वाली कुमारी अमतुस सलाम को उपवास करने से रोका, गाधीजी के आदेश से उन्होने उपवास-भग कर दिया। गाधी जी ने कहा कि पूरा-पक्का मुसलमान तो वह है जिसके हाथ और वाणी से मानवता सुरक्षित रहती है। गाधी पूर्व बगाल से बिहार गये। अग्रेजी सरकार ने सम्वत् २००४ वि में (१५ अगस्त, सन् १९४७ ई को) भारत छोड दिया। देश दो राष्ट्रो में विभक्त हो गया। पाकिस्तान का निर्माण हुआ। गाधीजी का सम्पूर्ण जीवन स्वराज्य--रामराज्य की स्थापना के प्रयत्न का प्रतीक कहा जा सकता है। उन्होने आजीवन स्वराज्य-आत्मराज्य के लिये सघर्ष किया। उन्होने मानवीय चेतना को सत्य--ईश्वर से परिव्याप्त किया। सत्य, शान्ति, अहिंसा और प्रेम की ज्योति में उन्होने लोक-कल्याण का विधान किया।

गाधीजी ने अपने स्वराज्य-सिद्धान्त की परिपुष्टि में घोषणा की कि तात्विक दृष्टि से सत्य और अहिंसा द्वारा प्राप्त पूर्ण स्वराज्य का अर्थ है राष्ट्र के प्रत्येक अग की स्वतन्त्रता। गाधीवाद ईश्वर की प्रार्थना को मानव का सबसे बडा सहारा समझता है, उसका विश्वास है कि प्रार्थना का आश्रय प्राप्त करने पर जीव बडे-से-बडे माया-जाल और सकट से मुक्ति पा जाता है। गाधीवाद कर्म-सन्यास नही, कर्म योग का प्रतिपादन करता है। समस्त कर्मों को भगवान के चरणो पर—अदृश्य सत्ता की यज्ञ वेदी पर समर्पित करने को सबसे बडा पुण्य मानता है। बापू ने--गाधी जी ने विश्व को जो दर्शन दिया वह पूर्ण सत्य है, अखण्ड, दिव्य और सनातन है, उससे आत्मोन्नति होती है, अनात्मा का

अस्तित्व मिटता है। वीसवी शताब्दी के भारत में परम भागवत महात्मा गाधीने सत्य नारायण का राम रूप में आवाहन किया, उनकी समझ में यह वात अच्छी तरह आ गयी कि विना राम की सहायता के देश में स्वराज्य या राम राज्य की स्थापना ही नही की जा सकती है। उन्होने अपने युग की मानवता से स्पष्ट शब्दो में कहा कि विना रामराज्य के अवतरण के जनता सुखी, शान्त और सतुष्ट नही हो सकती है। जनता-जनार्दन की सेवा को उन्होने वडा महत्व प्रदान किया। उनके रामराज्य का प्रधान अग जन-सेवा में निहित है। गौतम वुद्ध अपने समय के सवसे वडे मानव थे। महात्मा गाधी अपने समय के सवसे वडे आदमी थे। दोनो असत्य और मृत्यु पर विजयी थे। एक ने शान्ति प्राप्ति के लिये वैराग्य अपनाया, दूसरे ने जनसेवा अपनायी। गाधी जी अमीर-गरीव सवके प्रिय थे। रवीन्द्रनाथ की यह वाणी उनके लिये अमर है

'गाधी महाराज तोमार शिष्य
कोउ वा धनी, कोउ वा नि स्व।'

गाधी-साहित्य लोककल्याण को ही स्वराज्य मानता है। आत्मा की सत्यस्थिति ही सर्वोदय है – गाधीजी की ऐसी मान्यता थी।

गाधीजी अपने भगवद्विश्वास-रामभक्ति में हिमालय थे। गाधी जी ने कहा कि मेरी वुद्धि और हृदय ने वहुत पहले ही अनुभव कर लिया कि भगवान का सर्वोतम नाम सत्य है। मै 'राम' नाम से सत्य पहिचानता हूँ। गाधी जी भगवद्गीता और रामचरित मानस में वडी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने स्वीकार किया कि मेरे लिये तो गीता ही ससार के सव धर्म ग्रन्थो की कुजी हो गयी। उनमें जो रहस्य भरे हुए हैं, उन सव को मेरे लिये खोल कर रख देती है।

सन्त-साहित्य के क्षेत्र में महात्मा गाधी को कवीर का अभिनव सस्करण स्वीकार किया जा सकता है। गाधीजी ने कहा कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है, प्रेम है, परम मगल है। उनके सन्तमत ने घोषणा की कि हम ओठो से असत्य, कडुवे वचन न निकाले, ईश्वर का नाम जपें, ईश्वर की लीला देखें सत्य के दर्शन के ये ही उपाय हैं। सावु-जीवन से ही आत्मशाति की प्राप्ति सम्भव है। गाधी जी समन्वयवादी थे, उन्होंने अखण्ड, आनादि, नित्य सत्य की उपासना की। जापान के एक व्यक्ति द्वारा उपहार रूप में दिया गया मिट्टी का खिलौना उनके लिये एक नवीन ससार ही था। उस खिलौने के तीन वन्दर

उनके शिक्षा-गुरु थे। आँख बन्द रखने वाले बन्दर ने यह शिक्षा दी कि किसी की बुराई मत देखो। न देखने योग्य वस्तु मत देखो, जो कुछ भी देखो, पवित्र भावना से देखो। कान बन्द रखने वाले बन्दर का यह सकेत था कि किसी की निंदा न सुनो। अच्छी बाते और भगवान का गुण गान सुनो। तीसरे बन्दर का यह सकेत था कि जो कुछ भी बोलो, सत्य और प्रिय बोलो। गाधीजी ने इन बातो को अपने जीवन में उतारा।

अपने जीवन के अन्तिम समय में गाधी जी दिल्ली में थे। उनकी उक्ति थी कि आकाश से गोले भी क्यो न बरसाये जाये और कैसा भी उपद्रव क्यो न हो, ईश्वर भजन के समय हमारी शान्ति भग नही होनी चाहिये। मृत्यु उपस्थित होने पर गाधी जी ने इस सत्य कथन को अपने जीवन में चरितार्थ किया। सम्वत् २००५ वि (सन् १९४८ ई की तीस जनवरी) में उन्होने महा प्रयाण किया। गाधी जी ने अन्तिम दिन कहा 'अपने आवश्यक पत्रो का उत्तर आज मुझे दे देना चाहिये। कल मै रहूँ या न रहूँ।' चार बजे सायकाल बिडला भवन में सरदार पटेल उनसे मिलने आये। पाच बजे के लगभग गाधी जी प्रार्थना-सभा में जा रहे थे, वे अपनी पौत्रियो—मनु और आभा के कन्धो पर हाथ रख कर प्रार्थना करने जा रहे थे, नाथूराम विनायक गोडसे के रूप में मृत्यु ने चरण-धूलि लेने के बहाने विनत होकर गोली चलायी। गाधीजी के कपडे खून से भीज गये। उन्होने सदा के लिये आँख मूदते समय 'हे राम' उच्चारण किया। हाहाकार मच गया। थोडी देर के बाद जवाहर लाल आये। वे एक बच्चे की तरह सिसक-सिसक कर रोने लगे। उन्होने विश्व को महात्मा गाधी की महाप्रयाण-सूचना दी, 'प्रकाश हमारे जीवन से निकल गया, नही नही, यह गलत बात है, वह प्रकाश जो इस देश में प्रदीप्त हो उठा था, साधारण प्रकाश नही था। यह प्रकाश तो सहस्रो वर्ष तक चमकता रहेगा और विश्व उसका दर्शन करता रहेगा। वह प्रकाश तो शाश्वत सत्य का प्रतीक था।' गाधीजी के महा प्रस्थान से समस्त प्रकृति रो उठी। देश-देश के केतनो ने नत होकर अभिवादन किया, भारत की महान आत्मा के प्रति आदर प्रकट किया। दूसरे दिन अत्यन्त राजकीय ढग से भारतीय जनता ने जवाहर लाल की स्वाधीन सरकार के सरक्षण मे उनकी अन्त्येष्टि क्रिया विधिपूर्वक सम्पन्न की। अन्तिम सस्कार में दिल्ली ने अपना खजाना खोल दिया। बापू का दाह-सस्कार समस्त भारत ने किया। दिल्ली की सडके चलते-फिरते स्मारक है, कालिन्दी की नीली लहरे हमारी वेदना की

गवाह है। दिल्ली में यमुना के तट पर स्थित उनकी महासमाधि असख्य समय तक मृत्यु को चुनौती देती-सी खडी रहेगी।

महात्मा गाधी का सबसे बडा धर्म भगवद्भजन था। जीवन के अन्तिम श्वास में भी वे अपने राम को नही भूल सके। वे अमर हैं।

रचना

आत्मकथा, गीतामाता आदि उनकी अमर कृति है।'हरिजन' पत्र मे उनके समय-समय के उद्गार भरे-पडे हैं। बीसवी शती के साहित्य के प्राणाधार थे।

वाणी

ईश्वर से सासारिक सुख या दूसरी स्वार्थसिद्धि की वस्तु मागना प्रार्थना नही है। प्रार्थना दु ख से व्याकुल आत्मा का गम्भीर नाद है। जब किसी महान पीडा से व्यक्ति या जाति व्याकुल हो उठती है तब उस पीडा का शुद्ध ज्ञान ही प्रार्थना है।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा है– हरि का मार्ग है। उसमें कायरता को स्थान नही है। पराजय नाम की कोई वस्तु नही है। वह तो मर कर जीने का मन्त्र है।

सत्य के पुजारी का रस अनन्त होता है। सत्य नारायण की झाँकी के लिये वह अपने आप को कभी बूढा नही मानता है। जो प्रत्येक काम ईश्वर (सत्य) के ही प्रीत्यर्थ करता है, सर्वत्र सत्य का ही दर्शन करता है उसके लिये बुढापा विघ्न रूप नही होता है। सत्यार्थी अपने ध्येय के अन्वेषण के लिये अजर है, अमर है।

हमारा शरीर महामन्दिर है। हम उसमें बाहर से कोई मैल न भरे।
ईश्वर के साथ युक्त होने का नाम योग है।

यदि ईश्वर नही हैं, हम भी नही हो सकते। इस लिये हम सब एक आवाज से–अनेक और अनन्त नामो से पुकारते हैं। वे एक हैं, अनेक हैं, अणु से छोटे

और हिमालय से भी बडे है। समुद्र के एक विन्दु मे भी समा जा सकते है, और इतने भारी हैं कि सात समुद्र मिल कर भी उन्हे सहन नही कर सकते। ईश्वर का अस्तित्व मानने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी श्रद्धा बुद्धि से इतनी अधिक आगे दौडती है कि समस्त ससार का विरोध होने पर भी मै यही कहूँगा कि ईश्वर हैं, वे है ही।

जो व्यक्ति राम-नाम जप कर अपनी आत्मा को पवित्र बना लेता है है वह बाहरी अपवित्रताका सहन नही कर सकता है। यदि लाखो-करोडो लोग सच्चे हृदय से राम-नाम जपे, विश्व में राम-राज्य स्थापित हो जाय।

अहिसा के बिना सत्य की खोज असम्भव है। अहिसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत है जैसे सिक्के के दोनो रूख या चिकनी चकती के दो पहलू ओतप्रोत हैं। उसमें क्या उलटा है, क्या सीधा है? तथापि अहिंसा साधन और सत्य साध्य मानना चाहिये।

हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा सत्य और अहिसा पर निर्भर है और इसी कारण हिन्दू धर्म किसी धर्म का विरोधी नही हो सकता है। हिन्दू धर्मी की नित्य प्रदक्षिणा यह होनी चाहिये कि जगत के सर्वप्रतिष्ठित धर्मो की उन्नति हो और उसके द्वारा सारे ससार की।

महायोगी अरविन्द

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस. परमुच्यते।
ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वह ब्रह्म ज्योतियों की भी ज्योति और माया से अति परे कहा जाता है तथा वह बोधस्वरूप और जानने के योग्य है तथा तत्वज्ञान से प्राप्त होने वाला और सबके हृदय में स्थित है।

—श्रीमद्भगवद्गीता १३।१७

अरविंद महायोगी थे। वे हठयोगी, राजयोगी और लययोगी—सब कुछ एक ही साथ थे। विक्रमीय बीसवी शती के अध्यात्म-चिन्तको में यौगिक साधना के क्षेत्र में वे अग्रगण्य थे। महर्षि रमण ने आत्मवाद का आश्रय लिया, महात्मा गाधी ने सत्य के रामरूप का चिंतन किया तो अरविंद ने अन्तरात्मा के शाश्वत प्रकाश में, भागवत ज्योति में जागतिक अन्धकार का विनाश कर चराचर को अपने दिव्यीकरण-सिद्धान्त के सरक्षण में आत्मयोग प्रदान किया।

उन्होने दिव्य क्रान्ति उपस्थित की। उन्होने भारत को आत्मचेतना दी। राजनैतिक दासता—पराधीनता की हथकडी-बेडी में जकडे असख्य प्राणियो को दिव्य जीवन प्रदान किया। उन्होने स्वराज्य का दिव्यीकरण किया। उन्होने कहा कि आत्मा अनश्वर है, उसकी शक्ति अपार और अचिन्त्य है, उस पर वाह्य शत्रु का वश नही चल सकता है। अरविंद आत्मदार्शनिक थे, उनके आत्मदर्शन का राजप्रासाद भगवद् भक्ति और शास्त्र के सद्सिद्धान्त की नीव पर स्थित स्वीकार किया जा सकता है। उन्होने अपनी योगसाधना की सिद्धि भगवद्भक्ति—भागवती शक्ति के अवतरण में प्रतिष्ठित की। उनके योग का लक्ष्य केवल देहात्म भाव से ऊपर उठना और आत्मा अथवा परमात्मानुभूति ही नही था, वे तो मन, बुद्धि, प्राण और जीवन में परमात्म-ज्योति भर कर जड और पार्थिव प्रकृति को दिव्यता, चेतनता—अपार्थिवता प्रदान करना चाहते थे, रूपान्तर अथवा दिव्यीकरण उपस्थित करना चाहते थे। उन्होने

जीवन को सच्चिदानन्द परमात्मा की समस्त दिव्य शक्ति से सम्पन्न करने की चेष्टा की। वे इस मौलिक, अद्‌भुत, अपूर्व और अमित पवित्र कार्य में अधिकाधिक सफल रहे। उन्होने परमात्मा की पूर्णता की अनुभूति से विश्व की अध्यात्म-चेतना प्राणान्वित की। वे विदेशी और स्वदेशी भाषाओ सस्कृत, बगाली, ग्रीक, इटाली, फ्रेंच, अग्रेजी आदि के पण्डित थे। उन्होने पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक विचारधाराओ का यौगिक स्तर से समन्वय किया। उन्होने जीवन-क्रान्ति का दान किया। वे एकता, प्रेम, अमरता, चेतनता के शाश्वत गायक थे, परमात्म-तत्व के विशेषज्ञ थे।

महायोगी अरविंद का जीवन-चरित्र लिखना कठिन काम है, उनका आचरण साधना के क्षेत्र में समग्ररूप से अन्तर्मुखी था। बाह्य आचरण का अकन तो हो सकता है पर भीतरी प्रवृत्तियो को चित्रित करना भगवान और अरविंद की कृपा से ही सम्भव है। अरविंद की एक स्थल पर उक्ति है 'अपने विगत जीवन की घटनाओ के सबन्ध में—उन्हे सच्चा स्वरूप प्रदान करते हुए तथा अर्थ देते हुए केवल मैं ही बोल सकता हूँ। मेरे जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी न तुम जानते हो, न कोई और जानता है, यह उपरितल पर नही रहा है कि मनुष्य इसे देख सके।' अरविंद का जीवन-चरित्र रहस्यपूर्ण है।

महायोगी अरविंद ने कलकत्ते के एक सुशिक्षित बगाली परिवार मे सम्वत् १९२९ वि (सन् १८७२ ई, १५ अगस्त) में जन्म लिया था। उनके पिता सिविल सर्जन थे। वे अग्रेजी शिक्षा-दीक्षा से वहुत प्रभावित थे। सात साल तक अरविंद देश में रहे। उसके वाद उनके पिता ने अरविंद की शिक्षा-दीक्षा का प्रवन्ध इगलैड में किया। वे अपने वडे भाई के साथ इगलैड भेजे गये। मानचेस्टर के एक अग्रेज परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ। पिता ने अग्रेज परिवार को अच्छी तरह सावधान कर दिया था कि अरविंद के जीवन के किसी भी अग पर भारतीय वातावरण का रग न चढ़ने पाये। अरविंद ने प्राथमिक शिक्षा सेट पाल विद्यालय लन्दन में प्राप्त की। वे वडे प्रतिभाशाली छात्र थे। अठारह साल की अवस्था में उत्तम श्रेणी की छात्र-वृत्ति प्राप्त कर कैम्ब्रिज के किंग्स विद्यालय में प्रवेश किया। उन्होने आई सी एस की परीक्षा दी, उत्तीर्ण हुए पर घोडसवारी में असफल हो गये। वे भगवान की कृपा से योगी वनने वाले थे, आई सी एस का पद उनका स्पर्श ही किस प्रकार करता? अरविंद ने इगलैंड-निवास काल में स्वदेश प्रेम का सपना देखा। उन्होने युवा-

वस्था में ही लन्दन में कमल-कटार-'लूटश एण्ड डैगर' सस्था की स्थापना की। उनके मन में क्रान्तिपूर्ण विचारो का उदय होने लग गया था। उन्हे अनुभव हो रहा था कि जगत में एक वहुत वडी क्रान्ति उपस्थित होने वाली है और उसमें उनका भाग लेना दैव निर्दिष्ट है। इगलैंड निवासकाल में उन्होने कई एक विदेशी भापाओ का ज्ञान प्राप्त किया। उनमें एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति विशेष रूप से कार्यशील थी। इगलैंड में वडौदा नरेश सयाजी राव गायकवाड से उनका परिचय हुआ। वडौदा नरेश उनकी प्रतिभा और योग्यता से प्रभावित हुए। इक्कीस साल की अवस्था में अरविद भारत आये।

अरविंद ने वडौदा राज्य के भूमि-व्यवस्था-विभाग में कार्य करना आरम्भ किया, महाराजा वडौदा के व्यक्तिगत कार्य-सम्पादन में भी सहायता देने लगे। वडौदा कालेज के उप-प्रधान आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने वडौदा-निवास-काल में सस्कृत और वगला का अध्ययन किया। वे हसस्वरूप स्वामी तथा सद्गुरु ब्रह्मानन्द के सम्पर्क में आये। सम्वत् १९६२ वि में वग-भग-आन्दोलन छिडने पर उन्होने वडौदा छोड दिया। वे कलकत्ता आये, स्वदेशी आन्दोलन तथा क्रान्तिपूर्ण योजनाओ में सक्रिय भाग लिया। वगाल नेशनल कालेज के प्रधानाचार्य नियुक्त हुए। स्वदेशी-आन्दोलन को अरविंद ने आध्यात्मिक रूप प्रदान करना चाहा। स्वदेशी-आन्दोलन उनके राजनैतिक जीवन का पहला अध्याय था। स्वराज्य की माँग को उन्होने वल दिया। सम्वत् १९६७ वि तक वे राजनीति मे सक्रिय भाग लेते रहे। उन्होने क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन चलाने के लिये 'वन्दे मातरम्' पत्र का सम्पादन किया। उन्होने अंग्रेजी में 'कर्मयोगी' और वगला में 'धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले। कई वार उन्हे कारागार भोगना पडा। पर वे अपने पवित्र उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे। यह कहना नितान्त समीचीन है कि विक्रमीय वीसवी शताव्दी में अरविन्द ने पहले पहल राजनैतिक आन्दोलन को अध्यात्म से सम्पन्न किया। उन्होने राजनीति में अध्यात्मका शिलान्यास किया और महात्मा गाधी ने राजप्रासाद प्रस्तुत किया। धीरे-धीरे अरविन्द की चिर जागृत अध्यात्मचेतना ने राजनीतिक प्रवृत्ति से आगे प्रगति की। वे एकान्त सेवन और योगमय-जीवन का वरण करने के लिये उत्सुक हो उठे। उन्होने १९६७ वि में सक्रिय राजनीति से हाथ खीच लिया और आत्मयोग की ओर अग्रसर हुए, अलीपुर पडयन्त्र में वे काल-कोठरी में वन्द कर दिये गये। इस समय भगवान की कृपा से जेल के अवि-

कारियो ने उन्हें नित्य कालकोठरी के सामने घण्टे-आध घण्टे टहलने की अनुमति दे दी। वे पेड के नीचे टहला करते थे। एक दिन उनके नयनो ने पेड के स्थान पर साक्षात् वासुदेव कृष्ण की उपस्थिति का दर्शन किया। कारागार में, कैदियो मे, कण-कण में भीतर-वाहर उन्हे श्रीकृष्ण ही दीख पडने लगे। न्यायालय मे भी उन्हे अपने प्रेमास्पद का दर्शन हुआ। वे योगसाधना के लिये निकल पडे। उन्होने पाण्डीचेरी को अपनी योग-साधना और तप का क्षेत्र चुना। पाण्डीचेरी में योग-साधना में प्रवेश करने के पहले भी वे योगाभ्यास किया करते थे। उन्होने पहले बिना किसी गुरु की ही सहायता के योग-साधना अपनायी। पाण्डीचेरी आगमन के दो साल पहले वे मराठी योगी विष्णु भास्कर के सम्पर्क में आये और उनके पथ-दर्शन ने उन्हे पूर्ण भगवद्‌विश्वास प्रदान किया। पाण्डीचेरी आश्रम मे माता-फ्रेंच योगिनी के आगमन ने उनकी आध्यात्मिक साधना को वडा बल दिया। दोनो एक दूसरे के दिव्य आध्यात्मिक सम्पर्क से वहुत प्रभावित हुए। अरविंद ने अपनी योग-साधना में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता तथा उपनिपदो का असाधारण महत्व स्वीकार किया है। पाण्डीचेरी का योगाश्रम उनकी साधना और आध्यात्मिक साहित्य-निर्माण का भौम प्रतीक है। उन्होने चार साल तक कठिन योगाभ्यास किया, एकान्त ही उनका साथी था। उन्होने 'आर्य' नामक तत्वज्ञानविषयक पत्र निकाला। धीरे-धीरे पाण्डीचेरी आश्रम में साधको और अनुयायियो की सख्या बढने लगी। भगवत्सम्वध और आत्मानुभव प्राप्त करने के लिये उन्होने महान प्रयत्न किया। वे जड जीवन में परमात्मा की चेतनसत्ता उतारने में तत्पर हुए—आत्मशक्ति, आत्मज्योति और आत्मानन्द का आवाहन ही उनकी साधना की सिद्धि का प्रतीक हो उठा। वे मन, वुद्धि, प्राण और शरीर के दिव्यीकरण में लग गये। उन्होने अपने सम्पर्क मे आनेवाले साधको को आत्मध्यान की सीख दी। योगी अरविंद के निवास से पाण्डीचेरी का वातावरण तपोमय, शान्त और परम पवित्र हो चला। अरविंद आध्यात्मिक क्रान्ति के स्रष्टा थे। अरविंद की आश्रम के सम्वन्व में महत्वपूर्ण स्वीकृति है—यह आश्रम दूसरे आश्रमो के समान नही है। यहा कोई भी सन्यासी नही है। सन्यासी वन कर यहा कोई रहता भी नहीं है। यहाँ का सारा लक्ष्य ही दूसरी तरह का है। अरविद के तपोमय जीवन ने स्वीकार किया कि आश्रम का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति नही है, इसमें रहने वाले साधक अपने आप भौतिक चेतना और योगशक्ति के समन्वय-पथ पर ले

चलने का अभ्यास करते है। धीरे-धीरे अनुयायियो की सख्या वढ गयी और आध्यात्मिक जीवन के पवित्र सौन्दर्य से सम्पन्न आश्रम योग-साधना का महत्वपूर्ण केन्द्र वन गया।

पाण्डीचेरी-आश्रम में श्रीमाता की उपस्थिति ने अरविंद के आध्यात्मिक कार्य को असाधारण ढग से आगे वढाया। उनका महत्व स्वीकार करते हुए अरविंद ने उनके सहयोग पर प्रकाश डाला है कि श्रीमाता और मै–दोनो एक हैं, अभिन्न है। आश्रम मे वे ही मव कुछ हैं। निस्सन्देह दोनो का सम्पर्क अध्यात्म के दिव्यतम तत्व और चिन्मय शक्ति का समन्वय-प्रतीक कहा जा सकता है। श्रीमाता अध्यात्म की देवी है, अरविंद अध्यात्म के शिव थे।

अरविन्द की साधना-पद्धति में उच्चतम अध्यात्म यह है कि जीवन पूर्णरूप से भागवत हो जाय, भगवद्ज्योति से भर जाय। ससार के प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति साधना मे वाधक सिद्ध होती है, जीवमात्र–सचराचर के प्रति मन मे निरन्तर सेवा– दयाभाव रख कर भगवद्चिंतन और आत्मबोध की ओर वढते रहना ही जीवन का श्रेय है। साधक का सम्पूर्ण प्रेम भगवान में केन्द्रित हो जाय, साधक जीवन का यही सवसे वडा और अन्तिम लक्ष्य है। अरविंद ने स्वीकार किया कि चित्त की शुद्धि और भगवत्-शक्ति का अवतरण दोनो का काम एक साथ चलता है। दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढता के साथ दोनो एक दूसरे का आलिंगन करते है–साधना का यही सामान्य क्रम है। अरविन्द ने योगाभ्यास को साधना का अभिप्राय वताया। उन्होंने कहा कि साधना का फल पाने के लिये तथा निम्न प्रकृति पर विजय पाने के लिये अपनी सकल्प-शक्ति को एकाग्र करना ही तपस्या है। भगवान की पूजा करना, उनसे प्रेम करना, उन्हे आत्म समर्पण करना, पाने की अभीप्सा करना, उनका नाम जपना, प्रार्थना करना आराधना है। समाधिस्थ होकर चेतना एकाग्र करना ध्यान है। अरविन्द ने तपस्या, आरावना और ध्यान–साधना के अगो को पाण्डीचेरी आश्रम के तपोमय जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ कर दिया।

अपने सिद्धान्त और लक्ष्य की व्याख्या में अरविंद ने एक स्थल पर कहा है कि हमारा लक्ष्य है परम सत्ता भगवान की प्राप्ति, उनकी चैतन्य शक्ति द्वारा प्रत्येक वात का अनुभव करना और व्यावहारिक प्रयोग में उसे नीचे उतारना जिससे इस महाशक्ति के स्पर्श से समस्त आधार शुद्ध होकर दिव्य बन जाय। ऐसा होने पर ही जड जगत में गुप्त चैतन्य-प्रस्फुटन किया जा सकता है और

सदा के लिये इसमें स्वर्ग की स्थापना की जा सकती है। अरविन्द ने विश्व को परमसत्ता-भगवत्ता का विश्वास दिलाया कि भगवान शुद्ध और असीम सत्ता है, वे स्वय सम्पूर्ण रूप से अपने अधिकार में हैं, सत् है भागवत ज्ञान सत्य का ज्ञान होता हैं, भागवत इच्छाशक्ति सत्य की शक्ति होती है भगवान की अनन्तता विश्वगत नही– विश्वातीत है। जीव द्वारा भगवच्चैतन्य की क्रमश प्राप्ति को ही अरविन्द ने दिव्यीकरण-सज्ञा प्रदान की। अरविंद ने स्पष्ट कहा कि योग का उद्देश्य है भगवान की सत्ता और चेतना में प्रवेश करना, उनके द्वारा अधिकृत होना, भगवान के लिये भगवान से प्रेम करना, अपनी प्रकृति में भगवान की प्रकृति के साथ समस्वर होना। सकल्प, कर्म तथा जीवन में भगवान का यन्त्र बनना।

अरविंद परम आस्तिक मानव थे। उनकी आस्तिकता ने श्रीभगवद्गीता तथा औपनिपद ब्रह्म-दर्शन के प्रकाश मे परा तत्व और अपरा प्रकृति का समन्वय किया। अरविंद ने कहा कि भगवान पुरुषोत्तम में अपने समस्त जीवन को ऊपर उठा ले जाना, उन्ही मे निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतना में अपनी चेतना को एक कर देना अपने विचार और इन्द्रियो को सम्पूर्ण रूप से भागवत ज्ञान द्वारा अनुप्राणित करना उन्ही के प्रेमानन्द में अपनी वासना को खो देना ही मनुष्य की पूर्णता है, गीता ने इसी को गुह्यतम रहस्य कहा है। अरविंद के चिंतन के अनुसार गीता मानव कर्म नहीं–दिव्य कर्म का प्रतिपादन करती है। आध्यात्मिक कर्मों का सबसे महान दिव्य सत्य जो आज तक मानव जाति के लिये प्रकट किया गया है अथवा कर्मयोग की पूर्णतम पद्धति जो अतीत में मनुष्य को विदित थी–भगवद्गीता में उपलब्ध है।

मनुष्य के पार्थिक जीवन के दिव्यीकरण की इच्छा के साथ मिलने के लिये विज्ञान का नीचे उतरना ही अरविंद के योगाभ्यास का लक्ष्य स्वीकार किया जा सकता है–और उनका यही लक्ष्य था ही। योगविद्या अरविन्द की अमूल्य देन है, उन्होने अत्यन्त मौलिक ढग से योग-समन्वय पर प्रकाश डाला। अरविंद की योग विद्या का दूसरा नाम 'पूर्णयोग' है। उन्होने 'पूर्णयोग' को कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और आत्मसिद्धि का आधार-प्रतीक माना। अरविंद ने कहा कि पूर्ण योग का परम शास्त्र वह सनातन वेद है जो प्रत्येक विचारशील मनुष्य के हृदय में गुप्त रूप से निहित है। योग का अर्थ है परमात्मा के साथ सयोग–विश्व के परे जो परमतत्व है उसके साथ सयोग या

विश्वात्मा के साथ सयोग या व्यष्टि गत जो आत्मा है उसके साथ सयोग–तीनो के साथ सयोग। अथवा इसका अर्थ एक ऐसी चेतना की प्राप्ति है जिसमे पुरुष अपने शुद्ध अहकार, व्यष्टिगत मन, बुद्धि, प्राण और शरीर से बधा नही रहता है–परमात्मा के साथ–विश्वात्म चैतन्य के साथ या किसी अन्त स्थित गूढातिगूढ चैतन्य में एकत्व को प्राप्त होता है जिसमें वह अपने स्वरूप को जान लेता है, अन्त स्थित आत्मा को तथा जीवन के वास्तविक तत्व को पहिचान लेता है।

योगी अरविंद ने दिव्यीकरण-माध्यम से अपरा प्रकृति के रूपान्तरण का सन्देश दिया। उन्होने मनुष्य में विज्ञान सत्ता–अतिमानस के आविर्भाव की ओर सकेत किया और वतलाया कि विना इसके मानव जीवन का दिव्यीकरण–दिव्य रूपान्तर सम्भव नही है। अरविंद की दिव्यीकरण-परम्परा की स्वीकृति है कि भागवत रूप और मानवरूप में भगवान का अवतार होता है। भगवान मानव-प्रकृति को ओढ लेते हैं, उसकी सारी वाह्य सीमाओ को अपना लेते है। उसे अपने दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का पात्र वना लेते है। भगवान के आने का आन्तरिक फल उन लोगो को प्राप्त होता है जो भगवान की इस क्रिया से दिव्य जन्म और दिव्य कर्म के वास्तविक मर्म को जान लेते है और अपनी चेतना में भगवन्मय होकर सदा भगवदाश्रित होकर रहते है और अपने ज्ञान की तप-शक्ति से पवित्र होकर, अपरा प्रकृति से मुक्त होकर भगवत्स्वरूप और स्वभाव को प्राप्त होते है। अरविंद ने पूर्ण भगवदाश्रय की शिक्षा दी। उन्होने वतलाया कि दिव्य कर्म आत्मा से उद्‌भूत होते है और केवल आत्मा के ही प्रकाश मे पहिचाने जा सकते है।

अरविंद आध्यात्मिक क्रान्ति के सफल स्रष्टा थे। उनकी आध्यात्मिक क्रान्ति के मूल में भगवदाश्रय, दिव्यीकरण और पूर्ण योग का निवास है, इन्ही तीनो के सहारे उन्होने अपरा प्रकृति को पूर्ण भागवत चैतन्य से–चेतना से भर देने का—रूपान्तरित कर देने का वीडा उठाया था। उन्होने कर्म को दिव्य रूप प्रदान करने की चेष्टा की, विश्व के समस्त सघर्षों में भगवान की दिव्यलीला की अनुभूति का वर देना ही उनके योग का लक्ष्य था।

महायोगी अरविंद मानवता के अमर दिव्य दूत थे, उन्होनें विश्व को शाश्वत आत्मचैतन्य–सम्पूर्णदिव्य ज्ञान और भागवत प्रेम प्रदान किया। उन्होने अपने जन्म-दिवस पन्द्रह अगस्त को भारतीय राष्ट्र का स्वराज्य दर्शन

किया, पन्द्रह अगस्त उनके जन्म और कर्म की दिव्यता की अमर तिथि है। महासमाधि के तीनसाल पहले पन्द्रह अगस्त की शुभतिथि को उनके कर्म की दिव्यता की मानवता ने सहज अनुभूति की। अरविन्द ने उद्गार प्रकट किया, "मेरी जन्मतिथि होने के नाते मेरे तथा मेरे अनुयायियो के लिये पन्द्रह अगस्त स्मरणीय रहता आया है और स्वतन्त्र भारत की जन्मतिथि होने के नाते अव मेरे लिये उसका महत्व और भी बढ गया है।'

अरविंद के प्रति हृदय मे श्रद्धा-जागृति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। मानव का यह परम सौभाग्य कहा जा सकता है कि उसकी श्रद्धा महायोगी अरविंद के चरण में समर्पित हो जाय। पाण्डीचेरी आश्रम की श्रीमाता जी की उक्ति है कि कितना सुदर होता है वह दिन जब मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति श्री अरविंद को समर्पित कर पाता है। अरविंद योग-मानव थे, योगमय थे, वे भगवत्चेतना के विशिष्टतम योगरूप थे—श्रद्धा और भक्ति की भाषा में ऐसा कहना समीचीन ही लगता है। अरविंद का योग अमर है, अरविंद की भागवत चेतना अविनश्वर है।

सम्वत् २००७ वि में (सन् १९५० ई में ५ दिसम्बर को आधीरात के वाद लगभग डेढ़ वजे) अरविन्द महासमाधि में योगस्थ हो गये। उनका शरीर विकृत नही हुआ। एक सो ग्यारह घण्टे के बाद नव दिसम्बर को हजारो की उपस्थिति मे उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया साधारण विधि से सम्पन्न हुई। वे अध्यात्म-साम्राज्य के योगी सम्राट थे। जीवन के अन्तिम दिनो में उन्होने अपनी महती काव्यकृति सावित्री समाप्त कर दी। पाण्डीचेरी आश्रम में स्तिथ उनकी महासमाधि पर अकित शव्द है—हमारे देवता की भौम समाधि, हम आपको अपनी अनन्त कृतज्ञता अर्पित करते है। आप के सामने, जिन्होने हमारे लिये इतना किया, जिन्होने हमारे लिये कर्म, सघर्ष, तपस्या और आशा तथा सहनशीलता का निर्वाह किया, जिन्होने हमारे लिये समस्त सकल्प-सम्पादन, प्रयत्न, प्रस्तुति और समस्त उपलब्धि का व्रतअनुष्ठान किया, हम नतमस्तक होते है और विनम्र निवेदन करते है कि एक क्षण के लिये भी हम आपकी अनुगृहीति का विस्मरण न करे।' पाण्डीचेरी आश्रम की परम अधिष्ठात्री शक्ति श्रीमाता की यह श्रद्धाञ्जलि समस्त भारत और विश्व की विश्वात्मा महायोगी अरविन्द के प्रति प्रणति की प्रतीक है। भगवान करे यह वाणी शाश्वत, दिव्य, और अमिट, अक्षर तथा सर्वदा और सर्वदा आनन्दमयी हो।

रचना

दिव्य जीवन, इस जगत की पहेली, योगसमन्वय, योग प्रदीप, सावित्री, माता, गीताप्रवन्ध आदि अरविन्द की अमर कृति हैं।

वाणी

सदात्मा के दो रूप हैं—एक आत्मा और दूसरा अन्तरात्मा अथवा हृत्पुरुष जिसे हम चैतन्यपुरुष भी कहते हैं। सदात्मा की अनुभूति इनमें से किसी एक रूप मे अथवा इन दोनो ही रूपो में हो सकती है। इन दोनो अनुभूतियो में अन्तर यही है कि आत्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त प्रतीत होता है और अन्तरात्मा व्यक्ति विशेष के मन, प्राण और शरीर को धारण करने वाले व्यष्टि पुरुष के रूप में प्रतीत होता है।

विज्ञान सच्चिदानन्द और अपरा सृष्टि के मध्य में है। इस विज्ञान में ही भगवच्चैतन्य का स्वसकल्पात्मक सत्य निहित है और इसलिये सत्सृष्टि के लिये यह आवश्यक है।

सच्चिदानन्द की अनुभूति मन, प्राण और शरीर के सम्वन्ध से अवश्य ही हो सकती है पर यह अनुभूति एक प्रकार की अविचल स्थिति है जिसकी प्राप्ति अपरा प्रकृति को धारण तो करती है पर उसे दिव्य स्वरूप नही प्राप्त कराती। अपरा प्रकृति को रूपान्तरित कर दिव्य वनाने की शक्ति केवल विज्ञान मे ही है।

राधा अनन्य भगवत्प्रेम की प्रतिमा है—ऐसा अनन्य भगवत्प्रेम—जो प्रेम के ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक सत्ता से लेकर शरीर तक सर्वांग में परिपूर्ण और अखण्ड हो, जिसमें निरपेक्ष आत्मदान और पूर्ण समर्पण हो और शरीर तथा अत्यन्त जड प्रकृति में परमानद भर जाय।

सव प्रकार की आसक्ति साधना में वाधक है। सवके कल्याण की कामना, सव के लिए अन्तरात्मा की दया का होना तो ठीक है पर किसी प्रकार की प्राणगत आसक्ति नही होनी चाहिये।

साधक का प्रेम भगवान के लिये होना चाहिये। जव यह भगवत्प्रेम पूर्ण होता है तभी वह दूसरो से भी यथार्थ रूप से प्रेम कर सकता है।

आत्मसमर्पण किसी विशिष्ट कर्म के करने पर निर्भर नही है, उस भाव पर निर्भर है जिससे कोई भी कर्म किया जाता है, वह कर्म, चाहे, किसी भी

प्रकार का हो। जो कर्म श्री भगवान को समर्पित करने के लिये कुशलता और सावधानी के साथ, वासना तथा अहकार से रहित होकर, समबुद्धि से तथा इष्टानिष्ठ उपपत्ति में स्थिर शान्ति के साथ भगवान के लिये ही किया जाता है वैयक्तिक लाभ या पुरस्कार या फल के लिये नही—इस बुद्धि से किया जाता है कि कर्ममात्र ही भागवत शक्ति है—वही कर्म के द्वारा आत्मसर्पण का साधन होता है।

शरणागति पूर्ण और वास्तविक होनी चाहिये, शेष सब कुछ ठीक-ठीक होता रहेगा।

स्वामी रामतीर्थ

'स्वामी रामतीर्थ के जीवन में हमें भारतवर्ष की आध्यात्मिकता के सर्वोच्च सिद्धान्तो की झलक दीख पडती है और उनकी आत्मा में सार्वभौम आत्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब था जिन्हें वे अनुभव कर रहे थे।'

—*लाला हरदयाल*

स्वामी रामकृष्ण परमहस की ही तरह एक अल्हड, निर्भीक सन्त न पञ्जाब प्रान्त के गुजरान वाला जिले के मुरालीवाला नामक गाव में (२२ अक्टूबर सन् १८७३ ई) सम्वत् १९३० वि में जन्म लिया था। उनके बचपन का नाम तीर्थराम था और सन्यास का नाम रामतीर्थ था। सन्यास-आश्रम में पैर रख कर वे दुनिया से उलटे हो गये, उनका नाम उलटा हो गया, नाम बदल गया। यदि विचारपूर्ण दृष्टि से उनके जीवन का अध्ययन किया जाय तो ऐसा लगता है कि वे प्रसिद्ध मध्यकालीन वेदान्ती महात्मा मधुसूदन सरस्वती के अभिनव सस्करण थे। जिस तरह मधुसुदन ने आत्मदर्शन के गहरे तत्व की छान-बीन कर भगवान के सगुण रूप के सौन्दर्य पर चकित होकर 'कृष्णात् पर किमपि तत्वमह न जाने' की घोषणा कर दी उसी तरह स्वामी रामतीर्थ ऐसे आत्मतत्ववेत्ता सागर की ओर बहने वाली भगवती रावी के पवित्र तट पर टहलते समय आकाश में काली-काली घनघोर घटा देख कर समाधिस्थ हो उठे 'हे कृष्ण, हे घनश्याम, श्याम रग का बादल आप ही का रूप है, यह मुझे आकुल कर रहा है।' अचानक उनके 'गोलू यार' —भगवान कृष्ण ने उन्हे स्नान करते समय दर्शन दिया तथा परस्पर गाढालिंगन के बाद अदृश्य हो गये। आत्मतत्व में परमात्मतत्व का दर्शन उनके सरीखे सन्त ही किया करते हैं। रामकृष्ण के बाद मस्त सन्तो मे उन्ही का नाम लिया जाता है। वे महान् साधक, ईश्वर भक्त और तपस्वी थे। आत्मा को विश्वात्मा में मिलाने में ही उन्होंने अपनी साधना की परम प्राप्ति की, सिद्धि पायी।

स्वामी रामतीर्थ की बाल्यावस्था में ही ज्योतिषियो ने घोषणा कर दी थी कि यह बालक सासारिक सुख-दुख को लात मार कर परमानन्द के सागर में

तैरेगा। उनके पिता गोसाईं हीरानन्द स्वभाव के सीधे-सादे पर प्रकृति के क्रोधी थे। वे उन्हे अपने कठोर नियन्त्रण में रखते थे। कभी-कभी उनके साथ वे मन्दिरो में भी जाया करते थे और भगवान की पूजा-आरती देखकर उनका मन श्रद्धा और भक्ति से नाचने लगता था। नयनो में अश्रु कण आ जाते थे। वजीरावाद के पण्डित रामचन्द्र की कन्या से दस साल की ही अवस्था में उनका विवाह कर दिया गया। चौदह साल की अवस्था में गुजरानवाला हाई स्कूल से प्रथम श्रेणी में प्रवेशिका की परीक्षा पास कर पिता की असम्मति होने पर भी लाहौर के मिशन कालेज में भरती हो गये। उनका शिक्षाकाल कठोर-से-कठोर अग्नि-परीक्षा का समय था। घर से एक पैसे की भी सहायता न मिलती थी। तपोमय जीवन के फलस्वरूप वे सम्वत् १९५२ वि में गणित में एम ए हो गये। स्यालकोट में साधारण अध्यापक के पद पर काम करने लगे और बाद में लाहौर के फोरमैन क्रिश्चियन कालेज में गणित के अध्यापक-पद पर उनकी नियुक्ति हो गयी। उनके हृदय में प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति वडा अनुराग था। वे उससे आध्यात्मिक प्रगति के लिये असाधारण प्रेरणा पाते थे। उनके चरित्र-विकास पर एक अपढ देहाती भगत धन्नाराम का वडा प्रभाव पडा था। गणित के अध्यापक के पद पर काम करते-करते भी वे मन-ही-मन मौन, एकान्त ध्यान, चिंतन, गीता पाठ आदि का अभ्यास कर अपने आराध्य भगवान कृष्ण की पूजा किया करते थे। कभी-कभी तो उनकी भावुकता इस सीमा तक वढ जाती थी कि गणित का सिद्धान्त भूल कर वे विद्यार्थियो को 'कृष्ण-कृष्ण' पढाने लगते थे। श्यामपट पर उनका चित्र उतारने लगते थे।

उन्होने लाहौर मे ही अपने निवास-स्थान पर एक अद्वैतामृतवर्षिणी सभा की स्थापना की। उसमें साधु-सन्त ही सम्मिलित होते थे। स्वामी राम तीर्थ की आत्मसाधना ने शीघ्र ही उन्हे वैराग्य और भक्ति के आगन में ला-खडा किया। कृष्ण-चिंतन ने आत्मदर्शन की जिज्ञासा का रूप ले लिया। विवेकानन्द का उन्होने लाहौर में दर्शन किया, उनके भाषण का रामतीर्थ के जीवन पर इतना प्रभाव पडा कि वे वेदान्त और सन्यास मे अधिकाधिक रुचि रखने लगे। उन्होने जागतिक बन्धन तोड दिये, पूर्ण रूप से आत्मा के आनन्दमय सरस राज्य मे स्वतन्त्र हो गये। सच्चिदानन्द परमात्मा की स्वरूप-निष्ठा ने उनके मन पर पूरा-पूरा आधिपत्य स्थापित कर लिया।

सनातन धर्म सभा के प्रसिद्ध उपदेशक दीनदयाल शर्मा के साथ उन्होने, व्रज प्रयाग और काशी की यात्रा भी की। उन्होने हरिद्वार आदि स्थानो में पर्यटन किया और गगोत्तरी की विकट यात्रा का भी सकल्प किया। कॉटो और झाडियो से विद्ध शरीर से खून भले ही निकले पर पहाड पर चढने का निश्चय छोडना तो असम्भव ही था। उन्होने एक स्थल पर गगा को अपना शरीर अर्पण करना चाहा पर भगवती हिमकन्या ने उन्हे फूल की तरह एक चट्टान पर उछाल दिया। उनका ज्ञानचक्षु खुल गया। अद्वैतानुभूति की सिद्धि हो गयी। 'तत्त्वमसि' के पूर्ण प्रकाश ने उनका आलिगन कर लिया। इस यात्रा से लौटने पर उनके सासारिक वधन और भी शिथिल हो गये। ओरियटल कालेज में केवल दो घण्टे पढाने लगे। लाहौर से अलिफ नाम का एक आध्यात्मिक विचार-धारा का पत्र भी उन्होने निकाला। धीरे-धीरे निवृत्ति के पथ पर अग्रसर होकर उन्होने सन्यास ले लिया। हिमालय प्रदेश की फिर यात्रा की। अचानक मार्ग में ही धर्मपत्नी आदि का साथ छोड कर टेहरी पडाव से नगे पैर-नगे सिर चल पडे। गगा के पवित्र तट पर निर्जनता और नीरवता को साक्षी वना कर विधि-पूर्वक यज्ञोपवीत उतार कर अठ्ठाइस साल की अवस्था में तीर्थराम से रामतीर्थ हो गये।

स्वामी रामतीर्थ ने विवेकानन्द और दयानन्द सरस्वती की तरह समग्र देश को आध्यात्मिक जागरण का सन्देश दिया। देश और विदेश में भारतीय सस्कृति के धार्मिक और आध्यात्मिक स्वरूप का इतिहास समझाकर अपने जीवन का उद्देश्य सार्थक और सफल कर लिया। हिमालय के अचल से मैदान में उतर कर उन्होने मथुरा, फैजावाद, लखनऊ, आदि की यात्रा कर वेदान्त पर महत्वपूर्ण भाषण दिया। उसके वाद टेहरी नरेश कीर्तिशाह की सहायता से वे विश्वधर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये जापान गये। पर किसी भी तरह का तत्सम्वन्धी आयोजन न देख कर उन्होने कहा, 'वाह, वाह, यह भी खूब रहा। राम तो स्वय ही एक जीता-जागता विश्व-धर्म-सम्मेलन है। वह तो अपना सम्मेलन करेगा ही चाहे टोकियो करे या न करे। . उसके वाद प्रशान्त महासागर को पार कर वे शीघ्र ही सेनफ्रासिस्को में उतर पडे। सेनफ्रासिस्को में पहुँचने पर वे जहाज के डेक पर वार-वार आने जाने लगे। यात्री अपने सामान लेकर उतर पडे पर राम निश्चिन्त होकर आने जाने में ही समलग्न थे। उनके दर्शन और स्पर्श में वडा आकर्षण था, जो देखता था वही

उनके वश में हो जाता था। उनकी मुसकान और सौन्दर्यगरिमा बडी मनोमोहक थी। एक अमेरीकी ने रामतीर्थ से पूछा कि आपका सामान कहाँ है। स्वामीजी ने कहा कि मेरे शरीर पर जो कुछ भी है वही मेरा सामान है। मैं अपने पास रूपया-पैसा कुछ भी नही रखता। प्यास लगने पर कोई पानी पिला देता है तो भूख लगने पर कोई रोटी खिला देता है। अमेरीकी उनकी बात से आश्चर्य चकित हो गया, पूछा कि क्या अमेरीका में भी ऐसा परिचित है। स्वामी राम ने शीतल मुसकान बिखेरते हुए तथा उसके कन्धे का अपने कोमल हाथ से स्पर्श करते हुए कहा कि हाँ, है, अवश्य है और वह परिचित व्यक्ति तुम हो। अमेरीकी उसी क्षण से उनका ही हो गया। उस अमेरीकी ने स्वामी रामतीर्थ के सम्बन्ध में एक स्थल पर उद्‌गार प्रकट किया है कि स्वामी जी, हिमालय की गुफाओ से उदय होने वाले ज्ञान-सूर्य के समान है, न उनको अग्नि जला सकती है, न अस्त्र-शस्त्र काट सकते है। आनन्द के अश्रु सदा उनके नेत्रो से झलकते रहते हैं। उनकी उपस्थिति मात्र से हमें नव जीवन मिलता है। वे दो साल तक अमेरीका में रहे। जनता ने ईसा मसीह की ही तरह उनकी पूजा की। समाचार-पत्रो ने उनका फोटो छाप कर वडा प्रचार किया कि अमेरीका में जीवित ईसा मसीह ही उतर पडे है। अमेरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति ने भारतीय सन्यासी के चरणो पर नत होकर अपना जीवन धन्य कर लिया। अनेक नास्तिक और जड-वादी वात-की-वात में आस्तिक बन गये।

अमेरीका में स्वामी रामतीर्थ की निजी मन्त्री मिसटायलर थी। स्वामी राम को न्यूयार्क जाना था। टायलर उन्हे 'ग्रेट पैसफिक रेल रोड' के व्यवस्थापक के पास ले गयी और न्यूयार्क के लिये रियायती टिकट देने की प्रार्थना की। व्यवस्थापक राम को देखते ही उनके रूप-लावण्य से आकृष्ट हो गया और कहा कि मै स्वामी जी को 'पुलमैन' कार यो ही दे देता हूँ। स्वामी जी की मुसकान में जादू है।

अमेरीका -निवास काल में एक वार उनसे एक अभिनेत्री मिलने आयी। उसने शरीर पर कीमती-से-कीमती कपडे पहने थे, इत्र की सुगन्ध चारो ओर फैल रही थी, वह देखने में वडी सुदरी थी। उसने स्वामी राम से एकान्त में मिलने की प्रार्थना की, स्वीकृति मिल गयी। उसने करूण स्वर से उनके पैरो पर गिर कर कहा कि महाराज मै ससार के पाप-ताप से जल रही हूँ, मुझे अपने हृदय से वडी घृणा है, मेरा उद्धार कीजिये। स्वामी राम ने उसको सान्त्वना दी।

अमेरीका में स्वामी राम का जीवन पूर्ण तपोमय था। जब वे शास्ता स्प्रिगस में ठहरे हुए थे तब एक साधारण मजदूर की तरह कडा-से-कडा श्रम करते थे। पर्वत पर से लकडी काट कर अपने आतिथेय के घर में एकत्र करते थे। स्वामी रामतीर्थ ने अमेरीका, जापान तथा मिश्र आदि देशो की जनता को सत्य, शान्ति और प्रेम का सन्देश दिया, उन्हे आत्मचेतना प्रदान की। विदेश से भारत लौटकर उन्होने स्वदेशभक्ति और सद्ज्ञान के आलोक में अपना सन्देश भारतीयो को सुना कर विदेशी आधिपत्य और सरकार को चुनौती दी। उन्होने अपनी अल्हड मस्ती में घूम-घूम कर वेदान्त की सरप भाषा में कहा 'मैं ही भारत वर्ष हूँ, मै ही भारत हूँ। यह भारत भूमि ही मेरा शरीर है। कुमारी अन्तरीप मेरा चरण है। हिमालय मेरा मुकुट है। कटितट में कोपीन की तरह विंध्याचल की मेखला है। पूर्वी और पश्चिमी घाट मेरी दो भुजाये है। जब मैं चलता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि सारा भारत ही चल रहा है। बोलता हूँ तो ऐसा लगता है कि सारा भारत ही बोल रहा है। मैं भारत हूँ, शिव हूँ, शकर हूँ। यही देशभक्ति की सबसे ऊँची भूमिका है। यही व्यावहारिक वेदान्त है।' स्वामी रामतीर्थ का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होने देश को प्रोत्साहन दिया कि भारतीयो, अपनी दिवगत आत्माओको सुख पहुँचाने के लिये जिस प्रकार श्राद्ध करते है उसी तरह भारत माता को स्वतन्त्र करने के लिये अपने स्वार्थों की बलि दे दीजिये।

जीवन के अन्तिम दिनो मे वे सिमलसू में टेंहरी नरेश के चन्द्रभवन में रहते थे। वे नित्य गगा-स्नान को जाया करते थे। सम्वत् १९६३ वि की दीपावली को उन्होने गगा को अपना शरीर सौप दिया। बादशाहो के बादशाह रामतीर्थ आचार्य शकर की ही तरह तैंतीस साल की अवस्था में आत्मलीन हो गये। वे महान सन्त थे।

रचना

उन्होने भावावेश में समय-समय पर वेदान्तपरक पद लिखे। अगणित उपदेश दिये। रामतीर्थ प्रतिष्ठान लखनऊ से उनके उपदेश आदि प्रकाशित हैं।

वाणी

सत्य की प्राप्ति के लिये, धर्म के रास्ते पर चलने के लिये सारे अनुराग त्याग दीजिये। सासारिक कामनाओ और आसक्तियो से ऊपर उठिये। यदि

लौकिक आसक्तियो और स्वार्थमयी इच्छाओ से आप अपने को स्वतत्र-मुक्त कर लीजिये तो फिर सत्य-प्राप्ति की बात ही क्या है ? आप स्वय इसी क्षण सत्य है।

इस क्षुद्र अह को अनन्त सागर में डुबो दीजिये और प्रभु-प्रसाद से आप जीवन, प्रकाश और प्रेम में सच्चिदानन्द से एकता के अनुभव में जाग उठेंगे। तत्क्षण ही आप के भीतर से सुखदायक और वीरतापूर्ण कार्यों के रूप में परम कल्याणमय प्रवाह फूट निकलेगा यही विद्या है, यही पुण्य है। यही है ईश्वर-प्रेरित जीवन और यही है आप का जन्मसिद्ध अधिकार।

परमेश्वर की दृष्टि में सब समान है, परमेश्वर ने सबको बनाया है। यदि हम परमेश्वर को प्रसन्न करना चाहते है तो हमें प्राणीमात्र से प्रेम करना चाहिये।

अपने सत्स्वरूप, अपने ईश्वरत्व में स्थित रहिये। दूसरो की निंदा तथा दूसरो पर दोषारोपण करने वालो पर दया कीजिये। अपने को अपमानित और पददलित कभी मत समझिये। अपने ऐश्वर्य की प्रतीति कीजिये, अपने दिव्य स्वरूप में निष्ठा रखिये, अन्यथा सब अज्ञान है, सब कुछ अधकार है। आप के अन्त कारण का अज्ञान ही आप के लिये ससार को नरक बना देता है। इस अन्धकार को दूर करने के लिये आप ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ भी करेगे उससे काम नही सरेगा।

मृत्यु यह नही पूछती है कि आप के पास क्या है पर यह पूछती है कि आप हैं क्या ? जीवन का प्रश्न यह नही है कि मेरे पास क्या है अपितु यह है कि मै हूँ क्या ?

सत्य ही भलाई है। सत्य का अनुसरण ही भलाई करना है। सत्य आप को दृढ और स्वतन्त्र बनाता है।

सन्त उड़िया बाबा

सर्वभूतेषु य. पश्येद्भगवद्भावमात्मन.।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम॰॥

जो समस्त प्राणियो में अपना भगवत्स्वरूप देखता है और सब प्राणियो को अपने भगवत्स्वरूप में देखता है वही उत्तम भागवत है।

—श्रीमद्भागवत ११।२।४५.

उडिया बाबा उन महात्माओ में से एक थे जो बाह्य जगत के हलचलो से तनिक भी अशान्त या उद्विग्न न होकर आत्मगत सत्य के सौन्दर्य, अन्तर्जगत की शान्ति और परमात्मा की शक्ति के सहारे—कृपा के आश्रय-प्रकाश में शाश्वत और अनन्त जीवन की यात्रा पूरी करते रहते हैं। उडिया बाबा ने आत्मा के रस और परमात्मा के आनन्द की समन्वय-भूमि पर स्वरूप का साक्षात्कार किया, वे निस्सन्देह उच्चकोटि के सिद्ध सन्त थे। उन्होंने अपने दिव्य जीवन में तप, भक्ति और ज्ञान तीनो का महत्व समान रूप से स्वीकार किया। वे आत्मानन्दी भगवद् रसिक सन्त थे। उन्होंने विक्रमीय सम्वत् की बीसवी शताब्दी के वृन्दावन का अपनी उपस्थिति से तथा भक्ति और सिद्धि से अधिकाधिक शृगार कर अगणित प्राणियो को दिव्य आत्मज्ञान प्रकाश में भगवद्रस का आस्वादन कराया—यह उनकी महत्ता अथवा ऐतिहासिकता है। उडिया बाबा ने बीसवी शताब्दी के भारत को कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनो की आवश्यकता का ज्ञान कराया और उपदेश दिया कि जीवन का सयत क्रम तीनो के समन्वय से ही सतुलनात्मक कहा जा सकता है। उन्होंने कहा कि जीव ससार में भगवद्प्रेम की प्राप्ति के लिये आता है, प्रेम उसका स्वाभाविक अथवा सहज धर्म है, वह बिना प्रेम किये रह ही नही सकता है। प्रेमस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार ही भजन का लाभ है—यह उनका जगत के प्रति सन्देश था। सत उडिया का प्राकटच परम पवित्र भागवत कुल में हुआ था। लगभग पाच सौ साल पहले की बात है। चैतन्य महाप्रभु के अनन्य प्रेमी और भगवद्भक्ति

के रसिक महाराजा गजपति प्रताप रुद्र उडीसा प्रान्त के एकच्छत्र अधिपति थे। उनके कुल गुरु काशीमिश्र परम भागवत थे। काशी मिश्र का परिवार उडीसा प्रान्त मे परम पवित्र स्वीकार किया जाता था। इस परिवार के लोग सदा नगेपाव रहते थे और बैलगाडी का यात्रा में उपयोग नही करते थे। काशी मिश्र के वैष्णव कुल पर कुछ दिनो के बाद शाक्त मत का रग चढ गया। इसी वश में अभी सौ साल पहले वैद्यनाथ मिश्र का जन्म हुआ। वे बडे धर्मनिष्ठ और महान भगवद्भक्त थे। उनकी पत्नी लक्ष्मी देवी बडी सती-साध्वी थी। दोनो की उपस्थिति से घर में भगवद्भक्ति लहलहा उठी। सम्वत् १९३२ वि के भादो मास में कृष्णाष्टमी को भगवान कृष्ण का जन्मोत्सव मिश्र दम्पति धूमधाम से मना रहे थे, उसी परम पवित्र शुभ अवसर पर लक्ष्मीदेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया, उत्सव के सौन्दर्य में पुत्र-प्राप्ति से दिव्य अभिवृद्धि हो उठी। सन्त उडिया बाबा के प्राकटच की यही ऐतिहासिकता है। तीन ही दिनो के वाद उडिया बाबा की माता भक्तिमती लक्ष्मीदेवी ने स्वर्ग-यात्रा की। पिता वैद्यनाथ मिश्र ने पुत्र का नाम आर्तत्राण मिश्र रखा। उनके छोटे भाई प्रभाकर मिश्र की पत्नी ने आर्तत्राण (उडिया बाबा) का बडे प्रेम से माता के ही समान पालन-पोषण किया तथा वात्सल्यरस का आस्वादन किया। आर्तत्राण मिश्र का वाल-सौन्दर्य विलक्षण था, वे देखने में तपस्वी-से लगते थे, प्राय उनकी आँखें वन्द रहती थी, स्वभाव गम्भीर और शान्त था। लोग उनको देखते ही मुग्ध हो जाते थे और उनके स्पर्शमात्र से ब्रह्मानन्द का अनुभव करते थे। उनका वचपन नितान्त दिव्य था।

जव वे चार साल, चार मास और चार दिन के हुए, उनका उपनयन सस्कार सम्पन्न हुआ। वे वडे प्रतिभाशाली थे। एक गणक ने घर ही पर उन्हे शिक्षा देना आरम्भ किया। वे उडिया भाषा, सस्कृत और गणित में पारगत हो गये। वारह साल की अवस्था में शिक्षा-प्राप्ति के लिये वे वालेश्वर होते हुए मयूरभज आये। मयूरभज में एक सस्कृत पाठशाला थी। उसके आचार्य पद्मनाभाचार्य वैद्यनाथ मिश्र के पूर्व परिचित थे। आर्तत्राण मिश्र (उडिया वावा) ने पाठशाला में प्रवेश तो किया पर उनके मन में यह आशका वनी रहती थी कि ऐसा न हो कि आचार्य महोदय मेरे पिता को सूचित कर दें। उन्हे मयूर भज छोडना पडा। वे वाल्यावेडा चले आये। राजाकृष्णचन्द्र के विद्यालय में उन्होने अध्ययन आरम्भ किया और काव्यतीर्थ की योग्यता शीघ्र ही प्राप्त

कर ली। वाल्यावेंडा की एक घटना से उनका जीवन बदल गया, उन्होंने वैराग्य के साम्राज्य में प्रवेश किया। राजा कृष्णचन्द्र वैष्णव थे। उनके आराध्य भगवान गोपीनाथ थे। गोपीनाथ के मन्दिर में प्रत्येक वर्ष कार्तिक शुक्ल नवमी से पूर्णिमा तक उत्सव हुआ करता था। जिस समय आर्तत्राण वाल्याबेडा में उपस्थित थे उस समय उत्सव में सम्मिलित होने के लिये कलकत्ते से वाल-सगीत नाम की एक मण्डली का आगमन हुआ था। मण्डली भगवान कृष्ण की लीला कर रही थी, ब्रह्मा द्वारा गोप-वत्साहरण का प्रसग प्रस्तुत किया जा रहा था। आर्तत्राण मिश्र तल्लीन होकर ब्रह्मामोह की लीला देख रहे थे। उनके रोम-रोम में दिव्यता का सागर लहरा उठा, वे वाह्य ज्ञान से शून्य हो गये। जन्म-जन्म के दिव्य सस्कार जाग उठे, भगवत्सम्वन्ध का परिज्ञान हो गया। वे अपने निवास-स्थान पर आये। तीन दिन-तीन रात तक वे भगवल्लीला-चिंतन में लीन रहे। सात्विक भावो के राज्य में विचरते रहे। प्रकृतिस्थ होने पर हृदय ने वैराग्य के अभय पद की खोज की। सत्यान्वेपण और आत्मसाक्षात्कार के लिये वे कटिवद्ध हो गये। अध्ययन समाप्त कर वे घर आये। अदृश्य दिव्य शक्तियो में दिन-प्रति-दिन उनका विश्वास वढता गया। साधु-सन्तो की सेवा और लोकहित तथा शुभ कर्मों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हो गया। जागतिक सुख की नश्वरता तथा सम्वन्ध की अनित्यता उन्हें अपने माया-जाल से न पकड सकी। जव वे केवल उन्नीस साल के थे, उडीसा प्रान्त में भीषण अकाल पडा। लोगो को भूखे मरते देख कर आर्तत्राण मिश्र—उडिया वावा का हृदय हाहाकार कर उठा। उन्होंने सोचा कि लोगो को इस भयकर दुख से मुक्त करने का उपाय केवल एक है कि भगवती कामाख्या के मन्दिर मे मन्त्रानुष्ठान किया जाय, इससे देवी प्रसन्न होगी और लोगो का दुख दूर होगा। वे घर से एक धोती, लोटा और ग्यारह रूपये लेकर (गोहाटी) कामाख्या देवी के मन्दिर के लिये चल पडे। उन्होंने देवी के दरवाजे पर मन्त्रानुष्ठान किया। इस प्रकार उनके कोमल हृदय में लोकहित की भावना जाग उठी। देवी ने स्वप्न मे दर्शन दिया। इसी समय उन्हे पूर्णगिरि नामक एक महात्मा का सत्सग-लाभ हुआ। उनसे उन्होंने शकराचार्यकृत विवेकचूडामणि की व्याख्या सुनी। वेदान्तवेद्य ब्रह्मानन्द रस में उनका मन मग्न हो गया। कुछ दिनो तक मयूरभज में ठहर कर वे काशी चले आये। मणिकर्णिका घाट के सन्निकट एक छोटी-सी गुफा में निवास कर वे भगवद् भजन और तप करने लगे। वैराग्य का रसास्वादन

ही उनके तप का प्रधान अग वन गया। अन्नपूर्णा और विश्वनाथ का दर्शन करना ही उनके जीवन का आधार हो गया। उनकी भाषा लोग समझ नही पाते थे। उन्होने अयाचक वृत्ति से तप करना आरभ किया। तीन दिन-तीन रात तक बिना अन्न जल के ही रह गये, चौथे दिन स्नान करने निकले तो एक स्त्री ने पचामृत-पान कराया, उसके बाद उन्होने विश्वनाथ का दर्शन किया। काशी से वे वैद्यनाथ धाम आये, उन्होने सरस्वती सिद्ध करने का सकल्प किया, बाद मे विचार किया कि सरस्वती के सिद्ध होने का फल है तो पाण्डित्य की वृद्धि ही, मैने तो तत्वज्ञान के लिये, परमात्मा की प्राप्ति के लिये तप का व्रत लिया है। वे आत्मान्वेषण में लग गये। सासारिक सम्बन्ध और विषय मे उनकी अनासक्ति बढती गयी, ज्यो-ज्यो मन में वैराग्य का उदय होता गया, त्यो-त्यो ससार का नश्वर रूप सामने प्रकट होता गया।

वे गुरु की खोज में लग गये। वैद्यनाथ धाम से घर आये पर अधिक दिनो तक ठहर न सके। घर से वे पुरी आये। पुरी में गोवर्धन मठ के शकराचार्य मधुसूदन तीर्थ से दीक्षा ली, आर्तत्राण से उनका नाम चेतनानन्द हो गया। सिद्ध गुरु की खोज मे उन्होने बडपेटा की यात्रा की। बडपेटा में कालियकान्त का मन्दिर है, नगर के वाहर शिवालय है, इस पवित्र नगर में मन्दिर के ब्रह्मचारी महन्त की सेवा की। महन्त के देहावसान के बाद उन्हे मन्दिर का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। उन्हे वाक्सिद्धि प्राप्त हो गयी। लोग दूर-दूर से उनका दर्शन करने आते थे, नैष्ठिक व्रह्मचर्य से परिदीप्त मुखमण्डल की आभा से मुग्ध होकर असख्य प्राणी उनके चरणो में नत होने लगे। पर चेतनानन्द-उडिया वावा के लिये मान-सम्मान कण्टक के समान खटकने लगे। महन्त के शिष्य के लौटने पर उन्होने अपने पद का उत्तरदायित्व उसके कन्धो पर रख दिया, केवल पन्द्रह रुपये लेकर सिद्ध गुरु की खोज में निकल पडे। सारे भारत की तीर्थयात्रा का निश्चय किया पर दैवयोग से वे पुरी आये। इस समय उनकी अवस्था वत्तीस साल की थी। उन्होने गोवर्धन मठ के शकराचार्य से सन्यास-दीक्षा लेने का निश्चय किया। गोवर्धन मठाधीश्वर ने उन्हे सन्यास की दीक्षा दी और चेतनानन्द से उनका नाम पूर्णानन्द तीर्थ रख दिया। धीरे-धीरे एक सन्यासी के रूप में पूर्णानन्द तीर्थ की ख्याति वढने लगी, वे उडिया वावा के नाम से प्रसिद्ध हुए। उडिया वावा के पूर्वाश्रम की यही ऐतिहासिकता है।

पुरी से उन्होने पूर्ण तपोमय जीवन में प्रवेश करने के लिये यात्रा आरम्भ

की। उन्होंने आत्मज्ञान और सच्चिदानन्द के रसास्वादन के लिये अखण्ड त्याग का वरण कर लिया। पुरी से काशी के लिये प्रस्थान करते समय उडिया बाबा ने सन्यास का दण्ड समुद्र में फेक दिया। रेल गाडी से काशी की यात्रा की। रास्ते में एक घटनाने उनके सन्यस्त जीवन मे विशेष रूपान्तर प्रस्तुत किया। रेल गाडी सावेग काशी की ओर बढ रही थी। रात का समय था। उडिया बाबा की आँख लग गयी। वे गाडी बदल न सके। काशी के बदले छपरा पहुँच गये। टिकट-निरीक्षक ने उन्हे गाडी से उतार दिया। छपरा मे उडिया बाबा ने घाघरा मे स्नान किया और पैदल चलने का व्रत लिया, सकल्प किया कि वाहन पर कभी नही बैठूँगा। काशी पहुँचने पर उन्होने चार मील की दूरी पर कुछ सन्तो के सम्पर्क में चारमास के निवास का व्रत निवाहा, सामान नाम की उनके पास कोई वस्तु नही थी, केवल कम्बल लपेटे एक गुफा मे पडे रहते थे। गगा तट पर विचरण करते-करते वे प्रयाग गये, प्रयाग मे कुछ समय तक रह कर आगे बढने का निश्चय किया। फतहपुर पहुँचने पर शाम हो गयी थी। आसमान लाल हो गया था। सूर्य अस्त हो चुके थे। भगवती भागीरथी का जल सरस कलख उत्पन्न कर रहा था। उन्होंने शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के लिये गगामाता की गोद मे ही निवास करने का विचार किया, प्राण समर्पित करने का निश्चय किया। चादर और तूम्बा अलग रख कर गगा की स्वच्छ गोद में आत्मार्पण करने ही वाले थे कि उनका अन्तरदेश दिव्य ज्योति से भर उठा, रोम-रोम में सच्चिदानन्द की रमणीयता समा गयी। एक रहस्यमयी चेतना ने उनके मन पर प्रभाव डाला कि इस प्रकार प्राण समर्पित करने से तत्व का साक्षात्कार नही हो सकता है। थोडी दूर पर गगा-तट पर ही एक शिवालय था। उडिया बाबा ने शिवालय में प्रवेश किया। उन्हे उसमें दो परमहसो का सत्सग प्राप्त हुआ, गगा माता और भगवान शिव की कृपा-ज्योति में उन्हे आत्मज्ञान मिल गया, सच्चिदानन्द का ज्ञान हो गया। उन्हे सत्स्वरूप आत्मा की सत्ता मे परमात्मा के अभय पद का दर्शन हुआ। . . उन्होंने यात्रा का क्रम अक्षुण्ण रखा, कानपुर और बिठूर होते हुए बरुआ घाट आये, ज्ञानाश्रम नामक एक सन्यासी से सत्सग हुआ। फरूखाबाद से आगे बढने पर शाम हो गयी थी, नहर के किनारे-किनारे उडिया बाबा गगातट की यात्रा पूरी कर रहे थे। चारो ओर चाँदनी फैली हुई थी, निर्जनता का एकच्छत्र साम्राज्य फैला हुआ था। भूख से शरीर शिथिल था। दो लड़के दीख पडे।

उन्होने उडिया बाबा को अपने घर से रोटी और केले का शाक लाकर भोजन कराया। उडिया स्वामी ने मोहनपुर तथा कासगज होते हुए रामघाट और अनूप शहर के बीच के गगा तटीय प्रदेश को अपनी तपस्या का स्थान चुना। वे दस साल तप करते रहे। दिन में जगलो और झाडियो में छिप कर भगवान का भजन किया करते थे। प्रेमियो तथा भक्तो की सख्या बढती गयी। हरिबाबा से उनका सम्पर्क हुआ। महात्मा हीरादास से सत्सग हुआ। ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ, उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति बढने लगी। उन्होने गगातट का वास नही छोडा। वे ऋषिकेश और लक्ष्मण झूला गये। इस प्रकार जीवन का एक बहुत वडा भाग उन्होने भागीरथी के तट पर विचरण करते-करते तपोमय वना डाला। तप और आत्मज्ञान से समृद्ध होने पर हृदय भगवान के भक्तिराज्य में प्रवेश करने के लिये समुत्सुक हो उठा। एक वार उत्तराखण्डनिवास-काल में उन्होने विचित्र स्वप्न देखा कि वे गगा तट पर एक रेती में विश्राम कर रहे है। दोपहर का समय है। भिक्षा मागने एक नगर मे गये। वह नगर परम दिव्य है, उसमें रजत गृह हैं तथा दरवाजे सोने के है, एक दरवाजे पर उनके 'नारायण' शब्द-उच्चारण से एक देवागना सोने की थाली मे भिक्षा लेकर उपस्थित होती है, भोजन करने के लिये भीतर प्रवेश करने की प्रार्थना करती है, वे वाहर से ही भिक्षा लेकर आगे वढते है। प्रत्येक द्वार पर उन्होने दिव्यागना का दर्शन करने पर रोना आरम्भ किया है। आँख खुलने पर उन्होने देखा कि गुदडी रोते-रोते भीग गयी है। उन्होने प्रभु की माया को नमस्कार किया, सदा के लिये विदा ली और उत्तराखण्ड से नन्दनन्दन के भक्ति-साम्राज्य-वृन्दावन में प्रवेश किया। वेदान्तवेद्य रस-ब्रह्म श्रीकृष्ण के व्रजरस की अनभूति में अद्वैतानन्द का दर्शन करने के लिये उन्होने तप और ज्ञान के प्रकाश में विश्वास और श्रद्धापूर्वक भक्ति का प्रश्रय लिया, यही उनके वृन्दावन-आगमन की मौलिकता अथवा अलौकिकता है। वृन्दावन में सत रामकृष्णदास से उनकी भेट हुई। भक्तो और शिष्यो ने उडिया वावा के व्रज-निवास को अपना परम सौभाग्य समझा। समय-समय पर हरिवावा उनसे मिलने आया करते थे। दोनो का योग रस और ज्ञान का समन्वय-प्रतीक था। उडिया वावा का आश्रम भगवन्नाम-सकीर्तन और भगवान की लीला-माधुरी से सम्पन्न हो उठा। रसिको और भक्तो की भीड सदा लगी रहती थी। उडिया वावा की इस उपासना और ज्ञान-ज्योति से वृन्दावन के कण-कण में नवीन प्राण आ गया। उन्होने व्रज से प्रयाग, काशी

और अयोध्या तथा कर्णवास की यात्रा की। उसके बाद व्रज चले आये। व्रज में उनकी कृपा और भक्तो के परिश्रम से 'श्रीकृष्णाश्रम' की स्थापना हुई। उडिया वावा की उपस्थिति से रातदिन कृष्णाश्रम में भक्तिरस मूर्तिमान होकर निवास करने लगा, भगवद्‌कथा, सकीर्तन और रास-लीला से सारा वातावरण पवित्र हो उठा।

सन्त उडिया वावा शाकर मत के सन्यासी थे पर किसी अन्य सम्प्रदाय या सिद्धान्त के प्रति उनके मन मे रचमात्र भी द्वेष न था। वे सत्यतत्त्व के रसिक थे। सत्य का रसीकरण ही उनका जीवन-सिद्धान्त था। आजीवन तप, उपासना और ज्ञान के सहारे उन्होने सत्य के अनन्त रस का साक्षात्कार किया। सत्य की प्राप्ति में ही उन्होने भगवद्प्राप्ति स्वीकार की, सत्य-दर्शन ही उनके भगवच्चिन्तन का स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। भगवन्नाम में उनकी असाधारण निष्ठा थी, अटल विश्वास था। उन्होने निष्पक्ष होकर सत्य के भगवत्स्वरूप का प्रतिपादन किया। भगवान की प्राप्ति का एक मात्र उपाय सत्य ही है— ऐसी उनकी दृढ़ मान्यता ही नही जानकारी भी थी। उन्होने साधना के क्षेत्र में कहा कि जीव निर्वल है, भगवान सर्वसमर्थ हैं, सवल है, उनके प्रश्रय और भक्ति से ही जीव की निर्वलता का अन्त होता है। इसी लिये उन्ही का प्रश्रय ग्रहण करना चाहिये। उन्होने सावधान किया कि केवल भगवान को ही चाहना निष्काम भक्ति है, भगवान से अन्य वस्तु चाहना सकाम भक्ति है। भोगो की चाह सकामता है, भगवान की चाह निष्कामता है। उन्होने वताया कि मन का स्वाभाविक धर्म उपासना है, वह विना उपासना किये रह ही नही सकता है। यदि वह भगवान में नही लगता है तो कही-न-कही सासारिक वस्तु और सम्वन्ध में आसक्त रहता ही है। किसी एक की उपासना में तो वह रहता ही है, इसलिए उचित यही है कि उसे भगवान की उपासना में लगा दिया जाय। उडिया वावा ने सत्सग को साधनामय जीवन में वडा महत्व दिया। उन्होने कहा कि सत्सग करने से भगवान में प्रेम वढता है, भक्ति वढती है, रुचि भगवद्‌मयी हो जाती है। वीसवी सदी के सन्त-साहित्य में उडिया वावा का परम पवित्र दिव्य गौरव अक्षुण्ण है। उन्होने रस-भक्ति मार्ग और ज्ञानमार्ग वेदान्तमार्ग का तप के रगमच पर सरस समन्वय किया, सन्तमत के क्षेत्र में यह उनका वहुत वडा कार्य है। उन्होने अपने उपदेशो और प्रवचनो में ससार की अनित्यता समझायी। भगवद्‌भक्ति को ही श्रेयस्कर घोपित किया और कहा कि भक्ति

से अच्छा और कोई मार्ग नही है, जिसका हृदय कोमल है वही भक्ति का अधिकारी है, कठोर हृदय वाले तार्किक व्यक्ति के लिये ज्ञान मार्ग ही उपादेय है। भगवान वाञ्छाकल्पतरु है। भगवान भक्त के पीछे प्रेमवश घूमते रहते है, भक्त की इच्छा के अधीन रहते है—यह निष्काम भक्ति की महिमा है।

सन्त उडिया बाबा बडे क्षमाशील, दयालु और उदार थे। सिद्धियाँ उनके चरणो की दासी थी । कभी-कभी हरिबाबा उनसे मिलने आया करते थे। हरिबाबा के ही नाते माता आनन्दमयी से भी उडिया बाबा की भेंट होती रहती थी। सम्वत् २००४ वि की बात है। हरिबाबा ने होली का रगोत्सव बडी धूम-धाम से मनाने का निश्चय किया। अनूपशहर वाले बाँध पर आनन्दमयी भी उत्सव में सम्मिलित होने के लिये पहुँच गयी थी। पर उडिया बाबा स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण नही जा सके। हरिबाबा और आनन्दमयीने उन्हे ले जाने के लिये मोटर से वृन्दावन की यात्रा की। हरिबाबा ने उडिया बाबा से कहा कि मैं आप को मोटर से उत्सव में ले चलूगा। सन्त उडिया मौन थे। उनका सवारी पर बैठने का नियम नही था। उडिया महाराज ने प्रेम के सम्मुख रुग्णावस्था में भी नियम तोड दिया। वे रात को चुपके से बिना हरिबाबा या अन्य किसी को बताये ही मोटर से उतसव स्थल पर पहुँच गये। धूमधाम से सन्त उडिया की उपस्थिति में रगोत्सव सम्पन्न हुआ।

उत्सव से लौटने पर अस्वस्थ दशा में ही उडिया महाराज ने रासलीला मण्डली के साथ पजाब-भ्रमण की योजना बनायी। सवारी का नियम टूट चुका था इसलिये यात्रा सुगमता से पूरी हो सकी। स्थान-स्थान पर परम पवित्र रासलीला के द्वारा महाराज ने कृष्णभक्ति का प्रचार किया। वे लीलारसिक सन्त थे। वृन्दावन लौटने पर उनका स्वास्थ्य नित्यप्रति गिरता ही गया। सन्त उडिया का चैतन्य महाप्रभु की जीवनलीला के प्रति बडा अनुराग था। हरिबाबा के सान्निध्य में बडी धूमधाम से उडिया महाराज के पजाब से लौटने पर चैतन्य महाप्रभु का जन्मोत्सव मनाया गया।

सन्त उडिया बाबा ने सम्वत् २००४ वि की चैतकृष्ण चतुर्दशी को महाप्रस्थान किया। उनके ब्रह्मलीन होने की घटना अमित करुणापूर्ण है। आश्रम में बहुत दिनो से एक अर्द्ध विक्षिप्त अहीर रहता था। वह बाबा से चिढा-चिढा-सा रहता था। अन्तिम दिन सोमवार को प्रभात में बाबा ने गीता के कुछ श्लोको की व्याख्या की। दोपहर को स्नान के बाद अपने शिष्य प्रबोधा-

नन्द से कहा कि सामने वृक्ष पर गृद्ध बैठा है। ऐसा लगता है कि इस स्थान पर श्मशान बनेगा। सन्त की वाणी का रहस्य सन्त ही जानते हैं। वावाने कथा-मण्डप में प्रवेश किया। रामायण का गान हो रहा था। उडिया वावा समाधिस्थ थे। थोडी ही देर मे अर्द्ध–विक्षिप्त अहीर ठाकुरदास उस स्थल पर आ पहुँचा। उसके हाथ मे गडासा था। किसे पता था कि वह वावा के कालरूप में उपस्थित हुआ है? उसने अचानक वावा के सिर पर गडासे से प्रहार किया। वावा के प्राण निकल गये। यमुना के जल में उन्हे समाधि दी गयी। इस प्रकार सन्त उडिया के नश्वर शरीर ने अपना अवसान देखा। उडिया वावा की साधुता उच्च कोटि की थी। उन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण सत्य के प्रकाश मे विताया, उनका प्रत्येक आचरण सत्य और शास्त्रसम्मत धर्म से प्राणान्वित था, वे असाधारण महात्मा थे।

रचना

उनके अनेकानेक उपदेशो की मुद्रित पुस्तको के रूप में प्राप्ति होती है। सन्त उडिया के उपदेश और वचन आदि उनकी अमर कीर्ति के रूप मे आरक्षित है।

वाणी

महात्मा के दर्शन से पाप टल जाते हैं। यह तो साधारण फल है। मुख्य फल तो यह है कि महात्मा का दर्शन करके दर्शक महात्मा हो जाता है।

दरिद्र वही है जो विपयासक्त है और धनी वही है जिसे दुनिया की किसी भी वस्तु की इच्छा नही है। ससार के वस्तुओ की इच्छा छोड कर सव कुछ सहनेवाला ही महात्मा है—महापुरुप है।

सत्य ही भगवान है। सत्य रूप भगवान की प्राप्ति सत्यरूप साधन से ही होती है। नित्य ही सत्य है और नि स्वार्थता ही नित्यता और अहिंसा है। स्वार्थ अनित्य होता है और वही हिंसा भी है। इसका साधन एक ही है और उसी से दैंवी सम्पत्ति आ जाती है—वह यह है कि ऐसा भापण करे कि किसी का चित्त न दुखे।

भजन न करने से विपयो की प्राप्ति होगी। विपय अनित्य है इसलिये नाश होने पर उनके कारण दु ख होगा। हम अवगुणी है, दीन और दुखी है—ऐसी भावना दूर करने के लिये भजन की आवश्यकता है।

भगवान कल्पवृक्ष है। जो जिस इच्छा से उनके पास जाता है उसे वही मिलता है। जीव की स्वाभाविक चाह है कि मैं सदा सुखी रहूँ—वह जितना ही अधर्म से डरेगा उतना ही भगवत्सुख बढेगा।

भक्तो के लिये प्रारब्ध नाम की कोई वस्तु नही है। वह तो ज्ञानियो के लिये है। जिनका भगवन्नाम से सम्बन्ध हो गया उनका प्रारब्ध क्या कर सकता है?

महर्षि रमण

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वय न चेदवेदिर्महती विनष्टि ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथे तरे दु ख मेवापियन्ति ॥

हम इस शरीर में रहते हुए ही यदि उसे (आत्मा) जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गये। यदि उसे नहीं जाना तो बडी हानि है। जो उसे जान लेते हैं वे अमृत हो जाते है, यह दूसरे लोग तो दु.ख को ही प्राप्त होते है।

—बृहदारण्यक उपनिषद् ।४।४।१४

महर्षि रमण औपनिषद आत्मयोगी थे, आत्मज्ञ थे। वे अरुणाचल के दिव्य रूप थे। वे समस्त जगत के थे और समस्त जगत की आत्मचेतना—परम सत्ता उनमें अभिव्यक्त थी, परिव्याप्त थी। उन्होने माया-मोह के अन्धकार से आतकित और जड-विज्ञान से उत्पीडित शरीरी को—प्राणी को आत्मदान दिया। वे श्रद्धा और भक्ति के अरुणाचल थे, दिव्य आत्मगत सिन्दूर थे। रमण महर्षि ने आजीवन असग-अखण्ड आत्मारमण का रसास्वादन किया। सुन्दरानन्द स्वामी के शब्दो में रमण मुनिवर जीवन्मुक्त और स्वात्मनिष्ठा-धुरीण थे। दक्षिण भारत के एकान्त अरुणाचल प्रदेश में असख्य शिष्यो और प्राणियो ने उनके चरण पर नतमस्तक होकर अमित श्रद्धा प्रकट की। वे परम सिद्ध और भुक्ति-मुक्ति प्रदाता थे। योगिराज थे। वे शान्ति की मौन भाषा थे, शाश्वत और अविनश्वर आत्म-प्रतीक थे। उन्होने अपने तपोमय जीवन में सिद्ध किया कि मौन की भाषा—शान्तिमयी वाणी में जो सक्रियता और शक्ति है वह भाषणप्रवचन मे कदापि नही है। उनका आत्मदर्शन सर्वदर्शन है, उन्होने कहा कि शरीर और आत्मा के मध्य में 'अहम्' एक गाँठ है। रमणाश्रम सासारिकता के मरुस्थल का मरूद्यान है। उसमें प्रवेश करने पर प्राण शीतल, शान्त और तृप्त हो जाता है। महामहोपाध्याय महाकवि लक्ष्मण सूरि की वाणी की प्रणति है — वन्दना है महर्षि के प्रति

वन्देऽरुणगिरिशिखरे द्वितीयमरुणाचलेशमिव भान्तम्
आनन्दतुन्दिल श्रीरमण-महर्षीन्द्र योगीन्द्रम् ॥

उनके स्तवन और महिमा-चिंतन में समस्त विश्व की श्रद्धा आत्मा के स्तर पर सफल हो उठी। रमण महर्षि ने आत्मा की स्थिति स्वीकार की। उन्होने कहा कि इस बात का विचार मत करो कि तुम मरने के बाद क्या होगे, समझना तो यह है कि तुम इस समय क्या हो। परमात्मा और आत्मा एक ही वस्तु तत्व के दो नाम हैं– रमण महर्षि ने इस तथ्य की परिपुष्टि की। रमण महर्षि की आत्मसाधना ने घोषणा की कि आत्मदर्शन और जीवन दोनो पर्याय है। वे रहस्यमयी चेतन शान्ति में सदा आत्मविभोर रहते थे। शाश्वत चिन्मय शान्ति ही उनकी परमात्मानुभूति–परमसत्ता की प्राप्ति की मूलभूमि स्वीकार की जाती है। वे लोक गुरु, सच्चिदानन्दमर्ति, परम ज्योतिमयविज्ञानी महात्मा थे।

महर्पि रमण ने अरुणाचल की पौराणिक ऐतिहासिकता को प्राणान्वित किया। स्कन्द पुराण में वर्णित अरुणाचल–पृथ्वी का हृदय तथा समस्त तीर्थों का शिरोमणि स्वीकार किया गया है। महर्षि के श्वास-श्वास इसी चिन्मय अरुणाचल की पवित्र गोद में स्वस्थ थे। महर्षि की आत्मोपासना ने समस्त विश्व की चेतना को झकृत किया, समस्त जगत के कर्मों में उन्होने आत्मारमण-आत्मविलास की अनुभूति की। विक्रमीय वीसवी शताब्दी की आध्यात्मिक विभूतियो मे उनकी परिगणना वड़े सौभाग्य और महत्व की वात है। उन्होने अपनी खोज की, वे शरीर नही–शरीरी थे, आत्मा के मानव रूप के मौलिक भाष्यकार अथवा व्याख्याकार थे, उन्होने लोकजीवन को आत्मप्रकाश दिया। दक्षिण भारत के तमिल देश के मदुरा जनपद के तिरुचुषि ग्राम में एक साधारण पर अत्यन्त धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार में सम्वत् १९३६ वि (सन् १८७९ ई, ३० दिसम्वर को एक वजे रात मे) में महर्षि रमण का प्राकट्य हुआ था। उनके पवित्र जन्म से धरती पर आत्मा का पूर्ण प्रकाश उतर आया। उनके पिता सुन्दर अय्यर ने वेकटरमण को मदुरा मे लाकर पालन-पोषण किया। वे मदुरा में वकालत करते थे। महर्षि रमण–वेकटरमण के वड़े भाई का नाम नाग स्वामी था। उनकी माता अपगम्माल वडी सती-साध्वी थी। वेकटरमण अपनी माता के साथ मन्दिर मे देव-दर्शन करने जाया करते थे। वाल्यावस्था में उनकी शिक्षा का प्रवन्ध तिरुचुपि की पाठशाला मे था, उसके वाद दिडुक्कल

में उन्होने पाँचवी कक्षा तक अध्ययन किया। मदुरा के स्मट्स माघ्यमिक विद्यालय तथा एक अमेरीकी मिशन विद्यालय में उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गयी। पढने-लिखने में उनका मन कम लगता था। वे शिक्षा के प्रति प्राय उदासीन रहा करते थे। वेंकटरमण किसी गम्भीर चिन्तन मे लीन रहते थे। वे देखने में वडे सुन्दर और सौम्य तथा सुशील थे। लोग उन्हे देख कर मुग्ध हो जाते थे। वेकटरमण ने वचपन में तिरसठ तमिल सन्तो (नायनारो) का जीवन-चरित्र पढा। वे वहुत प्रभावित हुए। देव-मन्दिर मे दर्शन करते समय भगवान से वर मागा करते थे कि प्रभु, मेरा जीवन भी इन्ही सन्तो के जीवन की तरह वना दीजिये। उनमें वचपन मे ही वैराग्य की प्रवृति वढने लगी। ससार के नश्वर रूप में उनकी तनिक भी आसक्ति नही रह गयी। उन्होने आत्मोदय की स्वर्णिम किरणो की झाँकी देखी। 'पेरियपुराणम्' के पाठ से उनका जीवन ही वदल गय।, तमिल सन्तो की चरित्र-माला उन्होने अपने गले में डाली। जव वे केवल पन्द्रह साल के थे, एक दिन उनके घर पर एक अतिथि का आगमन हुआ। 'आप का आगमन कहाँ से हुआ है?' वेकटरमण ने सम्मान प्रकट किया। 'अरुणाचल से', अतिथि के मुख से शव्द निकले ही थे कि वे किसी पूर्वजन्म के सस्कार के फलस्वरूप एक दिव्य चेतना से सम्पन्न हो उठे, उनके रोम-रोम विलक्षण आनन्द से सिहर उठे, श्वास वेग से चलने लगे। लोग उनकी दशा देख कर आश्चर्य चकित हो गये। अरुणाचलेश्वर शिव से उनका अविच्छिन्न शाश्वत आत्मसम्वन्ध था, इस वात की सत्यता इस घटना से प्रमाणित हो जाती है।

उन्होने सत्तरह साल की अवस्था में मृत्यु के स्वरूप पर विचार किया और अमरता की—आत्म सत्ता की अनुभूति प्राप्त की। एक दिन वे अपने चाचा के घर की ऊपरी छत पर थे। पूर्ण स्वस्थ थे। अचानक उन्हे ऐसा लगा कि मृत्यु आ रही है। वे आतकित हो उठे। गम्भीरतापूर्वक सोचने लगे कि मृत्यु शरीर की होती है या इसमें रहने वाले 'अह' की। उन्होने इस विपय में प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना चाहा। वे छत पर उतान लेट गये, उन्होने आराम से हाथ-पैर फैला दिये, शरीर के अगो को शिथिल कर दिया। सोचने लगे-लोग थोडी देर के वाद मेरा मृत शरीर श्मशान ले जायेंगे। उसे जला कर राख कर देंगे, तो क्या शरीर के जल जाने पर इसमें निवास करने वाला 'मैं' भी जल जायेगा?' अन्तरात्मा ने उत्तर दिया 'नही, नही ऐसा कभी नही हो सकता।

मृत्यु शरीर को मार सकती है, 'अह—मै—आतमा' अविनश्वर है, अमर है, मृत्यु की सीमा से बाहर है।' वे सावधान हो गये, मन-ही-मन सोचने लगे 'शरीर मर रहा है, मृत्यु आ रही है, वह मुझे दीख पड रही है—इसे देखने वाला 'मै' निस्सन्देह अमर है।' अज्ञान-अन्धकार का नाश हो गया, अविद्या का अन्त हो गया। वेकटरमण ने आतमपरिचय प्राप्त किया। वे उठ बैठे। उन्होने मृत्यु पर विजय पायी, शरीर मे जकडे आत्मा का मुक्ति-विधान मिल गया। वे सचेत हो गये इस महान घटना से। ससार के प्रति उदासीनता बढने लगी। लोगो ने उनमें परिवर्तन देखा। पढने-लिखने मे उनकी तनिक भी रुचि नही रह गयी। वे अपनी खोज—आत्मान्वेषण के लिये विकल हो उठे। वे नियम-पूर्वक मन्दिर मे जाकर शिवनटराज और मीनाक्षी से कृपा-याचना करने लगे, आत्माकी खोज के लिये सहायता मागने लगे। उनका अन्तर क्षेत्र प्रकाशित हो उठा, वे आत्मा के उपासक बन गये।

गृहत्याग का समय आगया। अवस्था केवल सत्तरह साल की थी। एक दिन उन्हे अरुणाचल का स्मरण हो आया। उन्होने अपने वडे भाई नाग-स्वामी से कहा कि आज विद्यालय में विशेष कक्षा का आयोजन है, मुझे जाना है। नागस्वामी ने कहा कि पेटी में पाच रुपये है, उन्हे लेते जाओ, मेरी फीस जमा कर दो। वेकटरमण ने सोचा कि साक्षात् अरुणाचलेश्वर ही मेरे मार्ग-व्यय की व्यवस्था कर रहे है, उन्होने आवश्यकता के अनुसार तीन रुपये ले लिये और घर तथा ससार से अन्तिम विदा ली। जाते समय उन्होने पत्र लिख दिया कि 'मै परम पिता की खोज में' उन्ही की आज्ञा से निकल चुका हूँ। यह शरीर सत्कार्य मे ही प्रवेश कर रहा है। इस सम्बन्ध मे कोई व्यर्थ की माथा-पच्ची न करे। न दुख माने।' पत्र पर नाम नही लिखा, नाम के प्रति वैराग्य हो गया, वे आत्मानुसधान के लिये अनाम रूप से निकल पडे। वे घर से सीधे रेलवे स्टेशन गये। गाडी विलम्ब से आयी। तिरुवण्णामलै पहुँचने के लिये निकटतम स्टेशन तिण्डिवनम था। सवेरा होते-होते गाडी विष्णुपुरम् पहुँची। अरुणाचल का पता लगाने के लिये वे नगर मे गये। केवल दस पैसे पास थे। टिकट कटा कर अगले स्टेशन तक ही जा सके। शेप मार्ग पैदल चल कर पूरा किया। सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे थे। वे अरयणिनल्लूर पहुँचे। मन्दिर मे देवदर्शन के लिये गये। उन्हे अद्भुत प्रकाश दीख पडा। उसे मूर्ति समझ कर वे गर्भ-गृह मे गये। इस प्रकार उन्होने भागवती कृपा की ज्योति का दर्शन किया,

मन में विश्वास हो गया कि भगवान अरुणाचलेश्वर पद-पद पर सहायता कर रहे हैं। मन्दिर का पट बन्द होने वाला था। वे मन्दिर के बाहर आते ही ध्यानस्थ हो गये। उन्होने पुजारी से भोजन माँगा। पुजारी ने अस्वीकार कर दिया। वे मन्दिर से लोगो के साथ किपूर गाँव आये। अन्न-जल के अभाव मे भूख उन्हे जोरो से सता रही थी। एक परिवार की भागवत दम्पति ने दूसरे दिन उन्हे मिष्ठान्न खिलाया। उन्होने चार रुपये मे अपने कान की सोने की बाली गिरवी रखी। इस प्रकार वे १९५३ वि की भाद्र कृष्ण नवमीको प्रभातकाल में तिरुवण्णमलै पहुँच गये। रेल से उतरते ही वे सीधे भगवान अरुणाचलेश्वर के मन्दिर मे उपस्थिति-निवेदन करने गये। उन्होने परम ज्योति के सम्मुख श्रद्धा और भक्ति से नतमस्तक होकर कहा कि प्रभु, मेरी लाज आपके हाथ में है, मैं आप के पदपद्म में पूर्णरूप से आत्मार्पण करता हूँ। परमदेव, मुझे आत्मदान दीजिये। वे अपने परम पिता का दर्शन कर मन्दिर के बाहर आये। अयकुलम तालाब पर जाकर उन्होने शेष सामान तथा पैसे आदि फेंक दिये, कपडे उतार कर कौपीन धारण कर लिया। वे पूरे अवधूत बन गये। वृष्टि हुई, ऐसा लगता था मानो प्रभु ने उनके स्नान के लिये जल के रूप में दया बरसायी। वे हजार खम्भेवाले मण्डप में जाकर जप करने लगे। बालयोगी ने मौनव्रत लिया। बाहर एकान्त की सुविधा न प्राप्त कर कुछ दिनो के बाद वे भूगर्भगृह —पाताल लिंग स्थान में प्रवेश कर जप और तप करने लगे। लोग आश्चर्य-चकित हो गये। वह स्थान अंधेरा था, प्रकाश नाममात्र को भी नही था, कीडे-मकोडे अधिक थे उस भूगर्भगृह में। वे आत्मध्यान मे इस प्रकार तल्लीन हो गये कि शरीर की सुधि ही न रह गयी। लोगो में 'ब्राह्मणस्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। दूर-दूर से दर्शन करने वालो की भीड आने लगी। अनुकूलता की दृष्टि से जगह बदलते रहने परभीसाधु-सन्त उनका पता लगा कर मिलते रहते थे। कुछ दिनो तक वे कार्तिकेय मन्दिर में रहे, तत्पश्चात् उसी से सटी एक फुलवारी में तप किया, मगेपिल्लैयार मन्दिर मे भी रहे। उद्दण्डि नायनार नामक एक साधु ने उनकी बडी सेवा की। अडोस-पडोस के जनपदो में नये बाल सन्यासी की प्रसिद्धि बढने लगी। वे नितान्त मौन और आत्मस्थ थे। एक दिन मदुरा के एक मठ में तिरुवण्णामलै के तबिरानजी ने बालयोगी रमण के पूर्वाश्रम की महिमा पर भाषण दिया। उस भाषण में रमण के परिवार का एक बालक उपस्थित था। भाषण सुनने के बाद उसके मन में यह बात बैठ गयी कि बालयोगी

हमारे वेकटरमण ही है। लडके ने घर जाकर यह भेद प्रकट किया। रमण के चाचा नैलिपेप्पैयर अरुणाचल गये। उस समय रमण महर्षि एक अमराई में थे। उनसे मिलना आसान नही था। किसी प्रकार उन्होने मिलने की आज्ञा प्राप्त की। उन्होने देखा कि रमण का शरीर धूलधूसरित है, जटा वढी हुई है, नाखून बढ कर टेढे हो गये है। उन्होने मन-ही-मन अपने सौभाग्य की सराहना की कि हमारे कुल के एक बालक ने इस प्रकार आध्यात्मिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होने घर लौट चलने का आग्रह किया पर बालयोगी मौन रहे। मौन ही उनका उत्तर था। उनके चाचा घर लौट गये।

माता अषगम्माल अपने बडे पुत्र नागस्वामी को लेकर रमण को देखने आयी। उन्होने अपने प्राणप्यारे पुत्र को देखा, वे एक पत्थर पर लेटे हुए थे, शरीर काला पड गया था, नेत्रो में दिव्य ज्योति थी, माता की ममता जाग उठी। उन्होने घर चलने का आग्रह किया। सन्यासी पुत्र ने मौन का वरण किया। स्वामी रमण ने विशेष आग्रह करने पर लिखा विधाता प्राणियो के भाग्य का उनके प्रारब्ध के अनुसार निपटारा करते है। जो नही होना है वह नही होगा। सबसे उत्तम मार्ग मौन है। माता चली गयी, वे कभी-कभी उन्हे देखने आया करती थी। और कुछ दिनो के वाद वे रमणाश्रम में ही रह कर उन्हे वात्सल्य का रसास्वादन कराती रही, रमण मौन ही रहते थे।

अरुणाचल आने के बाद रमण महर्षि फिर कही न गये। उन्होने उस पवित्र दिव्य स्थान में चौव्वन साल तक निवास किया। विश्व के कोने-कोने से लोग आकर उनकी चरण-धूलि से अपने आपको कृतार्थ मानने लगे। महर्षि रमण ने अरुणाचल की महिमा गायी कि इस पर्वत का ऐसा प्रभाव है कि उसका स्मरण करने से ही प्रत्येक व्यक्ति को किसी दिशा या स्थान से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस पर्वत रूपी लिंग में समस्त जगत व्याप्त है। यह पार्वती की तपस्या-भूमि है। सत्ययुग में यह अग्नि के स्तम्भ के रूप मे था, त्रेता में लालमणि के समान था और द्वापर में सुवंण था तथा कलि में पापाण है। रमण की उपस्थिति ने अरुणाचल की महिमा वढा दी। उन्होने विरुपाक्ष गुफा और आम्र गुहा में भी तपस्या की। विरुपाक्ष गुफा में निवास करते समय महर्पि ने 'अक्षरमण मालै' की रचना की। उनके शिष्य और भक्त 'अक्षरमण मालै' गीत गा-गा कर गाँवो मे भिक्षा मागा करते थे।

रमण महर्षि का आश्रम-जीवन परम तपोमय था। आश्रम के वन्दर गिलहरी तथा अन्य जीव उनके अनन्य साथी थे, दो सफेद मोर और एक काला कुत्ता करुप्पन तथा गाय लक्ष्मी आदि उनके प्रेमभाजन थे। कुछ दिनो के वाद माता अपगम्माल भी आश्रम में ही आकर रहने लगी।

सस्कृत के उद्भट विद्वान काव्यकठ गणपति शास्त्री उनसे मिलने आये। वे तपोरूप सन्यासी को देखकर विनत हो गये। उन्होने निवेदन किया कि देव मैंने वेदान्त शास्त्र का अध्ययन किया, वडे-वडे ग्रन्थ देखे। मुझे पता न लगा तप के रूप का। मुझे तप का रूप समझाइये। रमण महर्षि घर छोडने के वाद से ही मौन थे। मौन-व्रत का पालन करते ग्यारह साल हो गये थे। सम्वत् १९६४ वि में गणपति मुनि उनसे मिलने आये थे। महर्षि ने पन्द्रह मिनट तक उनकी ओर एकटक देखा, उन्हे सद्शिष्य की श्रद्धा मिल गयी और शिष्य ने गुरु की कृपा-ज्योति प्राप्त कर ली। महर्षि ने मौनव्रत भग किया ठीक ग्यारह साल के वाद। उन्होने कहा 'निरन्तर आत्मानुसन्धान में मन का तत्पर रहना ही तप हैं, इसी प्रकार मन्त्र जप करते समय मन्त्र-नाद के अनुसन्धान में मन का लगा रहना तप है।' काव्यकठ गणपति शास्त्री का पूरा-पूरा समाधान हो गया। वे सद्गुरु के चरणो पर विनत हो गये, उनकी वाणी ने वन्दना की

'वन्दे श्रीरमणर्षेरचार्यस्यि पदाब्जम्।
यो मेऽदर्शयदीश भान्त ध्वान्तमतीत्य॥'

गणपति शास्त्री ने उनके पूर्वाश्रम के नाम का पता लगाने पर महर्षि के शिष्यो और अनुयायियो से कहा कि महर्षि के लिये हम लोग 'भगवान रमण महर्षि' विशेषण का उपयोग करेगे। अरुणाचल के प्रसिद्ध योगी महर्षि रमण के नाम से प्रसिद्ध हुए।

महर्षि रमण को सिद्धियो और चमत्कारोसे वडी घृणा थी। वे कहा करते थे कि चराचर मे एक ही चेतन सत्ता का निवास है, फिर सिद्धि दिखायी किसके प्रति जाय। उनकी साधना का स्वरूप आत्मान्वेषण था, केवल आत्मा की खोज के लिये ही उन्होने जगत से विरक्त होकर तप किया। वे कहा करते थे कि सर्वोत्तम और परमशक्तिमयी भाषा मौन ही है, मौन शान्ति का भूषण है। उपदेश तो नितान्त मौन रह कर ही दिया जा सकता हैं। अरुणाचल उनके तपोमय जीवन का दिव्य तथा परम ज्योतिमय प्रतीक है। रमणाश्रम में देश-विदेश के अध्यात्म पथ के जिज्ञासु और पिपासु आ-आ कर अपनी जिज्ञासा और पिपासा की तृप्ति

करने लगे। महर्षि की दृष्टि पडते ही, मौन-भाषा का प्रवाह उमडते ही उनकी सारी शकाओ और प्रश्नो का समाधान हो जाया करता था। रमणाश्रम से आध्यात्मिक लाभ उठाने वालो में काव्यकठ गणपति शास्त्री, कपालि शास्त्री, शुद्धानन्द भारती, शेषाद्रि स्वामी, योगी रगनाथन, हम्फ्रीस, पाल ब्रान्टन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन लोगो ने अपनी श्रद्धा महर्षि के चरणो में समर्पित कर अनन्य भक्ति और आदर का परिचय दिया। महर्षि के दर्शन के लिये दूर-दूर से आने वाले यात्रियो की भीड सी लगी रहती थी। जनता ने महर्षि के रूप में दक्षिणामूर्ति भगवान का स्मरण किया, मौन रमण महर्षि की साधना का प्राण था तो शान्ति उनकी आत्मोपासना की सखी थी। वे वास्तविक आत्मज्ञ थे।

महर्षि मौन से ही प्रश्नो का उत्तर दे दिया करते थे। यदि बोलना पडता था तो विचित्र ढग से समाधान किया करते थे। एक समय किसी जिज्ञासु ने जिज्ञासा प्रकट की कि मनुष्यो में समता स्थापित होनी चाहिये। महर्षि रमण ने तत्काल कहा कि सब को सो जाना चाहिये, निद्रा मे समता है। एक समय महर्षि ने कहा कि विवेकानन्द ने परमहस रामकृष्ण से प्रश्न किया था कि क्या आपने परमात्मा को देखा है, मै प्रश्न करता हूँ कि परमात्मा को किसने नही देखा है?

एक बार महात्मा गाधी के दाहिने हाथ राजेन्द्रप्रसाद रमणाश्रम गये। उन्होने महर्पि रमण का दर्शन किया, कहा मुझे महात्मा जी ने आप के पास भेजा है, क्या आप उनके लिये सन्देश देगे। महर्षि ने गम्भीर शान्ति से कहा—कि सन्देश की क्या वात है, हृदय तो हृदय की वात कहता ही है, जो शक्ति यहाँ कार्य कर रही है वही वहा भी कार्यशील है। एक समय एक मुसलिम दल महर्पि से मिलने गया। दल के कुछ लोगो ने महर्षि रमण से पूछा कि जीवन का ध्येय क्या है। महर्पि आत्मदर्शी थे, जो आत्मा उनमे व्याप्त थी वही सर्वत्र थी। उन्होने तत्काल उत्तर दिया कि जीवन का ध्येय इस्लाम है। परमात्मा के चरणो में आत्मसमर्पण ही इस्लाम है। इस्लाम ही सलाम-शान्ति प्रदान कर सकता है। महर्पि की साधनागत उदारता ने लोगो को आश्चर्य चकित कर दिया। रमण महर्पि सदा मन से परे आत्मा के चिंतन में लीन रहतेथे। एक वार एक व्यक्ति द्वारा उनके प्रति साधारण-सा अपराध—अपचार हो गया। वह व्यक्ति वडा दुखी हुआ। एक मित्र की सम्मति से वह महर्पि के पास आया। पश्चाताप

तथा क्षमा-याचना करते हुए उसने आदरपूर्वक महर्पि रमण की तीन वार प्रदक्षिणा की, निवेदन किया कि आप मन से मेरे अपचार की वात निकाल दीजिये। मुझसे वडी भूल हो गयी, क्षमा कर दीजिये। महर्षि ने कृपा भरी दष्टि से उसकी ओर देख कर प्रेम से कहा कि मेरे पास तो मन है ही नहीं, फिर अपचार की वात ठहर ही किस तरह सकती है? व्यक्ति ने उनकी चरण-धूलि मस्तक पर चढा ली और वन्दना की।

महर्पि शरीर-भाव से सर्वथा शून्य थे। एक समय, जव वे स्कन्दाश्रम में रहते थे, योगी रगनाथ के साथ टहलते हुए पहाडी की ओर निकल गये। वन में प्रवेश करते ही पैर के तलवे मे काटे चुभने लगे तथा पत्थर के टुकडे गडने लगे। वे तेजी से आगे वढ रहे थे, पैरो मे चोट लगती थी। रक्त वह रहा था। योगी रगनाथन पीछे रह जाते थे। रगनाथन से यह दृश्य देखा न गया, उन्होने महर्पि को रोका, पैर से काटे निकाले। महर्पि ने कहा कि काटे तो रास्ते में चुभेंगे ही, तुम कव तक निकालते रहोगे। उनके कथन से योगी रगनाथन मौन हो गये। महर्षि द्रुत गति से आगे वढे गये। आत्मचिंतन के समक्ष शरीर-चिंता को तनिक भी महत्व न दिया, वे तो परम विरक्त थे।

एक वार स्कन्दाश्रम में योगी रगनाथन महर्पि का दर्शन करने गये थे। दस दिन पहले एक विचित्र घटना घटी थी। महर्पि के सामने माता अपगम्माल ने कहा कि मैंने देखा कि रमण का शरीर एक लिंग के रूप में परिणत होता था, तिरुचुपि मन्दिर के शिवलिंग के ही समान मुझे रमण का शरीर दीख पडा। दस वजे दिन का समय था, पहले तो मैंने विश्वास ही नही किया पर फिर देखने पर वही स्थिति वनी रही। मैं भयभीत हो उठी कि रमण हम लोगो का साथ छोड रहे हैं पर धीरे-धीरे लिंग के स्थान पर उनका शरीर प्रकट हो गया। मेरे जी में जो आया। योगी रगनाथन महर्पि की ओर देखने लगे, महर्पि ने मुसकरा दिया, ऐसा करके उन्होने माता के कथन का अनुमोदन किया। यह उनकी दिव्य साधना की एक असाधारण घटना है।

सम्वत् १९६५ वि की वात है। काव्यकठ गणपति शास्त्री मद्रास के पास तिरुवोट्रियूर के गणेश मन्दिर में तप कर रहे थे। उनके मन मे एक प्रश्न उठा, वे सोचने लगे कि यदि महर्पि पास होते तो कितना अच्छा होता, इतने में महर्पि दीख पडे, गणपति शास्त्री ने साष्टाग दण्डवत प्रणाम किया। महर्पि ने उनके सिर पर हाथ रखा, उनके स्पर्श से वे धन्य हो गये। महर्षि ने इक्कीस साल के

वाद इसी प्रकार की एक घटना-वर्णन करते हुए कहा था कि कुछ दिन पहले एक समय मै नीचे लेटा हुआ था, समाधि की दशा नही थी, ऐसा लगा कि शरीर ऊपर की ओर उठाया जा रहा है। दृश्य जगत लुप्त हो गया, मेरी चारो ओर सघन उज्ज्वल ज्योति दीख पडी, थोडी देर के वाद दृश्य जगत फिर भासने लगा। मुझे उस समय ऐसा लगा कि मै तिरुवोट्रियूर के गणेश-मन्दिर में हूँ, मैने कुछ भाषण किया जिसका स्मरण नही है। उसके बाद अरुणाचल पर विरुपाक्ष गुफा मे आ गया। इस घटना का साम्य गणपति शास्त्री वाली घटना से है। यह घटना उनकी परमोच्च सिद्धि-अवस्था का परिचय कराती है।

महर्षि रमण उच्च कोटि के अपरिग्रही महात्मा थे। सम्वत् १९९९ वि की बात है। रमणाश्रम की स्थापना के बीस साल बाद की घटना है, उस समय आश्रम आवश्यक उपयोगी वस्तुओ से सम्पन्न था पर महर्षि तो त्याग के हिमालय पर थे। एक समय उनके पास केवल एक ही लगोटी थी। स्नान करने के वाद वदलने के लिये दूसरी लगोटी नही थी। उनकी लगोटी फटी हुई थी। वे लोगो पर नही प्रकट करना चाहते थे, यदि लोगो को पता चल जाता तो वे दूसरी लगोटी रखने का आग्रह करते। महर्षि ने इसी भय से किसी से सूई-डोरे की भी मॉग नही की। फटी लगोटी पहनने योग्य नही थी। यदि उसे पहनते तो लोगो को रहस्य का पता चल जाता। वे जगल मे गये। उन्होने एक मोटा-सा काटा लिया, उसके अग्रभाग में एक दूसरे काटे की नोक से उन्होने छेद किया, लगोटी में से डोरा निकाल कर मोटे काटे वाले छेद मे डाल दिया, इस प्रकार अद्भुत ढग से सूई डोरा वना कर उन्होने फटी लगोटी सी डाली। इस घटना का वर्णन कुछ दिनो के वाद महर्षि ने स्वय अपने ही मुख से शिष्यो के सामने किया था। कितना असाधारण था उनका जीवन !

वे करुणा-सागर थे। समस्त प्राणी के प्रति उनके हृदय मे दया थी। एक समय एक घायल काग उडता हुआ आश्रम मे गिर पडा। महर्षि ने उसको सहलाया, चोट वहुत वडी थी। महर्षि ने पट्टी बाँधी, उसे आश्रम मे एक सुरक्षित स्थान पर रखवा दिया। तीन दिन के वाद देखने गये, हाथ मे लिया ही था कि उसके प्राण निकल गये, मृत शरीर महर्षि के हाथ में रह गया। कितना सौभाग्य शाली था वह, महर्षि के हाथ से सद्गति मिली उसे। उसके जन्म-जन्मान्तर के पुण्य प्रगट हो गये, असहाय पक्षी धन्य हो गया। महर्षि ने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की और समाधि वनवायी। समाधि पर कौवे की आकृति

का एक पत्थर लगाया गया जो महर्षि की करुणा का अमर प्रतीक है, रमणाश्रम में ऐसी समाधि के दर्शन से असख्य प्राणी चिरकाल तक मुग्ध होते रहेगे।

महर्षि रमण का सिद्धान्त आत्मानुसधान था। उन्होने आत्मानुभूति प्राप्त की। उन्होने कहा कि अपने आप को जानो, आत्मज्ञान ही परमोच्च ज्ञान है, सत्यका ज्ञान है। उन्होने वचन नही, अपने जीवन से शिक्षा दी। उनकी भाषा का अलकार मौन था, उनकी साधना का प्राण आत्मज्ञान था। उन्होने ज्ञान-कृपाण से अविद्यारूपी शत्रु का अन्त कर दिया। उन्होने आत्मा की खोज मे प्रवृत लोगो का पथप्रदर्शन किया। यह पूछने पर कि मर कर क्या होगे, उन्होने कहा कि तुम क्यो जानना चाहते हो कि तुम मर कर क्या होगे जब तुम्हे यही नही ज्ञात है कि मरने के पहले तुम क्या हो? रमण महर्षि ने आत्मजिज्ञासा का पथ प्रशस्त किया। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद कुछ भी जानने के लिये नही रह जाता है, आत्मा पूर्ण है, परमानन्दमय है—ऐसा उनका मत था। वे आत्मार्पित थे। उन्होने कहा, 'उपदेश सार' मे उनकी वाणी है

'भावशून्य सद्भाव सुस्थिति।
भावना बलाद् भक्तिरुत्तमा॥
बन्धमुक्त्यतीत पर सुखम्।
विन्दतीह जीवस्तु दैविक॥'

महर्षि ने कहा कि आत्मा में सस्थित होने पर ही आत्म दर्शन सहज और सुलभ होता है। इस जीवन के पीछे शाश्वत, निराकार आत्मा है, उसी की खोज करनी चाहिये। ईश्वर को जानने के पहले अपने आप को जानना चाहिये। आत्मा से भिन्न ईश्वरकी स्थिति ही नही है। ईश्वर आत्माभिव्यक्ति है। ससार आत्मा को न जानने के कारण ही दुखी है। पारमार्थिक सत्ता ही सत्य है। चेतनता आत्मचैतन्य का ही नाम है। उन्होने साधना के क्षेत्र मे तन्मय निष्ठा को महत्व दिया कि आत्मस्थिति ही आत्मज्ञान है। उन्होने आत्मस्थ—स्वरूपस्थ होने की सीख दी। मन दो नही हैं—अच्छा और बुरा। वासना के अनुरूप अच्छे और बुरे मन का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। महर्षि ने घोषणा की कि आत्मसिद्धि ही सबसे बडी सिद्धि है। आत्मविचार मन्त्र-जप से कही आगे की स्थिति है। दुख का कारण बाहर नही है, यहतो अपने भीतर है, दुख की उत्पत्ति अहकार से होती है।

सन्त–साहित्य में रमण को अमित गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त है। उनका जीवन वेदान्त-सिद्धान्त का चेतन-प्रतीक था। ऐसे तो सब पूजनीय हैं पर विक्रमीय उन्नीसवी और बीसवी शती के सन्तत्रयी में रामकृष्ण परमहस, अरविन्द और रमण के नाम बडी श्रद्धा से परिगणित किये जा सकते हैं। वे पूर्ण जीवन्मुक्त थे। वे लोगो को नेत्र-दीक्षा दिया करते थे, जिनकी ओर कृपा भरी दृष्टि डाल देते थे वे कृतार्थ और धन्य हो जाते थे। वे मौन-गुरु थे। ऐसा लगता था मानो शाश्वत मौन शिव दक्षिणामूर्ति ने ही रमण के विग्रह में अरुणाचल पर तप किया।

वे आत्मलीन होने तक रमणाश्रम में ही रहे। सम्वत् १९५७ वि में उन के बडे भाई नागस्वामी का शरीर छूट गया, उसके बाद उनके चाचा नल्लियप्पैय्यर का भी स्वर्ग-वास हो गया। नागस्वामी की पत्नी का भी देहावसान हो गया। सम्वत् १७३ वि में माता अपगम्माल आश्रम में ही आकर रहने लगी। छ साल के वाद उनका देहान्त हो गया। महर्षि ने स्कन्दाश्रम से थोडी दूर पर पहाडी की तलहटी में माता की समाधि बनवायी। वे छ माह तक नित्य समाधि का दर्शन करने आया करते थे। एक दिन महर्षि समाधि के निकट बैठ गये, उठे नही, वही रहने लगे। उसी स्थान पर रमणाश्रम का निर्माण हुआ।

समस्त विश्व मे महर्षि रमण के अनुयायी बहुत बड़ी सख्या में पाये जाते हैं उनके सम्पर्क में विशेष रूप से आने वाले काव्यकठ गणपति शास्त्री ने 'रमण गीता' की रचना की, टी वी कपाली शास्त्री ने 'सद्दर्शनभाष्य' और 'महर्पि के साथ सम्भापण' पुस्तके रची, शुद्धानन्द भारती ने 'रमण विजय' लिखी तथा पालब्रान्टन ने 'गुप्त भारत की खोज','रहस्य-पथ' और अरुणाचल-सदेश' नामक पुस्तके रची।

महर्पि शान्ति के समुद्र थे। वे तमिल साहित्य के बहुत वडे जानकार थे, कवि थे। वे अग्रेजी, सस्कृत, तेलुगु और मलयालम् आदि भापायें अच्छी तरह जानते थे। महर्पि ने औपनिपद ब्रह्म की अनुभूति की। दक्षिण भारत का कैलास–अरुणाचल उनकी दिव्य उपस्थिति और आतमज्योति से धन्य हो उठा।

महर्पि रमण ने सम्वत् २००७ वि में (सन् १९५० ई १४ अप्रैल) आत्मलीन हो गये। उनके महाप्रयाण के अवसर पर उपस्थित भक्त मण्डली महर्पि रचित अरुणाचल स्तोत्र का पाठ कर रही थी। महर्पि रमण चिन्मय आत्मा के मानवप्रतीक थे। वे आत्मज्ञानी सन्त थे, ब्रह्मयोगी और महात्मा थे। अरुणाचल उनकी अमरता का स्मारक है।

रचना

महर्षि रमण के अनेक उपदेश विभिन्न भाषाओ में पुस्तक रूप मे प्रकाशित हो चुके हैं। उपदेश सार, अरुणाचलाष्टक, अक्षरमणमाले आदि की रचना की।

वाणी

ईश्वर का दर्शन करने के लिये ईश्वर होना पडता है। ईश्वर से भिन्न कोई सर्वत्र नही है जिसमे उनका व्याप्त होना अवशेष हो। केवल वे ही सत् है।

जव तक अज्ञान रहता है तभी तक पुनर्जन्म का अस्तित्व वना रहता है। वास्तव में पुनर्जन्म है ही नही। न वह पहले था, न अभी है, न आगे होगा। यही सत्य है।

मन की कल्पना और अपने प्रयत्न द्वारा जो साधा जाय वह ध्यान है और दोनो के विना जो साधा जाय वह समाधि है।

ज्ञानी जव जगत को देखता है तव वह जगदाधार रूपी अपनी आत्मा को भी उसमें देखता है। अज्ञानी जगत को देखते या न देखते समय अपने सत्स्वरूप से अनजान रहता है।

आत्मा में व्याप्त शाश्वत, अखण्ड और स्वाभाविक दशा ज्ञान है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये आत्मा पर प्रेम रखना चाहिये। वास्तव में ईश्वर ही आत्मा है, आत्मा पर प्रेम ही ईश्वर से प्रेम है। यही भक्ति है। इस तरह ज्ञान और भक्ति एक ही हैं।

आत्मा ही ईश्वर है।'मैं हूं' यही ईश्वर है। यदि ईश्वर आत्मा से भिन्न हो तो वे आत्मरहित ईश्वर होगे। यह अज्ञान की वात है।

आत्म विचार ही मुक्तिदायक है। दूसरी समस्त सिद्धि माया-शक्ति के मिथ्या दृश्य हैं। केवल आत्म सिद्धि की सफलता ही नित्य सिद्धि है। दीख कर अदृश्य होने वाले माया के कार्य सिद्धि हो ही नही सकते।

गुरु प्रत्येक व्यक्ति में शाश्वत और अमर ज्योति के रूप में स्वस्थ है। गुरु को शरीरी–व्यक्ति के रूप में नही देखना चाहिये। वे और कुछ नही, शिष्य के वास्तविक आत्मा हैं। आत्मानुभूति के पश्चात् गुरु और शिष्य का भेद समाप्त हो जाता है।

विश्व का शासन-नियन्त्रण एक परमात्मा करते है, उसका ध्यान रखना उन्ही का कार्य है, जिन्होने जगत को जीवन प्रदान किया है वे जानते है कि उसका ध्यान किस प्रकार रखा जाय। ससार क। भार तुम्हारे ऊपर नही, उनके कन्धो पर है।

तुम भविष्य की क्यो चिन्ता करते रहते हो ? तुम तो अपना वर्त्तमान ही नही जानते हो, वर्तमान को सम्हालो, भविष्य अपने आप ठीक हो जायेगा।

बस

सन्त सच्चल

मुहमद चिनगी पेम कै सुनि महि गगन डेराइ।
धनि विरही औ धनि हिया तहँ अस अगिनि समाइ ॥

—पद्मावत

प्रेम की दिव्यता का वर्णन उच्च कोटि का प्रेमी ही अपनी प्रेमानुभूति के प्रकाश मे थोडा-बहुत कर सकता है , प्रेम की पवित्रतम स्थिति यह है कि इसमें प्रेमी, प्रियतम-प्रेमास्पद और प्रेम तीनो स्वरूपभूत अथवा एकाकार हो जाते है, इस प्रकार की स्थिति में रहनेवाला प्राणी धन्य है। सिन्ध के विख्यात सन्त दयामय सच्चल उच्च कोटि के प्रेमी थे, अपने प्रेमास्पद के रूप-सौन्दर्य-माधुर्य के मद से वे नितान्त मस्त रहते थे। सूफी प्रेमसाधना की उच्च भूमिका में रमण करना उनका सहज स्वभाव बन गया था। परमात्मा-अल्लाह का प्रेम ही उनका जीवन-सर्वस्व था। लोगो को भागवत प्रेम का रसास्वादन कराने के लिये ही उन्होने कृपापूर्वक पृथ्वी पर जन्म लिया था। उनका पथ प्रेम-सत्य का पथ था। उन्होने निस्सकोच कहा कि भीतर-बाहर, हृदय में-सब जगह वे ही प्रभु प्रेमास्पद हैं , मुझमे, तुममे और उसमे वे ही बोलते हैं।

निस्सन्देह सिन्ध प्रान्त ने अनेक सिद्ध सूफी मतो को जन्म दिया है। सत्रहवी शताब्दी के सूफी सन्त कवि शाह लतीफ ने सिन्ध में भावगत प्रेम की मन्दाकिनी प्रवाहित की थी। इसी तरह प्रसिद्ध सूफी कवि बेदिल के पुत्र बेकस ने अपनी प्रेम काव्य-धारा से असख्य प्राणियो को सतृप्त करने का पवित्र पुण्य कमाया। सिन्ध के प्रेम-साहित्य की परम्परा की अविच्छिन्न कडी सन्त सच्चल थे जिनकी सगीतमयी अमृत वाणी का सिन्दूर चिरन्तन और सनातन है। सूफी सन्त सच्चल की वाणी ने घोपणा की

"जागो और खोजो, तुम
प्रियतम को अपने भीतर पाओगे।"

वे वास्तव मे फकीर थे, उन्होने परमात्मा के प्रेमराज्य की प्राप्ति के लिये दैन्य का वरण किया था। वे कहा करते थे कि तुम मुझे फकीर के वेष में देखते हो

पर जब तुम मेरी आन्तरिक सत्ता समझोगे तब जानोगे कि मैं भिखारी नही, राजाधिराज हूँ। दरवेश सच्चल ने दिव्य जीवन—भागवत जीवन को ही परम श्रेयस्कर समझा। वे प्रेम की दिव्योन्दमाद-स्थिति-मस्ती मे सदा झूमते रहते थे।

फकीर सच्चल का जन्म सिन्ध प्रान्त के खैरपुर राज्य के दारजन गॉव मे सम्वत् १७९६ वि मे हुआ था। दारजन में अब भी उनका स्मारक है। उनका बचपन का नाम अब्दुल वहब था। उनकी अल्पावस्था में ही उनके पिता का देहान्त हो गया। वे अपने चाचा पीर अब्दुल हक के सरक्षण मे शिक्षा प्राप्त करने लगे। अब्दुल हक सूफी विचारधारा के पवित्र व्यक्ति थे। वे सूफी साधना की चिश्ती पद्धति से प्रभावित थे। बारहवी शताब्दी के प्रसिद्ध सूफी सन्त ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के नाम से यह परम्परा प्रसिद्ध थी। यह स्वाभाविक था कि अब्दुल हक के पवित्र प्रेममय जीवन का अब्दुल वहब—सच्चल पर प्रभाव पडता।

एक दिन दारजन में उस समय के सिद्ध सूफी सन्त शाह लतीफ का आगमन हुआ, वे सच्चल के पितामह से मिलने आये थे। सच्चल की अवस्था इस समय केवल सात साल की थी। शाह लतीफ उन्हे देख कर प्रसन्न हो गये और कहा कि मेरे बच्चे तुम सत्य का रहस्योद्घाटन करोगे। जब सच्चल पढने के लिये विद्यालय में भेजे गये तो उन्होंने 'अलीफ' के उच्चारण के बाद दूसरा अक्षर 'बे' कहना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि 'अलीफ' अल्लाह का प्रतीक है, अल्लाह अद्वितीय है,उनके बाद दूसरे अक्षर का उच्चारण नितान्त अवैध और मर्यादा के विरुद्ध है। ऐसा करना उनके अस्तित्व को अस्वीकार करना है। सच्चल की प्रतिभा असाधारण थी।

सच्चल फकीर के चरित्र-विकास पर चिश्ती परम्परा के सूफी सन्त फकीर मुकमलुद्दीन का वडा प्रभाव पडा था। वे जिस समय सिन्ध का परिभ्रमण कर रहे थे, सच्चल फकीर अपने चाचा की आज्ञा से उनसे मिलने गये। फकीर एक कमजोर घोडी की पीठ पर थे, सच्चल फकीर को उन्होंने घोडी प्रेम-उपहार रूप मे प्रदान की और आध्यात्मिक पथ मे वढने का आशीष दिया।

यद्यपि अरबी और फारसी का सच्चल ने अच्छी तरह अध्ययन किया था, तथापि अल्लाह का प्रेम ही उनके जीवन का सर्वश्रेष्ठ ध्येय था। वे कहा करते थे कि जीवन मे ज्ञान और प्रेम को वडा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रेम

की ज्योति सच्चे व्यक्ति मे ही पैदा होती है। उनके लिये प्रेम ही उपास्य था, वे वचन-भाषण नही, शान्ति-मौन को बहुत बडी शक्ति स्वीकार करते थे।

उनकी साधना का प्राण सगीत था। सच्चल फकीर के रोम-रोम में सगीत समाया हुआ था। एक समय की बात है, वे बीमार थे, बीमारी असाध्य थी। कुछ नवयुवतियाँ उनका दर्शन करने आयी, वे सगीत मे निपुण थी। उन्होंने गीत गाये, गीत के माधुर्य से सच्चल का स्वास्थ्य लौट आया, उनकी बीमारी अच्छी हो गयी। सच्चल स्वय उच्च कोटि के प्रेम-गायक थे। वे अपने सरस पदो को मस्ती में झूम-झूम कर गाया करते थे। अपने प्रेमभरे मधुर पद-गान से उन्होंने असख्य प्राणियो को परमात्मा का प्रेमी बना दिया। सच्चल फकीर का एक गीत है

"साकी, मुझे अगूरी शराब की
आवश्यकता नही है।
मुझे (समस्त जीवो से) अभिन्नता
की शराब चाहिये और भिन्नता की
भावना से मुझे मुक्ति चाहिये।"

सच्चल फकीर ने अपने बाल्यकाल के सरक्षक और शिक्षक—मुरशिद अब्दुल हक से सत्य-प्रेम और आत्मज्ञान की शिक्षा पायी थी। अब्दुल हक ने सीख दी थी कि सच्ची शिक्षा का सबन्ध तो हृदय से है। अब्दुल हक स्वय एक उन्मुक्त आत्मा थे, सच्चल फकीर उनका बडा आदर करते थे। सच्चल फकीर बडी सादगी से रहते थे और साधारण भोजन करते थे। अल्लाह का नाम ही उनके लिये मधुमय पेय था। उनकी वाणी है

"मेरे मुरशिद ने एक दिन मुझसे कहा

ससार के लोगो का सम्बन्ध त्याग दो, अल्लाह का नाम स्मरण करो और शेष भूल जाओ।"

वे मरुस्थलीय वातावरण मे अपने समय का अधिकाश शान्तिपूर्ण भगवच्चिन्तन मे लगाते थे। वे कहा करते थे कि समस्त रूपो मे (अल्लाह) एक के ही सौन्दर्य का दर्शन करो, और कुछ देखना पाप है। वे परमात्मा की सत्य और सौन्दर्य-रूप मे उपासना करते थे। वे प्रेम के सौन्दर्य राज्य में सगीत के माध्यम से प्रवेश करते थे। सच्चल फकीर प्रसिद्ध सूफी सन्त फरीद अल-

दीन अत्तार की विचार-धारा से बहुत प्रभावित थे। वे ग्यारहवी शताब्दी में थे, उनकी अच्छे सूफी सन्तो में गणना है। सच्चल फकीर उनको इस्लामी जगत का महान सन्त मानते थे। उन्होंने परमात्मा के पथ पर चलने के प्रेममय गीत गाये।

सच्चल फकीर एकान्त और मौन को अपनी प्रेममयी भगवत्साधना का प्राण मानते थे। वे प्राय दरवाजा बन्द कर अधिक समय तक परमात्मा का चिंतन किया करते थे। वे रात-रात भर जागते रह जाते थे और उनकी आँखों में प्रेमाश्रु निरन्तर उमडता रहता था। उनके चेहरे पर दिव्य सौन्दर्य अकित हो उठता था, जब वे एकतारा लेकर प्रेम-सगीत गाने लगते थे और उनके सुन्दर केश हवा में लहराने लगते थे, तब असख्य प्राणी भगवत्प्रेम में निमग्न होकर उनके चरण देश में आत्मार्पण कर देते थे। वे मस्ती में गाया करते थे कि अपनी विषय-कामना का त्याग करो, अपने आप को मिटा देने की चिता मजाओ, अपने आप को उसी पर चढ कर जला दो। यह 'फना' का सिद्धान्त है। अपने आपको मिटा देने पर ही प्रियतम की सम्पूर्ण प्राप्ति होती है। उनका पद है

"जिन्हें तुम खोजते हो
वे प्रियतम हृदय में ही है।
तुम्हारे हृदय के उपवन में
ज्योत्स्ना थिरक रही है
प्रियतम का दर्शन करो।
प्रियतम ने सौन्दर्य के सात
घूघट ओढ लिये हैं
मैंने उनको अपने आप में देखा है।
मैंने उनको हरी-हरी घास
की पत्तियो पर पहिचाना है
अपने भीतर मैंने उनसे भेंट की।"

सच्चल फकीर के नयनों में प्रियतम का सौन्दर्य सदा पवित्र रमण करता रहता था, चारो ओर कण-कण में उन्हे अपने प्रियतम का ही रमणीय चित्र दीख पडता था।

सच्चल फकीर की प्रेममयी वाणी मे भगवत्सौन्दर्य विशेष रूप से निरवर सका है। उन्होंने अपने प्रियतम अल्लाह् के सम्बन्ध में कहा है कि वे मुझसे—एक ग़रीब फकीर से— मेरे अगने में मिलने आये, मैं धन्य हो गया, मेरा हृदय प्रेम से आपूर्ण हो गया। मैंने उनके पास बार-बार सन्देशवाहक भेजे, यही सन्देश था कि आप कब आयेंगे। और वे आ ही गये। वे मुझे उस लोक में लेने के लिये आये जिसमे शाश्वत प्रकाश आलोकित रहता है। सच्चल फकीर ने प्रियतम परमात्मा का पता बताया

"विनयसंम्पन्न पवित्र अन्त करण
तथा निर्मल और प्रबुद्ध मन में
प्रियतम का दर्शन करो।
तुम इधर-उधर क्यो भटकते हो?
तुम्हारे हृदय मे एक सौन्दर्यपूर्ण
रमणीय उपवन है जो।
स्वच्छ है और उसमे बुलबुल
गाती है प्रियतम का दर्शन करो।
तुम भीषण समुद्र मे
दूर-दूर तक क्यो भ्रमण
करते हो, तुम्हारे परम
सनातन अन्त करण मे
ही परमात्मा हैं,
प्रियतम का दर्शन करो।"

सच्चे सूफी की तरह दरवेश सच्चल ने प्रियतम परमात्मा को भीतर बाहर और हृदय में — सर्वत्र देखा। उन्होने कहा कि मुझ में, तुममे, उसमें सबमें उन्ही एक की सत्ता कार्यशील है और उनका प्रत्येक कार्य यज्ञ है।

सच्चल फकीर ने जीवमात्र के प्रति मैत्री, एकता और अभिन्नता की सीख दी। वे जाति, वर्ग, मतमतान्तर से अतीत—निरपेक्ष होने पर बहुत ज़ोर देते थे। एक ही सत्य सब में समान रूप से परिव्याप्त है, उसी की अनुभूति जीवन में उतारनी चाहिये। वे रहस्यवादी थे। वे अपने जीवन को सदा पूर्ण प्रेममय देखना चाहते थे। उन्होने सनातन भागवत प्रेम की सीख दी कि मैं

अपने आपको किसी विशेष धार्मिक सिद्धान्त में नही जकडना चाहता हूँ और न उसे स्वीकार ही करता हूँ। मुल्ला लोगो ने उनके प्रति विद्रोह किया। सच्चल फकीर ने समझाया

"मैं आप लोगो मे से प्रत्येक से
कहता हूँ कि आप पहले
अपने आप को जानिये।
इसके उपरान्त प्रेम के पथ पर
चलिये। मेरे मुरशिद ने
मुझे इस प्रेम-पथ पर चलना
सिखाया है।"

मुल्ला लोगो ने खैरपुर राज्य के मीर—शासक से उनकी शिकायत की। मीर सच्चल का मित्र और शिष्य था। मुल्लाओ की शिकायत निष्फल हो गयी। सच्चल फकीर की उक्ति है

"प्रेम का न्याय देखो,
इससे समस्त मत-मतान्तरो से
मुक्ति मिल जाती है।"

गुरुग्रन्थ साहब और सन्त नानक के प्रति उनके मन में बडी श्रद्धा थी।

सच्चल फकीर सरमद—ईश्वरोन्मत्त कहे जाते थे। समकालीन सूफी कवि बेदिल ने मनसूर से उनकी उपमा दी है। सरमद सच्चल का वचन है

"मेरे पाप और भूल को
मत देखो, प्रियतम मुझ
पर दया करो। मैं—पापी
और सेवक—दरवाजे पर खडा हूँ।
मैं अपवित्र और दोषो से पूर्ण हूँ,
हे दयामय! घूघट उठा कर तुम
मुझसे कृपापूर्वक बात करो,
जिससे मैं तुम्हारा सुन्दर
मुख देख सकूँ।"

उन्होने किसी को कभी अपना शिष्य नही कहा। वे सबको समानरूप से प्यार करते थे, उनकी वाणी है

"एक दिन मै बाजार गया
मैने लडको के हाथ में
एक बुलबुल देखी,
उन्होने उसको लाल डोरे
से बाध रखा था।
मै बुलबुल के पास गया,
मैने उससे पूछा 'हे प्रेम-पक्षी!
गीतो की रानी, तुमने इस बन्धन के
लिये रमणीय उपवन क्यो छोड दिया?'
बुलबुल ने मुसकरा कर कहा
'क्या तुम नही जानते हो
कि जो प्रेम-पथ पर चलता है
उसे लाल धागा धारण करना चाहिये
और प्रियतम को सर्वस्व समर्पित
कर देना चाहिये।"

वे कहा करते थे कि यदि प्रियतम की खोज है तो वे हृदय-मन्दिर मे ही निवास करते है। सच्चल फकीर अद्भुत प्रेमी थे।

सन्त सच्चल ने आजीवन दिव्य प्रेम का ही गान गाया। उन्होने सम्वत् १८८९ वि में रमजान की चौदहवी तिथि को असार ससार का त्याग कर प्रेमलोक की यात्रा की। इस समय उनकी अवस्था नब्बे साल की थी। दारजन में उनकी समाधि मानवता को दिव्य भागवत प्रेम का सन्देश देती हुई खडी है जिसके दर्शन मात्र से रोम-रोम में परमानन्द का मधुर सागर उमड पडता है। सच्चल फकीर पहुँचे हुए सन्त थे। सिन्ध की पवित्र भूमि धन्य है जिसने सच्चल फकीर का सस्पर्श पाया।

रचना

समय-समय पर निकले पदबद्ध प्रेमोद्गार ही उनकी अमरकृति के रूप मे सुरक्षित है।

वाणी

मै घर हीन हूँ, प्रत्येक स्थान और चित्र मे मै ही अभिव्यक्त हूँ। मेरे आलोकपूर्ण घर में अन्धकार नही है। सच्चल का नाम मिट गया, चारो ओर केवल एक प्रियतम ही समस्थित है।

सर्वत्र प्रियतम का ही चित्र है, वे ही सर्वश्रेष्ठ छवि है। वे सौन्दर्य देखने के लिये जगत में आते हैं– दिव्य नाटक के सौन्दर्य-दर्शन के लिये आते हैं। वे परम कलाकार है, अपनी ही सृष्टि का चित्र देखने आते हैं।

उससे प्रेम करना सीखो जो कहता है कि मै तुम्हारा शत्रु हूँ।

सन्त हरिहर बाबा

पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

राम-नाम का स्मरण करने से निस्सन्देह सद्गति मिल जाती है, ससार-सागर से पार उतरने का सहज साधन एक मात्र राम-नाम है। राम-नाम में प्रीति-वृद्धि समस्त मुक्ति की प्रतीक है। सन्त हरिहर बाबा राम नाम के परम रसिक महात्मा थे। जीवन के अन्तिम काल तक मुक्तिक्षेत्र काशी में भगवती भागीरथी में नाव पर निवास कर उन्होने अपनी अविचल राम-नाम-निष्ठा का जो रसास्वादन कराया वह सन्त जगत के लिये एक मौलिक देन है। हरिहर बाबा राम के बहुत बडे उपासक थे। उनकी कृपा से असख्य प्राणियो ने आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त की।

हरिहर बाबा का जन्म बिहार प्रान्त के छपरा जनपद में जाफरपुर गॉव मे लगभग डेढ सौ साल पहले एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनका बचपन का नाम सेनापति तिवारी था। उनके माता-पिता बडे पवित्र विचार के थे। दैवयोग से सेनापति की अल्पावस्था मे ही माता-पिता ने परलोक की यात्रा की। सेनापति का मन सहसा भगवान की ओर लग गया। कुछ समय तक सोनपुर और भागलपुर में विद्याध्ययन किया। इसी समय उनके एक भाई हरिहर का देहान्त हो गया। इस घटना ने सेनापति के जीवन की गति-विधि बदल दी। वे हरिहर की याद लेकर भगवान राम के पवित्र-धाम अयोध्या मे चले आये। भगवती सरयू का पवित्रदर्शन कर वे निहाल हो गये। उन्होने भगवान राम की पवित्र लीलाभूमि की श्रद्धापूर्वक वन्दना की। सरयू के पवित्र तट पर रह कर उन्होने कठिन तपस्या का जीवन अपनाया, कठोर-से-कठोर उपवास-व्रत मे सलग्न होकर वे परमात्मा के चिंतन में निमग्न हो गये। अल्पाहार से ही सतोष कर लेने का उन्होने स्वभाव बना

लिया। काशी-दर्शन की उनकी बडी इच्छा थी। वे तप करने के लिये विश्वनाथ की नगरी काशी मे आ गये। काशी आने पर भगवती गगा मे ही नाव पर निवास करने का उन्होने नियम लिया और आजीवन उन्होने इस नियम का अपने जीवन में पालन किया। उनकी काशी और गगा के प्रति भक्ति असाधारण कोटि की थी। काशी में वे नगवा से अस्सी घाट के बीच में गगाजी में रहते थे। कभी कभी तुलसीघाट और सकटमोचन आदि पर आया करते थे। काशी मे वे हरिहर भैया के नाम से प्रसिद्ध हुए। काशी-निवास-काल मे वे वीतरागानन्द नाम के एक महत्मा के सम्पर्क में आये। उनके चरण में हरिहर वावा की वडी निष्ठा थी। महात्मा वीतरागानन्द की उनपर बडी कृपा थी।

हरिहर वाबा शौच आदि के लिये गगा के उस पार जाया करते थे। कडी मे कडी गरमी, भयानक शीत और अपार जलवृष्टि का सामना कर वे अपने नियम का आजीवन पालन करते रहे। कभी-कभी तो नाव के अभाव में वे तैर कर गगा के उस पार जाते थे। निस्सन्देह वे असाधारण हठयोगी थे। वे परमहस थे। उन्होने परमात्मा के अनन्याश्रय का वरण किया, ससार के पदार्थ और प्राणियो मे उनकी तनिक भी ममता न रह गयी।

एक दिन वे एक घटना से क्षुब्ध होकर नगवा से अस्सी घाट पर चले आये। काशी विश्वविद्यालय का एक छात्र जूता पहन कर उनकी नाव—हरिहर-आश्रम पर चला आया। हरिहर वावा के शिष्यो ने उसको समझाया कि सन्त के सान्निध्य मे ऐसा आचरण अपराध माना जाता है। छात्र ने इस पर ध्यान नही दिया और अपन अनेक साथियो के साथ उसने वडा उत्पात किया। वावा ने नगवा छोड दिया, उनके सकेत पर नाव अस्सी घाट की ओर चल पडी। उन दिनो विश्वविद्यालय के सस्थापक महामना मदनमोहन मालवीय काशी मे नही थे। काशी आने पर वे विश्वविद्यालय के प्राध्यापको को साथ लेकर वावा से सतापराध के लिये क्षमा मागने गये। उन्होने एक पैर पर खडे होकर क्षमा मागी और विनम्रता पूर्वक नगवा लौट चलने का आग्रह किया। हरिहर वावा अपने नियम के वडे कडे थे। वे अस्सी घाट पर ही रह गये और मालवीय जी के विशेप अनुरोव पर उन्होने कृपापूर्वक आज्ञा दी कि तुलसीघाट का जीर्णोद्धार करा दिया जाय। मालवीय जी ने इसे अपना परम सौभाग्य माना। हरिहर वावा ने नश्वर शरीर छोडने की अवधि तक अस्सी पर ही गगा जी मे नाव पर निवास किया। रामायण-पाठ और राम-

नाम की मधुर कीर्तन-ध्वनि से काशी नगरी धन्य हो उठी। भक्ति, मुक्ति, विरक्ति और शक्ति सन्त हरिहर बाबा के आश्रम में—नाव पर निवास करने लगीं।

सन्त का जीवन दिव्य घटनाओ से प्राय सम्पन्न होता है, वे चमत्कार और प्रदर्शन से दूर रहते हैं। सन्त हरिहर बाबा के जीवन में अनेक दिव्य घटनाओ का होना पाया जाता है। एक समय की बात है, उनके तलवे मे नागफनी का काटा गड गया, वे शान्त रहे पर जब उन्होने सुना कि महाराज वीतरागानन्द को भी नागफनी ने अमित कष्ट दिया है तो वे कह पडे कि नागफनी सब को कष्ट देती है इसलिये उसे नष्ट ही हो जाना चाहिये। लोगो के देखते-ही-देखते गगा के दोनो तटों पर नागफनी का अस्तित्व तक समाप्त हो गया। वे वाग्सिद्ध महात्मा थे, एक शब्द भी व्यर्थ कभी नही बोलते थे।

राम-नाम मे उनकी बडी निष्ठा थी। एक समय की बात है कि वे शौच आदि से निवृत होने के लिये नाव से उस पार जा रहे थे। गगा का जल बाढ पर था, धारा वेगवती थी। नाव डूबने लगी, केवट ने बडा श्रम किया पर फल कुछ भी न निकला। बाबा ने केवट को यत्न करने से मना किया। उनके आदेश से लोग राम-नाम जपने लगे। बात-की-बात में उनकी राम-नाम-निष्ठा से नाव डूबने से बच गयी। राम-नाम के प्रताप से जल में शिला तैरती है, काठ की नाव डूबने से बच गयी, यह कोई आश्चर्य की घटना थोडे ही है। राम-नाम से क्या नही हो सकता है।

बाबा चराचर में आत्मदर्शन करते थे। वे अद्वैत-वेदान्ती भक्त थे। एक समय की बात है, काशीनरेश का हाथी पागल होकर उत्पात करने लगा। उसने गगा पार की, रामनगर में बडा उपद्रव किया। लोग प्राण बचाकर इधर-उधर भागने लगे। हाथी उन्मत्त अवस्था में बाबा के सामने आया। सन्त हरिहर उस समय शान्तिपूर्वक राम-नाम का चिन्तन कर रहे थे। हाथी पर उन्होंने कृपा-दृष्टि की। वह स्वस्थ हो चला। उसने बाबा का आदरपूर्वक अभिवादन किया और शान्त होकर चला गया। ऐसी अनेक घटनायें बाबा के जीवन में घटती रहती थी।

सन्त हरिहर बाबा परम सन्त थे। राम-नाम-सकीर्तन-ध्वनि ही उनके श्वासो की अधिष्ठात्री शक्ति थी। तपस्या के तो वे साकार विग्रह ही थे। काशी में इधर सौ सालो मे इतने बडे तपस्वी सन्त हरिहर बाबा ही थे। निस्सन्देह वे अरुणाचल के रमण महर्षि के उत्तरी दिव्य सस्करण थे। रमण

महर्षि आत्मयोगी थे तो हरिहर बाबा परमात्मा के सयोगी थे। दोनो-के-दोनो वेदान्ती सन्त और भक्त के मौलिक समन्वय थे। सन्त हरिहर कहा कहते थे कि राम का नाम ही परमामृत तत्व है। सन्यासी को साधारण जीवन विताना चाहिये और कथनी-करनी मे समान रहना चाहिये। धन, ऐश्वर्य, मद और मान को वे आध्यात्मिक साधना के पथ में बडा बाधक मानते थे। वे काशीवास, गगाजल-सेवन, सत्सग और भगवान विश्वनाथ की आराधना की ही सदा सीख देते थे। वे शैव और वैष्णव के समन्वय थे। बाबा का दृढ विश्वास था कि मुक्ति की मूलभूमि सन्यास है।

सन्त हरिहर की साधना की प्राणभूमि शान्ति थी। वे सदा गूढ चितन में निमग्न होकर आत्मगत शाश्वत शान्ति की खोज करते रहते थे। वे उपासना और साधना से परे उपास्य और सिद्ध थे। वे गोस्वामी तुलसीदास के तपरूप थे। उन्होने दिगम्बर वेष मे गगा में खडे होकर सूर्य से नेत्र मिलाकर लम्बे समय तक तपस्या की। राम और शिव के अभिन्न स्वरूप मे उनकी बुद्धि परम स्वस्थ और स्थिर थी।

जीवन के अन्तिम दिनो मे वे केवल गगाजल का ही पान करते थे। हरिहर आश्रम—नाव की छत पर अद्भुत शान्ति में वे रामनाम का रसास्वादन करते रहते थे। उनके दर्शन से दिव्य शान्ति मिलती थी। सम्वत् २००९ वि में आषाढ शुक्ल पचमी शुक्रवार को साढे ग्यारह बजे रात में उन्होने नश्वर शरीर का परित्याग कर परम धाम की यात्रा की। वे निष्काम भक्त और आत्मज्ञानी सन्त थे।

रचना

समय-समय पर उनके मुख से निकले वचन ही उनकी कृति हैं।

वाणी

यदि काशी और गगा जी के वदले स्वर्ग भी मिले तो वह त्याज्य है।

सन्यासी को कथनी के अनुरूप आचरण करना चाहिये।

अध्यात्म-पथ के पथिको को विघ्न-वाधाओ से नही घवडाना चाहिये।

प्राणीमात्र को काशी-वास, गगाजल-सेवन, सत्सग और भगवान शिव—परमात्मा का भजन करना चाहिये।

महात्मा चन्द्रशेखर भारती

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम् ।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिन ॥

आत्मस्वरूप को जान लेने वाले और स्वानदन्दरस का पान करने वाले के लिये वासना रहित मौन से बढ़ कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है।

—विवेकचूडामणि । ५२८

लोक कल्याण के लिये निरन्तर परमात्मा का आत्माभिव्यञ्जन होता रहता है। परमात्मा की आत्मविभूति उतर कर सदा अगणित प्राणियो को स्वरूपरस का अनायास आस्वादन कराती रहती है। सन्त चन्द्रशेखर भारती परमात्मा की आत्मविभूति थे। आदि शकराचार्य की अद्वैत सन्त-परम्परा की अविच्छिन्न शृखला की एक दृढ कडी थे। उन्होने असख्य प्राणियो को आत्मरस की शीतल ज्योत्सना से परितृप्त किया।

सन्त चन्द्रशेखर भारती ने सम्वत् १९४८ वि में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को शृगेरी में जन्म लिया था। उनके माता-पिता लक्ष्मी अम्वा और गोपाल शास्त्री वडे धर्मनिष्ठ और सदाचारव्रती थे। गोपाल शास्त्री उच्च कोटि के विद्वान थे। गोपाल के चौदह पुत्र थे पर उनमें से केवल एक नृसिह ही वच रहे। शृगेरी मठ के अधिकारी श्रीकान्त शास्त्री ने नृसिह के पालन-पोषण का भार सम्हाला। नृसिह को माध्यमिक विद्यालय मे पढने के लिये भेजा गया।

जव नृसिह केवल वारह साल के ही थे, उन पर जगद्गुरु शकराचार्य सच्चिदानन्द शिव अभिनव नृसिह भारती की कृपादृष्टि पडी। शकराचार्य के वे कृपापात्र वन गये, उनकी आज्ञा से नृसिह ने सद्विद्यासजीवनी पाठशाला में प्रवेश किया। आचार्य के आदेश से उन्होने वगलोर पाठशाला के मीमासा-विभाग में अध्ययन आरभ किया।

शकराचार्य नृसिह को बहुत मानते थे। उनकी तीव्र इच्छा थी कि वे नृसिह को अपना उत्तराधिकारी घोषित करे। सम्वत् १९६९ वि मे शकराचार्य का स्वास्थ्य गिरने लगा। उन्होने नृसिह को लाने के लिये बगलोर आदमी भेजा। नृसिह के पहुँचने के पहले ही वे आत्मलीन हो गये। दक्षिण भारत के पवित्र शृगेरी मठ के शकराचार्य-पद पर नृसिह की चन्द्रशेखर भारती के नाम से प्रतिष्ठा हुई। जगद्गुरु शकराचार्य की उपाधि से सम्पन्न होना उनके जीवन का एक अमित महत्वपूर्ण अध्याय था।

अपने गुरु—पूर्ववर्ती शकराचार्य के चरण-देश मे उनकी अमित निष्ठा और श्रद्धा थी। तीन साल की अवधि मे गुरु की आत्मतुष्टि के लिये उन्होने सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र का अध्ययन समाप्त कर लिया। वे सत्य के साक्षात्कार में लग गये। कठोर तप का आचरण अपनाया। आत्मचिंतन और परमात्मा के ध्यान मे वे अपने समय के अधिकाश का सदुपयोग करने लगे। सम्वत् १९७६ वि में पिता और १९७९ वि में माता ने परलोक-गमन किया। ममता के बन्धन-राज्य से मुक्त होकर सन्त चन्द्रशेखर भारती आत्मान्वेपण में लग गये।

उन्होने दक्षिण भारत के पवित्र क्षेत्रो की यात्रा आरम्भ की। रामेश्वर, मदुरा, त्रिवेन्द्रम् और कालडी आदि में उन्होने अद्वैत मत का प्रचार किया।

महात्मा चन्द्रशेखर भारती में दूसरे के मन की वात जान लेने की अद्भुत क्षमता थी। एक दिन वे तीर्थ प्रसाद का वितरण कर रहे थे। एक व्यक्ति की उनसे उसी समय मिलने की बडी इच्छा थी। व्यक्ति के साथी ने उमसे कहा कि इस समय मिलना ठीक नही है। चार बजे शाम को मिलना अच्छा रहेगा। व्यक्ति दर्शनार्थियो मे खडा होकर प्रसाद लेने लगा। सन्त भारती ने कहा कि आप आन्ध्र के अमुक ग्राम से आ रहे हैं। अच्छा, हम लोग चार वजे शाम को वात करेगे। व्यक्ति उनके मुख से ऐसी वात सुन कर आश्चर्यचकित हो गया कि भारती कभी आन्ध्र गये ही नही, उनको किस तरह मेरे ग्राम का पता चला और चार वजे शाम को मिलने की वात तो और भी आश्चर्यजनक थी।

एक दिन एक व्यक्ति ने उनसे मद्रास जाने की आज्ञा माँगी। वह उनमे वडी श्रद्धा रखता था। सन्त भारती के पूछने पर कहा कि मद्रास में वहुत आवश्यक कार्य है। भारती ने कहा कि आवश्यक कार्य तो वीच में ही है। वह

उनके आदेश से मद्रास के लिये चल पडा। पर बीच में ही अरकोनम जकशन पर उसका पैर गाडी और प्लेटफारम के बीच में फिसल गया और प्राण जाने तक की आशका थी पर मित्रो की सहायता से बच गया। अब वह सन्त भारती के कहने का आशय समझ सका। मद्रास से शीघ्र ही शृगेरी लौट आया। कुछ भी काम न कर सका। सन्त भारती ने कहा कि मैं समझता हूँ कि प्रात काल विशेप असुविधा नही हुई होगी।

एक दिन वे चरणामृत-वितरण कर रहे थे। एक महिला व्यग्र थी, शान्ति भग कर रही थी, उसकी लडकी की सोने की माला खो गयी थी। किसी ने कहा कि अशान्ति मत फैलाओ, प्रसाद लेकर घर चले जाओ। महिला ने ऐसा ही करना चाहा, सन्त भारती ने उसको प्रसाद नही दिया और अलग खडी रहने का सकेत किया। इसे अपना अभाग्य समझ कर वह बडी दुखी हुई। कुछ ही क्षणो के बाद एक बूढी स्त्री प्रसाद लेने आयी। सन्त भारती ने धीरे से कहा कि माला दे दो। बुढिया ने कहा कि मेरे पास नही है। सन्त ने कहा कि अपने पाप मत बढाओ। दूसरी महिलाओ ने बुढिया के पास से माला निकाल कर पहली महिला को दे दी। सन्त भारती ने उसको प्रसाद दिया और उनकी कृपा से वह प्रसन्नतापूर्वक घर गयी।

उनकी उपदेश अथवा शिक्षा देने की पद्धति अद्भुत और मौलिक थी। वे प्राय मौन रहते थे, बहुत कम बोलते थे पर उनके दो-चार शब्दो मे ही इतनी शक्ति रहती थी कि सुननेवाले कभी भूलते ही नही थे। सन्त भारती वादविवाद से बहुत दूर रहते थे। वे सार्वजनिक धर्मोपदेश को महत्व नही देते थे। व्यष्टि की शिक्षा-दीक्षा मे उनकी आस्था थी। वे कहा करते थे कि सार्वजनिक भापण से तनिक भी लाभ नही होता है। वे कहा करते थे लोगो को ब्रह्मतत्व की व्याख्या समझाना नितान्त व्यर्थ है जब वे असत्य भापण और असत्य आचरण तक नही छोड पाते है। एक समय की बात है, उन्होंने एक पण्डित से पूछा कि आप अमुक ग्रन्थ का भाष्य तो कर रहे हैं न। पण्डित जी ने कहा कि आप की कृपा और आशीर्वाद से यह कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। सन्त भारती ने दैनिक उपासना के सम्बन्ध मे पूछा तो पण्डित जी ने कहा कि मैं एक बडे नगर मे रहता हूँ, उसमें उपले नही मिलती हैं इसलिये अग्नि सुरक्षित रख कर उपासना करने की सुविधा ही नही मिलती है। सन्त भारती ने कहा कि बडे नगर मे गाय के दूध से आप चाय और काफी तो पी

लेते हैं पर गाय उपले नही दे सकती है। पण्डित जी लज्जा से नत हो गये।

अद्वैतमार्गी होते हुए भी वे द्वैत सिद्धान्त के पूर्ण मर्मज्ञ थे। भगवान के श्रीविग्रह मे उनकी अनुपम निष्ठा थी। एक समय की बात है कि एक ब्राह्मण भक्त ने सन्त भारती को अपनी पूजा की पेटिका दिखायी, वह ऐसा करके उनका आशीर्वाद पाना चाहता था। पेटिका मे कई एक भगवद्विग्रह थे। उनमें एक शालिग्राम-विग्रह भी था। सन्त भारती ने विष्णु-अश वाले उस विग्रह की ओर सकेत कर कहा कि आश्चर्य है कि भगवान सात साल से भूखे हैं। ब्राह्मण उनकी बात से चकित हो गया। उसने विनम्रता से कहा कि पिता जी के देहान्त के बाद मै आजतक इम पेटी के सभी विग्रहो की पूजा-अर्चा करता आ रहा हूँ। भारती ने कहा कि यह बात ठीक है पर शालिग्राम-विग्रह विशेप विष्णु-विग्रह है। इस विग्रह को नित्य क्षीर-अभिषेक और पायस निवेदन कराना चाहिये। ब्राह्मण को अब भारती की बात का महत्व समझ में आया। उसने कहा कि मेरे पिता का देहान्त ठीक सात साल पहले हो गया था, तबसे मैं इस पेटी के सभी विग्रहो को समान रूप से नैवेद्य आदि अर्पित कर देता था। भारती ने कहा कि शालिग्राम-विग्रह की यथाविधि पूजा भविष्य में करते रहना चाहिये। इस घटना से पता चलता है कि सन्त भारती की भगवान की प्रतिमा मे कितनी निष्ठा थी।

चन्द्रशेखर भारती की दृढ मान्यता थी कि धर्मका दरवाजा सब के लिये समान रूप से खुला हुआ है। यथाशक्ति प्रत्येक व्यक्ति धर्म का अनुगमन कर ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार-लाभ कर सकता है। सन्त भारती आत्मज्ञ थे, वे चराचर में अपनी ही आत्माभिव्यक्ति का दर्शन करते थे। एक समय की बात है। सन्त भारती शृगेरी के शारदा-मन्दिर मे पूजा करने जा रहे थे। दक्षिण द्वार के प्रवेशमार्ग पर एक गाय बैठी थी। मन्दिर में प्रवेश करना कठिन था। सन्त भारती गाय के सम्मुख बैठ गये और पूजा की सारी सामग्री से उसी की पूजा करने लगे। पूजा समाप्त होने पर गाय खडी हो गयी। भारती ने उसकी प्रदक्षिणा की, उसने मन्दिर में जाने का रास्ता दे दिया। सन्त भारती के लिये गाय भगवती की सजीव प्रतिमा थी। इसी तरह एक दिन चन्द्रशेखर भारती मठ मे ही चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग का अभिषेक कर रहे थे। अचानक एक भुजङ्ग दीख पडा। वह उठा कर खडा हो गया। सन्त भारती ने प्याले में दूध लेकर उसको अपने

हाथ से पिलाया। दूध पीने के बाद साँप न लिंग की ओर देखा और सन्त भारती का अभिवादन कर चला गया। ये घटनायें अकाट्य प्रमाण हैं कि सन्त भारती जीवमात्र में आत्मदर्शन करते थे। निस्सन्देह उनका समस्त जीवन अद्भुत घटनाओ का प्रतीक था। सन्त भारती की सीख थी कि सदा ईश्वर को स्मरण करना चाहिये। नित्य उपासना करनी चाहिये। धन आदि की प्राप्ति के पीछे समय नही नष्ट करना चाहिये। मन मे अनासक्ति और निरपेक्षता का भाव वढाना चाहिये। भारती आत्मशान्ति पर वडा जोर देते थे। वे समस्त विकारों से अतीत होकर आत्मानन्द के सागर में अपने आप निमग्न रहते थे। वे प्रपचातीत रह कर भी जगत् के प्राणियो के कल्याण की छोटी-से-छोटी वात का ध्यान रखते थे। एक समय मठ का अधिकारी एक तार लेकर उनके पास आया। पूछने पर कहा कि ख का तार आया है, उसका भाई क वीमार है, वह रोग मुक्त होने के लिये आप की कृपा चाहता है। भारती ने कहा कि तार ख का नही, क का है, ख वीमार है। तार पढने पर अधिकारी को अपनी भूल का पता चला।

सन्त भारती चमत्कार और प्रदर्शन से वहुत दूर रहते थे। सच्चे और उत्साही भक्तो और शिष्यो से ही वे मिलते थे। एक वार वे मौन थे। एक भक्त उनके पास वैठे थे। जगद्गुरु ने मौन तोड कर कहा कि आप यहाँ इसलिये वैठे हैं कि मै आप से वोलू। वोलना क्रिया है। क्रिया के पीछे कर्म रहता है। वोलने का कार्य ब्रह्म और जगत् को लेकर सम्भव हैं। ब्रह्म वाणी द्वारा कहा जा सकता नही है, और वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार जगत् अनिर्वचनीय है। उसका भी कथन में आना सम्भव नही है। इतना कह कर सन्त भारती फिर मौन हो गये। उन्होने आत्मा को विश्वात्मा—परमात्मा में अभिन्न कर दिया।

सम्वत् २०११ वि की वात है। आश्विन अमावस्या रविवार को प्रात. काल वे तुग सरिता मे स्नान करने गये। एक शिष्य उनके पीछे-पीछे गया। शिष्य ने कहा कि आगे अथाह जल है। सन्त भारती ने कहा कि मुझे ज्ञात है। थोडी देर में उनका शरीर डूव गया। शिष्य ने वचाने की चेष्टा की पर उसका शरीर भी नदी मे वह गया। शिष्य तो वच गया पर सन्त भारती ने जल-समाधि ले ली। चन्द्रशेखर भारती वीसवी शताव्दी के महान् सन्तो में से एक थे, वे वास्तव में जगद्गुरु थे।

रचना

उनके उपदेश ही अमर कृति के रूप मे सुरक्षित हैं।

वाणी

धर्म के पथ पर सब लोग चल सकते है। वह बहुत लम्बा चौडा है। इस पथ पर बहुत आगे बढने पर ब्रह्मसाक्षात्कार सहज हो जाता है।

ईश्वर का सदा स्मरण करना चाहिये। नित्य उपासना करनी चाहिये। धन के पीछे नहीं दौडना चाहिये। अपने आप में तृप्त और तुष्ट रह कर अनासक्ति का भाव बढाना चाहिये।

क्या धर्म–शिक्षा की आवश्यकता है। लोग जानते ही है कि असत्य नही बोलना चाहिये और न किसी को दुख देना चाहिये। बिना सिखाये ही लोग इसका आचरण करते हैं। जो वे अच्छा समझते हैं वही उनको करने देना चाहिये।

सहायक पुस्तक-सूची

हिन्दी

१ हिंदी सतकाव्य-सग्रह (श्रीगणेशप्रसाद द्विवेदी; हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)

२ उत्तरी भारत की सत-परम्परा (श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती-भण्डार, प्रयाग)

३ सतकाव्य (श्री परशुराम चतुर्वेदी, कितावमहल, इलाहाबाद)

४. भक्तमाल सटीक (सीतारामशरण भगवानप्रसाद 'रूपकला'; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)

५ गोरखवानी (स श्रीपीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

६ सत-सुधासार (स श्रीवियोगी हरि, सस्ता साहित्यमण्डल, दिल्ली)

७ एकनाथ-तुलसीदास (श्री जगमोहनलाल चतुर्वेदी, एकनाथ-संशोधन-मन्दिर, पैठण, औरङ्गाबाद)

८ श्री एकनाथ-चरित्र (मूललेखक श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर. अनुवादक प लक्ष्मणनारायण गर्दे, गीता प्रेस, गोरखपुर)

९ सत सिंगाजी (सिंगाजी-साहित्यशोधक-मण्डल, खण्डवा)

१०. रमणमहर्षि (रमणाश्रम, तिरुवण्णमलै)

११. भागवतसम्प्रदाय (ले. श्री बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी)

१२ हिंदी साहित्य का इतिहास (प रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी)

१३ अष्टछाप-परिचय (श्री प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा)

१४ सतवानी सग्रह १-२ भाग (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)

१५ दासबोध (समर्थ रामदास, चित्रशाला प्रेस, पूना)

१६. नाथसम्प्रदाय (प. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)

१७. ज्ञानेश्वर-चरित्र (मूललेखक • लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, अनु० प. लक्ष्मण नारायण गर्दे गीता प्रेस, गोरखपुर)

१८ कबीर-ग्रन्थावली (स श्री श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

१९ कविता-कौमुदी (प रामनरेश त्रिपाठी, हिंदी मन्दिर, प्रयाग)

२० महात्मा बसवेश्वर के वचन (श्री एम एन शिवप्पा और ब्रदर्स, चिकपेट चौक, बगलौर)

२१. आन्ध्र देश के कबीर—श्रीवेमना (श्री वाराणसि राममूर्ति 'रेणु', हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

२२. तीर्थंकर वर्द्धमान (श्रीचन्द रामपुरिया, हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया, सुजानगढ़, बीकानेर)
२३ शकराचार्य (श्री बलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)
२४ ज्ञानेश्वरी (हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस)
२५ चैतन्यचरितावली (गीता प्रेस, गोरखपुर)
२६ बृहद् भागवतामृतम् (सनातन गोस्वामी, रतनलाल बेरीवाला, वृन्दावन)
२७ उज्ज्वल नीलमणि (रूप गोस्वामी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)
२८ हरिभक्तिरसामृतसिंधु (रूप गोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, बनारस)
२९ गोपालचम्पू (देवकीनन्दन प्रेस, वृन्दावन)
३० ललितमाधव (रूप गोस्वामी, मजूषा प्रिं वर्क्स, ढाका)
३१ विदग्ध माधव (रूप गोस्वामी, निर्णय सागर प्रेस बम्बई)
३२ लघुभागवतामृतम् (रूप गोस्वामी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)
३३. वल्लभाचार्य जी की वार्ता (लल्लूभाई छगनभाइ देसाई, गांधी रोड, अहमदाबाद)
३४ चौरासी वैष्णवन की वार्ता
३५. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता } (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)
३६ चरनदास की बानी (वेलेवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)
३७ भक्तिसागरादि (स्वामी चरणदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)
३८. श्रीशुकसम्प्रदाय-प्रकाश (रूपमाधुरीशरण, सरसकुञ्ज, युगलघाट, वृन्दावन)
३९. रूपकला-सस्मरण (रघुनाथ प्रसादसिंह, सखीमठ, छपरा)
४०. स्वामी राम-जीवनकथा (सरदार पूरनसिंह, रामतीर्थ प्रतिष्ठान, लखनऊ)
४१ स्वामी रामदास काठिया बाबा (श्रीसन्तदास बाबाजी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद)
४२ रूपकला-प्रकाश (रघुवंश भूषण शरण, प्रेमभक्तिसत्सग कार्यालय, रूपकलाघाट, अयोध्या)
४३. हिंदी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय (श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लीशिंग हाउस, लखनऊ)
४४ तुलसी-ग्रन्थावली (स० लाला भगवानदीन, श्री ब्रजरत्नदास, प० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी-सभा काशी)
४५ सुन्दर-ग्रन्थावली (पुरोहित हरिनारायण जी शर्मा, राजस्थान रिसर्च-सोसाइटी, कलकत्ता)
४६ भारत के निर्माता (प० कृष्णवल्लभ द्विवेदी, हिंदी विश्वभारती कार्यालय, चारबाग, लखनऊ)

४७ तुकाराम-चरित्र (मूललेखक · लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, अनु० प० लक्ष्मण नारायण गर्दे, गीता प्रेस, गोरखपुर)
४८. दरियासागर (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४९. चैतन्यदेव (सुदरानन्द विद्याविनोद; गौड़ीय मिशन, बागबाजार, कलकत्ता)
५० रमण-वाणी (रमणाश्रम तिरुवण्णामल्लै)
५१. सन्त-अंक [कल्याण] (गीता प्रेस, गोरखपुर)
५२ भक्तचरिताक [कल्याण] (गीता प्रेस, गोरखपुर)
५३. संतवाणी-अक [कल्याण] (गीता प्रेस, गोरखपुर)

बंगला

१. महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीर जीवनवृतान्त (ले० श्री वकबिहारी कर; 'सन्देश' कार्यालय, सुकिया स्ट्रीट, कलकत्ता)
२. वामाक्षेपा (ले० योगीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, बागची एण्ड क०, मसजिद बाड़ी स्ट्रीट, कलकत्ता)
३. महाजन-पदावली [चण्डीदास व विद्यापति] (प्रमथनाथ जी चट्टोपाध्याय अक्षय प्रेस, कलकत्ता)
४. महात्मा तैलंग स्वामीर जीवनचरित व तत्वोपदेश (ले. उमाचरणजी मुखोपाध्याय, आर्ट यूनियन प्रि. वर्क्स, हातीबागान, कलकत्ता)

गुजराती

१. श्रीहरिरायजी [जीवन अने बोध] (जेठालाल गोवर्धनदास शाह: शुद्धाद्वैत सत्सङ्, अहमदाबाद)
२. साहित्य-प्रवेशिका (श्री हिम्मतलाल गणेश जी अजारिया, सस्तु साहित्य-वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद)
३. श्रीभजन-सागर [पहेलो तथा बीजो भाग] (सस्ता साहित्य वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद)
४. महात्मा सरयूदास (सस्ता साहित्य-वर्धक, कार्यालय, बम्बई)
५ भक्त कवि दयाराम भाईनु आन्तर जीवन अथवा दिव्य अक्षर देह (ले श्री मूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला, जेठालाल गोवर्धनदास शाह; नारायणदास परमानन्ददास शाह, डभोईवाला, बम्बई ४)

मराठी

१. सतचरित्रमाला (लक्ष्मण रामचन्द्र पागारकर, मुमुक्षु कचेरी, बुधवार पेठ, पूना)
२. मोरोपन्त : चरित्र आणि काव्यविवेचन (लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, कर्नाटक पब्लिशिग हाउस, चीराबाजार, बम्बई २)

३ समर्थ रामदास (ज. स. करन्दीकर. समर्थ सेवा-मण्डल, सज्जनगढ़, सातारा)

अंग्रेजी

१ लल्ल वाक्यानि (स जार्ज ग्रियर्सन और बारनट, दि रायल एसियाटिक सोसायटी, ७४, ग्रासवेनर स्ट्रीट, लन्दन डब्लू १)

२ अरली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बगाल (सुशील कुमार जी दे, जेनरल प्रिंटर्स एण्ड पब्लीशर्स लि , कलकत्ता)

३ स्टोरीज आफ इण्डियन सेन्टस् [ट्रान्सलेशन आफ भक्तविजय बाई महीपति] बाई डाक्टर जस्टिन ई एवाट एण्ड प एन. आर गोडबोले, आफिस आफ दि पोएट सेन्टस् आफ महाराष्ट्र, ६२७ सदाशिव, पूना)

४ मथुरा (बाई ग्राउज)

५ माहात्मा रामलिंगम् एण्ड हिज रिवीलेशन्स (शुद्धानन्द भारती, भारत शान्ति निलयम्, पाण्डोचेरी)

६ बसवेश्वर एण्ड हिज कानटेम्प्रेरीज (ए आर. जयराम,)

७ सेन्टस् एण्ड सेजज आफ इण्डिया (प्रीतम सिंहजी, न्यू बुक सोसाइटी आफ इण्डिया, करोल बाग, लखनऊ)

८ सेन्ट आफ साकोरी (आनन्दसागर प्रेस, बम्बई २)

९ योगिराज गम्भीरनाथ (ए. के बनरजी, गोरखनाथ टेम्पुल, गोरखपुर)

१० दि लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द (अद्वैत आश्रम, मायावती, अलमोड़ा)

११ श्री हरनाथ हिज प्ले एण्ड परीसेप्टस् (विठ्ठलदास नाथ भाई मेहता, खखर बिल्डिंग, सी पी. टैंक रोड, बाम्बे ४)

१२ दि लाइफ एण्ड मेसेज आफ भगवान श्री कुसुम हरनाथ (श्री कुसुम हरनाथ सोसाइटी, पेरम्बूर, मद्रास)

१३ महात्मा (तेन्दूलकर, टाइम्स आफ इण्डिया प्रेस, बम्बई)

आवश्यक अनुक्रमणिका